5.3

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कल्याण

(परिशिष्टाङ्क १)

वर्ष ६४

संख्या २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, वि॰ सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, मई १९९० ई॰

विषय — पृष्ठ-संख्या

१-श्रीसिद्धिसहित गणराज प्रणाम! [कविता] ········ ४०९
२-कल्याण (शिव) ······························ ४१०
३-जलाधिनाथ भगवान् वरुण ······················ ४११
४-विश्वेदेवगण और उनकी महिमा (डॉ॰ श्रीबसन्तवल्लभजी भट्ट, एम्॰ए॰, पी-एच्॰डी॰) ··· ४१५
५-देवयोनियोंका उद्भव एवं स्वरूप-परिचय ··· ४१८
६-वारोंके अधिष्ठातृ-देवता ······················ ४२०
७-कृषि एवं क्षेत्रके अधिष्ठाता भगवान् क्षेत्रपाल ········ ४२१
८-श्रीराधाकी युगलोपासना (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ······················ ४२३
९-गृहस्थ क्या करे? ···························· ४२७
१०-बहुदेवोपासना वरदान है (श्रीरामचन्द्रजी शर्मा, शास्त्री, एम्॰ए॰) ···························· ४२८
११-मनुष्यमें देवत्वका आधान (श्रीआनन्दविहारीजी पाठक, एम्॰ए॰, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार) ············ ४२९
१२-त्रिदेवोंका स्वरूप-रहस्य और उनकी अभिन्नता (स्वामी श्रीसदानन्दजी सरस्वती) ················ ४३०
१३-तृष्णाके त्यागमें ही सुख है ······················ ४३२
१४-विभिन्न दर्शनोंके अनुसार देवाधिदेव परमात्माका स्वरूप (राष्ट्रपतिसम्मानित डॉ॰ श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामी) ४३३
१५-जैन आगमोंमें देववादकी अवधारणा (अणुव्रत-अनुशास्ता, युगप्रधान आचार्य श्रीतुलसी) ········· ४३५
१६-भगवान् सूर्यके विविध रूपोंके दर्शन ············· ४३७
१७-काशीके द्वादश आदित्योंकी पौराणिक कथाएँ ······· ४३८
१८-भगवान् सूर्य तथा कोणार्क-मन्दिर (श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम्॰ ए॰) ························ ४४३
१९-शोकादि कबतक रहते हैं? ····················· ४४४
२०-विकलाङ्गोंके लोकदेवता डिग्गीके कल्याणजी (आचार्य पं॰ श्रीकुलवंतराय दत्ता) ················ ४४५
२१-कुमाऊँके लोकदेवता और लोकोपासना ··········· ४४५
  (१) गोरिया या ग्वाल्ल देवता ················· ४४६
  (२) व्यानधुरा (श्रीगौरीदत्तजी गहतोड़ी) ········· ४४७
२२-ग्राम्य (ग्राम) देवता चक्रेश्वरी एवं उनकी लोक-शक्तियाँ (डॉ॰ श्रीनरेशजी झा) ··· ४४७
२३-श्राद्ध-महिमा ··· ४४८

चित्र-सूची

१-दशावतार (इकरंगा) आवरण-पृष्ठ
२-श्रीसिद्धि-गणराज (रंगीन) मुख-पृष्ठ
३-सूर्य-मूर्ति, कोणार्क (इकरंगा) ४३७
४-क्षेत्रपाल-चक्र (रेखा-चित्र) ४२२

प्रत्येक साधारण
अङ्कका मूल्य
भारतमें २.०० रु॰
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

कल्याणका वार्षिक
मूल्य
(डाक-व्ययसहित)
भारतमें ४४.०० रु॰
विदेशमें ६ पौंड
अथवा १० डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

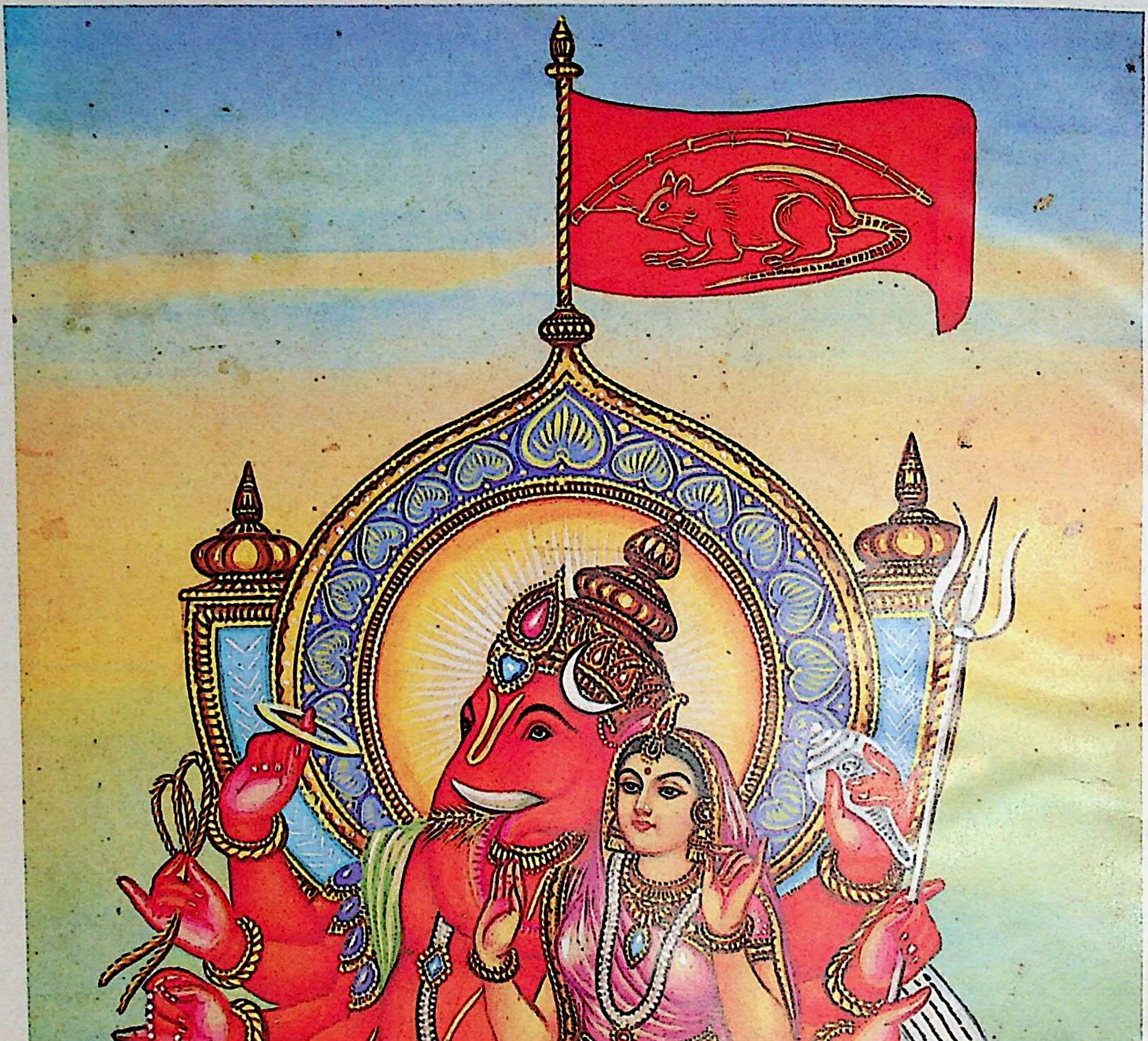

श्रीसिद्धि-गणराज

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

वर्ष ६४ | गोरखपुर, सौर वैशाख, वि॰ सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, मई १९९० ई॰ | संख्या २
पूर्ण संख्या ७५९

श्रीसिद्धिसहित गणराज प्रणाम !

रक्तवर्ण शुभ, एकदन्त शुचि, ध्वज-मूषक, शोभित शशि भाल ।
वसु कर-कंज-युग, कम्बु, पाश, पुस्तक, त्रिशूलवर, चक्र, माल ॥
गज-मुख-धान्य-मञ्जरी राजत, विपद-विघ्न-वारण, शुभधाम ।
अखिल अमङ्गलहर, हर-सुत, श्रीसिद्धिसहित गणराज प्रणाम ॥

* * *

सौ॰ वै॰ १४—

कल्याण

याद रखो—देवताकी उपासनाके विभिन्न प्रकार हैं—गुणातीत, सात्त्विक, राजस, तामस और मिश्रित। इसीके अनुसार उपासकोंमें भी भेद है और उपासकोंकी रुचि, अधिकार, मनोवृत्ति, मान्यता, श्रद्धा, सिद्धान्त तथा मनोरथके अनुसार ही उपास्यदेव भी विभिन्न हैं।

याद रखो—भगवान् परमतत्त्व परमात्मा एक ही हैं। उनके प्रधानतया तीन रूप हैं—निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार। इन तीनोंके लीलाभेदसे अनेक विभिन्न नाम-रूप हैं। इन्हींकी उपासना होती है। निर्गुण-निराकार ब्रह्मतत्त्वकी उपासना नहीं मानी जाती, पर जबतक तत्त्वकी उपलब्धि होकर एकात्मताकी स्थिति न अनुभूत हो, तबतक उपासना होती है ही। उसे ब्रह्मोपासना कहें, आत्मोपासना कहें या अहंग्रह-उपासना। 'वाद' भी चाहे कोई-सा माना जाय— अजातवाद, विवर्तवाद, आभासवाद या परिणामवाद—उपासना सभीमें है। सगुण-निराकार और सगुण-साकारकी उपासनाके तो इतने प्रकार हैं कि वेदोंसे लेकर संतोंकी वाणीतक सबमें विविध विचित्र उपासनाओंके प्रसङ्ग तथा पद्धतिनिरूपण भरे पड़े हैं।

याद रखो—देवताकी उपासनामें उपासकका जैसा भाव होता है, उसीके अनुसार उपासना होती है और उसीके अनुसार फल भी मिलता है। जीवन्मुक्ति, कैवल्य-मोक्ष, दिव्य नित्य-भगवद्धामकी प्राप्ति, भगवत्प्रेमका नित्य आस्वादन, भगवत्सेवाधिकार, स्वर्गप्राप्ति, देवलोकोंकी प्राप्ति, पितर या प्रेतलोककी प्राप्ति—ये सभी विभिन्न उपासनाओंके ही फल हैं। लोग जडोपासना या भोगोपासनामें भी लगे ही हैं—पर वह वस्तुतः उपासना नहीं है—प्रमादमात्र है।

याद रखो—सगुण-साकारकी उपासनामें भारतीय सनातनधर्मके अनुसार शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य और शक्ति—प्रधानतया ये पाँच उपास्यरूप माने जाते हैं। इनमें भी सौम्य-रौद्र अनेक रूप हैं। सात्त्विक जन सौम्यरूपकी उपासना करते हैं, राजस सौम्यासौम्यमिश्रित रूपकी और तामस रौद्र रूपकी। भगवान् विष्णुका नारायणरूप सौम्य है, असुरसंहारी विष्णुरूप सौम्यासौम्य है और नरसिंहरूप रौद्र है। भगवान् शिवका तपस्वी-रूप शान्त है, विवाहके समयका रूप (शिवपुराणके अनुसार) सौम्य है, सर्वसंहारक भैरव तथा रुद्ररूप रौद्र है। शक्तिका लक्ष्मी-सरस्वती-सीता-राधा-रूप सौम्य है, दुर्गा-रूप सौम्यासौम्य है, काली-छिन्नमस्ता आदि रूप रौद्र हैं। इसी प्रकार इनकी पूजा-पद्धतियोंमें सात्त्विक-राजस-तामस-भेदसे भावों तथा सामग्रियोंका भेद है।

याद रखो—सौम्य तथा शान्तरूपकी उपासना ही परम श्रेयस्कर तथा वाञ्छनीय है। जिस रूपकी उपासना होगी, उसीके गुण उपासकमें आयेंगे, क्योंकि उसे भावसे वैसा ही बनकर उपासना करनी पड़ेगी। अतएव भगवान्‌के मधुरतम रसमय आनन्दमय स्वरूपकी उपासना करनेमें आरम्भसे ही माधुर्य, रस, आनन्द, शान्ति, सद्‌भाव, सद्‌गुण आदिकी प्राप्ति होती रहती है और अन्तमें उपासक उस भगवत्प्रेम-सुधा-सागरमें निमग्न हो जाता है। फिर उसमें जो कुछ क्रियाएँ होती हैं, सब अखिल प्रेमानन्दरसामृत-मूर्ति भगवान्‌के उस महान् लीलासमुद्रमें लहरियाँ होती हैं।

याद रखो—अनेक देवोंकी उपासना या साधना विभिन्न रूपोंमें हो सकती है, पर यह निश्चय सदा बना रहना चाहिये कि सत्य एक ही है, उपास्यदेव भगवान् एक ही हैं, वे ही अनन्त नाम-रूपोंसे उपासित होते हैं। जैसे किसीको 'जगन्नाथपुरी' जाना है, तो पुरी एक ही है, पर पुरी जानेवाले लोग अपनी विभिन्न दिशाओंसे भिन्न-भिन्न मार्गोंसे तथा अपनी-अपनी रुचि, अधिकार तथा क्षमताके अनुसार विभिन्न वाहनोंके द्वारा जाते हैं। कोई पैदल ही जाते हैं, कोई बैलगाड़ी, मोटरगाड़ी, रेलगाड़ी या वायुयानसे यात्रा करते हैं। पहुँचते सब देर-सबेर एक ही जगह हैं। इसी प्रकार श्रद्धा-विश्वासके साथ अपने-अपने अधिकार, रुचि, शक्ति, बुद्धि, अभ्यास, इच्छा तथा स्वीकृत मार्गसे अपनी क्षमताके अनुसार तीव्र या मन्द गतिसे चलते रहें। यदि मुख उधर है और चल रहे हैं तो पहुँच ही जायँगे, भगवान् सहायता भी करेंगे ही।

'शिव'

महनीय चरित्र—

जलाधिनाथ भगवान् वरुण

स्वरूप-परिचय

वरुण देवता जलके अधिष्ठाता देवता हैं। वे समुद्रोंके स्वामी हैं। उनमें सूर्यके समान प्रकाश है। वे अत्यन्त दयालु एवं गौरमृगके समान गतिशील तथा बलवान् हैं। हृदयसे गम्भीर, जलके विधायक, अपने आश्रितोंको दुःखोंसे मुक्त करनेवाले तथा संसारके भी स्वामी हैं[1]। वे अपनी आराधना करनेवालोंके समस्त कल्याणोंका विधान करके उनका पालन-पोषण करते हैं। वे शत्रुओंके नाशक, अर्यमा एवं मित्र देवताके सहचर तथा सूर्यरूपी नेत्रके द्वारा संसारके दर्शक और साक्षी हैं। वे भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेवाले तथा धन प्रदान करनेवाले हैं। **'बहुधनं वृषणं कामानां वर्षकं बृहन्तं महान्तम्[2]।'**

भगवान् वरुण दिन-रात्रि, चन्द्रमा, ऋतुओं, बारह महीनों, जल, नदियों तथा समुद्रके भी संचालक हैं। ये सभी उन्हींकी आज्ञासे प्रवाहित होते हैं। इसीलिये एक प्रकारसे वेदोंमें वरुण देवताको परमात्माका स्वरूप ही माना गया है[3]। वरुणदेव सर्वविध महान् हैं। वैदिक सूक्तों—ऋग्वेदके सप्तम मण्डलके ८२से लेकर ८८तकके सूक्तोंमें वरुणदेवकी महती प्रशंसा की गयी है और उनमें उनके प्रशंसनीय स्वरूप, आचार एवं कर्तव्यका भी उल्लेख हुआ है। उनका मुख अग्निके समान तेजस्वी है तथा वे सोमरसके अभिषव (सोमरस कूटनेवाले पत्थर) पर खड़े रहते हैं। उनका रूप अत्यन्त प्रशस्त है। वे याचकों एवं स्तावकोंकी प्रार्थनापर उन्हें दर्शन भी देते हैं—

अधा न्वस्य संदृशं जगन्वानग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि।
स्वर्यदश्मन्नधिपा उ अन्धो ऽभि मा वपुर्दृशये निनीयात्॥

(ऋ० ७।८८।२)

आचार्य यास्कने वरुण देवताको द्युलोक, अन्तरिक्षलोक एवं उभयस्थानीय देवताओंमें परिगणित किया है। 'वरुण' शब्दकी व्याख्यामें उन्होंने कहा है कि 'जो मेघजालके द्वारा द्युलोक एवं अन्तरिक्षलोकका वारण करता है, वही वरुण है[4]। साथ ही बताया है कि सम्पूर्ण विश्व तथा चौदह भुवनोंके राजा भी वे ही हैं। इसके उदाहरणमें आचार्य यास्कने निम्न मन्त्र उद्धृत किया है—

नीचीनवारं वरुणः कबन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम॥

(ऋ०५।८५।३)

शतपथ ब्राह्मण (१३।३।६।५) तथा ऋग्वेद (१।१५२।१) में वरुणदेवका वर्ण श्वेत, सिर केशविहीन, नेत्र पीले, अवस्था प्रौढ़ एवं परिधान अत्यन्त द्युतिमान् निरूपित किया गया है। उनका रथ सूर्यके समान प्रकाशमान है। रथके घोड़े बलिष्ठ एवं सतर्क हैं। मित्र एवं वरुणदेव दोनों एक साथ बैठकर अन्तरिक्ष एवं द्युलोकमें भ्रमण करते हैं।

पुराणोंके अनुसार वरुणदेव पश्चिम दिशाके स्वामी तथा कश्यप-अदितिके पुत्र हैं। द्वादश आदित्योंमें इनकी गणना है[5]। इनकी नगरीका नाम 'सुखावती' या 'वसुधानगर', वनका नाम वैभ्राजक तथा छत्रका नाम आभोग है। इनका निवास समुद्रके मध्यमें है।

वरुण देवताका जलाधिपति-पदपर अभिषेक

महाभारत, शल्यपर्व (अ० ४७) में वरुण देवताके जलाधिपतिपदपर अभिषिक्त होनेकी कथा विस्तारसे आयी है, जिसका भाव इस प्रकार है—

पूर्वकल्पकी बात है, जब आदिकृतयुग चल रहा था, उस समय सम्पूर्ण देवताओंने भगवान् वरुणके पास जाकर कहा—'प्रभो! जैसे देवराज इन्द्र सदा भयसे हमलोगोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप भी समस्त सरिताओंके अधिपति होकर हमारी रक्षा कीजिये। हे देव! आपका

---

[1] ऋग्वेद ६।८७।६

[2] ऋग्वेद ७।८८।१ मन्त्रके चौथे पदका सायण-भाष्य।

[3] ऋग्वेद २।२८।१-४

[4] 'वृणोतीति सतः'—आवृणोतीति ह्ययं मेघजालेन वियत्।' (निरुक्त १०।१।३)

[5] अदित्यां द्वादशादित्याः सम्भूता भुवनेश्वराः। धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च॥ (महा०, आदि० ६५।१४-१५)

निवासस्थान समुद्रमें होगा और यह समुद्र सदा आपके वशमें रहेगा। चन्द्रमाके साथ आपकी भी हानि और वृद्धि हुआ करेगी। इसपर वरुणदेवने अपनी स्वीकृति सहर्ष देकर जलोंका अधिपति तथा देवगणों और प्रजाओंका रक्षक होना स्वीकार किया। उनकी अनुमति पाकर देवताओंने एकत्र होकर समुद्रवासी वरुणदेवको जलराशिके अधिष्ठातृपदपर अभिषिक्त किया और उनका पूजन किया। तदनन्तर देवगण अपने-अपने स्थानोंको चले गये। देवताओंद्वारा अभिषिक्त होकर महायशस्वी वरुणदेव देवगणोंकी रक्षा करनेवाले अपने मित्र इन्द्रके समान सरिताओं, सागरों, नदों तथा सरोवरोंका भी पालन करने लगे। सरस्वती नदीका समीपवर्ती वह स्थान जहाँपर वरुणदेवका देवताओंके द्वारा अभिषेक किया गया 'तैजस-तीर्थ' के नामसे विख्यात हुआ।

वरुण देवताका परिवार

पाणिनि (४।१।४९) के अनुसार इनकी स्त्रीका नाम 'वरुणानी' है। पुराणों तथा महाभारतके अनुसार इनकी एक अन्य स्त्री 'गौरी' भी कही गयी हैं (महाभा०, उद्योग० ११७।९)। इनके अतिरिक्त इनकी एक तीसरी पत्नी चर्षणी भी बतायी गयी है, जिसके गर्भसे दक्ष प्रजापतिके यज्ञमें रुद्रगणोंद्वारा मारे गये भृगु पुनः उत्पन्न हुए थे।—**'चर्षणी वरुणस्यासीद्यस्यां जातो भृगुः पुनः'** (भा० ६।१८।४)। वसिष्ठ और अगस्त्य भी इन्हीं वरुणदेवके पुत्र कहे गये हैं। (भाग० ६।१८।५)। इनकी ज्येष्ठ पत्नी देवीने बल नामक एक पुत्रको और सुरा नामवाली कन्याको जन्म दिया था। (महा०, आदि ६६।५२)। वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड (४६।१६) तथा उत्तरकाण्डमें[1] वाल्मीकि ऋषिको तथा महाभारत[2] एवं विष्णुधर्मोत्तर आदि पुराणोंमें पुष्करको इनका पुत्र कहा गया है। इनकी गुणार्णवा नामक एक पुत्रीका उल्लेख ब्रह्मपुराण (अ० ८८) में हुआ है, जिसका विवाह उन्होंने राजा जनकके साथ किया।

राजा हरिश्चन्द्रपर वरुणदेवकी कृपा

ऋग्वेद (१।२४), ऐतरेय ब्राह्मण (अ० ३३) में राजा हरिश्चन्द्र तथा शुनःशेपका आख्यान आया है, जिसका उपबृंहण देवीभागवत (७।१४—१७) आदि पुराणोंमें विस्तारसे हुआ है, जो इस प्रकार है—

इक्ष्वाकुवंशी राजा हरिश्चन्द्रने अनपत्यतासे दुःखी होकर महर्षि वसिष्ठजीसे पुत्र-प्राप्तिका उपाय पूछा। वसिष्ठजीने कहा—'राजेन्द्र! तुम यत्नसहित जलाधिपति वरुणकी आराधना करो, क्योंकि उनकी अपेक्षा संतानदायक अन्य कोई देवता नहीं है। उनके अनुग्रहपर तुम्हें अवश्य पुत्र-प्राप्ति होगी, इसमें संदेह नहीं।' गुरुसे निर्देश प्राप्तकर राजा हरिश्चन्द्र गङ्गाके पवित्र तटपर पाशधर वरुणदेवके ध्यानमें निमग्न होकर कठोर तपस्या करने लगे। उनकी तपस्यासे वरुणदेव प्रसन्न हुए और उन्हें पुत्र-प्राप्तिका वर दिया। कुछ समय बाद राजाको वरदानस्वरूप रोहित नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

गाण्डीव धनुषका इतिहास

भगवान् वरुण जलराशिके अधिष्ठातृदेव हैं। समुद्र, जिसे रत्नोंका आकर कहा गया है, वहीं इनका निवास है। यद्यपि भगवान् वरुणका मुख्य अस्त्र 'पाश' कहा गया है तथापि उनके अन्य भी अनेक अस्त्र-शस्त्र हैं, जिनमें एक दिव्य शार्ङ्ग (गाण्डीव) धनुष[3] भी था, जो समुद्र-मन्थनके समय चौदह रत्नोंके साथ उद्भूत हुआ। इसी वैष्णव धनुषको भगवान् विष्णुने ग्रहण किया। इसीलिये वे शार्ङ्गी, शार्ङ्गधन्वा तथा शार्ङ्गपाणि आदि नामोंसे विख्यात हैं। इसके द्वारा भगवान् विष्णुने अनेक असुरोंका संहार किया। इस धनुषका एक लम्बा इतिहास है, जो यहाँ संक्षिप्तमें दिया जा रहा है—

विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।६५—६७) में एक कथा है—एक बार देवताओंके मनमें यह जाननेकी इच्छा हुई कि

---

[1] यहाँ महर्षि वाल्मीकि भगवान् श्रीरामसे सीताजीकी पवित्रताके सम्बन्धमें कह रहे हैं कि मैं प्रचेता (वरुण) का दसवाँ पुत्र हूँ—
प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन। न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ॥ (वा० रा०, उ० ९६।१९)

[2] उद्योगपर्व ९८।१२

[3] इस धनुषकी यह भी विशेषता है कि पाणिनि (५।२।११०) आदिके अनुसार यह ह्रस्व इकारान्त और दीर्घ ईकारान्त तो है ही, पुँल्लिंग (गाण्डीवः) तथा नपुंसकलिंग (गाण्डीवम्) दोनोंमें प्रयुक्त होता है।

भगवान् शङ्कर और विष्णुमें अधिक बली कौन है ? यह बात उन लोगोंने ब्रह्माजीसे कही। ब्रह्माजीने उन लोगोंसे इन दोनों महान् देवताओंमें युद्ध कराकर निर्णय करनेका प्रस्ताव रखा। फिर क्या था, सबने मिलकर उन्हें लड़ा दिया। यह युद्ध बड़ा ही लोमहर्षक एवं भयावह था, उसे देखकर विश्वके सभी प्राणी डर गये। तब ब्रह्माजीने तथा अन्य देवताओं एवं सभी ब्रह्मर्षियोंने उन दोनोंके पास जाकर प्रार्थना की कि 'आप दोनों विश्वके स्वामी हैं। आपलोगोंका यह युद्ध उचित नहीं है। आप दोनोंके युद्धका निर्णय मात्र इतनेसे ही कर लिया जाय कि आप दोनों एक-दूसरेके धनुषको चढ़ा दें। इसपर भगवान् विष्णुने भगवान् शिवके पिनाक धनुषको तत्काल आरोपित कर दिया, पर भगवान् शङ्कर प्रयत्न करनेपर भी वैष्णव धनुषको न चढ़ा सके[1]। इससे भगवान् शङ्करसे भगवान् विष्णुका उत्कर्ष अधिक समझकर सबने भगवान् विष्णुकी बड़ी स्तुति एवं प्रशंसा की। देवताओंद्वारा कृत भगवान् शङ्करकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान् विष्णुने भगवान् शङ्करसे कहा कि वस्तुतः हम और आप दोनों एक ही हैं। हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। जो आपकी भक्ति एवं उपासना करते हैं, वे मेरे अत्यन्त प्रिय हैं और मेरे ही लोकको प्राप्त होते हैं[2]।

इधर अपने धनुषको पराभूत देखकर भगवान् शङ्कर कुछ उदास हो गये और उन्होंने उसे मिथिलानरेश देवरात जनकके क्षेत्रमें फेंक दिया (मतान्तरसे उन्हें दे दिया)। शिवजीके धनुष फेंक देने तथा उदास होनेपर भगवान् विष्णुने भगवान् शिवसे कहा कि आप उद्विग्न न हों, मेरे इस शार्ङ्गधनुषको आप अपने पास रखें। इसे आप भार्गवनन्दन जमदग्निको दे देंगे। उनसे उनके पुत्र परशुराम लेंगे। वे उससे पातालवासी असुरोंका संहार करके श्रीरामको दे देंगे। अपना कार्य समाप्तकर, रावण आदिका वधकर श्रीराम उसे पुनः वरुणको दे देंगे। देवकार्यार्थ अर्जुन उसे महात्मा वरुणसे ग्रहण करेंगे[3]। आपने अपना जो धनुष देवरात जनकके क्षेत्रमें फेंका है, उस धनुषसे भी उनका (जनकका) एक महान् कार्य सम्पन्न होगा।

भगवान् विष्णुसे उनके शार्ङ्गधनुषको प्राप्तकर भगवान् शिव प्रसन्न हुए और उन्होंने यथासमय उसे ऋचीकनन्दन जमदग्निको धनुर्विद्याके अभ्यास करते समय दे दिया। बादमें परशुरामजी भगवान् शङ्करके पास अस्त्र-शस्त्र-विद्या सीखनेके लिये पहुँचे और उनसे यथाविधि विद्या ग्रहण की। एक दिन इन्द्रने भगवान् शङ्करके पास आकर पातालवासी दैत्योंका वध करनेके लिये परशुरामको वहाँ भेजनेकी प्रार्थना की। भगवान् शङ्करने भी 'तथास्तु' कहकर परशुरामजीको बुलाया और कहा कि तुम पातालमें जाओ और वहाँके दुराचारी असुरोंका संहार करो। मैंने भगवान् विष्णुके शार्ङ्गधनुषको तुम्हारे पिता जमदग्निको दे दिया है। उनसे तुम धनुष ले लेना, साथ ही इस अक्षय तूणीरको भी ले लो। इनके सहारे तुम राक्षसोंको मार डालो और फिर तूणीर देकर भगवान् शङ्करने परशुरामसे कहा कि कार्य हो जानेपर इस तरकशको महर्षि अगस्त्यको दे देना और वे उसे अति यशस्वी राघवेन्द्र श्रीरामको दे देंगे[4]। तुम भी श्रीरामके दर्शनके बाद शस्त्र मत धारण करना। तुम्हारा प्रचण्ड वैष्णव तेज रामके मिलते ही देवकार्यार्थ उनमें ही प्रविष्ट हो जायगा।

इसके बाद परशुरामजीने वैसा ही किया। इधर भगवान् विष्णुके कथनानुसार देवरातके कुलमें उत्पन्न सीरध्वज जनककी पुत्री सीताने पूजास्थलमें जाकर भूमि लीपनेके समय पिनाक धनुषको उठाकर दूसरी जगह रख दिया, तो सीतासे अधिक पराक्रमी वरकी खोजमें जनकने यह प्रतिज्ञा की कि 'जो इस पिनाक धनुषको उठाकर तोड़ देगा, उससे ही सीताका विवाह होगा।' यद्यपि उस धनुषको देवता, दनुज और रावण

१-यह कथा वाल्मीकीय रामायणके ७५वें सर्गमें भी प्रायः इसी प्रकार आती है। उस कथामें अधिक इतना ही है कि शैव और वैष्णव धनुषमें युद्ध हुआ, जिसमें विष्णुके हुंकारसे शिवजीका धनुष तेजोहीन हो गया।

२-(क) योऽहं स देवः परमेश्वरस्त्वं योऽहं स देवः प्रपितामहश्च। (विष्णुधर्म० १।६६।२६)

(ख)-भक्त्या च नित्यं तव पूजयन्ति स्थानं हि तेषां सुलभं मदीयम्॥ (विष्णुधर्म० १।६६।२९)

३-तच्चापरत्नं भुवि राघवाय प्रदास्यते राम इति श्रुताय। कृत्वा स रामोऽपि हि तेन कर्म प्रदास्यते तद्वरुणाय चापम्॥
तस्मात् समादास्यति फाल्गुनोऽपि देवार्थकार्यैकरतिर्महात्मा। (विष्णुधर्म० ६७।३१-३२)

४-महर्षि अगस्त्यद्वारा श्रीरामको अक्षय तरकश आदि प्रदान करनेकी कथा वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्डके १२वें अध्यायके अन्तमें आती है।

आदि राक्षस भी नहीं हिला-डुला सके, किंतु भगवान् रामने उसे तोड़ डाला। धनुष टूटनेकी बात सुनकर क्रोधाविष्ट हो परशुराम वहाँ तत्काल पहुँच गये और थोड़ी देर विवादके पश्चात् परशुरामने रामको वैष्णव धनुष देकर उसकी प्रत्यञ्चा चढ़ानेको कहा। रामके हाथमें जाते ही उसकी प्रत्यञ्चा स्वतः चढ़ गयी और परशुरामका तेज भी राममें प्रविष्ट हो गया। परशुराम पुनः महेन्द्राचलपर तप करने चले गये और रामने यथासमय रावण आदि राक्षसोंका वधकर ११ हजार वर्षोंतक राज्यकर सम्पूर्ण विश्वपर राज्य किया। सांतानिक लोकको जाते समय उन्होंने इस धनुषको पुनः वरुणको ही दे दिया। महाभारत-युद्धसे कुछ समय पूर्व खाण्डवदाहके समय अग्निकी प्रार्थनापर वरुणने पुनः उसे अर्जुनको प्रदान किया[१]। अर्जुनने उसीके द्वारा अपने समग्र शत्रुओं तथा महाभारत-युद्धमें कौरवोंको भी जीता और अन्ततोगत्वा महाप्रस्थानके समय उन्होंने भी उसे वरुणदेवके माँगनेपर उन्हें दे दिया[२]। ये सारी बातें महाभारतमें स्थान-स्थानपर विस्तारपूर्वक निर्दिष्ट हैं।

इस प्रकार रामायण, महाभारत तथा विशिष्ट इतिहास-ग्रन्थोंके युद्धों तथा कथानकोंका आधार एवं उनके मुख्य नेताओंके विजयश्रीका मूल आधार यह शार्ङ्ग या गाण्डीव धनुष ही है, जो महात्मा वरुणके द्वारा ही समय-समयपर लोगोंको प्राप्त होता रहा और पुनः उन्हींके हाथमें लौटता रहा। इस सम्पूर्ण वृत्तान्तसे महात्मा वरुणदेवकी अलौकिकता एवं श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

भगवान् वरुणदेवका दिव्य ज्ञानोपदेश

ब्रह्मपुराणमें वरुणको राजा जनकका श्वशुर कहा गया है। वरुणकी पुत्री गुणार्णवा यथानाम तथा गुणोंसे संयुक्त थी। उन्होंने उसका विवाह राजा जनकके साथ कर दिया। महर्षि याज्ञवल्क्य जनकके पुरोहित थे। एक दिन राजा जनकने महर्षि याज्ञवल्क्यसे पूछा कि ऋषि-मुनियोंने भोग और मोक्ष दोनों ही साधनोंकी प्रशंसा की है। अन्तर इतना ही है कि भोग तो अन्तमें क्लेशदायक होते हैं, परंतु मुक्ति नित्य है। आप कोई इस प्रकारका उपाय बतायें, जिसमें एक साथ ही भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त हों। भोगों और आसक्तियोंका त्याग करके मुक्ति प्राप्त करना अत्यन्त दुस्साध्य है। अतः जिससे सुख-भोगके साथ-साथ मुक्ति भी प्राप्त हो सके, वही उपाय बताइये। इसपर महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा—'राजन्! देवाधिदेव भगवान् वरुण आपके श्वशुर, हितैषी एवं गुरुजन भी हैं। उन्हींके पास चलकर इस प्रश्नका समाधान करना चाहिये। वे दोनों ही वरुणके यहाँ पहुँच गये और उन्होंने उनसे मुक्तिका उपाय पूछा। इसपर वरुणने कहा कि मुक्ति दो प्रकारसे प्राप्त होती है—एक कर्मानुष्ठानसे तथा एक कर्मके परित्यागसे। वेदोंमें यह निश्चय किया गया है कि कर्मके त्यागकी अपेक्षा कर्मानुष्ठान श्रेष्ठ है। धर्म-अर्थ आदि चारों पुरुषार्थ कर्मसे ही प्राप्त होते हैं। कर्मानुष्ठानसे सभी असाध्य कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इसलिये मनुष्योंको श्रद्धा एवं विधिसे वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। इससे इस लोकमें कई प्रकारके भोगों तथा परलोकमें मोक्षकी प्राप्ति होती है। भिन्न-भिन्न वर्णों एवं आश्रमोंके धर्म-कर्म अलग-अलग प्रविभक्त हैं। उनमें भी गृहस्थ-आश्रम विशेष महत्त्वका है। इस आश्रममें भोगोंका विहित उपयोग और निष्कामकर्मके अनुष्ठानसे मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है।

इसपर महाराज जनक तथा महर्षि याज्ञवल्क्यने वरुणदेवकी विशेष पूजा-अर्चनाकर उनसे पुनः पूछा—'क्या संसारमें कोई ऐसा विशेष तीर्थ भी है जो भोग और मोक्ष दोनोंको प्रदान करनेमें आत्यन्तिक रूपसे समर्थ हो?' इसपर वरुणने गौतमी-गङ्गाके तटपर स्थित वरुणा तीर्थकी प्रशंसा करते हुए उसे भोग-मोक्षदायक बताया। भगवान् वरुणका यह उपदेश सुनकर महाराज जनकने सभी आवश्यक उपकरणों-सहित भारतके मध्य स्थान दण्डकवनके भीतर गोदावरी-तटपर पहुँचकर महर्षि याज्ञवल्क्यके आचार्यत्वमें अनेकों अश्वमेधादि यज्ञ किये। जनकका यज्ञ-स्थान होनेसे उस तीर्थका नाम 'जनस्थान' भी पड़ गया और वहीं 'वारुणतीर्थ' भी स्थित है। वहाँ स्नान-दान करनेका महत्त्व अत्यधिक है। उस तीर्थके स्मरण-कीर्तन एवं श्रवणसे ही मनुष्य भोग-मोक्षका भागी हो जाता है[३]। —क्रमशः

१-आदिपर्व २२५। २-महा० महाप्रास्थानिक पर्व १।४१-४२। ३-ब्रह्मपुराण अ० ८८।

विश्वेदेवगण और उनकी महिमा

(डॉ॰ श्रीवसन्तवल्लभजी भट्ट, एम॰ए॰, पी॰-एच॰डी॰)

[विशेषाङ्क पृ॰ सं॰ २६८ से आगे]

विश्वेदेवोंकी श्राद्धमें आत्यन्तिक आवश्यकता

इस सम्बन्धमें स्कन्दपुराणके नागरखण्डमें एक सुन्दर कथाका उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका अत्यन्त संक्षिप्त सारांश एवं महत्त्व यहाँ दिया जा रहा है—

प्राचीन कालमें वृत्रासुर-संग्राममें मारे गये वीरोंके निमित्त देवराज इन्द्रने गया-तीर्थमें पहुँचकर गयाकूपके पास श्राद्ध-तर्पणका कार्य प्रारम्भ किया और अग्निष्वात्त आदि पितरोंको श्राद्ध-मन्त्रोंके द्वारा आहूतकर शस्त्रके द्वारा उपहत प्राणियोंके उद्देश्यसे महालयमें चतुर्दशीको विधिवत् श्राद्ध आरम्भ किया, किंतु उन्हें विश्वेदेवगण नहीं दिखायी पड़े। तबतक वहाँ देवर्षि नारदजी आ गये। इन्द्रने उनसे पूछा—'देवर्षे! मेरे द्वारा गया-जैसे इस पवित्रतम श्राद्धतीर्थमें भी श्राद्ध करनेपर विश्वेदेवगण यहाँ क्यों नहीं आये? मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है, कृपाकर आप मुझे इसका कारण बतानेकी कृपा करें।' इसपर नारदजीने कहा—'यहीं थोड़ी दूरपर ब्रह्माजी भी श्राद्ध कर रहे हैं और विश्वेदेवगण वहीं विनियुक्त हैं। आप बिना विश्वेदेवोंके उपयोगके ही एकोद्दिष्ट-विधानसे श्राद्ध सम्पन्न कर लें। इन्द्रके ऐसा करनेपर सभी मृत प्राणी परमगतिको प्राप्त हो गये और उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा— 'श्राद्धकी रक्षाके लिये विश्वेदेवोंकी व्यवस्था की गयी थी, किंतु अब मैं भी स्वयं इनके उपयोगके बिना ही श्राद्ध किया करूँगा।' इन्द्र ऐसा कह ही रहे थे कि विश्वेदेवगण वहाँ पहुँच गये और कहने लगे—'हे देवेन्द्र! ब्रह्माजीने हमलोगोंको पहलेसे ही अपने श्राद्धकर्ममें आवाहन कर बुला लिया था, आपने हमलोगोंको पीछे आहूत किया, इसलिये हम यदि आपके यहाँ समयपर नहीं आ पाये तो इसमें हम सब रंचमात्र भी दोषी नहीं हैं, फिर आप श्राद्धकर्मसे हमलोगोंका निष्कासन कैसे कर रहे हैं? इस प्रकार दुःखी होकर विश्वेदेवोंने इन्द्रसे निवेदन किया और उनकी आँखोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी, जिससे पृथिवी भी गीली हो गयी, किंतु इन्द्रका हृदय नहीं पसीजा। इधर उनके उष्ण अश्रुवाष्पकणोंसे बड़े-बड़े असंख्य अण्डे उत्पन्न हो गये और उनसे अनन्त राक्षसतुल्य क्रूर पुरुष प्रकट हो गये। विश्वेदेवोंने उन्हें संसारके विनाशके लिये आदेश दिया और कहा कि 'जहाँ भी तुमलोग हमलोगोंके बिना श्राद्ध होते देखो, वे कव्यादि वस्तुएँ तुमलोगोंका आहार बनेंगी। तुमलोग क्षिति (पृथिवी) के ऊष्म (गर्म) अण्डोंसे प्रकट हो, इसलिये तुम्हारा नाम 'कूष्माण्ड' होगा। तुमलोग स्वच्छन्द विचरण करते हुए अपना कार्य करो।' इतना कहकर विश्वेदेवगण अन्तर्धान हो गये।

इस तरहसे सर्वत्र कूष्माण्डोंद्वारा अनर्थकारी विनाश होते देखकर ब्रह्माजीने सोच-विचारकर विश्वेदेवों तथा इन्द्रको बुलाया और सभीको समझा-बुझाकर यह व्यवस्था दी कि आजसे विश्वेदेवोंके बिना कोई भी श्राद्ध (एकोद्दिष्ट छोड़कर) सम्पन्न नहीं हो सकेगा और यदि ऐसा होता है तो वह श्राद्ध केवल कूष्माण्डोंकी तृप्तिका कारण बनेगा। जिन श्राद्धोंमें पात्र-रक्षा, भस्मरेखा और कूष्माण्ड-मन्त्रोंका प्रयोग नहीं होगा और अग्नि तथा जलकी व्यवस्था नहीं होगी, श्राद्ध-वस्तुएँ तथा श्राद्ध-पाक अभिमन्त्रित जलके द्वारा सम्प्रोक्षित नहीं होगा, उन सबको ये कूष्माण्डलोग सुखपूर्वक भक्षणकर तृप्त हो जायँगे—

अवैश्वदेविकं श्राद्धमन्यत् कूष्माण्डतृप्तये।
भविता भस्मरेखाभिः पात्ररक्षा च यत्र न॥
कूष्माण्डीभिरतोरग्निः सलिलैरभिमन्त्रितैः।
अप्रोक्षितः श्राद्धपाको भवद्भिर्भुज्यतां सुखम्॥

(चतुर्वर्गचिन्तामणिके श्राद्धकल्पमें देवतानिर्णय-प्रकरणमें नागरखण्डके वचन)

ऐसा कहकर पितामह ब्रह्माने विश्वेदेवोंको प्रसन्न कर लिया और वे वहीं अन्तर्धान हो गये और तभीसे कोई भी श्राद्ध (नित्य एकोद्दिष्ट छोड़कर) बिना वैश्वदेवके नहीं होता।

विश्वेदेवोंकी महर्षि त्रितपर अनुकम्पा

ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके १०५—१०७ इन तीन सूक्तोंमें प्रभास क्षेत्रके एक सूखे कूपमें गिरकर वहींसे मानसिक यज्ञ करने तथा विश्वेदेवोंको सोमरस-पान करानेका सविधि विस्तृत वृत्तान्त निरूपित है। यही आख्यान महाभारत शल्यपर्व अ॰ ३६ में विस्तारसे प्राप्त होता है, जिसका संक्षेपमें भाव इस

प्रकार है।

युगादिमें महर्षि गौतमके एकत, द्वित तथा त्रित नामके तीन पुत्र थे। तीनों ही विद्वान् याजक थे। त्रितके मनमें यजनके द्वारा महान् धन एवं पशुओंका संग्रह कर विश्वेदेवोंका यजन तथा उनके साथ सोमपानकी तीव्र लालसा रहती थी। एक बार जब वे तीनों भाई कहींसे महान् यज्ञ कराकर अपार सम्पत्ति एवं पशुओंके साथ वापस लौट रहे थे, तो रास्तेमें रात हो गयी। त्रित आगे-आगे चल रहे थे। सहसा एक भेड़ियेके नादसे घबड़ाकर वे एक कुएँमें गिर पड़े। कुएँमेंसे उन्होंने अपने दोनों भाइयोंको सहायताके लिये जोरसे पुकारा, किंतु पशु एवं धनके लोभमें पहलेसे ही पड़े हुए एकत एवं द्वितने उस पुकारपर कोई ध्यान नहीं दिया और उन्हें वहीं कुएँमें छोड़कर घरकी ओर प्रस्थित हो गये।

कुएँमें पड़े हुए त्रित एक बार मृत्युसे भयभीत अवश्य हुए, किंतु उन्हें तुरंत प्रत्युत्पन्नमति उत्पन्न हुई और उन्होंने उसी कुएँमें लटकती हुई एक लतामें सोमलताकी कल्पना कर उसके रससे सभी देवताओंको ऋक्-मन्त्रोंद्वारा आहूतकर आप्यायित करनेका उपक्रम किया। वे महान् याजक तो थे ही, उनके सांकल्पिक मानसिक यजन-प्रक्रियासे घबड़ाकर सभी विश्वेदेवगण उस कूपमें उपस्थित हो गये और उनके भावनात्मक यज्ञसे प्रसन्न होकर वर माँगनेके लिये कहा। तब महर्षि त्रितने 'अपनेको उस कूपसे बाहर करने तथा उस कूपके जलके पान करनेवालेको अनायास स्वर्ग सुलभ होनेका' वर माँगा। देवताओंके 'तथास्तु' कहते ही सरस्वती नदी उस कूपमें प्रकट हो गयीं और अपने उत्ताल-तरङ्गोंसे उन्हें ऊपर उठाती हुई कुएँसे बाहर निकाल लिया और तब विश्वेदेवोंने उन्हें अन्य अभिलषित वर प्रदान किये[१]।

नाभानेदिष्टपर विश्वेदेवोंकी कृपा[२]

वैवस्वतमनुके पुत्र नाभानेदिष्ट जो सबसे कनिष्ठ थे, दीर्घकालतक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुकुलमें ही रह गये। गुरुकुलसे लौटनेपर जब उन्होंने अपने भाइयोंसे अपने पैतृक दायकी जिज्ञासा की तो उन्होंने उत्तर दिया कि मानव-धर्मशास्त्रके अनुसार हमने ज्येष्ठ आदि क्रमसे अपना-अपना भाग लिया है, तुम्हारे भागके पिताजी ही शेष रह गये हैं। इसपर जब उन्होंने अपने पिताजीसे भाइयोंकी बात बतलायी तो उन्होंने कहा कि तुम उनकी बात न सुनो, किंतु धनकी चिन्ता भी मत करो। यहाँसे थोड़ी दूरपर आङ्गिरस मुनिजन स्वर्ग-प्राप्तिके लिये एक सत्रका अनुष्ठान कर रहे हैं, परंतु छठे दिन वे वैश्वदेव-सत्रमें मोहित हो जाते हैं और बड़ा कष्ट पा रहे हैं। तुम वहाँ जाकर दो वैश्वदेव-सूक्तोंका पाठ कर उनकी सहायता करो, इससे वे तुम्हें दस सहस्र गौएँ तथा उतनी ही सुवर्ण राशि भी देंगे। इसपर प्रसन्न हो नाभानेदिष्टने वैसा ही किया। आङ्गिरस महर्षियोंने स्वर्ग जाते समय नाभानेदिष्टको दस सहस्र गौएँ और उतनी ही सुवर्ण-मुद्राएँ भी दीं। जब नाभानेदिष्ट उन्हें ले चलनेको तैयार हुए तो उसी समय उत्तरकी ओरसे कृष्णवर्णका एक अद्भुत पुरुष वहाँ आकर कहने लगा कि यह सब सम्पत्ति तो मेरी है। तुम इन्हें नहीं ले जा सकते। इसपर नाभानेदिष्टने कहा कि वैश्वदेवसूक्तके शुद्ध पाठके फलस्वरूप स्वर्ग जाते समय आङ्गिरसोंने यह सम्पत्ति मुझे दी है। तब उस कृष्णवर्ण पुरुषने कहा—इस विवादका निर्णय तुम अपने पितासे ही कराओ, इसपर नाभानेदिष्टने जब अपने पितासे जाकर यह सारा वृत्तान्त सुनाया तो उन्होंने कहा कि यज्ञका अवशेष भाग तो रुद्रका ही होता है। तुम उनसे जाकर क्षमा माँगो। नाभानेदिष्ट लौटकर यज्ञभूमिमें उस कृष्णवर्णके पुरुषके पास आये और उन्हें सादर प्रणाम कर निवेदन करने लगे—'हे देव! आप मुझे क्षमा करें। यह सब सम्पत्ति आपकी ही है।' इसपर भगवान् रुद्रने कहा—'आपके पिताने यथार्थ निर्णय किया है और आपने भी

---

[१] प्रभासक्षेत्रमें स्थित इस सारस्वत उदपानतीर्थकी महिमा महाभारतके अतिरिक्त भागवत ३। १। २२ तथा मत्स्यपुराण १४५। १०१ आदिमें भी वर्णित है।

[२] ऋग्वेदके दशम मण्डलके ६१वें एवं ६२ वें विश्वेदेव-सूक्तका सम्बन्ध आङ्गिरसोंके यज्ञसे है। इसकी विस्तृत उपोद्घातात्मक व्याख्या ऐतरेय ब्राह्मण (२२। ९-१०) में प्राप्त होती है, उसका उपबृंहण श्रीमद्भागवत (९। ५), विष्णु आदि पुराणों तथा महाभारत (आदि० ७५। १७) आदिमें यथावत् हुआ है। आचार्य सायणने मूलसंहिता एवं ब्राह्मणपर भी भाष्य करते हुए इस कथाको अत्यन्त विस्तारसे लिखा है। पुराणोंमें नाभानेदिष्टकी जगह प्रायः नभगका पुत्र नाभाग नाम प्राप्त होता है, किंतु कथा एक ही समान है, कोई अन्तर नहीं है।

लोभका परित्यागकर यथार्थ कथनपूर्वक जो सम्पत्ति मुझे समर्पित कर दी है, इससे मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ। मैं आपको ब्रह्मज्ञान देता हूँ, जिससे परम श्रेय होगा। अब इस सम्पूर्ण सम्पत्तिको भी आप ग्रहण करें।' इतना कहकर भगवान् रुद्र वहाँसे अन्तर्हित हो गये और नाभानेदिष्ट भी गौओं एवं आङ्गिरसोंद्वारा दी गयी स्वर्णराशि लेकर अपने पिताके पास चले आये। इस प्रकार नाभानेदिष्टने वैश्वदेवी ऋचाओंके पाठसे आङ्गिरसोंको स्वर्ग प्रदान कराया और स्वयं भी उनके कृपापात्र बने[१]

मङ्गलदायक एवं सुख-शान्तिदाता विश्वेदेवगण

(कपोत-शान्ति)

घरमें कपोत आदिके प्रविष्ट हो जानेपर वह किसी बहुत बड़े अनिष्ट एवं अमङ्गलकी सूचना देता है। तन्निमित्तक कपोत-शान्ति की जाती है, जिसमें विश्वेदेवोंसे इस आकस्मिक अमङ्गलको दूरकर सुख-शान्तिकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना की जाती है। ऋग्वेद दशम मण्डलके १६५ वें सूक्तमें ५ वैश्वदेवी ऋचाएँ हैं। जिसमें निर्ऋतिपुत्र महर्षि कपोत विश्वेदेवताओंसे प्रार्थना करते हैं कि 'यह निर्ऋति नामक पाप देवताका दूत कपोत बाधाकी इच्छासे हमारे घरमें प्रवेश कर गया है, उस बाधाको दूर करनेके लिये हम आपकी पूजा करते हैं। आपलोग कपोत-प्रवेशरूप दोषका परिहार करें और हमारे घरमें निवास करनेवाले द्विपद, चतुष्पद एवं स्थावर-सम्पत्तिकी रक्षा करें। यह जो कपोत नामका पक्षी प्रायः अशुभ माना गया है, वह हमारे लिये शुभकर और सुखकर हो। हमलोगोंको कोई बाधा न पहुँचे। आपलोग ऐसा प्रयत्न करें। यह उलूक या घूक नामका पक्षी जो अशोभन रवसे अमङ्गलकी सूचना दे रहा है और अग्नि-रूप कपोत गृहके मध्यमें पैर रख रहा है, हे विश्वेदेव ! आप इन दोनोंकी अमाङ्गल्यशक्तिको समाप्त कर दें और इसके स्वामी यमराजको भी यहाँसे हम प्रणाम करते हैं, वे हमारा कल्याण करें। हमारे घरके सभी अमङ्गल एवं दोष दूर हो जायँ और यह कपोत उड़कर दूर चला जाय।'

इस पूर्वोक्त वैश्वदेव सूक्तकी प्रत्येक ऋचाको १०८ बार पढ़ते हुए, ॐ सहित घृताक्त समिधाकी अग्निमें आहुति दे, फिर **'यत इन्द्र भयामहे०'**[२] इस मन्त्रसे—स्वस्त्ययन-मन्त्रोंसे तथा अघोर-मन्त्रके द्वारा भी तिल और घृतद्वारा एवं फिर व्याहृतियोंद्वारा भी हवन करना चाहिये। तदनन्तर मङ्गल-जप तथा पूर्णाहुति भी करनी चाहिये। ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वयं भी भोजन करना चाहिये।

अथर्वणपरिशिष्ट, नारदसंहिता, रत्नमाला एवं ज्योतिर्निबन्ध आदि ग्रन्थोंके अनुसार घरमें जंगली कपोतका प्रवेश, मकानके ऊपर या समीपमें गृध्र, उलूकादिका बैठना, प्रवेश करना अथवा शब्द करना दोषयुक्त तथा गृहस्वामीके लिये अनर्थयुक्त बताया गया है[३]। शान्ति-संग्रह, अथर्वणपरिशिष्ट तथा आश्वलायन आदि गृह्य-सूत्रोंमें इसकी शान्ति आवश्यक बतायी गयी है और उसमें जप, हवन आदिका विस्तृत विधान भी बताया गया है। तदनुसार योग्य ऋत्विजोंका वरणकर यज्ञकुण्ड या स्थण्डिलपर स्वस्ति-पुण्याहवाचनपूर्वक भवनके ईशानकोणमें विशिष्ट शान्ति-कुण्डका निर्माण करना चाहिये और उसमें कुशकण्डिका आदि पूर्वाङ्गकर्मोंका सम्पादन कर वैश्वदेव-सूक्तके **'देवाः कपोत०'** (ऋग्वेद १०।१६५।१—५) इन पाँच ऋचाओंद्वारा १०८ बार आवृत्ति करते हुए आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिये। अन्तमें पूर्णाहुति तथा विश्वेदेवोंकी प्रार्थना आदिके द्वारा शान्तिकर्मकी विधि पूर्ण करनी चाहिये। इससे सम्पूर्ण दोषों तथा अमङ्गलोंकी निवृत्ति हो जाती है।

(समाप्त)

---

[१] ऋग्वेदके दशम मण्डलके दो सूक्तों (१०।६१-६२) से उपर्युक्त मूल कथाके साथ-साथ यज्ञ-विधियोंका संकेत तथा विश्वेदेवताओंको प्रसन्न करनेवाली ऋचाओंका ज्ञान होता है।

[२] यत त इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि। मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि॥
(ऋ० ८।६१।१३, साम० २७४,।१३२१, अथर्व० १९।१५।१, तै० ब्रा० ३।७।११।४, तै० आ० १०।१।१, तां० ब्रा० १५।४।३)

[३] भागवत (२।१९।१३-१४) में युधिष्ठिर कपोतकी वाणी सुनकर भारी अमङ्गलकी आशंका करते हुए कहते हैं कि मृत्यु या निर्ऋति देवताका दूत यह कपोत यहाँ आकर उलूकके साथ अमङ्गल-रव करता हुआ मेरे मनको भयभीत कर रहा है, लगता है यदुवंशियों तथा कुरु-पाण्डववंशियोंका कोई महान् अकल्याण होनेवाला है।

देवयोनियोंका उद्भव एवं स्वरूप-परिचय

[विशेषाङ्क पृ० सं० २८१ से आगे]

(३) यक्ष

यक्षगण धनाध्यक्ष कुबेरके सेवक एवं उनकी निधियोंके रक्षक कहे गये हैं। गन्धर्वोंके समान ही ये भी गानविद्या आदिमें पारङ्गत तथा प्रायः सभी दिव्य शक्तियोंसे सम्पन्न होते हैं। मणिभद्र यक्षोंके अधिनायक हैं। पुराणोंके अनुसार इनकी मुख्य निवासभूमि हिमालयके अन्तर्गत अलकापुरीके पास मणिभूमिके नामसे कही गयी है। वैसे अन्य कुलपर्वतों तथा अन्तरिक्षमें भी ये विचरण किया करते हैं।

पुराणोंके अनुसार इनकी उत्पत्ति महर्षि कश्यपकी खसा नामक पत्नीसे हुई है[१]। मत्स्यपुराण (अ० २८०) के अनुसार भगवान् शङ्करके गणोंमें भी यक्ष हैं। वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, पुराणों तथा मेघदूत, किरातार्जुनीय आदि काव्योंमें यक्षोंकी अनेकों सुन्दर कथाएँ प्राप्त होती हैं। कथासरित्सागर आदि ग्रन्थोंमें मनुष्योंके साथ यक्षोंके वैवाहिक सम्बन्धका भी उल्लेख है। जिस प्रकार देवादिकी आराधना करनेसे सिद्धि-लाभ होता है, उसी प्रकार यक्ष, यक्षी आदि देवयोनियोंकी उपासनासे भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(४) राक्षस

अधिकांश पुराणोंके अनुसार समस्त राक्षस पुलस्त्य मुनिकी हविर्भू नामक पत्नीसे उत्पन्न पुत्रोंकी संतानें हैं। विष्णुपुराणके अनुसार वे कश्यप ऋषिकी खसा नामक पत्नीसे उत्पन्न पुत्रोंकी संतानें हैं। वाल्मीकीय रामायणके अनुसार ये जलकी रक्षाके लिये ब्रह्माजीके द्वारा उत्पन्न किये गये थे। 'राक्षस' शब्द **'रक्ष'** धातुमें **'असुन्'** और **'अण्'** प्रत्यय करनेपर बनता है। सामान्यतः 'असुर' शब्दका इतिहास बहुत बड़ा है। वेदमें 'असुर' शब्द अधिक स्थानोंपर देवताका वाचक है। वहाँ असुरोंमें वरुणदेव ही प्रधान माने गये हैं। वेदोंमें निर्दिष्ट है कि असुर मदिरापान नहीं करते थे। अतः उन्हें 'असुरा' कहा जाता था। अमरसिंहके 'अमरनामलिङ्गानुशासन' के अनुसार **'असुरा दैत्यदैतेयाः पूर्वे देवा सुरद्विषः'** इस वचनमें सबकी संगति लग जाती है। किंतु असुरोंको यहाँ विशेषरूपसे दितिका पुत्र कहा गया है। वैसे सामान्यतया 'असुर' शब्दमें दैत्य, दानव, राक्षस सभी आ जाते हैं। इसीलिये इनकी तीन कोटियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं। रामचरितमानसमें इन्हें जातुधान (निशाचर) भी कहा गया है। वेदोंसे लेकर इतिहास, पुराणोंतक सभीमें इन्हें प्रदोष एवं रात्रिमें अधिक बलशाली माना गया है—

जातुधान प्रदोष बल पाई। धाए करि दससीस दोहाई॥

(मानस ६।४६।४)

राक्षसोंमें एक कोटि ब्रह्मराक्षसोंकी होती है। वे वेदविद्यादिमें विशेष निष्णात तथा अन्य राक्षसोंके लिये प्रायः गुरु-स्वरूप होते हैं। 'लंकानगरी' में ऐसे अनेक विद्वान् ब्रह्मराक्षस थे, जिनकी वेदध्वनि अशोकवाटिकामें शिंशपा-वृक्षपर बैठे हुए श्रीहनुमान्‌जीने श्रवण की थी—

'शुश्राव ब्रह्मनिर्घोषं लंकायां ब्रह्मरक्षसाम्॥'

इन राक्षसोंके विषयमें महाभारतमें कहा गया है कि ये उत्पन्न होते ही तत्काल युवा एवं बलशाली हो जाते हैं। कथासरित्सागरमें ऐसे कई राक्षसोंकी कथाएँ आती हैं, जो साधु-स्वभावके थे। मन्त्रोंके वशीभूत होकर वे जापकोंके परिवार आदिको ढोकर यथास्थान ले जाते थे। महाभारतके अनुसार महाबली भीमसेनका पुत्र घटोत्कच भी जन्म लेनेके तत्काल बाद सम्पूर्ण पाण्डवोंको कुन्तीसहित अपनी पीठपर बैठाकर हिमालय पर्वतपर ले गया था। इतिहास-पुराणोंमें देवयोनियोंमें देवता एवं राक्षस विशेष प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण रामायणोंमें इनको रामका शत्रु दिखाया गया है। वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डमें इनकी उत्पत्ति एवं इनसे सम्बन्धित अनेकों घटनाओंका विस्तृत उल्लेख हुआ है। दानव, दैत्य, प्रेत-पिशाच आदि इनके सहायक होते हैं। देवताओंका विरोध इनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

---

[१] अग्निपुराणमें यक्षोंको प्रचेताकी संतान भी कहा गया है—

प्रचेतसः सुता यक्षास्तेषां नामानि मे शृणु। केवलो हरिकेशश्च कपिलः काञ्चनस्तथा॥
मेघमाली च यक्षाणां गण एष उदाहृतः॥

(५) गन्धर्व

गन्धर्व देवताओंकी एक योनिविशेषका नाम है। दक्षसुता प्राधाने प्रजापति कश्यपके द्वारा दस देवगन्धर्वोंको उत्पन्न किया था। उनके नाम हैं—सिद्ध, पूर्ण, बर्हि, पूर्णायु, ब्रह्मचारी, रतिगुण, सुपर्ण, विश्वावसु, भानु और सुचन्द्र (महा०, आदि० ६५। ४६—४८)। गन्धर्वोंमें हाहा, हूहू और तुम्बुरु बहुत प्रसिद्ध हुए हैं, ये भी प्राधाके ही पुत्र हैं (महा०, आदि० ६५। ५२)। कश्यपकी एक अन्य पत्नी अरिष्टासे भी कुछ गन्धर्व उत्पन्न हुए हैं (मत्स्यपु० ६। ४५)।

वाल्मीकीय रामायण एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें गन्धर्वराज शैलूषकी तीन करोड़ संतानोंका उल्लेख है। शास्त्रों तथा इतिहास-पुराणोंमें इनसे सम्बन्धित अनेकों कथाएँ प्राप्त होती हैं।

(६) किन्नर

इन्हें 'किम्पुरुष' भी कहते हैं। इनका मुख अश्व-जैसा एवं अन्य शरीर मनुष्यके समान होता है। इनका निवासस्थान मुख्यतः किम्पुरुषवर्ष बतलाया गया है। यह हिरण्मयवर्षके दक्षिण एवं भद्राश्ववर्षके पश्चिम है। ये लोग पुलह ऋषिके वंशज माने गये हैं। संगीतमें इनकी विशेष निपुणता बतलायी गयी है। ये लोग प्रायः देवोपासनामें अनुरक्त रहते हैं। भागवत आदि पुराणोंमें कहा गया है कि हनुमान्‌जी भगवान् श्रीरामके निजधाम-गमनके उपरान्त किम्पुरुषवर्षमें इन किम्पुरुषोंके बीचमें रहकर इन्हें श्रीरामकी कथा सुनाते हैं और इनसे भी रामकथाका श्रवण करते हैं (श्रीमद्भागवत ५। १९)। महाकवि कालिदासके 'कुमारसम्भव' तथा श्रीहर्षके 'नैषधीयचरितम्' एवं भारविके 'किरातार्जुनीयम्' में रैवतक (गिरनार) एवं इन्द्रकील पर्वतोंपर जाने आदिके समय किम्पुरुषोंके विचित्र चरित्रोंके विषयमें उन-उन कवियोंद्वारा अलग-अलग उनके विविध जीवन-चर्याओंकी सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गयी है। कथासरित्सागरमें इन किम्पुरुषोंको पर्याप्त उदार बताया गया है एवं इनसे सम्बन्धित कई कथाएँ प्राप्त होती हैं।

(७) पिशाच

ब्रह्माण्ड तथा वायुपुराण आदिके अनुसार पिशाच हीन देवयोनियोंके अन्तर्गत आते हैं। विद्याधर एवं गन्धर्वोंके समान ये रूपवान् नहीं होते, परंतु ये भी कामरूप होते हैं। इनमें इच्छानुसार रूप-परिवर्तनकी शक्ति होती है। अन्य दिव्य देवशक्तियाँ भी इन्हें प्राप्त होती हैं।

(८) गुह्यक

इतिहास-पुराणों एवं अनेक कोशों तथा लक्षण-ग्रन्थोंके अवलोकनसे यह ज्ञात होता है कि गुह्यक नामक देवयोनि भी यक्षोंकी ही एक अवान्तर श्रेणी है। इनके भी स्वामी कुबेर ही हैं। धनाध्यक्ष कुबेरको गुह्यकेश्वर, गुह्यकपति भी कहा गया है। गुह्यकगण प्रायः कुबेरकी पालकीको अपने कन्धोंपर वहन करते हैं। कुबेरके अनुचर होनेसे इनका निवासस्थान भी अलकापुरीके आस-पास हिमालयका क्षेत्र माना जाता है। कथासरित्सागर एवं बृहत्कथामञ्जरीमें प्रायः बीस गुह्यकोंकी कथाएँ आयी हैं। उससे ज्ञात होता है कि इनके पास कोई ऐसा दिव्य पात्र होता था, जिससे भोजन आदि सम्पूर्ण सामग्रियाँ अपने-आप निकलती रहती थीं। अमरकोशमें **'पिशाचो गुह्यको सिद्धो०'** कहकर इन्हें सामान्य देवयोनिमें परिगणित किया गया है। महाभारतमें द्रौपदीकी स्वयंवर-सभामें इनके उपस्थित रहने एवं पाण्डवोंके हिमालय-वासमें इनसे मिलनेकी बात आती है। ये प्रायः छिपकर रहते हैं, इसीसे इन्हें 'गुह्यक' कहते हैं।

(९) सिद्ध

सिद्धोंके अनेक भेद हैं। योगसाधना, मन्त्र-साधना, तपःसिद्ध और मणि, ओषधि आदिके प्रभावसे बने हुए सिद्ध कर्मसिद्ध कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त विद्याधर, गन्धर्व, किन्नरकी तरह इनसे एक भिन्न देवयोनि भी 'सिद्ध' नामसे प्रसिद्ध है। ये जन्मजात सिद्ध होते हैं। यहाँ विशेषकर इन्हीं सिद्धोंसे तात्पर्य है। सिद्धगण सब प्रकारके स्थूल एवं सूक्ष्म जगत्‌की सिद्धियोंसे युक्त तथा धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि श्रेष्ठ गुणोंसे पूर्णतया सम्पन्न होते हैं। इनमें कपिल आदि सिद्ध तपःसिद्ध हैं। ये अलौकिक शक्तिसम्पन्न, अत्यन्त पवित्र, पुण्यात्मा तथा अन्तर्दृष्टियुक्त होते हैं। ये प्रायः सिद्धलोकमें अदृश्य ही रहते हैं। किंतु आवश्यकतानुसार स्थूल शरीर भी धारण कर लेते हैं।

महाभारतके अश्वमेधपर्वमें वर्णन आया है कि दिव्य दृष्टि-सम्पन्न सिद्ध पुरुष अपने दिव्य चक्षुओंसे जीवोंका शरीर

त्यागना, पुनः शरीर धारण करना आदि भलीभाँति देख तथा जान सकते हैं। इच्छानुसार सिद्ध पुरुष आत्मशक्तिसम्पन्न सात्त्विक साधकोंको दर्शन एवं ज्ञान प्रदान करते हैं। वस्तुतः देवताओंसे जो सम्बद्ध सिद्धयोनि है, उसके अन्तर्गत आनेवाले सिद्धगण प्रायः विद्याधरोंके तुल्य एवं उन्हींकी भाँति आचरण करनेवाले होते हैं। यह वाल्मीकीय रामायण, सुन्दरकाण्डके प्रारम्भिक श्लोकोंसे सुस्पष्ट है। सिद्धोंका निवास-स्थान स्वर्गलोक, हिमालय, कैलास, इन्द्रकील तथा रैवतक आदि दिव्य-पर्वत एवं उत्तराखण्डकी पवित्र भूमि है। शास्त्रों एवं इतिहास-पुराणोंमें इनकी अनेक स्थानोंपर चर्चा हुई है एवं तत्सम्बन्धी आख्यानोपाख्यान भी प्राप्त होते हैं।

(१०) भूत-प्रेत

भूत और प्रेत एक साथ द्वन्द्व समासके रूपमें सहचर शब्द माने गये हैं। ये दोनों ही शब्द मृत व्यक्तियोंके लिये प्रयुक्त होते हैं। गरुडपुराणका प्रेतकल्प एवं कर्मकाण्डकी प्रेत-संस्कार-पद्धतियाँ और वैशाख-माहात्म्य, माघ-माहात्म्य आदिमें प्रेतोंके निवास-स्थान, कर्म आदिका विस्तारसे विवेचन हुआ है। 'अमरकोश' में यमराजका 'प्रेतपति' नाम आया है। मङ्गलपाठमें भी **'चन्द्रो भास्करवित्तपालवरुणो प्रेताधिपान्ये ग्रहाः'** इस पंक्तिमें चन्द्र, सूर्यके साथ-साथ वित्तपालसे कुबेर और वरुणसे पश्चिम दिशाके दिक्पाल प्रचेता वरुण तथा प्रेताधिपसे यमराज ही अभीष्ट हैं। इस प्रकार सभी शास्त्रों एवं लक्षण-कोशोंके साक्ष्यसे देवयोनि होनेपर भी ये भूत-प्रेत कष्टापन्न देवयोनियोंमें ही परिगणनीय हैं। इनका स्वरूप अत्यन्त विकराल एवं अवस्था चिन्तनीय होती है। अस्थिपञ्जररूप, स्नायुबद्ध इन देवयोनियोंका कल्याण श्राद्ध आदिद्वारा ही सम्भव है।

(११) नाग

नागोंकी गणना भी देवकोटिमें की जाती है। इनकी उत्पत्ति कद्रूदेवीसे हुई थी। महर्षि कश्यप इनके पिता कहे गये हैं। पातालमें स्थित भोगवती नगरी नागोंका मुख्य निवास-स्थान है।

(१२) चारण

श्रीमद्भागवत (७।८।५१) के अनुसार चारण नामक इस देवयोनिके नामकी सार्थकता भगवान्‌के चरणकमलोंकी शरण-ग्रहण करनेके कारण है। 'चारण' की उत्पत्ति 'चरण' शब्दसे हुई है। जिस प्रकार लौकिक चारण, बन्दी एवं भाटजनोंकी श्रेणीमें प्रतिष्ठा प्राप्तकर राजाओं, महाराजाओंका गुणगान करते हैं, उसी प्रकार चारण देवयोनि भी शिव, विष्णु, इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवोंका निरन्तर गुणगान करती रहती है। वाल्मीकीय रामायण एवं भागवत आदिमें इनकी अत्यन्त प्रतिष्ठा हुई है। इतिहास-पुराणोंमें चारणोंकी अनेक कथाएँ अन्य देवयोनियोंके साथ ही मिलती हैं। भगवान्‌के चरितगानमें ये किम्पुरुषोंके तुल्य ही हैं।

वेदों एवं पुराणोंमें देवयोनियोंके अन्य अनेक उपभेद भी निर्दिष्ट हैं। इनके अतिरिक्त भी प्रमथ, रुद्रगण तथा अन्य देवताओंके परिकरोंमें बहुतसे उपदेवताओंका निर्देश मिलता है। यहाँ तो कुछ मुख्य एवं विशेष विख्यात देवयोनियोंका ही परिचय दिया गया है।

वारोंके अधिष्ठातृ-देवता

वार	रवि	सोम	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
देवता	शिव	दुर्गा	षणमुख	विष्णु	ब्रह्मा	इन्द्र	यम

(श्रीतत्त्वनिधिमें शैवागमके वचन)

कृषि एवं क्षेत्रके अधिष्ठाता भगवान् क्षेत्रपाल

[विशेषाङ्क पृ० सं० ३२७ से आगे]

क्षेत्रपालके भेद

मुख्य देवता एक होनेपर भी शिवके एकादश रुद्रों, सूर्यके द्वादश आदित्यों तथा वायुके उनचास मरुद्भेदोंके समान ही इनके भी ४९ भेद शास्त्रोंमें निरूपित हैं। प्रयोगसार आदि कई ग्रन्थोंमें कामनाभेदसे इनके ४९ नाम भी दिये गये हैं, यथा—१-अजर, २-आपकुम्भ, ३-इन्द्रसूनु, ४-ईडाचार, ५-उल्कामुख, ६-ऊष्माद, ७-ऋषिसूदन, ८-ॠमुक्त, ९-लृप्तकेश, १०-ॡपक, ११-एकदंष्ट्रक, १२-ऐरावत, १३-ओघवन्धु, १४-औषधघ्न, १५-अञ्जन, १६-अस्त्रबाहु, १७-कवल, १८-खरुखानल, १९-गोमुख, २०-घण्टाद, २१-अङणार, २२-चण्डचारण, २३-छटाटोप, २४-जटाल, २५-झङ्कार, २६-ञठश्वर, २७-टङ्कपाणि, २८-ठाणबन्धु, २९-डामर, ३०-ढक्कारव, ३१-णकर्ण, ३२-तडिद्देह, ३३-स्थिर, ३४-दन्तुर, ३५-धनद, ३६-नतिक्रान्त, ३७-प्रचण्डक, ३८-फट्कार, ३९-बीरसन्ध, ४०-भृङ्ग, ४१-मेघमासुर, ४२-युगान्त, ४३-रौरव, ४४-लम्बोष्ठ, ४५-वसव, ४६-शुकनन्द, ४७-षडाल, ४८-सुनामा और ४९-हंध्रक (हंग्रुक)।

वैसे क्षेत्रपाल देवताके और भी कई नाम हैं, किंतु मातृका-वर्णोंपर आधारित होनेसे ये विशेष महत्त्वके हैं। कोई भी देवता ४९ वर्णाक्षरोंमेंसे जिस वर्णके मन्त्रसे सम्बद्ध है, वहाँ इन ४९ वर्णोंमेंसे उस वर्णका स्वामी क्षेत्रपाल उस देवतासे विशिष्ट सम्बन्धित माना जाता है। अतः तत्तदक्षरोंसे सम्बद्ध मन्त्रात्मक देवताके तत्तत् क्षेत्रपाल देवता भी होते हैं, इसलिये विशेष रूपसे इनकी पूजा की जानी चाहिये, बिना क्षेत्रपालकी पूजा किये किया हुआ कर्म सफल नहीं होता, क्योंकि ये क्षेत्रपाल देवता उसे नष्ट कर देते हैं।

वैदिक कर्मकाण्ड-ग्रन्थोंमें पूर्वोक्त ४९ क्षेत्रपालोंके स्थानपर किञ्चित् भिन्न नामसे पृथक्-पृथक् वैदिक मन्त्रोंद्वारा उनकी पूजा-परम्पराका उल्लेख मिलता है। इनकी पूजामें न केवल वैदिक मन्त्र अपितु तान्त्रिक तथा पौराणिक मन्त्र भी उपलब्ध होते हैं। ये ४९ नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—१-अजर, २-व्यापक, ३-इन्द्रचौर, ४-इन्द्रमूर्ति, ५-उक्षन् या उक्षाभिद्, ६-कूष्माण्ड, ७-वरुण, ८-बाहुक, ९-विमुक्त, १०-लिप्तक, ११-लीलालोक, १२-एकदंष्ट्र, १३-ऐरावत, १४-औषधघ्न, १५-बन्धन, १६-दिव्यकाय, १७-कम्बल, १८-क्षोभण, १९-गवि, २०-घण्टाभिध, २१-व्यालाय, २२-अणुस्वरूप, २३-चन्द्रवारुण, २४-फटाटोप, २५-जटाल, २६-क्रतु, २७-घण्टेश्वर, २८-विटङ्क, २९-मणिमति, ३०-गणबन्ध, ३१-डामर, ३२-ढुण्ढिकर्ण, ३३-स्थविर, ३४-दन्तुर, ३५-धनद, ३६-नागकर्ण, ३७-मारीगण, ३८-फेत्कार, ३९-चीकर, ४०-सिंहाकृति, ४१-मृग, ४२-यक्ष्मप्रिय, ४३-मेघवाहन, ४४-तीक्ष्णोष्ट्र, ४५-अनल, ४६-शुक्लतुण्ड, ४७-अन्तरिक्ष, ४८-बर्बरक तथा ४९-पावन।

क्षेत्रपाल-पूजन

भगवान् क्षेत्रपालका पूजन सभी यज्ञभूमियों, देवमन्दिरोंके निर्माण, नगर-ग्रामकी स्थापना, पुष्पवाटिका, वृक्षोद्यान, सरोवर-निर्माण आदि सभी इष्टापूर्त-कर्मों तथा प्रतिष्ठाकर्मोंमें आवश्यक माना गया है। इसके साथ ही वृष्टि, कृषि-कर्म तथा उसके रक्षा-पालनके भी ये अधिष्ठाता देवता हैं। वैदिक संहिताओंमें यह बात आयी है कि इन्हींके बलसे राजा स्वराष्ट्ररक्षणपूर्वक विजय प्राप्त करता था।

प्रतिष्ठा-ग्रन्थोंमें इनके मण्डल-निर्माणसे लेकर पञ्चोपचार या षोडशोपचार-पूजन, हवन, बलि (दधि-माष-भक्त-बलि) आदि कर्मोंका विस्तृत विधान प्राप्त होता है। नवकोष्ठात्मक वेदिकाके मध्यमें पावन नामके क्षेत्रपाल तथा अन्य ८ कोष्ठकोंमें क्रमशः छः-छः क्षेत्रपाल देवताओंका आवाहन-स्थापनपूर्वक पूजन करनेका विधान है। इसके बाद ही कमलाकार पीठकी रचनाकर उसके आठ पत्रोंमें क्रमशः अनल, अग्निकेश, कराल, घण्टारव, महाक्रोध, पिशिताश, पिङ्गलाक्ष तथा ऊर्ध्वकेश—इन नामोंसे पूजा की जाती है। प्रधान मूर्तिकी प्रतिमाकी विशेष पूजा कर उनके पार्श्वमें स्थित लोकपालों तथा उनके अस्त्र-शस्त्रोंकी भी पूजा करनेका विधान है।

क्षेत्रपाल-चक्र

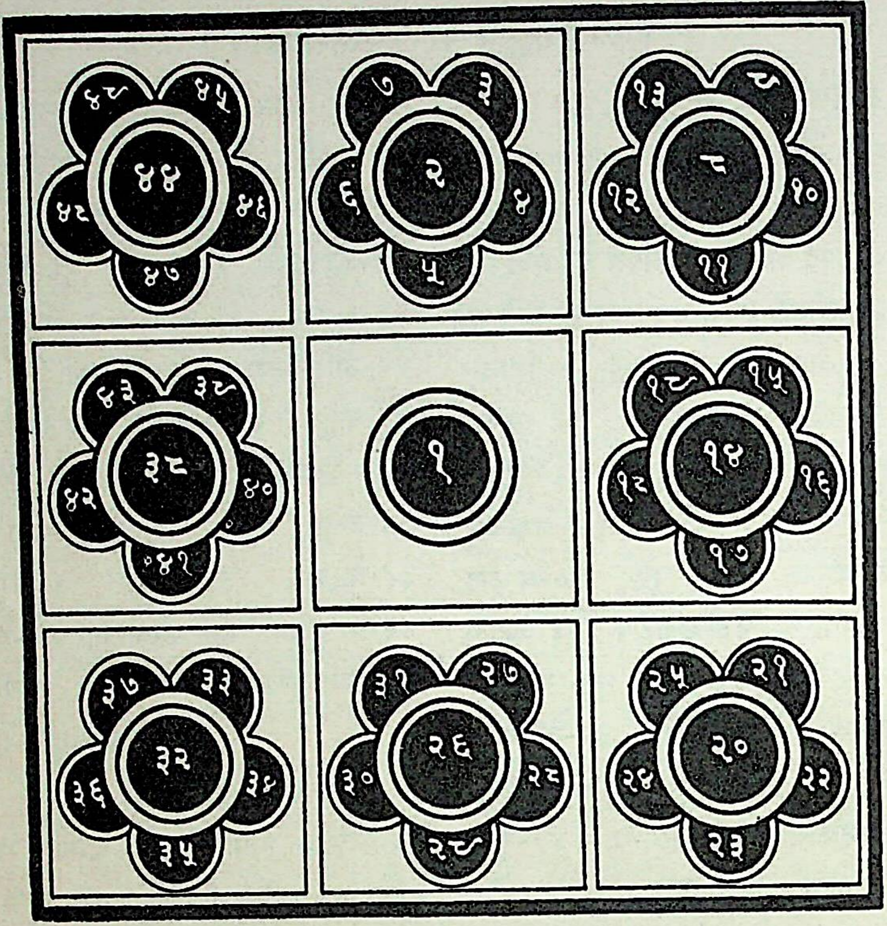
४८
४५
४४
४९
४६
४७
७
३
२
६
४
५
१३
९
८
१२
१०
११
४३
३९
३८
४२
४०
४१
१
१९
१५
१४
१८
१६
१७
३७
३३
३२
३६
३४
३५
३१
२७
२६
३०
२८
२९
२५
२१
२०
२४
२२
२३

पूजनके अन्तमें इनकी विशेष प्रसन्नताके लिये सदीप दधि-माष-भक्त-बलिका विधान है। बलिका मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ क्षेत्रपालाय साङ्गाय सपरिवाराय सायुधाय सशक्तिकाय इमां बलिं निर्हरामि। भो क्षेत्रपाल ! क्षेत्रं रक्ष बलिं भक्ष मम सकुटुम्बस्य सपरिवारस्य गृहे आयुःकर्ता शुभकर्ता शान्तिकर्ता पुष्टिकर्ता तुष्टिकर्ता वरदो भव।

साधकको व्यञ्जनसहित एक बड़ा-सा पिण्ड बनाकर क्षेत्रेशका ध्यान करते हुए उनके हाथमें बलि देनी चाहिये, इस प्रयोगसे वे संतुष्ट होकर कान्ति, मेधा, बल, आरोग्य, पुष्टि, यश, श्री, धन-धान्य तथा ऐश्वर्य आदि प्रदान करते हैं—

बलिनानेन संतुष्टः क्षेत्रपालः प्रयच्छति।
कान्तिं मेधां बलारोग्यतेजःपुष्टियशःश्रियः॥

(शारदातिलक २०।४३)

यह सर्वतोभद्रादि चक्रोंके समान ही क्षेत्रपालचक्र भी बड़ा भव्य एवं आकर्षक होता है। एक वेदीपर ९ समान कोष्ठक बनाये जाते हैं, जिनमें सबसे मध्यमें 'अजर' नामक प्रधान क्षेत्रपतिका अकेला कोष्ठक होता है, उसके ठीक पूर्वमें द्वितीय क्षेत्रपालसे लेकर सप्तम क्षेत्रपालतक प्रदक्षिण-क्रमसे स्थापना की जाती है, पुनः अग्निकोणपर ६ कोष्ठकोंका तृतीय कोष्ठक होता है, जिसमें प्रदक्षिण-क्रमसे ८ से लेकर १३वीं संख्यातकके क्षेत्रपालोंका स्थान होता है। इसी प्रकार दक्षिण दिशाके कोष्ठकमें १४से लेकर १९ तक, नैर्ऋत्यकोणके कोष्ठकमें २०से लेकर २५ तक, पश्चिममें २६ से ३१ तक, वायुकोणमें ३२से ३७ तक, उत्तर दिशामें ३८से ४३ तक तथा ईशानकोणमें स्थित अन्तिम चक्रके कोष्ठकमें ४४ से लेकर ४९ तक क्षेत्रपालोंका आवाहन, प्रतिष्ठा तथा पूजन आदिका विधान निर्दिष्ट है।

श्रीराधाकृष्णकी युगलोपासना

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[विशेषाङ्क पृ० सं० ६४ से आगे]

यहाँ श्रीराधामाधव-युगलकी पूजाकी संक्षिप्त विधि लिखी जाती है। मानस या श्रीविग्रहकी स्थापना कर साधक पूजा कर सकते हैं।

श्रीवृन्दावनमें यमुनाके तीरपर अनेक प्रकारके वृक्ष-लताओंका एक बृहत् वनकुञ्ज है। भाँति-भाँतिके पुष्प खिले हुए हैं और उनपर मधुपान-मत्त भ्रमरोंके समुदाय गुंजार कर रहे हैं। यमुनाजीमें वायुके झोकोंसे सुन्दर मन्द-मन्द तरंगें नाच रही हैं। भाँति-भाँतिके कमल खिल रहे हैं। वहीं श्रीराधामाधव एक कदम्ब-वृक्षके नीचे विराजित हैं। श्रीकृष्णके वामपार्श्वमें श्रीराधिकाजी हैं। इस प्रकार ध्यान करके वृन्दावनकी कल्पना करे। तदनन्तर निम्नलिखित रूपमें श्रीराधामाधवका स्मरण तथा ध्यान करे—

गोविन्दका ध्यान

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसंगावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे॥

'प्रफुल्ल नील कमलके समान जिनकी श्याम मनोहर कान्ति है, मुखमण्डलकी चारुता चन्द्रविम्बको भी विलज्जित करती है, मोरपंखका मुकुट जिन्हें अधिक प्रिय है, जिनका वक्ष स्वर्णमयी श्रीवत्सरेखासे समलंकृत है, जो अत्यन्त तेजस्विनी कौस्तुभमणि धारण करते हैं और रेशमी पीताम्बर पहने हुए हैं, गोपसुन्दरियोंके नयनारविन्द जिनके श्रीअङ्गोंकी सतत अर्चना करते हैं, गौओं तथा गोपकिशोरोंके संघ जिन्हें घेरकर खड़े हैं तथा जो दिव्य अङ्गभूषासे विभूषित हो मधुरातिमधुर वेणुवादनमें संलग्न हैं, उन परम सुन्दर गोविन्दका मैं भजन करता हूँ।'

श्रीराधाका ध्यान

हेमाभां द्विभुजं वराभयकरां नीलाम्बरेणादृतां
श्यामक्रोडविलासिनीं भगवतीं सिन्दूरपुञ्जोज्ज्वलाम्।
लीलाक्षीं नवयौवनां स्मितमुखीं विम्बाधरां राधिकां
नित्यानन्दमयीं विलासनिलयां दिव्याङ्गभूषां भजे॥

'जिनके गोरे-गोरे अङ्गोंकी हेममयी आभा है, जो दो भुजाओंसे युक्त हैं और दोनों हाथोंमें क्रमशः वर एवं अभयकी मुद्रा धारण करती हैं, नीले रंगकी रेशमी साड़ी जिनके श्रीअङ्गोंका आवरण बनी हुई है, जो श्यामसुन्दरके अङ्कमें विलास करती हैं, सीमन्तगत सिन्दूरपुञ्जसे जिनकी सौन्दर्य-श्री और भी उद्भासित हो उठी है, चपल नयन, नित्य नूतन यौवन, मुखपर मन्दहासकी छटा तथा विम्बफलकी अरुणिमाको भी तिरस्कृत करनेवाला अधर-राग जिनका अनन्य-असाधारण वैशिष्ट्य है, जो नित्य आनन्दमयी तथा विलासकी आवासभूमि है, जिनके अङ्गोंके आभूषण दिव्य (अलौकिक) हैं, उन भगवती श्रीराधिकाका मैं चिन्तन करता हूँ।'

तत्पश्चात् मन-ही-मन श्रीराधामाधवका आवाहन करके निम्नलिखित श्लोकोंसे श्रीराधा-माधवको प्रणाम करे—

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तु ते॥
तप्तकाञ्चनगौराङ्गि राधे वृन्दावनेश्वरि।
वृषभानुसुते देवि त्वां नमामि हरिप्रिये॥

तदनन्तर श्रीराधामाधवके चरणोंका विशुद्ध प्रेम प्राप्त करनेके उद्देश्यसे पूजनका संकल्प करे और पूजा आरम्भ कर दे—

आसन—

'इदमासनं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः
श्रीकृष्ण! प्रभो! इदमासनं सुखमास्यताम्।'
'इदमासनं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः
श्रीराधे! भगवति! इदमासनं सुखमास्यताम्॥'

इस मन्त्रके द्वारा सुमनोहर आसन प्रदान करे। अभावमें पुष्प अर्पण करे। स्वागत—निम्नलिखित वाक्यके द्वारा सादर अभ्यर्थना करके कुशलप्रश्न करे—

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः सर्वार्थसिद्धये।
तस्य ते परमेशान सुस्वागतमिदं वपुः॥
भो भगवन् श्रीकृष्ण स्वागतं सुस्वागतम्।
हे श्रीकृष्ण प्रभो स्वागतं करोमि॥
यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः सर्वार्थसिद्धये।
तस्य ते राधिके देवि सुस्वागतमिदं वपुः॥
भो भगवति श्रीराधिके स्वागतं सुस्वागतम्।
हे राधिके परमेश्वरि स्वागतं करोमि॥

पाद्य—किसी चाँदी, ताम्र या पीतलके पात्रमें चन्दन-सहित पुष्प और तुलसीदल डालकर जल भर ले और—**'एतत् पाद्यं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'**कहकर श्रीकृष्णके चरणोंमें जल अर्पण करे। इसी प्रकार—**'एतत् पाद्यं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'**—बोलकर श्रीराधाके चरणोंमें जल अर्पण करे।

अर्घ्य—शङ्खमें जल लेकर—**'इदमर्घ्यं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'** बोलकर श्रीकृष्णके मस्तकपर अर्घ्यजल प्रदान करे। **'इदमर्घ्यं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'** बोलकर श्रीराधाके मस्तकपर अर्घ्यजल अर्पण करे।

आचमनीय—दूसरे पात्रमें जल लेकर—**'इदमाचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'** बोलकर श्रीकृष्णके हाथोंमें आचमनीय-जल अर्पण करे। **'इदमाचमनीयं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'** कहकर श्रीराधाके हाथोंमें आचमनीय-जल अर्पण करे।

मधुपर्क—काँसे अथवा चाँदीके पात्रमें (ताँबेका पात्र न हो) मधुपर्क (मधु, घृत, शर्करा, दधि और जल— अभावमें पुष्प, तुलसी और जल) लेकर **'इदं मधुपर्कं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः'**—कहकर मधुपर्क-सामग्रीको श्रीकृष्णके मुखमें अर्पण करे। **'इदं मधुपर्कं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'** कहकर मधुपर्क-सामग्रीको श्रीराधाके मुखमें अर्पण करे।'

पुनराचमनीय—एक पात्रमें जल लेकर—**'इदं पुनराचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'** बोलकर श्रीकृष्णके मुखमें अर्पण करे। इसी प्रकार **'इदं पुनराचमनीयं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'** बोलकर श्रीराधाके मुखमें अर्पण करे।

स्नान—किसी शुद्ध ताम्रपात्र या शङ्खमें कर्पूर, चन्दन, सुवासित शुद्ध जल लेकर—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धुकावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु॥

—यह मन्त्र बोलकर जलपर अङ्कुशमुद्रा दिखाकर तीर्थोंका आवाहन करे। तदनन्दतर—

वृन्दावनविहारेण श्रान्तिं विश्रान्तिकारकम्।
चन्द्रपुष्करपानीयं गृहाण पुरुषोत्तम॥

—बोलकर श्रीकृष्णको स्नान करावे। इसी प्रकार श्रीराधाको स्नान करावे।

वस्त्र—**'इदं परिधेयवस्त्रम् इदमुत्तरीयवासश्च श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'** यह मन्त्र बोलकर बहुत बढ़िया महीन पीला वस्त्र तथा उत्तरीय वस्त्र भगवान्‌को पहना दे। इसी प्रकार—**'इदं परिधेयवस्त्रं कञ्चुकीम् उत्तरीयवासश्च श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'** यह मन्त्र बोलकर बढ़िया नीले रंगकी साड़ी, कञ्चुकी और किनारीदार ओढ़नी श्रीराधिकाजीको अर्पण करे।

भूषण—**'इमानि भूषणानि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'** बोलकर रत्न-स्वर्ण आदिनिर्मित अलंकार (हार, मुकुटमणि, कड़े आदि गहने) भगवान्‌को पहना दे।

इसी प्रकार—**'इमानि भूषणानि श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'** बोलकर राजरानियोंके पहननेयोग्य रत्न-स्वर्णादिके गहने श्रीराधाको अर्पण करे।

गन्ध—केसर-कर्पूर-मिश्रित चन्दन लेकर—**'इमं गन्धं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'** कहकर चन्दनको श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंपर लेपन करे या उन्हें अर्पण करे। **'इमं गन्धं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'** कहकर चन्दनको श्रीराधाके श्रीअङ्गोंपर लेपन करे या उन्हें अर्पण करे।

पुष्प—सुगन्धित नाना प्रकारके पुष्प लेकर—**'इमानि पुष्पाणि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'** बोलकर श्रीकृष्णके श्रीचरणोंपर अर्पण करे।**'इमानि पुष्पाणि श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'**बोलकर पुष्प श्रीराधाके श्रीचरणोंपर अर्पण करे।

तुलसीदल—इसके अनन्तर चन्दनसहित तुलसीदल लेकर—**'इदं सचन्दनं तुलसीदलं श्रीकृष्णाय निवेदयामि**

नमः।' कहकर श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें आठ बार अर्पण करे।

श्रीराधाजीको तुलसीदल अर्पण नहीं किया जाता।

तदनन्तर श्रीकृष्णके आठ नामोंका उच्चारण करते हुए आठ पुष्पाञ्जलियाँ श्रीकृष्णको अर्पण करे—

श्रीकृष्णाय नमः। श्रीवासुदेवाय नमः। श्रीनारायणाय नमः। श्रीदेवकीनन्दनाय नमः। श्रीयदुश्रेष्ठाय नमः। श्रीवार्ष्णेयाय नमः। श्रीअसुराक्रान्तभूभारहारिणे नमः। श्रीधर्मसंस्थापिने नमः।

श्रीराधाके आठ नामोंका उच्चारण करते हुए आठ पुष्पाञ्जलियाँ श्रीराधाको अर्पण करे—

श्रीराधिकायै नमः। श्रीरासेश्वर्यै नमः। श्रीकृष्णकान्तायै नमः। श्रीनित्यनिकुञ्जेश्वर्यै नमः। श्रीवृषभानुसुतायै नमः। श्रीगान्धर्विकायै नमः। श्रीवृन्दावनमहेश्वर्यै नमः। श्रीकृष्णप्राणाधिकादेव्यै नमः।

धूप—पीतल या चाँदीकी धूपदानीमें धूप रखकर—'**इमं धूपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः**'—कहकर श्रीकृष्णको धूप अर्पण करे। '**इमं धूपं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः**'—कहकर श्रीराधाको धूप अर्पण करे।

दीप—गोघृत या शुद्ध तैलके द्वारा जलाये हुए दीपकको, '**इमं दीपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः**'—बोलकर बायें हाथसे घंटी बजाते हुए एवं दायें हाथमें दीपकको लेकर आरतीकी भाँति घुमाते हुए श्रीकृष्णको अर्पण कर दे।'**इमं दीपं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः**'—कहकर दीपकको श्रीराधाको अर्पण कर दे।

नैवेद्य—पवित्र थाली एवं कटोरोंमें भोज्य पदार्थ सजाकर धुली हुई चौकी या पाटेपर रख दे और पीनेके लिये एक दूसरे पात्रमें सुवासित जल भरकर रख दे। फिर '**अस्त्राय फट्**' मन्त्र बोलकर चक्रमुद्रा दिखलाते हुए नैवेद्यका संरक्षण करे। तदनन्तर किसी शुद्ध पात्रमें स्थापित जलमें '**यं**' वायुबीजका बारह बार जप करके उस जलके द्वारा नैवेद्यका प्रोक्षण करे और दाहिने हाथमें '**रं**' बीजका स्मरण करते हुए दाहिने हाथकी पीठपर बायाँ हाथ रखकर वह्निबीजका उच्चारण करे। इसके द्वारा नैवेद्यकी शुष्कताका दोष दूर होता है। फिर बायें हाथकी हथेलीपर अमृत-बीज '**ठं**' का स्मरण करके बायें हाथकी पीठपर दायाँ हाथ रखकर नैवेद्यको अमृतधारासे सिक्त करे। पीछे चन्दन और पुष्प लेकर—'**एते गन्धपुष्पे श्रीकृष्णाय नमः।**' एवं'**एते गन्धपुष्पे श्रीराधिकायै नमः।**' बोलकर श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाका क्रमशः अर्चन करे। फिर बायें हाथसे नैवेद्यके पात्रका स्पर्श करके दाहिने हाथसे गन्ध, पुष्प और जल लेकर—'**ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।**'—इस मन्त्रका उच्चारण करके—'**इदं नैवेद्यं श्रीकृष्णाय कल्पयामि।**' '**इदं नैवेद्यं श्रीराधिकायै कल्पयामि।**'—बोलकर जलको भूमिपर छोड़ दे। तदनन्तर प्रत्येक नैवेद्यके पात्रमें तुलसीदल रखे। फिर दोनों हाथोंद्वारा नैवेद्यपात्रको उठाकर भक्ति और दैन्यके साथ—'**निवेदयामि भवते जुषाणेदं हविर्हरे।**'—इस मन्त्रका उच्चारण करके दोनोंको नैवेद्य अर्पण करे। पीछे '**अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा**'—बोलकर श्रीराधामाधवके हाथोंमें जल देकर बायें हाथके द्वारा 'ग्रास-मुद्रा' दिखावे। तदनन्तर '**प्राणाय स्वाहा**', '**अपानाय स्वाहा**', '**व्यानाय स्वाहा**', '**उदानाय स्वाहा**', '**समानाय स्वाहा।**'—इन पाँचों मन्त्रोंका क्रमशः उच्चारण करके प्राणादि पाँच मुद्राएँ दिखावे।

पानीयोदक—फिर तुलसीपत्रसे सम्बन्धित सुवासित निर्मल जलसे भरा पूर्णमात्र—'**एतत् पानीयोदकं श्रीकृष्णाय निवेदयामि।**' एवं '**एतत् पानीयोदकं श्रीराधिकायै निवेदयामि।**'—बोलकर श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाको अर्पण करे। तदनन्तर नैवेद्यपर दस बार उपर्युक्त अष्टादशाक्षर मन्त्रका जप करके घंटी बजाये और पर्दा लगाकर घरसे बाहर आ जाय और १०८ बार उसी मन्त्रका जप करे तथा मन-ही-मन यह भावना करे कि श्रीराधामाधव भोजन कर रहे हैं। इसके पश्चात् भोजन-समाप्तिके बाद द्वार खोलकर या पर्दा हटाकर—

आचमन—जलके द्वारा '**इदमाचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि।**' '**इदमाचमनीयं श्रीराधिकायै निवेदयामि।**'—कहकर आचमनके लिये जल प्रदान करे।

ताम्बूल-अर्पण—इसी प्रकार—'**एतत् ताम्बूलं श्रीकृष्णाय निवेदयामि।**' तथा '**एतत् ताम्बूलं श्रीराधिकायै निवेदयामि।**'— कहकर श्रीकृष्ण-राधाको ताम्बूल अर्पण करे। बादमें माला-चन्दन आदि अर्पण करे।

आरती—आसनपर बैठकर कर्पूर-मिले हुए गोघृतमें

रूईकी बत्तियाँ भिगोकर पाँच दीपककी आरती बनावे और तर्जनी तथा अँगूठेसे उसे पकड़कर दाहिनी ओरसे बायीं ओर और बायीं ओरसे दाहिनी ओर तीन बार या सात बार ले जाये। गात्रमार्जनीय वस्त्र और तुलसीके द्वारा भी इसी प्रकार आरती करे।

पुष्पाञ्जलि—फिर मूल-मन्त्रका स्मरण करते हुए। दीपकपर धेनुमुद्रा दिखाकर श्रीराधामाधवको पुष्पाञ्जलि अर्पण करे। अन्तमें तीन बार या पाँच बार शङ्खध्वनि करके पूजा समाप्त करे। आरतीके समय इस आरतीका गान करे—

राधामाधव-युगलकी आरती

आरति राधा-राधावर की।
महाभाव रसराज-प्रवरकी ॥
स्याम बरन पीताम्बरधारी।
हेम बरन तन नीली सारी।
सदा परस्पर सुखसंचारी।
नील कमल कर मुरलीधर की।
आरति राधा-राधावर की ॥ १ ॥
चारु चन्द्रिका मन-धन-हारी।
मोर-पिच्छ सुन्दर सिरधारी।
कुंजकुँवरि नित कुंजबिहारी।
अधरनि मृदु मुसकान मधुरकी।
आरति राधा-राधावर की ॥ २ ॥
प्रेम दिनेस कामतम-हारी।
रहित सुखेच्छा निज, अविकारी।
आश्रय-विषय परस्पर-चारी।
पावन परम मधुर रसधर की।
आरति राधा-राधावर की ॥ ३ ॥
निज-जन-नेह अमित विस्तारी।
उर पावन रस-संग्रहकारी।
दिव्य सुखद, दुख-दैन्य-बिदारी।
भक्त-कमल हित हिय सरबर की।
आरति राधा-राधावर की ॥ ४ ॥

आरतीके समय मृदङ्ग, ढोल, झाँझ, करताल आदि बजाने चाहिये। आरती करनेके पश्चात् उपस्थित व्यक्तियोंको आरती दिखावे और आरतीके जलके छींटे उनपर डाले। तत्पश्चात् प्रसाद-वितरण करे। अन्तमें निम्नलिखित श्लोकोंके द्वारा स्तुति करे—

कातर-प्रार्थना

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ॥
यद्दत्तं भक्तिमात्रेण पत्रं पुष्पं फलं जलम्।
आवेदितं निवेदान्तं तद् गृहाणानुकम्पया ॥
त्राहि मां पापिनं घोरं धर्माचारविवर्जितम्।
नमस्कारेण देवेश दुस्तराद्भवसागरात् ॥
दैन्यार्णवे निमग्नोऽस्मि मन्तुग्रावभरार्दितः।
दुष्टे कारुण्यपारीण मयि कृष्ण कृपां कुरु ॥
अज्ञानादथवा ज्ञानादशुभं यन्मया कृतम्।
क्षन्तुमर्हसि तत्सर्वं दास्येनैव गृहाण माम् ॥
आधारोऽप्यपराधानामविवेकहतोऽप्यहम्।
त्वत्कारुण्यप्रतीक्ष्योऽस्मि प्रसीद मयि माधव ॥
युवतीनां यथा यूनि यूनां च युवती यथा।
मनोऽभिरमते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि ॥
नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥
न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥

श्रीराधा-माधव-युगलसे कृपाभिक्षा

राधे वृन्दावनाधीशे करुणामृतवाहिनि।
कृपया निजपादाब्जे दास्यं मह्यं प्रदीयताम् ॥
तवास्मि राधिकानाथ कर्मणा मनसा गिरा।
कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम ॥
योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिदिह लोके परत्र च।
तत् सर्वं भवतोरद्य चरणेषु मयार्पितम् ॥
संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात्।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ ॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानितराकरौ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि ॥

अपराध-क्षमापन

अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया ।
दासोऽयमिति मां मत्वा तत्सर्वं क्षन्तुमर्हसि ॥

तदनन्तर इच्छा हो तो निम्नलिखित स्तोत्रका पाठ करे—

नवजलधरविद्युद्धौतवर्णौ प्रसन्नौ
वदननयनपद्मौ चारुचन्द्रावतंसौ ।
अलकतिलकभालौ केशवेशप्रफुल्लौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
नववसनहरितनीलौ चन्दनालेपनाङ्गौ
मणिमरकतदीप्तौ स्वर्णमालाप्रयुक्तौ ।
कनकवलयहस्तौ रासनाद्यप्रसक्तौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
अतिमधुरसुवेषौ रङ्गभङ्गीत्रिभङ्गौ
मधुरमृदुलहास्यौ कुण्डलाकीर्णकर्णौ ।
नटवरवररम्यौ नृत्यगीतानुरक्तौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
विविधगुणविदग्धौ वन्दनीयौ सुवेशौ
मणिमयमकराद्यैः शोभिताङ्गौ स्तुवन्तौ ।
स्मितनमितकटाक्षौ धर्मकर्मप्रदत्तौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
कनकमुकुटचूडौ पुष्पितोद्भूषिताङ्गौ
सकलवननिविष्टौ सुन्दरानन्दपुञ्जौ ।
चरणकमलदिव्यौ देवदेवादिसेव्यौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
अतिसुवलितगात्रौ गन्धमाल्यैर्विराजौ
कतिकतिरमणीनां सेव्यमानौ सुवेशौ ।
मुनिसुरगणनाथौ वेदशास्त्रादिविज्ञौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
अतिसुमधुरमूर्ती दुष्टदर्पप्रशान्ती
सुरवरसंवादौ द्वौ सर्वसिद्धिप्रदानौ ।
अतिरसवशमग्नौ गीतवाद्यप्रतानौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
अगमनिगमसारौ सृष्टिसंहारकारौ
वयसि नवकिशोरौ नित्यवृन्दावनस्थौ ।
शमनभयविनाशौ पापिनस्तारवन्तौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
इदं मनोहरं स्तोत्रं श्रद्धया यः पठेन्नरः ।
राधिकाकृष्णचन्द्रौ च सिद्धिदौ नात्र संशयः ॥

पूजाके पश्चात् अपनी इच्छानुसार नियमितरूपसे भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीराधाके मन्त्रका जप करे—

श्रीकृष्ण-मन्त्र

(१) अष्टादशाक्षर-मन्त्र

ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा ।

(२) दशाक्षर-मन्त्र

ॐ गोपीजनवल्लभाय स्वाहा ।

(३) गोपाल-गायत्री

ॐ कृष्णाय विद्महे दामोदराय धीमहि तन्नः कृष्णः प्रचोदयात् ।

(१) श्रीराधा-मन्त्र

ॐ ह्रीं श्रीराधिकायै नमः ।

(२) श्रीराधा-गायत्री

ॐ ह्रीं राधिकायै विद्महे गान्धर्विकायै विधीमहि तन्नो राधा प्रचोदयात् ।

श्रीराधामाधव-युगल महाभाव-रसराज ।
करुना करियो दीन पै रहियो हृदयँ बिराज ॥
दीजौ निज पद कमल की प्रीति पवित्र अनन्य ।
प्रभु-सुख-हित सेवा बनै सुचि जीवन हो धन्य ॥

गृहस्थ क्या करे ?

वर्तेत तेषु गृहवानक्रुद्ध्यन्ननसूयकः । पञ्चभिः सततं यज्ञैर्विघसाशी यजेत च ॥

(महा०, शान्ति० २३५ । २५)

'गृहस्थ पुरुष क्रोध और ईर्ष्यासे रहित होकर व्यवहार करे, नित्य पञ्चयज्ञ करे और देवता, पितर तथा अतिथियोंको भोजन करानेके बाद भोजन करे ।'

बहुदेवोपासना वरदान है

(श्रीरामचन्द्रजी शर्मा, शास्त्री, एम्० ए०)

कुछ लोग प्रायः यह शंका किया करते हैं कि हमारे हिन्दू-धर्ममें अनेक देवी-देवता हैं, अनेक धर्मग्रन्थ हैं, ऐसी स्थितिमें किस ग्रन्थको धर्मग्रन्थ मानें और किस देवता अथवा भगवान्‌को आराध्य? किसका भजन करें और किसकी उपासना? निश्चय ही नहीं होता। अन्य धर्म एवं सम्प्रदायोंमें यह समस्या नहीं है, न तो अनेक देवोंकी आराधना है और न अनेक ग्रन्थोंके पठन-पाठनका बोझ।

आधुनिक शिक्षासे प्रभावित महानुभाव प्रायः बहुदेवोपासना एवं वर्ण-व्यवस्थाको पतनका कारण बताया करते हैं, परंतु यह सत्य नहीं है। धर्म-सम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज कहा करते थे कि 'वेदसे लेकर स्मृति, पुराण, इतिहास, रामायण, महाभारत और हनुमानचालीसातक सभी धर्मग्रन्थ हैं। आपको जो रुचे और जितना श्रम कर सकें उतना उसका अभ्यास करते रहें, इससे अभीष्टसिद्धि प्राप्त होगी। जिस भगवद्रूप अथवा देवविग्रहके प्रति आपके मनमें आस्था एवं पूज्यभाव जाग्रत् हो, अन्तःकरण द्रवित हो उसीकी उपासना करें, पूर्ण फलकी प्राप्ति होगी।'

साधक भली प्रकार जानते हैं, मनुष्योंको सभी पदार्थ एवं भोगसामग्री सीमित मात्रामें ही प्राप्त है, परंतु भगवान्‌में ये सब पदार्थ—ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि समग्र रूपमें विद्यमान हैं। मानव अपने अभावकी पूर्तिके लिये ही परमात्माकी ओर बढ़कर उनसे मिलकर सुखी होना चाहता है। बस, यही उपासना है। परमात्माके पास पहुँचनेके उपायोंका नाम ही उपासना है।

अब प्रश्न आता है अनेक देवोंका। वास्तविकता यह है कि हमारा सनातनधर्म किसी मनुष्यका, किसी काल-विशेषमें बनाया हुआ मत अथवा सम्प्रदाय नहीं है। यह सदासे है और सदा रहेगा, क्योंकि भगवान्‌का ही बनाया हुआ है, अपौरुषेय है। यह सर्वविदित सत्य है कि प्रत्येक व्यक्तिकी रुचि, प्रत्येक विषय एवं पदार्थके प्रति अपनी निजी होती है। जैसे एक ही पिताकी संतानोंमें एक विनयी है तो दूसरा अत्यन्त क्रोधी, एकको मधुर व्यञ्जन अच्छे लगते हैं तो दूसरेको मृदु पदार्थ बिलकुल नहीं भाते। जिसको जो पदार्थ रुचिकर है, उसीसे उसकी तृप्ति हो जाती है, अन्यकी आवश्यकता नहीं। विभिन्न पदार्थ-भक्षणसे भी तृप्ति सबकी समान होती है। ठीक उसी प्रकार भगवद्रूप एवं देवविग्रहके विषयमें समझ लेना चाहिये। एक व्यक्ति परम तामसी है और दूसरा परम सात्त्विकी। यदि दोनोंको एक ही देवताकी आराधना बता दी जाय तो यह सम्भव नहीं कि दोनोंका मन उसमें समान-रूपसे रम सके। इसलिये इस उपासनासे दोनोंका समान सहज लगाव न होगा और ध्येय-प्राप्तिमें भी अन्तर रहेगा। इस संदर्भमें सनातनधर्ममें भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये विविध पूजा, अर्चा और साधनक्रम हैं, इनमें जो अपने अनुकूल पड़े उसपर बढ़कर लक्ष्यप्राप्ति करना सरल पड़ता है। स्मरण रहे, सभी साधन अथवा मार्ग पहुँचते वहीं हैं, क्योंकि गन्तव्य अथवा प्राप्तव्य वही तत्त्व है। मुण्डकोपनिषद्‌में कहा है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं
गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(३।२।८)

'जैसे नदी समुद्रकी ओर बहती हुई अपना नाम-रूप खोकर समुद्रमें समा जाती है, उसी प्रकार ज्ञानी भक्त अपने नाम-रूप-साधन आदि भुलाकर परात्पर परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं।' यही उपासनाकी चरम परिणति है।

शिवमहिम्नःस्तोत्रका वचन है—

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

अर्थात् प्रकृति एवं प्रवृत्तिके अनुसार रुचिके भेद एवं विचित्रताके अनुसार किसी धर्ममतका पथ कुछ सरल है तो किसीका कुछ कठिन। परंतु जिस प्रकार समस्त नदियोंकी एकमात्र गति अथवा आश्रय समुद्र ही है, उसी प्रकार अखिल साधनाओंका अन्तिम लक्ष्य परमात्मा ही है।

प्रसिद्ध विदेशी विद्वान् बर्नार्डशा हिन्दुत्वके इस वैशिष्ट्यसे

प्रभावित होकर उसकी प्रशंसामें लिखते हैं—'भारत तथा मिस्रके धर्मोंके एक महत्त्वपूर्ण संग्रहका ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेके पश्चात् मैं स्यामकी खाड़ीमें यह निश्चय लिख रहा हूँ—'प्रथम दृष्टिपात एवं अवलोकन करनेपर देवताओंकी बहुलतासे भ्रम हो जाता है, परंतु शीघ्र ही बोध भी हो जाता है कि ये समस्त देवता भिन्न-भिन्न कार्यों, रूपों, उपाधि-भेद एवं नर-नारीके भेदानुसार एक ही मूल शक्ति परमात्माके ही विभिन्न स्वरूपमात्र हैं। इन सबसे परे गुण-काल आदिसे अतीत एक परब्रह्म है, जो विशेष स्थितिमें आकार—शरीर ग्रहण करता है। यही वह विशेषता है जो हिन्दूधर्मको संसारमें सर्वाधिक सहिष्णु एवं उदार बना देती है। वास्तविकता यह है कि हिन्दूधर्म इतना उदार, विशाल और व्यापक है कि कट्टर मेथोडिस्टसे लेकर सरल मूर्तिपूजकतक एक समान अपनत्व अनुभव कर सकते हैं।'

इस प्रकार हिन्दू-धर्ममें बहुदेवोपासना भ्रान्ति नहीं, प्रत्युत वरदान है, जो सब प्रकारके व्यक्तियोंको उनकी भिन्न-भिन्न रुचियों, प्रकृतियोंके अनुरूप परमात्माकी ओर बढ़नेके समान अवसर प्रदान करती है।

मनुष्यमें देवत्वका आधान

(श्रीआनन्दबिहारीजी पाठक, एम्० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)

आज देशवासियोंका चरित्र दिनोंदिन गिरता जा रहा है। मनुष्यके हृदयसे मानवताकी भावना समाप्त होती-सी दिखलायी पड़ रही है। हमारा देश ही नहीं, प्रत्युत सारा विश्व ही विपथपर बढ़ता जा रहा है और आणविक विनाशके कगारपर खड़ा है। अतः इसपर शीघ्र ही अंकुश लगाये जानेकी आवश्यकता है।

अपने चरित्रगत सुसंस्कारोंका निर्माण करके हम भारतवासी प्राचीन कालसे ही जगद्गुरुके रूपमें समादृत होते रहे हैं। इसलिये उसी आदर्श मार्गका अवलम्बन करके हम अपने आपको ही नहीं, अपितु सारे विश्वको त्राण दिलानेमें समर्थ हो सकते हैं। मनुष्यको मनुष्य बनाये रखनेके लिये, उसमें मानवीय सद्विचारोंके साथ-साथ देवत्व-भावनाका आधान करनेके लिये सुनियोजित रूपसे कार्यशील होना अत्यन्त आवश्यक है।

परमपिता परमात्माकी सृष्टिमें मानवोंकी रचना सर्वोत्तम सृष्टि मानी जाती है, क्योंकि वह सभी प्राणियोंमें बुद्धि-विवेकसे सम्पन्न और मननशील होता है। बुद्धि एवं विवेचनाशक्ति तो पशु, पक्षी तथा मानवेतर सभी प्राणियोंमें भी हैं, किंतु मनुष्यमें पितृ-पितामह-परम्परागत ज्ञान, ऐश्वर्य तथा वैज्ञानिक आविष्कारोंकी उपलब्धिके साथ-साथ ईश्वरीय ज्ञानतकका वेदादि शास्त्रोंके द्वारा समस्त विश्वके और भूगोल-खगोलकी भी पूर्ण जानकारी प्राप्त करनेकी क्षमता है, जो समस्त मानवेतर प्राणियोंसे विलक्षण है। इसी विलक्षणताके आधारपर वह साक्षात् भगवान्‌तकको जानकर उनकी प्राप्तिकर कृतकृत्य हो सकता है और देवत्वको प्राप्त कर सकता है। यदि मनुष्य सद्बुद्धिसे काम नहीं लेता, रजोगुण किंवा तमोगुणके आश्रित होता है तो वह पशुओंके ही समकक्ष हो जाता है। इस पाशविक अथवा दानवी प्रवृत्तिको नष्ट करके दिव्यत्वभावको ग्रहण करनेपर ही मनुष्य मनुष्य बन पाता है तथा देवत्वपूर्ण भावोंके अपनानेपर ही वह पाशविक एवं आसुरी वृत्तियोंका दमन करके एक ऐसी मर्यादा स्थापित करनेमें सफल होता है, जिससे उसमें शान्ति और आनन्दका संचार होकर उसका जीवन आदर्शपूर्ण एवं देवत्वमय हो पाता है।

बुद्धि सत्त्व-गुणोंसे युक्त होकर संचालित होनेपर ऊर्ध्व-मुखी, धर्ममयी और देवत्व-भावनाओंसे पूर्ण होकर अग्रसर होती है और मनुष्यको यह धर्मपालक, कर्तव्यनिष्ठ, सदाचारी एवं आदर्श संस्कार-सम्पन्न बनाती है। रजोगुणके आधिक्य होनेसे मनुष्य भोग-विलासोंमें आसक्त हो जाता है और यदि उसकी बुद्धि तमोगुणी बन जाती है तो उसकी सारी कर्तव्य-शक्ति एवं विवेकशीलता नष्ट होकर उसमें आसुरी अथवा पाशविक वृत्तियाँ भर जाती हैं।

मनुष्य यदि पतनोन्मुख हुआ और उसमें स्वार्थके कारण हिंसा, परस्वापहरण आदिकी दुष्प्रवृत्तियाँ जड़ पकड़ लेती हैं तो वह हिंस्र पशु और दानवोंसे भी नीचे चला जाता है, किंतु यदि संतोंके संगसे ज्ञान, परोपकार, दया, दान, तपश्चर्या आदिकी सत्प्रवृत्तियाँ तीव्रतासे प्रविष्ट होती हैं तो वह संत, महात्मा,

ऋषि, मुनि तथा देवताओंकी कोटिमें पहुँचकर पूज्य, श्रद्धेय, वन्दनीय एवं आश्रयणीय बन जाता है।

इसके लिये आवश्यक यह है कि मनुष्यके बचपनमें ही अच्छे संस्कार डाले जायँ, उसमें सत्त्वगुण अर्थात् सात्त्विक प्रवृत्तियोंके आधान कराये जायँ। बच्चोंको आदर्श चरित्रवान् बनानेके लिये उन्हें अच्छे वातावरणमें रखा जाय और उनकी सत्प्रवृत्तियोंको ही अंकुरित और अच्छे संस्कारोंका समायोजन करके मनुष्यताके साथ देवत्वके आधान करानेकी चेष्टा माता-पिता, अभिभावकों एवं गुरुजनोंद्वारा की जानी चाहिये। महापुरुषों, संतों, मनीषियों एवं ऋषि-मुनियोंके जीवन-चरितका अध्ययन करनेपर यह ज्ञात होता है कि वे प्रारम्भसे ही अपने श्रेष्ठ माता-पिता, शिक्षक, अभिभावक और उत्तम सहचरोंके साथ शिक्षित-दीक्षित होते रहे। प्राचीन कालमें ऋषि-आश्रमोंका पवित्र वातावरण, पवित्र नदियों, तीर्थस्थलों, गौ आदि सात्त्विक जीवोंका सांनिध्य और पवित्र वेश-भूषा, सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय, संध्या, सूर्योपासना, श्रेष्ठ मन्त्रोंके जप, देवताओंकी स्तुति आदिके द्वारा उनकी बुद्धि शुद्ध-से-शुद्धतर एवं सूक्ष्म होती चली जाती थी और शुद्ध धी एवं धारणा-शक्तिसे युक्त मेधावी विद्यार्थीके परिज्ञात एवं समधीत वस्तु विस्मृत भी नहीं होते थे। इससे उसकी साधना भी तीव्र हो जाती और वह देवत्वकी ओर उन्मुख होकर '**देवो भूत्वा देवं यजेत्**'के न्यायसे देवकोटिमें प्रविष्ट होकर देवताओंसे व्यवहार करनेमें समर्थ हो सकता था।

अतः कल्याणकामी बुद्धिमान् पुरुषको विष एवं सर्पके समान कुसंग, असत्-साहित्य तथा सभी अपकर्मों एवं कुसंस्कारोंसे दूर रहकर सत्संग-सेवन, स्वाध्याय-परायण और प्रत्येक क्षणको भगवत्सेवा, भगवत्स्मरण आदि श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ सत्कर्मोंमें प्रयुक्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

वेदों, पुराणों एवं अन्य धर्मशास्त्रादिमें इसीलिये सुसंस्कारोंके आधानकी आवश्यकता बतलायी गयी है। जिस प्रकार खानसे हीरा, सोना आदिके निकलनेपर उसमें चमक-दमक, प्रकाश-सौन्दर्यके लिये उसे तपाना, तराश करके गंदगियोंको हटाकर उसे परिष्कृत कर तेजोमय एवं दीप्तिमान् बनाया जाता है, उसी प्रकार मनुष्योंमें मानवीय शक्ति एवं देवत्व-भावनाका आधान करनेके लिये उसे सुसंस्कृत किया जाना आवश्यक होता है। विधिपूर्वक संस्कार-साधनसे बच्चोंमें दिव्य ज्ञान एवं देवत्व-भावका विकास होता है, जिससे वह आत्मा-परमात्माके सम्बन्धोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके अपने मानव-जीवनको सार्थक बनानेमें सफल होता है। सुसंस्कार ही मनुष्यको पाप, अज्ञान और अधर्मसे दूर रखकर उन्हें आचार-विचार, कर्मनिष्ठता और ज्ञान-विज्ञानसे संयुक्त करते हैं। इससे मनुष्यमें सद्बुद्धि बनी रहती है और उसके हृदयमें त्याग, संयम, प्रेम, उदारता, धर्मनिष्ठता, कर्तव्य-परायणता आदि उच्च भावनाएँ आ विराजती हैं। इस दैवी सम्पत्तिके फलस्वरूप वह जीवनमें सच्चा सुख और शान्ति पाता है।

देवत्वपूर्ण भावनाओंके आधान होनेपर मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य जानने, शास्त्रों एवं संत-मनीषियोंसे अपने कर्मके लिये परामर्श करने, सदाचारकी रक्षा करने, विवेकमय जीवनाचरण-पालन करनेके साथ अपने और दूसरोंके लिये आत्मोन्नतिका मार्ग प्रशस्त करना चाहता है। वह मनुष्य रहकर भी ऐसे सत्कर्मोंके करनेमें समर्थ हो जाता है, जिससे उसे देवतातककी संज्ञा दी जाती है।

त्रिदेवोंका स्वरूप-रहस्य और उनकी अभिन्नता

(स्वामी श्रीसदानन्दजी सरस्वती)

सम्पूर्ण विश्वको सत्ता, स्फूर्ति तथा सरसता प्रदान करनेवाले अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक प्रपञ्चाधिष्ठानभूत स्वप्रकाश सच्चिदानन्दघन परमात्मासे ही निखिल प्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थिति एवं अन्तमें उनमें ही सम्प्रविष्टि भी होती है। **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'** (तैत्ति०, आर० ३।१।१)

अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकारिणी ब्राह्मी महाशक्ति ही समस्त अन्य अचिन्त्य, अनन्त शक्तियोंका केन्द्र है। अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डोत्पादिनी रजोगुणात्मिका-शक्ति-विशिष्ट परमात्मा ब्रह्मा, अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड-संचालिनी सत्त्व-गुणात्मिका-शक्ति-विशिष्ट परमात्मा विष्णु, अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डसंहारिणी तमोगुणात्मिका-शक्ति-विशिष्ट

परमात्मा महेश्वर शब्दोंसे व्यवहृत होता है।

मायोपाधिक सर्वज्ञ शक्तिमान् सर्वेश्वर सर्वाधार एक परमेश्वर ही उत्पादक ब्रह्मा, पालक विष्णु, संहारक महेश्वर कहा जाता है, मायागत जो निरतिशय सत्त्व गुण है, वह उस परमेश्वरकी इच्छासे लोगोंपर अनुग्रह करके ब्रह्मादि त्रिदेवोंके रूपमें प्रकट होता है। दण्ड-कमण्डलु धारण करनेवाला चतुर्मुख-मूर्तिसे उपहित परमेश्वर सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मादिसे उपहित परमेश्वर जगत्के पालक विष्णु और त्रिनयन, त्रिशूलहस्त-विशिष्ट-मूर्तिसे उपहित परमेश्वर शिव जगत्का संहारकर्ता होता है। एक परमेश्वर ही त्रिदेव-रूप है। श्रुति कहती है—

'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः परमः स्वराट् स एव विष्णुः।'

अर्थात् माया-उपहित परमेश्वर ही ब्रह्मा-रूप है, शिवरूप है और विष्णुरूप है। आचार्योंका कथन है—

एकैव मूर्तिस्त्रिविधा विभिन्ना
सामान्यमेषां प्रथमाऽवरत्वम्।
हरेर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्
द्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ॥

एक ही परमेश्वर ब्रह्मादि त्रिमूर्ति-भेदसे तीन रूपोंमें माना जाता है। इन तीनोंकी गणनामें प्राथम्य एवं अन्त्यका कोई नियम नहीं है और न उसकी श्रेष्ठता या हीनतासे ही तात्पर्य है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—ये तीनों देव अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार उपासना करने योग्य हैं। किन्हीं लोगोंका कथन है कि जगत्का स्रष्टा हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मा ईश्वर नहीं हैं, किंतु जीव-विशेष है तथा अन्तर्यामी परमेश्वरसे आविष्ट है। वह समष्टि लिंगका अभिमानी तथा सत्त्वलोकमें निवास करनेवाला है। ऐसे हिरण्यगर्भकी जीवरूपता—**'वै शरीरी प्रथमा'** इत्यादि श्रुतिप्रमाणसे ही सिद्ध है और शिव, विष्णु—यह दो मूर्ति तो मायाके शुद्ध सत्त्वगुणका परिणाम होनेसे ईश्वररूप है। यह वार्ता महाभारतमें भी कही गयी है—

रुद्रो नारायणश्चैवेत्येकं सत्त्वं द्विधा कृतम्।
लोके चरति कौन्तेय व्यक्तित्वं सर्वकर्मसु॥

हे कौन्तेय! उस परमेश्वरने अपनी मायाका शुद्ध सत्त्वगुण रुद्र, नारायण इस रूपसे दो प्रकारका किया है। कई लोग कहते हैं कि विष्णुकी भक्ति मोक्षको देनेवाली है—

आरोग्यं भास्करादिच्छेच्छ्रियमिच्छेद्धुताशनात्।
ज्ञानं महेश्वरादिच्छेन्मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्॥

(मत्स्य० ६८।४१)

'मनुष्य आरोग्यार्थ भास्करकी, सम्पत्त्यर्थ अग्निदेवकी, ज्ञानार्थ महेश्वरकी और मोक्षार्थ विष्णुकी उपासना करे।'

कई एक शैव-मतावलम्बी कहते हैं कि साम्बसदाशिव-मूर्तिसे उपहित हुआ वह मायोपहित परमेश्वर परम शिव है। वही मुमुक्षुजनोंके उपासनाके योग्य है। श्रुति भी कहती है—

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥

(कैवल्योपनिषद् ७)

अर्थात् 'जो उमापति भगवान् शङ्कर त्रिनेत्रधारी, नीलकण्ठ, परम शान्त तथा सर्वसमर्थ सर्वेश्वर हैं, उन सर्वसाक्षी परमेश्वरका ध्यान कर मुमुक्षुजन अन्धकारसे ज्योतिःस्वरूप सम्पूर्ण जीवोंके मूलकारण उन्हीं परमात्माको प्राप्त होते हैं।' उस परमशिवकी ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश—ये तीनों मूर्ति हैं—

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।

(कैवल्योपनिषद् ८)

—इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी उस मायोपाधिक परमेश्वरकी ही विभूतिरूपताका कथन किया गया है। पुराणमें भी कहा गया है—

यदाज्ञया जगत्स्रष्टा विरञ्चिः पालको हरिः।
संहर्ता कालरुद्राख्यो नमस्तस्मै पिनाकिने॥

'जिस परमेश्वरकी आज्ञासे ब्रह्मा, विष्णु और कालरुद्र, सृष्टि, पालन एवं संहार करते हैं, उस पिनाकधारी भगवान् शङ्करको नमस्कार है।'

कई एक मतावलम्बी शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी तथा लक्ष्मीपति जो निरतिशय सत्त्व-मूर्ति है, उस मूर्तिसे उपहित हुआ एवं मायोपहित परमात्मा ही परम वासुदेव है—ऐसा मानते हैं। वह परम वासुदेव ही मुमुक्षुजनोंके लिये उपासनीय है। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश—ते तीनों उस परम वासुदेवकी ही विभूति हैं—

तमेव विद्वानमृत इह भवति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

—इत्यादि श्रुति तथा '**मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्**' इत्यादि स्मृतिसे मुमुक्षुजनोंके ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य वासुदेवका ही कथन किया गया है।

कुछ लोग कहते हैं कि हिरण्यगर्भ ही मायोपहित परमेश्वर है। अतः इस हिरण्यगर्भकी परमेश्वररूपता, अनेक श्रुति-स्मृतियोंमें विद्यमान है। अतः वह हिरण्यगर्भ ही मुमुक्षुजनोंके लिये उपासनाके योग्य है।

'**तद्वैचित्र्यादनेकधा**' (पञ्चदशी) वैचित्र्य ही उपाधिभूत मायाके उत्पादकत्व, पालकत्व, संहारकत्व-शक्तिके भेदसे ब्रह्मादि-देवत्रयमें भी कल्पित भेद मान्य होता है, किंतु उत्पादकत्व, पालकत्व एवं संहारकत्व-शक्तियोंसे उपाधिभूत मायागत समस्त प्रतिविम्बोंका मूलभूत जो विम्ब है, वह तो सर्वदा एक ही है। जैसे एक ही विम्बभूत आदित्य रक्त, नील, पीत, हरित-वर्णके उपनेत्रों (चश्मों) से देखनेसे तत्तद् वर्णों-जैसा दीखता है, वैसे एक ही ईश्वर शिव-भावनासे भावित, विष्णु-भावनासे भावित एवं राम-कृष्ण-भावनासे भावित भक्तोंको क्रमशः शिव, विष्णु, राम और कृष्णादि नानारूपोंमें दृष्टिगोचर होता है। वही पुराणोंमें भावनाके सहकारसे तत्तद्-रूपोंमें परिगीयमान है। किम्बहुना, कल्पभेदसे कल्पित भेदकी चर्चा भी शास्त्रोंमें आयी है—

क्वचिद् ब्रह्मा क्वचिद् विष्णुः क्वचिद् रुद्रः प्रशस्यते ।
तत्तत्कल्पान्तवृत्तान्तमधिकृत्य महर्षिभिः ॥
तानि तानि प्रणीतानि विद्वांस्तत्र न मुह्यति ।

कहीं ब्रह्मा, कहीं विष्णु, कहीं रुद्ररूपसे तत्तत्कल्पोंके भेदसे महर्षियोंने तत्तत्पुराणोंमें शिवादि-रूपोंमें एक ही परतत्त्वका कथन किया है, उसमें विद्वान्को मोह नहीं होता अर्थात् विद्वान् उस तत्त्वको उपाधितः भेद एवं स्वरूपतः अभेदरूपसे देखता है। पुराणोंमें भी कहा गया है—

बुद्धिर्गणेशो मम चक्षुरर्कः
शिवो ममात्मा मम शक्तिराद्या ।
विभेदबुद्ध्या मयि ये भजन्ति
मामङ्गहीनाः कलयन्ति मूढाः ॥

भगवान् विष्णु कहते हैं कि 'मेरी बुद्धि गणेश, नेत्र सूर्य, शिव मेरा आत्मा एवं आद्या भगवती ही मेरी शक्ति है, भेदरहित मुझ परमात्मामें जो भेद-बुद्धि रखता है और इन देवताओंकी पूजा किये बिना मेरी आराधना करता है, वह मानो मेरे अङ्गोंका ही उच्छेद करता है।'

इससे स्पष्ट है कि भगवान् शिव या विष्णु या ब्रह्माजीको भी अपनी विशेषता या महत्ता स्वीकार नहीं है, वे या तो तीनोंको एक ही स्वरूप मानते हैं अथवा अन्योंको अपनेसे बड़ा मानकर उनकी पूजा, उपासना एवं संस्तवनमें ही आनन्दका अनुभव करते हैं। अतः इन तीनोंमें किसी प्रकारका लेशमात्र भी भेद नहीं है और तीनों साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही हैं।

तृष्णाके त्यागमें ही सुख है

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता। अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी ॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥

(महा०,वन० २।३५।३६)

'तृष्णा सबसे बढ़कर पापिष्ठा है, सदा ही उद्वेग उत्पन्न करनेवाली मानी गयी है। उसके द्वारा अधिकतर अधर्ममें ही प्रवृत्ति होती है। वह बड़ी भयङ्कर है और पापकर्मोंमें ही बाँध रखनेवाली है। दुष्ट बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसका त्याग अत्यन्त कठिन है, जो मनुष्यके बूढ़े होनेपर भी बूढ़ी नहीं होती—सदा तरुण ही बनी रहती है, जो मानवके लिये प्राण-नाशक रोगके समान है, ऐसी तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है।'

◆

विभिन्न दर्शनोंके अनुसार देवाधिदेव परमात्माका स्वरूप

(राष्ट्रपतिसम्मानित डॉ॰ श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामी)

[विशेषाङ्क पृ॰ सं॰ १२४ से आगे]

दार्शनिक दृष्टिसे ईश्वर—कारुणिक

न्यायसूत्रके भाष्यमें वात्स्यायनने कहा है—'आप्त व्यक्तिके द्वारा प्रणीत होनेके कारण ही वेद प्रामाणिक हैं, क्योंकि आप्त व्यक्ति जिस पदार्थका उपदेश करता है, उसका वह साक्षात्कार किये रहता है। आप्त पुरुषको जिसे उपदेश करना रहता है, उसके प्रति अनुकम्पा भी रहती है। साक्षात्कारकृत वस्तुको बतानेकी इच्छा भी रहती है। इस ~~प्रकार यथार्थ ज्ञान, भूतदया और उसके उपदेश करनेकी इच्छा इन तीनों विशेषणोंसे विशिष्ट ही आप्त पुरुष होता है~~। इसके विषयमें विचार किया गया है कि—'किं पुनराप्तानां प्रामाण्यम् ?' उत्तरमें कहा गया है कि-(१) साक्षात्कृतधर्मता, (२) भूतदया, (३) यथाभूतार्थचिख्यापयिषा। आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माणः। इदं हातव्यमिदमस्य हानहेतुः, इदमस्याधिगन्तव्यम्, इदमस्याधिगमे हेतुरिति भूतान्यनुकम्पन्ते' (न्याय॰ २। १। ६८ का भाष्य) वाचस्पति मिश्रने इन्द्रिय-पटुता भी एक और विशेषण दिया है। शरीर, भुवन आदि कार्योंका कर्ता सभी वस्तुतत्त्वोंका ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ होता है। यह पुरुष क्लेश, कर्मविपाक और वासनासे शून्य रहता है। अर्थात् ईश्वरमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश नहीं हैं। पाप-पुण्यकर्म भी नहीं हैं।

कर्मका फल जन्म, आयु और भोग नहीं है एवं भोगानुकूल वासना और संस्कार भी उसका नहीं है। साथ ही वह बहुत कारुणिक है। अज्ञानी व्यक्ति अपने हितसाधन और अहित-परिहारका उपाय नहीं जानते एवं उन्हें अनेक प्रकारकी दुःखाग्निसे संतप्त देखकर ईश्वरको करुणा होती है। जिसको राग, द्वेष और क्लेश रहता है, उसीको दूसरेका दुःख देखकर करुणा नहीं होती। अज्ञके दुःखको देखकर संताप होना स्वाभाविक ही है। अतः ईश्वर प्राणिमात्रके हितोपदेशके लिये तत्पर हैं। यथार्थ उपदेश करनेवाला परम कारुणिक ईश्वर सभी प्रकारकी सृष्टि कर प्राणियोंके हित-प्राप्ति और अहितके परिहारका उपदेश करता है। पितृस्थानीय उसके उपदेशको आदरपूर्वक ग्रहण करना और उसके अनुसार आचरण करना मनुष्यका कर्तव्य है। वेदोंके मन्त्रोंमें ईश्वरको माता, पिता, बन्धु, सखा, पुत्र तथा भाई कहा गया है। अतः अपनी संततिके प्रति उसका स्नेह और करुणा होना स्वाभाविक है। वैष्णव कवियोंने कहा ही है—**'स्थायिवत्सलता स्नेहे पुत्रास्त्वालम्बनं मतम्'** उपासकके प्रति स्नेह-वात्सल्य स्वाभाविक ही है। गीतामें भी कहा है—

'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।'

(गीता ९। १७)

ईश्वरके कारुण्यके विषयमें आपत्ति और समाधान

पूर्व मीमांसामें ईश्वर ही नहीं माना जाता, अतः उसमें करुणाका प्रश्न ही नहीं है। नैयायिकोंने सर्वज्ञ, प्रेक्षावान्को ईश्वर माना है। किंतु ईश्वरको जगत्के निर्माण करनेमें क्या प्रयोजन है? वह आप्तकाम है, इसलिये उसे विषयकी अभिलाषा न होनेसे निर्माणकी आवश्यकता नहीं है। लीला-विस्तार और क्रीडाके लिये भी निर्माण संगत नहीं है, कारण, लीला और क्रीडामें भी अप्राप्त सुखका ही लाभ रहता है। जिसे सभी वस्तुएँ प्राप्त हैं, उसके लिये यह संगत नहीं है।

करुणापरायण होकर जगत्का निर्माण करना भी संगत नहीं है। यदि करुणावश सृष्टि करता तो सुखमय जगत्की ही सृष्टि करता दुःखमय नहीं। प्राणियोंके धर्म और अधर्मसे सापेक्ष सृष्टि होनेके कारण सुखमय सृष्टि सम्भव नहीं है—यह भी नहीं कहा जा सकता। अधर्म दुःखका साधन है, किंतु वह जड है, अतः ईश्वराधिष्ठित हुए बिना अचेतन अधर्म दुःखका जनक नहीं हो सकता— इसे भी ईश्वर जानता है। कारुणिक ईश्वर अधर्मका अधिष्ठाता क्यों होता है? अतः न तो ईश्वर सर्वज्ञ हो सकता है और न उसकी सिद्धि ही हो सकती है। यदि चेतन ईश्वरसे अधिष्ठित हुए बिना ही अचेतन अधर्म कार्यका जनक हो सकता है, तो परमाणुसमूह भी ईश्वरानधिष्ठित हुए बिना ही सृष्टि कर लेगा, ईश्वरकी क्या आवश्यकता है?

यदि यह कहा जाय कि जीवको दुःखका अनुभव न हो

तो वैराग्य नहीं होगा और वैराग्यके बिना अपवर्गकी प्राप्ति नहीं होगी। अतः दुःखमय जगत्के निर्माणसे भी ईश्वरकी करुणा ही व्यक्त होती है। किंतु जीवके दुःखकी उत्पत्तिमें ईश्वरको विमुख रहना चाहिये। दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही तो अपवर्ग या मोक्ष है। अधर्मका अधिष्ठाता यदि ईश्वर न हो तो अनायास ही मोक्षकी प्राप्ति रहेगी। यदि जगत्की सृष्टि ईश्वरका स्वभाव माना जाय तब तो बिना किसी प्रयोजनके सृष्टि करनेवाले ईश्वरको प्रेक्षावान् नहीं कहा जा सकता है। कोई भी कुशल व्यक्ति निष्प्रयोजन किसी कार्यको नहीं करता।

इसके समाधानमें दार्शनिकोंने कहा है कि ईश्वरके कारुणिक और उत्कृष्ट महिमाशाली होनेपर वस्तुके सामर्थ्यको अन्यथा नहीं कर सकते। अनित्य धर्म और अधर्म ईश्वरकी महिमासे नित्य नहीं हो सकता। सुखप्रद धर्म और दुःखप्रद अधर्म अपने फलको उत्पन्न किये बिना नष्ट नहीं हो सकते, क्योंकि यह उनका स्वभाव है। फल देनेसे पहले अधर्मका विनाश कर अधर्मका अधिष्ठाता ईश्वर नहीं होगा— यह नहीं हो सकता है। ऐसा करनेपर वस्तुके सामर्थ्यका उल्लङ्घन होगा। अतः कारुणिक होकर भी जीवके कर्मफलको अन्यथा नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करनेपर ईश्वर स्वेच्छाचारी होगा और जीवका शरीर-लाभ आकस्मिक हो जायगा। फलतः जीवके जन्म, मृत्यु, भोग, अपवर्ग सभी आकस्मिक हो जायँगे। साथ ही जगत्की विचित्रता भी समाप्त हो जायगी। फलतः जीव सभी कर्मोंको छोड़कर उच्छिन्न हो जायगा। जीव और जगत्का विनाश न हो इसलिये कारुणिक ईश्वर भी अधर्मका अधिष्ठाता होता है, अन्यथा वह विषमकारी निर्दय प्रेक्षाशून्य हो जायगा। (न्यायतात्पर्य टीका ४। १। २१)।

जैसे तेज स्वभाववश दाह और ताप करता है, जल स्वभावसे सिञ्चन करता है, वैसे ही ईश्वर भी स्वभावसे ही स्थावर-जङ्गम प्राणियोंको धारण करता है। प्रेक्षावान् ईश्वर जीवके धर्म और अधर्मकी अपेक्षाकर सृष्टि करता है अतः एक साथ सभीकी उत्पत्ति और विनाशकी सम्भावना नहीं है। इसी विषयको न्यायवार्तिक और **'लोकवत्तु लीला-कैवल्यम्'** (ब्र० सू० २। १। ३३) में आचार्य शंकरने भी कहा है। आगम-प्रकरणमें गौडपादने भी कहा है—**'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा'** (श्लोक ९)।

ईश्वरके सभी ज्ञान प्रत्यक्ष स्वरूप हैं, क्योंकि अनुमिति, उपमिति, शाब्द और स्मृति—ये चारों परोक्षज्ञान संस्कारजन्य होते हैं। ईश्वरका ज्ञान नित्य है, अतः ईश्वरके ज्ञानका जनक संस्कार नहीं हो सकता। विषयका प्रकाशस्वरूप ज्ञान जिसका नित्य है, उसके लिये विषयका प्रकाश नित्य होनेके कारण किसीसे जन्य नहीं हो सकता। जब ज्ञानका विनाश ही नहीं तो उसकी उत्पत्ति कैसी? ज्ञान नित्य होनेसे अनित्य, अनुमिति आदि परोक्षज्ञान सम्भव नहीं है (न्या० वा० ४। १। २१)।

ईश्वरके गुण

ईश्वर आत्मपदार्थ है। जीवात्मा और परमात्माके रूपमें आत्माका ही भेद किया गया है। ईश्वर अनात्मा नहीं है। ईश्वरमें छः गुण माने गये हैं—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग—ये पाँच सामान्य गुण और बुद्धि विशेष गुण है। आकाशमें भी छः गुण हैं—पाँच सामान्य गुण और शब्द विशेष गुण है। न्यायवार्तिककारने ईश्वरमें अव्याहत सर्वार्थ-विषयिणी इच्छाको गुण भी माना है। उनकी इच्छाके अनुसार कार्य होता है। यह ज्ञानके समान ही सर्वविषयक और नित्य है। मिथ्याज्ञानपूर्वक इच्छाको राग कहा जाता है, किंतु अविद्याके कारण रागात्मिका इच्छा होती है। ईश्वरमें अविद्या नहीं है, अतः रागात्मिका इच्छा नहीं है। वाचस्पतिने नित्य प्रयत्न भी स्वीकार किया है। इस प्रकार आठ गुण ईश्वरमें माने गये हैं।

पातञ्जल-सूत्रके व्यास-भाष्यमें कहा है—ईश्वरका ऐश्वर्य सर्वदा विद्यमान रहता है और वह सदा मुक्त है अर्थात् नित्य ऐश्वर्यशाली और नित्य मुक्त है—**'स सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति'** (पात० सू० १। २४ का भाष्य)।

किंतु न्यायवार्तिकमें कहा गया है कि ईश्वर बद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसे दुःख नहीं है। मुक्त भी नहीं हो सकता क्योंकि जिसका बन्धन सम्भव रहता है, उसीकी मुक्ति भी सम्भावित होती है। जिसका बन्धन नहीं उसकी मुक्ति कैसी? क्योंकि **'मुच्लृ'** धातुका अर्थ बन्ध-विमोचन होता है। इसलिये ईश्वर न बद्ध है और न मुक्त।

ईश्वरका शरीर है या नहीं

न्यायभाष्यमें कहा गया है कि जैसे जीव ज्ञान आदि गुणोंसे विशिष्ट है, वैसे ही ईश्वर भी है। ईश्वरका ज्ञानादि गुण

नित्य है और जीवका ज्ञानादि गुण अनित्य है। जैसे जीवके बुद्धि आदि गुणवान् होनेसे शरीर, इन्द्रिय आदि हैं, वैसे ही ईश्वरके भी शरीर आदि हैं या नहीं? इस जिज्ञासाके उत्तरमें कहा गया है कि ईश्वरके शरीरादि माननेपर उसे नित्य या अनित्य दोमें एक मानना होगा। अनित्य शरीरादि माननेपर उनके जनक धर्म और अधर्मको भी मानना पड़ेगा। धर्मादि माननेपर उनके अधीन जीवके समान ईश्वरमें भी अनीश्वरत्व ही रहेगा। नित्य शरीर माननेपर दृष्टके विरुद्ध कल्पना करनी पड़ेगी। भोगायतन शरीर होता है। ईश्वरको सुख-दुःखका भोग नहीं करना है। अतः शरीरकी कल्पना ही नहीं हो सकती। भोगरहित शरीरकी कल्पना और उसकी नित्यत्व-कल्पना सभी विरुद्ध कल्पना हैं। ईश्वरके ज्ञान आदि नित्य गुणोंके रहनेपर ईश्वरके शरीरकी कल्पना ही व्यर्थ है। अवतारके शरीरकी स्थिति नित्य इच्छाके अनुसार होती है, अतः ईश्वरके शरीरका अवसर ही नहीं है (न्यायवा॰ पृ॰ ९५)।

(क्रमशः)

जैन आगमोंमें देववादकी अवधारणा

(अणुव्रत-अनुशास्ता, युगप्रधान आचार्य श्रीतुलसी)

[विशेषाङ्क पृ॰ सं॰ १२९ से आगे]

महत्ता चमत्कारसे नहीं होती

कुछ लोग चमत्कारमें विश्वास करते हैं। ऐसे लोग उस व्यक्तिको अपना इष्टदेव या आराध्यदेव मानते हैं, जो कोई चमत्कार कर दिखा सके। आजकल हमारे देशमें एक नया प्रदर्शन आया है—'फायर वाकिंग शो।' नंगे पाँव आगपर चलनेका प्रदर्शन। इसी प्रकार काँटोंपर सोना या चलना, अंगारे एवं लोहेकी कीलें निगलना, जबड़ोंको चीरना आदि क्रियाएँ हैं। ये सामने दिखायी देनेवाले चमत्कार हैं। इन्हें देखकर कुछ लोग सोचते हैं कि प्रदर्शन करनेवालोंके पास कोई दैवी शक्ति है। अन्यथा सब लोग जो काम नहीं कर सकते, कुछ व्यक्ति कैसे कर सकते हैं? किंतु वे इस बातको नहीं जानते कि चित्तकी एकाग्रता, आत्मविश्वास, संकल्पशक्ति, सम्मोहन एवं गतिका एकसरीखा प्रवाह आदि कुछ ऐसे निमित्त हैं, जिनको साधनेके बाद प्रदर्शन करनेमें विशेष कठिनाई नहीं होती।

कुछ लोग उन व्यक्तियोंको महान् मानकर पूजा करते हैं, जो देवताका आवाहन कर लेते हैं, आकाशमें गमन करते हैं और चामर आदि ऐश्वर्यसूचक वस्तुओंसे अभिमण्डित रहते हैं। किंतु आचार्य समन्तभद्रने इन सब चमत्कारोंको नगण्य मानकर अपने इष्टदेवकी स्तुतिमें लिखा है—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्॥

भन्ते! एक मायावी व्यक्ति देवताओंको बुला सकता है, आकाशमें उड़ान भर सकता है और ऐश्वर्यका प्रदर्शन कर सकता है। इन साधारण-सी विशेषताओंके कारण आप हमसे महान् नहीं हैं। आपकी महत्ता राग-द्वेष-जैसे दुर्जय शत्रुओंपर विजय पानेके कारण है। इसलिये हम आपके उसी वैशिष्ट्यके प्रति प्रणत हैं।

शस्त्रधारणसे देवत्वमें विप्रतिपत्ति

जैनदर्शनमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वकी गम्भीर चर्चा है। सम्यक्त्वको परिभाषित करते हुए बताया गया है—**'हरहंतो मह देवो, जावजीवं सुसाहुणो गुरुणो जिणपण्णत्तं तत्तं इय सम्मत्तं मए गहियं'**—जो अर्हत्‌को अपना देव मानता है, जीवनभर पाँच महाव्रतोंका पालन करनेवाले शुद्ध साधुओंको अपना गुरु मानता है और केवल ज्ञानीद्वारा निरूपित तत्त्वको धर्मके रूपमें स्वीकार करता है, वह सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेता है। जिस व्यक्तिको सम्यक्त्वकी उपलब्धि हो जाती है, उसकी आस्था सही होती है, ज्ञान सम्यक् होता है और आचरणकी पवित्रता सधने लगती है। सम्यक्त्वकी प्राप्तिका सार है लक्ष्यकी दिशामें प्रस्थान। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है मोक्षका आरक्षण। इस तत्त्वत्रयीमें पहला स्थान देवका है।

आचार्य हेमचन्द्रने शस्त्रधारी और स्त्रीके साथ रहनेवाले देवको अस्वीकार कर, अहिंसक और ब्रह्मचारी देवको अपना आराध्य माना है। अपने आराध्यकी स्तुतिमें कहा है—

शमोऽद्भुतोऽद्भुतं रूपं सर्वात्मसु कृपाद्भुता।
सर्वाद्भुतनिधीशाय तुभ्यं भगवते नमः॥

'भन्ते! आपका उपशमभाव अद्भुत है, आपका रूप

अद्भुत है, सब प्राणियोंके प्रति आपकी करुणा अद्भुत है। आप विश्वकी सब निधियोंके स्वामी हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।'

देवता सर्वज्ञता और अर्हतासे सम्पन्न होते हैं

जैन-दर्शनमें देवको परिभाषित करते हुए कहा गया है—**'केवलज्ञानवान् अर्हन् देवः।'** इस परिभाषामें देवके साथ दो विशेषताओंकी प्रतिबद्धता है। पहली विशेषता है केवल ज्ञान। यह ज्ञानकी पूर्णताका सूचक है। संसारके जड-चेतन सब पदार्थोंके सब पर्यायोंको समग्र रूपसे जाननेवाला ज्ञान केवल ज्ञान है। इस ज्ञानकी उपलब्धिसे व्यक्ति सर्वज्ञ बन जाता है। संसारकी कोई भी वस्तु और कोई भी घटना उससे अज्ञात नहीं रहती। ज्ञाता और ज्ञेयके बीचकी दूरी समाप्त हो जाती है। वह त्रिकालज्ञ बनकर अपनी साधनाको सिद्धितक पहुँचा देता है।

दूसरा विशेषण है अर्हत्। अर्हत् शब्दके दो अर्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—क्षमतावान् और योग्यता-सम्पन्न। अक्षम और अयोग्य व्यक्ति कभी अर्हत् नहीं बन सकता। जो अर्हत् नहीं होता, वह लोकोत्तर-क्षेत्रमें देवत्वकी प्रतिष्ठा अर्जित नहीं कर सकता।

सर्वज्ञता और अर्हता एक नहीं है। सर्वज्ञताका सम्बन्ध केवल ज्ञानके साथ है जब कि अर्हता व्यक्तित्वकी अनेक क्षमताओंकी अभिव्यक्ति होनेसे प्राप्त होती है।

प्रभु बननेके लिये प्रभुकी पूजा

अर्हत्‌देव चार घनघात्य कर्मोंको क्षीणकर केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं। केवल दर्शन इसके साथ ही जुड़ा हुआ है। मोह-कर्मके क्षयसे आचरणकी परिपूर्णता या उज्ज्वलता सिद्ध होती है और अन्तराय कर्मके विलयसे आत्मामें छिपी हुई अनन्त शक्ति प्रकट हो जाती है। इन चार विशिष्ट गुणोंके अतिरिक्त उनके आठ प्रातिहार्य होते हैं। प्रातिहार्य शब्द विशेषताका बोधक है। वे ऐसी विशेषताएँ हैं, जो सामान्य केवलज्ञानीमें नहीं है। अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, देवदुंदुभि, स्फटिक सिंहासन, भामण्डल, छत्र और चामर—ये आठ अतिशय अर्हतोंके वैशिष्ट्यको प्रस्तुति देते हैं। उनके चौंतीस अतिशय और पैंतीस वचनातिशय भी प्रसिद्ध हैं।

तीर्थकी स्थापना अर्हतोंकी नियति है। इसके द्वारा वे धर्मकी साधनाका सामूहिकीकरण कर देते हैं। फलतः धर्मसंघ निर्मित हो जाता है। तीर्थकी स्थापना कर वे तीर्थंकर कहलाते हैं। जैन-साहित्यमें चौबीस तीर्थंकरोंका जीवन-चरित्र पूरे विस्तारके साथ वर्णित है। अन्य सब देवोंद्वारा वन्दनीय होनेके कारण ये देवाधिदेव कहलाते हैं। पूर्ववर्णित देवोंके पाँच प्रकारोंमें एक स्थान अर्हतोंका है। राग और द्वेषसे पूर्णतया मुक्त होनेके कारण इनका कोई अपना नहीं होता और कोई पराया नहीं। ये लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा और सम्मान-अपमान—इन सभी द्वन्द्वात्मक प्रसंगोंमें तटस्थ रहते हैं। वे न अनुकूलतासे प्रभावित होते हैं और न प्रतिकूलतासे खिन्न होते हैं। सृष्टिके किसी भी कार्यमें उनका कोई हस्तक्षेप नहीं होता है। सर्वशक्तिमान् होनेपर भी वे किसी व्यक्तिको बलप्रयोगसे धार्मिक भी नहीं बनाते। संसारमें सत्यका आलोक फैलाना इनका मुख्य उद्देश्य है। जिस परिसरमें अर्हत् देव विराजमान रहते हैं, वहाँसे एक सौ पचीस योजनतकके क्षेत्रमें ज्वर आदि रोग, पारस्परिक विरोध, ईति—धान्य आदिको नष्ट करनेवाले चूहों तथा अन्य पशु-पक्षियोंके उपद्रव, किसी जटिल उपद्रवसे होनेवाली सामूहिक मृत्यु, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष तथा स्व-परराष्ट्रका भय आदि नहीं होते।

अर्हत् देवका व्यक्तित्व, उनकी क्षमता और उनके प्रभावकी बात सुनकर कोई भी व्यक्ति उनके प्रति श्रद्धासे प्रणत हो सकता है। पर जैन-दर्शनके अनुसार उनको श्रद्धापूर्वक प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना और उनके नामका जप करना ही पर्याप्त नहीं है। उनके जीवनसे प्रेरणा पाकर उन-जैसा पुरुषार्थ कर उनके चरण-चिह्नोंपर अग्रसर होना ही उनके प्रति प्रणत होने और उन्हें अपना आराध्य माननेकी वास्तविक सार्थकता है।

हे मन ! ऐसे ही काम कर, जिनसे देह छूटनेके बाद तेरी कीर्ति फैले। चन्दनकी भाँति घिसता-घिसता क्षीण होता चला जा, किंतु अन्तःकरणसे सज्जनोंको संतुष्ट कर।

भगवान् सूर्यके विविध रूपोंके दर्शन

भारतमें सूर्यपूजा, मन्दिर-निर्माण तथा प्रतिमाराधन आदि वैदिक ग्रन्थों, पुराणों और आगमोंमें अत्यन्त प्राचीन कालसे ही प्रसिद्ध है। नारदादि ऋषि एवं सूर्यवंशी क्षत्रिय सूर्याराधक थे। द्वापरमें श्रीकृष्ण-पुत्र साम्बने कुष्ठ-निवारणके लिये तीन विशिष्ट मन्दिर बनवाये और सूर्यकी आराधनासे उनकी कृपा प्राप्तकर कुष्ठरोगसे मुक्त हुए थे। साम्बने उदयकालीन प्रतिमायुक्त मन्दिर कोणार्क (उड़ीसा)में, मध्याह्नकालीन या माध्यन्दिन प्रतिमायुक्त कालप्री या कालपीनगरमें तथा सायंकालीन प्रतिमायुक्त मन्दिरका निर्माण मूलस्थान (मुलताननगर) में किया था। आज भारतमें भगवान् सूर्यनारायणके अनेक मन्दिर हैं और प्रत्येक घरमें उनकी पूजा-आराधनाकी भी सुदीर्घ परम्परा है। यहाँ उनमेंसे कुछ मन्दिरों तथा भगवान् सूर्यनारायणके अर्चा-विग्रहोंके दर्शन करानेका प्रयत्न किया जा रहा है—

१-कोणार्क (कोणादित्य) मन्दिर जगन्नाथपुरीसे समुद्रके किनारे पैदल मार्गसे बीस मील दूर है। इस मन्दिरमें कोई आराध्यमूर्ति नहीं है। कोणार्कको प्राचीन पद्मक्षेत्र कहा जाता है। साम्बने कोणादित्यकी आराधना की थी और एक सूर्यमूर्ति स्थापित की थी। वह मूर्ति अब पुरीमें है। किसी समय यह स्थान सौर-सम्प्रदायका प्रधान केन्द्र था। पासमें चन्द्रभागा नदी है। यहाँ माघशुक्ला सप्तमीको स्नान करना महापुण्यप्रद माना जाता है। यहाँ चारों ओरसे पक्के घेरेके भीतर सूर्यदेवका विशाल मन्दिर है।

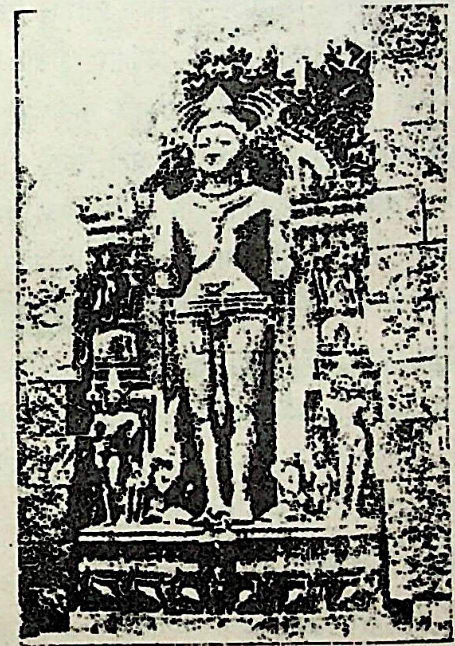

२-लोहार्गल- (राजस्थान) तीर्थमें एक विशाल सूर्य-मन्दिर है, पास ही शिवमन्दिर भी है। इन दोनोंके मध्य एक कुण्ड है, जो सूर्य-कुण्ड कहलाता है। लोहार्गल-क्षेत्रकी परिक्रमा, सूर्यकुण्डमें स्नान करनेके अनन्तर सूर्यभगवान्‌की पूजा करनेके पश्चात् प्रारम्भ की जाती है।

३-झालावाड़ जिलेमें चन्द्रभागा नदीके तटपर शङ्खोद्धार-तीर्थ है। स्कन्दपुराणानुसार अन्धक नामक महाप्रतापी दैत्यका वधकर भगवान्‌ने जिस स्थानपर खड़े होकर शङ्खनाद किया था, यह वही शङ्खोद्धार-तीर्थ है। यहाँ एक प्राचीन सूर्यमन्दिर है। कहा जाता है कि इन्द्रसे अर्जुनने सूर्य-प्रतिमा प्राप्त की और उसे यहाँ स्थापित किया। इस मूर्तिके दर्शन करने तथा इस मन्दिरके कला-कौशलको देखनेके लिये देश-विदेशसे दूर-दूरके यात्री यहाँ आते रहते हैं।

४-अयोध्यामें रामघाटसे पाँच मील दूर सूर्यकुण्ड है। इसी कुण्डके पश्चिम किनारेपर सूर्यनारायणका प्राचीन मन्दिर है।

५-कश्मीरमें अमरनाथ-मार्गपर मटन-तीर्थमें मार्तण्ड-मन्दिर नामका एक मन्दिर है, जिसमें प्रतिमा अवशेषरूपमें विद्यमान है।

६-अल्मोड़ा (उ० प्र०) में एक प्राचीन सूर्यमन्दिर है। यहाँकी सूर्य-प्रतिमा अद्भुत है। यहाँके सूर्य रथस्थ नहीं हैं, किंतु पादाच्छत्र हैं। पैरोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि वे बूट-जूता-जैसा कोई पादत्राण पहने हुए हैं।

७-कटारमल (अल्मोड़ेमें एक पहाड़की चोटी) पर एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक सूर्यमन्दिर है, यहाँ प्रतिष्ठित प्रतिमा कमलपर आसीन है।

८-प्रभासतीर्थके पूर्व-ईशानमें शीतला नामक अरण्यमें हिरण्य नदीके किनारे भ्रमयुक्त सांधार प्रासादकी शैलीपर बना हुआ एक सूर्यमन्दिर है। मन्दिरका शिखर और मण्डपके ऊपरका भाग नष्टप्राय हो गया है। यह मन्दिर सुन्दर कलात्मक है। ऊपरके भागमें ग्रासपट्टीकी जगह अश्व बने हुए हैं।

९-नर्मदा नदीके उत्तर तटपर बागड़िया ग्रामके पास भगवान् आदित्येश्वरका एक प्राचीन मन्दिर है। यहाँ पाँच राक्षसोंको सप्तर्षियोंके दर्शन हुए। ऋषियोंके उपदेशसे तप करके वे मुक्त हुए। यहाँ पुष्करिणीतीर्थपर सूर्यभगवान्का नित्य निवास माना जाता है। ग्रहणोंपर यहाँ स्नानका माहात्म्य है।

१०-गुजरातका प्रसिद्ध मोढ़ेराका सूर्यमन्दिर अप्सरा-तीर्थके पास है। कहा जाता है कि यहाँ उर्वशीने तपस्या की थी। मोढ़ेरा गाँवके उत्तर पुष्पावती नदीके तटपर एक प्राचीन सूर्यमन्दिर है, उसके पास सूर्यकुण्ड है। यह मन्दिर विशाल एवं कलापूर्ण है। श्रीरामने यहींपर यज्ञ किया था।

११-मतलगा (बेलगाँव, कर्नाटक) में प्रायः चार सौ वर्ष पुरानी सूर्यनारायणकी एक भव्य मूर्ति है, जो दो फुट ऊँची है। सूर्यमूर्तिके दाहिने जय और बायें विजयकी प्रतिमाएँ हैं। मूर्तिके नीचे (पीठपर) मध्यमें भगवान् सूर्यनारायणका मुख है और दोनों बाजुओंको मिलाकर सात अश्वोंके मुख हैं।

१२-अहमदाबादसे लगभग पचास मील दूर खंडायत ग्राममें सूर्यभगवान्का एक मन्दिर है, यहाँके अर्चा-विग्रह कोट्यर्क कहलाते हैं। यहाँ मन्दिरमें भगवान् सूर्यकी गौरवर्ण चतुर्भुज मूर्ति है।

१३-दक्षिण भारतमें सूर्यनार-कोइलमें सूर्यभगवान्का एक प्रमुख मन्दिर है। मन्दिरमें भगवान् सूर्यके सामने बृहस्पतिकी प्रतिमा है, साथ ही भगवान् सूर्यका वाहन अश्व भी खड़ा है। यहीं एक दूसरे गृहमें चन्द्र-मङ्गलादि नवग्रहोंकी भी उत्थित-अवस्थाकी भव्य मूर्तियाँ हैं।

काशीके द्वादश आदित्योंकी पौराणिक कथाएँ

सर्वतीर्थमयी विश्वनाथपुरी काशी त्रैलोक्यमङ्गल भगवान् विश्वनाथ एवं कलि-कल्मषहारिणी भगवती भागीरथीके अतिरिक्त अगणित देवताओंकी आवासभूमि है। यहाँ कोटि-कोटि शिवलिङ्ग, चतुष्षष्टियोगिनियाँ, षट्पञ्चाशत् विनायक, नव दुर्गा, नव गौरी, अष्ट भैरव, विशालाक्षीदेवी प्रभृति सैकड़ों देव-देवियाँ काशी-वासीजनोंके योग-क्षेम, संरक्षण, दुरित एवं दुर्गतिका निरसन करते हुए विराजमान हैं। इनमें द्वादश आदित्योंका स्थान और माहात्म्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनका चरित्र-श्रवण महान् अभ्युदयका हेतु एवं दुरित और दुर्गतिका विनाशक है। यहाँ साधकोंके अभ्युदयके लिये द्वादश आदित्योंका संक्षिप्त माहात्म्य-चित्रण प्रस्तुत किया जा रहा है—

१-लोलार्ककी कथा

किसी समय भगवान् शिवको काशीका वृत्तान्त जाननेकी इच्छा हुई। उन्होंने सूर्यसे कहा—'सप्ताश्व! तुम शीघ्र वाराणसी नगरीमें जाओ। धर्ममूर्ति दिवोदास वहाँका राजा है। उसके धर्मविरुद्ध आचरणसे जैसे वह नगरी उजड़ जाय, वैसा उपाय शीघ्र करो, किंतु राजाका अपमान न करना।'

भगवान् शिवका आदेश पानेके अनन्तर सूर्यने अपना स्वरूप बदल लिया और काशीकी ओर प्रस्थान किया। उन्होंने काशी पहुँचकर राजाकी धर्मपरीक्षाके लिये विविध रूप धारण किये एवं अतिथि, भिक्षु आदि बनकर उन्होंने राजासे दुर्लभ-से-दुर्लभ वस्तुएँ माँगी, किंतु राजाके कर्तव्यमें त्रुटि या राजाकी धर्मविमुखताकी गन्धतक उन्हें नहीं मिली।

उन्होंने शिवजीकी आज्ञाकी पूर्ति न कर सकनेके कारण शिवजीकी झिड़कीके भयसे मन्दराचल लौट जानेका विचार त्यागकर काशीमें ही रहनेका निश्चय किया। काशीका दर्शन करनेके लिये उनका मन लोल (सतृष्ण) था, अतः उनका नाम 'लोलार्क' हुआ। वे गङ्गा-असि-सङ्गमके निकट भद्रवनी (भदैनी)में विराजमान हैं। वे काशीनिवासी लोगों तथा दर्शनार्थियोंका सदा योग-क्षेम वहन करते रहते हैं।

२-उत्तरार्ककी कथा

बलिष्ठ दैत्योंद्वारा देवता बार-बार युद्धमें परास्त हो जाते थे। देवताओंने दैत्योंके आतङ्कसे सदाके लिये छुटकारा पानेके निमित्त भगवान् सूर्यकी स्तुति की। स्तुतिसे प्रसन्नमुख सम्मुख उपस्थित हुए भगवान् सूर्यसे देवताओंने प्रार्थना की कि 'प्रभो! बलिष्ठ दैत्य कोई-न-कोई बहाना बनाकर हमारे ऊपर आक्रमण कर देते हैं और हमें परास्त कर हमारे सब अधिकार छीन लेते हैं। निरन्तरकी यह महाव्याधि सदाके लिये जैसे समाप्त हो जाय,

वैसा समाधायक उत्तर आप हमें देनेकी कृपा करें।'

भगवान् सूर्यने विचारकर अपनेसे उत्पन्न एक शिला उन्हें दी और कहा कि यह तुम्हारा समाधायक उत्तर है। इसे लेकर तुम वाराणसी जाओ और विश्वकर्माद्वारा इस शिलाकी शास्त्रोक्त विधिसे मेरी मूर्ति बनवाओ। मूर्ति बनाते समय छेनीसे इसे तराशनेपर जो प्रस्तर-खण्ड निकलेंगे वे तुम्हारे दृढ़ अस्त्र-शस्त्र होंगे। उनसे तुम शत्रुओंपर विजय प्राप्त करोगे।

देवताओंने वाराणसी जाकर विश्वकर्माद्वारा सुन्दर सूर्यमूर्तिका निर्माण कराया। मूर्ति तराशते समय उससे पत्थरके जो टुकड़े निकले उनसे देवताओंके तेज और प्रभावी अस्त्र बने। उनसे देवताओंने दैत्योंपर विजय पायी। मूर्ति गढ़ते समय जो गड्ढा बन गया था, उसका नाम उत्तरमानस (उत्तरार्ककुण्ड) पड़ा। वही कालान्तरमें भगवान् शिवसे माता पार्वतीकी यह प्रार्थना करनेपर कि **'वर्करीकुण्डमित्याख्या त्वर्ककुण्डस्य जायताम्।'** (स्कन्दपु०, काशीखण्ड ४७। ५६) अर्थात् अर्ककुण्ड (उत्तरार्ककुण्ड) का नाम वर्करीकुण्ड हो जाय, वही कुण्ड वर्करीकुण्डके नामसे प्रसिद्ध हुआ। वर्तमानमें उसीका विकृतरूप 'बकरियाकुण्ड' है। यह अलईपुराके समीप है। उत्तररूपमें दी गयी शिलासे मूर्ति बननेके कारण उनका 'उत्तरार्क' नाम पड़ा। उत्तरार्कका माहात्म्य बड़ा ही अद्भुत और विलक्षण है।

३-साम्बादित्यकी कथा

किसी समय देवर्षि नारदजी भगवान् कृष्णके दर्शनार्थ द्वारकापुरी पधारे। उन्हें देखकर सब यादवकुमारोंने अभ्युत्थान एवं प्रणामकर उनका सम्मान किया; किंतु साम्बने अपने अत्यन्त सौन्दर्यके गर्वसे न अभ्युत्थान किया और न प्रणाम ही; प्रत्युत उनकी वेषभूषा और रूपपर हँस दिया। साम्बका यह अविनय देवर्षिको अच्छा नहीं लगा। उन्होंने इसका थोड़ा-सा इङ्गित भगवान्के समक्ष कर दिया।

दूसरी बार जब नारदजी आये, तब भगवान् श्रीकृष्ण अन्तःपुरमें गोपीमण्डलके मध्य बैठे थे। नारदने बाहर खेल रहे साम्बसे कहा—'वत्स! भगवान् कृष्णको मेरे आगमनकी सूचना दे दो।' साम्बने सोचा, 'एक बार मेरे प्रणाम न करनेसे ये खिन्न हुए थे। यदि आज भी इनका कहना न मानूँ तो और भी अधिक खिन्न होंगे, सम्भवतः शाप दे डालें। उधर पिताजी एकान्तमें मातृमण्डलके मध्य स्थित हैं। अनुपयुक्त स्थानपर जानेसे वे भी अप्रसन्न हो सकते हैं। क्या करूँ, जाऊँ या न जाऊँ? मुनिके क्रोधसे पिताजीका क्रोध कहीं अच्छा है'—यह सोचकर वे अन्तःपुरमें चले गये। दूरसे ही पिताजीको प्रणाम कर नारदके आगमनकी सूचना उन्हें दी। साम्बके पीछे-ही-पीछे नारदजी भी वहाँ चले गये।

नारदजीने गोपियोंमें कुछ विकृति आयी देख भगवान्से कहा—'भगवन्! साम्बके अतुल सौन्दर्यसे ही इनमें कुछ चाञ्चल्यका आविर्भाव हुआ प्रतीत होता है।' यद्यपि साम्ब सभी गोपीजनोंको माता जाम्बवतीके तुल्य ही देखते थे तथापि दुर्भाग्यवश भगवान्ने साम्बको बुलाकर यह कहते हुए तो शाप दे दिया कि 'एक तो तुम अनवसरमें मेरे निकट चले आये, दूसरा यह कि ये सब तुम्हारा सौन्दर्य देखकर चञ्चल हुई हैं, इसलिये तुम कुष्ठरोगसे आक्रान्त हो जाओ।'

घृणित रोगके भयसे साम्ब काँप गये और भगवान्के समक्ष मुक्तिके लिये बहुत अनुनय-विनय करने लगे। तब श्रीकृष्णभगवान्ने पुत्रको निर्दोष जानकर दुर्दैववश प्राप्त रोगकी विमुक्तिके लिये उन्हें काशी जानेका आदेश दिया। तदनुसार साम्बने भी काशी-विश्वनाथजीके पश्चिमकी ओर कुण्ड बनाकर उसके तटपर सूर्यमूर्तिकी स्थापना की एवं भक्तिभावसहित सूर्याराधनसे रोग-विमुक्त हुए।

तभीसे सब व्याधियोंको हरनेवाले साम्बादित्य सकल सम्पत्तियाँ भी प्रदान करते हैं। इनका मन्दिर सूर्यकुण्ड मुहल्लेमें कुण्डके तटपर है।

४-द्रौपदादित्यकी कथा

प्राचीन कालमें जगत्कल्याणकारी भगवान् पञ्चवक्त्र शिवजी ही पाँच पाण्डवोंके रूपमें प्रादुर्भूत हुए एवं जगज्जननी उमा द्रौपदीके रूपमें यज्ञकुण्डसे उद्भूत हुईं। भगवान् नारायण उनके सहायतार्थ श्रीकृष्णके रूपमें अवतीर्ण हुए। महाबलशाली पाण्डव किसी समय अपने चचेरे भाई दुर्योधनकी दुष्टतासे बड़ी विपत्तिमें पड़ गये। उन्हें राज्य त्यागकर वनमें जाना पड़ा। अपने पतियोंके इस दारुण क्लेशसे दुःखी द्रौपदीने भगवान् सूर्यकी मनोयोगसे आराधना की। द्रौपदीकी इस आराधनासे प्रसन्न होकर सूर्यने उसे एक दिव्य प्रभावशाली बटलोई दी और कहा कि

जबतक तुम भोजन नहीं करोगी, तबतक जितने भी भोजनार्थी आयेंगे वे सब-के-सब इस बटलोईके अन्नसे तृप्त हो जायँगे। यह सरस व्यञ्जनोंकी निधान है एवं इच्छानुसारी खाद्योंकी भण्डार है। तुम्हारे भोजन कर चुकनेके बाद यह खाली हो जायगी।

इस प्रकारका वरदान काशीमें सूर्यसे द्रौपदीको प्राप्त हुआ। दूसरा वरदान द्रौपदीको सूर्यने यह दिया कि विश्वनाथजीके दक्षिण भागमें तुम्हारे सम्मुख स्थित मेरी प्रतिमाकी जो लोग पूजा करेंगे, उन्हें क्षुधा-पीड़ा कभी नहीं होगी। द्रौपदादित्यजी विश्वनाथजीके समीप अक्षयवटके नीचे स्थित हैं, इनका काशीखण्डमें बहुत माहात्म्य है।

५-मयूखादित्य-कथा

प्राचीन कालमें पञ्चगङ्गाके निकट 'गभस्तीश्वर' शिवलिङ्ग एवं भक्तमङ्गलकारिणी मङ्गलागौरीकी स्थापना कर उनकी आराधना करते हुए सूर्यने हजारों वर्षतक कठोर तपस्या की। सूर्य स्वरूपतः त्रैलोक्यको तप्त करनेमें समर्थ हैं। तीव्रतम तपस्यासे वे और भी अत्यन्त प्रदीप्त हो उठे। त्रैलोक्यको जलानेमें समर्थ सूर्य-किरणोंसे आकाश और पृथ्वीका अन्तराल भभक उठा।

इस प्रकार जगत्‌को व्याकुल देखकर जगत्‌के परित्राता भगवान् विश्वेश्वर वर देनेके लिये सूर्यके निकट गये। भगवान् शिवको उनकी तपस्याके प्रति महान् आश्चर्य हुआ। तपस्यासे प्रसन्न होकर उन्होंने सूर्यको पुकारा, पर वे काष्ठवत् निश्चेष्ट रहे। जब भगवान्‌ने अपने अमृत-वर्षी हाथोंसे सूर्यका स्पर्श किया, तब उस दिव्य स्पर्शसे सूर्यने अपनी आँखें खोलीं और उन्हें दण्डवत्-प्रणामकर उनकी स्तुति की।

भगवान् शिवने प्रसन्न होकर कहा—'सूर्य! उठो, सब भक्तोंके क्लेशोंको दूर करो। तुम मेरे स्वरूप ही हो। तुमने मेरा और गौरीका जो स्तवन किया है, इन दोनों स्तवनोंका पाठ करनेवालोंको सब प्रकारकी सुख-सम्पदा, पुत्र-पौत्रादिकी वृद्धि, शरीरारोग्य आदि प्राप्त होंगे एवं प्रिय-वियोगजनित दुःख कदापि नहीं होंगे। तुम्हारे तपस्या करते समय तुम्हें मयूख (किरणें) ही दृष्टिगोचर हुए, शरीर नहीं, इसलिये तुम्हारा नाम मयूखादित्य होगा। तुम्हारा पूजन करनेसे मनुष्योंको कोई व्याधि नहीं होगी। रविवारके दिन तुम्हारा दर्शन करनेसे दारिद्र्य सर्वथा मिट जायगा—

त्वदर्चनान्नृणां कश्चिन्न व्याधिः प्रभविष्यति।
भविष्यति न दारिद्र्यं रविवारे त्वदीक्षणात्॥

(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ४९।९४)

—मयूखादित्यका मन्दिर मङ्गलागौरीमें है।

६-खखोल्कादित्य

पूर्वकालमें कद्रू और विनता—ये दोनों बहनें परस्पर खेल रही थीं। ये दक्ष प्रजापतिकी कन्याएँ और मरीचिनन्दन कश्यपकी धर्मपत्नियाँ थीं। उस खेलमें कद्रूने अपनी बहनसे कहा—'विनते! सूर्यके रथमें जो उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा सुना जाता है, उसका रूप कैसा है, जानती हो तो कहो। हम दोनों शर्त रखकर इसका निर्णय करें, जो जिससे पराजित हो, वह उसकी दासी हो। हमारी इस प्रतिज्ञामें ये सब सखियाँ साक्षी हैं।' इस प्रकार आपसमें शर्त लगाकर कद्रूने सूर्यके घोड़ेको चितकबरा बताया और विनताने श्वेत कहा। विनताके चले जानेपर कद्रूने अपने पुत्रोंको बुलाकर कहा—'तुम मेरे वचनसे शीघ्र ही उच्चैःश्रवा घोड़ेके समीप जाओ और उसे श्याम रंगसे युक्त चितकबरा कर दो।' कद्रूके बुद्धिमान् पुत्रोंने उच्चैःश्रवाके पास जाकर उसके शरीरको जगह-जगहसे काले केशके समान चितकबरा कर दिया। कद्रू और विनता दोनोंने सूर्यके रथमें घोड़ेको कुछ-कुछ काले रंगसे युक्त अर्थात् चितकबरा देखा। तब विनताने कहा—'बहन! तुम्हारी ही बात सत्य निकली, अतः तुमने मुझे जीत लिया।' तबसे विनता कद्रूकी दासी हो गयी। तदनन्तर विनताके पुत्र गरुडने नागोंको अमृत देकर अपनी माताको दासीभावसे मुक्त किया। दासीपनसे छुटकारा मिलनेपर विनताने गरुडसे कहा—'बेटा! मैं दास्यजनित दुष्कृतको दूर करनेके लिये काशीपुरी जाऊँगी, वहाँ साक्षात् भगवान् विश्वनाथ चन्द्रमाका आभूषण धारण किये तारकमन्त्ररूपी नौकाके द्वारा दुस्तर संसारसागरसे सबको पार लगा देते हैं।'

माताकी यह बात सुनकर गरुडने नमस्कार करके कहा—'मैं भी भगवान् शिवसे सम्मानित काशीपुरीका दर्शन करनेके लिये चलूँगा।' तत्पश्चात् माताकी आज्ञा पाकर पक्षिराज गरुड उन्हींके साथ क्षणभरमें मोक्षभूमि वाराणसी-पुरीमें आ पहुँचे। वहाँ इन दोनोंने बड़ी भारी तपस्या की। अविचल इन्द्रियोंवाले पक्षिराज गरुडने शिवलिङ्गकी स्थापना

की और विनताने खखोल्क नामक 'आदित्य' को स्थापित किया। थोड़े ही दिनोंमें उन दोनोंकी तीव्र तपस्यासे काशीमें भगवान् शंकर और सूर्यदेव दोनों प्रसन्न हो गये। गरुडद्वारा स्थापित शिवलिङ्गसे उमानाथ भगवान् शिव प्रकट हुए और उन्होंने गरुडको बहुतसे अत्यन्त दुर्लभ वरदान दिये—'पक्षिराज ! मेरे यथार्थ रहस्यको, जिसे देवता भी नहीं जान सके हैं, तुम जान लोगे। तुम्हारे द्वारा स्थापित यह लिङ्ग गरुडेश्वरके नामसे विख्यात होगा। इसका दर्शन, स्पर्श और पूजन मनुष्योंको परम ज्ञान देनेवाला होगा। हम ही वह विष्णु हैं और वह विष्णु ही हम हैं, हम दोनोंमें तुम्हारी भेददृष्टि नहीं होनी चाहिये। तुम भगवान् विष्णुके श्रेष्ठ वाहन होकर स्वयं भी पूजनीय हो जाओगे।' अपने भक्त गरुडको इस प्रकार वरदान देकर भगवान् शंकर वहीं अन्तर्धान हो गये और गरुड भी भगवान् विष्णुके वाहन होकर भूमण्डलमें सबके लिये पूजनीय हो गये।

तदनन्तर एक दिन तपस्यामें संलग्न हुई विनताको देखकर शिवके ही दूसरे स्वरूप 'खखोल्कादित्य' नामक सूर्यदेव प्रकट हुए और उन्होंने विनताको शिवज्ञानसे युक्त पापनाशक वरदान दिया। वरदान देकर वे काशीमें ही रह गये और विनतादित्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार काशीके विघ्नस्वरूप अन्धकारका नाश करनेवाले खखोल्क नामक आदित्य वहाँ निवास करते हैं। उनके दर्शनमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। काशीमें पैशङ्गिल (पिलपिला) तीर्थमें भगवान् खखोल्कादित्यका दर्शन करनेसे मनुष्य क्षणभरमें नीरोग हो जाता है और मनोवाञ्छित वस्तुको प्राप्त करता है।

७-अरुणादित्य

विनता अपनी सपत्नी (सौतों) को गोदमें बच्चे खेलाते देख स्वयं भी बच्चेको गोदमें खेलानेकी अभिलाषा न त्याग सकी; अतः जो अण्डा अभी सेनेके योग्य था जिसकी अवधि पूरी नहीं हुई थी, उसे उसने फोड़ दिया। विकलाङ्ग शिशु ऊरु (जंघा) रहित होनेसे अनूरु एवं अवधिसे पूर्व ही अण्डा फोड़ देनेसे माँके प्रति क्रोधवश अरुण (लाल) होनेसे 'अरुण' कहलाया। अरुणने काशीमें तपस्या करते हुए सूर्यकी आराधना की। सूर्यने उसपर प्रसन्न हो उसे अनेक वर दिये एवं उसके नामसे स्वयं सूर्य 'अरुणादित्य' हुए।

सूर्यने कहा—'हे अनूरो ! तुम त्रैलोक्यके हितार्थ मेरे रथपर सदा स्थित रहो एवं मुझसे पहले अन्धकारका विनाश करो। जो मनुष्य वाराणसीमें विश्वेश्वरके उत्तर तुम्हारे द्वारा स्थापित अरुणादित्य नामक मेरी मूर्तिका अर्चन-पूजन करेंगे, उन्हें न तो दुःख होगा, न दरिद्रता होगी और न पातक लगेगा। वे न विविध प्रकारकी व्याधियोंसे आक्रान्त होंगे और न नाना प्रकारके उपद्रवोंसे पीड़ित होंगे। अरुणादित्य पाटन दरवाजा मुहल्लेमें त्रिलोचनमन्दिरमें स्थित हैं।

८-वृद्धादित्य

काशीमें प्राचीन कालमें वृद्धहारीत नामके एक महातपस्वी रहते थे। उन्होंने विशालाक्षीदेवीके दक्षिण ओर मीरघाटपर महातपकी समृद्धिके लिये सूर्यनारायणकी एक सुन्दर मूर्ति स्थापित की और उनकी आराधना की। उन्होंने अपनी अतुल भक्तिपूर्ण आराधनासे प्रसन्न हुए सूर्यसे वर माँगा—'भगवन् ! वृद्ध पुरुषमें तप करनेकी शक्ति नहीं रहती। यदि मुझे आपके अनुग्रहसे फिर तारुण्य प्राप्त हो जाय तो मैं उत्तम तप कर सकूँगा।' वृद्धहारीतके तपसे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्यने वृद्ध तपस्वीकी वृद्धावस्था तत्क्षण मिटाकर उन्हें यौवन प्रदान कर दिया। यौवन प्राप्त कर हारीतने महान् उग्र तप किया। वृद्धादित्यके भक्तिभावपूर्ण अर्चन-पूजनसे वार्धक्य, दरिद्रता एवं विविध रोगोंसे मुक्ति पाकर बहुतोंने सिद्धि पायी है।

९-केशवादित्य

किसी समय आकाशमें संचरण कर रहे सूर्यनारायणने भगवान् आदिकेशवको बड़े श्रद्धाभावसे शिवलिङ्गका पूजन करते देखा। वे महान् आश्चर्यसे चकित हो आकाशसे उतरकर भगवान् केशवके निकट अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप बैठ गये। भगवान् केशवद्वारा की जा रही शिवपूजा समाप्त होनेपर सूर्यने उन्हें सभक्ति प्रणाम किया। भगवान्ने भी उनका उचित स्वागत-सत्कार कर पासमें बैठा लिया। अवसर पाकर सूर्यने पूछा—'भगवन् ! आपसे ही यह जगत् उत्पन्न होता है और आपमें ही लीन हो जाता है। आपका भी कोई पूज्य है—यह जानकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है।'

भगवान् केशवने कहा—'भास्कर ! सब कारणोंके भी कारण देवाधिदेव महादेव उमापति ही एकमात्र पूज्य हैं। जो त्रिलोचनके सिवा अन्यकी पूजा करता है, वह आँखवाला

होनेपर भी अन्धा है। जिन लोगोंने एक बार भी पार्वतीपतिके लिङ्गकी पूजा की, उन्हें विविध दुःखोंसे भरे इस संसारमें दुःख नहीं होगा।'

भगवान् विष्णुके मुखसे शिवजीका ऐसा अद्भुत माहात्म्य एवं 'हे सूर्य! तुम भी विपुल तेजको बढ़ानेवाली परम लक्ष्मीको प्राप्त करनेके लिये शिवलिङ्गकी पूजा करो।' ऐसा उपदेश सुनकर सूर्य स्फटिकका लिङ्ग बनाकर उसकी पूजा करने लगे। तभीसे सूर्य आदिकेशवको अपना गुरु मानकर आदिकेशवके उत्तरमें आज भी स्थित हैं।

काशीमें भक्तजनोंके अज्ञानान्धकारका विनाश करनेवाले वे केशवादित्य पूजा-अर्चा करनेवालोंको सदा मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हैं। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक केशवादित्यके माहात्म्यके श्रवणसे मनुष्यको पाप स्पर्श नहीं करते और शिवभक्ति प्राप्त होती है।

१०-विमलादित्य

विमल नामका एक क्षत्रिय था। वह बड़ा सत्कार्यकारी होनेपर भी प्राक्तन कर्मवश कुष्ठरोगसे आक्रान्त हो गया। वह घर-द्वार, पुत्र-कलत्र, धन-दौलत सबका परित्याग कर काशी आया। उसने हरिकेशवन (जङ्गमवाड़ी) में हरिकेशेश्वरके निकट सूर्यमूर्ति स्थापित कर परम भक्ति-श्रद्धापूर्वक सूर्यकी आराधना की। वह कनेर, अड़हुल, सुन्दर किंशुक, लाल कमल, सुगन्धपूर्ण गुलाब और चम्पाके पुष्पों, चित्र-विचित्र मालाओं, कुङ्कुम, अगरु और कर्पूरमिश्रित लालचन्दन, सुगन्धित धूपों, कपूर और बत्तियोंकी आरार्ति, विविध प्रकारके सुमिष्ट नैवेद्यों, भाँति-भाँतिके फलों, अर्घ्यप्रदान एवं सूर्य-स्तोत्रोंद्वारा सूर्यकी पूजा करता था। इस प्रकार निरन्तर आराधना करनेसे उसपर भगवान् सूर्य प्रसन्न हुए। उन्होंने वर माँगनेको कहा एवं यह भी कहा कि तुम्हारा कुष्ठरोग तो मिटेगा ही, उसके अतिरिक्त और भी वर माँगो। दण्डवत्-प्रणाम करते हुए विमलने कहा—'भगवन्! यदि आप प्रसन्न हैं और वर देना चाहते हैं तो जो लोग आपके भक्तिनिष्ठ हों, उनके कुलमें कुष्ठ तथा अन्यान्य रोग भी न हों, उन्हें दरिद्रता भी न सतावे; आपके भक्तोंको किसी प्रकारका दुःख न हो, यही वर दें।'

विमलके उक्त वरोंको सुनते हुए सूर्यने 'तथास्तु' कहकर आगे कहा—'विमल! तुमने काशीमें जो यह मेरी मूर्ति स्थापित की है, इसकी संनिधिका मैं कभी त्याग नहीं करूँगा एवं यह मूर्ति तुम्हारे नामसे प्रख्यात होगी। सब व्याधियोंको दूर करनेवाली तथा सकल पापोंका विध्वंस करनेवाली विमलादित्य नामक यह प्रतिमा भक्तोंको सदा वर प्रदान करेगी।'

ये शुभप्रद (मङ्गलकारी) विमलादित्य काशीमें विराजमान हैं। उनके दर्शनमात्रसे कुष्ठरोग मिट जाता है।

११-गङ्गादित्य

गङ्गादित्य वाराणसीमें ललिताघाटपर विराजते हैं। उनके केवल दर्शनोंसे मनुष्य शुद्ध हो जाता है। भगीरथके रथका अनुसरण करती हुई भागीरथी जब यहाँ (काशीमें) पधारीं तो रविने वहींपर स्थित होकर गङ्गाकी स्तुति की। आज भी वह गङ्गाको सम्मुख कर रात-दिन उनकी स्तुति करते हैं। गङ्गादित्यकी आराधना करनेवाले नरश्रेष्ठोंकी न दुर्गति होती है और न वे रोगाक्रान्त ही होते हैं। इनका दर्शन पुण्यप्रद है।

१२-यमादित्य

यमेश्वरसे पश्चिम और आत्मवीरेश्वरसे पूर्व संकटा-घाटपर स्थित यमादित्यके दर्शन करनेसे मनुष्योंको यमलोक नहीं देखना पड़ता। भौमवारी चतुर्दशीको यमतीर्थमें स्नानकर यमेश्वर और यमादित्यके दर्शन कर मानव सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है। प्राचीन कालमें यमराजने यमतीर्थमें कठोर तपस्या कर भक्तोंको सिद्धि प्रदान करनेवाले यमेश्वर और यमादित्यकी स्थापना की थी। यमराजद्वारा स्थापित यमेश्वर और यमादित्यको प्रणाम करनेवाले एवं यम-तीर्थमें स्नान करनेवाले पुरुषोंको यामी (नारकीय) यातनाओंका भोगना तो दूर, यमलोकको देखनातक नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त यमतीर्थमें श्राद्धकर यमेश्वरका पूजनकर एवं यमादित्यको प्रणामकर मनुष्य पितृऋणसे भी उऋण हो जाता है।

ये बारह आदित्य पाप-राशिविनाशक हैं। इनके दर्शन-पूजन आदिसे मनुष्योंको यामी यातनाएँ नहीं होती हैं। इनके अतिरिक्त काशीमें गुह्यकार्क आदि और भी अनेक आदित्य हैं। सबकी पूजा-अर्चा लाभप्रद है। इनकी पूजा-अर्चा प्रत्येक नर-नारीको करनी चाहिये। बारह आदित्योंके आविर्भावकी संसूचक कथाको सुनने अथवा दूसरोंको सुनानेवाले मनुष्योंके पास दुर्गति कदापि नहीं आ सकती।

भगवान् सूर्य तथा कोणार्क-मन्दिर

(श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)

वैदिककालीन देवी-देवताओंमें भगवान् सूर्यका अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है। इन्हें चराचर-विश्वका संचालक, घटी, पल, अहोरात्र, मास एवं ऋतु आदिका प्रत्यक्ष देवता,[१] ज्वलन्त प्रकाशकी अमूर्त अग्निके समान,[२] विराट् ब्रह्मकी आँखें,[३] दूरद्रष्टा,[४] सर्वद्रष्टा,[५] सम्पूर्ण जगत्का सर्वेक्षक,[६] समस्त चराचर- विश्वकी आत्मा,[७] आकाशका रत्न,[८] अन्धकारको चर्मकी भाँति लपेटकर उसका नाश करनेवाला,[९] बीमारीका नाश करनेवाला,[१०] देवताओंका दिव्य पुरोहित कहा गया है[११]।

भगवान् सूर्य सार्वभौम हैं[१२]। वे समस्त पापोंका नाश करनेवाले[१३] तथा शरीररूपी घरमें शयन करनेके कारण पुरुषरूप हैं[१४]। वे समस्त प्राणियोंके नेत्रोंमें विद्यमान,[१५] समस्त विश्वके प्राण एवं चेतना देनेवाले हैं[१६]। भगवान् सूर्य दीप्तिपुञ्ज हैं[१७]। उनके नेत्रकमल सुन्दर एवं पापसे परे हैं[१८]। उनकी उपासनासे अनेकों पुत्रोंकी प्राप्तिका उल्लेख है[१९]।

वैदिक साहित्यमें उल्लिखित भगवान् सूर्यका प्रभाव मूर्ति एवं स्थापत्यकलामें भी स्पष्टरूपसे परिलक्षित होता है। कोणार्कमें बना हुआ भगवान् सूर्यका मन्दिर इस तथ्यका जीवित उदाहरण है। जगन्नाथपुरीसे बीस मील उत्तर-पूर्वसमुद्र-तटके समीप सम्राट् नरसिंहदेव प्रथम (१२३८-१२६८ ई०) के राज्यकालमें बना कोणार्कका सूर्य-मन्दिर आज जीर्णावस्थामें भी अपने प्राचीन वैभवकी पराकाष्ठाकी गाथा गाता हुआ खड़ा है।*

कोणार्कका सूर्य-मन्दिर कालान्तर युगकी संरचना है। हिन्दू-विचारधाराके अनुसार भगवान् सूर्य अपने सात अश्वोंवाले रथपर विद्यमान होते हैं। कोणार्कका यह सूर्य-मन्दिर सूर्यरथके आकारको ध्यानमें रखकर तैयार किया गया था। इसकी नींवमें सात अलङ्कृत घोड़े रथको खींचते हुए-से प्रतीत होते हैं। यह मन्दिर एक ऊँचे धरातलपर बना है, जिसमें दस-दस फुट ऊँचे अलङ्कृत बारह पहिये हैं। इसका धुरा ग्यारह इंच तथा पहिये सोलह डंडोंवाले हैं। मन्दिरमें एक ओर चार अश्व तथा दूसरी ओर तीन अश्व बने हैं, जिनके आगेके दोनों पैर उठे हुए हैं, मानो वे अपनी गतिशीलताको प्रदर्शित करते हों। यह मन्दिर ८६५ फुट लंबे तथा ५४० फुट चौड़े आँगनमें बना हुआ है। इस आँगनके तीन ओर द्वार हैं जो आदमकद सुन्दर अश्वारोहियों या हस्त्यारोहियोंकी प्रतिमाओंसे सुसज्जित हैं। कहीं-कहींपर तो सिंहकी प्रतिमाएँ भी दर्शित होती हैं। ऊँची भूमिपर बना यह मन्दिर मुख्यतः दो भागोंमें स्तम्भ-मिलनसे निर्मित है। १-देवल तथा जगमोहन (जगमोहन अथवा सभामण्डप)। २-नट् एवं भोग (नट् या नाट्य एक ही रूप है)। इसमें नट् एवं भोग वस्तुतः कालान्तर युगकी ही संरचना है, जो इस समय प्रायः नष्ट ही हो गयी है।

विमान अथवा देवल—इस मन्दिरका विमान अथवा देवल बाईस फुट ऊँचा शिखरमय है। देवलका शिखर अब दुर्भाग्यवश नष्ट हो चुका है। देवल या गर्भगृहमें भगवान् सूर्यकी काले प्रस्तरकी प्रतिमा प्रतिष्ठापित है। देवप्रतिमाका सिंहासन अत्यन्त सुन्दर दिखायी देता है। इसका निचला भाग छोटे-छोटे हाथियोंकी मूर्तियोंसे अलङ्कृत है। देवलके

१-ऋग्वेद ९।११४।३; २-ऋग्वेद १०।७।३; ३-ऋग्वेद १०।९०।१३; ४-ऋग्वेद ७।३५।८; ५-ऋग्वेद १।५०।२; ६-ऋग्वेद ४।१३।३; ७-ऋग्वेद १।११५।१, यजुर्वेद ७।४२; ८-ऋग्वेद ७।६३।४, ६।५१।१; ९-ऋग्वेद ७।६३।१, ४।१३।४, १०।३७।४; १०-ऋग्वेद ४।२५।४, ६।५२।५; ११-ऋग्वेद ८।९०।१२; १२-ऋग्वेद १।११५।१, २।३३।१, १०।१२०।३, अथर्ववेद १३।१।१३-१४, १३।२।४३, १३।३।२-५; १३-शतपथब्राह्मण १४।१।२।२; १४-शतपथब्राह्मण १४।२।५।१८; १५-शतपथब्राह्मण १०।५।२।१; १६-तैत्तिरीयआरण्यक १।१४।१; १७-छान्दोग्योपनिषद् १।६।६; १८-छा० उ० १।६।६; १९-छा० उ०१।५।४।

* कोणार्क-मन्दिरका कोणादित्यके नामसे पुराणोंमें भी उल्लेख प्राप्त होता है और इसे भारतके प्राचीनतम प्रथम कोटिके मन्दिरोंमें मान्यता प्राप्त है। साम्बने भी कुष्ठ रोगके निवारणके लिये कोणादित्यकी उपासना की और मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया। उन्होंने वहाँ एक नवीन प्रतिमा भी स्थापित करवायी थी। बादमें भी अनेकोंवार इसका जीर्णोद्धार होता रहा और आज भी इसके पुनरुद्धारकी आवश्यकता है।

आधारपर बाहरकी ओर सीढ़ियोंसे सम्बन्धित तीन सहायक लघु मन्दिर हैं। इन तीनों मन्दिरोंमें आदमकद तथा सूक्ष्मतासे तराशी हुई भगवान् सूर्यकी प्रतिमाएँ हैं। ये लघु मन्दिर गहरे आलेकी भाँति हैं, जिनमें सूर्य-प्रतिमाके साथ-साथ सारथिका अङ्कन भी दृष्टिगोचर होता है।

जगमोहन—कोणार्कके इस भग्न मन्दिरमें जगमोहन अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित है। जगमोहनकी निर्माण-शैली सादी है तथा 'वाड्' एवं 'पडि' नामक दो भागोंमें विभक्त है। इसमें निचले भागको 'वाड्' तथा ऊपरी भागको 'पडि' कहते हैं। 'वाड्' की आन्तरिक चौड़ाई उसकी ऊँचाईके बराबर है तथा छत पिरामिडकी भाँति है। इसमें मुख्य पूर्वीद्वार अत्यन्त अलङ्कृत है।

नाट्य अथवा नट्-मन्दिर—जगमोहनके सम्मुख ऊँची भूमिपर वर्गाकार पृथक्से बना हुआ कक्ष 'नट्-मन्दिर' के नामसे प्रसिद्ध है, वह बहुत अलङ्कृत है। विविध मुद्राओंमें नृत्य करती हुई नृत्याङ्गनाएँ तथा दीवारोंपर की गयी सज्जा आदि भव्य हैं।

भोगमन्दिर—इस मन्दिरका एक 'भोग-मन्दिर' भी था, जो अब नष्ट हो चुका है। नट् एवं भोग दोनों ही कालान्तर युगकी संरचनाएँ हैं। इनमें 'जगमोहन' तथा 'भोगमन्दिर' परस्पर पृथक्-पृथक् हैं।

भगवान् सूर्यके इस देवालयकी शिखर-सज्जा-हेतु अनेक विशाल अलङ्कृत पाषाणखण्ड भूमिपर गिरे हुए मिलते हैं। आश्चर्य इस बातका है कि ये पाषाणखण्ड ज्यों-के-त्यों पड़े मिलते हैं। देवालयका आमलक भी भूमिपर गिरा हुआ मिलता है। इन सब बातोंको दृष्टिगत करते हुए कतिपय विद्वान् इस सूर्यमन्दिरकी पूर्णतामें संदेह करते हैं, किंतु इसके विपरीत कुछ विद्वान् इसे १३वीं शताब्दी ई० पू० का पूर्ण वैभवशाली अलङ्कृत उत्कृष्ट मन्दिर मानते हैं। इस मन्दिरमें नाट्य एवं मुख्य मन्दिरके मध्य बीस फुटका अन्तराल है। इस अन्तरालके बीचोंबीच एक कीर्ति-स्तम्भ है। इस स्तम्भके शीर्षपर पहले एक अर्जुनप्रतिमा थी, जो अब जगन्नाथपुरीके मन्दिरमें है।

सूर्यमन्दिरकी निर्माणविधि—कोणार्कके इस सूर्यमन्दिरके परीक्षणसे ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम इसके गर्भगृहका निर्माण हुआ होगा। तदनन्तर कलाकारोंने देवलके सम्मुख दूसरा प्रकोष्ठ जोड़ा, जिसे सभामण्डप या जगमोहन कहते हैं। यहींपर उपासक लोग एकत्र होकर पूजा करते थे। मूल योजनामें गर्भगृह तथा अन्तराल (जगमोहन) के आभ्यन्तरका हिस्सा वर्गाकार है, परंतु बाहरी दीवारमें कई पुश्तानुमा प्रक्षेपण प्रत्येक ओर निकला दिखायी पड़ता है। समस्त दीवारोंके मध्य-भागमें प्रक्षेपण है, उस स्थितिमें प्रत्येक दीवार तीन भागोंमें विभक्त हो जाती है, जिसे 'रथ' कहते हैं। तीन रथोंके कारण यह 'त्रिरथ' के नामसे सम्बोधित किया गया। इसी प्रकार दीवारोंपर प्रक्षेपणकी संख्याके आधारपर 'पञ्चरथ', 'सप्तरथ' एवं 'नवरथ' योजनाके नामसे विख्यात है। प्रत्येक रथको कई फलिकाओंमें विभक्त किया गया है। उड़ीसाके स्थानीय कलाकारोंने इन प्रक्षेपणोंके कारण विविध नामोंसे मन्दिरके भागोंका पृथक्-पृथक् नामकरण किया, जिससे एक नवीन शैली चल पड़ी। ऐसा उप-विभाग कालान्तरमें प्रायः प्रत्येक मन्दिरमें देखनेको मिलने लगा।

शोकादि कबतक रहते हैं ?

श्रीब्रह्माजी भगवान्से कहते हैं—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥

(श्रीमद्भा० ३ । ९ । ६)

'हे प्रभो ! तभीतक धन, घर और मित्रोंके कारण होनेवाले भय, शोक, कामना, तिरस्कार और लोभ रहते हैं, तभीतक समस्त दुःखोंका मूल 'यह मेरा है,' इस प्रकार झूठी धारणा भी रहती है, जबतक जीव तुम्हारे भयरहित चरणकमलोंकी शरण नहीं ग्रहण करता।'

लोकदेवता—

विकलाङ्गोंके लोकदेवता डिग्गीके कल्याणजी

ज़यपुरसे लगभग ७५ कि० मी० दूर, 'डिग्गी' राजस्थानका सर्वाधिक चर्चित और लोकप्रिय तीर्थ है, जहाँपर विकलाङ्गोंके लोकदेवता 'कल्याणजी'के दर्शनार्थ अनेक लोग नित्य जाया करते हैं। यहाँ श्रावण, वैशाखकी पूर्णिमा और भाद्रपदकी एकादशीको विशेष मेले लगते हैं।

स्थानीय लोक-विश्वास है कि 'कल्याणजी' के अनुग्रहसे कुष्ठ आदि भयंकर रोग दूर हो जाते हैं और वह व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ तथा सर्वाङ्गसुन्दर हो जाता है। यहाँ कल्याणजीके मन्दिरमें हजारोंकी संख्यामें कुष्ठग्रस्त, अंधे, लूले तथा लँगड़े आदि विकलाङ्ग लोग जाकर मनौती मानते हैं और बहुतोंका कल्याण भी होते देखा गया है। इन विकलाङ्गोंके देवताकी महिमाका गान एक लोकगीतमें किया गया है, जिसे यहाँ आनेवाले दर्शनार्थी प्रायः सामूहिक रूपसे गाते दिखायी देते हैं—

अंधा ने आख्या दीज्यो, म्हारा डिगी पुरी का राजा।
निर्धन ने माया दीज्यो, म्हारा डिगी पुरी का राजा॥
कोढ़ी ने काया दीज्यो, म्हारा डिगी पुरी का राजा।
लँगड़ा ने पैर दीज्यो, म्हारा डिगी पुरी का राजा॥
बाँझ ने बेटा दीज्यो, म्हारा डिगी पुरी का राजा।
बाजै छै नोबत राजा, म्हारा डिगी पुरी का राजा॥

—आचार्य पं० कुलवंतराय दत्ता

कुमाऊँके लोकदेवता और लोकोपासना

उत्तर-प्रदेशका सुदूरवर्ती उत्तरी पर्वतीय-क्षेत्र कुमाऊँ नामसे प्रसिद्ध है। यह क्षेत्र हिमालयकी पर्वत-शृङ्खलाओंके मध्य स्थित है। यहाँके जनमानसमें ईश्वरके प्रति असीम श्रद्धा-विश्वास व्याप्त है। पञ्चदेवोपासनाके साथ-साथ श्रीराम, कृष्ण और हनुमान् आदि सभी देवताओंकी उपासना यहाँ होती है, तथापि शिव, दुर्गा एवं विष्णुकी मुख्यरूपसे पूजा-अर्चा होती है। किंतु छोटे-बड़े मन्दिर प्रायः सभी देवी-देवताओंके हैं। पर्वतकी चोटियोंपर श्रीदुर्गा अथवा चण्डिकाके तथा घाटियोंमें या छोटी-छोटी नदियोंके संगमोंपर शिवालय प्रधानरूपसे देखे जाते हैं। साथ ही प्रत्येक ग्रामके समीप या सुदूरवर्ती वनस्थलीके मध्य ऐसे भी थान (स्थान) हैं, जहाँ इस क्षेत्रके ग्राम-देवताओं या इष्ट देवताओंके प्रतीक विग्रह स्थापित हैं। अपनी अभीष्ट कामनाओंकी पूर्तिके लिये इन लोक-देवताओंकी विशेष ढंगसे पूजा-अर्चा भी यहाँके स्थानीय लोग करते हैं। मुख्य इष्टलोकदेवी-देवताओंमें भैरव, चण्डी, कालिका, वाराही, नन्दादेवी, नैनादेवी, जयन्ती, गुस्यानी देवी, सिद्धनाथ, गंगनाथ, ग्वाल्ल या गोरिया, भनरिया, सैम, ऐड़ी, पिङ्गलीनाग, व्यानधुरा तथा कालछिन् आदि हैं। इन देवी-देवताओंके छोटे-छोटे मन्दिर बने हुए हैं अथवा कहीं-कहीं एक पेड़के नीचे त्रिशूल गाड़ दिये जाते हैं, दीप जलानेके लिये एक लोहेका दीपक रहता है, पेड़पर लाल, सफेद रंगके कपड़ोंके चीर बँधे रहते हैं तथा अनेक छोटी-छोटी घण्टियाँ लटकी रहती हैं। इन देवताओंकी प्रसन्नताके लिये लोग रुद्राष्टाध्यायी, दुर्गासप्तशतीका पाठ अथवा सत्यनारायणकी कथा करते-करवाते हैं। विशेष तिथि-महोत्सवोंपर मेला भी आयोजित होता है। बड़ी धूम-धामसे लोक-देवताओंके प्रतीकोंकी शोभायात्रा भी निकलती है।

लोक-विश्वासमें इन देवताओंको प्रसन्न करनेकी एक विशिष्ट परम्पराका प्रचलन है, तदनुसार ऐसी भी स्थानीय मान्यता है कि इन देवी-देवताओंका एक विशिष्ट व्यक्तिमें अवतरण अथवा प्राकट्य होता है। अग्निकी उद्दीप्त ज्वालाओंके साक्ष्यमें तत्तद् देवताओंके चरित्रकी महिमाके ओजस्वी गीत ढोल, नगाड़ों और हुड़के (डमरू-जैसा एक वाद्य) की गम्भीर ध्वनिके साथ गाये जाते हैं, जिसे सुनकर उस विशिष्ट व्यक्तिमें उस देवताकी स्फुरणा होती है और उसका सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो कम्पन करने लगता है। वह अनेक असामान्य क्रियाएँ प्रदर्शित करता है और स्फुट शब्दोंमें लोगोंको उनके भूत-भविष्यके सम्बन्धमें बताता है। उसकी

चमत्कारी क्रियाओं तथा अद्भुत चेष्टाओंसे अभिभूत हो लोकमानसका उसके प्रति दैवीशक्तिसम्पन्नताका भाव जुड़ा हुआ है। वह उसकी प्रसन्नताके लिये संकल्पित होता है तथा उससे न्याय, रक्षा एवं कामनापूर्तिके लिये प्रार्थना करता है। यह सारी क्रियाएँ कुछ स्वल्प क्षणोंमें ही पूर्ण हो जाती हैं। अन्तमें पुनः उस देवताको कैलासके लिये प्रस्थित कराया जाता है और तब वह अग्निकी प्रदक्षिणा कर कुछ क्षणों बाद पूर्ववत् साधारण मानबकी स्थितिमें हो जाता है। उससे पूछनेपर वह तात्कालिक देवत्व-स्फुरणकी कुछ भी स्मृति न होनेके अनुभवको बताता है।

देव-जागरणकी इस प्रक्रियाको स्थानीय भाषामें 'जागर', 'खेला' तथा 'घणेली' आदि नामोंसे जाना जाता है। यह लोक-देवोपासना यहाँके नित्य उपासनाका अङ्ग नहीं है, अपितु किसी विशेष समयमें अथवा किसी विशिष्ट कामना तथा निमित्तके लिये ही प्रायः लोग इस परम्परासे जुड़े हुए हैं। नवीन फसल तथा अन्नका उपयोग इन देवताओंके थानों या स्थानोंमें अर्पण करनेके अनन्तर ही किया जाता है। इसी प्रकार यदि गाय बच्चा देती है तो उसका दूध १० या २२ दिनोंके बाद शुद्ध मानकर मन्दिरमें चढ़ाकर ही प्रयोगमें लाया जाता है। विवाह आदि घरमें कोई भी शुभ कार्य पड़नेपर उसके आदि तथा अन्तमें इन देवताओंको चढ़ावा चढ़ाया जाता है तथा उनके दर्शन किये जाते हैं।

ये थान अथवा मन्दिर रास्तेसे कुछ दूर पर्वतकी चोटियोंपर या पेड़ोंके झुरमुटोंके मध्य स्थित होते हैं। इन मन्दिरों अथवा पेड़ोंमें बँधे लाल, सफेद चीर (कपड़ेके टुकड़े) अथवा ध्वज दूरसे ही दिखायी देते हैं। मार्ग चलता पथिक यदि थानतक पहुँच भी नहीं पाता है तो मीलों दूरसे ही उनके थानका दर्शन कर हाथ जोड़ लेता है और फूल आदि उपचारोंके स्थानपर आस-पासकी झाड़ियोंके दो-चार पत्ते तोड़कर उस दिशाकी ओर चढ़ाकर अपनी श्रद्धा एवं भावना प्रकट करता है। बस इतनेसे ही उसका विश्वास पूर्ण उपासनाका रूप लेकर उसके लिये फलदायक हो जाता है। वास्तवमें देवता तो भाव एवं भक्तिके ही वशीभूत होते हैं। भक्तकी जैसी भावना होती है, श्रद्धा-विश्वासपूर्वक वह वैसी ही फलवती भी हो जाती है। इसी आधारपर कुमाऊँमें अन्य देवी-देवताओंके साथ ही इन विशिष्ट स्थानीय लोक-देवताओंके प्रति भी श्रद्धाका भाव है। लोगोंको ऐसा विश्वास है कि इनके प्रसन्न हो जानेपर हमारी आकाङ्क्षाएँ पूर्ण हो सकती हैं। इस लोकोपासनाकी सुदीर्घ परम्परा मान्य एवं प्रचलित है। यहाँपर एक-दो देवताओंका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

(१) गोरिया या ग्वाल्ल देवता

कुमाऊँके लोक-विश्वासमें एक न्यायकारी देवताके रूपमें ग्वाल्ल देवताकी सर्वाधिक मान्यता है। यहाँ जगह-जगह इनके अनेक मन्दिर या थान बने हुए हैं तथापि ये स्थान अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। (१) ग्वेल चौड़ (चम्पावतके पास), (२) चितई (जिला अल्मोड़ा), (३) घोड़ाखाल (जिला नैनीताल), (४) कुमौड़ (पिथौरागढ़के पास), (५) रानीखेतके समीप उदयपुर, चित्रशिला (रानीबाग), (६) चौड़सिलंग, (७) ऊँचाकोट (नैनीताल), (८) कत्यूर, (९) ग्वेलडाना मल्ला ककलासों और (१०) कुमचौड़ (काली कुमाऊँ)।

स्थानीय इतिहासके अनुसार ग्वाल्लदेवताका सम्बन्ध कुमाऊँके प्रसिद्ध शासक कत्यूरीवंशसे जुड़ा हुआ है। इन्होंने राज्यमें व्याप्त सम्पूर्ण अत्याचार एवं अनीतियोंको समाप्त कर सुख-शान्तिका साम्राज्य फैला दिया। कुमाऊँके इतिहासमें यह समय १४वीं शदीका उत्तरार्धका माना जाता है। ये युद्धविद्यामें निपुण, भगवद्भक्त तथा तपस्वी भी थे और इन्होंने नाथपंथमें दीक्षित होकर नाथगुरुके रूपमें प्रतिष्ठा पायी। धीरे-धीरे अपनी न्याय, दयालुता, पराक्रम, तेजस्विताके कारण ये सिद्धयोगीके रूपमें माने जाने लगे। लोग इन्हें शंकरका अवतार मानकर इनकी पूजा-उपासनामें रत हो गये तथा एक न्यायकारी देवताके रूपमें इनकी सर्वत्र प्रसिद्धि हो गयी। आज भी विशेष अवसरों तथा नवरात्रों आदिमें स्थानीय परम्पराके अनुसार इनकी विशेष अर्चा-पूजा होती है[1]।

---

[1] इस सम्बन्धमें हमें डॉ० मदनचन्द्र भट्ट, श्रीहरीशचन्द्र भट्ट तथा श्रीलोकमणिजीके लेख प्राप्त हुए हैं। स्थानाभावसे उन लेखोंको पूर्णरूपमें न दिया जा सका, उनका कुछ सार-भाग लेकर यह अंश तैयार किया गया है।

(२) व्यानधुरा

(श्रीगौरीदत्तजी गहतोड़ी)

कुमाऊँके प्रसिद्ध शक्तिपीठ पूर्णागिरि-क्षेत्रके पश्चिम लगभग तीस किलोमीटर दूर शाल, शीशम आदि वृक्षोंकी सघन वनस्थलीके मध्य पर्वतके एक शिखरपर 'व्यानधुरा' देवताका प्रसिद्ध जाग्रत् स्थान है। इस देवताका प्राचीन नाम बाणधुरा या व्यानधद्या बताया जाता है। स्थानीय मान्यतामें व्यानधुराको धनुर्धारी भगवान् शिवका ही एक विशिष्ट स्वरूप माना जाता है। यहाँके स्थानीय जनोंके ये सर्वाधिक मान्य, पूज्य एवं अभीष्ट देवता हैं। इनकी प्रसन्नताके लिये रुद्राष्टाध्यायीके पाठकी विशेष महिमा है। इस स्थानमें एक आयताकार लिङ्ग है। कहा जाता है कि इसी लिङ्गका एक अंश यहाँसे ८० किलोमीटर दूर (ग्राम-गहतोड़ा) एक चोटीपर स्थापित है, जिसकी पूजा फटकशिलाके नामसे होती है।

व्यानधुराके मन्दिरमें धनुष और बाण चढ़ानेकी सुदीर्घ परम्परा है। धनुष, बाण तथा प्रत्यञ्चा लोहेके ही बनते हैं। यहाँ मन्दिरमें हजारोंकी संख्यामें धनुष-बाण हैं। लोग अपनी मनःकामना पूर्ण होनेके लिये यहाँ धनुष-बाण चढ़ाते हैं। स्थानीय परम्परामें इस देवस्थानकी अत्यन्त मान्यता है। स्त्रियाँ पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे यहाँ अखण्ड दीप जलाती हैं और भगवान्का ध्यानकर रात्रि-जागरण करती हैं। यहाँ प्रतिवर्ष उत्तरायणी, नवरात्रियों तथा विजयादशमी आदि अवसरोंपर विशेष पूजा-महोत्सव होता है। यहाँकी यात्रा दुर्गम है, किंतु भक्तजन व्यानधुरादेवका ध्यान करते हुए सहज ही यहाँ पहुँचकर उनके दर्शनोंसे अपनेको कृतार्थ मानते हैं।

यह प्रसिद्धि है कि ऐड़ी नामक एक राजा शिवके परम भक्त थे। शत्रुओंसे युद्धके समय 'व्यानधुरा' नामक पर्वतकी चोटीकी ओरसे राजाको यह दिव्य वाणी सुनायी दी कि 'राजन्! तुम्हारी विजय होगी।' और राजाकी विजय हुई। राजाने यह चमत्कार देखकर शिवकी दीर्घ तपस्या की और बादमें वे ऐड़ी नामसे शिवरूपमें ही कुमाऊँमें पूजे जाने लगे। आज भी इनके अनेक स्थान बने हुए हैं।

ग्राम्य (ग्राम) देवता चक्रेश्वरी एवं उनकी लोक-शक्तियाँ

(डॉ० श्रीनरेशजी झा)

वैदिक एवं पौराणिक आख्यानोंसे यह स्पष्ट है कि सभी प्रकारकी उन्नतिके लिये शक्तिका संचय आवश्यक है और शक्तिकी प्राप्ति अपने इष्ट देवी-देवताओंकी आराधनासे ही सम्भव है। इतना ही नहीं, उग्र तपस्यामें भी देवोपासनाका मूल तत्त्व अन्तर्निहित है। वेदादि शास्त्रोंमें देवी-देवताओंके विविध रूप वर्णित हैं, जैसे—इष्टदेवता, कुलदेवता, ग्रामदेवता, स्थानदेवता, तीर्थदेवता आदि।

मिथिला प्राचीन कालसे ही शक्तिकी आराधना-स्थली रही है। यहाँके अधिकांश लोग प्रायः शाक्त हैं। वे पञ्चदेवोपासक भी हैं। यहाँके गाँवोंमें ग्रामदेवताके रूपमें इन्हीं देवी-देवताओंको विशेष स्थान प्राप्त है।

यहाँ गौतमकुण्डके निकट सीतामढ़ी मण्डलमें चकौती ग्राममें 'भगवती चक्रेश्वरी' का एक सिद्ध पीठ है। भगवती चक्रेश्वरी देवीके नामका उल्लेख श्रीशिव-परशुराम-संवादात्मक 'कालिकाकुलसर्वस्व' में कालीसहस्रनामके अन्तर्गत मिलता है। वहाँ महाचक्रेश्वरी, नवचक्रेश्वरी, राजचक्रेश्वरी आदि नाम मिलते हैं।

प्राचीन त्रिपुरारहस्यके अनुसार काली (महात्रिपुरसुन्दरी) के भेदोंमें ही 'चक्रेश्वरी' आती हैं, वहाँ महाशक्तिके प्रधान भेद इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—१-कुमारी, २-त्रिरूपा, ३-गौरी, ४-रमा, ५-भारती, ६-काली, ७-चण्डिका, ८-दुर्गा, ९-भगवती कात्यायनी और १०-ललिता। महाशक्तिकी ही अपर संज्ञा महात्रिपुरसुन्दरी है। यथा—

एवमादौ विसृष्टा सा महात्रिपुरसुन्दरी।
नवशक्तीरसृजत शक्त्यौघस्य विसर्जने॥
अपरं च—
आद्या कामेश्वरी नित्या द्वितीया भगमालिनी।
विन्दुचक्रेश्वरी या सा महात्रिपुरसुन्दरी॥
विनियुक्ता मूलदेव्या शक्तीनामभिधाकृतौ।
या तस्यै सर्वचक्राणामीश्वरीत्वं ददौ परा॥

इस प्रकार 'चक्रेश्वरी' नामकी चर्चा अनेक स्थलोंपर प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, त्रिपुरोपनिषद्में इससे सामञ्जस्य

रखनेवाली अनेक ईश्वरीयुक्ता देवियोंकी चर्चा है। यथा—लक्ष्मीश्वरी, रत्नेश्वरी, सुधापीठेश्वरी, पारिजातेश्वरी, पञ्चबाणेश्वरी, कोशेश्वरी आदि।

चक्रेश्वरी भगवतीका तान्त्रिकी चक्र-पूजासे सम्बन्ध रहनेके कारण इनका अभिधान भी सार्थक है। इनकी पूजा पञ्चभगिनीसहित होती है। तन्त्रसाहित्यमें चक्रेश्वरी देवीकी व्यापकता पूर्णरूपमें है। शाक्तप्रमोदमें कालीतन्त्र-सहस्रनाम-प्रकरणमें एक रोचक विवरण आया है, जिससे सिद्ध होता है कि श्रीचक्रयुता यन्त्रमयी ही चक्रेश्वरी हैं।

आख्यान इस प्रकार है—एक समय अपनी प्राणप्रियासे वियुक्त होकर भगवान् सदाशिव उनके दर्शनार्थ तपस्या कर रहे थे। कालीजीको चिन्ता हो गयी कि 'भगवान् सदाशिव मेरे लिये चिन्तित हैं।' काली यन्त्र-प्रस्तारकी बुद्धि देती हैं, उस चक्रके दर्शनार्थ अनेक युग बीत जाते हैं, तभी महाश्रीचक्र-देवीकी महिमा गायी जाती है। उनके महत्त्वका वर्णन मूलरूपसे यों है—

दर्शनार्थं तपस्तेपे सा वै कुत्र गता प्रिया।
मम प्राणप्रिया देवी हा हा प्राणप्रिये शिवे॥
किं करोमि क्व गच्छामि इत्येवं भ्रमसंकुलः।
तस्याः काल्या दया जाता मम चिन्तापरः शिवः॥
यन्त्रप्रस्तारबुद्धिस्तु काल्या दत्तातिसत्वरम्॥
यन्त्रयागं तदारभ्य पूर्वं विन्दुत्वगोचरम्॥
श्रीचक्रयन्त्रप्रस्ताररचनाभ्यासतत्परः।
इतस्ततो भ्राम्यमाणस्त्रैलोक्यं चक्रमध्यकम्॥
चक्रपारदर्शनार्थं कोट्यर्बुदयुगं गतम्।
भक्तप्राणप्रिया देवी महाश्रीचक्रनायिका॥

(शाक्तप्रमोद)

मातङ्गी-तन्त्रके अन्तर्गत सहस्रनाममें भी चक्रेश्वरीकी शब्दान्तरसे चर्चा आयी है। यथा—'**चक्रवर्तिवधूश्चित्रा चक्राङ्गी चक्रमोदिनी।**' इसी प्रकार बगलामुखी-तन्त्रमें भी सहस्रनामके अन्तर्गत—'**षट्चक्रभेदनकरी षट्चक्रस्थस्वरूपिणी**' आया है। त्रिपुरभैरवी-तन्त्रमें देवीके सहस्रनाममें '**षट्चक्रक्रमवासिनी**', '**चक्रदेहा**', '**चक्रहारा**', '**चक्रकंकालवासिनी**' आदि नाम आये हैं। ये नाम चक्रेश्वरीके ही द्योतक हैं।

चक्रेश्वरी भगवतीका आविर्भाव

मिथिलाके ग्रामदेवताके रूपमें स्वयं अवतीर्णा अङ्कुरिता भगवती चक्रेश्वरी अपनी विलक्षणताके लिये जन-जनमें प्रसिद्ध हैं। इनके विषयमें एक आख्यान यहाँ अत्यन्त प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि देवी-इच्छासे नवाङ्कुरित रक्ताभप्रस्तरके गोलाकार टुकड़े अथवा चिपटे छोटे-छोटे दानोंके रूपमें प्रसूत होते रहते थे। उनकी संख्या इतनी हो गयी थी कि वहाँ हजारों प्रस्तराकार विग्रह एकत्रित हो गये थे। ऐसी प्रभावकारी विलक्षण स्थितिसे ग्रामीण सर्वथा सुपरिचित हैं। भगवती चक्रेश्वरी सर्वदा चाहे वह महामारीका अवसर हो, अनावृष्टि हो, अतिवृष्टि हो या अन्य आपदाएँ आयी हों, भक्ति-भावनासे प्रार्थना करनेपर रक्षा करती हैं। मिथिलाके ग्रामीणजन श्रद्धा-भक्तिपुरस्सर इनकी यथाशक्ति पूजा करते हैं। प्रतिवर्ष आषाढ़ पूर्णिमाको या आगे-पीछे इनकी वार्षिकी पूजा होती है, जिसमें विशिष्ट पूजाके साथ कुमारी-वटुक-ब्राह्मण-भोजन विधि-विधानसे सम्पन्न होता है।

* * *

श्राद्ध-महिमा

वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः। प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेषु तर्पिताः॥
आत्मानं गुर्विणी गर्भमपि प्रीणाति वै यथा। दोहदेन तथा देवाः श्राद्धैः स्वांश्च पितॄन् नृणाम्॥

(गरुडपुराण)

'वसु, रुद्र, आदित्यगण, पितर और श्राद्ध-देवता—ये मनुष्योंसे संतुष्ट होकर पितरोंकी तृप्ति करते हैं। जिस प्रकार गर्भवती स्त्रियाँ दोहद (गर्भ) की रक्षाद्वारा अपनी रक्षा करती हैं, उसी प्रकार देवगण श्राद्धद्वारा अपनी तथा मनुष्योंकी रक्षा करते हैं।'

* * *

आध्यात्मिक उन्नति और मनुष्य-जीवनको सफल बनानेवाले गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित सत्साहित्यका घर-घर प्रचार-प्रसार करें, करावें।

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

सम्पूर्ण सटीक महाभारतका पुनर्मुद्रण

भारतीय ऐतिहासिक वाङ्मयका अमूल्य ग्रन्थ-रत्न महाभारत, जिसकी बहुत दिनोंसे अत्यधिक माँग थी, वह अब सम्पूर्ण सटीक छः खण्डोंमें प्राप्य हो गया है। इसे शास्त्रोंमें 'पञ्चम वेद' और विद्वत्समाजमें भारतीय ज्ञानका 'विश्वकोश' कहा जाता है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके महान् उपदेशोंके अतिरिक्त प्राचीन घटनाओंका सच्चा उल्लेख तो है ही, साथ ही ज्ञान, वैराग्य, भक्तियोग, नीति, सदाचार, अध्यात्म आदि विषयोंका विशद एवं सारगर्भित विवेचन भी है। इच्छुक सज्जनोंको मँगानेमें शीघ्रता करनी चाहिये।

महाभारत	प्रथम खण्ड	हिन्दी टीका-सहित	सचित्र	सजिल्द	मूल्य	४०.००	डाकखर्च अलगसे
,,	द्वितीय खण्ड	,,	,,	,,	,,	५५.००	,,
,,	तृतीय खण्ड	,,	,,	,,	,,	५५.००	,,
,,	चतुर्थ खण्ड	,,	,,	,,	,,	६५.००	,,
,,	पञ्चम खण्ड	,,	,,	,,	,,	५०.००	,,
,,	षष्ठ खण्ड	,,	,,	,,	,,	५५.००	,,

संक्षिप्त महाभारत—सजिल्द दो खण्डोंमें उपलब्ध है। कुल पृष्ठ-सं० १६९१, रंगीन चित्र २, रेखा-चित्र ९७८, मूल्य ७०.०० (सत्तर रुपये) मात्र, डाकखर्च अलगसे।

(इसमें सम्पूर्ण ग्रन्थका सरल हिन्दीमें संक्षिप्त अनुवाद है।)

१- श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्व-विवेचनी—हिन्दी टीका—टीकाकार—परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका, (राजसंस्करण) मूल्य ३०.०० (तीस रुपये) मात्र, डाकखर्च अलगसे।

श्रीगोयन्दकाजीद्वारा प्रणीत यह 'तत्त्व-विवेचनी'-टीका' अन्यतम है। इसमें टीकाकारने गीताकी विस्तृत व्याख्यासहित अनेक गूढ़ तात्त्विक रहस्योंको सरल, सुबोध भाषामें उद्घाटित किया है। इस प्रामाणिक एवं उपयोगी और लोकप्रिय ग्रन्थके अबतक अनेकों संस्करण बहुसंख्यक—लाखों प्रतियोंके रूपमें निकल चुके हैं। मुद्रणकी आधुनिक प्राविधिद्वारा २२''×२९''के आकारमें मुद्रित, ऑफसेटकी स्वच्छ, सुन्दर छपाईसे युक्त तथा सुन्दर भावपूर्ण बहुरंगे चित्रोंसे सुसज्जित यह विशेष संस्करण पाठकोंका ध्यान आकर्षित करते हुए गीताके पठन-पाठनकी ओर उन्हें अधिकाधिक प्रवृत्त करेगा, ऐसी आशा है। विश्वास है कि प्रेमी पाठक और जिज्ञासुजन इससे विशेष लाभ उठायेंगे।

२- श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्व-विवेचनी—टीकाकार—परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका, (पठनीय सामग्री दोनोंकी समान है।)

गीताविषयक २५१५ प्रश्न और उनके उत्तरके रूपमें विवेचनात्मक ढंगकी हिन्दी-टीका, सचित्र, सजिल्द, पृष्ठ-सं० २०००, (साधारण संस्करण) मूल्य १५.०० (पंद्रह रुपये) मात्र, डाकखर्च अलगसे।

श्रीमद्भगवद्गीता—साधक-संजीवनी-टीका—बृहदाकार, परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजकृत, सचित्र, सजिल्द, मूल्य ८०.०० (अस्सी रुपये) मात्र, डाकखर्च अलगसे।

परम श्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजने इस अगाध गीतार्णवमें गहरा अवगाहन कर अनेक गुह्यतम अमूल्य रत्न ढूँढ़ निकाले हैं, जिन्हें उन्होंने इस 'साधक-संजीवनी' हिन्दी-टीकाके माध्यमसे साधकोंके कल्याणार्थ उदार-हृदयसे वितरित किया है। गीताकी यह टीका हमें अपनी धारणासे दूसरी टीकाओंकी अपेक्षा बहुत विलक्षण प्रतीत होती है। श्रीस्वामीजीने यह टीका किसी दार्शनिक विचारकी दृष्टिसे अथवा अपनी विद्वत्ताका प्रदर्शन करनेके लिये नहीं लिखी है, अपितु साधकोंका हित कैसे हो—इसी दृष्टिसे लिखी है। परम शान्तिकी प्राप्ति चाहनेवाले प्रत्येक साधकके लिये, चाहे वह किसी भी देश, वेश, भाषा,

मत, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, यह टीका संजीवनी-बूटीके समान है। परमात्म-प्राप्तिके अनेक सरल उपायोंसे युक्त साधकोपयोगी अनेक विशेष और मार्मिक बातोंसे अलङ्कृत तथा बहुत ही सरल एवं सुबोध भाषा-शैलीमें लिखित प्रस्तु ग्रन्थका प्रकाशन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

आकर्षक मजबूत जिल्द, सुनहरे अक्षरोंसे युक्त आवरण-पृष्ठ, स्वच्छ, सुन्दर आकर्षक छपाई तथा अनेक कलात्मक ए भावमय नयनाभिराम बहुरंगे चित्र इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। इच्छुक सज्जनोंको मँगानेमें शीघ्रता करनी चाहिये।

गीता-दर्पण—परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा लिखित सचित्र, सजिल्द, मूल्य २०.० (बीस रुपये) मात्र।

श्रद्धेय श्रीस्वामीजीने गीता-तत्त्व-सागरमें अवगाहन कर अनेक तत्त्व-रत्नोंको खोज निकाला है, जिन्हें विविध प्रकाशनोंके रूपमें जनताको वितरित कर दिया है। उनसे भावुक जनता लाभ उठा रही है। उन्हीं रत्नोंमेंसे यह एक अमूल्य रत्न 'गीता-दर्पण' भी है। यह 'यथा नाम तथा गुण' इस उक्तिके अनुसार सचमुच गीता-तत्त्वको प्रत्यक्ष देखनेके लिये दर्पण-सदृश ही है।

श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य—हिन्दी-अनुवाद-सहित, मूल श्लोक, भाष्य, भाष्यार्थ, टिप्पणी तथा श्लोकोंके पदोंकी अकारादिक्रम-सूचीसहित। अनुवादक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका, सचित्र, सजिल्द, मूल्य १८.०० (अठार रुपये)। श्रीगीताजीका शांकरभाष्य समस्त भाष्य और टीकाओंमें मुकुटमणि माना जाता है, वेदान्तके पथिकोंके लिये तो य परमोत्कृष्ट पथप्रदर्शक है। उसीका विद्वान् लेखक महोदयने सरल हिन्दी अनुवाद किया है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर २७३००

* * *

'कल्याण' नामक हिन्दी मासिक पत्रके सम्बन्धमें विवरण

१-प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर,
२-प्रकाशनकी आवृत्ति—मासिक,
३-मुद्रक एवं प्रकाशकका नाम—
रामदास जालान,
(गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये)
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय,
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर,
४-सम्पादकका नाम—राधेश्याम खेमका,
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय,
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर,

५-उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस पत्रिकाके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं।

श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय, पता-नं० १५१, महात्मा गाँध रोड, कलकत्ता, (स १८६०के विधान २१के अनुसार) रजिस्टर्ड-धार्मि संस्था।

मैं रामदास जालान गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेर जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

रामदास जालान
(गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये)
प्रकाशक

सौर वैशाख, वि० सं० २०४७

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण
वर्ष ५८
संख्या २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूंची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, वि० सं० २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, जून १९९०

विषय — पृष्ठ-संख्या

१-श्रीबदरीश-महिमा ४४९
२-कल्याण (शिव) ४५०
३-देवशिल्पी प्रजापति विश्वकर्मा (त्वष्टा) ४५१
४-असुरशिल्पी 'मय' ... ४५४
५-भगवान् वृषाकपि ... ४५६
६-आधिदैविक जगत्के देवता—अष्ट लोकपाल (श्रीशिवनाथजी दुबे, एम्०काम्०, एम्०ए०, साहित्यरत्न, धर्मरत्न) ४५९
७-जलाधिनाथ भगवान् वरुण ४६२
८-श्रीरघुनाथजीके चरण-कञ्ज [कविता] (श्रीविभूतिनाथ जगदीशशरणजी विलगइयाँ 'मधुप' द्विवेदी) ४६४
९-श्रीभैरव एवं उनकी उपासना (पं० श्रीसुरेशचन्द्रजी ठाकुर) ४६५

विषय — पृष्ठ-संख्या

१०-विभिन्न दर्शनोंके अनुसार देवाधिदेव परमात्माका स्वरूप (राष्ट्रपतिसम्मानित डॉ० श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामी) .. ४६६
११-श्रीमद्भगवद्गीतामें देवताओंका स्वरूप (श्रीरामकृष्णजी मिश्र, पी०सी०एस्०) ४६८
१२-श्रीदुर्गासप्तशतीमें देवता-तत्त्व (श्रीचतुर्भुजजी तोषणीवाल) ४७३
१३-चतुष्षष्टि योगिनी ४७६
१४-रामभक्त श्रीहनुमान्जीके दर्शन ४७८
१५-व्रजके ग्राम-देवता (डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, डी०लिट्०) ४८५
१६-सप्तर्षि ४८८

चित्र-सूची

१-वंशीधर भगवान् श्रीकृष्ण (इकरंगा) आवरण-पृ
२-श्रीबद्रीनाथजी (रंगीन) मुख-पृ
३-श्रीहनुमान्गढ़ीके श्रीहनुमान्जी, अयोध्या (इकरंगा) ४७८
४-श्रीसंकटमोचन हनुमान्जी, काशी (") ४७
५-श्रीहनुमान्-धारा (") ४८
६-श्रीबालाजी, सालासर (") ४८
७-चतुष्षष्टि योगिनी-चक्र (रेखा-चित्र) ४७

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें २.०० रु०
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वा
मूल्य
(डाक-व्ययस
भारतमें ४४.०
विदेशमें
अथवा १०

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

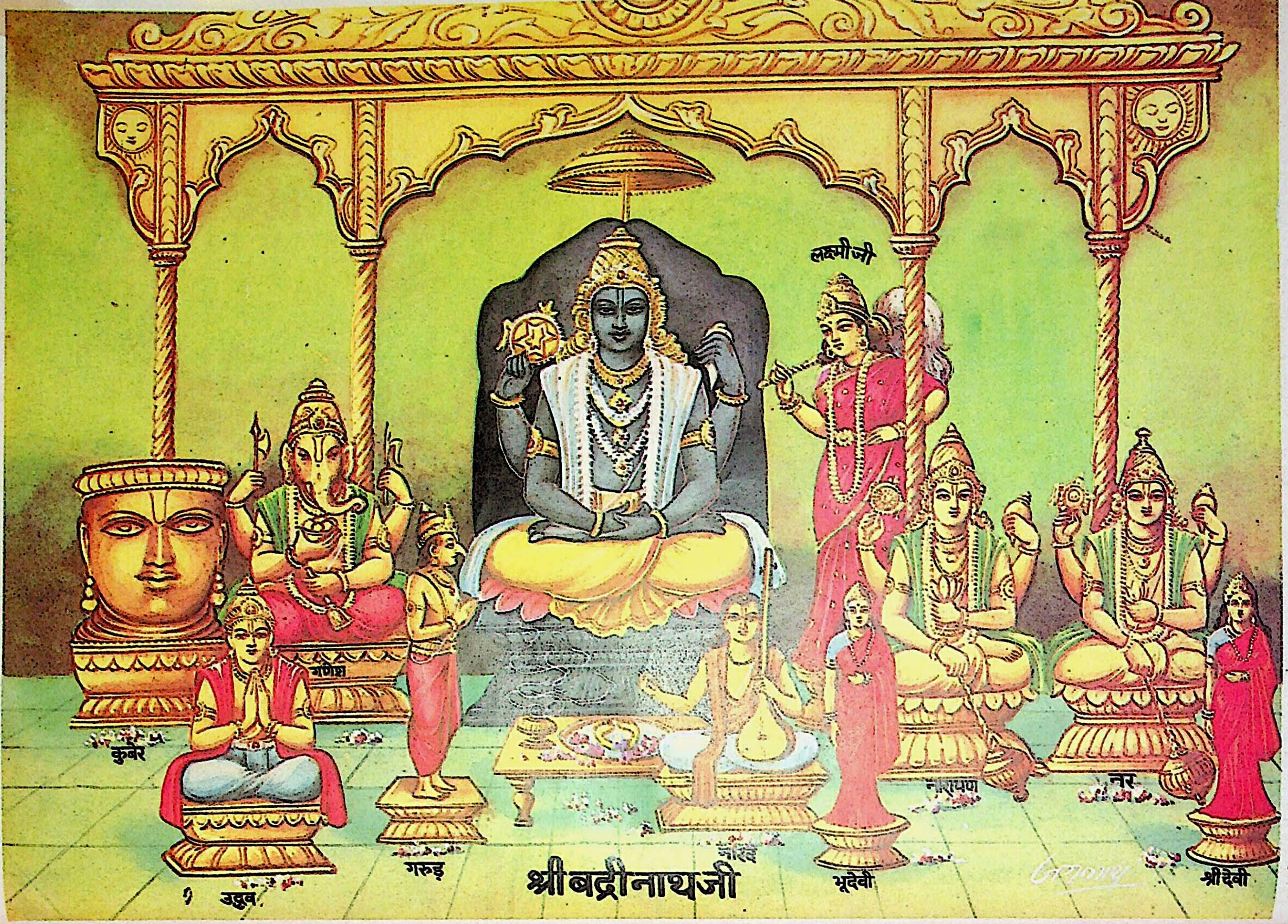
लक्ष्मीजी
गणेश
कुबेर
नारायण
नर
गरुड़
नारद
१
उद्धव
श्री बद्रीनाथजी
भूदेवी
श्रीदेवी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

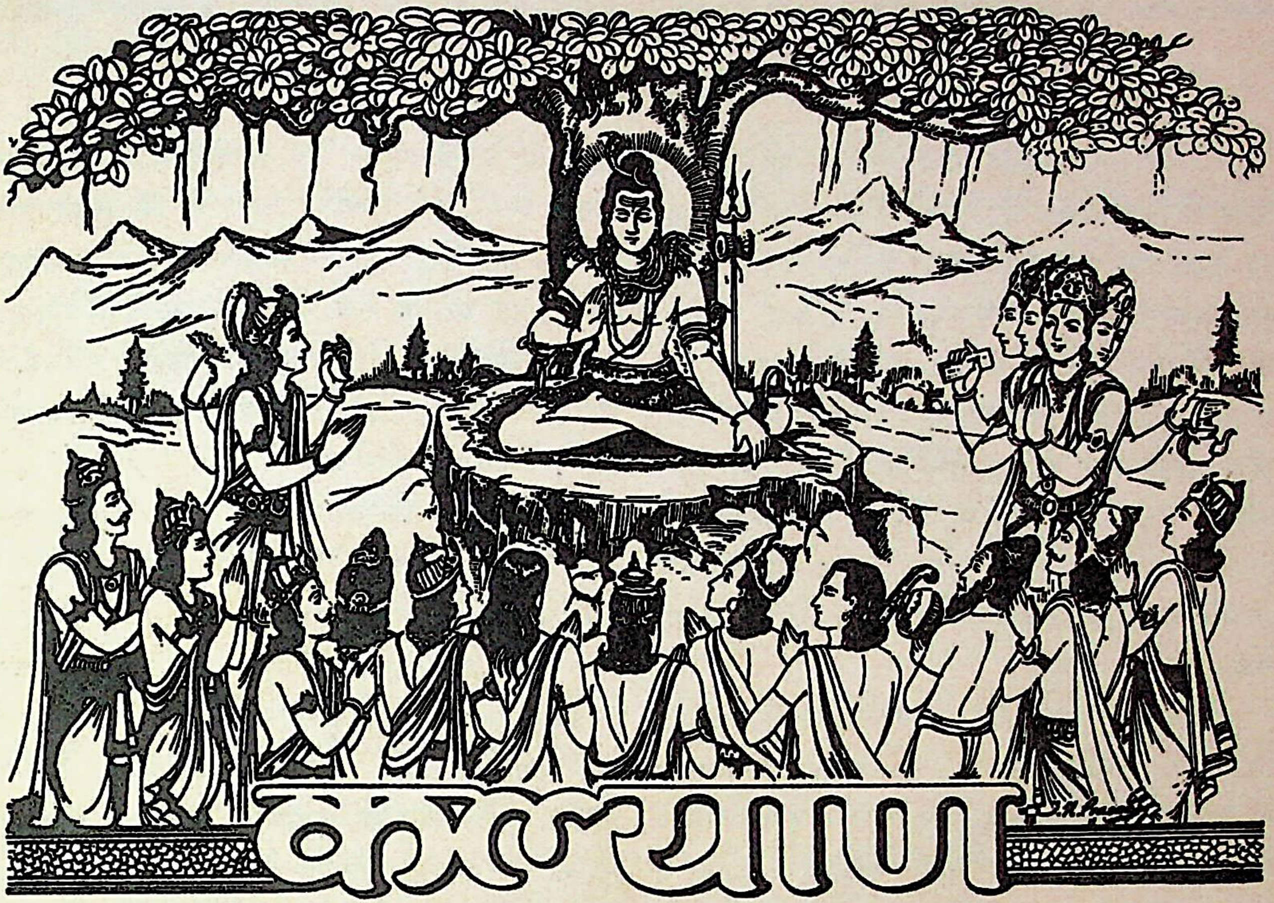

कल्याण

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

वर्ष ६४ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, वि॰ सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, जून १९९० ई॰ { संख्या ३
पूर्ण संख्या ७६०

श्रीबदरीश-महिमा

यस्य दर्शनमात्रेण पातकानि महान्त्यपि । विलीयन्ते क्षणादेव सिंहं दृष्ट्वा मृगा इव ॥
धर्माधर्मान् विजित्याथ बदरीशं विभुं हरिम् । दृष्ट्वा मुक्तिमुपायान्ति विनायासं षडानन ॥
विना ज्ञानेन योगेन तीर्थाटनपरिश्रमैः । एकेन जन्मना जन्तुः कैवल्यं पदमश्नुते ॥

(स्कन्दपु॰, वैष्णवखण्ड, बदरिकाश्रममा॰, अध्याय ५)

(श्रीबदरीश-माहात्म्य बतलाते हुए भगवान् शिवने कहा—) 'षडानन ! जिन बदरी-तीर्थके स्वामी भगवान् श्रीहरिका दर्शन करनेमात्रसे बड़े-बड़े पातक क्षणभरमें उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार सिंहको देखकर मृग आदि पलायित हो जाते हैं; उनके दर्शनमात्रसे मनुष्य धर्म और अधर्मपर विजय प्राप्तकर अनायास ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं तथा ज्ञान और योग-साधनके बिना ही उनका दर्शन करनेमात्रसे केवल एक जन्ममें ही प्राणी मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

कल्याण

याद रखो—सभी जीव नित्य, अखण्ड, पूर्ण, अनन्त, असीम, अपरिवर्तनशील और अविनाशी सुख चाहते हैं। यह सुख केवल एक भगवत्स्वरूपमें ही है। भगवान् ही नित्य, सत्य, सनातन, सम, अनन्त, एकरस, अखण्ड, असीम, अविनाशी परम तत्त्व हैं। अतएव पूर्ण सुखस्वरूप या पूर्ण रसस्वरूप वे अथवा उनका परम दिव्य प्रेम ही परम साध्य है। उसीकी प्राप्तिके लिये उपासना होनी चाहिये। इसलिये सबसे पहले यह निश्चय करना है कि मेरे जीवनका साध्य केवल एक भगवान् या उनका दिव्य प्रेम है और उन भगवान्‌की कृपाके बलपर ही इस साध्यकी प्राप्तिके लिये नित्य उपासना करना मेरा एकमात्र जीवन-साधन है।

याद रखो—भारतीय वैदिक उपासनाके अतिरिक्त समस्त जगत्‌में जितनी भी विभिन्न प्रकारकी उपासनाएँ प्रचलित हैं तथा उनके जितने भी विभिन्न उपास्यदेव हैं, वे सब उपासनाएँ किसी-न-किसी रूपमें एक ही सत्य तत्त्वकी होती हैं और वे सब उपास्यदेव भी एक ही सच्चिदानन्दघन परम तत्त्व हैं, चाहे वे सगुण-साकार हों, निर्गुण-निराकार हों, ब्रह्मरूप हों, ईश्वररूप हों, देवरूप हों, महापुरुषरूप हों अथवा प्रकृति या नियमरूप हों।

याद रखो—जब सभी उपासक एक ही उपास्यतत्त्वकी उपासना करते हैं, तब किसी भी उपासनापद्धतिसे घृणा मत करो। किसीकी निन्दा मत करो। न किसीकी ओर देखकर ललचाओ। अपनी उपासनाके प्रति उपास्यसे भी बढ़कर आदर तथा श्रद्धा रखो। उपासना या साधनाका तिरस्कार करनेवाला, उससे जी चुरानेवाला, उससे ऊबनेवाला, उसको बला टालनेकी भाँति अवहेलनासे सम्पादन करनेवाला, देवोपासनाको विपत्तिनाश या भोगप्राप्तिके लिये बेचनेवाला और उपासनाका अभिमान करनेवाला वस्तुतः उपास्यदेवकी प्राप्ति नहीं कर पाता। अतएव उपासना निरभिमान होकर श्रद्धापूर्वक करो। उपास्यका चुनाव करने और उपासना-पद्धतिको स्वीकार करनेके बाद तो बस, उपासनामय ही बन जाओ। उपास्य कब मिलेंगे, इसकी चिन्ता मत करो, न धैर्य छोड़ो। हाँ, अपनी उपासना ठीक चल रही है या नहीं, इसकी जाँचके लिये इतना अवश्य देखते रहो कि तुम्हारे अंदर उपास्यके प्रति आदर, प्रेम, दैवी सम्पत्तिके गुण और उपासनामें उत्तरोत्तर रुचि बढ़ रही है या नहीं। उपासना-मार्गमें भय तथा प्रलोभन आयेंगे, पर उनके वशमें नहीं होना है। किसी भी भयानक भय या लोभनीय प्रलोभनको देखकर उपासनासे कदापि तनिक भी डिगना नहीं है।

याद रखो—देवताकी उपासनामें बहुत-से विघ्न आया करते हैं। उनसे सावधान रहनेके लिये उनमेंसे कुछके नाम लिखे जाते हैं। इनसे सावधान रहो—

आहारदोष, आलस्य, असूया, अस्वस्थता, अश्रद्धा, अविश्वास, अन्धविश्वास, अकर्मण्यता, अधैर्य, असहिष्णुता, अपवित्रता, अनिश्चय, कुतर्क, कुसङ्ग, घृणा, परनिन्दा, प्रसिद्धि, पुजवानेकी इच्छा, परदोषदर्शन, पर-चर्चा, घृणा, द्वेष, मानकी चाह, निर्दयता, दुराग्रह, चपलता, जल्दबाजी, बाहरी वेषभूषा, आडम्बर, विवाद या शास्त्रार्थ, शरीरके आरामकी चाह, विलासिता, दूसरोंसे सेवा करानेकी वृत्ति, लोकरञ्जनमें रुचि, माता-पिता-गुरुजनोंका तिरस्कार, शास्त्र तथा संतवचनोंमें संदेह, भजनमें अरुचि या लापरवाही, सर्वथा कर्मत्याग या बहुधंधीपन, दूसरोंके उपास्य तथा उपासनाके प्रति लोभ, दूसरोंके उपास्य, उपासना तथा धर्मसे द्वेष, उपासनाका अभिमान, ब्रह्मचर्यका खण्डन, पैसोंकी आसक्ति, किसी भी वस्तु, स्थान या प्राणीमें ममता, किसी भी वस्तु-प्राणी-परिस्थितिमें द्रोह, विपत्तिमें घबराकर और सम्पत्तिमें फूलकर कर्तव्यको भूल जाना, नाम आदिके लिये आश्रमादिकी स्थापना करना, दलबंदी करना और लक्ष्यको भूल जाना—इन विघ्नोंसे सदा बचो।

भारतीय वर्णाश्रमधर्म माननेवालोंके अतिरिक्त अन्यान्य सभी विभिन्न देशोंके, विभिन्न धर्मोंके, विभिन्न सम्प्रदायोंके तथा विभिन्न मतवादोंके लोगोंको अपनी-अपनी रुचि, निष्ठा, श्रद्धा तथा मान्यताके अनुसार देवोपासना करनी चाहिये।

'शिव'

देवता और उनके महनीय चरित्र—

देवशिल्पी प्रजापति विश्वकर्मा (त्वष्टा)

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव।
अपवर्गोऽसि भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः॥

(महा०, शान्ति० ४७।८५)

'हे विश्वकर्मन्! यह सम्पूर्ण विश्व आपकी रचना है, आप समस्त विश्वके आत्मा और उत्पत्तिस्थान हैं तथा पाँचों भूतोंसे अतीत होनेके कारण नित्यमुक्त हैं, आपको मेरा नमस्कार है।'

प्रजापति विश्वकर्मा वैदिक देवता हैं। वेदोंमें इनके महनीय एवं उदात्त चरित्रका वर्णन हुआ है। विश्वकर्मा शब्दकी व्युत्पत्तिमें निरुक्ताचार्योंने बतलाया है कि संसारके सभी कार्योंका करनेवाला एवं विश्वका रचयिता ही विश्वकर्मा नामसे निर्दिष्ट है। आचार्य स्कन्दस्वामीके अनुसार विश्वकर्मा अन्तरिक्ष स्थानीय या मध्य-स्थानीय देवता हैं, जो वायु एवं वृष्टिके संचालक तथा समस्त प्राणियोंकी चेष्टाओंके प्रेरक हैं।

ऋग्वेदके दशम मण्डलके दो सूक्त (८१-८२) विश्वकर्माके सूक्त हैं, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन सूक्तोंके द्रष्टा तथा स्तोतव्य देवता भी विश्वकर्मा ही हैं। इस प्रकारकी स्थिति वैदिक सूक्तोंमें बहुत कम देखनेको मिलती है। ऋग्वेदके भाष्यकर्ता आचार्य सायण तथा वेंकट माधव आदिने इन सूक्तोंके आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक दो-दो अर्थ किये हैं। एक अर्थमें उन्हें सर्वस्रष्टा देवता दिखाया गया है और दूसरे भावमें सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त, सर्वद्रष्टा, सर्वकर्ता, अनेक मुख, बाहु आदिके द्वारा द्यावापृथिवीको उत्पन्न करनेवाला परमात्मा ही बताया गया है। वे ही सम्पूर्ण विश्वके पति, नियामक, पालक, सभी यज्ञोंके भोक्ता एवं स्वामी कहे गये हैं। वे समस्त विद्याओंके स्वामी वाचस्पति तथा कलाओंके आचार्य कहे गये हैं। इनके सभी कर्मोंको अत्यन्त प्रशंसनीय, आश्चर्ययुक्त एवं अलौकिक कहा गया है। इन्हें धाता, विधाताकी संज्ञा दी गयी है। ऋग्वेद (१०।८२।३) में उनकी प्रशंसा एवं महिमाके बारेमें कहा गया है कि विश्वकर्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके उत्पादक, पालक, समस्त देवताओंके निवास-स्थान तथा विश्वके सभी भुवनोंको ठीक-ठीक जाननेवाले एवं उनकी न्यूनता और अधिकताके अनुसार व्यवस्था करनेवाले, सभी देवताओंके नाम, धाम और स्वरूपके निर्माता, एकमात्र सबके स्वामी तथा सभी प्राणियोंके एकमात्र प्राप्तव्य हैं—

यो नः पिता जनिता यो विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव
तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।

इसी सूक्तमें पुनः आगे कहा गया है कि जिसके निर्गुण और सगुण दोनों रूप हैं, जिसमें सारे गुण पर्यवसित होते हैं, जो स्वर्गसे भी ऊपर है, पृथ्वीसे परे है तथा देवता और असुरोंद्वारा दुर्विज्ञेय है, जिसके शरीरमें देवतालोग सभी लोकोंको स्थित देखते हैं और जिसे कोई ठीक प्रकारसे जान नहीं पाता, वह विश्वकर्मा सभी प्रकार स्तुत्य है। वाजसनेयिसंहिता (२९।९) के अनुसार इन्हें समस्त संसार तथा ब्रह्माण्डोंका उत्पादक पिता कहा गया है **'त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान।'**

वेदोंमें जहाँ एक ओर उन्हें परब्रह्म परमात्मा अव्यक्त तत्त्व बताया गया है, वहीं दूसरी ओर उन्हें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी रचना करनेवाले उपास्य तथा आराध्यदेवके रूपमें भी चित्रित किया गया है। कहीं विश्वकर्मा नामसे तथा कहीं त्वष्टा नामसे अभिहित करते हुए उनके दिव्य स्वरूपका चित्रण किया गया है। इनका शरीर दिव्य बताया गया है और इनके हाथमें सदा ही एक लोहेकी तेज धारवाली कुल्हाड़ी (बसूली) विद्यमान रहती है—

'वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमन्तर्देवेषु निध्रुविः[1]।'

(ऋग्वेद ८।२९।३)

इसी अयोमयवाशी अथवा कुल्हाड़ीसे भगवान् विश्वकर्मा शत्रुओंका संहार करते हैं तथा तक्षण आदि क्रिया-कलाओंका समस्त कार्य करते हैं।

ऋग्वेद (६।४७।१९) में भगवान् विश्वकर्माको दो घोड़ोंसे युक्त एक दिव्य रथपर वेगसे चलते हुए दिखाया गया

---

[1] इस ऋचाके सायण-भाष्यमें कहा गया है—'.... एकस्त्वष्टृनामको देवः आयसीम् अयोमयधारां वाशीं वाशृ शब्दे शब्दयत्याक्रन्दयति शत्रूननयेति वाशी तक्षणसाधनं कुठारः तं स्वकीयहस्ते बिभर्ति धारयति।'

है और उनके स्वरूपको सूर्यके समान तेजस्वी बताया गया है। विश्वकर्माके हाथ तथा उनका ऊपरी भाग अर्थात् बाहु भी अत्यन्त तेजस्वी है, इसलिये उनका सुपाणि भी एक नाम है[१]।

ऋग्वेद (१।८५।९) में उन्हें अत्यन्त दक्ष कुशाग्रबुद्धि तथा कुशल शिल्पी कहा गया है, जो क्षणमात्रमें अनेक दिव्य अस्त्र-शस्त्रों तथा आभूषण आदिका निर्माण करनेमें दक्ष हैं। वे चित्रकला, भित्तिकला तथा वास्तुकलामें अत्यन्त निपुण तथा इन कलाओं और विद्याओंके प्रवर्तक आचार्य हैं। वे रूपोंके निर्माता अथवा रूप (आकार-प्रकार) के निष्पादक हैं। उन्होंने ही अशेष प्राणियोंको रूपसम्पन्न बनाया है[२] और वे ही गर्भाशयमें गर्भके विकासक और मानवीय तथा पाशविक सभी रूपोंके विधायक हैं[३]। उन्होंने सभी प्रकारके प्राणियोंका सर्जन किया है और वे ही उन सबका पालन-पोषण करनेवाले हैं—**'देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान'** (ऋ० ३।५५।१९)।

वाल्मीकीय रामायण, महाभारत तथा प्रायः सभी पुराणोंमें विश्वकर्माको अष्टम वसु प्रभासका पुत्र बताया गया है[४], जो प्रासाद, भवन, उद्यान, प्रतिमा, आभूषण, तालाब, उद्यान, कूप आदिके निर्माता हैं तथा देवताओंके शिल्पी और वर्धकि (बढ़ई) के रूपमें प्रसिद्ध हैं। शिल्पविद्यामें प्रासादशिल्प, आभूषण-घट्टनशिल्प, धातु एवं रंगोंके मिश्रण-सम्बन्धी शिल्प, काष्ठशिल्प, उद्यान-रचना-शिल्प, पात्र-शिल्प, शस्त्रनिर्माण-शिल्प, वायुयान-निर्माण-शिल्प, भित्ति-शिल्प आदि सभी शिल्पों, चित्रकलाओं, स्थापत्यकलाओं तथा वास्तुविद्याओंका समावेश होता है। भगवान् विश्वकर्मा ही सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना करनेवाले तथा सभी शिल्पोंके आचार्य हैं, इसीलिये ये प्रजापति कहलाते हैं। मत्स्यपुराण (अ०२५२) में वास्तुविद्याके भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, नारद, भगवान् शङ्कर आदि अठारह आचार्य बताये गये हैं, किंतु उनमेंसे देवताओंके शिल्पीके रूपमें विश्वकर्माकी तथा दानवोंकी शिल्पीके रूपमें मयकी विशेष प्रसिद्धि है। भगवान् विश्वकर्माका 'विश्वकर्मशिल्पम्' नामक ग्रन्थ शिल्पशास्त्रका आर्ष ग्रन्थ माना गया है।

विश्वकर्माका आविर्भाव

प्रायः सभी पुराणेतिहासादि ग्रन्थोंमें विश्वकर्माकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें यह आख्यान प्राप्त होता है कि देवगुरु बृहस्पतिकी बहन अत्यन्त विदुषी एवं योगविद्यामें निपुणा थीं। वे प्रायः तीनों लोकोंमें अनासक्त भावसे विचरण करती हुई विशुद्ध ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत कर रही थीं। कालान्तरमें उन्होंने वसुओंमें अष्टम वसु प्रभाससे विवाह कर लिया। प्रजापति विश्वकर्माकी उन्हींसे उत्पत्ति हुई।

विश्वकर्मा आरम्भसे ही बहुत तीक्ष्ण बुद्धिके थे और शिल्प-कलाके प्रति इनकी विशेष अभिरुचि थी। माता-पिताके ज्ञानके प्रभावसे ये शिल्पविद्यामें अग्रणी हो गये और सभी प्रकारकी कलाओंमें पारङ्गत हो गये। तबसे लेकर देवताओंके सभी अस्त्र, शस्त्र, आभूषण, अलङ्कार, सभी विमानों तथा श्रेष्ठ प्रासादोंके निर्माता हो गये। आचार्य विश्वकर्माद्वारा प्रदत्त शिल्पविद्याका ही आश्रय ग्रहणकर बहुत-से मनुष्य अपना जीवन-निर्वाह करते हैं—

बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मचारिणी।
योगसिद्धा जगत्कृत्स्नमसक्ता विचरत्युत॥
प्रभासस्य तु सा भार्या वसूनामष्टमस्य तु।
विश्वकर्मा महाभागस्तस्यां जज्ञे प्रजापतिः॥
कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वर्धकी।
भूषणानां च सर्वेषां कर्ता शिल्पवतां वरः॥
यः सर्वेषां विमानानि देवतानां चकार ह।
मनुष्याश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः॥

(विष्णु० १।१५।११८—२१)

प्रजापति विश्वकर्माका परिवार

दैत्योंकी बहन रचना नामकी दिव्य कन्याको विश्वकर्माकी

१-प्रथमभाजं यशसं वयोधां सुपाणिं देवं सुगभस्तिमृभ्वम्। (ऋ० ६।४९।९)

२-य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥ (ऋ० १०।११०।९)

३-त्वष्टा रूपाणि हि प्रभुः पशून् विश्वान् त्समानजे। तेषां नः स्फातिमा यज॥ (ऋ० १।१८८।९)

४-विश्वकर्मा प्रभासस्य पुत्रः शिल्पी प्रजापतिः। ....॥
प्रासादभवनोद्यानप्रतिमाभूषणादिषु। तडागारामकूपेषु स्मृतः सोऽमरवर्धकिः॥ (मत्स्यपु० ५।२७-२८)

पत्नी कहा गया है[१], जिससे संनिवेश तथा विश्वरूप नामक दो पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुए। भगवान् विश्वकर्माकी जिन संततियोंका उल्लेख मिलता है, उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध भगवान् सूर्यकी पत्नी संज्ञा हैं, जिन्हें सुरेणु, द्यौ, त्वाष्ट्री एवं प्रभा आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है। विश्वकर्माकी बर्हिष्मती, चित्राङ्गदा तथा कशेरु—ये तीन पुत्रियाँ और थीं। विश्वकर्माके चार पुत्रोंका विशेष उल्लेख प्राप्त होता है—नल, संनिवेश, विश्वरूप (त्रिशिरा) तथा वृत्रासुर। नल श्रीरामका सेनापति था, जिसने अपने शिल्प-नैपुण्यसे समुद्रपर सेतु बाँधकर मार्ग प्रशस्त कर दिया। इनका द्वितीय पुत्र विश्वरूप था, जिसने देवराज इन्द्रको 'नारायण-कवच[२]' (भाग० ६। ८) का उपदेश किया था।

इस प्रकार प्रजापति विश्वकर्माकी रचना आदि स्त्रियोंसे संनिवेश, विश्वरूप (त्रिशिरा), नल वानर एवं वृत्रासुर नामक चार पुत्र तथा संज्ञा (भगवान् सूर्यकी पत्नी), बर्हिष्मती, चित्राङ्गदा और कशेरु—ये चार कन्याएँ थीं।

प्रजापति विश्वकर्माकी अद्वितीय कृति—पुष्पक विमान

देवताओंके विशिष्ट उपकरणोंमें विमानोंका प्रमुख स्थान है और उन दिव्य विमानोंमें भी पुष्पकका स्थान सर्वोपरि है। उसकी रचनाको सौन्दर्य आदिकी दृष्टिसे मापा नहीं जा सकता था, उसका निर्माण अनुपम रीतिसे किया गया था। स्वयं अद्भुत शिल्पी प्रजापति विश्वकर्माने ही उसे बनाया था और बहुत उत्तम कहकर उसकी प्रशंसा की थी[३]।

महर्षि वाल्मीकिने अपने आदिकाव्य श्रीमद्रामायणमें अनेक स्थानोंपर बड़ी भव्य भाषामें पुष्पक विमानका आकर्षक वर्णन किया है, किंतु सुन्दरकाण्डके आरम्भमें जहाँ हनुमान्जी लङ्कामें प्रवेशकर रात्रिमें सीता माताका अनुसंधान प्रारम्भ करते हैं और रावणके गृहमें एक ओर स्थित इस पुष्पक विमानको प्रथम बार देखते हैं, वहाँका वर्णन विशेष विस्तृत और उल्लेखनीय है।

पारिजात आदि दिव्य पुष्पोंके चूर्णोंसे अनेक प्रकारकी कलाकृतियों तथा भव्य दृश्योंसे सुशोभित होनेके कारण ही यह पुष्पक विमान कहलाता है। उसमें पुष्पोंके चूर्णोंसे पुष्पाकृतियाँ बनी थीं, किंतु पूरे पुष्प नहीं थे और इसी प्रकार निर्मित पुष्पाकृतियोंसे बड़े-बड़े वृक्षोंकी भी आकृति बनी थी और अनेक वृक्षोंकी अनूठी चित्रण-कलासे पर्वत, समुद्र और पृथ्वीका दिग्दर्शन होता था, किंतु वास्तवमें वहाँ न वृक्ष थे, न पर्वत थे और न समुद्र। अनेक रत्नोंसे जटित उस पुष्पक विमानका ऊपरी भाग अनेक ताराओं तथा चन्द्रमाओंसे मण्डित आकाशके समान सुशोभित हो रहा था। विमानोंमें कोई भी लौकिक वस्तु नहीं थी, सभी उपकरण दिव्य एवं लोकोत्तर थे। बैठनेका स्थान, शयनागार आदि अलग-अलग स्वतन्त्ररूपसे निर्मित थे, जो अत्यन्त सुखद तथा सभी सामग्रियोंसे सम्पन्न थे। वह विमान मनसे भी तीव्रगतिसे चलनेवाला, किसी प्रकार भी नष्ट न होनेवाला, दुर्धर्ष तथा विशेष पुण्यशील, यशःपूर्ण, सौभाग्यशाली व्यक्तियोंके द्वारा ही अधिष्ठित होने योग्य था।

इस विमानकी एक अन्य विशेषता यह थी कि वह चेतन एवं दिव्य होनेके कारण एक ही साथ असंख्य मनुष्य, देवता या अन्य प्राणियोंको अपनेमें स्थान दे सकता था, फिर भी उसमें स्थान अवशिष्ट रह जाता था। भगवान् श्रीरामकी अधिकांश सेना लंकासे अयोध्या इसी विमानसे आयी थी, फिर भी उसमें स्थान शेष था। यह प्रजापति विश्वकर्माकी कला-कुशलताकी ही विशेषता है।

इस प्रकार विश्वकर्माद्वारा निर्मित पदार्थोंमें चेतनताका अनुस्यूत होना भी कम आश्चर्यजनक नहीं है।

पुष्पक विमानका इतिहास

यह पुष्पक विमान ब्रह्माजीकी प्रेरणासे विश्वकर्माद्वारा निर्मित हुआ। इसे कुबेरकी तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माजीने उन्हें प्रदान कर दिया और वह बहुत दिनोंतक कुबेरके पास ही रहा। कुबेरपर आक्रमणकर लंकापति रावणने उसे अपने

---

[१] त्वष्टुर्दैत्यानुजा भार्या रचना नाम कन्यका। संनिवेशस्तयोर्जज्ञे विश्वरूपश्च वीर्यवान्॥ (श्रीमद्भा० ६। ६। ४४)

[२] यह कवच आज भी सभी विष्णुकवचोंमें मुख्यरूपसे परिगणित होता है और भक्त साधकोंद्वारा श्रद्धापूर्वक पठित होता है।

[३] तदप्रमेयप्रतिकारकृत्रिमं कृतं स्वयं साध्विति विश्वकर्मणा। (वा० रा०, सुन्दर० ८। २)

विजयचिह्नके रूपमें उनसे छीन कर स्वहस्तगत कर लिया[१]। लंकापर श्रीरामकी विजय होनेपर वह विमान उनके अधिकारमें आ गया। अन्तमें भगवान् श्रीरामने उस विमानके स्वामी यक्षाधिपति कुबेरके पास भेज दिया और वह विमान उन्हींके पास रह गया।

भगवान् विश्वकर्माकी अन्य विशिष्ट कृतियाँ

शिल्पकला, वास्तुकला, स्थापत्य तथा चित्रकला आदिके आद्य आचार्य होनेके कारण देवलोककी प्रासाद, उद्यान आदि सभी रचनाएँ उन्हींकी हैं और उन्हींकी कृपासे लोकमें प्रसृत हुई हैं तथा उन्हींसे काष्ठकला, तक्षण-कला, मूर्तिकला, कांस्यकला, धातुकला एवं मृद्भाण्डनिर्माण, वस्त्रनिर्माण, प्रासादनिर्माण आदि अनेकों कलाओंका जन्म हुआ। अतः सभी कलाओंके प्रवर्तकके रूपमें इनकी प्रसिद्धि सर्वविश्रुत है।

इनकी विशिष्ट कृतियोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारका नगरी, इन्द्रकी अमरावती, धर्मराज युधिष्ठिरका राजभवन तथा इन्द्रप्रस्थनगरी, वृन्दावन, यमसभा, वरुणसभा, अर्जुनके रथकी ध्वजा-पताका, इन्द्रकी सुधर्मासभा, विजय नामक ध्वज और वज्र, शिवका दिव्य रथ एवं देव-मुनियोंके भव्य प्रासाद आदि मुख्य हैं। त्रिकूटमें स्थित कुबेरकी राजधानी लंका भी इनके द्वारा निर्मित कही गयी है। इन्होंने एक ऐसे दिव्य पात्रका निर्माण किया था, जिसमें सदा अन्नादि दिव्य भोज्य पदार्थ भरे रहते थे और प्रयोग करनेपर भी रिक्त नहीं होते थे। देवताओंके अलंकरणों आदिका ये क्षणभरमें निर्माण कर देते थे। भगवती दुर्गादेवीके समस्त आभूषणों, चूडामणि, कटक, केयूर, हार, वस्त्र, उपवस्त्र, नूपुर, कमल तथा समस्त अस्त्र आदिका निर्माणकर विश्वकर्माने ही इन्हें प्रदान किया था[२]।

विश्वकर्माकी पूजा-उपासना

भगवान् विश्वकर्मा (त्वष्टा) की पूजा-उपासना, हवन आदिका वेदोंमें उल्लेख प्राप्त होता है। वाजसनेयिसंहिता (२९।९) के अनुसार अनेक लोगोंने इनकी उपासनासे अनेक दिव्य अस्त्र-शस्त्रों तथा शीघ्रगामी अश्वोंको प्राप्त किया[३]। ये संततिको भी प्रदान करनेवाले हैं। अतः पुत्रकामी भी इनकी उपासनासे यथेष्ट लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इनका विशेष पूजन सूर्यकी कन्या-संक्रान्तिपर किया जाता है, जो विश्वकर्मा-जयन्ती भी कही जाती है। वास्तुपूजन तथा गृहनिर्माणादिमें भी इनका पूजन किया जाता है। समस्त विश्वकी संरचना करनेवाले तथा पोषक देवताके रूपमें, काष्ठ एवं यन्त्रनिर्माण और प्रासादकलादिके अधिष्ठाता देवके रूपमें भक्त, साधक तथा शिल्पीलोग आज भी श्रद्धा-भावसे इनकी आराधना करते हैं।

असुरशिल्पी 'मय'

'मयशिल्पम्' नामका शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन कालसे भारतमें समादृत होता चला आ रहा है। वेदोंसे लेकर सभी इतिहास-पुराणों एवं शिल्पशास्त्रोंमें मयद्वारा निर्मित प्रथम कोटिकी एवं अत्यन्त आश्चर्यकारी शिल्पकलापूर्ण प्रासाद, नगर आदि निर्माणोंकी रोचक कथाएँ भरी पड़ी हैं। संत-महात्माजन एवं ऋषि-मुनियोंने भी उसके कला-कौशलकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। महर्षि वाल्मीकिने सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्डके तीन प्रकरणोंमें प्रायः पचास अध्यायोंके अन्तर्गत मयद्वारा निर्मित लंकापुरीके वर्णनमें विचित्र काव्य-कौशलका संनिवेश किया है, जिसका संक्षिप्त सार गोस्वामी तुलसीदासजीने

१- निर्जित्य राक्षसेन्द्रस्तं धनदं हृष्टमानसः॥ पुष्पकं तस्य जग्राह विमानं जयलक्षणम्।
(वा॰ रा, उ॰ ६।३७-३८)

२- चूडामणिं तथा दिव्यं कुण्डले कटकानि च। ································ ॥
अर्धचन्द्रं तथा शुभ्रं केयूरान् सर्वबाहुषु। नूपुरौ विमलौ तद्वद् ग्रैवेयकमनुत्तमम्॥
अङ्गुलीयकरत्नानि समस्तास्वङ्गुलीषु च। विश्वकर्मा ददौ तस्यै परशुं चातिनिर्मलम्॥
अस्त्राण्यनेकरूपाणि तथाभेद्यं च दंशनम्। अम्लानपङ्कजां मालां शिरस्युरसि चापराम्॥ (दुर्गासप्तशती २।२५-२८)

३- त्वष्टा वीरं देवकामं जजान त्वष्टुरर्वा जायत आशुरश्वः। त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहोः कर्तारमिह यक्षि होतः॥

अपनी मधुर एवं रम्य वाणीमें जहाँ-तहाँ— बालकाण्ड, सुन्दरकाण्ड एवं लंकाकाण्डमें वर्णित किया है। बालकाण्डमें वे लंकापुरीकी शोभाका अति संक्षिप्त परिचय देते हुए कहते हैं—

गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी। बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी॥
सोइ मय दानवँ बहुरि सँवारा। कनक रचित मनि भवन अपारा॥
भोगावति जसि अहिकुल बासा। अमरावति जसि सक्रनिवासा॥
तिन्ह तें अधिक रम्य अति बंका। जग बिख्यात नाम तेहि लंका॥
खाईं सिंधु गभीर अति चारिहु दिसि फिरि आव।
कनक कोट मनिखचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव॥

(१७८ (क))

वस्तुतः मयकी शिल्पकला अवर्णनीय है। इसलिये कविकुलचूडामणि गोस्वामीजीने भी *'बरनि न जाइ बनाव॥'* कहा है। महर्षि वाल्मीकि भी लंकाके वर्णनमें पूर्णतया समर्थ नहीं हो पाये हैं। इसका मूल कारण मयकी अद्भुत शिल्पकला रही है।

सभी इतिहास-पुराणोंसे यह सिद्ध है कि लंकापुरीके पूर्वमें उपरिनिर्दिष्ट भोगावतीपुरी भी मयकी ही रचना थी। वह पातालवासियोंकी राजधानी मानी जाती है। वहाँ असुर तथा नागलोग निवास करते हैं। भोगावतीका विस्तृत विवरण विभिन्न पुराणोंके अतिरिक्त कथासरित्सागरमें भी एक स्थानपर अत्यन्त विस्तारके साथ आया है। वहाँ बतलाया गया है कि उस नगरमें उद्यान-सरोवर, वापी इतने दिव्य थे कि उसमें स्नान-विहार करनेवाले कहीं प्रविष्ट होकर कहीं अन्यत्र सुदूर पहुँच जाते थे। मयके अनेक पुत्र तथा पुत्रियोंकी अनेक रोचक, आकर्षक, भव्य एवं दिव्य कथाएँ भी इन कथाग्रन्थोंमें अङ्कित हैं। कथासरित्सागरमें प्रायः मयके शिल्पका उल्लेख हुआ है।

मय दैत्योंका ही नहीं, प्रत्युत देवताओं, मनुष्यों और यहाँतक कि भगवान् श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरके साथ रहकर उनकी सेवाके लिये इन्द्रप्रस्थ-नगरी एवं दिव्य सभा-भवन आदिका निर्माण करता है, जिसमें जल स्थल एवं स्थल जलकी भाँति प्रतीत होता है। दुर्योधन-जैसा शूर एवं बुद्धिमान् भी उसमें बार-बार धोखा खाकर गिर पड़ता है।

पुराणोंके अनुसार मयको कश्यप-पत्नी दनुका पुत्र माना गया है। हेमा नामक अप्सरा इसकी पत्नी कही गयी है। कथासरित्सागरके मदन-मंचुकालम्बकके अनुसार हिमालयके पूर्वोत्तर-पार्श्वस्थित अगम्य स्थलमें हैमपुर नामका स्वनिर्मित दिव्य नगर इसका निवास-स्थान था। इसके पुत्र अनेक थे, जिनमें मायावी और दुन्दुभि अधिक विख्यात थे तथा इसके मन्दोदरी नामकी एक कन्या थी जो अत्यन्त रूपवती और जगत्-प्रसिद्ध थी।

वाल्मीकीय रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें सीतान्वेषणमें निरत वानरोंको एक भीषण दुर्गम वनमें पथभ्रष्ट होने एवं उसमेंसे निकलनेका मार्ग न प्राप्त होनेका उल्लेख मिलता है। वहाँ कुछ आगे बढ़नेपर हनुमान्जीको ऋक्षविल नामक एक दिव्य स्थान मिला, जहाँ स्वयंप्रभा नामकी अप्सरा सुदीर्घकालसे तपस्यामें रत थी। उसने वानरोंके प्रश्न करनेपर यह बताया था कि वह वन एवं यह दिव्य स्थान मयके द्वारा ही निर्मित था। वह मयपत्नी हेमाकी सखी थी। हेमाने प्रसन्न होकर उसे वह वन और स्थान प्रदान कर दिया था। स्वयंप्रभामें भी मयके समान ही दिव्य शक्ति थी। उसने वानरोंसे आँखें बंद करनेको कहा और आँख बंद करते ही उन्होंने अपनेको दक्षिण उदधिके तटपर प्रकट होकर समुद्रके किनारे ही खड़े देखा। गोस्वामीजीने भी इस प्रसंगका उल्लेख किया है—

नयन मूदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु कें तीरा॥

(रा० च० मा० ४। २५। ६)

—और पुनः वह स्वयंप्रभा वहाँसे दिव्य शक्तिके द्वारा चलकर तत्काल बद्रीनारायण पहुँच गयी।

सभी पुराणोंमें कमलाक्ष आदि तीन भाइयोंके क्रमशः सुवर्ण, रजत और आयसनिर्मित तीन पुरोंके समस्त दिव्य उपकरणोंके साथ निर्माण और गगनगामित्व बनानेके संदर्भमें मयके बुद्धि-प्राखर्यको ही प्रधान हेतुके रूपमें प्रदर्शित किया गया है। ये तीनों पुर सूर्य-चन्द्रमाकी भाँति आकाशमें सदा चलते रहते थे। ये कभी न एक साथ एकत्र होते थे और न इनका भेदन किया जा सकता था। इनके भेदनका एकमात्र यही छिद्र दृष्ट था कि ये तीनों पुर यदि एक साथ कदाचित् एक ही जगह एकत्र हो जायँ और कोई शक्तिशाली पुरुष एक ही बाणद्वारा इनका भेदन कर सके तो इनका विनाश हो सकता था। भगवान् शङ्करने सूर्य-चन्द्रमाको रथचक्र, ब्रह्माको सारथि

और विष्णु भगवान्‌को बाण बनाकर इन त्रिपुरोंको ध्वस्त किया था। त्रिपुर-दाहके उपरान्त भी मय बच गया था। उसे अमर माना जाता है।

वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डमें एक कथा विस्तारसे आती है, जिसके अनुसार मयकी पत्नी हेमा किसी कार्यसे देवलोकमें कुछ समयके लिये गयी थी। इधर मय मन्दोदरीको साथ लेकर जब उसके लिये उपयुक्त पतिकी तलाशमें निकला तो मार्गमें ही उसकी भेंट लंकाधिपति रावणसे हो गयी। मयने रावणके बल-विक्रम-ऐश्वर्यादिसे प्रभावित होकर और यह अनुमान कर कि यह समस्त विश्वका एकाधिपति शासक होगा और विशेषकर दैत्य, दानव एवं राक्षसोंका नेतृत्व करेगा, उसका विवाह रावणसे ही कर दिया। रावणकी मृत्युके पश्चात् भी मन्दोदरी विभीषणके निरीक्षणमें सुखपूर्वक राम-उपासनामें रत रहती हुई लंकाकी शासन-व्यवस्थामें पर्याप्त सहयोग देती रही।

शिल्पिशिरोमणि मय अब भी जीवित है। उसके पुत्र मायावी एवं दुन्दुभिको बालिने मार डाला तथा पुराणों एवं कथासरित्सागर आदिमें निर्दिष्ट उसकी अन्य संततियोंका भी कालक्रमसे उच्छेद हो गया। शिल्पकर्मके शिक्षार्थी एवं गवेषक मयकी अब भी आराधना कर अभीष्ट-सिद्धि-लाभ करते हैं, विशेषकर दैत्य-दानवकुलके एवं पाताल तथा नागलोकके निवासी उसके शिल्पोंका उपभोग करते हुए अब भी उसकी अनुकृतिसे लाभ उठाते हैं। शिल्पमण्डन, शिल्परत्न, काश्यपशिल्पम्, प्रासादमण्डन, समराङ्गणसूत्रधार, मत्स्यपुराणादि, वास्तुराजवल्लभ, वास्तुरत्नावली तथा वास्तुचिन्तामणि आदिमें भी मयके शिल्प-कौशलकी प्रशंसा करते हुए उसकी वन्दना की गयी है। दैत्य-दानवोंके अतिरिक्त देवगण भी मयकी शिल्पकलासे आकृष्ट होकर उसका सहयोग प्राप्त करते थे। इसमें संदेह नहीं कि आज भी जितनी वैमानिक शिल्प, वास्तु, रासायनिक अस्त्र-शस्त्रों, चित्रकला, उद्यानकला तथा जल-वायु-विद्युत् आदिके आविष्कार एवं प्रोन्नति हुई है, उन सबके मूलमें असुरशिल्पी मयकी प्रेरणा प्रत्यक्ष लक्षीभूत होती है।

भगवान् वृषाकपि

वैदिक देवताओंमें भगवान् वृषाकपिका विशिष्ट स्थान है। वेदों तथा पुराणेतिहासोंमें 'वृषाकपि' शब्दसे अनेक देवताओंका परिज्ञान होता है। इन्हें आदित्य, शिव, विष्णु, अग्नि, हनुमान्, रुद्र तथा इन्द्रपुत्रके रूपमें, कहीं पृथक्-पृथक् तथा कहीं समाहाररूपमें निर्दिष्ट किया गया है। विचार करनेसे प्रतीत होता है कि भगवान् वृषाकपि अत्यन्त प्रसिद्ध शिव, रुद्र, आदित्य, विष्णु, हनुमान् आदि महान् देवविभूतियोंके समाहार-स्वरूप ही दीखते हैं। इस प्रकार ये साक्षात् परब्रह्म-स्वरूप ही विदित होते हैं, क्योंकि एक परब्रह्म परमात्मा ही अपनी विशिष्ट ऐश्वर्यशक्तिसे अनेक देवताओंके रूपमें विवर्तित हुए हैं—

'महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।'
'एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।'

ऋग्वेदके दशम मण्डलका ८६वाँ सूक्त 'वृषाकपिसूक्त' कहा गया है। इस सूक्तमें तेईस मन्त्र हैं, जिसमें इन्द्र, इन्द्राणी तथा वृषाकपिका परस्पर संवाद है। भाष्यकारोंने इन्हें इन्द्रपुत्रके रूपमें बताया है। आचार्य यास्कने इन्हें अन्तरिक्षस्थानीय देवताओंमें परिगणित करते हुए आदित्यपरक अर्थ किया है (निरुक्त १२।३।२७)। महाभारतमें 'वृषाकपि' शब्द विष्णुके लिये प्रयुक्त है[1] तथा अनुशासन (१५०।१२-१३)में ग्यारह रुद्रोंमें इनकी गणना की गयी है। श्रीमद्भागवतमें[2] इस शब्दका क्रमशः शिव तथा विष्णुपरक अर्थ किया गया है।

भगवान् वृषाकपिका सबसे सुविस्तृत, प्रामाणिक तथा रोचक वृत्तान्त ब्रह्मपुराणमें प्राप्त होता है। यह वर्णन ऋग्वेदके पूर्वोक्त वृषाकपि-सूक्तका ही भाष्य है।

ब्रह्मपुराणके अ० ७७ तथा ८४में एक वृषाकपि-तीर्थका वर्णन है, जो मध्यप्रदेशके अकोलाके दक्षिण गोदावरी, अञ्जना

१-'तस्माद् वृषाकपि प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः।' (शान्तिपर्व ३४२।८९)

२-श्रीमद्भाग० (८।१०।३२, ११।५।२७)

तथा फेना नदियोंके संगमपर पड़ता है। इस तीर्थको 'इन्द्रतीर्थ' और 'वृषाकपितीर्थ'के नामसे कहा गया है। इस वर्णनमें वृषाकपिको हनुमान् भी बताया गया है।

एक समयकी बात है, जब इन्द्रने हनुमान्‌जीपर वज्र चलाया तो उनकी हनु (ठुड्डी) टूट गयी और उनके मुखसे फेन निकलने लगा। वही फेन गोदावरीमें जा मिला, जो फेना नदीके नामसे विख्यात है। इसका जल गङ्गा-यमुनाके समान पवित्र माना गया है। हनुमान्‌जीकी एक उपमाता मार्जारी (अद्रिका) थी। वह भी उस वृषाकपितीर्थमें स्नानकर मार्जारत्व (बिल्लीकी योनि) से मुक्त हो गयी थी। इसकी विस्तृत कथा ब्रह्मपुराण (अ० ८४)में प्राप्त होती है, जो इस प्रकार है—

ब्रह्मगिरिके पार्श्वमें एक अञ्जनगिरि नामका पर्वत है। उसीपर मुनिके शापसे अञ्जना नामकी एक श्रेष्ठ अप्सरा उत्पन्न हुई, जिसका केवल मुखभाग वानरका था। वह केसरीकी पत्नी हुई। इधर एक दूसरी अप्सरा भी शापभ्रष्ट होकर मुखभागसे मार्जारी हो गयी। वह भी उसी पर्वतपर केसरीकी दूसरी पत्नी हुई। उसका नाम अद्रिका था।

एक बार जब केसरी किसी कार्यसे दक्षिण समुद्रके तटपर गये थे, तब उसी समय अगस्त्यमुनि उस अञ्जन पर्वतपर आये, जहाँ अञ्जना तथा अद्रिकाने उनकी बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे पूजा की। इसपर प्रसन्न होकर भगवान् अगस्त्यने उन दोनोंसे वर माँगनेके लिये कहा। उन दोनोंने अपने लिये सर्वाधिक बली और सर्वलोकोपकारक पुत्र-प्राप्तिका वरदान माँगा। मुनिने भी 'तथास्तु' कहकर दक्षिण दिशाकी यात्रा की।

कुछ समय बीत जानेके बाद एक दिन अञ्जना और अद्रिका उसी अञ्जनपर्वतके शिखरपर गीत एवं हास्य-विनोद करती हुई आनन्दमें मग्न थीं। उसी समय वायुदेव और निर्ऋतिदेव उन्हें देखकर आनन्दित होते हुए उनके पास पहुँचे और उन्होंने देवताओंमें अपनी विशिष्टता दिखाकर विवाहका प्रस्ताव रखा। अञ्जना एवं अद्रिकाने उनके प्रस्तावको स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप अञ्जनाके गर्भसे वायुद्वारा हनुमान् तथा अद्रिकाके गर्भसे निर्ऋतिद्वारा अद्रि नामक पिशाच उत्पन्न हुआ। थोड़े दिनों बाद उन दोनोंने अपने पुत्रोंसे कहा—'तुम लोग अगस्त्य मुनिके वरदानसे उत्पन्न हो। मुनिके शापसे हम दोनोंके मुख वानरी और मार्जारीके हो गये हैं। अतः तुमलोग हमारी शापमुक्तिका कोई उपाय करो।' इसपर अद्रिने अपने भाई हनुमान्‌की माता अञ्जनाको और हनुमान्‌ने अद्रिकी माता अद्रिकाको गोदावरी (गौतमी) में स्नान कराया, जिससे वे शापमुक्त हो गयीं। तबसे उन तीर्थोंका नाम क्रमसे अञ्जना-तीर्थ और पिशाच-तीर्थ पड़ गया। उनके पूर्वमें मार्जार, हनुमन्त और वृषाकपि-तीर्थ स्थित हुए।

ब्रह्मपुराण अध्याय १२९में भगवान् वृषाकपिका जो वृत्तान्त प्राप्त होता है, वह ऋग्वेद (१०।८६) के वृषाकपि-सूक्तका यथावत् उपबृंहण ही है जिसका सारांश यहाँ प्रस्तुत है—

प्राचीन कालमें दैत्योंका पूर्वज हिरण्य नामका एक विख्यात असुर था। उसका महाशनि नामका महाबली पुत्र देवताओंके द्वारा सर्वथा दुर्जेय था। एक दिन महाशनि इन्द्रको पराजित कर ऐरावतसहित बाँधकर अपने पिता हिरण्यके पास ले आया। हिरण्यने अपनी पुत्रीके आग्रहपर इन्द्रको भूगर्भमें बंद कर दिया। इधर महाशनिने इन्द्रको जीतनेके पश्चात् वरुणपर चढ़ाई कर दी। वरुणने अपनी कन्या देकर उससे संधि कर ली और अपना श्रेष्ठ दिव्य महल भी उसे दे दिया[1]। परिणामस्वरूप वरुण तथा महाशनिमें मैत्री हो गयी। वरुणपुत्री वारुणीको पाकर महाशनि अत्यन्त आनन्दके साथ समय व्यतीत करने लगा।

इधर इन्द्रका अपहरण जानकर सभी देवता अत्यन्त दुःखित हो भगवान् विष्णुकी शरणमें गये। इसपर भगवान् विष्णु वरुणके पास पहुँचे और उन्होंने इन्द्रकी दुर्दशाकी बात बतायी तथा उसे मुक्त करानेके लिये कहा। वरुण अपने जामाता महाशनिके पास पहुँचे। महाशनिने इनका बड़ा सम्मान किया और अत्यन्त विनीत भावसे उनके आनेका कारण पूछा। वरुणने उससे कहा—'वीरवर! तुमने जो देवेन्द्रको रसातलमें बाँधकर रखा है, उन्हें बन्धनमुक्त कर दो तथा यहाँ लाकर हमें समर्पित कर दो।' महाशनिने इन्द्रकी अनेक प्रकारसे भर्त्सना

---

[1] १-कामन्दकीय नीतिसार (९।८) के अनुसार ऐसी सन्धि 'दारिका-सन्धि' कही गयी है।

करते हुए उसे महात्मा वरुणको सौंप दिया। इससे इन्द्र अत्यन्त लज्जित हो गये। उन्होंने दुःखित मनसे इन्द्राणीसे पूरा समाचार बताते हुए पूछा कि मैं इस कलंकको कैसे दूर करूँ? इसपर उसने कहा—'मैं पुलोमा दैत्यकी पुत्री हूँ और यह दैत्य महाशनि मेरे चाचा हिरण्यका पुत्र है। इसकी उत्पत्ति तथा मृत्युका मुझे सम्पूर्ण रहस्य ज्ञात है। इसने ब्रह्माकी आराधनासे पराक्रम एवं शक्ति प्राप्त की है। इसके साथ ही एक बात और है, वह यह कि स्त्रियोंका स्वभाव स्त्रियाँ ही जानती हैं, इसीसे जलदेवियों और भूदेवियोंके लिये कुछ भी असाध्य नहीं है। आप गोदावरीके पासकी भूमिपर जाकर भगवान् शिव और विष्णुकी आराधना करें। आदि-गङ्गा गोदावरी (गौतमी) के पासकी भूमि पृथ्वीका पवित्रतम स्थान है। वहाँ भगवती गङ्गा एवं भगवान् विष्णु तथा शिवका एकत्र संगम है। वहाँ उनकी स्तुति करनेपर वे आपपर प्रसन्न होंगे। स्त्री-पुरुषका भाग आधा-आधा होता है। पुरुषद्वारा किये कर्मका फल स्त्रीको तथा स्त्रीद्वारा किये कर्मका फल पुरुषको भी प्राप्त होता है। मैं भी आपके साथ चलकर वहाँ आपके कार्यमें सहयोग करूँगी।'

तदनन्तर आचार्य बृहस्पतिके साथ शची और इन्द्र गौतमी नदीके पास पहुँचे और वहाँ उन्होंने चौदह श्लोकोंमें दिव्यभावसे शतरुद्रियके सारभूत भावोंसे भगवान् शङ्कर तथा माँ पार्वतीकी प्रार्थना की, जिससे प्रसन्न होकर तत्क्षण शिव उनके सामने प्रकट हुए और कहा कि यह कार्य मेरे द्वारा अकेले साध्य नहीं है। तुम शचीके साथ गोदावरीके दक्षिण तटपर जाकर आपस्तम्ब मुनिकी सहायतासे गदाधर विष्णुकी स्तुति करो। तदनन्तर इन्द्रने वैसा ही किया। उन्होंने फेना और गोदावरीके संगमपर विविध ऋग्वेदीय मन्त्रोंसे भगवान् विष्णुको संतुष्ट किया और वर माँगा कि हमारा सहायक एक ऐसा वीर पुरुष दें जो दैत्य-शत्रुओंका संहार कर सके। तब उन्होंने कहा कि 'वर दे दिया ऐसा समझ लो।' और उसी समय उन लोगोंके सामने ही गोदावरी गङ्गाके पवित्र जलसे एक ऐसा दिव्य पुरुष प्रकट हुआ, जो शिव-विष्णु दोनोंका सम्मिलित रूप था। उसके एक हाथमें सुदर्शनचक्र तथा दूसरे हाथमें पिनाक[1] नामक त्रिशूल था। वह वहाँसे सीधे रसातल पहुँचा और वहाँ पहुँचते ही उसने इन्द्रके शत्रु महाशनिको मार डाला। गोदावरीके जलसे उत्पन्न इन्द्रका मित्र वही दिव्य पुरुष वृषाकपि नामसे विख्यात हुआ—

दत्तमित्येव जानीहि तमुवाच जनार्दनः।
तत्राभवच्छिवस्यैव गङ्गाविष्ण्वोः प्रसादतः॥
अम्भसा पुरुषो जातः शिवविष्णुस्वरूपधृक्।
चक्रपाणिः शूलधरः स गत्वा तु रसातलम्॥
निजघान तदा दैत्यमिन्द्रशत्रुं महाशनिम्।
सखाभवत् स चेन्द्रस्य अब्जकः स वृषाकपिः॥

(ब्रह्मपुराण १२९। ९७—९९)

ये वृषाकपि आकाशमें तारेके रूपमें इन्द्रके आगे-आगे चलते हैं। एक बार इन्द्राणी इन्द्रको वृषाकपिके पीछे स्निग्ध-भावसे अनुगमित देखकर प्रणयसे कुपित-सी हो गयीं। इसपर शतक्रतु इन्द्रने इन्द्राणीको सान्त्वना देते हुए जो कुछ कहा वह वेदोंमें वृषाकपि-सूक्त (ऋग्वेद १०। ८६) के रूपमें विख्यात है, जो प्रायः सभी वेदों तथा निरुक्तमें भी प्राप्त होता है। ब्रह्मपुराण अध्याय १२९ के १०१ से लेकर ११५ तकके श्लोक इसी वृषाकपि-सूक्तकी मानो व्याख्या-स्वरूप ही हैं। उनका भाव इस प्रकार है—

हे इन्द्राणी! अपने मित्र वृषाकपिको छोड़कर मुझे हविष्य या जल कुछ भी आनन्ददायक नहीं लगता, किंतु मैं तुम्हें छोड़कर कहीं जा नहीं सकता, इसपर तुम कोई शंका न करो। तुम मेरी पतिव्रता पत्नी हो, धर्म और मन्त्रणामें सहायिका हो, तुम सत्पुत्रवती तथा कुलीना हो, तुमसे अधिक प्रिय मुझे और कौन हो सकता है? तुम्हारे ही उपदेशसे मैं यहाँ आकर भगवान् शिव और विष्णुकी प्रसन्नता प्राप्त कर सका और इन लोकविश्रुत जलोद्भव वृषाकपिदेवके प्रसादसे ही शत्रुके भीषण क्लेशसे मुक्त हुआ हूँ। इसमें तुम ही मुख्य कारण हो। स्त्री ही दोनों लोकमें कल्याण करनेवाली पुरुषकी सच्चा मित्र है, फिर वह यदि मृदुभाषिणी, कुलीना, पतिव्रता, रूपवती, सद्गुणवती तथा निरन्तर एकचित्तसे पतिका हित चाहनेवाली हो तो उस पुरुषके लिये त्रैलोक्यमें कोई वस्तु असाध्य

---

[1] १-पाणिनि-उणादि-सूत्र ४। १५—'क्लीबः पुंसो पिनाकः स्याच्छूलशङ्करधन्वनोः' के अनुसार पिनाकका मुख्य अर्थ त्रिशूल ही प्रतीत होता है।

नहीं है। उसके लिये पुरुषार्थत्रयकी तो बात ही क्या ? मुक्ति भी सुलभ है—

किं न साध्यं यत्र भार्या भर्तृचित्तानुगामिनी।
दुष्करा तत्र नो मुक्तिः किं त्वर्थादित्रयं शुभे॥
जायैव परमं मित्रं लोकद्वयहितैषिणी।
सा चेत् कुलीना प्रियभाषिणी च
पतिव्रता रूपवती गुणाढ्या।
सम्पत्सु चापत्सु समानरूपा
तया ह्यसाध्यं किमिह त्रिलोक्याम्।

(ब्रह्मपुराण १२९। १०६-१०८)

इसलिये हे प्रिये! तुम्हारी ही बुद्धिकी उपजसे मेरा कल्याण हुआ है। इहलोक और परलोकमें पुत्र एवं स्त्रीके समान आर्तपुरुषके लिये और कोई औषध नहीं है तथा गोदावरी-गङ्गाके समान क्लेश-पापसे मुक्ति एवं निःश्रेयस-प्राप्तिका अन्य कोई साधन नहीं है, भगवान् शिव तथा विष्णु भी दोनों अनन्य हैं। तुम्हारी ही बुद्धिके प्रसादसे मेरा इन्द्रत्व स्थिर हुआ और जलसे सहसा उत्पन्न मित्र वृषाकपिके कारण मेरे शत्रुका संहार हुआ। यह वृषाकपितीर्थ भी अत्यन्त प्रियकर होगा। हम सभी देवताओं तथा ऋषियोंसे प्रार्थना करेंगे कि वे हमारी भावनाओंका अनुमोदन करें। यह 'इन्द्रेश्वर' तथा 'वृषाकपितीर्थ' गोदावरी नदीके दोनों तटोंपर स्थित होंगे। यहाँ भगवान् शिव और विष्णु दण्डकवनको पवित्र करते हुए एकत्र रहेंगे। यहाँ जो भी स्नान करेगा, वह मुक्तिका भागी होगा और अपने मातृ-पितृ-कुलके पाँच-पाँच पुरुषोंको मुक्त कर देगा। जो यहाँ थोड़ा भी तिल एवं उड़दका दान करेंगे, वह उनके लिये अक्षय सुख, सौभाग्य, कामनाप्रद तथा मोक्षदायक होगा। यह वृषाकपि-आख्यान भी धन, यश, आयु, आरोग्य और पुण्यको बढ़ानेवाला तथा शिव-विष्णुके रहस्यका ज्ञान करानेवाला है। इन्द्र इन्द्राणीसे ऐसा कह ही रहे थे कि उसी समय ब्रह्मादि देवताओं तथा ऋषियोंने भी वहाँ पहुँचकर एक स्वरसे कहा कि 'ऐसा ही होगा।' यहाँ गोदावरीके उत्तर तटपर सात हजार तथा दक्षिण तटपर ग्यारह दूसरे तीर्थ हैं। किंतु इन सभी तीर्थोंके मध्यमें हृदयस्वरूप यह वृषाकपि-तीर्थ (अब्जक-तीर्थ) है, जो मुनियोंके द्वारा गोदावरीका हृदय कहा गया है और यहाँ ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव निरन्तर निवास करते हैं—

अब्जकं हृदयं प्रोक्तं गोदावर्या मुनीश्वरैः।
विश्रामस्थानमीशस्य विष्णोर्ब्रह्मण एव च॥

(ब्रह्मपुराण १२९। १२७)

इस प्रकार भगवान् वृषाकपि अनेक देवताओंके सम्मिलित तेजोराशिस्वरूप हैं। शिव, विष्णु तथा हनुमान् एवं सूर्य आदि अनेक रूपोंसे उनकी उपासना कर यथेष्ट लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इनकी पत्नी 'वृषाकपायी' वेदोंमें अत्यन्त महिमामण्डित हैं। वे मुख्य रूपसे ऐश्वर्य एवं संततिकी अधिष्ठात्री देवी कही गयी हैं (ऋग्वेद १०। ८६। १३)। इन्हें लक्ष्मी तथा गौरी भी कहा गया है।

आधिदैविक जगत्के देवता—अष्ट लोकपाल

(श्रीशिवनाथजी दुबे, एम्० काम्०, एम्०ए०, साहित्यरत्न, धर्मरत्न)

शास्त्रोंने प्रत्येक पदार्थकी दृश्य जड-सत्ताकी नियामिका शक्तिको चेतनाधिष्ठित स्वीकार किया है, यही चेतन-शक्ति उस पदार्थकी अधिदैव-शक्ति है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थके अधिष्ठातृ-देवता होते हैं। त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) एवं उनकी शक्तियाँ (सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा) और सूर्य तथा गणेश तो भगवत्स्वरूप ही हैं। इसके अतिरिक्त द्युलोक-निवासी ३३ करोड़ देवता इनसे अलग हैं।

सभी कोशों तथा लक्षण-ग्रन्थोंके अनुसार अष्ट या दश दिक्पाल ही लोकपाल माने जाते हैं और वे हैं—पूर्व दिशाके इन्द्र, अग्निकोणके अग्निदेव, दक्षिण दिशाके यमराज, नैर्ऋत्यकोणके राक्षसराज निर्ऋति, पश्चिम दिशाके वरुण, वायुकोणके वायुदेवता, उत्तर दिशाके कुबेर और ईशानकोणके ईशान शिव। जहाँ दश दिक्पाल माने गये हैं, वहाँ ऊर्ध्वलोकके ब्रह्मा एवं अधोलोकके अनन्त (शेष) कहे गये हैं। इन अष्ट लोकपालोंका संक्षिप्त विवरण इस रूपमें है—

१-इन्द्र—एक सौ अश्वमेध यज्ञ करनेवाला चक्रवर्ती सम्राट् किसी मन्वन्तरमें इन्द्र होता है। वर्तमान कल्पके छः मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं। यह सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है।

इस मन्वन्तरमें पुरन्दर देवराज इन्द्र हैं। स्वर्गाधिपतिका यह पद प्रत्येक मन्वन्तरमें परिवर्तित होता रहता है। इन्द्रको शतक्रतु भी कहते हैं। देवराज इन्द्रकी धर्मपत्नी शची दैत्यराज पुलोमाकी कन्या हैं। जयन्त एवं जयन्ती नामक इनके एक पुत्र तथा एक पुत्री हैं।

जल-वृष्टिसे ही जगत्का पोषण और जीवन चलता है। देवराज इन्द्र वर्षाके अधिपति कहे जाते हैं। वैदिक कालमें इन्द्रके निमित्त यज्ञ हुआ करते थे। श्रुतियोंमें देवराज इन्द्रकी स्तुतियाँ भी हैं। ये मातलिद्वारा चलाये गये हरित वर्णके अश्वोंसे जुते हुए रथपर विराजमान हैं। त्रेतायुगमें वानरराज बाली तथा द्वापरमें अर्जुन इन्हींके अंशसे पैदा हुए थे। श्रुतियोंमें देवराज इन्द्रकी आराधना अनादिकालसे चली आ रही है। इन्होंने दीर्घकालतक संयमित रहकर ब्रह्माजीसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था। मानव-जगत्को अध्यात्म-ज्ञानकी प्राप्ति इन्हींकी अनुकम्पासे हुई थी। आयुर्वेदके आदि उपदेष्टा देवराज इन्द्र ही हैं। भगवान् धन्वन्तरिने इन्हींसे आयुर्वेदका ज्ञान प्राप्त किया था। इस जगत्में अनेकानेक शास्त्रोंका प्रवर्तन देवराज इन्द्रद्वारा ही हुआ है। कतिपय आचार्योंके अनुसार देवराज इन्द्रके पदकी प्राप्ति कर्मके द्वारा ही होती है।

२-अग्नि—पूर्व तथा दक्षिण दिशाके मध्यका कोण 'अग्निकोण' कहलाता है। उसके दिक्पाल अग्निदेव हैं। अग्निदेव धर्मकी पत्नी वसुभार्यासे उत्पन्न हुए हैं। इनकी पत्नी स्वाहा हैं। इनका वाहन है मेढ़ा । शक्ति एवं अक्षसूत्र इनके आयुध हैं। पीतलोचन, अङ्गारवर्ण एवं द्विमुख अग्निदेव यज्ञोंमें देवताओंकी आहुतियाँ ग्रहण करते हैं। अग्निदेवके अनेक रूप हैं। समस्त जीवधारियोंके अंदर ये जठराग्नि बनकर पाचनक्रिया सम्पन्न करते हैं। वनमें दावाग्नि-रूपसे एवं सूर्यमण्डलमें दिव्याग्निरूपसे विद्यमान हैं। समुद्रमें ये वडवाग्नि-रूपसे रहा करते हैं। मेघोंमें विद्युत् ही अग्नि-शक्ति होती है। जगत्में यही प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सामान्य अग्नि है। पुराणोंमें इनके ५९ तथा १०१ भेद बताये गये हैं।

तेज, प्रकाश, गति, उष्णता, पाचन इत्यादि एक ही महाशक्तिके विभिन्न कार्य हैं। अग्निदेव इस शक्तिके अधिदेवता हैं। अग्निदेवकी उपासनासे तेज, शक्ति, कान्ति और सुन्दर स्वास्थ्यकी उपलब्धि होती है। ये ज्ञानस्वरूप हैं। इनका उपदिष्ट पुराण 'अग्निपुराण' कहलाता है।

व्यावहारिक जीवनमें प्रयोग होनेवाले अग्निके भी पाँच रूप हैं। ब्राह्म, प्राजापत्य, गार्हस्थ्य, दक्षिणाग्नि एवं क्रव्यादाग्नि। यज्ञमें ब्राह्म-अग्नि अरणिमन्थनसे मन्त्रके माध्यमसे उत्पन्न होते हैं। ये अग्नि आहवनीय हैं। प्राजापत्याग्नि ब्रह्मचारीको अग्निहोत्र-हेतु उपनयनके समयपर प्राप्त होते हैं। वानप्रस्थाश्रमतक इनकी आराधना, रक्षा एवं इनमें नित्यप्रति हवन करना उसका परम कर्तव्य है। पाणिग्रहण-संस्कारके उपरान्त गार्हस्थ्याग्नि कुलमें प्रतिष्ठित होते हैं। गृहस्थ-जीवनके समस्त शुभकार्य (यज्ञादि) इन्हींसे सुसम्पन्न होते हैं। चिताग्निको दक्षिणाग्नि कहते हैं। शरीरकी अन्तिम आहुति इन्हींमें ही दी जाती है। विपत्तियोंके शमनके लिये यज्ञमण्डपके बाहर दक्षिण-भागमें यह अग्नि प्रतिष्ठित होते हैं। क्रव्यादाग्नि त्याज्य है।

३-यमराज—विश्वकर्माकी पुत्री संज्ञाका विवाह सूर्यदेवसे हुआ था। यमराज इन्हीं दोनोंकी संतान हैं। यमराज जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंके निर्णायक हैं। ये दक्षिण दिशाके लोकपाल हैं। इनकी संयमनीपुरी उन प्राणियोंके लिये, जो अशुभकर्मा हैं, अत्यन्त भयप्रद है। यम, मृत्यु, अन्तक, धर्मराज, काल, वैवस्वत, सर्वभूतक्षय, औदुम्बर, नील, दध्न, वृकोदर, परमेष्ठी, चित्र तथा चित्रगुप्त—इन चतुर्दश नामोंसे इन महिषवाहन दण्डधारीकी आराधना की जाती है। इनका तर्पण भी इन्हीं नामोंसे किया जाता है।

चार द्वारों, सात तोरणों तथा पुष्पोदका, वैवस्वती आदि सुरम्य नदियोंसे पूर्ण अपनी संयमनी पुरीमें पूर्व, पश्चिम तथा उत्तर दिशाके द्वारसे प्रवेश करनेवाले पुण्यात्मा प्राणियोंको यमराज सौम्य-रूपमें अपने महाप्रासादमें रत्नासनपर दर्शन देते हैं। दक्षिण द्वारसे प्रविष्ट होनेवाले पापी प्राणियोंको वे तप्त-लौहद्वार तथा पूय, शोणित एवं क्रूर पशुओंसे पूर्ण वैतरणी नदी पार करनेपर प्राप्त होते हैं। द्वारके अंदर आनेपर वे अत्यन्त विस्तीर्ण नेत्रोंवाले, धूम्रवर्ण, ज्वालामय रोमधारी, प्रलय-कालीन मेघके समान गर्जन करनेवाले, तीक्ष्ण प्रज्वलित दन्तयुक्त, वक्र-भृकुटि, भयंकरतम वेषमें यमराजको घबड़ाकर देखते हैं। वहाँ घोरतर पशु, मूर्तिमान् व्याधियाँ एवं यमदूत उपस्थित रहते हैं।

दीपावलीसे पूर्वके दिन यमदीप जलाकर तथा यमकी आराधना करके प्राणी उनकी कृपाका भाजन बनता है। निर्णेता यमराज प्राणियोंसे सदैव शुभ कर्मोंकी ही अपेक्षा करते हैं। जीवको दण्डके द्वारा शुद्ध करना ही इनका मुख्य कार्य है।

४-निर्ऋति—राक्षसराज निर्ऋति नैर्ऋत्यकोणके अधिपति दिक्पाल हैं। निर्ऋति-लोकमें दो प्रकारके प्राणियोंका निवास है—अपुण्यशील तथा पुण्यशील। जो म्लेच्छ-चाण्डालादि होकर भी तस्करी, हिंसा, जूआ तथा पर-पीडनसे अपनेको दूर रखते हैं और जो राक्षस-योनिमें उत्पन्न होकर भी हिंसादि नहीं करते, उन्हें पुण्यात्माओंके भोग इस लोकमें सुलभ होते हैं।

पूर्वजन्ममें दिक्पति निर्ऋति विन्ध्यक्षेत्रमें शबरोंके अधिपति पिंगाक्ष थे। पिंगाक्ष सदैव यात्रियोंकी हिंसक जीवोंसे रक्षा करते एवं दस्युओंसे बचाते थे। एक बार वे केवल अकेले ही जंगलमें विचरण कर रहे थे। पदयात्रियोंका एक झुंड उनके नामका स्मरण करके 'त्राहि, त्राहि' कर रहा था। वहाँ पहुँचनेपर यह विदित हुआ कि पिंगाक्षके चाचा दस्युदलको लेकर यात्रियोंको आतङ्कित कर रहे हैं। पिंगाक्षने इसपर रोक लगायी। फलस्वरूप दस्युओंसे उनका भयंकर संग्राम छिड़ गया। संग्राममें वे मारे गये। परोपकारके लिये शरीर-त्याग करके वे लोकपाल हुए।

५-वरुण—सर्वप्रथम समस्त सुरासुरोंपर विजय प्राप्त करके जलाधीश श्रीवरुणदेवने ही राजसूय यज्ञ किया था। श्रीवरुण जलके अधिपति तथा पश्चिम दिशाके लोकपाल हैं। इनकी रत्नपुरी विभावरी पश्चिमी समुद्रगर्भमें है। पाश इनका प्रमुख अस्त्र है। श्रीवरुणके पुत्र श्रीपुष्कर इनके दक्षिण-भागमें सदैव विद्यमान रहते हैं। ये जल-निवासी एवं जलाधिपति हैं। श्रुतियोंमें इनकी स्तुतियाँ हैं।

६-वायुदेव—वायुदेव जगत्के प्राण हैं। यदि कुछ क्षणोंतक वायुका प्रवाह बंद हो जाय तो संसार नष्ट हो सकता है। ये प्राणियोंके शरीरसे लेकर सम्पूर्ण आकाश, अन्तरिक्ष एवं पृथ्वीको व्याप्त कर स्थित रहते हैं। मध्वसम्प्रदायमें इनकी उपासना विशेष रूपसे प्रचलित है। मध्वसम्प्रदायके अनुयायी इन्हें वायुका अवतार मानते हैं। वायुसे ही मेघ उत्पन्न होते हैं, जिससे वृष्टि होती है। शीतल, मन्द तथा सुगन्धित रूपमें प्रवाहित होकर ये देवगणोंसहित सम्पूर्ण सृष्टिको प्रसन्न रखते हैं। ये सबसे बलवान् कहे गये हैं। झंझावातसे समुद्रोंको प्रकम्पित करना तथा पर्वत-शिखरोंको गिरा देना इनके लिये अत्यन्त सरल कार्य है। महाबली हनुमान् एवं भीमसेन इन्हींके अंश-सम्भूत पुत्र कहे गये हैं।

विद्वानोंके अनुसार प्रवाह-वैभिन्न्यसे इनके शताधिक भेद हैं। वायुदेवके आधिपत्यके कारण ही पश्चिमोत्तरके मध्यकी दिशा वायव्यकोण कही गयी है। भगवान्को लोकस्वरूप कहते हुए अर्जुन गीतामें सर्वप्रथम **'वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः'** कहते हुए वायुदेवका ही उल्लेख करते हैं। इसलिये वायुदेव परमात्मस्वरूप हैं। ये दिखायी नहीं देते, स्पर्शसे ही अपना परिचय देते हैं। इनमें विशिष्ट देवत्व एवं शक्ति है। सम्पूर्ण वायुपुराण इन्हींके द्वारा कहा गया है।

७-कुबेर—महर्षि पुलस्त्यके पुत्र मुनिवर विश्रवाने श्रीभरद्वाजजीकी पुत्री इलविलाका पाणिग्रहण किया था। उसीसे कुबेरका जन्म हुआ। ब्रह्माजीने इन्हें सम्पूर्ण सम्पत्तियोंका स्वामी बनाया। अपने तपोबलसे ये उत्तर दिशाके लोकपाल हुए। कैलासके संनिकट इनकी अलकापुरी है। तीन चरणोंवाले, अष्टदन्त, तुन्दिल-शरीर, श्वेतवर्ण एवं गदाधारी कुबेर अपनी सत्तर योजन विस्तीर्ण वैश्रवणी सभामें विद्यमान हैं। इनके पुत्र मणिग्रीव एवं नलकूबर इनके निकट स्थित रहते हैं। इनके अनुचर यक्ष निरन्तर श्रीकुबेरकी सेवामें लगे रहते हैं।

पृथ्वीमें जो भी भण्डार है, सबके अधिपति कुबेर ही हैं। इनकी महती कृपासे ही मानवको भूगर्भस्थित धन (निधि) की प्राप्ति होती है। श्रीकुबेरजी मनुष्यकी तपस्याके अनुरूप कोषका प्रादुर्भाव अथवा तिरोभाव करते हैं। देवाधिदेव महादेव इन्हें अपना सखा मानते हैं।

८-ईशान—ये भगवान् शिवके ही एक भेद हैं। तत्पुरुष, अघोर आदि पाँच भेदोंमें ये विशेष उल्लेख्य हैं। इनके आधिपत्यके कारण ही उस अधिष्ठित दिशाका नाम ईशानकोण है। इनके विषयमें विशेष जानकारीके लिये लिङ्गपुराण, शिवपुराण एवं ब्रह्माण्डपुराण आदिको देखना चाहिये।

जलाधिनाथ भगवान् वरुण

[गताङ्क पृ॰ सं॰ ४१४ से आगे]

वरुणलोकका वर्णन

स्कन्दपुराण, काशी-खण्ड, अ॰ १२में वरुणलोकके विस्तृत वर्णनमें बताया गया है कि यह लोक अत्यन्त दिव्य एवं आनन्दके उपकरणोंसे सम्पन्न है। अपने उपार्जित शुद्ध धनके द्वारा वापी, कूप, तडागादिका निर्माण करनेवाले निर्जल देशोंमें प्रपा (पौंसला) या जलकी व्यवस्था करनेवाले, दूसरेके क्लेश-तापोंको अपहरण करनेवाले, अर्थियोंको धन, छत्र, कमण्डलु आदि प्रदान करनेवाले, धर्मघटका दान करनेवाले, चन्दन, कर्पूर, इत्र मिले हुए सुगन्धित जल प्रदान करनेवाले, अश्वत्थको सींचनेवाले, मार्गमें छायादार वृक्षोंको लगानेवाले, मार्गमें धर्मशाला आदि निर्माण करने-करानेवाले, ग्रीष्ममें मयूरपिच्छरचित चित्र-विचित्र, तालवृन्त तथा पंखा प्रदान करनेवाले, ब्राह्मणोंको ईखके खेत दान करनेवाले और गोरस, इक्षुरस तथा गो-महिषियोंका दान करनेवाले, देवालयोंमें जलकी व्यवस्था करनेवाले तथा भयभीत व्यक्तियोंको अभय प्रदान करनेवाले पुण्यात्मा वरुणलोकको प्राप्त करते हैं और यहाँ निवास कर उल्लसित होते हैं। जो लोग कण्ठपाशबद्ध दुःखी प्राणियोंको पाशमुक्त करते हैं, वे पाशपाणि भगवान् वरुणके लोकमें निर्भय होकर निवास करते हैं। जो नौका आदि उपायोंके द्वारा बड़ी-बड़ी नदियोंमें यात्रियोंके संतरणका प्रयत्न करते हैं तथा दुःख-समुद्रसे दुःखी प्राणियोंका उद्धार करते हैं अथवा पवित्र नदियोंके किनारे शिला आदिसे सुबद्ध घाटोंका प्रबन्ध करते हैं, वे भी यहाँ आकर सुखपूर्वक निवास करते हैं।

वरुणका दिक्पालत्व

देवाधिदेव वरुण पश्चिम दिशाके अधिपति (दिक्पाल) सभी जलाशयोंके एकमात्र स्वामी जलचर जीवोंके अधिष्ठाता, सभी सत्कर्मोंके साक्षी और श्रेष्ठ फलदाता कहे गये हैं, इनकी उत्पत्तिके विषयमें स्कन्दपुराण, काशी-खण्ड (अ॰ १२) में एक सुन्दर कथा आती है—

प्रजापति कर्दमका शुचिष्मान् नामका एक शील-विनयसम्पन्न, धर्म, धैर्य, स्थैर्य तथा माधुर्य आदि गुणोंसे अलंकृत सुन्दर पुत्र था। वह एक बार अपने साथी बालकोंके साथ 'अच्छोद' सरोवरमें[1] स्नान करने गया। वहाँ जलक्रीडामें संलग्न ही था कि एक शिशुमार (सूँस) नामक जलचर जीवने उसका अपहरण कर लिया। मुनिपुत्रके जलमें लुप्त होते ही उसके साथियोंने उसके पितासे तत्काल आकर यह दुःखद संवाद सुनाया। उस समय कर्दम मुनि शिव-पूजामें बैठे हुए निश्चल, निर्विकल्प-समाधिमें लीन थे और अपने बालककी इस अप्रिय घटनाको सुनकर उनका मन लेशमात्र भी शिवके ध्यानसे अलग नहीं हुआ, अपितु वे और अत्यधिक समाहिततापूर्वक त्रिलोचन सर्वज्ञ भगवान् शङ्करके अङ्गोंका ध्यान, अनुशीलन करने लगे। उन्होंने उस समय शिवके शरीरमें चौदह भुवनोंको देखा तथा उन्हींके शरीरके अन्तर्गत विविध ब्रह्माण्डों और उनके अन्तर्गत चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, तारागण, पर्वत, सरित्-सागर, सरोवर, वृक्ष, अरण्य एवं अनेक देवी-देवताओं और उनकी पुरियोंको भी देखा। उन्हें तत्तद् ब्रह्माण्डोंमें अनेक वापी, कूप, तडाग, आराम, कुल्या, पुष्करिणियाँ भी दीखीं, जिनमेंसे एक सरोवरमें बहुतसे जलक्रीडापरायण मुनिकुमार भी दिखायी दिये। वे मज्जन-उन्मज्जन करते हुए धारा-यन्त्रोंसे एक दूसरेपर जल छिड़कते हुए तथा हाथोंद्वारा जलको पीटकर शब्द करते हुए खेल रहे थे। उन्होंने उन्हीं बालकोंमेंसे एकको शिशुमार (सूँस) के द्वारा अपहृत होते हुए भी समाधिमें ही देखा, जो अत्यन्त दुःखसे विह्वल हो रहा था। जबतक किसी जलदेवीने उस जलचर-जीवसे उस बालकको सहसा झटककर छीन लिया और उसे समुद्रदेवको समर्पित कर दिया, तबतक कोई रुद्ररूपधारी पुरुष हाथमें त्रिशूल लिये हुए जोरोंसे भर्त्सना कर सरित्पति समुद्रसे कहने लगा—'रे समुद्र! शिवभक्त प्रजापति महाभाग कर्दमके इस बालकको शिवकी शक्तिको बिना समझे हुए ही इतनी देर अपने पास कैसे रखे हुए हो।' इतना सुनते

---

[1] १-यह कश्मीरका सुप्रसिद्ध झील है, जिसका वर्तमान नाम अच्छावत है।

ही समुद्र अत्यन्त भयभीत हो गया और उसने बालकको अत्यन्त बहुमूल्य रत्नोंसे अलंकृतकर तथा उसके साथ ही उस शिशुमारको भी रस्सियोंसे बाँधकर भगवान् शङ्करके चरणोंमें समर्पित कर दिया और उनसे निवेदन किया कि 'हे अनाथनाथ ! हे भगवान् विश्वनाथ ! इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है। यह दुष्ट शिशुमार ही इसे पकड़कर ले जा रहा था। आपके गणके द्वारा सूचना मिलनेपर मैं इस अपराधी शिशुमारके साथ मुनि बालकको लेकर यहाँ उपस्थित हुआ हूँ।' आप कृपापूर्वक इसे ग्रहण करें। इसपर थोड़ी देरके पश्चात् शङ्करकी आज्ञासे उनके एक गणने उस बालकको कर्दमके पास लाकर खड़ा कर दिया और कहा कि 'वत्स ! तुम अपने घर जाओ।' इन सारी बातोंको कर्दमने ध्यान-समाधिमें देखा और सुना। और जबतक वे अपनी आँखोंको खोलकर सामने देखते हैं, तो बगलमें आभूषणोंसे अलंकृत जलसंसिक्त काकपक्षी अपने बालकको प्रणाम करते देखा और बगलमें ही उस शिशुमारको भी देखा। बालकके अपने पिताको प्रणाम करनेपर उन्होंने बार-बार उसके मस्तकको सूँघा और पुनः जन्म पाये हुएके समान उसे देखा। कुछ समयके बाद उस बालकने अपने पिताकी आज्ञा लेकर वाराणसीपुरीमें प्रस्थान किया और वहाँ एक शिवलिङ्गकी स्थापना कर दीर्घकालतक घोर तपस्या की, भगवान् शंकरने प्रसन्न होकर बालकसे वर माँगनेको कहा। इसपर उसने सभी जलराशियों एवं जलचरोंका स्वामित्व माँगा। भगवान् शङ्करने तत्काल उसे वरुणके पदपर अभिषिक्त कर दिया। वह सभी सरित्-सरोवर, समुद्र और रत्नोंका स्वामी बना। साथ ही वह पाशपाणि—पश्चिम दिशाका भी अधिपति हुआ[१]। भगवान् शंकरने पुनः कहा—तुम्हारे द्वारा स्थापित इस वरुणेश्वर-लिंग, जो मणिकर्णिकेश्वरके नैर्ऋत्यकोणपर स्थित है, की आराधना करेगा, उसका सारा अज्ञान दूर हो जायगा। वरुणेश्वर शिवके भक्तोंको किसी प्रकारका भय या संताप नहीं होगा और उनकी अग्नि या जल आदिमें मृत्यु नहीं होगी एवं उन्हें जलोदर रोग भी नहीं होगा तथा प्यास भी नहीं सतायेगी। नीरस पदार्थ भी वरुणेश्वरके स्मरणसे सरस हो जाते हैं।' ऐसा कहकर भगवान् शंकर अपने गणोंके साथ वहीं अन्तर्हित हो गये और शुचिष्मान् नामक वह बालक ही वरुणलोकका अधिपति हुआ।

भगवान् वरुणदेवकी पूजा-उपासना

अति प्राचीन कालसे ही भगवान् वरुणदेवकी पूजा-उपासना होती आयी है। प्रायः वैदिक कर्मकाण्ड-प्रक्रियामें उपनयन, विवाहादि-संस्कारों, संवत्सरके मुख्य व्रतोत्सवों, प्रतिष्ठा आदि कर्मों तथा यज्ञादि-अनुष्ठानों—सभी माङ्गलिक कर्मोंमें जलाधिनायक भगवान् वरुणदेवका पूजन किया जाता है। मुख्य रूपसे वरुण-कलशमें तथा जलयात्रा आदिके समय भगवान् वरुणका आवाहन और विविध उपचारोंसे उन्हें प्रसन्न किया जाता है। वृष्टिके अधिनायक तथा समस्त भुवनोंके स्वामी होनेसे वे अपने भक्तोंकी सभी कामनाओंकी पूर्ति करते हैं और अन्तमें अपने धामको प्राप्त कराते हैं। प्रत्येक शुभकर्मोंमें उनका आवाहन-पूजन, वन्दन विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है—

नमो नमस्ते स्फटिकप्रभाय
सुश्वेतहाराय सुमङ्गलाय।
सुपाशहस्ताय झषासनाय
जलाधिनाथाय नमो नमस्ते॥

वे दिक्पति हैं, अतः दिक्पालपूजनके समय और अनावृष्टिके समय भी उनकी विशेष पूजा की जाती है। उनके आवाहन, ध्यान आदिके मन्त्र, स्तोत्र आदि बड़े भावपूर्ण एवं रमणीय हैं, जिसमें कहा गया है कि 'मैं देवाधिदेव जलाधिपति वरुणदेवका आवाहन करता हूँ, वे मकररूपी रथयुक्त वाहनपर विराजमान हैं और उनका स्वरूप हिमालयके शिखरके समान है। उनकी भुजाएँ बड़ी हैं और वे उनमें पाश धारण किये हुए हैं। उनके चारों ओर सभी जलचर जीव स्थित हैं। इस प्रकारके स्वरूपवाले हे वरुणदेव ! आप यहाँ पधारिये और प्रसन्न होइये—

आवाहयामि देवेशं वरुणं जलनायकम्।
कुम्भीरथसमायुक्तं श्वेताद्रिशिखरोपमम्॥

---

[१] अभ्यषिञ्चत तं तत्र वारुणे परमे पदे॥
रत्नानामब्धिजातानामब्धीनां सरितामपि। सरसां पल्लवानाञ्च वाप्यम्बुस्रोतसां पुनः॥
जलाशयानां सर्वेषां प्रतीच्याश्चापि वै दिशः। अधीश्वरः पाशपाणिर्भव सर्वामरप्रिय॥ (स्कन्द, काशी० १२। ९३—९५)

पाशहस्तं महाबाहुं यादोगणसमन्वितम्।
आगच्छ वरुण त्वं हि क्षेत्रेऽस्मिन् संनिधौ भव॥

शतपथ, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा 'हयशीर्ष पाञ्चरात्र' नामक ग्रन्थमें इनकी साङ्गोपाङ्ग उपासना-पद्धति विस्तारसे निर्दिष्ट है।

वरुणप्रघास

वरुण-प्रघास वरुणदेवतासे सम्बद्ध एक विशिष्ट यज्ञ है, जो चातुर्मास्य-यज्ञोंमें दूसरा यज्ञ है। यह श्रावण शुक्ला पञ्चमी या आषाढ़ी पूर्णिमाको वरुणके पाशोंसे मुक्त होनेके उद्देश्यसे अनुष्ठित होता है। यह एक अहीनयाग है, जो एक ही दिनमें पूरा किया जाता है। इसमें जौका सत्तू खाकर रहनेका विधान है। इस व्रतका अनुष्ठान करनेवाला जलमें नहीं डूबता तथा जलोदर आदि रोग नहीं होते। इस यज्ञका विशेष विवरण तैत्तिरीयसंहिता, शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थों तथा सांख्यायन, आश्वलायन आदि श्रौतसूत्रोंमें विस्तारसे वर्णित है।

वरुण अपने उपासकों और भक्तोंके प्रति करुणापूर्ण एवं स्निग्ध-भाव रखते हैं। उनके भक्तगण उनकी कृपासे उनके निवास-स्थानपर पहुँचकर उनके साथ मधुर सरस एवं स्पृहणीय वार्तालाप करते हैं[1] और कभी-कभी उन्हें अपने प्रज्ञाचक्षुसे देखते भी हैं[2]।

आगम-ग्रन्थोंमें अनावृष्टि एवं अतिवृष्टिके निवारण तथा सुख, शान्ति प्राप्त करने, सभी उपद्रवोंके नाश और अभ्युदय-प्राप्तिके लिये 'वारुणी ऋचा' द्वारा हवन आदिका विधान किय गया है। साथ ही सूर्यदेवके शतभिषा नक्षत्रमें आनेपर इस ऋचाका जप करनेसे रोग एवं ऋणका नाश और वशीकरण आदि अभीष्टोंकी सिद्धि होती है। यह 'वारुणी-ऋचा' इस प्रकार है—

ध्रुवासु त्वासु क्षितिषु क्षियन्तो व्यस्मत् पाशं वरुणो मुमोचत्।
अवो वन्वाना अदितेरुपस्थाद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥
(ऋ० ७।८८।७)

इस अनुष्ठान-क्रममें भगवान् वरुणदेवका ध्यान निम्न मन्त्रसे किया जाना चाहिये—

चन्द्रप्रभं पङ्कजसंनिषण्णं
पाशाङ्कुशाभीतिवरं दधानम्।
मुक्ताविभूषाञ्चितसर्वगात्रं
ध्यायेत् प्रसन्नं वरुणं विभूत्यै॥
(शारदातिलक २३।५७)

इस प्रकार भगवान् वरुणदेवकी अनेक रूपोंमें उपासना की जाती है। इनकी महिमा अपार है। वेदके षडङ्गोंमें निरुक्तके तथा साहित्यमें करुणरसके अधिदेवता भगवान् वरुण ही कहे गये हैं। वे अपने भक्तोंको अनुग्रह-प्रदानके साथ-साथ अपनी भक्ति तथा सायुज्य-मुक्ति भी प्रदान करते हैं। अस्तु, वे सर्वदा पूज्य, वन्द्य एवं स्तुत्य हैं। (समाप्त)

श्रीरघुनाथजीके चरण-कञ्ज

तूल बारूद रिंच मूल तें बिलाय जात, पावक चिनगारी के रंच ढिंग आने तें।
घोर तमपुंज मार्तण्ड की मरीचि पाय, काम जर जात ज्यों, त्रिनैन नैन ठाने तें॥
बैजनाथ ध्यायें, रघुनाथ के चरण-कंज, मिटत त्रिताप ज्यों, प्रभाव हिय आने तें।
नामके लिये तें अघ ऐसें मिट जात जैसें, काग उड़ जात है कमान-बान ताने तें॥

—श्रीविभूतिनाथ जगदीशशरणजी विलगइयाँ 'मधुप' द्विवेदी

---

[1] श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्धके कपिलोपाख्यानमें ऋग्वेदके इस वरुण-सूक्तका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। वहाँ भगवान् कपिलदेव अपनी मातासे कहते हैं कि मेरे प्रिय भक्त मेरी उपासनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते, सायुज्य मुक्ति भी नहीं चाहते। वे परस्पर मिलकर मेरे पराक्रमका गान करते हैं, मेरे रुचिर रूपका प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं और मेरे साथ मधुर, स्पृहणीय वार्तालाप करते हैं। (भाग० ३।२५।३५-३६)।

[2] ऋग्वेद मण्डल ७ का ८८ वाँ वरुण-सूक्त।

श्रीभैरव एवं उनकी उपासना

(पं० श्रीसुरेशचन्द्रजी ठाकुर)

भारतीय धर्मपरम्परामें श्रीभैरव एक विशिष्ट देवता हैं। इनका एक स्वतन्त्र आगम है, जो भैरवागमके नामसे प्रसिद्ध है। भैरवको भगवान् श्रीविष्णु तथा शङ्करके समकक्ष माना गया है। विष्णुस्वरूप होकर भी ये साक्षात् शिवके दूसरे रूप माने जाते हैं। शिवपुराणमें कहा है कि '**भैरवः पूर्णरूपो हि शङ्करस्य परात्मनः।**'

आगमों तथा पुराणोंमें भैरव देवताके अनेक चरित्र प्राप्त होते हैं। उनके आविर्भावसे सम्बद्ध उपलब्ध अनेक आख्यानोंमेंसे एक मुख्य आख्यान यह है कि दक्ष प्रजापतिके यज्ञमें योगाग्निद्वारा सतीके देहोत्सर्गकी घटनाको नारदद्वारा सुनकर भगवान् शङ्करको सहसा तीव्र क्षोभ उत्पन्न हो गया और उन्होंने बड़े जोरसे अपनी जटा पृथ्वीपर पटकी तभी एक भीषण रव करता हुआ आकाशको स्पर्श करनेवाला भीषण दिव्य पुरुष प्रकट हो गया और कहने लगा कि आप मुझे क्या आज्ञा देते हैं ? फिर शिवके कथनानुसार उसने दक्ष-यज्ञको भङ्ग कर दिया। वही पुरुष भैरव देवताके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इसलिये ये शङ्करके स्वरूप एवं उनके पुत्र—इन दोनों रूपोंमें प्रसिद्ध हैं।

पुराणों तथा तान्त्रिक ग्रन्थोंमें भैरव देवताका अनेक रूपोंमें वर्णन आता है। इनके प्रमुख आठ नाम इस प्रकार हैं—

१-असिताङ्ग भैरव, २-रुरु भैरव, ३-चण्ड भैरव, ४-क्रोध भैरव, ५-उन्मत्त भैरव, ६-कपालि भैरव, ७-भीषण भैरव और ८-संहार भैरव। इसके अतिरिक्त शारदातिलक तथा बृहज्ज्योतिषार्णव आदिमें श्रीवटुक भैरवकी उपासना-पद्धति प्राप्त होती है। वटुक भैरवका पूजन सामान्य देवताओंकी भाँति ही किया जाता है। 'सप्तविंशतिरहस्यम्' में तीन वटुक भैरवोंके नाम तथा मन्त्रका वर्णन भी है, इनके नाम इस प्रकार हैं—१-स्कन्द वटुक, २-चित्र वटुक, ३-विरञ्चि वटुक।

'रुद्रयामलतन्त्र' तन्त्र-शास्त्रका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, इसमें ६४ भैरवोंका वर्णन है—

१-असिताङ्ग, २-विशालाक्ष, ३-मार्तण्ड, ४-मोदकप्रिय, ५-स्वच्छन्द, ६-विघ्नसंतुष्ट, ७-खेचर, ८-सचराचर, ९-रुरु, १०-कोडदंष्ट्र, ११-जटाधर, १२-विश्वरूप, १३-विरूपाक्ष, १४-नानारूपधर, १५-पर, १६-वज्रहस्त, १७-महाकाय, १८-चण्ड, १९-प्रलयान्तक, २०-भूमिकम्प, २१-नीलकण्ठ, २२-विष्णु, २३-कुलपालक, २४-मुण्डपाल, २५-कामपाल, २६-क्रोध, २७-पिङ्गलेक्षण, २८-अभ्ररूप, २९-धरापाल, ३०-कुटिल, ३१-मन्त्रनायक, ३२-रुद्र, ३३-पितामह, ३४-उन्मत्त, ३५-वटुनायक, ३६-शङ्कर, ३७-भूतवेताल, ३८-त्रिनेत्र, ३९-त्रिपुरान्तक, ४०-वरद, ४१-पर्वतावास, ४२-कपाल, ४३-शशिभूषण, ४४-हस्तिचर्माम्बरधर, ४५-योगीश, ४६-ब्रह्मराक्षस, ४७-सर्वज्ञ, ४८-सर्वदेवेश, ४९-सर्वभूतहृदिस्थित, ५०-भीषण, ५१-भयहर, ५२-सर्वज्ञ, ५३-कालाग्नि, ५४-महारौद्र, ५५-दक्षिण, ५६-मुखर, ५७-अस्थिर, ५८-संहार, ५९-अतिरिक्ताङ्ग, ६०-कालाग्नि, ६१-प्रियंकर, ६२-घोरनाद, ६३-विशालाक्ष और ६४-दक्षसंस्थितयोगीश भैरव।

काली आदि दस महाविद्याओंके पृथक्-पृथक् दस भैरव इस प्रकार हैं—

१-महाकाल, २-अक्षोभ्य, ३-ललितेश्वर, ४-क्रोध भैरव, ५-महादेव भैरव, ६-कालभैरव, ७-नारायण भैरव, ८-मतङ्ग सदाशिव भैरव, ९-मृत्युञ्जय भैरव और १०-वटुक भैरव।

वटुक भैरव देवताके सात्त्विक, राजस एवं तामस तीनों प्रकारके ध्यान तन्त्र-ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। उनका सात्त्विक ध्यान शारदातिलक (२०। ५०)में इस प्रकार है—

वन्दे बालं स्फटिकसदृशं कुन्तलोल्लासिवक्त्रं
दिव्याकल्पैर्नवमणिमयैः किंकिणीनूपुराद्यैः।
दीप्ताकारं विशदवदनं सुप्रसन्नं त्रिनेत्रं
हस्ताब्जाभ्यां वटुकमनिशं शूलदण्डौ दधानम्॥

अत्यन्त प्रभावपूर्ण शरीरयुक्त, प्रसन्न एवं घुँघराले केशसे उल्लसित विस्तृत मुखमण्डलयुक्त और तीन नेत्रोंसे युक्त, दोनों करकमलोंमें क्रमशः त्रिशूल और दण्ड धारण किये हुए, अनुपम एवं दिव्य मणियोंसे निर्मित किंकिणीसे सुशोभित कटिवाले और मधुर ध्वनियुक्त नूपुरोंसे विभूषित पैरवाले तथा

स्फटिकके समान उज्ज्वल वर्णवाले बालस्वरूप वटुक भैरवकी हम अहर्निश वन्दना करते हैं।

श्रीवटुकके प्रातःस्मरणीय दस नाम

कपाली कुण्डली भीमो भैरवो भीमविक्रमः।
व्यालोपवीती कवची शूली शूरः शिवप्रियः॥
एतानि दश नामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
भैरवी यातना न स्याद् भयं क्वापि न जायते॥

श्रीभैरव देवताके कपाली, कुण्डली, भीम, भैरव, भीमविक्रम, व्यालोपवीती, कवची, शूली, शूर तथा शिवप्रिय—इन दस नामोंका जो प्रातःकाल उठकर पाठ करता है, उसे न तो कोई भैरवी यातना होती है और न कोई सांसारिक भय होता है।

आगमग्रन्थोंमें इनके विभिन्न प्रकारके शतनाम, सहस्रनाम, कवच, स्तवराज आदि अनेक स्तोत्र प्राप्त होते हैं। देवी-पूजा आदिमें भी भैरवकी पूजा होती है। नवरात्रोंमें दुर्गापूजन तथा कुमारिका-पूजनके साथ वटुक भैरवकी पूजा होती है तथा प्रायः देवी एवं शिवमन्दिरोंमें इनका विग्रह अवश्य स्थापित रहता है। काशी-प्रयाग आदि मुख्य तीर्थोंके ये क्षेत्रपाल एवं नगरपाल माने गये हैं। वहाँ निर्विघ्न निवासके लिये इनका दर्शन-पूजन आवश्यक माना गया है।

विभिन्न दर्शनोंके अनुसार देवाधिदेव परमात्माका स्वरूप

(राष्ट्रपतिसम्मानित डॉ० श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामी)

[गताङ्क पृ० सं० ४३५ से आगे]

ईश्वरके साथ जीवका सम्बन्ध

न्यायवैशेषिक सिद्धान्तमें जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही विभु अर्थात् व्यापक पदार्थ हैं। जीवाश्रित धर्म और अधर्म ईश्वरसे अधिष्ठित होकर ही सुख और दुःखका जनक होता है।

धर्म और अधर्म अचेतन पदार्थ हैं। अचेतन चेतनाधिष्ठित होकर ही कार्यका जनक होता है। जैसे मिट्टी, दण्ड, चक्र आदि अचेतन पदार्थ चेतन कुम्भकारके द्वारा अधिष्ठित होकर ही घट आदि कार्योंके जनक होते हैं, इसी प्रकार धर्माधर्म भी ईश्वराधिष्ठित होकर ही कार्यका जनक होता है। जीवाश्रित धर्मादिका अधिष्ठाता ईश्वर तभी हो सकता है जब जीवके साथ ईश्वरका कोई सम्बन्ध रहे, किंतु इन दोनोंमें कोई सम्बन्ध ही सम्भावित नहीं है (न्या० वा० पृ० ९५२)।

इसके उत्तरमें कहा जाता है कि जीवात्माके साथ ईश्वरका अजसंयोग अर्थात् नित्य-संयोग सम्बन्ध है। न्यायमें आकाश, दिक्, काल, जीवात्मा और ईश्वर—ये विभु अर्थात् सर्वगत द्रव्य हैं। सभी मूर्त द्रव्योंके साथ संयुक्त द्रव्यको विभुद्रव्य कहा जाता है। किंतु वार्तिककारके अनुसार सभी द्रव्योंके साथ संयुक्त द्रव्य ही सर्वव्यापी या विभुद्रव्य है। मात्र सर्वमूर्तद्रव्य-संयोगीको ही विभु नहीं कहते। विभुद्रव्योंके साथ विभुद्रव्योंका अजसंयोग-सम्बन्ध होनेसे जीवात्माके साथ परमात्माका भी नित्य संयोग सम्बन्ध है। अतः धर्माधर्मका अधिष्ठाता ईश्वर होता है। जो आचार्य अजसंयोग दोनोंमें नहीं मानते हैं वे संयुक्त-संयोग सम्बन्ध मानते हैं। न्यायमतमें मन अणुपरिमाण और मूर्तद्रव्य है। विभुद्रव्य मूर्तद्रव्योंके साथ संयुक्त रहता है। इसलिये मन जैसे जीवके साथ संयुक्त है वैसे ही ईश्वरके साथ भी संयुक्त है। अतः जीवात्मसंयुक्त मनःसंयोग ईश्वरमें है एवं ईश्वरसंयुक्त मनःसंयोग जीवात्मामें है। जीवात्माओंका मनःसमुदाय ईश्वरके साथ संयुक्त है। अतः सम्बद्ध-सम्बन्ध जीवात्माका ईश्वरके साथ है और इसके द्वारा वह जीवात्मामें समवेत धर्माधर्मका अधिष्ठाता है। (न्या० वा० पृ० ९५७)।

वाचस्पति मिश्रने अजसंयोगमें आचार्योंकी सम्मति न देखकर परम्परा-सम्बन्ध स्वीकार किया है—संयुक्तसंयोगि-समवाय सम्बन्ध माना है। परमाणु आदि ईश्वरके साथ संयुक्त है। ईश्वर-संयुक्त परमाणु आदिके साथ जीवात्मा भी संयुक्त है और जीवात्मामें धर्माधर्म समवेत है, अतः ईश्वरके साथ धर्माधर्मका संयुक्त संयोगिसमवाय है। ईश्वरसंयुक्त परमाणु आदिके संयोगी जीवात्मामें धर्माधर्मका समवाय है, अर्थात् ईश्वरसंयुक्त जीवात्मामें धर्माधर्म समवाय-सम्बन्धी है। '**संयुक्तसमवायो वा क्षेत्रज्ञेन ईश्वरस्य संयोगात् अजसंयोगस्यापि उपपादितत्वात्**' (न्या० वा० पृ० ९५७)।

अद्वैत वेदान्तमें—

जीव ईशो विशुद्धाचित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥

इस रूपमें जीव, ईश्वर, विशुद्ध ब्रह्म, जीव और ईशका भेद अविद्या और चित्का सम्बन्ध—ये छः अनादि हैं।

जयन्त भट्टने न्यायमञ्जरीमें ईश्वरमें नित्य सुख भी स्वीकार किया है, इसका विशेष उद्देश्य अपवर्गकी दशामें नित्य आनन्दकी उपलब्धि है, अन्यथा न्याय और बौद्ध-मतमें अपवर्गमें आत्मा पाषाणप्राय हो जायगा। क्योंकि बौद्धोंने विज्ञान-संततिके उच्छेदको ही निर्वाण माना है। इसलिये उनका निर्वाण चिन्त्य है। इसीलिये सुखाभिव्यक्तिका समर्थन किया है—

किन्तु त्रैलोक्यनिर्माणनिपुणः परमेश्वरः ।
स देवः परमो ज्ञाता नित्यानन्दः कृपान्वितः ॥

(न्यायमं० १०, पृ० १७५)

उपसंहारमें यह सूचित करना आवश्यक है कि ईश्वर सर्वात्मक कुम्भकारसे विलक्षण अधिष्ठान आदिकी अपेक्षा बिना ही जगत्का निर्माता है। उस देवको अपने चित्तका समर्पण या तन्मयताकी प्राप्ति या तद्रूप सम्पत्ति ही दर्शनका परम लक्ष्य है। इस प्रसङ्गमें सर्वात्मक वेदके इस मन्त्रको प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया गया है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

(ऋक्० १०।८१।३)

परमेश्वरके द्वारा निर्मित इस जगत्की सृष्टिमें क्या अधिष्ठान और उपादान है? इसीका उत्तर इस मन्त्रमें है।

जगत्का स्रष्टा परमेश्वर सर्वात्मक है, इसलिये अधिष्ठान और उपादानकी अपेक्षाके बिना ही जगत्की सृष्टि करनेमें वह समर्थ है। परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त-चक्षु, सर्वत्र व्याप्त-मुख, सर्वत्र व्याप्त-बाहु, सर्वत्र व्याप्त-पाद् है। ऐसा व्यापक परमेश्वर अपने मध्यमें ही तीनों लोकोंकी सृष्टि करता है, दोनों भुजाओंके द्वारा द्युलोकमें भलीभाँति प्रेरित करता है और गमनशील चरणोंके द्वारा पृथ्वीको भलीभाँति प्रेरित करता है। ईश्वर-सृष्ट चौदह भुवनस्वरूप जगत्में स्वप्रकाश एक देवता अवस्थित है।

भगवद्गीताके त्रयोदश अध्यायके १३वें श्लोकमें भी कहा गया है—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

पूर्वोक्त '**विश्वतश्चक्षुरुत०**' इस मन्त्रमें प्रथमसे सर्वज्ञत्व कहा है, चक्षुसे दृष्टिकी प्रतीति है, द्वितीयसे सर्ववक्तृत्व अर्थात् प्राणिमात्रके हितका उपदेशक परमेश्वर ही है, ऐसा कहा गया है। मुखके द्वारा वाणीकी प्रतीति है। '**विश्वतो बाहुः**' इस तृतीय विशेषणसे परमेश्वरको सभी कार्योंका अदृष्ट सहकारी कहा गया है, अतः वह सर्वकर्ता है। '**विश्वतस्पात्**' इस चतुर्थ विशेषणके द्वारा ईश्वर सर्वत्र व्याप्त कहा गया है। इन विशेषणोंके द्वारा स्थूल नेत्र, बाहु और पाद नहीं कहा गया है, क्योंकि वह अशरीरी अपाणिपाद है। '**सं बाहुभ्यां धमति**' इस विशेषणसे बाहु शब्दसे धर्म और अधर्म कहा गया है। धर्म और अधर्म ही सभी कार्योंका बीज है। '**सं पतत्रैः**' इसके द्वारा परमाणु या प्रकृति आरम्भक द्रव्यको कहा गया है। ईश्वर अधिष्ठाता है और धर्माधर्मरूप अदृष्ट परमाणु, प्रकृति आदि ईश्वरका अधिष्ठेय है। चेतन ईश्वरसे अधिष्ठित होकर ही अचेतन कार्यका जनक होता है।

'देव' शब्दसे प्रकाशात्मक परमेश्वर और 'एक' शब्दसे उसको अनादि, अनन्त और अद्वय कहा गया है। (समाप्त)

* * *

सध्रीचीनान् वः समनसः कृणोम्येकश्नुष्टीन् संवननेन सहृदः ।
देवा इवेदमृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सुसमितिर्वो अस्तु ॥

समान गतिवाले आप सबको सममनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान भावोंके साथ एक अग्रणीका अनुसरण करें। देव जिस प्रकार समान चित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सायं और प्रातः आप सबकी उत्तम समिति हो। (अथर्ववेद, पैप्पलादशाखा)

* * *

श्रीमद्भगवद्गीतामें देवताओंका स्वरूप

(श्रीरामकृष्णजी मिश्र, पी॰सी॰एस॰)

देवताओंके मूल आकर ग्रन्थ वेद हैं। देवता तथा उनकी स्तुतियाँ ही वेदमन्त्रोंका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं। शौनक ऋषिद्वारा प्रणीत 'बृहद्देवता' विशेषरूपसे ऋग्वेदमें वर्णित देवताओंका एक सर्वमान्य परिचायक ग्रन्थ है तथा यास्काचार्यरचित 'निरुक्त' में वैदिक देवता-सम्बन्धी शब्दोंकी व्युत्पत्तियाँ दी गयी हैं। इन ग्रन्थोंमें देवताओंको पृथ्वी-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय तथा द्यु-स्थानीय देवता—इन तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है। पृथ्वी-स्थानीय देवताओंमें अग्निका, अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओंमें इन्द्रका तथा द्यु-स्थानीय देवताओंमें विष्णु तथा सूर्यका स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। पहले उनकी तैंतीस कोटियाँ मानी गयीं। पुनः अक्षपाद (गौतम) ऋषिने परिवार, वर्ग, विभूति, मार्ग, लिङ्ग, नित्य, निमित्त, कर्म, गण, ग्राम, वस्तु, शरीर एवं प्रकृति आदि क्रमोंके आधारपर देवताओंकी संख्या तैंतीस करोड़ बतायी है। इन्हीं देवताओंकी कृपासे जगत्‌का समस्त कार्य संचालित होता है तथा उपासक धन-धान्य, पुत्र-संतति, सुख-शान्ति और ऋद्धि-समृद्धि एवं मोक्षतककी अभिलाषा करते हैं।

वैदिक संहिताओंमें देवताओंका त्रिविध रूप भी मिलता है। उनका प्रथम आधिभौतिक या स्थूल रूप है, जिसका नेत्रोंसे साक्षात्कार किया जा सकता है, दूसरा आधिदैविक रूप है, जो सूक्ष्म एवं अव्यक्त होनेके कारण इन्द्रियोंसे अतीत माना गया है। उनका तीसरा आध्यात्मिक रूप सभी देवताओंका समुच्चय है, जिसमें सभी देवता एक ही मूल सत्तामें स्थित हैं तथा उसी सत्ताके विकासमात्र हैं। उदाहरणस्वरूप ऋग्वेदमें महर्षि प्रजापति परमेष्ठी जगत्‌के मूलतत्त्वकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'आनीद वातं स्वधया तदेकम्' (ऋग्वेद १०।११९।२)

अर्थात् सृष्टिके प्रारम्भमें केवल एक ही वस्तु थी, जो वायुके बिना ही अपनी शक्तिसे श्वास लेती थी। इस विचारधाराका स्रोत प्रज्ञामूलक है, जो अपनी प्रतिभाके द्वारा तत्त्वोंका विवेचन करता हुआ एक ही सत्तापर स्थिर हो जाता है। निरुक्तकारने इसी अद्वैत-भावको निरुक्तके दैवतकाण्डमें इस प्रकार व्यक्त किया है—

'महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।'
'एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।'

(निरुक्त, दैवतकाण्ड ७।४।१)

पुराणों एवं धर्मशास्त्रोंमें वर्णित देवयोनियोंके ज्ञानके लिये श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धका सातवाँ अध्याय द्रष्टव्य है, जिसमें इन्द्रकी सभामें सभी प्रकारके देवताओंको एक साथ उपस्थित दिखाया गया है।

इन्द्रः .... ।
मरुद्भिर्वसुभी रुद्रैरादित्यैर्ऋभुभिर्नृप ॥
विश्वेदेवैश्च साध्यैश्च नासत्याभ्यां परिश्रितः।
सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥
विद्याधराप्सरोभिश्च किन्नरैः पतगोरगैः।
निषेव्यमाणो मघवान् स्तूयमानश्च भारत ॥

भाव यह कि उनकी सभामें मरुद्गण, वसु, रुद्र, आदित्य, ऋभुगण, विश्वेदेव, साध्यगण, अश्विनीकुमार, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, ब्रह्मवादी मुनि, विद्याधर, अप्सरा, किन्नर, खगदेव तथा नागदेव उपस्थित थे। अमरकोषमें भी देवताओंको गणदेवता तथा देवयोनि नामक दो वर्गोंमें विभाजित किया गया है—

आदित्यविश्ववसवस्तुषिताभास्वरानिलाः ।
महाराजिकसाध्याश्च रुद्राश्च गणदेवताः ॥
विद्याधरोऽप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥

इस विभाजनमें आदित्य, विश्वेदेव, वसु, तुषित, आभास्वर, अनिल, महाराजिक, साध्यगण तथा रुद्र 'गणदेवता' हैं एवं विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध तथा भूत 'देवयोनियाँ' हैं।

देवताओंमें पञ्चदेव अर्थात् विष्णु, शिव, सूर्य, शक्ति, गणपति तथा पुनः त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु एवं शङ्करकी सत्ता स्वीकार की गयी है। इन सब देवताओंके परे एक ऐसी सार्वभौमिक सत्ता भी है, जो अपने-आपमें यथावत् स्थित रहती है। सृष्टिका सर्जन, पालन तथा संहार भी वही शक्ति करती है तथा आवश्यकतानुसार ईश्वर-रूपसे अंशावतार, पूर्णावतार, आवेशावतार एवं कलावतार लेती है। यही

एकमात्र शक्ति सभी देवताओंको एक सूत्रमें बाँधे रहती है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें देवोपासना

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा श्रीमद्भगवद्गीतामें ज्ञान, कर्म, उपासना, योग, ध्यान, सांख्य, वेदान्तदर्शन, धर्म, आत्मा एवं अन्यान्य आध्यात्मिक विषयोंका अत्यन्त सारगर्भित उपदेश अर्जुनको दिया गया है। इसलिये गीता सर्वशास्त्रमयी कही गयी है। उसमें देवोपासना संक्षिप्त किंतु ओजस्वी शैलीमें वर्णित है। वैदिक, पौराणिक एवं अन्य शास्त्रोंके समान श्रीमद्भगवद्गीतामें भी देवताओंकी विभिन्न कोटियोंको स्वीकार किया गया है। देवताओंका वर्णन एक तो उनके विशिष्ट नाम-क्रमसे, दूसरा भगवद्विभूति-क्रमसे तथा तीसरा उनके समूह-क्रमसे दिया गया है।

निम्नाङ्कित श्लोकोंमें देवताओंके नामोंका वर्णन द्रष्टव्य है—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

उपर्युक्त श्लोकोंमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा प्रजापति आदिका उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त **'देवानामस्मि वासवः'** में इन्द्रका, **'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि'** में शिवका, **'वित्तेशो यक्षरक्षसाम्'** में कुबेरका, **'पुरोधसां बृहस्पतिम्'**, में बृहस्पतिका, **'सेनानीनामहं स्कन्दः'** में स्वामिकार्तिकका, **'देवर्षीणां नारदः'** में नारदका, **'गन्धर्वाणां चित्ररथः'** में चित्ररथका, **'सिद्धानां कपिलो मुनिः'** में कपिलका, **'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः'** में कामदेवका, **'सर्पाणामस्मि वासुकिः'** में वासुकिका, **'अनन्तश्चास्मि नागानाम्'** में अनन्त (शेषनाग) का, **'पितॄणामर्यमा चास्मि'** में अर्यमाका, **'रामः शस्त्रभृतामहम्'** में रामका, **'स्रोतसामस्मि जाह्नवी'** में गङ्गाका तथा **'गायत्री छन्दसामहम्'** में गायत्री एवं कुछ अन्य विशिष्ट देवताओंका भी विभूतियोंके निर्देशनमें वर्णन हुआ है।

ग्यारहवें अध्यायके निम्न श्लोकमें गण-देवताओंका उल्लेख है—

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥

पूर्वोक्त प्रकरणोंमें परिपठित देवगणोंका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

१-रुद्र—श्रीमद्भागवत (६।६।१७-१८) में वर्णन आया है कि दक्षकी कन्या सरूपा तथा भूतसे करोड़ों रुद्रगण उत्पन्न हुए। उनमेंसे ११ प्रसिद्ध हैं जो इस प्रकार हैं—रैवत, अज, भव, भीम, वाम, उग्र, वृषाकपि, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, बहुरूप और महान्।

हरिवंशपुराणके हरिवंशपर्वमें हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व तथा कपाली—ये ११ रुद्र बतलाये गये हैं।

२-आदित्य—दक्ष-कन्या अदिति तथा कश्यपसे १२ आदित्योंका प्रादुर्भाव हुआ, जिनके नाम हैं— विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र तथा त्रिविक्रम ।

३-वसुगण—श्रीमद्भागवत (६।६।११) के अनुसार धर्मकी वसु नामक पत्नीसे वसुगणोंका आविर्भाव हुआ, इसी कारण ये 'वसु' कहलाते हैं। संख्यामें ये आठ हैं—द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वसु एवं विभावसु। महाभारतके अनुसार इनके नाम—धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल, प्रत्यूष एवं प्रभास हैं (१।६६।१८)।

४-साध्यगण—दक्षकी पुत्री साध्या तथा धर्मसे बारह साध्यगण उत्पन्न हुए, जिन्हें क्रमशः मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, प्रभव तथा विभु कहा गया है—

मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरो यानश्च वीर्यवान्॥
चित्तिर्हयो नयश्चैव हंसो नारायणस्तथा।

प्रभवोऽथ विभुश्चैव साध्या द्वादश जज्ञिरे ॥

(वायु॰, उत्तर॰ ५। १५-१६)

५-विश्वेदेव—धर्म तथा दक्ष-पुत्री विश्वासे उत्पन्न देवोंको विश्वेदेव कहा गया है। वायुपुराणके अनुसार ये १० हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् तथा रोचमान—

क्रतुर्दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामो धुनिस्तथा ॥
कुरुवान् प्रभवांश्चैव रोचमानश्च ते दश।

(वायु॰, उत्तर॰ ५। ३१-३२)

६-अश्विनीकुमार—बडवारूपमें स्थित संज्ञा तथा विवस्वान्‌से दोनों अश्विनीकुमार—नासत्य तथा दस्त्र उत्पन्न हुए। इन्हें देवताओंका वैद्य माना जाता है।

७-मरुद्‌गण—प्रजापति कश्यप तथा दक्ष-कन्या दितिसे ४९ मरुद्‌गण उत्पन्न हुए। वे दितिके पुत्र होनेपर भी इन्द्रके सहचररूपमें देवता माने गये हैं। वे सत्त्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्यग्ज्योति, सज्ज्योति एवं ज्योतिष्मान् आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं।

८-उष्मपा या पितृगण—मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके २३७वें श्लोकमें कहा गया है कि पितृगण उष्ण (गरम) अन्न ही ग्रहण करते हैं। अतः उन्हें उष्मपा कहा गया है। दक्ष-कन्या स्वधा तथा अङ्गिरा ऋषिसे सात पितृगणोंकी उत्पत्ति हुई। जिनके नाम हैं—कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त तथा बर्हिषद्। इनमें अन्तिम तीन पितृगण अमूर्त अर्थात् आकाररहित सूक्ष्मरूपमें स्थित होते हैं।

कव्यवाहोऽनलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा।
अग्निष्वात्ता बर्हिषदस्त्रयश्चान्या ह्यमूर्तयः ॥

(शिवपुराण, विद्येश्वर॰ ६३। २)

९-गन्धर्व—प्रजापति कश्यप तथा दक्षसुता मुनिसे मौनेय नामक गन्धर्वों तथा प्राधासे प्राधेयसंज्ञक गंधर्वोंकी उत्पत्ति हुई। गन्धर्वोंकी संख्या बहुत है। जिनमें मौनेय-गन्धर्वोंमें—भीमसेन, उग्रसेन, सुपर्ण, वरुण आदि तथा प्राधेय-गन्धर्वोंमें—सिद्ध, पूर्ण, बर्हि, पूर्णायु, ब्रह्मचारी तथा रतिगुण आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके राजा विश्वावसु चित्ररथ हैं।

१०-अप्सरा—गन्धर्वोंके समान अप्सराओंकी उत्पत्तिके भी कई स्रोत हैं। भागवतके छठे स्कन्धके छ अध्यायमें उन्हें दक्ष-कन्या मुनि तथा कश्यपसे और अन्य समुद्र-मन्थनके समय समुद्रसे उत्पन्न होना बताया गया है गन्धर्व गायन एवं वादन करते हैं तथा अप्सराएँ नृत्य ए अभिनय करती हैं। स्कन्दपुराणके काशीखण्डमें कुल अप्सरा तीन करोड़ पचास लाख बतायी गयी हैं, इनमें क्रतुस्थला पुञ्जिकस्थला, मेनका, रम्भा, उर्वशी, प्रम्लोचा, अनुम्लोचा तिलोत्तमा, पूर्वचित्ति तथा घृताची आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

११-यक्ष—यक्षोंकी उत्पत्ति महर्षि कश्यपकी प खसासे मानी गयी है। यक्षोंके अधिपति कुबेर हैं।

किन्नर तथा किंपुरुष भी प्रायः यक्षोंके साथ रहते हैं उनका मुख घोड़ेके समान तथा शरीर देवताओंके समा होता है।

१२-असुर—'असु'का अर्थ प्राण तथा 'र' का अ 'लानेवाला' या 'वाला' होता है। इस प्रकार यह विशेष वरुण तथा दूसरे देवोंके लिये व्यवहृत हुआ है। परवर्ती युग असुर देवोंके शत्रुके रूपमें प्रसिद्ध हो गये। अतः देवताओं विरोधी दैत्य, दानव तथा राक्षसोंको भी असुर कहते हैं।

१३-सिद्ध—वायुपुराणके अनुसार एक प्रकारके देवत जिनकी संख्या ८८,००० है। सूर्यके उत्तर तथा सप्तर्षियों दक्षिणमें इनका स्थान है। ये एक कल्पके लिये अमर मा जाते हैं तथा सब प्रकारकी स्थूल एवं सूक्ष्म शक्तियोंसे युक्त होते हैं।

१४-देवर्षि—देवलोकमें निवास करना, भूत-भविष्य एवं वर्तमानका ज्ञान होना तथा सर्वदा सत्य बोलना आदि देवर्षिके लक्षण हैं। वे अपनी सिद्धियों तथा ऐश्वर्यके बलप सभी लोकोंमें आवागमन कर सकते हैं।

ऋषन्ति देवान् यस्मात्ते तस्माद्देवर्षयः स्मृताः ॥

(वायु॰, पूर्वार्ध ६१। ८५)

धर्मके दोनों पुत्र नर तथा नारायण, क्रतुके पु बालखिल्य, पुलह ऋषिके पुत्र कर्दम, पर्वत, नारद तथ कश्यपके दोनों पुत्र असित और वत्सर आदि देवर्षि कहलाते हैं।

१५-उरग या नागदेव—दक्ष-कन्या कद्रू तथा तार्क्ष्य नामधारी कश्यपसे नाग उत्पन्न हुए तथा विनतासे गरुड आदि

उत्पन्न हुए जो पक्षिदेवोंकी श्रेणीमें आते हैं।

इसके अतिरिक्त ऋभुगण, विद्याधर, चारण, गुह्यक, महाराजिक, किन्नर, किंपुरुष आदि देवतागण भी देव-श्रेणियोंमें आते हैं।

देवयोनियोंकी प्राप्तिका आधार कर्मफल

अनादिकालसे जीवोंके जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्मफलको दृष्टिगत रखते हुए सभी योनियोंकी रचना हुई है। गीतामें कर्मोंका विभाजन कई प्रकारसे किया गया है। जैसे कर्म-विकर्म-अकर्म, इष्ट-अनिष्ट-मिश्र, सात्त्विक-राजस-तामस, विहित-निषिद्ध, प्रारब्ध-क्रियमाण-संचित, कायिक-वाचिक-मानसिक तथा शुभ-अशुभ-शुभाशुभ। त्रिगुणात्मिका मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, दस इन्द्रियाँ तथा उनके पाँच विषयोंके समुदायका नाम गुण-विभाग और इनकी पारस्परिक चेष्टाएँ कर्म-विभाग हैं। गुण एवं कर्म-विभागके आधारपर सृष्टिक्रम चलता रहता है। प्रकृतिके इन्हीं गुणोंसे मोहित हुए पुरुष कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। सात्त्विक, राजस तथा तामस गुणोंके आधारपर उनके द्वारा साधन भी किया जाता है। सात्त्विक प्राणी देवोंकी, राजस यक्ष एवं राक्षसोंकी तथा तामस लोग भूत-प्रेतोंकी उपासना करते हैं। तदनुसार उन्हें ऊर्ध्व, मध्य अथवा अधोलोकोंकी प्राप्ति होती है (गीता १७।४, १४।१८)।

देवताओंकी पूजाका कारण

श्रीमद्भगवद्गीतामें देवोपासनाके कई कारण दिये गये हैं। गीताके तीसरे अध्यायमें बताया गया है कि सृष्टिकी रचनाके बाद प्रजापति ब्रह्माने प्रजाको कर्तव्य-शिक्षा देते हुए कहा कि प्रजाजन सात्त्विक यज्ञोंके द्वारा देवताओंको संतुष्ट करें तथा देवताओंका भी कर्तव्य है कि वे भी प्रजाजनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करके उन्हें उन्नत एवं संतुष्ट करें। इस प्रकार यज्ञके माध्यमसे पारस्परिक कल्याणका मार्ग प्रशस्त किया गया है। (१०-११)।

अपने कर्म, स्वभाव तथा प्रकृतिके अनुसार कुछ सात्त्विक एवं तत्त्वज्ञानी लोग परम पुरुषार्थ—मोक्षको प्राप्त करनेका साधन करते हैं। सामान्य जन कामनाओंके उद्देश्यसे देवोपासना करते हैं। इनके भी दो भेद हैं। जिन सकामी भक्तजनोंकी सांसारिक भोगोंमें आसक्ति होती है तथा जो स्त्री, पुत्र, धन, भवन एवं मानकी कामना करते हैं, उनको इन वस्तुओंकी प्राप्ति देवताओंके यजन-पूजनके माध्यमसे शीघ्र हो जाती है—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥
(४।१२)

कुछ लोग उत्कृष्ट लोकोंकी प्राप्तिके लिये देवोपासना करते हैं। वे इसके लिये शास्त्रविहित यज्ञों एवं अन्यान्य सात्त्विक कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। अन्तमें उन्हें उन लोकोंकी प्राप्ति भी हो जाती है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
(गीता ९।२०)

इस प्रकारके भक्तजन देवत्वको तो प्राप्त कर लेते हैं, परंतु वे कर्म देवताकी कोटिमें आते हैं अर्थात् मानवयोनिमें उनके द्वारा किये गये पुण्योंके क्षीण होनेपर वे पुनः मृत्युलोकको प्राप्त करते हैं तथा उनका यह स्वर्ग-मृत्युलोकके आवागमनका चक्र निरन्तर चलता रहता है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥
(गीता ९।२१)

जो भक्तजन परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्षके लिये परमसत्ताका निष्काम-भावसे यजन करते हैं, पर किसी कारण-विशेषसे उनका वह भगवत्प्राप्तियोग पूर्ण नहीं हो पाता है, ऐसे लोगोंको मोक्ष न मिलनेके कारण उनके द्वारा अर्जित पुण्यका भोग करनेके लिये वे देवयोनिको प्राप्त होते हैं तथा स्वर्गके भोगोंको भोगनेके बाद धर्मनिष्ठ ऐश्वर्यशाली व्यक्तियोंके यहाँ उनका जन्म होता है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
(गीता ६।४१)

सर्वदेवनमस्कारः केशवम्प्रति गच्छति

पुरुषार्थ-चतुष्टयमें प्रथम श्रेणीके सात्त्विक लोग भगवान् श्रीकृष्णको ही परमेश्वर मानते हैं तथा वे उनके प्रति अपनी अनन्य भक्ति रखते हुए सायुज्यको प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् कृष्णको सभी देवताओंका अधिपति माननेके कुछ कारण इस प्रकार हैं—

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वदेवाधिपति हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णको देव, देवदेव, विश्वेश्वर, विश्वरूप, विष्णु, आदिदेव, पुरुषोत्तम, परमेश्वर, प्रभु, देववर, विश्वमूर्ति, लोकपिता, देवेश तथा केशव आदि नामोंसे सम्बोधित किया गया है—

भगवान्‌के दिव्य रूपको देखनेकी अभिलाषा देवता भी अपने हृदयमें रखते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥

(गीता ११। ५२)

ब्रह्मा तथा शङ्कर आदि ईश्वरकोटिके देवताओं तथा आजानसंज्ञक कल्पान्तस्थायी देवताओंको भी विश्वरूप-दर्शनमें दिखाया गया है। इससे उनकी परमेश्वरता सिद्ध होती है।

भगवान् स्वयं सम्पूर्ण जगत्‌के आधारभूत कारण हैं। उन्हें सभी भूतप्राणियोंके लिये गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय-स्थान, निधान तथा अविनाशी बीज माना गया है—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(गीता ९। १८)

अपनी प्रकृति कर्म तथा स्वभावानुसार सकाम भक्तजन जब अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं तो भगवान् श्रीकृष्ण ही उन देवताओंमें उन भक्तोंकी निष्ठाको अटल करते हैं। उन भक्तोंको उस विशिष्ट देवताके प्रति श्रद्धासे जो फल प्राप्त होता है, वह भी भगवान्‌के द्वारा उस देवताके माध्यमसे दिया जाता है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥

(गीता ७। २०—२२

अन्य देवताओंका पूजन भी भगवत्पूजन ही है। गीता 'वासुदेवः सर्वमिति' कहा गया है। जो सकाम भक्तजन अ देवताओंका पूजन एवं उपासना करते हैं, वे भी प्रकारान्तर भगवान्‌का ही पूजन करते हैं, क्योंकि भगवान् स्वयं यज्ञ तथा यज्ञोंके स्वामी एवं उपभोक्ता भी वे स्वयं ही हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

(गीता ९। १६

देवताओंकी सकाम उपासनासे देवलोककी प्राप्ति हे सकती है। परंतु निष्काम उपासनासे प्राणी भगवान्‌का सांनिध्य प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। परमगति या मोक्षकी प्राप्ति भगवा श्रीकृष्णकी आराधना तथा ज्ञानसे हो सकती है। सम्पूर्ण जग परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे ही व्याप्त है।

उपर्युक्त कथनोंसे सिद्ध है कि वे सम्पूर्ण संसारमें व्या हैं तथा जगत्‌में उनसे परतर अन्य कुछ भी नहीं है। वे सर्वदेवात्मा, सर्वदेवमय तथा विश्वमय हैं। सभी देवता उन्हींके अङ्ग हैं। निम्नाङ्कित श्लोकोंसे यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है—

आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवम्प्रति गच्छति॥

(पाण्डवगीता, श्लोक ८५

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥

(महाभारत, भीष्म० ४३। २

भगवान्‌की पूजासे सभी देवताओं तथा प्राणियोंकी तुष्टि हो जाती है और तत्त्वज्ञानके द्वारा की गयी किसी भी देवता ए प्राणीकी पूजा भगवान्‌की पूजा होती है और किसीको किय गया प्रणाम आदि भी उन्हींको प्राप्त होता है।

श्रीदुर्गासप्तशतीमें देवता-तत्त्व

(श्रीचतुर्भुजजी तोषणीवाल)

मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत श्रीदुर्गासप्तशतीके पाठ करने तथा दुर्गार्चन करनेका भारतवर्षके प्रायः सभी प्रान्तोंमें अधिक प्रचार है और नवरात्रोंमें तो शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक सोत्साह किया जाता है। दुर्गोपासनाकी परम्परा प्राचीन कालसे ही चली आ रही है। दुर्गाके अनेक नाम हैं, इनमें मुख्य रूपसे देवी दुर्गा ही प्रधान देवता हैं। मनुष्योंके द्वारा ये आराधित होनेपर उन्हें भोग, स्वर्ग, अपवर्ग सब कुछ प्रदान कर देती हैं— **'आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा।'** किंतु गौणरूपमें अन्य देवी-देवताओंकी चर्चा भी आयी है। यहाँ इसी ग्रन्थका आधार लेकर देवता-तत्त्वपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जा रहा है—

श्रीदुर्गासप्तशती (१।६४) में भगवती महामायाका स्वरूप सुमेधा ऋषिने **'नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्॥'**— इस आधे श्लोकमें ही बता दिया है।

महर्षि अम्भृणकी वाक् नाम्नी ब्रह्मविदुषी कन्याने सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लिया था। उन्होंने अपना आत्मस्वरूप प्रकट करते हुए आठ मन्त्रोंमें जो उद्गार प्रकट किये हैं, उन्हें देवीसूक्त कहा जाता है। देवीसूक्तमें सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माकी महिमाका गान इस प्रकार किया गया है—वे कहती हैं—'मैं ही रुद्रादि समस्त देवताओंके रूपमें, समस्त कर्म, कर्म-संस्कार एवं कर्मफलके रूपमें, सब प्रकार उपासना, उसका ज्ञान एवं उसके फलके रूपमें, तत्त्वोपदेष्टाके रूपमें, साधना अथवा वैषयिक सर्वकर्मोंके नियन्ताके रूपमें, जगत्प्रसवित्री, पालयित्री एवं संहन्त्री शक्तिरूपा जननीके रूपमें प्रकाशित हुआ करती हूँ; किंतु मेरे जगदतीत निरञ्जनस्वरूपकी महिमा मन-वाणीके अगोचर है, अतः दुर्ज्ञेय है।'

इसी प्रकार 'श्रीदेव्यथर्वशीर्ष' में देवताओंकी जिज्ञासाके उत्तरमें महादेवी स्वयं कहती हैं—**'अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। शून्यं चाशून्यं च।'** इसमें महादेवीके स्वरूपका अत्यन्त सुन्दर वर्णन है। संक्षेपमें, समस्त देवताओंके रूपमें एक देवी ही प्रकाशित हो रही हैं।

भगवतीके इस अनिर्वचनीय स्वरूपके विषयमें श्रवण करके अथवा ज्ञान प्राप्त करके साधककी पिपासा-निवृत्ति नहीं होती। जगद्भोगमें अभ्यस्त जीव तो परमात्माको प्रत्यक्ष करना चाहता है, उसका उपभोग करना चाहता है, उसके चरणोंमें अपना सुख-दुःख निवेदन करना चाहता है, उसकी कृपा-दृष्टि प्राप्त करके सदा-सदाके लिये उसके साथ सायुज्य चाहता है। इसका उपाय श्रीदुर्गासप्तशतीमें अत्यन्त रोचक शैलीमें प्रस्तुत किया गया है।

जीवकी साधनाका लक्ष्य है—सच्चिदानन्द-स्वरूपकी अनुभूति। यही जीवका शुद्ध स्वरूप है। किसी भी कारणवश हम भले ही असत्, अचित् एवं निरानन्द हो गये हैं, हमें अपने स्वरूपकी विस्मृति हो गयी है, किंतु उस स्वरूप-स्मृतिका हमें पुनर्लाभ हो, इसीलिये साधनाकी आवश्यकता है। 'मैं अनन्तकालतक रहूँ, मेरा अस्तित्व लोप न हो'—इसीका नाम 'सत्' की उपासना है। 'मैं चिरकालतक रहूँ और मुझे इसका ज्ञान भी रहे कि मैं हूँ'—इसीका नाम 'चित्' की साधना है। 'मैं चिरकाल रहूँ, यह जानता हुआ सर्वदा आनन्दमय रहूँ'—इसीका नाम 'आनन्द'की साधना है। इस प्रकार प्रत्येक जीव सच्चिदानन्दका अन्वेषी है। देवी-माहात्म्यके तीनों चरित्रोंमें क्रमशः सत्, चित् एवं आनन्दकी प्रतिष्ठाका ही वर्णन है। अब संक्षेपमें तीनों चरित्रोंके आख्यानपर विचार किया जा रहा है—

प्रथम चरित्रका प्रतिपाद्य विषय है—'सत्-प्रतिष्ठा।' ऊँच-नीच नाना योनियोंमें भटकता हुआ जीव जब महामायाकी अहैतुकी कृपासे अनुगृहीत होता है, तब उसका अन्तःकरण स्वर्गीय ज्योतिसे उद्भासित होता है। अर्थात् निर्मल ज्ञानालोक हृदयको प्रकाशित कर देता है और वह भगवत्सत्ताके विषयमें पूर्णतः विश्वासवान् हो जाता है। किंतु अनादिजन्मसञ्चित संस्कारोंके हेतु क्षुधा, तृष्णा, निद्रा प्रभृति, दैहिक, स्त्री-पुत्रादि सांसारिक, धन-यश प्रभृति जागतिक, दया-क्षमा-संध्या-वन्दनादि प्रभृति पारमार्थिक एवं वैधकर्म-जनित भावराशियाँ उसके चित्तको चञ्चल किये रहती हैं। राजा सुरथ एवं समाधि नामक वैश्य अपने ही परिजनोंद्वारा तिरस्कृत तथा निर्विण्ण

होकर वनमें चले गये और दोनोंको परस्पर कुशल-प्रश्न करनेपर यह ज्ञात हुआ कि दोनोंकी स्थिति समान है और वे उन लोगोंके लिये ही दुःखी हैं, जो उनसे शत्रुवत् व्यवहार करते हैं और उनका तिरस्कार करते हैं, यह सब, जानते हुए भी मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। दोनों ही अपने मोहका वास्तविक कारण निश्चित न कर पाने-हेतु सद्गुरु सुमेधा ऋषिकी शरणमें गये और उनसे मोह-मुक्त होनेका उपाय पूछा। महर्षि सुमेधाने उन्हें समझाते हुए कहा—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ।

(दुर्गा० १ । ५५-५६)

भगवती महामाया, प्राणिमात्र यहाँतक कि ब्रह्मा, विष्णु, महेशको भी बलपूर्वक मोहाभिभूत कर देती हैं। अतएव इससे दुःखित होनेका कोई कारण नहीं रहता, केवल सर्वदा यही ध्यानमें रखना चाहिये कि मोहरूपसे माँ ही उपस्थित हैं, हम तो उनके क्रीडनमात्र हैं। ये 'महामाया' कौन हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें सुमेधा ऋषिने आधे श्लोकमें ही उनका स्वरूप बता दिया—

'नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।'

यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होनेवाला सम्पूर्ण जगत् 'महामाया'का ही स्वरूप है और वही जगत्की समस्त वस्तुओंमें व्याप्त है। इस सिद्धान्तको सरल विश्वासके साथ सर्वभावेन स्वभाव बना लेनेपर ही सर्वत्र मातृदर्शन होने लगता है। यही 'सत्'-प्रतिष्ठा है। तभी हम इस विश्वरूपिणी जगज्जननीको प्रणाम करते हुए सरल मनसे कह सकते हैं—

सर्वरूपमयी देवी सर्वं देवीमयं जगत्।
अतोऽहं विश्वरूपां तां नमामि परमेश्वरीम्॥

'देवी क्यों और कैसे आविर्भूत होती हैं?'—इस प्रश्नके उत्तरमें सुमेधा ऋषिने कहा कि 'देवी देवताओंके कार्यसिद्धि-हेतु समय-समयपर प्रकट होती हैं।' प्रथम चरित्रमें योगमाया निद्रादेवीका चरित्र वर्णित हुआ है। प्रलयकालमें भगवान् विष्णु प्रलयपयोधिमें शेषशय्यापर योगनिद्रालीन होकर शयन कर रहे थे। विपद्ग्रस्त ब्रह्माने भगवती योगमायाकी स्तुति करके उन्हें निद्रादेवीसे मुक्त कराया। तब भगवान् विष्णुने योगमायाके प्रभावसे मुग्ध असुरद्वय मधु-कैटभका उन्हींके वरके प्रभावसे वध किया और प्रजापति ब्रह्माकी जीवन-र की। मधु-कैटभके मेदसे मेदिनी (पृथ्वी) का प्रादुर्भाव हुआ

मध्यमचरित्रमें भगवती महालक्ष्मीका प्राकट्य वर्णि हुआ है। देवासुरसंग्राममें महिषासुरने देवराज इन्द्रको पराजि करके स्वर्ग छीन लिया और इन्द्र-समेत सूर्य, वरुण, अ वायु, यम, चन्द्रमा प्रभृति समस्त देवताओंका अधिक छीनकर वह स्वयं ही अधिष्ठाता बन बैठा। दुःखी देव ब्रह्माजीको साथ लेकर भगवान् विष्णु एवं शिवके समीप और उनके सम्मुख अपनी दुरवस्थाका वर्णन किय देवताओंकी करुण दशाको देखकर भगवान् श्रीविष्णु, शि एवं इन्द्रादि देवता क्षुब्ध हो गये और उनके शरीरसे महान् ते निःसृत हुआ और वह तेजःपुञ्ज घनीभूत होकर एक दि स्त्रीके रूपमें परिवर्तित हो गया, जिसके तेजसे सारा वि उद्भासित हो उठा—

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥

(२ । १

स्कन्दपुराण, मार्कण्डेयपुराण, कालिकापुराण, देवीपु एवं देवीभागवत आदिमें महिषमर्दिनी दुर्गा सम देवशक्तियोंका समन्वित रूप हैं। श्रीदुर्गासप्तशती मध्यमचरित्रमें उनकी उत्पत्ति तथा असुरोंके संहारस महिष-वधका चरित्र निरूपित है। यह समस्त देवताओं एकत्र संघटित रूप है।

भगवतीका विग्रह चिन्मय है, क्योंकि यह तेजसे ही प्रक हुआ है। पृथक्-पृथक् देवताओंके तेजसे भगवती दुर्गा पृथक्-पृथक् अवयव गठित हुए और प्रत्येक देवताओं अपने-अपने शस्त्रास्त्र जो उनकी व्यक्तिगत विशिष्ट शक्तिके प्रतीक हैं, उनको समर्पित किया। कुछ देवताओंने अप शोभा, सम्पत्ति एवं वैभवके प्रतीक वस्त्र, अलंकार, माल्या भी माँको सादर समर्पित किया। इस प्रकार समस्त देवताओं सम्मानित देवीने प्रसन्न होकर अट्टहास किया। उस प्रच अट्टहाससे क्रुद्ध महिषासुर अपनी विशाल सेनासहित देवी दिशामें जब अग्रसर हुआ, तो देखता है कि एक सिंहा सहस्रों भुजाओंवाली देवी अपनी प्रभासे तीनों लोको प्रकाशित कर रही हैं। उनके चरणोंके भारसे पृथ्वी दबी जा र

है और उनके मस्तकस्थित मुकुटसे आकाशमें रेखा-सी खिंच रही है। वे देवी अपने दिव्य धनुषकी भयङ्कर टङ्कारसे सभी लोकोंको विक्षुब्ध कर रही हैं।

जबतक देववृन्द अपनी अलग-अलग शक्तिके भरोसे असुरोंसे युद्ध कर रहे थे तबतक विजयी न हो सके थे, फलतः पराभूत हो गये। तदनन्तर देवताओंकी समष्टि महती शक्ति 'महालक्ष्मी' के रूपमें अपने तेजोमय स्वरूपसे असुरकुलको भयभीत करने लगी। उस महासमरमें देवीने समस्त सेनापतियोंसहित महिषासुरको परास्त कर दिया। देवताओंद्वारा की गयी स्तुतिमें महालक्ष्मीके प्राकट्य-सिद्धान्तको कितने सुन्दररूपसे व्यक्त किया गया है—'**देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या।**' अर्थात् समस्त देवताओंके समवेत शक्तिपुञ्जकी साकार मूर्ति धारण करके जिसने अपनी आत्म-शक्तिसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त कर रखा है।' वह सम्पूर्ण स्तुति अत्यन्त सुन्दर एवं नित्य पठनीय है। देवीने तत्पश्चात् प्रसन्न होकर देवताओंको वर प्रदान किया कि इस स्तुतिद्वारा जो भी प्राणी मेरी स्तुति करेगा, मैं उसकी ऐहिक एवं पारलौकिक समस्त कामनाएँ पूर्ण करूँगी।

~~केनोपनिषद्में~~ एक आख्यायिका है। असुरोंको पराजित करके देववृन्द अपनी शक्तिपर गर्व कर रहे थे, उसी समय ब्रह्मने यक्षरूपसे प्रकट होकर अग्निसे पूछा—'तुम्हारेमें क्या शक्ति है?' अग्निके यह कहनेपर कि वह अपनी शक्तिसे क्षणभरमें सारे विश्वको भस्मीभूत कर सकता है, यक्षने उसके सम्मुख एक तृण-खण्ड रखकर उसे जलानेको कहा। अग्नि अपनी सम्पूर्ण शक्तिका प्रयोग करके भी उस क्षुद्र तिनकेको नहीं जला सके। इसी प्रकार यक्षने वायुको उस तृणको उड़ा ले जानेको कहा, किंतु वायु उसे टस-से-मस भी नहीं कर सके। तब देवगणोंकी समझमें आया कि वास्तवमें उनकी अपनी कोई शक्ति नहीं है, वे सम्पूर्ण शक्तियोंके मूल केन्द्र सर्वशक्तिमान् परमात्मासे ही सशक्त होते हैं। अन्यथा अशक्त और निष्क्रिय हो जाते हैं। माँ हैमवती दुर्गा ही शक्तिका अन्यतम स्वरूप हैं।

इसके बाद श्रीदुर्गासप्तशतीमें उत्तर चरित्रका आख्यान प्रारम्भ होता है। पुराकालमें शुम्भ और निशुम्भ नामक दैत्योंने देवताओंसमेत देवराज इन्द्रको अपने बलसे परास्त करके उनके समस्त अधिकार छीनकर अपने अधीन कर लिये। भगवती महालक्ष्मीद्वारा प्रदत्त वरको स्मरण करके देवगण हिमालयपर जाकर देवी विष्णुमायाकी स्तुति करने लगे। तब वहाँ स्नानार्थ आयी हुई भगवती पार्वतीकी देहसे अम्बिकादेवी प्रकट हुईं। दैत्यराज शुम्भने अम्बिकाके अपूर्व रूपकी ख्याति सुनकर विवाहका प्रस्ताव भेजा। देवीद्वारा तिरस्कृत होकर उसने क्रमशः अपने सेनापति धूम्रलोचन एवं चण्ड-मुण्डको उसे बलपूर्वक पकड़ लाने-हेतु भेजा। ये सभी युद्धमें देवीद्वारा निहत हुए। तत्पश्चात् कुपित दैत्यराजने समस्त दैत्य सेनाओंको एकत्र करके संगठितरूपसे महाबली रक्तबीजके अधीनत्वमें देवीको लाने-हेतु भेजा। इस अवसरपर समस्त देवताओंके शरीरसे उनकी विशिष्ट शक्तियाँ उन्हींके अनुरूप भूषण-वाहन-आयुधादिसहित प्रकट होकर असुरोंसे युद्ध करने-हेतु उपस्थित हुईं (८। १२-१४)। ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही, ऐन्द्री, शिवा आदि प्रमुख शक्तियाँ प्रबल वेगसे असुरोंका विनाश करने लगीं। रक्तबीजके वधोपरान्त निशुम्भका भी वध हो गया। तब दैत्यराज शुम्भ युद्ध-हेतु आया और आते ही उसने व्यङ्ग्यपूर्वक देवीसे कहा कि 'तुम तो दूसरोंके बलके भरोसे युद्ध कर रही हो, तुम्हें इतना गर्व शोभा नहीं देता।' इसके उत्तरमें देवीने कहा—

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥
ततः समस्तास्ता देव्यो ब्रह्माणीप्रमुखा लयम्।
तस्या देव्यास्तनौ जग्मुरेकैवासीत्तदाम्बिका॥
(१०। ५-६)

'अरे दुष्ट! इस संसारमें एकमात्र मैं ही स्थित हूँ, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है। देखो, ये सारी मेरी ही विभूतियाँ हैं, अतः मुझमें ही प्रवेश कर रही हैं। तदनन्तर ब्रह्माणी-प्रभृति समस्त देवियाँ अम्बिकादेवीके शरीरमें लीन हो गयीं और वहाँ अकेली अम्बिकादेवी ही रह गयीं।'

इस उपाख्यानकी श्रीमद्भगवद्गीताके दशम अध्यायके विभूतियोग एवं विशेषरूपसे एकादश अध्यायके विश्वरूप-दर्शनके सिद्धान्तसे सादृश्य द्रष्टव्य है। अद्वैततत्त्वका कितना सुन्दर एवं विशद प्रदर्शन है। '**अत्र जगति एक अहम् एव**'-इसकी व्यञ्जना है—'इस संसारमें जो कुछ प्रतीत हो रहा

है वह एकमात्र मैं ही हूँ।' यह जगत् मेरा ही स्थूल रूप है। 'जगत्' में मन, बुद्धि इत्यादिका भी समावेश हो जाता है। **'द्वितीया का ममापरा'** वाक्यद्वारा सर्वविध द्वैतका निषेध कर दिया गया है। श्रुतिके **'एकमेवाद्वितीयम्'** की अपेक्षा भी इसमें कुछ विशेषत्व है। श्रुतिवाक्यसे सर्वभेदविवर्जित एक परम वस्तुकी सत्तामात्रका बोध होता है और उसके स्वरूपको समझानेके लिये **'अस्थूलमनणु' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** आदि परोक्षवाक्योंकी एवं **'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत् त्वमसि'** आदि प्रत्यक्ष वाक्योंकी सहायता लेनी पड़ती है। किंतु उपर्युक्त मन्त्रमें देवीने अपना आत्मपरिचय देनेमें प्रत्यक्षताबोधक शब्दोंका प्रयोग करके युगपत् अपनी सत्ता एवं स्वरूप दोनोंको स्पष्ट-रूपसे व्यक्त कर दिया है। ब्रह्माणी-प्रमुख विभिन्न शक्तियोंका विकास देखकर शुम्भ जब अम्बिकादेवीके एकत्वके विषयमें संशयापन्न हो गया, तब माँने कृपापू अपनी विभूतियोंका अपनेमें संहरण करके प्रमाणित कर दि कि ये सब उनकी विभूतियाँ ही हैं, पृथक् शक्तियाँ नहीं

इस प्रकार भगवती महामायाके दिव्य चरित्रोंसे परि श्रीदुर्गासप्तशती एक अपूर्व मन्त्रात्मक ग्रन्थ है। पूर्ण समर्पण भावनासे मातृचरणोंका आश्रय लेकर इसका सम्यक् अनु करनेसे ऐहिक एवं पारलौकिक सब प्रकारकी मनःकामनाएँ पू होती हैं। सब प्रकारकी बाधाओं एवं विपदाओंका नाश हो है। नित्यकर्मरूपसे इसका निष्काम सेवन करनेसे साधक मनसे शनैः-शनैः कामनाकी गंध क्षीण हो जाती है अ मातृकृपासे साधककी आध्यात्मिक उन्नतिका पथ प्रशस्त हो जाता है—

'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये।'

* * *

चतुष्षष्टि योगिनी

चौंसठ मातृ-योगिनियाँ शीघ्र ही फल देनेवाली होती हैं। लिखा है कि धूप-दीप, नैवेद्य, पूजा, उपहार आदिका यदि समर्पण किया जाय तो ये माताएँ शीघ्र प्रसन्न हो जाती हैं और सभी अभिलषित पदार्थोंको देती हैं (स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ४५।४६)। जो योगिनी-पीठका सेवन करता है, उसके सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। यदि मातृ-योगिनियोंके पीठपर अन्य मन्त्रका भी जप किया जाता है तो वह भी शीघ्र फलप्रद होता है (स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ४५।४५)। इनके नामोंके सुननेमात्रसे क्षणमात्रमें ही पाप जलकर नष्ट हो जाते हैं—

'आकर्ण्य यानि पापानि क्षयन्ति भविनां क्षणात्॥'

(स्कन्दपु॰, काशी॰ ४५।३३)

जो इनके नामोंका पाठ करते हैं, उन्हें डाकिनी, शाकिनी, कूष्माण्ड एवं राक्षस आदि पीड़ा नहीं पहुँचा सकते। उनके बच्चोंको शान्ति मिलती है और गर्भकालमें भी किसी प्रकारका कोई कष्ट नहीं होता। संग्राम, राजसभा और विवादमें विजय प्राप्त होती है—

न डाकिन्यो न शाकिन्यो न कूष्माण्डा न राक्षसाः।
तस्य पीडां प्रकुर्वन्ति नामानीमानि यः पठेत्॥
शिशूनां शान्तिकारीणि गर्भशान्तिकराणि च।
रणे राजकुले वापि विवादे जयदान्यपि॥

(स्कन्दपु॰, काशी॰ ४५।४३-४

कल्पभेदसे चतुष्षष्टि योगिनियोंके नाम भिन्न-भि आख्यासे पाँच प्रकारके मिलते हैं।

१-**'जया च विजया चैव जयन्ती चापराजिता'** आ नाम शान्तिसारमें मिलते हैं।

२-**योगिन्यष्टाष्टकं वक्ष्ये ऐन्द्रादीशान्ततः क्रमात्।**
अक्षोभ्या रूक्षकर्णी च राक्षसी कृपणाक्षया॥

यह मत अग्निपुराणका है।

३-**'अघोरा घोररूपा च चण्डा चण्डप्रभा तथा'**—य पक्ष प्रतिष्ठा-तिलकका है।

४-**'दिव्ययोगा महायोगा सिद्धयोगा महेश्वरी'** आ क्रम रुद्रयामलका है। ५-**'गजानना सिंहमुखी गृध्रास् काकतुण्डिका'** आदि नाम काशीखण्ड एवं रुद्रकल्पद्रुम मिलते हैं।

यहाँ स्कन्दपुराणके काशीखण्डोक्त मातृकाओंके चौंस नाम दिये जाते हैं—

१-गजानना, २-सिंहमुखी, ३-गृध्रास्या, ४-काकतुण्डिक ५-उष्ट्रग्रीवा, ६-हयग्रीवा, ७-वाराही, ८-शरभानन

९-उलूकिका, १०-शिवारावा, ११-मयूरी, १२-विकटानना, १३-अष्टवक्त्रा, १४-कोटराक्षी, १५-कुब्जा, १६-विकटलोचना, १७-शुष्कोदरी, १८-ललज्जिह्वा, १९-अश्वदंष्ट्रा, २०-वानरानना, २१-ऋक्षाक्षी, २२-केकराक्षी, २३-बृहत्तुण्डा, २४-सुराप्रिया, २५-कपालहस्ता, २६-रक्ताक्षी, २७-शुकी, २८-श्येनी, २९-कपोतिका, ३०-पाशहस्ता, ३१-दण्डहस्ता, ३२-प्रचण्डा, ३३-चण्डविक्रमा, ३४-शिशुघ्नी, ३५-पापहन्त्री, ३६-कालीरुधिरपायिनी, ३७-वसांधया, ३८-गर्भभक्षा, ३९-शवहस्ता, ४०-अन्त्रमालिनी, ४१-स्थूलकेशी, ४२-बृहत्कुक्षिणी, ४३-सर्पास्या, ४४-प्रेतवाहना, ४५-दन्दशूककरा, ४६-क्रौञ्ची, ४७-मृगशीर्षा, ४८-वृषानना, ४९-व्यात्तास्या, ५०-धूमनिःश्वासा, ५१-व्योमैकचरणा, ५२-ऊर्ध्वदृक्, ५३-तापनी, ५४-शोषणीदृष्टि, ५५-कोटरी, ५६-स्थूलनासिका, ५७-विद्युत्प्रभा, ५८-बलाकास्या, ५९-मार्जारी, ६०-कटपूतना, ६१-अट्टाट्टहासा, ६२-कामाक्षी, ६३-मृगाक्षी और ६४-मृगलोचना।

काशीमें चौसट्टीघाटपर चतुष्षष्टिदेवीके मन्दिरमें इन चौंसठ देवियोंके पूजनसे सम्यक् फलकी प्राप्ति होती है। ये काशीमें नित्य निवास करती हैं। एक दिनके लिये भी ये काशीका परित्याग नहीं करतीं। घूमनेके लिये तीनों लोकोंमें अवश्य जाती हैं, किंतु काशीके अतिरिक्त और कहीं निवास नहीं करतीं (४५। २३)। काशीसे तो इनका पहलेसे ही लगाव रहा है। इनका काशीमें इतना गहरा अनुराग है कि जब भगवान् विश्वनाथने इनको काशी भेजा तो ये बहुत प्रसन्न हुईं, क्योंकि काशीके दर्शनोंके लिये ये पहलेसे ही उत्कण्ठित थीं। काशी आनेमें इनको देर कितनी लगती। दूरसे ही इन्होंने आँखे फैलाकर काशीको देखा और बहुत प्रसन्न हुईं तथा अपनी आँखोंकी उपलब्धिको धन्य माना। इन्होंने अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंकी इसलिये प्रशंसा की कि बड़ी होनेके नाते काशीको ये इच्छाभर देख पायीं (४५। १)। माताओंका काशीवासियोंसे भी बहुत प्रेम है, इसलिये शास्त्रमें आदेश दिया गया है कि काशीके निवासी वर्षमें एक बार चैत्र कृष्ण प्रतिपदाको माताओंका दर्शन अवश्य करें। यदि काशीके निवासी आलस्यवश या अवज्ञावश इस वार्षिकी यात्राको न कर सकेंगे तो उनको पग-पगपर विघ्न होगा। इनके नमस्कारमात्रसे मनुष्य विघ्नोंसे पीड़ित नहीं होता—

चैत्रकृष्णप्रतिपदि तत्र यात्रा प्रयत्नतः।
क्षेत्रविघ्नप्रशान्त्यर्थं कर्तव्या पुण्यकृज्जनैः॥
यात्रां च सांवत्सरिकीं यो न कुर्यादवज्ञया।
तस्य विघ्नं प्रयच्छन्ति योगिन्यः काशिवासिनः॥
अग्रे कृत्वा स्थिताः सर्वास्ताः काश्यां मणिकर्णिकाम्।
तन्नमस्कारमात्रेण नरो विघ्नैर्न बाध्यते॥

(स्कन्दपु०, काशी० ४५। ५२—५४)

योगिनीचक्र—विशिष्ट देवपूजा, प्रतिष्ठादि कर्मों तथा यज्ञ-यागादि अनुष्ठानोंमें यज्ञमण्डपमें आग्नेय (दक्षिण-पूर्व) कोणके चतुष्षष्टि कोष्ठात्मक वेदीमें तत्तद् देवियोंकी स्थापना कर आवाहनपूर्वक वैदिक मन्त्रों अथवा नाममन्त्रादिसे उनका पञ्चोपचार अथवा षोडशोपचार पूजन किया जाता है।

चतुष्षष्टि योगिनी-चक्र

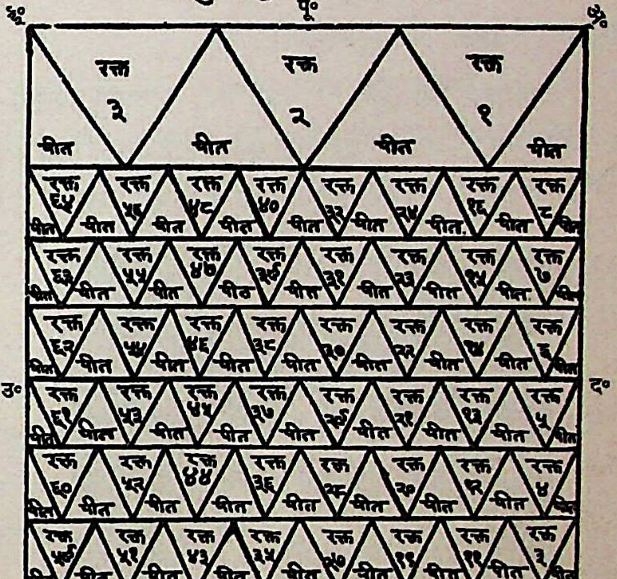
ई०
पू०
अ०
रक्त ३
रक्त २
रक्त १
पीत
रक्त ६४
रक्त ५६
रक्त ४८
रक्त ४०
रक्त ३२
रक्त २४
रक्त १६
रक्त ८
रक्त ६३
रक्त ५५
रक्त ४७
रक्त ३९
रक्त ३१
रक्त २३
रक्त १५
रक्त ७
रक्त ६२
रक्त ५४
रक्त ४६
रक्त ३८
रक्त ३०
रक्त २२
रक्त १४
रक्त ६
उ०
द०
रक्त ६१
रक्त ५३
रक्त ४५
रक्त ३७
रक्त २९
रक्त २१
रक्त १३
रक्त ५
रक्त ६०
रक्त ५२
रक्त ४४
रक्त ३६
रक्त २८
रक्त २०
रक्त १२
रक्त ४
रक्त ५९
रक्त ५१
रक्त ४३
रक्त ३५
रक्त २७
रक्त १९
रक्त ११
रक्त ३
रक्त ५८
रक्त ५०
रक्त ४२
रक्त ३४
रक्त २६
रक्त १८
रक्त १०
रक्त २
रक्त ५७
रक्त ४९
रक्त ४१
रक्त ३३
रक्त २५
रक्त १७
रक्त ९
रक्त १
पीत
वा०
प०
नै०

आरम्भमें चक्रके पूर्व भागमें दक्षिणसे उत्तरकी ओर तीन कलशोंमें महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वतीकी स्थापना कर उनकी पूजा करनी चाहिये। इन योगिनी माताओंके अनुग्रहसे दुःखोंका विनाश, अभयप्राप्ति एवं सर्वविध कल्याणकी प्राप्ति होती है।

◆

रामभक्त श्रीहनुमान्जीके दर्शन

भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण विश्वके एक महान् आदर्श हैं और भक्तोंके लिये तो वे सर्वस्व ही हैं। मर्यादापुरुषोत्तम भगव श्रीरामके अत्यन्त प्रीतिभाजन हैं—पवनपुत्र श्रीहनुमान्जी। ये अपने प्राणाराध्यके बिना एक क्षण भी नहीं रह पाते, इसी का जहाँ-जहाँ भगवान् श्रीसीता-रामजीके मन्दिर एवं श्रीविग्रह हैं, वहीं श्रीमहावीरजी भी भगवान्के सेवक-रूपमें दर्शन देते विद्या, बुद्धि, बल, तेज, वीरता, पराक्रम, सेवा एवं भक्तिके मूर्तस्वरूप तथा नैष्ठिक ब्रह्मचर्यके अद्भुत आदर्श श्रीहनुमान्जी प्रति उनके भक्तों तथा साधकोंकी अत्यधिक निष्ठा एवं अपार भक्ति है। ये भक्तजनोंके प्रेरणास्रोत होनेके साथ ही उनके भी हैं। इनकी कृपासे भक्तको भगवान् मिलते हैं। उनकी अर्चाके रूपमें श्रीसीतारामकी अर्चा तथा श्रीसीतारामकी आराधना रूपमें हनुमान्जीकी भी आराधना होती है। सम्पूर्ण भारत ही नहीं, प्रत्युत बाहरके देशोंमें भी श्रीमहावीरजीकी आराधना लोग ब श्रद्धासे करते हैं। देशमें प्रायः सर्वत्र उनके छोटे-बड़े स्वतन्त्र मन्दिर हैं तथा श्रीराम-मन्दिरोंमें भी उनके अर्चा-विग्रह हैं। जाग्र देवताके रूपमें इनकी मान्यता है। इनकी आराधनासे फलकी प्राप्ति सद्यः होती है। इसीलिये सर्वत्र श्रीहनुमान्जीके मन्दिरों दर्शनार्थियोंकी भीड़ बढ़ती ही जा रही है। भाग्यशाली उपासकोंको भगवान् श्रीमहावीर अपना प्रत्यक्ष दर्शन देकर उनका कल्या करते हैं। श्रीसंकटमोचनजीके कतिपय पावन-स्थलों तथा अर्चा-विग्रहोंका यहाँ संक्षिप्त विवरण दिया गया है। भावनापूर्व इनका दर्शन करनेसे भक्तको मनोवाञ्छित फल प्राप्त होनेके साथ-साथ भगवद्-भक्ति भी प्राप्त होती है।

हनुमानगढ़ीके श्रीहनुमान्जी

सप्तमोक्षदायिनी पुरियोंमें परिगणित, भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी नगरी अयोध्या सरयूके पावन तटपर अवस्थित है। यहाँका श्रीहनुमान्-मन्दिर 'हनुमानगढ़ी'के नामसे विख्यात है।

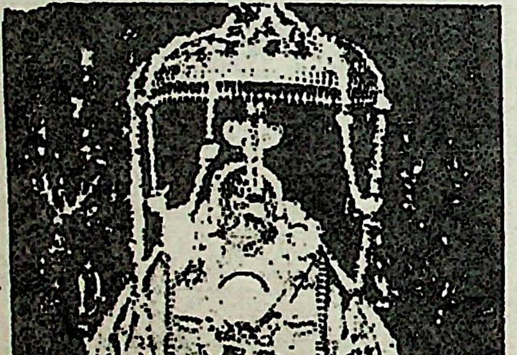

वह राजद्वारके सामने ऊँचे टीलेपर चतुर्दिक् प्राचीरके भीतर है। मन्दिर बड़ा है और उसमें श्रीहनुमान्जीकी स्थानक मूर्ति है। श्रीमारुतिकी एक और मूर्ति यहाँ है, जो केवल छः इंच ऊँची है और सदा पुष्पाच्छादित रहती है। श्रीहनुमान्जीके भक्तोंके लिये यह स्थान विशेष श्रद्धास्पद है। भक्तों एवं दर्शनार्थियों कारण यहाँ नित्य ही मेला-सा लगा रहता है। मंगलवार त शनिवारको तो अपार भीड़ होती है तथा भक्तजन भगवान् दर्शनकर अपनेको परम भाग्यशाली मानते हैं।

श्रीसंकटमोचन हनुमान्जी

(१) भगवान् भूतभावनकी नगरी काशीके दक्षिण लं मुहल्लेके निकट एक छोटेसे अरण्यके मध्य श्रीसंकट मोचनजीका पावन स्थल है। यहाँका वातावरण एकान्त, शान्त पवित्र एवं उपासकोंके लिये दिव्य साधन-स्थलीके योग्य है मन्दिरके प्राङ्गणमें श्रीहनुमान्जीके दिव्य विग्रहके सम्मु श्रीराघवेन्द्रसरकार, श्रीकिशोरीजी एवं श्रीलखनलालजीके सा विराजमान हैं। श्रीहनुमान्जीके मन्दिरमें अलग एक ओ भगवान् विश्वनाथजीकी लिङ्गमयी एक मूर्ति भी विराजमान है श्रीसंकटमोचन हनुमान्जीके समीप ही श्रीठाकुरजी भगवा श्रीनृसिंहके रूपमें विराजमान हैं।

भगवान्के परम कृपापात्र श्रीतुलसीदासजीको कर्णघण्टा स्थलपर कथाके समय जब श्रीहनुमान्जीका दर्शन कोढ़ी-वेष हुआ, तब गोस्वामीजी उनके पीछे-पीछे चलने लगे। अस मुहल्लेसे दक्षिण घोर जंगल (वर्तमान लंका)में पहुँचक तुलसीदासजी उनके चरणोंपर गिर पड़े। अत्यन्त विनम्र प्रार्थना करनेपर श्रीहनुमान्जी प्रकट हो गये और बोले—'तुम क्य चाहते हो?' गोस्वामीजीने कहा—'मैं भगवान् श्रीरामक

दर्शन करना चाहता हूँ।' श्रीहनुमान्‌जीने अपना दक्षिण बाहु उठाकर कहा—'जाओ, चित्रकूटमें प्रभु-दर्शन होगा।' पुनः वाम बाहुको अपने हृदयपर रखकर बोले—'हम दर्शन करा देंगे।' गोस्वामीजीने कहा—'प्रभो ! आप इसी रूपसे भक्तोंके लिये यहींपर निवास करें।' श्रीहनुमान्‌जीने 'तथास्तु' कहा और वे वहीं विराजमान हो गये।

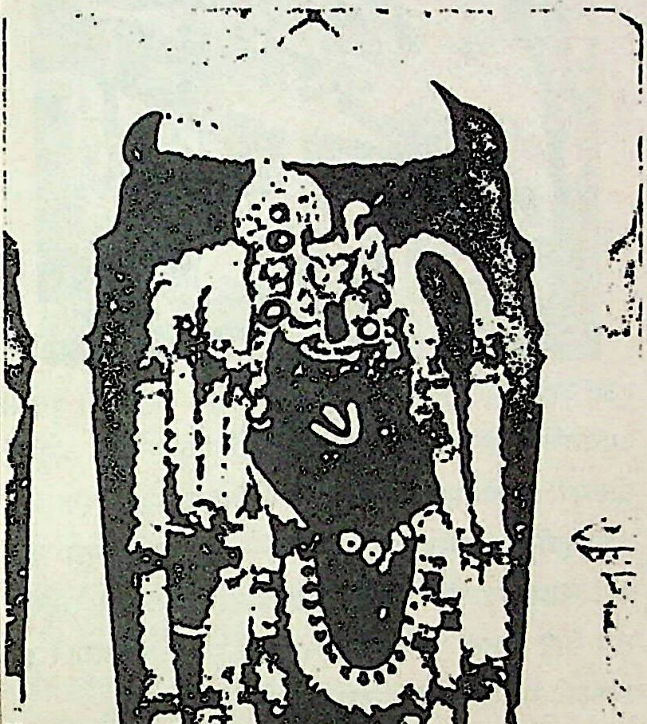

श्रीसंकटमोचनकी यह अर्चा-प्रतिमा गोस्वामी तुलसीदासजीके तप एवं पुण्यसे प्रकट हुई स्वयम्भू मूर्ति है। इस मूर्तिमें श्रीहनुमान्‌जी दक्षिण भुजासे भक्तोंको अभयदान कर रहे हैं एवं वामभुजा उनके हृदयपर स्थित है। प्रतिमा प्रायः पुष्पाच्छादित रहती है।

श्रीसंकटमोचन हनुमान्‌जी सदा ही अपने भक्तोंपर कृपा करते रहते हैं। एक बार काशी-निवासी एक गरीब ब्राह्मण जो नित्य संकटमोचनजीका दर्शन करते थे, परिवार-पोषणकी समुचित व्यवस्था न होनेसे उनकी धर्मपत्नीने उनपर व्यङ्ग्य किया और कहा कि 'केवल हनुमान्‌जीका दर्शन करते रहोगे तो ऐसे ही भूखों मरोगे।' उस ब्राह्मणने कहा—'सावधान ! हमें चाहे जो कुछ कहो, पर हमारे इष्टदेवके विरुद्ध एक शब्द भी मुखसे मत निकालना।' उस ब्राह्मणकी दीन दशा देखकर करुणानिधान हनुमान्‌जी द्रवीभूत हो गये। जिसके फलस्वरूप ब्राह्मणको एक स्थलपर गड़े हुए कई बर्तनोंमें द्रव्यराशि मिल गयी, जिससे उन्होंने अपने स्थानपर काशीमें ही श्रीमारुतिकी एक मूर्ति पधराकर पूजन-भजन प्रारम्भ कर दिया। घर-परिवारमें सर्वत्र आनन्द-मङ्गल छा गया। गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है—

को नहिं जानत है जगमें कपि संकटमोचन नाम तिहारो ॥

(२) श्रीकालीजीके शक्तिपीठ महानगरी कलकत्तामें एक हनुमान्‌जीका सिद्धपीठ है। यह स्थान एक गलीमें है, जो हनुमान-गलीके नामसे प्रसिद्ध है। इस सिद्धपीठके हनुमान्‌जी बड़े ही चमत्कारपूर्ण एवं फलदाता माने गये हैं, जो अपने श्रद्धालु भक्तोंकी कामना सदैव पूरी करते रहते हैं। असंख्य लोगोंको इनकी कृपाकी अनुभूति हुई है। मन्दिरमें हनुमान्‌जीका 'संकटमोचन'-विग्रह है, जो सर्वाभीष्टदायक है। विग्रहमें हनुमान्‌जीके मुखका हीं दर्शन होता है। मूर्ति प्रसन्न-मुद्रामें है एवं दर्शकोंको अपूर्व आत्मबल, साहस, शक्ति, अभय एवं शान्ति प्रदान करती है।

व्यास हनुमान्

व्यास-वेषमें भगवान् मारुतिका एक विग्रह अयोध्यामें रघुवीरनगर (रायगंज) मुहल्लेमें प्रतिष्ठित है। यह स्थान मणिपर्वतके समीप है। यह प्रतिमा उस भावकी है जब वे भगवान् श्रीरामके अनन्त गुणगणोंकी प्रशंसा भरतादि बन्धुओंके सम्मुख किया करते थे। चौदह वर्षके पश्चात् अरण्यसे लौटनेपर भगवान् श्रीराम राज्यसिंहासनपर आसीन हुए। राज्य-कार्य अत्यन्त सुखपूर्वक निर्विघ्न चल रहा था, उस समय भरतजी और शत्रुघ्नजी प्रायः एकान्त उपवनमें पवनकुमारके साथ भगवान्‌के लीलागुणोंका श्रवण किया करते थे, वक्ता थे श्रीहनुमान्‌जी। इसीसे वे व्यासरूप हनुमान् कहलाये। यह प्रतिमा अत्यन्त मनोहर एवं विलक्षण शक्ति-सम्पन्न है।

श्रीहनुमान्जीके प्रेमी भक्त अयोध्या जानेपर इनका दर्शन करना आवश्यक समझते हैं।

गुफाके हनुमान्जी

काशीमें श्रीसंकटमोचनसे सम्बद्ध तुलसी-मन्दिर नामक स्थान है, जो असीके पास तुलसीघाटपर अवस्थित है। यह गोस्वामीजीकी साधना-स्थली है। इस स्थानपर बालरूप हनुमान्जी हैं, जो 'गुफाके हनुमान्जी'के नामसे प्रसिद्ध हैं। ये गोस्वामीजीको जैसे दर्शन दिये थे, उसी रूपमें विराजमान हैं। दक्षिणाभिमुख होनेसे ये अधिक प्रतापी माने जाते हैं। इन्हींके सम्मुख एक बीसा यन्त्र है, जिसका चरणामृत लगातार चालीस दिनोंतक पान करनेसे बहुत लाभ होता है। मन्दिरके ऊपरी भागमें भगवान् राघवेन्द्रसरकार, श्रीकिशोरीजी एवं लखनलालजी विराजमान हैं। मन्दिरके क्षेत्रमें तीन और मूर्तियाँ हैं, जो क्रमशः पूर्वाभिमुख, पश्चिमाभिमुख तथा उत्तराभिमुख हैं। 'गुफाके हनुमान्जी' श्रीरामनाम एवं श्रीरामका मङ्गलचरित सुननेसे अतीव प्रसन्न होते हैं। अनेक लोगोंने यहाँ किष्किन्धाकाण्डके पाठका अनुष्ठानकर आशातीत लाभ उठाया है।

बालरूप श्रीहनुमान्

भगवान् श्रीरामके अनन्य भक्त श्रीअञ्जनीनन्दनजीका बाल-विग्रह प्रायः देखनेमें नहीं आता है। वाराणसीमें हनुमान-फाटकमें बालरूप हनुमान्जीका एक अत्यन्त मनोरम विग्रह है। इस प्रतिमाकी स्थापना एवं प्रतिष्ठा स्वयं गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने की थी। यह अत्यन्त सिद्ध एवं जाग्रत्-क्षेत्र है। अनेक भक्तोंको इनके दर्शनसे लाभ हुआ है।

भूशायी हनुमान्जी

तीर्थराज प्रयागमें त्रिवेणीके सङ्गमके पास एक प्राचीन विशाल किला है। उसी किलेके समीप श्रीहनुमान्जीका मन्दिर है। मन्दिरमें हनुमान्जीकी बहुत बड़ी मूर्ति है। मूर्तिकी विशेषता यह है कि वह पृथ्वीपर लेटी हुई है। ये बड़े हनुमान्जी या किलेके हनुमान्जी भी कहलाते हैं। प्रयाग आनेवाले प्रायः प्रत्येक यात्री हनुमान्की मनोरम मूर्तिका दर्शनकर अपनेको धन्य समझते हैं।

श्रीहनुमान-धारा

चित्रकूट-तीर्थमें, कोटितीर्थमें पहाड़के ऊपर हनुमान् की एक मूर्ति है। विशाल मूर्तिके ठीक सिरपर दो ज कुण्ड हैं, जो सदा भरे रहते हैं और उनमेंसे निरन्तर बहता रहता है। इस धाराका जल हनुमान्जीको स्पर्श क हुआ बहता है, इसीलिये इसे हनुमान-धारा कहते हैं। वृक्ष आच्छादित यह स्थान अत्यन्त सुन्दर है। एक कथाके अनु श्रीरामके अयोध्यामें राज्याभिषेक होनेके उपरान्त एक हनुमान्जीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'महाराज ! मुझे ऐसा स्थान बतलाइये, जहाँ लंका-दहनसे उत्पन्न मेरे शरी ताप मिटे।' तब भगवान्ने उन्हें यह स्थान बतलाया। स्थानकी महिमा बड़ी विलक्षण है।

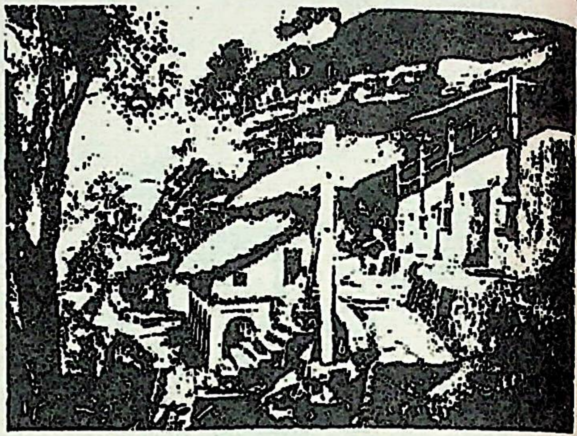

श्रीमहाबलीजी

लखनऊ, जिसका प्राचीन नाम लक्ष्मणपुर है, यह अलीगंजका हनुमान-मेला अत्यन्त प्रसिद्ध है। यहाँ प्रत्ये ज्येष्ठमासके मंगलवारको न केवल हिन्दू अपितु मुसलमान त ईसाई आदि बन्धु भी यहाँ हनुमान्जीको चढ़ावा चढ़ाने आते स्थानीय लोगोंमें इसे 'महावीरजीका मेला' कहा जाता है। मन्दिरके विषयमें अनेक कहानियाँ कही जाती हैं, जो कुछ हो, यहाँ हनुमान्जीके भक्त बड़ी संख्यामें एकत्र होकर उन आराधना करते हैं और अपने जीवनको सफल मानते हैं।

श्रीसिंहपौर हनुमान्जी

श्रीवृन्दावनमें सिंहपौर हनुमान्जीका एक प्रसिद्ध म है, जो प्रसिद्ध श्रीगोविन्ददेवजीके पास है। श्रीवृन्दाव प्राचीन आचार्य श्रीभट्टदेवजी महाराजद्वारा निर्मित श्रीवृन्दादेवीका मन्दिर पहले था, उस मन्दिरके सिंहपौ

नके द्वारा ही श्रीहनुमान्जी विराजमान किये गये थे। मन्दिर अब खण्डित है, किंतु 'श्रीसिंहपौर हनुमान्जी' अब भी वहाँ क्तोंको दर्शन देते हैं।

ीर हनुमान्जी

हिमालयमें टिहरी जनपदमें त्रियुगीनारायणके पास पर्वतमें क छोटा-सा वीर हनुमान्जीका मन्दिर है। इस मन्दिरकी मूर्ति ड़ी विलक्षण है। दो फुट ऊँची इस मूर्तिके बायें हाथमें नंगी लवार और दाहिने हाथमें गदा है। श्रीमारुतिका मुख सामने हीं है, दाहिना अङ्ग देखनेमें आता है। बदरी-केदारके यात्री हाँ दर्शन करने जाते हैं।

िरिराजके हनुमान्जी

व्रज-मण्डलमें गिरिराजके हनुमान्जीकी अत्यन्त महिमा । एक कथा है कि जब सेतु-बन्धनके समय श्रीहनुमान्जी मालय पर्वतकी गोदसे एक विशाल पर्वत तथा अन्य सभी ानर भी अनेक पर्वतोंको उठाकर ला रहे थे, तभी भगवान् ीरामकी आज्ञा हुई कि 'सभी वानर पर्वतोंको जहाँ-तहाँ थापित कर दें।' श्रीहनुमान्जीने पर्वतराज (गिरिराज) को जभूमिमें स्थापित कर दिया।

गिरिराज अत्यन्त दुःखित होकर कहने लगे—'पवनपुत्र ! मने तो मुझे कहींका भी नहीं रहने दिया, इधर तो भगवान् ावकी संनिधि छूटी और उधर भगवान् श्रीरामकी सेवा और र्शनसे भी मैं वञ्चित हो गया।' तब उन्होंने कहा—'गिरीश ! म चिन्ता न करो, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हें भगवान्का र्शन अवश्य कराऊँगा। श्रीरामरूपमें नहीं तो श्रीकृष्णरूपमें गवान् तुम्हें अपने हाथोंपर उठायेंगे।' गिरिराजने कहा— ञ्जनीनन्दन ! आपका आशीर्वाद स्वीकार है, किंतु एक ार्थना और है, श्रीकृष्णके साथ आप भी रहेंगे, तभी मेरी ात्माको शान्ति मिलेगी।' श्रीहनुमान्जी वचनबद्ध हो गये ौर बोले— 'पर्वतराज ! क्या यह भी कहनेकी बात है ? हाँ-जहाँ श्रीराम और श्रीकृष्ण होंगे, वहाँ-वहाँ तो हनुमान् वश्य रहेंगे ही। मैं भी तुम्हारी कन्दराओंसे श्रीकृष्णकी ीलाका अवश्य दर्शन करूँगा।'

व्रजमें कहा जाता है कि श्रीगिरिराजकी सात कोसकी रिक्रमामें दस स्थानोंपर श्रीहनुमान्जी विराजमान हो गये ताकि स किसी भी दिशासे श्रीकृष्ण पधारेंगे, श्रीहनुमान्जी उन्हें गिरिराजपर ले आयेंगे। आज भी गिरिराजके चारों ओर दस चमत्कारपूर्ण हनुमान्-विग्रह प्रतिष्ठित हैं।

पञ्चमुखी हनुमान्जी

(१) उज्जैनमें बड़े गणेश-मन्दिरके निकट ही पञ्चमुखी हनुमान्जीका एक मन्दिर है। यहाँकी मूर्ति लगभग ढाई-तीन फुट ऊँची है। इसके ये मुख हनुमत्कवचके वर्णनानुसार ही हैं। मूर्तिकी बायीं ओरका मुख कपिका, दक्षिणका नरसिंहका, पश्चिमका गरुड़का तथा उत्तरका मुख वराहका है। ऊपरकी ओर हयवदन है। यहाँ इस स्थानकी विशेष महत्ता है।

(२) कलकत्तामें राजाकटरामें एक मन्दिर है, जिसमें श्रीहनुमान्जीका पञ्चमुखी विग्रह स्थापित है। मूर्तिकी विशेषता यह है कि हनुमान्जीका एक मुखारविन्द ऊपर आकाशकी ओर है एवं एक पीछे है, जो परिलक्षित नहीं होते, शेष तीनके दर्शन होते हैं। यह मूर्ति बड़ी ही भव्य, चित्ताकर्षक और नयनाभिराम है। इसके दर्शनमात्रसे अपूर्व बल एवं साहसका संचार होता है। यहाँ श्रद्धालु दर्शकोंकी सदैव भीड़ लगी रहती है।

नीलगङ्गाके हनुमान्

उज्जैनसे कुछ दक्षिण एक छोटा-सा सरोवर है। पुराणोंके अनुसार माता अञ्जनीके साथ श्रीहनुमान्जीने यहाँ तप किया था। भागीरथी गङ्गा जब भक्तोंके पातकोंका प्रक्षालन करते-करते नीलवर्णकी हो गयीं, तब ब्रह्मदेवकी आज्ञासे शिप्रामें आकर गुप्तरूपसे मिलीं और इस स्थानपर प्रकट हुई थीं, तभीसे इसको नीलगङ्गा कहा जाता है। यहाँके मुख्य तीर्थाधिपति श्रीहनुमान्जी ही हैं।

सीतामढ़ीके हनुमद्विग्रह

सीतामढ़ी (बिहार) जगज्जननी भगवती सीताजीकी प्राकट्य-स्थली है। यहाँके श्रीजानकीमन्दिरमें उनके श्रीविग्रहके समक्ष हनुमान्जीकी एक विनयावनत मनोज्ञ लघुमूर्ति और दक्षिण पार्श्वमें विशाल वीरमूर्ति भक्ताभीष्टदाताके रूपमें अत्यन्त विख्यात है। जानकी-मन्दिरके पास ही पूर्वभागमें हनुमान्जीकी दक्षिणामूर्ति-प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इन्हींका एक छोटा-सा भव्य मन्दिर भी है, इसे बालाजीका मन्दिर भी कहते हैं। संत-महात्माजन इसे सिद्धपीठ-भूमि कहते हैं। यहाँ नामजप, श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, श्रीरामचरितमानस और हनुमान-

चालीसाके पाठसे सद्यः सिद्धि प्राप्त होती है। यहाँ जानकीजीके दर्शनसे पूर्व हनुमान्‌जीके दर्शन करनेकी सुदीर्घ परम्परा है।

सिद्धेश्वर हनुमान्‌जी

विद्यानुरागी राजा भोजकी धारा नगरीको आजकल धार कहा जाता है। यहाँ कुम्हार-बावड़ीके निकट सिद्धेश्वर हनुमान्‌जीका मन्दिर विख्यात है। यहाँ हनुमान्‌जी उत्तराभिमुख हैं। यह स्थान एक सिद्धपीठ है। भक्तोंका विश्वास है कि यहाँ मनःकामना सहज ही पूर्ण होती है। श्रावणमासमें बालस्वरूप श्रीहनुमान्‌जीका यहाँ बड़ी धूमधामसे झूलनोत्सव मनाया जाता है।

जनकपुरके श्रीहनुमान्‌जी

जनकपुरधाम बिहारके समीप परिक्रमा-मार्गमें हनुमान नगर नामक एक गाँव है। वहाँकी हनुमानगढ़ीके हनुमान्‌जीका श्रीविग्रह प्रसिद्ध है। स्वयं जनकपुरधाममें संकटमोचन-मन्दिर भी अत्यन्त प्रसिद्ध है।

श्रीमकरध्वज हनुमान्

श्रीजगन्नाथपुरी (उड़ीसा) के मुख्य मार्गपर श्रीमकरध्वज हनुमान्‌जीका अत्यन्त विशाल मन्दिर है। इसके विषयमें यह कहा जाता है कि जब कामदेव इस क्षेत्रमें प्रवेश करने लगे, तब उन्हें हनुमान्‌जीसे युद्ध करना पड़ा तथा अन्तमें हनुमान्‌जी विजयी हुए। इसलिये इनका नाम मकरध्वज हनुमान्‌जी पड़ गया। इस विग्रहकी एक विशेष बात यह है कि इनके एक हाथमें तलवार तथा दूसरे हाथमें काम-विजय-प्रतीक-स्वरूप विजय-ध्वज है। यहाँके श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन करनेसे हृदयका कामभाव निवृत्त हो जाता है।

श्रीजगन्नाथपुरीमें हनुमान्‌जीके अन्य विग्रह भी हैं। यहाँ श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके चार द्वारोंपर—पूर्वमें 'फते हनुमान', पश्चिममें 'वीर हनुमान', उत्तरमें 'तपस्वी हनुमान' तथा दक्षिणमें 'बाराभाई हनुमान' विराजमान हैं। इसके विषयमें कहा जाता है कि भगवान् श्रीजगन्नाथजीने श्रीहनुमान्‌जीको यह वर दिया है कि 'तुम्हें सदा पुरुषोत्तम-क्षेत्र श्रीजगन्नाथपुरीमें मेरे अन्तरङ्ग भक्तके रूपमें स्थान मिलेगा और इस क्षेत्रके घर-घरमें तुम्हारी पूजा होगी। केवल इतना ही नहीं, वहाँकी ध्वजापर भी कपि-चिह्न बना रहेगा।'

आज भी जगन्नाथपुरी आनेवाले भक्तगण हनुमान्‌जीके इन विग्रहोंका दर्शन करके मन्दिरमें जाते हैं।

सिरुली महावीर

भुवनेश्वरमें चन्दनपुरसे कुछ दूरपर सिरुली ग्राम है। ग्रामके पश्चिम भागमें महावीर हनुमान्‌जीका मन्दिर अव है, जो सिरुली महावीर-मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ प्रतिमा दस फुट ऊँची है, जो अत्यन्त प्राचीन भी है। लो ऐसी दृढ़ आस्था एवं श्रद्धा है कि 'सिरुली-महावीरजी दर्शनका अत्यन्त मङ्गलदायक प्रभाव होता है। यहाँ जनश्रुति भी है कि यह प्रतिमा स्वयं ही पृथ्वीको विदीर्ण क प्रकट हुई है तथा प्रचण्ड प्राणस्पन्दनसे युक्त स स्वयम्भूमूर्ति है।

श्रीमहावीरजीकी यह द्विभुजी प्रतिमा कई दृष्टि विलक्षण है। इसकी दोनों भुजाओंके बीचकी चौड़ाई फुट है। इसके दाहिनी जाँघपर सीता-खोजको जाते स श्रीरामद्वारा प्राप्त अभिज्ञानमुद्रिकाकी प्रतिकृति अङ्कित है उसी प्रकार सीतान्वेषणके बाद लंकासे लौटते स सीताजीद्वारा दी गयी चूडामणिकी छबि भी दर्शनीय है।

नागराके हनुमान्‌जी

मध्यप्रदेशके गोंदिया नगरसे कुछ दूर नागरा ग्राम है। ग्रामके पश्चिम हनुमान्‌जीका छोटा, किंतु प्राचीन मन्दिर पासमें एक कुआँ है। यह मन्दिर और कुआँ एक टी खोदनेसे निकले हैं। मन्दिरमें हनुमान्‌जीकी मूर्तिके अति एक शिवलिङ्ग भी है। यहाँ एक स्तम्भ है, जिसमें चारों देवमूर्तियाँ खुदी हुई हैं। यहाँ शिवरात्रि तथा कार्तिकमें लगता है। इस स्थानकी बड़ी महत्ता है।

सालासर बाला हनुमान्‌जी

राजस्थानके चूरू जनपदमें सालासर नामक एक ग्राम यहाँ हनुमान्‌जीका एक प्रसिद्ध एवं ऐतिहासिक मन्दिर है। बाला हनुमान्‌जीकी मूर्ति बड़ी प्रभावशाली और दाढ़ी-मूँ सुशोभित है। इस मन्दिरमें भव्य प्रतिमा सोनेके सिंहास विराजमान है। सिंहासनके ऊपरी भागमें श्रीराम-दरबार है निचले भागमें श्रीराम-चरणोंमें हनुमान्‌जी विराजमान भाद्रपद, आश्विन, चैत्र एवं वैशाखकी पूर्णिमाओंको यहाँ लगते हैं। इस मन्दिरकी स्थापना-प्रतिष्ठादि कार्य दा

विप्रकुलमें समुत्पन्न श्रीमोहनदासजीके द्वारा हुआ था, इन्हें वचनसिंह महात्माके रूपमें माना गया है। राजस्थानी समाजमें इस स्थानकी विशेष मान्यता है।

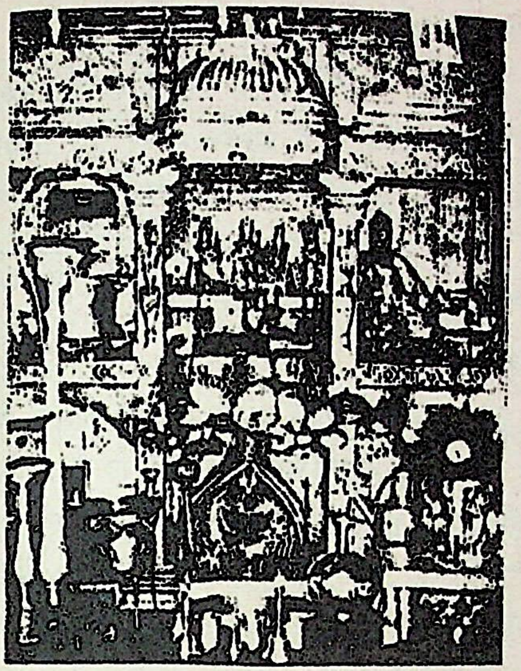

नर्मदाके हनुमान्जी

मध्य रेलवेकी बम्बई-दिल्ली लाइनपर इटारसीसे कुछ दूर होशंगाबादनगर है। यहाँ नर्मदाके तटपर हनुमान्जीका एक छोटा, किंतु प्रसिद्ध मन्दिर है, जिसमें भगवान् महावीरकी प्रतिमा विद्यमान है। यात्री तथा दर्शनार्थी पुण्यतोया नर्मदामें स्नानकर भगवान् महावीरजीके दिव्य विग्रहका दर्शन करते हैं।

संजीवनी-पर्वतधारी हनुमान्जी

दक्षिण भारतमें कन्याकुमारी मन्दिरके प्रवेश-प्राकारके अंदर उत्तर-पूर्वकी ओर एक प्रस्तर-स्तम्भके निचले भागपर श्रीरामभक्त हनुमान्जीकी संजीवनी-पर्वतधारी एक छोटी-सी आकृति उत्कीर्ण है। मन्दिरके दर्शनार्थी इस मूर्तिका दर्शनकर आगे बढ़ते हैं। प्रत्येक शुक्रवार तथा पूर्णिमाके दिन भक्तगण इस मूर्तिपर मक्खनका लेप करते हैं।

हनुमत्कुण्ड

गन्धमादन-पर्वतपर श्रीरामेश्वर-मन्दिरसे उत्तर-पश्चिम तीन फर्लांगपर हनुमत्कुण्ड है। भगवान् श्रीरामचन्द्र रावणका वध करके लंकासे यहींपर आये थे। उनकी सेनाने इसी स्थानपर युद्धजनित श्रम दूर करनेके लिये विश्राम किया था। ऐसी जनश्रुति है कि जो स्त्री पुत्रकी कामनासे इस पवित्र कुण्डमें स्नान करती है, वह अवश्य ही पुत्र-रत्न प्राप्त करती है। इस सम्बन्धमें एक लोकविश्रुत आख्यान है—

प्राचीन कालकी बात है। अत्यन्त नीतिज्ञ, प्रजापालक, शत्रुविजयी एवं परम धार्मिक एक धर्मसख नामक प्रख्यात नरेश राज्य करते थे। नरेशने सौ विवाह किये, किंतु उन्हें कोई संतान न हुई। धीरे-धीरे राजाकी आयु ढलने लगी और राज्यके उत्तराधिकारीके बिना वे अत्यधिक चिन्तित रहने लगे।

एक दिन नरेशने विद्वान् ब्राह्मणों एवं दैवज्ञोंको बुलाकर उनके सम्मुख अपनी चिन्ता इस प्रकार व्यक्त की—'पूज्यचरण द्विजवरो! संतान-प्राप्तिकी कामनासे मैंने सौ विवाह किये, किंतु मेरी किसी भी पत्नीसे कोई संतान नहीं हुई। अब मेरी वृद्धावस्था आ चली है और राज्यका कोई उत्तराधिकारी नहीं है। अतएव मेरी प्रत्येक पत्नी एक-एक योग्यतम पुत्र प्राप्त कर ले, इसके लिये कृपापूर्वक कोई यत्न बतलाइये। एतदर्थ मैं प्रत्येक व्रत, उपवास एवं कठोरतम तपश्चरणके लिये प्रस्तुत हूँ।'

समस्त ऋत्विज् एवं पुरोहितोंने गम्भीर मन्त्रणाके अनन्तर राजा धर्मसखसे कहा—'राजन्! दक्षिण सागरके मध्य सेतुके रूपमें गन्धमादन नामक पर्वत है। वहाँ दुःख-दारिद्र्यका नाश एवं समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला मोक्ष-प्रदाता हनुमत्कुण्ड है। वहाँ मन एवं इन्द्रियोंको संयमितकर स्नानोपरान्त सविधि पुत्रेष्टि-यज्ञ करनेसे तुम्हारी पत्नियोंको एक-एक पुत्रकी प्राप्ति हो सकती है। उस कुण्डकी अमित महिमा है।'

महाराज धर्मसख अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे यज्ञोपयोगी सामग्रियोंसहित अपनी पत्नियों, मन्त्रियों और सेवकोंके साथ गन्धमादन पर्वतके लिये प्रस्थित हुए। वहाँ जाकर उन्होंने श्रद्धा-विश्वासपूर्वक हनुमत्कुण्डमें स्नान किया। वे अपनी स्त्रियों आदिके सहित उस पवित्र कुण्डमें प्रतिदिन स्नानकर श्रीपवनकुमारका स्मरण एवं उनके चरणोंकी वन्दना करने लगे। चैत्र मास आनेपर नरेशने विधिपूर्वक पुत्रेष्टि-यज्ञका संकल्प ग्रहण किया। पुरोहित और ऋत्विजोंके शुभ सहयोगसे यज्ञ-कर्म विधिवत् सम्पन्न हुआ। तदनन्तर पुरोहितने हवनसे बचे हुए हविष्यको नरेशकी समस्त पत्नियोंको ग्रहण करनेके लिये दिया। धर्मपरायण नरेश धर्मसखने अपनी स्त्रियोंके साथ यज्ञान्त स्नानकर ऋत्विजोंको पुष्कल दक्षिणा एवं

ब्राह्मणोंको अत्यन्त आदरपूर्वक दान देकर संतुष्ट कर दिया। फिर वे प्रसन्न-मन अपनी राजधानी लौटे।

दसवाँ मास व्यतीत होते ही प्रजापालक धर्मसख नरेशकी समस्त पत्नियोंने एक-एक सुन्दर एवं सद्गुण-सम्पन्न पुत्र उत्पन्न किये। उन पुत्रोंके यौवनमें प्रवेश करते ही नरेशने उनमें राज्य-वितरण कर दिया और स्वयं पत्नियोंसहित तपश्चरणार्थ गन्धमादन पर्वतपर चले गये। वे वहाँ प्रतिदिन नियमपूर्वक हनुमत्कुण्डमें स्नानकर परमकारुणिक भगवान् सतीपति शिवका ध्यान करते हुए तपश्चरण करने लगे। उनकी सौ पत्नियाँ भी अपने पतिका अनुसरण करती हुई तपस्यामें संलग्न थीं। इस प्रकार राजा धर्मसख अपनी स्त्रियोंसहित गन्धमादन पर्वतपर जीवनान्त तपश्चरण करते ही रहे। शरीर-त्यागके पश्चात् उन्होंने अपनी पत्नियोंसहित परम सुखमय वैकुण्ठ-लोक प्राप्त कर लिया।

श्रीरामेश्वरम् मन्दिरसे एक मीलपर सीताकुण्डके पास ही श्रीहनुमान्‌की पञ्चमुख-मूर्तिवाला मन्दिर है। इसके अतिरिक्त रामझरोखेके रास्तेमें एक मन्दिरमें श्रीहनुमान्‌के बालरूपकी सुन्दर मूर्ति है। कहते हैं कि श्रीहनुमान्‌जीने समुद्र पार करनेका अनुमान यहींसे किया था।

श्रीमारुतिजी

आन्ध्रप्रदेशमें गोदावरीके पवित्र तटपर 'भद्राचलम्' में श्रीराम-मन्दिरके पास श्रीमारुतिजीका एक विशाल मन्दिर है। यह मूर्ति समर्थ गुरु श्रीरामदासद्वारा स्थापित बतायी जाती है।

श्रीसुपारी मारुति

औरंगाबादनगरमें श्रीसुपारी हनुमान्‌जीका एक मन्दिर है। मूर्ति पूर्वाभिमुखी तथा बैठी हुई अवस्थामें है। मारुतिके नेत्र चक्राकार होनेके कारण मुँहपर दीप्ति छायी रहती है, जिससे मूर्ति अत्यन्त भव्य लगती है। ऐसा कहा जाता है कि ये मारुति स्वयम्भू होनेके कारण पहले सुपारीके आकारके थे, इसीलिये ये 'श्रीसुपारी मारुति' कहलाते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि भावुक भक्तोंको पूजाके बाद प्रसादरूपमें सुपारी प्राप्त होती थी, जिस कारण इनका नाम 'सुपारी मारुति' पड़ गया।

तपोवन हनुमान्

महाराष्ट्रमें सांगलीमें कृष्णा नदीके तटपर विष्णुघा पास श्रीहनुमान्‌जीका एक प्राचीन मन्दिर है। इसका तपोवन-हनुमान्-मन्दिर है। इस मन्दिरका द्वार पूर्वाभिमुख और सामने कृष्णाका जलप्रवाह है। इस मूर्तिकी स्था श्रीरामदास पञ्चायतनके श्रीआनन्दमूर्तिजीने की थी।

डुल्या मारुति

पूनामें गणेशपेठके ये मारुति अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। मन्दिर प्राचीन है। केवल पत्थरोंसे निर्मित यह मन्दिर अति आकर्षक एवं भव्य है। इनकी मूर्ति एक काले पत्थ उत्कीर्ण है। यह पाँच फुट ऊँची, ढाईसे तीन फुट चौड़ी पश्चिमाभिमुख है। मूर्तिके दाहिने पार्श्वमें श्रीगणेशजीकी छोटी-सी मूर्ति है, जिसकी स्थापना श्रीसमर्थ रामदासजी की हुई बतायी जाती है।

श्रीहनुमान्‌जी

श्रीमन्मध्वाचार्यजीने उडुपीमें एक विशाल 'उडुपीकृ मन्दिरकी स्थापना की थी। इसी मन्दिरके एक भा श्रीहनुमान्‌जीकी मूर्ति भी स्थापित है। आज भी उड्डुपीमें परम्परा है कि सर्वप्रथम श्रीहनुमान्‌जीकी पूजा की जाती तदनन्तर उड्डुपी कृष्णकी। यहाँ श्रीहनुमदर्चना म सम्प्रदायकी पूजाप्रक्रियाके अनुसार होती है।

कनकभूधराकार हनुमान्‌जी

कन्याकुमारीसे उत्तर कुछ दूर शुचीन्द्रम् नामक स्थान यहाँ एक विशाल मन्दिर है, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु तथा महे अलग-अलग मन्दिर हैं। इस मन्दिरमें श्रीहनुमान्‌जीकी भव्य मूर्ति है। सिंहासनसहित इस मूर्तिकी ऊँचाई लग बीस फुटके आसपास है। श्रीहनुमान्‌जीने भगवती सीत समक्ष अशोक-वाटिकामें जो अपना कनकभूधराकारस्व प्रकट किया था, यह श्रीविग्रह उसीकी स्मृति दिलाता है।

संं मा सिञ्चन्त्वापः सं मा सिञ्चन्तु कृष्टयः। सत्यं समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥

जल और कृष्ट ओषधियाँ तथा सत्य हम सबको प्रजा और धनसे युक्त करें। वे हमें दीर्घ आयु प्रदान करें।

लोकदेवता—

व्रजके ग्राम-देवता

(डॉ॰ श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, डी॰ लिट्॰)

व्रजके स्थानीय लोकविश्वासमें भूत-प्रेत, अऊत-पितर, भुमिया, जोगनी और सती तथा सैयद, पीर, जिंद, खईस और चुड़ैल आदिकी मान्यता देखी जाती है। गाँवोंमें ग्राम-देवताके रूपमें इनके थान (स्थान) बने होते हैं। भयानक बुखार आनेपर तथा फसल काटने और बोनेके समय इनपर चढ़ावा चढ़ता है। अनेक ग्राम-देवताओंको जात देनेके लिये बाहरसे भी लोग आते हैं। इन देवताओंका नाम गाँवके नामके साथ जुड़ा रहता है, जैसे परखम बारौ, मौगर्र बारौ, महावन बारौ, कारस बारौ, सहादरे बारौ इत्यादि।

इस प्रकारकी पूजाओंका एक आधार जातिगत भी होता है जैसे—जोगियोंमें जाहरपीर और सुआ-सेवरा, गूजरोंमें कूआवाला, भुमियाँ, स्वामी, देवबाबा और नंदो सती, अहीरोंमें मैकासुर, काछियोंमें नगरसेन, नटोंमें भूत, बूढ़ीमाई और हरदौल, गड़रियोंमें जखइया, जाटोंमें भूत, बूढ़ा बाबू, कोरियोंमें कनुआ तथा कुछ अन्य लोगोंमें खईस, भूत-प्रेत, सैयद, जाहरपीर, नगरसेन, जखइया, कूआवालेकी पूजाका विशेष प्रचलन है।

कनुआ, जखइया, नगरसेन, मैकासुर, बूढ़ा बाबू, कूआवाला तथा हरदौल इत्यादि अनेक ग्राम-देवता हैं। कनुआने गोवर्धन और डीगके बीच दौड़खेरा गाँवको नष्ट होनेका शाप दिया था। पोतराकुंड (मथुरा) तथा नटैनिला (अलीगढ़)में भादों सुदी एकादशीको विशेष रूपसे गड़रियोंके द्वारा पशु-रक्षाके निमित्त इसकी जात दी जाती है।

राय बुंदेला हरदौलको राजाने संदेहके कारण जहर दे दिया था, यह प्रेत बनकर गूलरके पेड़पर जा बैठा था। भानजीके विवाहमें प्रेतके रूपमें इसने 'भात' दिया था। विवाहोंमें इसके गीत गाये जाते हैं—*'तुम्हारी पाग पै डारौं है राय बुंदेला ए उढ़रायल बूँदी बारौ।'*

जादूगर चुनियाँ कुम्हारीको, बंजारे गेंड़ी माताको तथा स्याने भम्मो, सोमो, बेड़नी और नौनाको पूजते हैं। मैकासुर धरमधारी कहा जाता है। इसने गायोंकी रक्षाके लिये प्राण दिये थे। देवबाबाके पास नौ लाख गायें थीं। जो नारी अपने पतिके साथ सती होती है, उसकी पूजा व्रजमें अनेक स्थानोंपर प्रचलित है। मथुरामें सुलखन नामक स्थानपर 'सती-सुहागिल' की पूजा होती है।

जाहरपीरकी पूजा तो भारतमें बहुप्रचलित है। भादों बदी नवमीको जाहरपीरका जागरण कराया जाता है। जाहरपीर बड़े पराक्रमी वीर थे। जाहरपीर नागदंशकी चिकित्साके भी देवता हैं एवं गूगागुरुके रूपमें वे गायोंके रक्षक हैं।

भुमियाँको भूमिका राजा, भूपाल एवं खेरेका रछपाल कहा जाता है। यह क्षेत्रपालकी आत्मा होती है। होली-दीवालीपर एक थानपर इसकी पूजा होती है, गीत गाया जाता है। *'भुमियाँ देव बड़ौ मरदानौ तेरे बल कौ नाहिं ठिकानौ।'*

जिन्होंने घोर पाप-कृत्य किये थे, जिन्हें भयानक आघात मिला या जो मार डाले गये, लोकमानस उनके भूतकी भी मानना करता है। जंगल, पेड़, घाट, कूआँ, चौराहा, मरघट, बेरी, पीपर, ऊसर, बंजर तथा खंडहर भूतोंके स्थान हैं। वे इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं। भैंस, गाय, बैल आदि अकारण मृत्युके शिकार हो जायँ, स्त्रियोंके गर्भ गिर जायँ या बच्चा पैदा होते ही मर जायँ तो घरके आस-पास भूत-प्रेतके विचरणकी आशंका की जाती है। प्रेत-बाधा दूर करनेके लिये पीपल रोपा जाता है। जो लोग संतानहीन मर जाते हैं, वे अऊत कहलाते हैं, उनका श्राद्ध नहीं होता, परंतु विवाहके अवसरपर पितरोंके साथ अऊत भी मनाये जाते हैं।

बाल्यावस्थामें ही मरनेवालोंकी आत्माको मसानके रूपमें मनाया जाता है; क्योंकि वह बच्चोंको कष्ट देता है। मसान काला भयानक बालभूत है, जिसे सभी देवताओंका भानजा समझा जाता है। बच्चोंको सूखा रोग लग जानेपर सूखा मसान तथा फलक हो जानेपर फलकिया मसान कहा जाता है।

जिन्न या जिंद विलक्षण शक्तिवाला मृतात्मा है, जो बेरिया, पीपल, बरगद, बबूर और पोखरपर भूतके समान ही विचरण करनेवाला है। जिंद-सम्बन्धी किस्सोंमें उसे बड़े-बड़े पंजोंवाले शैतान-जैसे रूपमें तथा परीके साथ विचरण करता हुआ बताया जाता है। जिन्नकी सेवासे दुर्लभ चीजें उपलब्ध करने-सम्बन्धी किस्से कहे-सुने जाते हैं। खईस केसर-केवड़ाकी बाड़ीमें रहता है, वह सैयदसे भी अधिक

शक्तिशाली होता है।

द्रोहिणी तथा घातक स्त्री मरनेके उपरान्त चुड़ैल होती है—ऐसा लोक-विश्वास है। डाकिनी-शाकिनी और योगिनीके वर्गमें ही इसका समावेश माना जाता है।

व्रजके गाँवोंमें सैयदकी पूजाका बहुत प्रचार है। सैयदकी पूजा मजारपर होती है। बाँके मीयाँकी मजार (बदायूँ) एवं जलेसर तथा अमरोहाकी मजार प्रसिद्ध है। यहाँ हिंदू और मुसलमान सभी जातियोंके लोग सम्मिलित होते हैं। सैयदकी जात दी जाती है और जागरण भी कराया जाता है। व्रजके गाँवोंमें कुछ जातियोंमें विवाहके अवसरपर रत-जगेके समय जो सैयदके गीत गाये जाते हैं, उनमें सैयदको योद्धा बताया गया है।

व्रज-लोकमानसका विश्वास है कि जो मनुष्य अकाल-मृत्युसे मरते हैं, उनकी गति नहीं होती तथा वे भूत-प्रेतकी योनिमें रहते हैं, साँप बन जाते हैं। असामान्य मृत्युसे मृत व्यक्तिकी आत्मा घरमें आकर चेटक दिखाती है, वह नागबलि, गङ्गा-स्नान तथा थान बनवानेकी माँग करती है। जिन आत्माओंकी पूजा व्रजके ग्रामोंमें प्रचलित हैं, वे चार प्रकारकी हैं।

(१) जिन पुरुष और नारियोंने सामाजिक सांस्कृतिक मूल्योंकी रक्षाके लिये अपनेको बलिदान किया था, वे लोकमानसमें वीर देवताके रूपमें प्रतिष्ठित और पूज्य हैं, जैसे—जाहरपीर, जखइया, मैकासुर, हरदौल, देवबाबा, ऊदादेव, कनुआं बाबा, ठड़िशोभा, अमरसिंह दीवान, लौहरदिव, हीरामन और जगतसिंह।

(२) जो महात्मा जनताकी भलाईके लिये साधना करते-करते समाधिस्थ हो गये, वे सिद्ध देवता हैं। जीवनमें उनके पास जो सिद्धियाँ थीं, वे ही सिद्धियाँ उनके थान तथा प्रतीकमें भी स्वीकार की जाती हैं, जैसे बूढ़ा बाबू, सिद्धबाबा, रामचेरौ, ग्वालबाबा, बहोराबाबा, धाँधू भगत, सूआसेबरौ, खुसालीबाबा, गुलजारीदेव, लालमनि, जोगाराम, गोरखनाथ, भज्जूबाबा, कुंजनदास, भीसमदेव, बरमदेव, बाबरौ बाबा, खेखलौ आदि इस वर्गमें हैं।

(३) इसके अतिरिक्त लोकमानस उन दुष्टोंकी आत्माओंको भी पूजता है जो जिंदगीभर लोगोंको परेशान करते रहे। लोक-विश्वास है कि वे मरकर भी दुष्ट आत्माके रूपमें लोगोंको पीड़ित करेंगे।

(४) वास्तवमें मृतकोंकी पूजा (Cult of dead) की प्रथा सारे संसारमें अत्यन्त प्राचीन कालसे प्रचलित है। लोग अपने परिवारकी मृतात्माओंको गृहदेवता और कुलदेवता या पुरखा पतमेसुरेके रूपमें पूजते हैं। बस्तीसे दूर वृक्षके नीचे इनका थान बनवा दिया जाता है, जब भी कोई पारिवारिक मङ्गल-आयोजन होता है, तब इनकी पूजा-मानता की जाती है। सिन्दूर, धूप, दीप, नैवेद्य, ऋतुफल, जल और गन्धाक्षतसे थानकी पूजा होती है।

पुरखा पतमेसुरेके प्रसादके अधिकारी बहन-भानजे होते हैं तथा पुरखा-पतमेसुरेकी प्रसन्नताके लिये बहन-भानजोंको जिमाकर 'घाट-दुपट्टा' पहनाया जाता है। विवाह-जनेऊ आदिके अवसरोंपर पितरोंकी स्थापना-हेतु 'थापा' लगाया जाता है एवं उनका आवाहन किया जाता है।

माँय-पूजाका निर्माल्य 'पुरखा पतमेसुरे'के थानपर ही सिराया जाता है, विवाहके अवसरपर नवदम्पति थानपर ही बागछरी खेलते हैं। श्राद्ध भी पितरोंकी तृप्तिका एक विधान है।

कुछ विद्वानोंकी मान्यता है कि जिन्हें थान कहा जाता है और जो मथुरा-व्रजमण्डलकी ग्रामीण बस्तियोंमें अनेक छोटे चबूतरोंके रूपमें विद्यमान हैं, मूल-रूपमें वे यक्षस्थान हैं तथा यक्षपूजाकी परम्पराके अवशेष हैं। मथुराके 'जखन' गाँव तथा व्रजमें यमुनातटके 'भाण्डीर' वनका सम्बन्ध यक्षोंसे जुड़ा हुआ प्रतीत होता है।

यक्षोंको वीर भी कहा जाता था। इनकी संख्या बावन बतायी जाती है। विक्रमाजीतने इनको वशमें किया था। 'रांझा' में ये वीर ही सहायता करते थे। व्रजकी लोक-कहानियोंमें 'वीरोंकी रैठान' का उल्लेख मिलता है। जाख, जखैया तथा बरमदेव यक्षपूजाके अवशेष हैं। महावनवाला देवता जखइया है।

व्रजके ग्राम-देवताओंकी इस चर्चामें देवताओंके उन प्रतीकोंकी चर्चा भी प्रासंगिक होगी जो व्रजमें प्रचलित हैं। यहाँका लोकमानस सूर्य, चन्द्र, वायु इत्यादिके देवरूपकी उपासना प्रतीकके रूपमें करता है। धरतीके रूपमें मिट्टीका धोंधा बनाया जाता है, तो बायबंदके रूपमें वायुका बन्धन किया जाता है और बीजुरीको गाजसे बाँधा जाता है।

माङ्गलिक अनुष्ठानोंमें मिट्टीकी डेलीपर मौरी बाँधकर अथवा सतियो, सुपाड़ी, हल्दीकी गाँठ तथा स्वर्णमुद्राको ही गणेशके रूपमें पूजा जाता है। घूरा, सतियो, थापा, गाज, चाक, हल, मूसल, चकरोंडा, कठौती, ल्हौसारिया, घरगुली, फूल छबरिया, छटी, कोल्हू, अनंत, लोंदरी-लोंदराकी पूजा प्रतीक-पूजा है।

बच्चोंके उलटे दाँत निकलनेपर हलकी पूजा होती है। हरियाली मावस तथा माहकी दोजको किसान लोग हलकी पूजा करते हैं। तेलीके कोल्हू, बनियोंकी तराजू, ब्राह्मणकी लेखनी और भागवत-ग्रन्थ, बही-खाता, क्षत्रियोंकी तलवारकी पूजा भी प्रतीक-पूजा है। मूसल कृषि-संस्कृतिका प्रतीक है।

थापा पितरोंका तथा बूढ़ेबाबूका प्रतीक है। घरमें बहू आनेपर तथा लड़केका जन्म होनेपर इनकी पूजा होती है। सात सूतोंकी गाज तथा चौदह गाँठोंसे युक्त सूत्र अनंत है। अनन्तचतुर्दशीको अनन्तकी पूजा होती है। अनंत नाग है। कुम्हारका चाक सर्जनका प्रतीक है। विवाहोंमें चाककी पूजा की जाती है। कहानी है कि रामकी बरात चली तो गणेश चाकके नीचे जा छिपे, तभीसे चाककी पूजा प्रारम्भ हुई। चाक चक्रका प्रतिरूप है। कहते हैं कि स्वयं भगवान्‌ने बर्तन बनानेके निमित्त कुम्हारको यह चाक प्रदान किया था।

मथुराके चतुर्वेदियोंमें उपनयन (जनेऊ) के समय वटुक लोग गाजे-बाजेके साथ घूरा पूजने जाते हैं, इस यात्राको घूरौडेल कहा जाता है। शादीमें लड़केपर हल्दी चढ़ाकर, दीपक जलाकर लड़कीकी आँख बाँधकर उसे घूरेपर ले जाया जाता है। लौटते समय 'कजैतिन', 'सांझलरी' तथा 'दीवलरा' नामक गीत गाये जाते हैं। छेई-पूजन भी घूरा-पूजनेका ही रूप है।

माङ्गलिक अवसरोंपर आँगन लीपकर हल्दी तथा आटेसे सतियो काढ़ा जाता है। सामान्यतया गृहिणियाँ प्रतिदिन देहलीपर सतियो काढ़कर उसकी पूजा करती हैं। व्यापारी लोग अपनी गद्दियोंपर सतिये काढ़ते हैं।

नागपञ्चमी व्रजमें नागपूजाका प्रमुख त्यौहार है, परंतु 'रतवारे', 'नागबलि'-जैसी परम्परा भी प्रचलित है, जो जन्म-विवाह-संस्कार तथा अनिष्ट-निवारणके लिये की जाती है। कई बार निःसंतान दम्पतिसे नागबलि करनेको कहा जाता है। स्वप्नमें साँप दीखनेपर ज्योतिषी लोग पीपलपर दूध चढ़ाने अथवा नागबलिका परामर्श देते हैं। कालियनाग नाथनेके प्रसंगका भागवत-पाठ करना ही नागबलिका अनुष्ठान माना गया है। बालकके जन्मपर 'रतवारे' नामक नागपूजा-विधानमें अदृश्य-रूपसे दीवालपर नाग काढ़े जाते हैं, जब कि नागपञ्चमीको दूधमें कोयला घिसकर द्वारपर नाग धरे जाते हैं अथवा गोबरके नाग बनाये जाते हैं। अनेक स्त्रियाँ मथुरामें नागटीलेपर बाँबी पूजने जाती हैं तथा वृन्दावनके कालियदह-मन्दिरमे भी नागपूजाके अनुष्ठान होते हैं।

व्रजमण्डलमें प्रायः हर घरमें तुलसीका पौधा रहता है, स्त्रियाँ जल चढ़ाती हैं और दीपक जलाकर विनय करती हैं कि—

तुलसी माता तू सुखदाता तू श्रीकृष्ण की प्यारी,
मैं विरुला सीचों तेरौ तू कर निसतारौ मेरौ।
मूँग भात कौ खायबौ दीजो पीतांबर कौ पैरबौ दीजो,
चंदन की लकड़िया दीजो श्रीकृष्ण कौ कंधा दीजौ॥

एक अनुश्रुतिके अनुसार वृन्दाने कृष्णकी तपस्या करके वरदान माँगा था कि मैं तुम्हारी लीलाके लिये एक निकुञ्ज बनाऊँगी, उसमें छः ऋतुएँ एक साथ विलसित होंगी, तुम प्रतिदिन उस निकुञ्जमें अपनी कान्ताके साथ विहार करना।

कार्तिक-स्नान करके स्त्रियाँ तुलसीके विवाहके गीत गाती हैं। एक गीतमें कहानी आती है कि जब तुलसी सिरपर गागर लेकर यमुना-किनारे श्रीकृष्णके दर्शनके लिये गयीं तो रुक्मिणीने तुलसीको पकड़कर झकझोर डाला और बुरा-भला कहा। श्रीकृष्णने देखा तो पूछा—'तुलसी ! तुम आज इतनी अनमनी क्यों हो ?' तुलसीने उत्तर दिया—***'हो राम तुमरी रुकमिन लाड़ली और हम डारीं झकझोर।'*** कृष्ण बोले—'नहीं तुलसी ! तुम्हीं मुझे प्रिय हो, क्योंकि मैं जब तुम्हें अपने हृदयपर धारण करता हूँ तब मेरा हृदय ठंडा हो जाता है।'

तुलसी और शालग्रामके विवाह और प्रेमकी कथा तथा उनकी पूजाकी परम्परा यहाँ बहुत प्राचीन कालसे चली आ रही है। कार्तिक मासमें तुलसी-सेवाकी प्रथा है। घर-घरमें बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ संध्याके समय तुलसीके बिरवेपर दीपक सँजोकर उनके विवाहका गीत गाती हैं—

आसाढ़े उजियारी तीजा लै रे बोवउ रानी तुलसा के बीजा।

जोतहु बोवहु करहु क्यिरियाँ धनि जा मलिया बेटा जायौ।
तुलसी कौ बिरवा सींच जमायौ॥
सावन तुलसा पात दुपाती भादौं तुलसा गहल गंभीरी।
क्वार में तुलसा कान कुँवारी कातिक तुलसी कौ रचौ है बियाहू।
बोलै रानी तुलसा कौन वर ब्याहूँ॥
सूरज ना ब्याहूँ उअत उहाऐं, चौदुल ना ब्याहूँ एक पखवारे।
ब्रह्मा ना ब्याहूँ चार मूँड़ वारे, विष्णुहि ना ब्याहूँ चार भुजाधारी॥
महादेव ना ब्याहूँ वे जटाधारी, हनुमान ना ब्याहूँ वे बलधारी।
शुक्रहि ना ब्याहूँ एक आँख काने, शनीचर ना ब्याहूँ गिरहन घेरे॥
मंगल ना ब्याहूँ हीरा पीरि वारे, बुद्धहि न ब्याहूँ बुद्ध कुबुद्धी।
बिसपित ना ब्याहूँ बिसपित सीरी, गणेशजी ना ब्याहूँ सूँड़ सुँडारे॥
ब्याहूँ श्रीकृष्ण वे मेरे कंता, ब्याहूँ श्रीकृष्ण जग उजियारे।
सोदहु पंडित लगन लिखावो, तुलसा की लगन द्वारका पठावो॥
नौमी के मांगर दसमी कौ तेला, एकादशीया कौ मंडप छवायौ।
पवित्रा द्वादशी ब्याह रचायौ॥

तुलसी-शालग्रामके विवाहके इस मनोरथका बहुत महत्त्व है। व्रजमें विश्वास किया जाता है कि बिना तुलसाके ठाकुरजी भोग ग्रहण नहीं करते—

तुलसा महारानी नमो नमो,
हरि की पटरानी नमो नमो।
छप्पन भोग छतीसौ व्यंजन,
बिन तुलसा हरि एक न मानी नमो नमो॥
जो जन तुलसा कौ ध्यान धरत हैं
तिनकूँ हरि अपनौ करि जानी नमो नमो॥

सप्तर्षि

सप्तर्षिमण्डल आकाशमें सुप्रसिद्ध ज्योतिर्मण्डलोंमें है। इसके अधिष्ठाता ऋषिगण लोकमें ज्ञान-परम्पराको सुरक्षित रखते हैं। अधिकारी जिज्ञासुको प्रत्यक्ष या परोक्ष, जैसा वह अधिकारी हो, तत्त्वज्ञानकी ओर उन्मुख करके मुक्ति-पथमें लगाते हैं। प्रत्येक मन्वन्तरमें इनमेंसे कुछ ऋषि परिवर्तित होते रहते हैं। इनकी नामावली (विष्णुपुराणके अनुसार) इस प्रकार है—

प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरमें—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ।

द्वितीय स्वारोचिष मन्वन्तरमें—ऊर्ज्ज, स्तम्भ, वात, प्राण, पृषभ, निरय और परीवान्।

तृतीय उत्तम मन्वन्तरमें—महर्षि वसिष्ठके सातों पुत्र।

चतुर्थ तामस मन्वन्तरमें—ज्योतिर्धामा, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, वनक और पीवर।

पञ्चम रैवत मन्वन्तरमें—हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्ध्वबाहु, वेदबाहु, सुधामा, पर्जन्य और महामुनि।

षष्ठ चाक्षुष मन्वन्तरमें—सुमेधा, विरजा, हविष्मान्, उत्तम, मधु, अतिनामा और सहिष्णु।

वर्तमान सप्तम वैवस्वत मन्वन्तरमें— काश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज।

अष्टम सावर्णिक मन्वन्तरमें—गालव, दीप्तिमान्, राम, अश्वत्थामा, कृप, ऋष्यशृङ्ग और व्यास।

नवम दक्षसावर्णि मन्वन्तरमें—मेधातिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, सवन और भव्य।

दशम ब्रह्मसावर्णि मन्वन्तरमें—तपोमूर्ति, हविष्मान्, सुकृत, सत्य, नाभाग, अप्रतिमौजा और सत्यकेतु।

एकादश धर्मसावर्णि मन्वन्तरमें—वपुष्मान्, घृणि, आरुणि, निःस्वर, हविष्मान्, अनघ और अग्नितेजा।

द्वादश रुद्रसावर्णि मन्वन्तरमें— तपोद्युति, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्ति, तपोधन, तपोरति और तपोधृति।

त्रयोदश रौच्य मन्वन्तरमें—धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा और निष्प्रकम्प्य।

चतुर्दश भौम मन्वन्तरमें— अग्नीध्र, अग्निबाहु, शुचि, युक्त, मागध, शुक्र और जित।

इन ऋषियोंमेंसे सब कल्पान्त-चिरजीवी, मुक्तात्मा और दिव्यदेहधारी हैं।

आध्यात्मिक उन्नति और मनुष्य-जीवनको सफल बनानेवाले गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित सत्साहित्यका घर-घर प्रचार-प्रसार करें, करावें।

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

श्रीराधा-माधव-चिन्तन—ग्रन्थकार—श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, सजिल्द, मूल्य-२२.०० (बाईस रुपये) मात्र, डाकखर्च अलगसे।

प्रस्तुत ग्रन्थमें श्रद्धेय श्रीभाईजीने भगवान् श्रीराधा-माधवकी सुमधुर लीलाओंका शास्त्रसम्मत, सुरुचिपूर्ण और सरस वर्णन किया है। यह श्रीभाईजीके व्यापक अध्ययन, गम्भीर चिन्तन और गहन रसानुभूतिका परिणाम है। इस ग्रन्थका मननपूर्वक अध्ययन करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सचमुचमें ग्रन्थकारके हृदयमें स्थित होकर स्वयं राधा-माधवने इसे लिखा है।

इस ग्रन्थके प्रत्येक प्रकरणके आदि और अन्तमें तथा कहीं-कहीं प्रकरणके बीचमें भी प्रतिपाद्य विषयके संग्राहक ग्रन्थकारके कुछ पद भी दे दिये गये हैं, जिनसे प्रकरणोंमें और भी सजीवता आ गयी है। इस प्रकार वर्तमान संग्रह व्रज-रस—मधुर-रसका एक अमूल्य आकर बन गया है।

प्रस्तुत संस्करणमें श्रीराधा-माधव-चिन्तन-परिशिष्ट पुस्तकके तो सभी लेख सम्मिलित कर ही दिये गये हैं, साथ-ही-साथ लेखक महानुभावके श्रीराधा-माधव-सम्बन्धी अन्य कुछ लेखोंका भी जो अबतक पुस्तकाकार-रूपमें प्रकाशित नहीं हुए हैं, उनका यथास्थान समावेश कर दिया गया है, जिससे इस ग्रन्थके कलेवर एवं उपयोगितामें और भी वृद्धि हो गयी है। ऐसे महान् पवित्र ग्रन्थको भक्तगण मँगानेमें शीघ्रता करें।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (सचित्र, हिन्दी-भाषान्तरसहित) प्रथम भाग, सचित्र, सजिल्द, मूल्य ४०.०० (चालीस रुपये) मात्र, द्वितीय भाग, मूल्य ३५.०० (पैंतीस रुपये) मात्र, केवल भाषा, सचित्र, सजिल्द, मूल्य ४०.०० (चालीस रुपये) मात्र, डाकखर्च अलग ।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणकी वेदतुल्य प्रतिष्ठा है। यों भी महर्षि वाल्मीकि आदिकवि हैं, अतः विश्वके समस्त कवियोंके गुरु हैं। उनका 'आदि काव्य' श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण भूतलका प्रथम महाकाव्य है। अतः समस्त मानव-जातिके लिये यह ग्रन्थ पूज्य है। भारतके लिये तो यह परम गौरवपूर्ण ग्रन्थ है और देशका सच्चा बहुमूल्य राष्ट्रिय कोश है, अतः सर्वथा संग्रह, पठन, मनन एवं श्रवण करने योग्य है। इसका एक-एक अक्षर महापातकका नाश करनेवाला है—'एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्।' सुतरां इच्छुक सज्जन मँगानेमें शीघ्रता करें।

विदुरनीति—(सरल हिन्दी-अनुवादसहित) मूल्य ३.०० (तीन रुपये) मात्र, डाकखर्च अलग।

महाभारत उद्योगपर्व (प्रजागरपर्व) के ३३वेंसे ४०वें अध्यायतकका अंश विदुरनीतिके नामसे प्रसिद्ध है। इसमें विदुरजीने महाराज धृतराष्ट्रको धर्म, सदाचार, न्यायपरायणता, स्वार्थत्याग, परोपकार, सत्य, क्षमा, संयम, अहिंसा, निर्लोभता आदिकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए राजधर्मका उपदेश दिया है। यह पुस्तक अनपढ़, विद्वान्, तरुण, वृद्ध, बालक, स्त्री, शासक, प्रजा, धनी, गरीब, विद्यार्थी, शिक्षक, सेवाव्रती और शुद्ध तथा सुखी जीवनका निर्माण चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके कामकी है। इसे संस्कृत-परीक्षाके पाठ्यक्रममें रखा गया है। विद्यार्थियोंके लिये यह बड़े कामकी वस्तु है। विस्तृत विषय-सूची भी दी गयी है, जिससे श्लोकोंके भाव समझनेमें और भी सुविधा हो गयी है।

महाभारतके कुछ आदर्श पात्र—मूल्य २.२५ (दो रुपये पचीस पैसे) मात्र, डाकखर्च अलग।

प्रस्तुत पुस्तिकामें 'कल्याण' वर्ष १७, अङ्क १२ से दो लेख संगृहीत किये गये हैं। 'महाभारतमें श्रीकृष्ण' शीर्षक लेखके लेखक हैं— परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार और 'महाभारतके कुछ आदर्श पात्र' नामक शीर्षकके लेखक हैं—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका। इन दोनों लेखोंमें महाभारतके दस उत्कृष्ट पात्र— भगवान् श्रीकृष्ण, महात्मा भीष्म, धर्मराज युधिष्ठिर, वीरवर अर्जुन, कुन्तीदेवी, देवी द्रौपदी, पतिभक्ता गान्धारी, महात्मा विदुर, मन्त्रिश्रेष्ठ सञ्जय और भगवान् वेदव्यासके जीवनकी आदर्श, महत्त्वपूर्ण और उपदेशप्रद घटनाएँ हैं।

ब्रह्मलीन परम पूज्य श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराजकी दुर्लभ अनुपम कृ

'मार्क्सवाद और रामराज्य'

महामनीषी श्रीस्वामीजीने इस ग्रन्थमें कठिन परिश्रम करके पाश्चात्त्यदर्शन, पाश्चात्त्य राजनी विकासवाद, वर्ग-संघर्ष, मार्क्सीय अर्थ-व्यवस्था, ऐतिहासिक भौतिकवाद, मार्क्स-दर्शन, मार्क्स समाज-व्यवस्था तथा भारतीय राजनीतिक दर्शन, शास्त्रीय शासन-विधान और राजनीति एवं ज्ञान, आत्मा ईश्वर आदिके जटिल एवं गम्भीर विषयोंपर विस्तृत प्रकाश डाला है।

श्रीस्वामीजीके इस ग्रन्थका देशके कई प्रमुख समाचार-पत्रोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यथा- 'नवभारत-टाइम्स' दिल्ली, बम्बई (१४ दिसम्बर, १९५८), 'वेंकटेश्वर समाचार' बम्बई, 'युगधर्म', 'भारत 'आर्यावर्त', 'क्रान्ति' आदि।

लगभग ८५० पृष्ठोंमें सुन्दर कपड़ेकी जिल्दमें इस ग्रन्थका मूल्य २५.०० (पचीस रुपये) मात्र डाकखर्च ११.०० (ग्यारह रुपये) अलगसे है।

कल्याणकारी सर्वजनोपयोगी सत्साहित्यका प्रकाशन

१-कल्याण-प्राप्तिके उपाय—मूल्य ३.५० (तीन रुपये पचास पैसे)

(तत्त्व-चिन्तामणि—भाग १)

प्रस्तुत पुस्तक ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा रचित है। इसमें भक्ति, ज्ञान, वैरा और निष्काम कर्मयोग आदि विषयोंके लेखकके समय-समयपर 'कल्याण'में प्रकाशित २९ निबन्धोंक संग्रह है।

नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने लगभग ६१ वर्षों पूर्व इस पुस्तकके विषय कितना सुन्दर लिखा था। यथा—'इस ग्रन्थके रचयिताका स्थान बहुत ही ऊँचा है। आध्यात्मिक जगत्में इ प्रकारके महान् पुरुष बहुत ही थोड़े हैं।'

२-भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय—मूल्य ६.०० (छः रुपये मात्र)

(तत्त्व-चिन्तामणि—भाग २)

इस पुस्तकमें 'कल्याण'में प्रकाशित ४८ निबन्धोंका संग्रह है। 'कल्याण'के सम्पादक प्रस्तुत पुस्तकके निवेदनमें लिखते हैं—'तत्त्व-ज्ञानके बहुत ऊँचे सिद्धान्तोंका सरल भाषामें बोध करा देनेवाले लेख तो इसमें है ही, साथ ही कुछ ऐसे लेख हैं, जिनमें भ्रातृ-धर्म और पातिव्रत-धर्मपर भी विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। मेरी प्रार्थना है कि इस ग्रन्थको पाठक-पाठिकागण मननपूर्वक पढ़ें और इससे पूरा लाभ उठावें।'

३-अमूल्य वचन—

(तत्त्व-चिन्तामणि— भाग ४)

प्रस्तुत पुस्तकमें समय-समयपर 'कल्याण'में लिखे हुए एकतीस निबन्धोंका संग्रह है। इसमें गहरे दार्शनिक तत्त्वोंपर विचार करनेके साथ-ही-साथ उन विविध साधनोंका वर्णन है, जिनका आश्रय लेनेपर मनुष्य पवित्र-हृदय होकर अपने जीवनके परम ध्येयको अनायास ही प्राप्त कर सकता है। नवधा भक्तिका विशद वर्णन है। सारांश यह है कि यह भाग सभीके लिये समान उपयोगी एवं लाभप्रद है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर २७३००५

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

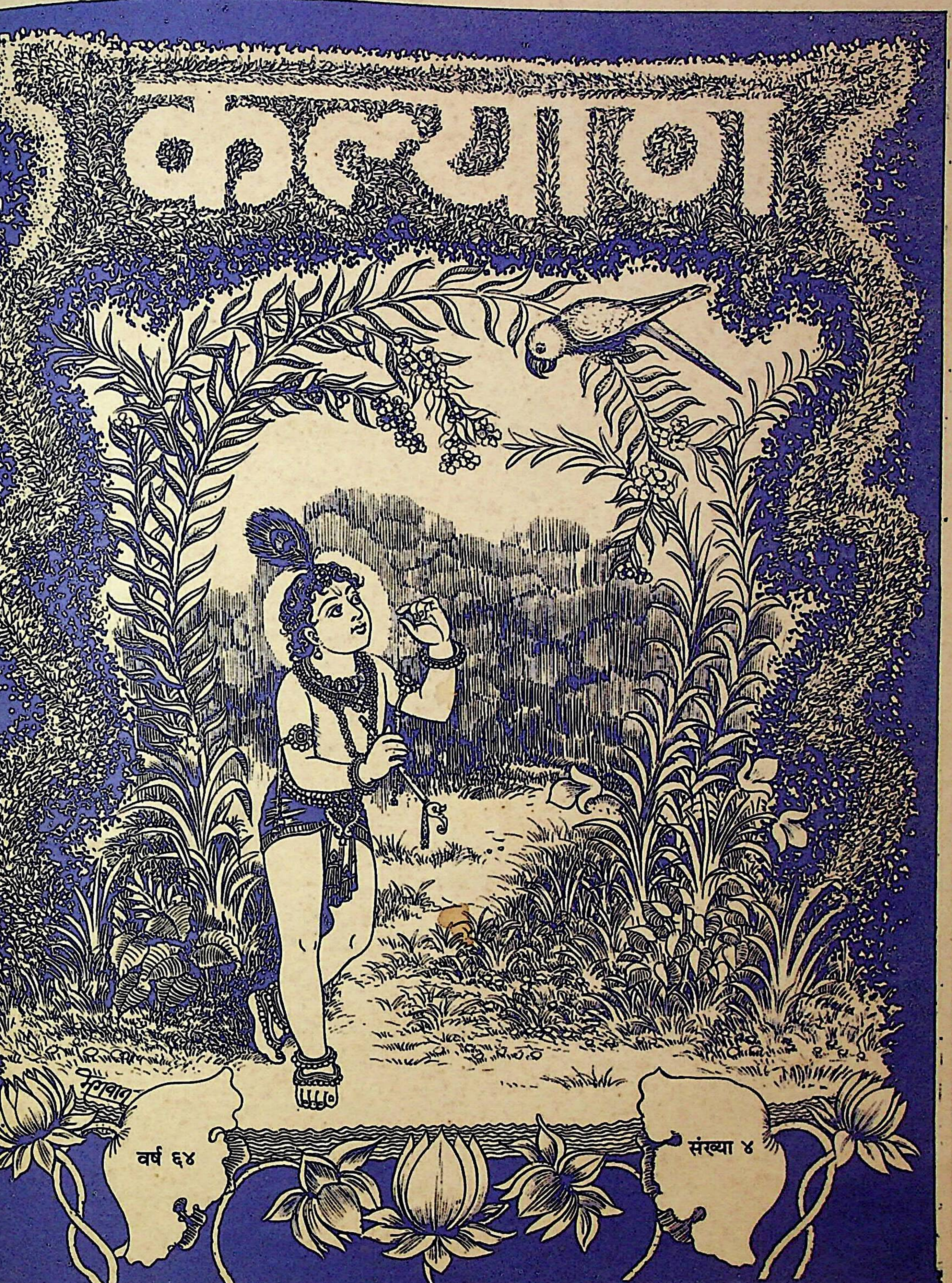
कल्याण
भगवान
वर्ष ६४
संख्या ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, वि॰ सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, जुलाई १९९०

विषय — पृष्ठ-संख्या
१-वैकुण्ठलोकमें पार्षदोंसहित श्रीलक्ष्मी-नारायण ४८९
२-कल्याण (शिव) ४९०
३-अनन्य भक्ति-साधनका स्वरूप (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ४९१
४-तन्मयता (तत्त्वदर्शी महात्मा श्रीतैलङ्ग स्वामीजी) ... ४९४
५-राधा-कृष्णकी अभिन्नता तथा राधा-प्रेमकी विशुद्धता (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ४९७
६-भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन—षोडशाक्षर-मन्त्र-जप (श्रीबनवारीलालजी गुप्त 'शास्त्री') ४९८
७-साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ५०२
८-देवपूजामें पुष्प ५०६
९-संत-वाणी ५०९
१०-गीता-सुधातरङ्गिणी (बारहवाँ अध्याय) [अनु॰—श्रीबजरंगलाल राम अवतारजी सोनी] ५१०

विषय — पृष्ठ-संख्या
११-मनःशुद्धि आवश्यक है (संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज) ५११
१२-क्या शुभ कर्मसे कष्टोंका नाश होता है ? (स्वामी श्रीशंकरानन्दजी महाराज) ५१२
१३-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ५१४
१४-साधनोपयोगी पत्र ५१५
१५-मानवका दुर्भाग्य [कहानी] ५१८
१६-श्राद्धसे सबकी संतृप्ति ५१९
१७-मानवकी दानवीय क्रूरता ५२०
१८-पढ़ो, समझो और करो ५२३
१९-मनन करने योग्य (डॉ॰ श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्॰ए॰, पी-एच्॰डी॰) ५२५
२०-गोवंशके वधपर रोक लगाने-हेतु संसद्में प्रस्ताव ५२७
२१-भगवान्के नामका माहात्म्य ५२८

चित्र-सूची

१-नन्दनन्दन और लीलाशुकका संवाद (इकरंगा) आवरण-पृष्ठ
२-वैकुण्ठलोकमें पार्षदोंसहित श्रीलक्ष्मी-नारायण (रंगीन) मुख-पृष्ठ

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें २.०० रु॰
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वा
मूल्य
(डाक-व्ययस
भारतमें ४४.०
विदेशमें ६
अथवा १० ड

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

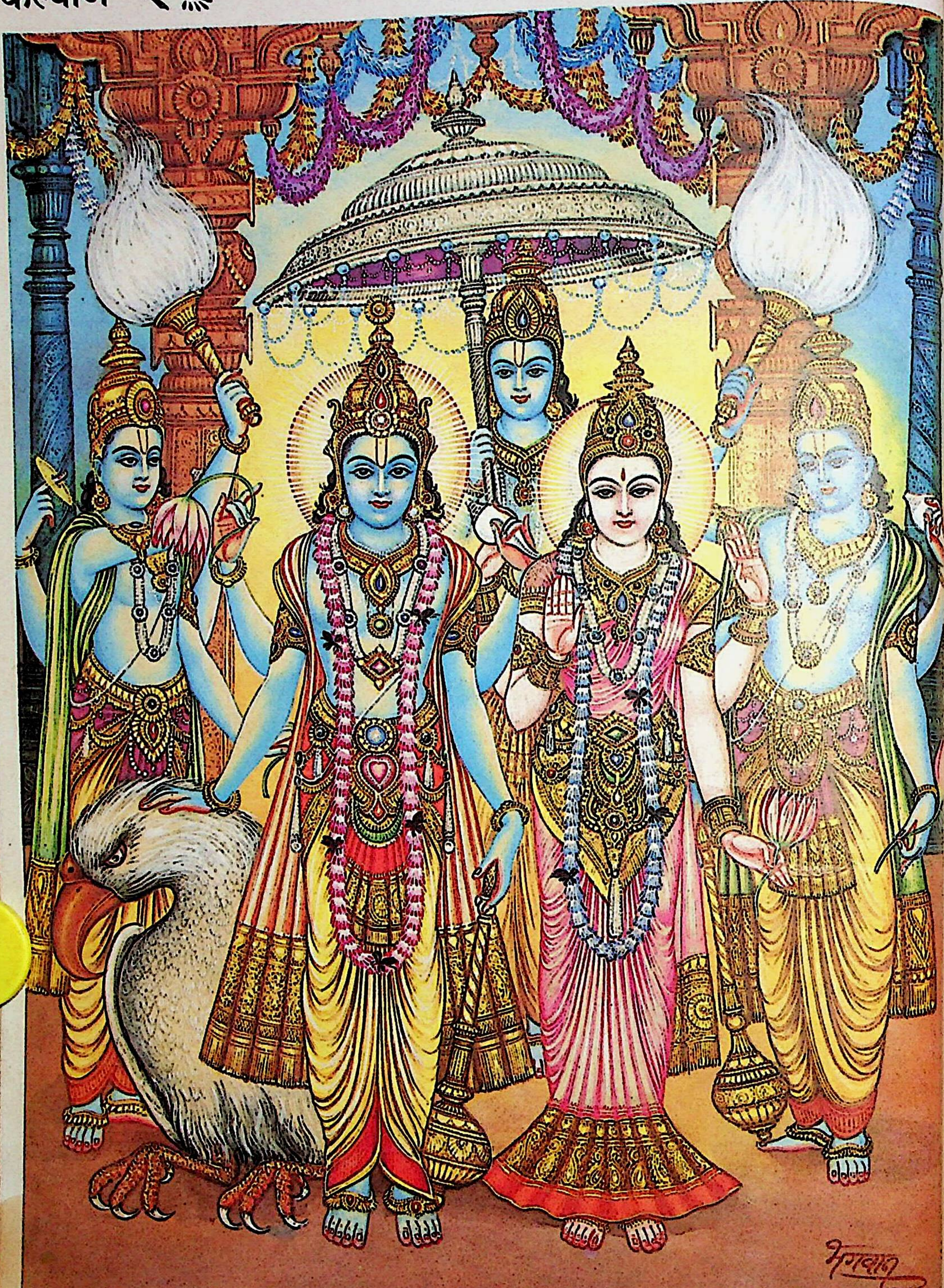

वैकुण्ठलोकमें पार्षदोंसहित श्रीलक्ष्मी-नारायण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: [illegible] Foundation, Jalgaon.

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

वर्ष ६४ गोरखपुर, सौर आषाढ़, वि० सं० २०४७, श्रीकृष्ण-सं० ५२१६, जुलाई १९९० ई० संख्या ४ पूर्ण संख्या ७६१

वैकुण्ठलोकमें पार्षदोंसहित श्रीलक्ष्मी-नारायण

श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणिप्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः।
प्रवालवैदूर्यमृणालवर्चसः परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः॥
श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः करोति मानं बहुधा विभूतिभिः।

(वैकुण्ठलोकमें भगवान् नारायणके सभी पार्षद) उज्ज्वल आभासे युक्त श्याम शरीरवाले शतदल कमलके समान कोमल नेत्रयुक्त और पीले रंगके वस्त्रसे शोभायमान हैं। उनके अङ्ग-अङ्गसे राशि-राशि सौन्दर्य बिखरता रहता है। वे कोमलताकी मूर्ति हैं। सभीके चार-चार भुजाएँ हैं। वे स्वयं तो अत्यन्त तेजस्वी हैं ही, मणिजटित सुवर्णके प्रभामय आभूषण भी धारण किये रहते हैं। उनकी छबि मूँगे, वैदूर्यमणि और कमलके उज्ज्वल तन्तुके समान है। उनके कानोंमें कुण्डल, मस्तकपर मुकुट और कण्ठमें मालाएँ शोभायमान हैं। उस वैकुण्ठलोकमें लक्ष्मीजी सुन्दर रूप धारण करके अपनी विविध विभूतियोंके द्वारा भगवान्‌के चरण-कमलोंकी अनेकों प्रकारसे सेवा करती रहती हैं।

कल्याण

देखो, तुम्हारी क्या दशा है—शरीर रोगग्रस्त है, मन चञ्चल और अपवित्र है, बुद्धि व्यभिचारमें प्रवृत्त है, जीवन दुःखोंका घर बना है और यों ही रोते-चिल्लाते तुम सतत मृत्युकी ओर बहे चले जा रहे हो !

इस प्रकार पता नहीं कितने दीर्घकालसे तुम इस दुःखसागरमें डुबकियाँ लगा रहे हो—कहीं भी न तो तुम्हें कोई बचनेका साधन दीखता है और न कहीं इसका ओर-छोर ही नजर आता है।

तुम्हारी इस दुर्दशाका अन्त एक ही उपायसे हो सकता है। वह उपाय है—'भगवान्के शरण होकर उन्हें पुकारना।' भगवान्ने कहा है—'जो मुझमें चित्त लगाते हैं, उनको संसार-सागरसे बहुत ही शीघ्र मैं तार देता हूँ।' भवसागरकी भयानक तरङ्गोंसे बचना चाहते हो तो उनको पुकारो, उनसे कहो—'नाथ ! मैं जहाँ गया, वहींसे गिरा, क्योंकि मुझे अभीतक कोई अच्युत मिला ही नहीं। तुम अच्युत हो, आज मैं दुखी-दीन होकर तुम्हारी शरण आया हूँ। मुझे इस भयानक भयसे बचा लो।'

निश्चय समझो—तुम्हारी पुकार सच्ची होगी तो वे अवश्य-अवश्य तुमको बचा लेंगे। वे यह नहीं देखेंगे—तुम कौन हो, किस श्रेणीके हो, किस प्रकारके आचार-विचार रखते हो, पुण्यात्मा हो या पापी हो, वे देखेंगे केवल यही कि तुम्हारा उनपर—उनकी कृपापर विश्वास है या नहीं और तुम्हारी पुकारमें कितनी सचाई है।

याद रखो—भगवान् अशरण-शरण हैं, दीनबन्धु हैं, पतितपावन हैं। तुम अपनेको यथार्थ ही अशरण, दीन और पतित मानकर उनकी ओर निहारोगे और अपनानेके लिये उन्हें पुकारोगे तो निश्चय ही वे तुम्हें वैसे ही अपनाकर, पवित्र बनाकर अपनी गोदमें ले लेंगे, जैसे स्नेहमयी जननी मैलेसे भरे प्यारे पुत्रको गोदमें उठाकर स्वयं अपने ही हाथों उसका मल धोकर उसे हृदयसे लगा लेती है।

निश्चय करो—भगवान्के समान तुम्हारे प्यारे, निकट-से-निकट आत्मीय, प्राणोंके प्राण, जीवनके जीवन और आत्माके आत्मा केवल भगवान् ही हैं। तुम उनको बहुत ही प्यारे हो। प्यारे ! प्यारसे उन्हें एक बार पुकारो तो सही। देखोगे, तुम्हें बदलेमें कितनी जल्दी और कितना अनोखा उनका प्यारा प्यार मिलता है।

अंधेकी तरह इधर-उधर ठोकरें खाकर इस महामूल्य मानव-जीवनको व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर रहे हो, क्यों रात-दि दुःखोंसे छटपटाते हो ? आठों पहर सुखके लिये हाय-हाय करते हो—सोते-जागते सब समय प्रमादमें पड़े तड़पते रहते हो, कहीं भी मिला सुख ? जिसको भी सुख समझकर छातीसे लगाने जाते हो, वही दुःखकी ज्वालासे तुम्हें झुलस देता है। जहाँ भी सुखकी कल्पना करते हो, वहीं दुःखकी चट्टानसे टकराकर चूर-चूर हो जाते हो। मानमें-यशमें, धनमें-जनमें, स्त्रीमें-स्वामीमें, पुत्रमें-कन्यामें कहीं भी दर्शन हुए सुखके ? कहीं नहीं ! सभी जगह दुःख-ज्वाला है, सभी जगह भय-चिन्ता है ! तो क्या यहाँसे हट जानेपर सुख मिलेगा ?

हटकर कहाँ जाओगे ? जहाँ जाओगे, वहीं यही मिलेगा। हटनेकी आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है इस सत्यको समझ लेनेकी कि एकमात्र भगवान्में ही परम सुख है और वे भगवान् सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा परिपूर्ण हैं। जब इस सत्यका साक्षात्कार हो जायगा, तब सभी देश, सभी काल और सभी अनुकूल-प्रतिकूल दीखनेवाली परिस्थितियोंमें तुम्हें भगवान्के दर्शन होंगे। तभी तुम इस प्रकार सब ओरसे सब समय उन्हें पाकर ही यथार्थ सुखकी उपलब्धि कर सकोगे।

जगत्में तुम जो इतने जल रहे हो, सर्वत्र ही जो अभाव, भय, दुःख और विनाशका ताण्डव नृत्य दिखायी पड़ रहा है, इसका कारण यही है कि तुम भगवान्से शून्य जगत्को देखते हो। जहाँ भी भगवान्का अभाव माना जाता है, वहीं तमाम अभाव, तमाम भय, तमाम दुःख और तमाम विनाश अपनी सारी भयावनी सेनाको साथ लिये डेरा डाले पड़े रहते हैं। इन शत्रुओंके घेरेसे तुम तबतक नहीं निकल सकते, जबतक कि तुम भगवान्को सर्वत्र परिपूर्ण समझकर उनके दर्शन न पा लो।

भगवान् सर्वत्र हैं, इसलिये नित्य तुम्हारे साथ हैं। उनको देखकर सदाके लिये सुखी हो जाओ ! तुम ऐसा कर सकते हो। सत्यस्वरूप तुमको सत्यकी प्राप्तिका पूर्ण अधिकार है। वह तो तुम्हारा ही स्वरूप है। 'शिव'

अनन्य भक्ति-साधनका स्वरूप

[एक कन्याका दृष्टान्त]

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

गीता (११ । ५४) में भगवान्‌ने बतलाया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

'परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

अनन्य भक्तिका साधन किस प्रकार करना चाहिये, इस विषयमें एक कन्याका दृष्टान्त बतलाया जाता है। राजस्थानके एक गाँवमें एक सुन्दर चौदह वर्षकी तरुणी अविवाहिता कन्या थी। उस कन्याकी विवाहके योग्य अवस्था देखकर उसके सम्बन्धके लिये पिता सदा चेष्टा करते रहते थे। एक बार एक अच्छे प्रतिष्ठित विद्वान् ब्राह्मणसे उसके पिताने कहा—'मेरी कन्याका सम्बन्ध अवश्य करना है।' उस ब्राह्मणने खोजकर एक अच्छे वरकी व्यवस्था कर दी और कहा—'वर बहुत ही सदाचारी, सद्‌गुणी, सुशील, वैभवसम्पन्न और सुन्दर है। उसके समान दूसरा कोई भी नहीं है। ऐसा वर मिलना कठिन है, किंतु उसके माता-पिता नहीं हैं।' ब्राह्मणने वरके पास भी यह समाचार पहुँचा दिया कि 'कन्या बड़ी सुन्दर, सुशील और युवा है।' इस प्रकार दोनोंको समझाकर सम्बन्ध करवा दिया। सम्बन्ध होनेके बाद उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने वरके द्वारा कन्याके लिये भेजे हुए अधोवस्त्र (साड़ी), उत्तरीयवस्त्र (ओढ़ना) और कब्जा, पायजेब आदि पैरोंके गहने, रत्नजटित करधनी, दोनों हाथोंकी दस स्वर्णकी चूड़ियाँ, कड़े, कंगन, बंगड़ी, बाजूबंद आदि हाथोंके गहने, गलेमें पहननेका रत्नजटित स्वर्णका कंठला, वक्षःस्थलपर धारण करनेका चन्द्रहार, कण्ठी, मोहनमाला, गलपटिया आदि, नाककी नथ, कानोंकी बालियाँ और कर्णफूल, मस्तककी चूडामणि एवं सिन्दूर आदि सौभाग्य-द्रव्य लाकर दिये। कन्या उन वस्त्राभूषणोंको पहनकर अपनी सहेलियोंके पास गयी। वे सब उसके इस शृंगारको देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं और बोलीं—'ये सब वस्तुएँ तुम्हारे पतिके यहाँसे आयी हैं न ?' यह सुनकर वह कुछ लज्जित हो गयी। उन सहेलियोंमें एक दुष्ट लड़की थी, उसने उसकी एक चूड़ी खराब कर दी। कन्याने दुःखित होकर पिताके पास आकर कहा—'अमुक सहेलीने मेरी एक चूड़ी खराब कर दी।' पिताने कन्याको आश्वासन दिया और चूड़ीको ठीक करवा दिया तथा उस सहेलीके अभिभावकको उलाहना दिया। फिर सम्बन्ध करानेवाले ब्राह्मणको भी सारी बातें बताकर विवाह शीघ्र करनेके लिये अनुरोध किया।

ब्राह्मणदेवताने वरके पास जाकर कहा—'लड़की बहुत सुपात्र है। किसीने एक चूड़ी खराब कर दी, तब उसने उसको अपशकुन मानकर पिताके पास दुःख प्रकट किया। पिताने चूड़ी ठीक करवा दी। आपके भेजे हुए वस्त्राभूषणोंकी वह अच्छी तरह आदरपूर्वक सार-सँभाल रखती है। उसके पिताने शीघ्र विवाहके लिये अनुरोध किया है।' यह सुनकर वरने शीघ्र ही विवाह करना स्वीकार कर लिया। कुछ ही दिनों बाद वरने तिथि निश्चित कर दी और बारात लेकर कन्याको ब्याहनेके लिये कन्याके पिताके यहाँ जा पहुँचा। विवाहके समय कन्याने वरके गलेमें वरमाला पहनायी और विधिपूर्वक विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। तत्पश्चात् वर उस कन्याको अपने साथ स्थानपर ले गया। उनके यहाँ ऐसी प्रथा थी कि वधूको वापस नहीं भेजा जाता। किसीको मिलना होता तो वहीं आकर मिल लेते। उसके पति ही यदि कभी कोई विशेष आवश्यकता समझें तो उसे भले ही नैहर भेज दें, पर दूसरे किसीकी इच्छासे वह नहीं जा पाती। ऐसी आवश्यकताका अवसर जीवनभरमें किसीके लिये शायद ही कभी आता है।

उपर्युक्त कन्याके दृष्टान्तको दार्ष्टान्तमें इस प्रकार घटाना चाहिये। यहाँ अनन्य भक्तको ही कन्या समझना चाहिये। उसके १-निर्भयता, २-सात्त्विकी बुद्धि, ३-मन-इन्द्रियोंका संयम, ४-क्रोधका अभाव, ५-ममता और अहंकारका अभाव, ६-स्वार्थत्याग, ७-किसीकी निन्दा न करना, ८-विषयोंमें निर्लेपता, ९-कोमलता, १०-व्यर्थ चेष्टाका अभाव, ११-तेजस्विता, १२-धैर्य, १३-निर्वैरता तथा १४-मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके त्यागमें निपुणता—ये चौदह गुण

ही चौदह वर्षकी आयु है। श्रद्धा-विश्वास ही सुन्दरता है। प्रेम ही तरुणावस्था है, जो नित्य बढ़ता रहता है। भगवत्-मार्गमें लगानेवाले परम हितैषी पुरुष ही पिता हैं। भगवत्प्राप्त पुरुष ही सम्बन्ध करानेवाले श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण हैं। भगवान् मातृ-पितृ-विहीन वर हैं। लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये लज्जा ही अधोवस्त्र (साड़ी) है। शास्त्रमर्यादाकी रक्षाके लिये लज्जा ही उत्तरीयवस्त्र (ओढ़ना) है। शीत-उष्णको सहन करनारूप तितिक्षा ही कब्जा है। भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे तीर्थस्थान, देवालय और महात्माओंके दर्शनके लिये पैरोंसे उनके पास जाना ही पैरोंके पायजेब आदि गहने हैं। भगवान्‌की प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना ही करधनी है। पाँच यम ही दाहिने हाथकी पाँच चूड़ियाँ हैं। यमोंका वर्णन योगदर्शन (२।३०) में इस प्रकार किया गया है—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं।'

१-अहिंसा— किसी भी प्राणीको किसी प्रकार किसी भी निमित्तसे किंचिन्मात्र भी कभी कष्ट न देना 'अहिंसा' है।

२-सत्य—जो बात जैसी सुनी, समझी और देखी गयी, उससे न अधिक कहना, न कम कहना एवं कपटरहित यथार्थ हितकर और प्रिय वचन कहना 'सत्य' है।

३-अस्तेय—दूसरेके किसी भी पदार्थको चोरीसे, जोरीसे, ठगीसे किसी भी प्रकार कभी अपने अधिकारमें न करना 'अस्तेय' है।

४-ब्रह्मचर्य—किसी भी बालक-बालिका और स्त्रीके दर्शन, स्पर्श, भाषण, वार्तालाप, श्रवण, एकान्तवास, चिन्तन, हँसी-मजाक और सहवासका सर्वथा त्याग करना अर्थात् मन, वाणी, शरीरसे किसी प्रकार भी किंचित् भी अश्लील चेष्टा न करना 'ब्रह्मचर्य' है। इसी प्रकार स्त्रीके लिये पुरुषके प्रति समझ लेना चाहिये।

५-अपरिग्रह—अपने ऐश-आराम और भोगके लिये किसी पदार्थका कभी संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है।

सब देश, सब काल, सब जाति और सब निमित्तोंमें सेवन किये हुए उपर्युक्त पाँचों यम 'महाव्रत' कहे जाते हैं। योगदर्शन (२।३१) में बताया गया है—

'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।'

'उक्त यम जाति, देश, काल और निमित्तसे रहित सार्वभौम होनेपर 'महाव्रत' हो जाते हैं।'

इसी प्रकार पाँच नियम ही बायें हाथकी पाँच चूड़ियाँ हैं। नियमोंका वर्णन योगदर्शन (२।३२) में इस प्रकार किया गया है—

'शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।'

'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच नियम हैं।'

१-शौच—बाहर-भीतरकी पवित्रताको 'शौच' कहते हैं। बाहरकी पवित्रता है शौचाचार-सदाचार। भीतरकी पवित्रता है दुर्गुण-दुराचारोंके संस्कारोंका अभाव।

२-संतोष—ईश्वरके मङ्गलमय विधानके अनुसार अनुकूल और प्रतिकूल क्रिया, भाव, पदार्थ और परिस्थितिकी प्राप्तिमें सदा संतुष्ट—प्रसन्नचित्त रहना 'संतोष' है।

३-तप—मन और इन्द्रियोंका संयम करके त्यागपूर्वक व्रत, उपवास आदि धर्मका पालन करनेके लिये कष्ट सहन करना 'तप' है।

४-स्वाध्याय—भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-सदाचारपरक श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण आदि शास्त्रोंका अर्थ और भाव समझते हुए अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है।

५-ईश्वर-प्रणिधान—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे ईश्वरके प्रणव आदि नामोंका जप और स्वरूपका चिन्तन करते हुए करुणाभावपूर्वक ईश्वरके शरणापन्न होना—'ईश्वर-प्रणिधान' है।

हाथोंसे सेवा, पूजा, यज्ञ, दान, परोपकार आदि सत्कार्य करना ही कड़े-कंगन, बंगड़ी, बाजूबंद आदि हाथोंके गहने हैं। भक्ति-ज्ञान-वैराग्यपरक गीता, रामायण, भागवत आदिको कण्ठाग्र करना ही गलेका भूषण रत्नजटित 'कंठला' है। क्षमा, दया, शान्ति, समता, उदारता, ज्ञान-वैराग्य आदि हृदयके उत्तम भाव ही वक्षःस्थलके चन्द्रहार, कण्ठी, मोहनमाला, गलपटिया आदि गहने हैं। नासिकाके द्वारा भगवान्‌के दिव्य विग्रहमें दिव्य गन्धका अनुभव करना ही नाककी 'नथ' है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला आदिका श्रवण ही कानोंकी 'बालियाँ' तथा अपनी निन्दा और अपवाद सुनकर संतुष्ट रहन

ही कानके 'कर्णफूल' हैं। विनय और प्रेमपूर्वक भगवद्भावसे सिरसे सबको नमस्कार करना मस्तककी 'चूडामणि' है। भगवान्में दृढ़तापूर्वक अनन्यप्रेमभावसे एकनिष्ठा ही सौभाग्यचिह्नरूप 'सिन्दूर' है।

सत्संगी मित्र साधकोंका सङ्ग ही सहेलियोंका सङ्ग है। उत्तम गुण और उत्तम आचरणरूप वस्त्राभूषणोंको देखकर जो मित्रोंके द्वारा प्रशंसा की जाती है, उसे सुनकर साधकका लज्जित होना ही कन्याका लज्जित होना है, यही उस कन्याकी महत्ता है। साधनमें बाधा पहुँचानेवालेको ही चूड़ी खराब करनेवाली दुष्ट सहेली समझना चाहिये। शौच-स्नान, नित्यकर्म आदि साधनमें विघ्न डालना ही चूड़ीको खराब करना है। परम हितैषी पुरुषके द्वारा शौच-स्नान, नित्यकर्मका सुचारुरूपसे प्रबन्ध किया जाना ही पिताके द्वारा चूड़ीको ठीक करवाया जाना है। साधकको भगवान्से मिलनेके लिये उत्कण्ठित और पात्र देखकर जो परम हितैषी पुरुषके द्वारा भगवत्प्राप्त पुरुषसे भगवद्दर्शनके लिये अनुरोध कराना है, यही कन्याको विवाहके लिये उत्सुक, सयानी और योग्य देखकर पिताके द्वारा ब्राह्मणसे शीघ्र विवाहके लिये अनुरोध करवाना है। साधकके उत्तम गुण, स्वभाव और चरित्रोंका भगवान्के प्रति वर्णन करना वरके प्रति कन्याके गुण-स्वभाव-चरित्रका वर्णन करना है। भगवान्का उस साधकको दर्शन देनेका निश्चय करना ही वरका कन्याके साथ विवाह स्वीकार करना है, क्योंकि भगवान् किसीके पुरुषार्थसे नहीं मिलते। वे तो उसीको मिलते हैं, जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं। कठोपनिषद् (१।२।२३) में बतलाया गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥

'ये परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकते हैं, बल्कि जिसको ये परमात्मा स्वीकार कर लेते हैं, उसके द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं, क्योंकि ये परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट कर देते हैं।'

भगवान्का प्रकट होकर दर्शन देना ही कन्याके घरपर वरका पधारना है और भगवान्का दर्शन करके उनको पुष्पमाला पहनाना ही कन्याके द्वारा वरमाला पहनाना है। भगवत्प्राप्ति ही विवाह है। साधकका भगवान्के परमधाममें जाना ही कन्याका पतिके स्थानमें जाना है। परमधाममें जाकर पुनः इस संसारमें लौटकर न आना ही स्त्रीका नैहर वापिस न आना है। विशेष आवश्यकता पड़नेपर भगवान्के द्वारा आज्ञा और अधिकार पाकर उस महात्माका, लोगोंका उद्धार करनेके लिये संसारमें आना ही स्त्रीका भगवदिच्छासे नैहरमें आना है।

अनन्य भक्तिका साधन किस प्रकार किया जाय—इसे समझानेके लिये ही यह कन्याका दृष्टान्त बताया गया है। इसे साधक पुरुषको अपनेमें घटाना चाहिये। अनन्य भक्तिके साधकको भक्ति, ज्ञान, वैराग्यके रसमें सदा-सर्वदा मग्न रहना चाहिये। भगवान्के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे तत्परता और उत्साहके साथ निरन्तर करते रहना चाहिये। उसके प्रभावसे मनुष्यमें उपर्युक्त उत्तम गुण और उत्तम चरित्र सहजमें ही प्रकट हो सकते हैं। फिर तो ऐसे उत्तम गुण और उत्तम चरित्ररूप दैवी सम्पदावाले साधक महात्माके द्वारा अनन्यभावसे प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन अनायास स्वाभाविक ही होता रहता है। भगवान्ने गीता (९।१३) में बतलाया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

'अर्जुन! दैवी प्रकृतिके आश्रित उच्चकोटिके साधक महात्माजन तो मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

अतएव हमलोगोंको नित्य-निरन्तर उपर्युक्त साधनकी सम्पन्नताके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। सत्पुरुषोंका सङ्ग न मिले तो उत्तम साधकोंका सङ्ग करके अपना साधन बढ़ाना चाहिये। साधकोंका सङ्ग भी न मिले तो जिनमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व-रहस्यका वर्णन हो, उन ग्रन्थोंका अर्थ और भाव समझते हुए श्रद्धा, प्रेम और वैराग्यपूर्वक अनुशीलन करना चाहिये।

तन्मयता

(तत्त्वदर्शी महात्मा श्रीतैलङ्ग स्वामीजी)

मनुष्य—जीवका प्रत्येक समय एक-एक कर्मके लिये निर्दिष्ट है। उस समयके अनुसार कार्यका अनुष्ठान करना चाहिये। यद्यपि यह बात नहीं है कि एक समयका कार्य दूसरे समयमें नहीं होता। एक अवस्थाके लिये जो कार्य निर्दिष्ट है, दूसरी अवस्थामें वही कार्य सम्पादित हो सकता है। तथापि वास्तविकता यह है कि समयानुरूप कार्यका अनुष्ठान करनेसे यह कभी विफल नहीं होता। असमयमें किया हुआ कार्य प्रायः विफल हो जाता है और यदि एक-दो कार्योंमें सफलता भी मिलती है तो पूरी नहीं, प्रत्युत आंशिक ही मिलती है। योगका समय वृद्धावस्था है, जब चित्तमें कोई कुभाव पैदा नहीं होता, मनुष्यकी इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती हैं, वही समय योग अथवा साधनके लिये उपयुक्त है। यौवनमें उत्तेजित वृत्तियोंको दबा रखनेकी जिसकी क्षमता है, वह युवावस्थामें भी योग-शिक्षाके लिये उपयुक्त है। यौवनमें प्रवृत्तिको निवृत्त करनेमें समर्थ होना ही योग-शिक्षाके लिये उपयुक्त पात्र बनना है।

योग-साधना करना सहज—आसान नहीं है। योगका अभिप्राय तन्मयता है। तन्मयत्व-भावका संचार हृदयमें हुए बिना योग-साधन नहीं होता। यदि कोई तन्मय हो सके, यदि ईश्वरमें और तुममें प्रभेद दिखायी न दे तो तुम योग-साधनमें सफलता प्राप्त करोगे और तुम योग-शिक्षाके प्रकृत अधिकारी हो।

योग-साधनाके विषयमें जितने नियम हैं, उनमें षट्चक्र-भेद सर्वप्रधान है। षट्चक्र-भेद किया जा सके तो दूसरी साधनाका कोई प्रयोजन नहीं रहता। षट्चक्र-भेद करनेवाले साधकके लिये निर्वाण—मुक्ति बड़ी सहज है। षट्चक्र-भेद कर उस चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें जिन समस्त मानसिक वृत्तियोंकी आवश्यकता है, उनमें बिन्दुमात्र व्यतिक्रम होनेसे भी सफलता नहीं मिलती। पहले यह जान लेना चाहिये कि षट्चक्र क्या है ? इसके अनन्तर क्षमता लाभ होनेपर भेदन करनेका प्रयत्न करना चाहिये और उसी समय इसका महत्त्व एवं आवश्यकता समझी जा सकेगी।

जीव देहमें अन्नमय कोषका अवलम्बन कर मनो
कोष, मनोमय कोषका अवलम्बन कर प्राणमय कोष, प्राण
कोषका अवलम्बन कर विज्ञानमय कोष, विज्ञानमय कोष
अवलम्बन कर आनन्दमय कोषका अवस्थान करता
अङ्गुष्ठपरिमित जीवात्मा इसी आनन्दमय कोषका अवल
कर अवस्थिति कर रहा है[१]। यह अवस्थान चार अवस्थाओं
निष्पन्न होता है। उसमें प्रथम वैश्वानर है, जो शरीरस्थ हो
परिचालना करता है। यही जीवकी चेतनावस्था है। द्वि
अवस्था तैजस है—यह जीवकी स्वप्नावस्था है। तृतीय 'प्र
अवस्था है—यह जीवकी निद्रावस्था है। चतुर्थ ब्रह्म
समस्त प्राणियोंमें सब अवस्थाओंमें ब्रह्म जीव-श
विराजमान है। यह चतुर्विध अवस्था अ-उ-म् अर्थात् ओ
मन्त्रद्वारा साधित होती है।

नाड़ियोंमें निरन्तर जो वायु प्रवाहित हो रहा है, उस
अवलम्बनसे पञ्चवायुका अवस्थान है। इन सबके मध्य
होती हुई नाड़ी-प्रधाना सुषुम्ना अन्तमें ऊर्ध्वसे उत्पन्न हो
मस्तिष्कके भीतर केश-मूलपर्यन्त प्रलम्बित है। इसी नाड़
प्रविष्ट होकर ज्ञान और आनन्दमय अन्तराकाशमें पद्म
गुहाके मध्यमें आत्मा निवास करता है। इसी षट्चक्र
भेदनपूर्वक नाड़ीप्रधाना सुषुम्नाके मध्यमें संयमित आत्म
प्रविष्ट कराकर उस सच्चिदानन्दके साथ मिलना पड़ता है।
सम्मिलन ही षट्चक्र-भेद है।

कठिन योगकी अपेक्षा सरल योग सहज और अधि
फल देता है। कठिन योग शारीरिक और मानसिक शिक्ष
एवं सरल योग केवल मात्र मानसिक शिक्षा है। मानसि
शिक्षा सम्पन्न हो जानेसे शारीरिक शिक्षाका कोई प्रयो
नहीं रहता।

कठिन योग कुम्भक, विकुम्भक, आनुमीन, उत्क्रान्ति
दाष्टि है। सरल योग सत्य—सत् और निर्विकार होनेके सा

---

[१] सोऽयमात्मा चतुष्पात्‌····जागरितस्थान····स्थूलभुग्‌ वैश्वानरः प्रथमः पादः। स्वप्नस्थानः····तैजसो द्वितीयः पादः। सुषुप्तस्थानः ····स्तृतीयः पादः। प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः। (माण्डूक्य, उपनिषद्‌ २। ५। ७)

सहज साध्य तथा साधारणके लिये ग्रहण करने योग्य है। कठिन योग-साधन साधारणके भाग्यमें नहीं होता। सरल योगकी शिक्षाके लिये वनवास एवं कायिक क्लेश, कुछ भी स्वीकार करना नहीं पड़ता। केवल चित्त-वृत्तिको अपने वशीभूत करनेके साथ-साथ सन्मार्गका अनुगमन करनेकी क्षमता होनेसे ही उसके द्वारा बड़ा फल लाभ किया जा सकता है।

यदि चित्तमें चिन्मयकी मूर्ति विराजमान की जा सके तो विशेष कायिक क्लेश उठानेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। सद्वृत्तिकी आलोचनामें और सद्वृत्तिके अनुशीलनमें जो फल है, वह तीर्थ-पर्यटनमें नहीं होता। मन परिशुद्ध होनेसे, जीवके आत्मशुद्ध होनेसे चित्त जब निर्मल होगा, तब वह अपने हृदयमें ही सब तीर्थोंका परिदर्शन कर सकेगा। समस्त तीर्थ मनुष्यके शरीरमें ही वर्तमान हैं। नासापुटमें गङ्गा, मुखमें यमुना, हृदयमें वैकुण्ठ, कपालमें वाराणसी, नाभिमें हरिद्वार इत्यादि स्वर्ग, मर्त्यके सभी तीर्थ-क्षेत्र मानव-देहमें विद्यमान हैं। पाप ही आशङ्काका मूल है। जो पापी है, वह सभी कामोंमें संकोच करता है और जो निष्पाप है, उसको कहीं कोई शंका नहीं—वह सर्वदा ही संकोच—संदेहरहित है। अतएव वैकुण्ठ जानेका अधिकारी है। उसके हृदयमें सच्चिदानन्दमय सत्-स्वरूप वैकुण्ठनाथ विराजमान हैं।

वैकुण्ठ—अर्थात् हृदयके नीचे ईड़ा और पिंगला नाड़ी अथवा चन्द्र और सूर्य किंवा गङ्गा और यमुनाका संगम है। इस सङ्गममें स्नान किया जा सके तो जीवके सब पाप ध्वंस हो जाते हैं। ईड़ा आत्म-ज्ञान और पिंगला विवेक नामसे कही गयी है। गङ्गा-यमुनाका जिस प्रकार सम्बन्ध है, ईड़ा और पिंगलाका सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार है। पिंगला अर्थात् विवेकसे ईड़ा अर्थात् आत्मज्ञानकी उत्पत्ति है। मनको इसी पिंगला-मार्गसे प्रवेश कराकर क्रमशः निवृत्तिद्वारा ईड़ामें सम्मिलित करना पड़ता है। तदनन्तर ईड़ा एवं पिंगलाका जहाँ संयोग हुआ है, मनको उस स्थानमें ले जाकर स्नान करानेसे अर्थात् मनको आत्म-ज्ञानरूपी जलमें निमज्जित करनेसे महाफलकी प्राप्ति हो जाती है। आत्म-ज्ञान उत्पन्न होनेपर योग उसके निकट अति सहज साध्य है। आत्म-ज्ञान-लाभ ही योगका कारण है। आत्म-ज्ञान-लाभ करनेके लिये ही योग सीखनेकी आवश्यकता है, परंतु उसके लिये गृह-त्याग वा अरण्यवास अथवा अनाहारी रहना आवश्यक नहीं है। ऐसे कुछ नियम हैं, जिनका चिन्तन और तदनुरूप आचरण कर सकनेसे योगका फल—आत्म-ज्ञान-लाभ किया जाता है। आत्म-ज्ञान-लाभ करनेके लिये कोई दूसरी कठिन साधना करनी नहीं पड़ती। इन नियमोंके अनुशीलन और आचरणको ही सरल योग कहा जा सकता है। जिन समस्त वृत्तियोंके निरोध करनेकी एकान्त आवश्यकता है, उनके निरोध साधनके बिना योगका फल प्राप्त नहीं होता। इन नियमोंके अनुसार आचरण करने और हृदयको इन सात्त्विक भावोंके ग्रहण करनेके उपयुक्त बनानेमें समर्थ होनेपर निश्चय ही योगका फल लाभ हो सकता है। नियम ये हैं—

(१) असंतुष्ट व्यक्ति किसीको भी संतुष्ट नहीं कर सकता। जो सदा संतुष्ट रहता है, वह सबको प्रसन्न कर सकता है।

(२) जिह्वा पाप-कथा कहनेमें बड़ी तत्पर है, उसको संयत रखना आवश्यक है।

(३) आलस्य सब अनर्थोंका मूल है। अतएव यत्नपूर्वक आलस्यका परित्याग करो।

(४) संसार धर्माधर्मकी परीक्षाका स्थल है। सावधान होकर धर्माधर्मकी परीक्षा करते हुए प्रत्येक कार्यको सम्पन्न करो।

(५) किसी धर्मके प्रति अश्रद्धा न करो। सभी धर्मोंमें सार और सत्य निहित है।

(६) दरिद्रको दान करो। धनीको दान देना वृथा है। कारण, उसको आवश्यकता नहीं है, इसलिये वह दान लेकर आनन्दित नहीं होता।

(७) साधु-सहवास ही स्वर्ग एवं असत्सङ्ग ही नरकावासका मूल है।

(८) आत्म-ज्ञान, सत्पात्रमें दान और संतोषके आश्रयसे ही मोक्ष-प्राप्ति होती है।

(९) जो शास्त्र पढ़कर उसके मर्मको जानते हुए भी उसका अनुष्ठान नहीं करता, वह पापीसे भी अधम है।

(१०) किसी कर्मके अनुष्ठानके मूलमें धर्म रहना चाहिये, अन्यथा सिद्धि नहीं होती।

(११) कभी किसीकी हिंसा न करो। सत् वा असत्-उद्देश्यसे कभी किसी प्राणीका वध न करो।

(१२) जो व्यक्ति अपना पाप-कलङ्क प्रक्षालित न करके मिताचारी और सत्यानुरागी बने बिना रंगीन काषाय वस्त्र धारण कर ब्रह्मचारी होनेका दम भरता है, वह व्यक्ति धर्मके लिये कलङ्क-स्वरूप है।

(१३) बिना छतके घरमें जैसे वर्षा गिरती है, वैसे ही विचारहीन मनमें भी रिपु-गण प्रवेश कर बैठते हैं।

(१४) पापी अपने इह जीवनमें अनुतापकी अग्निसे दग्ध होता है। जब वह अपने कुकार्यका मनमें विचार करता है, तभी उसके प्राणोंमें अनुताप जाग उठता है।

(१५) (क) चिन्तनशीलता अमरत्व-लाभका मार्ग है और विचारहीनता मृत्युका पथ है।

(ख) घमंड मत करो। कामके उपभोगका विचार भी न करो।

(१६) शत्रु शत्रुका जितना अनिष्ट नहीं कर सकता, कुपथगामी मन उससे कहीं अधिक अनिष्ट कर डालता है।

(१७) मधु-मक्षिका जिस प्रकार पुष्पके सौन्दर्य अथवा सुगन्धिका अपचय (वृद्धि) न करके मधु-संग्रह करती है, उसी प्रकार तुम भी पापमें लिप्त न होकर ज्ञान-लाभ करो।

(१८) यह पुत्र मेरा है, यह ऐश्वर्य मेरा है, गहरा अज्ञानी मनुष्य ही मनमें ऐसा चिन्तन करके क्लेश पाता है। यों सोचनेवाला वह मनुष्य निजमें स्वयं ही अपना नहीं है तो पुत्र वा सम्पत्ति उसकी किस प्रकार हो सकती है?

(१९) थोड़े आदमी ही पार उतरते हैं, अन्यथा अधिकांश मनुष्य धर्मका भान करके किनारेपर ही दौड़ते रहते हैं।

(२०) संग्राममें जिस व्यक्तिने एक लाख आदमियोंको जीत लिया है, वह व्यक्ति प्रकृत-विजयी नहीं है। प्रकृत-विजयी वह है, जिसने अपने-आपको जीत लिया है।

(२१) पाप मुझपर आक्रमण नहीं करेगा— सोचकर निश्चिन्त मत रहो, बूँद-बूँद जलसे घड़ा भर जाता इसी प्रकार निर्बोध मनुष्य धीरे-धीरे पापमय बन जाता है

(२२) किसीको भी कठोर वचन—कड़ी बात न क कर्कश—कठोर वचन कहनेसे ही कड़ी बात सुननी पड़े आघात करनेसे आघात सहन करना पड़ेगा। रुलानेसे रोना होगा।

(२३) जो वासनाको जीत नहीं सकता, नग्न जटा-धारण, भस्म-लेपन, उपवास और भूमि-शयन उसके मनको पवित्र नहीं कर सकते।

(२४) दूसरेको जिस प्रकार उपदेश देते हो, निजमें भी तदनुरूप आचरण करो। जो अपनेको वशीभूत करता वह दूसरेको भी वशीभूत कर सकता है। अपने-आपको व करना ही कठिन है।

(२५) पाप और पुण्य—सब अपने ही किये हुए एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको पवित्र नहीं कर सकता।

(२६) यह जगत् पानीके बुदबुदेकी तरह है। जो जगत्को तुच्छ समझता है, उसको मृत्यु त्रास नहीं दे सकता

(२७) चलती हुई गाड़ीको रोक लेनेकी भाँति उत्ते क्रोधको जो संयत कर सकता है, वही प्रकृत सारथी है।

(२८) प्रेमके बलसे क्रोधको, मङ्गलके द्वारा अमङ्गल निःस्वार्थताद्वारा स्वार्थको और सत्यके द्वारा मिथ्याको जीतो

(२९) गुरुके उपदेशको मनोयोगपूर्वक सुनकर पा करो।

(३०) वृथा वाक्य-व्यय न करो। जो अधिक बातें क है, वह निश्चय ही अधिक मिथ्या बोलता है। जहाँतक बन कम बोलनेका प्रयत्न करो। इससे बड़ी शान्ति मिलेगी।

(क्रमश

* * *

जो दुःखोंसे घबराता नहीं और सुखोंकी चाह नहीं करता तथा जो आसक्ति, भय एवं क्रोधसे छूटा हुआ है, स्थिर-बुद्धि पुरुष है।—श्रीमद्भगवद्गीता

* * *

---

१. अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने। जिने कदरियं दानेन सच्चेनालीकवादिनं ॥—धम्मपद २३३
'अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्। जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥' (महाभारत, उद्योगपर्व (३९।७२)

राधा-कृष्णकी अभिन्नता तथा राधा-प्रेमकी विशुद्धता

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ-
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी ।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि ॥

श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं, परमात्मा हैं, भगवान् हैं। वे सच्चिदानन्द, स्वप्रकाश और अद्वय ज्ञानस्वरूप हैं। वे सर्वमय हैं, सर्वातीत हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वग, अनन्त, विभु हैं। वे सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान् हैं। वे अनन्त शक्तियोंके परमाधार और एकाधार हैं। वे सगुण, निर्गुण, निराकार और साकार हैं। वे ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं, वे ही आश्रयतत्त्व हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—**'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'**

वे ही द्विभुज मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर नराकृति परब्रह्म, लीलामय, लीलापुरुषोत्तम, भुवनमोहन-श्रीविग्रह हैं। वे अचिन्त्यानन्त विरुद्ध-धर्माश्रय और अपार करुणामय हैं। वे साक्षात् मन्मथ-मन्मथ हैं। वे आनन्द-चिन्मय-रस-समुद्र, रसस्वरूप, आस्वाद्य और आस्वादक, रसिकशेखर हैं। वे अपने असमोर्ध्व नित्य परिवर्धनशील सौन्दर्य-माधुर्यके द्वारा विश्वविमोहन—सर्वचित्ताकर्षक हैं, सर्वचित्तहर हैं, यहाँतक कि अपने स्वरूप-सौन्दर्यको देखकर स्वयं ही मुग्ध हो जाते हैं—

विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्।
(श्रीमद्भा० ३।२।१२)

अपने ही इस नित्य सौन्दर्य-माधुर्य-रसका समास्वादन करनेके लिये वे स्वयं अपनी ह्लादिनी शक्तिको अथवा आनन्दस्वरूपको सदा-सर्वदा श्रीराधारूपमें अभिव्यक्त किये हुए हैं। श्रीराधारानी भगवान् श्रीकृष्णकी ही स्वरूपाशक्ति हैं। वे श्रीकृष्णकी ही अभिन्न-स्वरूपा हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण श्रीराधाके अभिन्न स्वरूप हैं। इनकी यह रसमधुर लीला सत्य और नित्य है। वस्तुतः लीला तथा लीलामय भी अभिन्न ही हैं। तत्त्व और लीला एक ही स्वरूपकी दो दिशाएँ हैं। तत्त्वमें जो अव्यक्त है, वही लीलामें परिस्फुट है। तत्त्वमें जो बीज है, वही लीलामें विशाल विशद वृक्ष है। दूसरे शब्दोंमें तत्त्व लीलारूप अक्षय सरोवरका एक जलबिन्दु है। लीला तत्त्वका प्रकट विग्रहरूप है, तत्त्वकी समग्रता ही लीला है। लीलाका निगूढ रहस्य ही तत्त्व है। एक ही परम नित्यानन्द रसब्रह्म-तत्त्व नित्य अखण्ड रहकर ही आस्वाद्य और आस्वादक-रूपसे दो रूपोंमें अभिव्यक्त होकर लीलायमान है—एक व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण और दूसरी वृषभानुदुलारी श्रीराधा। श्रीकृष्ण रसमय हैं और श्रीराधा भावमयी हैं।

रतिकी दृष्टिसे श्रीराधारानी मूर्तिमान् अधिरूढ़ महाभावरूपा या मधुरा रतिकी सजीव प्रतिमा हैं। मदीया रति यानी 'श्रीकृष्ण मेरे हैं' यह भाव ही गोपीभाव है। इसी भावकी चरम परिणति महाभावस्वरूपिणी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधारानी हैं। मदीया रतिकी इस चरम और परम पूर्णतम परिणतिमें शक्तिमान् श्रीकृष्ण निज स्वरूपाशक्ति श्रीराधारानीके प्रति सोल्लास आत्मसमर्पण करते हैं—**'धेहि पदपल्लवमुदारम्।'** कायव्यूहा-शक्तिरूपिणी व्रजदेवियोंके सहित शक्ति और शक्तिमान्‌का यह नित्य मधुर लीला-विलास ही नित्य महारास है। इस मधुरातिमधुर अनन्त विचित्र महारासकी आत्मा, अखिल आनन्द-चिन्मय रसामृतरूपिणी श्रीराधारानी हैं।

श्रीराधाभावकी साधना जगत्‌के कामराज्यकी वस्तु तो है ही नहीं, उसकी अत्यन्त विरोधिनी है। श्रीराधारानीके स्वरूप-तत्त्वका अध्ययन और श्रीराधाभावका साधन कामके कलुषको सदाके लिये धो डालनेवाला है। इतना होनेपर भी यह शुष्क नहीं है, नीरस नहीं है, चित्तमें खिन्नता उत्पन्न करनेवाला नहीं है, निदारुण, निर्वेदजनक नहीं है। यह रसमय है, आनन्दमय है, छविमय है, मधुरिमामय है और मोक्षतिरस्कारी दिव्य भगवद्भावको प्राप्त करानेवाला है। इसमें आत्यन्तिक विषय-विराग है, पर वह भी एक मधुर राग है। प्रेमी साधक इस रागके रसिक होते हैं। महात्मा गोकर्णजीने इसी ओर संकेत करते हुए—**'वैराग्यरागरसिको भव'** कहा है। कामरूप अन्धकारका प्रभाव वहींतक है, जहाँतक दिव्य गोपीभाव या राधाभावका निर्मल भास्कर उदय नहीं होता। राधाभावके परमोज्ज्वल रस-साम्राज्यमें कलङ्की कामका प्रवेश ही नहीं है। अतुलनीय सौन्दर्य माधुर्यराशि, रोम-रोम-मधुर श्रीकृष्ण जब अपने स्वरूप-सौन्दर्यको देखकर विस्मित और विमुग्ध होते हैं, उस समय उस मुग्धतासे उनकी रक्षा करनेकी

सामर्थ्य श्रीराधारानीमें ही है। इसीसे श्रीकृष्णदास कविराजने कहा है—

राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहेऽपि स्वयं मदनमोहितः॥

ये श्रीराधारानी अनादि हैं, इनका प्राकट्य स्वयं भगवान्के प्राकट्यकी भाँति ही दिव्य रूपमें हुआ करता है। यद्यपि श्रीराधारानी सकल कलाओंकी प्रसविनी हैं, निखिल ललित कलामयी हैं, निर्मल संगीत-सौन्दर्य, कलाविलासकी जीती-जागती प्रतिमा हैं, अनन्त विश्वब्रह्माण्डके 'समष्टि मन' रूप भगवान् श्रीकृष्णके मनको मोहित तथा रञ्जित करनेवाली परम कौतुकमयी हैं तथापि इनका यह सभी कुछ दिव्य श्रीराधारानीके प्रेम-राज्यमें प्रवेश करनेवाले परम भाग्यव लोग ही इसका अनुभव कर सकते हैं। श्रीराधारानी, उन कायव्यूहरूपा किन्हीं व्रजदेवी अथवा श्रीराधारान अभिन्नस्वरूप, उनके नित्य आराध्य और नित्य आराध श्रीकृष्णकी कृपासे ही उसमें प्रवेश पाया जा सकता है उनकी कृपासे ही अनुभूति भी हो सकती है।

(क्रमश

* * *

भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन—षोडशाक्षर-मन्त्र-जप

(श्रीबनवारीलालजी गुप्त 'शास्त्री')

मानव-जीवन परमात्माकी अमूल्य निधि है, इसे प्राप्त कर अपने कर्तव्य और धर्मका पालन करते हुए मानवको आत्मोद्धारके लिये सत्कर्मद्वारा परमात्माके चिन्तनमें अहर्निश मन-बुद्धि-ज्ञानका सदुपयोग करना चाहिये तथा जीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिकी उपलब्धि करनी चाहिये। ईश्वरकी सर्वोत्कृष्ट रचना—'मानव-मन्दिर'में पवित्र भावनाका संचार 'ईश्वर-भक्ति' द्वारा ही सम्भव है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(केनोप० २।५)

तात्पर्य यह है कि इस मानव-मन्दिरमें ही उस परमब्रह्म परमात्माको सच्ची लगन और तत्परताके साथ शीघ्र-से-शीघ्र जान लेनेमें ही मानव-जन्मकी सार्थकता एवं कुशलता है, अन्यथा महान् विनाश—मृत्युरूप संसारके त्रिविध संताप नाना योनियोंमें जन्म लेकर भोगने पड़ेंगे। बुद्धिमान् पुरुष प्राणिमात्रमें परमात्माका साक्षात्कार करते हुए, अन्त समयमें जन्म-मृत्युके चक्रसे मुक्त होकर अमृत 'ब्रह्म-पद' पाकर अमर हो जाते हैं।

इसी सत्यकी पुष्टि कठोपनिषद् (२।३।४) में इस प्रकार की गयी है—

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्वेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥

अर्थात् बहुमूल्य मानव-देहके विनाश या अधः होनेसे पूर्व ही यदि मानव इस देहमें परमात्माका साक्षात्कार लेता है, तब तो ठीक है—'जीवन सफल है', अन्यथा अ कल्पोंतक विभिन्न लोकों और योनियोंमें नरक-यातनाअ भोगनेके लिये बाध्य होना पड़ेगा। श्रीतुलसीदा श्रीरामचरितमानसमें कहते हैं—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

× × ×

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

× × ×

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

भगवद्भक्तिके बिना सांसारिक दुःखोंसे मुक्त होना दु है। मानव किस सुलभ, सरल साधनद्वारा अपने जीवनमें 'परमात्म-सिद्धि' प्राप्त कर ईश्वरका साक्षात्कार सके इसके लिये सर्वश्रेष्ठ सुगम उपाय है 'भगवन्नाम-ज जपके लिये वेद और शास्त्रोंमें 'गायत्री-मन्त्र', 'ओम्', राम, हरे कृष्ण' का जप उत्तम और श्रेष्ठ बताया गया इनमें 'गायत्री-मन्त्र' और 'ओम्' सर्वोत्कृष्ट होते हुए उपासना-पद्धतिके अनुसार साङ्गोपाङ्ग ज्ञान एवं अनुष्ठ

अनन्तर ही पूर्ण फलदायक होते हैं। परंतु 'हरे राम, हरे कृष्ण' का जप इनकी अपेक्षा श्रेष्ठ, सरल और सुगम है। इसकी उपयोगिता, उपादेयता और माहात्म्य तथा विशिष्ट फल पाठकों, साधकों अथवा प्रत्येक व्यक्तिके लाभार्थ 'कलिसंतरणोपनिषद्'में बताया गया है, जिसे महर्षि नारदने श्रीब्रह्माजीसे पूछा था—'हे भगवन्! मैं पृथ्वीपर पर्यटन करते हुए कलियुगमें किस साधन-विधिद्वारा जन्म-मृत्यु-रूप संसार-सागरसे पार हो सकता हूँ।' श्रीब्रह्माजीने उन्हें बतलाया था—तुमने बहुत उत्तम प्रश्न किया है, जिस साधनद्वारा कलिके जन्म-मृत्यु-रूप संसार-सागरसे तर जाओगे, उसे सुनो— श्रीभगवन्नामोच्चारण सोलह नामोंसे युक्त—***'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'***—इस सर्वश्रेष्ठ मन्त्रके जपद्वारा मनुष्यके अज्ञानका आवरण सदाके लिये नष्ट हो जाता है और जैसे मेघमण्डलके नष्ट होनेसे सूर्यमण्डल रश्मिसहित प्रकाशित होता है, वैसे ही आवरणके नाशसे ब्रह्मका प्रकाश अन्तःकरणमें स्फुरित हो जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। पुनः महर्षि नारदजीके द्वारा इसकी जप-विधि पूछे जानेपर श्रीब्रह्माजीने कहा—इसकी कोई विधि नहीं है। मनुष्य पवित्रावस्थामें हो या सामान्य अवस्थामें, किसी भी अवस्थामें नामोच्चारणमात्रके जपसे ही मनुष्योंको सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य मुक्ति भी अनायास प्राप्त हो जाती है। पद्मपुराणका वचन है—यदि प्रमादवश दस नामापराधोंके पापोंका पश्चात्ताप कर ले तो नाम-कीर्तनमात्रसे उस अपराधीके पाप नष्ट होकर सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं—

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च॥

भगवान् कृष्णने 'जप'को 'यज्ञ' माना है—'**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**।' जप, स्मरण और कीर्तन—ये सर्वोत्तम 'जप-यज्ञ' हैं।

इस षोडशाक्षर-मन्त्रमें आवृत 'हरे', 'राम' तथा 'कृष्ण'—इन तीन पदोंका संक्षिप्त भावार्थ इस प्रकार है—

'हरे' शब्दकी विवृति—'हरे' पद 'हरि' शब्दका सम्बोधनान्त रूप है। हरिका तात्पर्य है—'**हरति योगिनां चेतांसि इति हरिः**।' जो योगियोंके चित्तको हर लेता है, वह 'हरि' है। इसी प्रकार—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

जैसे अनिच्छा (अनजान) से भी अग्निका स्पर्श होनेपर अग्नि जला देती है, उसी प्रकार बिना विशेष श्रद्धा-भक्तिके सामान्य भावसे अनिच्छापूर्वक भी स्मरण किया हुआ 'हरि' नाम समस्त पापोंको हर लेता है। इसकी महिमा अनन्त है—

हरिरेव परं ब्रह्म हरिरेव परा गतिः।
हरिरेव परो मोक्षः हरिर्ज्ञेयः सनातनः॥
यस्य स्मरणमात्रेण सर्वे नश्यन्ति कल्मषाः।
पुरुषोत्तमः स एवायं लोके हरिः प्रकीर्तितः॥
सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥
धन्योऽन्तःशुद्धः पुरुषः कृतपापोऽनुरूपतः।
प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिः स्मरणमुत्तमम्॥

इनका भाव है 'श्रीहरि' ही परं ब्रह्म और परम गति हैं, 'हरि' ही परम मोक्ष और शाश्वत जानने योग्य ज्ञान हैं। शुद्धान्तःकरणसे 'हरि' स्मरण-जपमात्रद्वारा ही मनुष्यके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, वही पुरुषोत्तम हरि लोकमें प्रसिद्ध हैं। एक बार भी जिसने निर्मल एकाग्र मनसे दो अक्षरके 'हरि' नामका स्मरण-जप कर लिया, उसके लिये मोक्षका मार्ग प्रशस्त हो गया। वह विशुद्ध—निर्मल-हृदय पुरुष धन्य है, जिसने अपने पाप-कर्मके निराकरण-हेतु भगवान् श्रीहरिका नाम-स्मरण या उच्चारण कर लिया।

'राम' शब्दकी विवृति—'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः।' जिसमें योगिगण रमण करें, वह 'राम' है अथवा—'**रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते**।' जिस अनन्त चिदात्मा परब्रह्ममें योगिगण रमण करते हैं, वह 'राम' है। साररूपमें राम-नामकी उत्कृष्टता एवं महत्ता इस प्रकार है—

श्रीरामनामसम्भूतं कल्पवृक्षसमं परम्।
यस्यानुष्ठानतो लोके सर्वसिद्धिर्भवेन्नृणाम्॥
रामनाम्नो जपान्नित्यं तेषां किञ्चिन्न दुर्लभम्।
परं मोक्षप्रदं श्रेष्ठमात्मज्ञानप्रदं नृणाम्॥

इह लोके सुखं भुक्त्वा सीतारामप्रसादतः।
प्राप्यते रामचन्द्रस्य भक्तिं श्रेयस्करीं शुभाम्॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

श्रीराम-नाम कल्पवृक्षके समान समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है, पवित्र अन्तःकरणसे 'राम-नाम'-जपका अनुष्ठान इस लोकमें मनुष्योंको समस्त सिद्धियाँ प्राप्त करा देता है। जो पवित्र मनसे नित्य 'राम-नाम' जप करते हैं, उन मनुष्योंको परम श्रेष्ठ मोक्ष-पद और श्रेयस्कर आत्मज्ञान प्राप्त होता है, उनके लिये कुछ भी अलभ्य नहीं है। शुद्ध-हृदय मनुष्य 'श्रीसीताराम'की कृपासे इस संसारमें समस्त सुखोंका उपभोग कर 'श्रीरामचन्द्र'की उत्तम कल्याण-प्रद श्रेयस्करी भक्ति अनायास प्राप्त कर लेता है। वाल्मीकीय रामायणमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—एक बार भी मेरी शरण होकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर जो भक्त मुझसे कृपाकी याचना करता है, मैं सम्पूर्ण जीवोंसे उसे 'अभयदान' दे देता हूँ—ऐसा मेरा प्रण है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी राम-नामकी महिमा प्रकट करते हुए कहते हैं—

नाम अखिल अघ पूग नसावन। तीरथ अमित कोटि सम पावन॥

× × ×

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

× × ×

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

राम नाम रति राम गति राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल दुहुँ दिसि तुलसीदास॥

'कृष्ण' शब्दकी विवृति—'कर्षति योगिनां मनांसि इति कृष्णः।' जो योगियोंके चित्तको आकृष्ट कर ले वह 'कृष्ण' है, अथवा—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

'कृष' भू-सत्ता-वाचक और 'ण' निवृत्तिवाचक है, इन दोनोंकी एकता होनेपर परमब्रह्म 'कृष्ण' कहलाता है। श्रीकृष्णनामकी उत्कृष्टता इस प्रकार बतलायी गयी है—

किं विद्यया किं स्वगुणैश्च तेषां यज्ञैश्च दानैश्च तपोभिरुग्रैः।
येषां न भक्तिर्भवतीह कृष्णे जगद्गुरौ मोक्षसुखप्रदे च॥
कृष्णे प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं धर्मार्थकामैरत्यल्पकास्ते।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्तान्निःश्रेयसं प्राप्स्यति यन्महत्फलम्।
कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
तेऽभिन्नदेहाः प्रविशन्ति कृष्णं हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशम्।

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्लीसत्फलं सत्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं हेलया श्रद्धया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम॥

इसका भाव है कि मोक्ष और परम आनन्दको देनेवा जगद्गुरु श्रीकृष्णमें जिन मनुष्योंकी निर्मल एकाग्र मन श्रद्धा-भक्ति नहीं होती है, उनको इस संसारमें विद्यासे, अप सद्गुणोंसे, यज्ञ, दान और कठोर तपसे क्या लाभ? पवित्रात्मा विद्वान् धन्य हैं, जिनके हृदयमें श्रीकृष्णके प्र अनन्य श्रद्धा-भक्ति है। जो पवित्रात्मा श्रीकृष्णके ध्यानमें स लीन रहते हैं, उनके लिये श्रीकृष्ण-नाम-जपके द्वारा भगवान् प्रसन्न होनेपर कोई वस्तु दुर्लभ नहीं। धर्म, अर्थ, काम याचना अत्यन्त तुच्छ है। उस परमब्रह्मरूप कल्प-वृक्ष आश्रय जीवनके चरम लक्ष्य—मोक्षको निश्चय प्राप्त करा दे है। भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानमें लीन जो साधक रात्रिमें सोने पूर्व और प्रातः जागनेपर श्रीकृष्णका जप-स्मरण करते हैं, शरीर-त्यागके पश्चात् श्रीकृष्णमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं, जै मन्त्रोच्चारणके साथ ही यज्ञाग्निमें 'स्वाहा' की हविष्य यज्ञाग्नि ही लीन हो जाती है। आदिपुराण (४।२२) में श्रीसूत कहते हैं—हे मुनिवर! जिस साधकने भगवन्नाम (श्रीकृष्ण भक्ति-रसके प्रेम-अमृत-पूर्ण अपने हृदयमें मनरूपी मीन तल्लीन कर लिया है, वह साधक श्रद्धा अथवा अश्रद्धासे ए बार भी समस्त मङ्गलोंका भी मङ्गल, समस्त वेद, शास्त्र औ पुराणोंका तत्त्व-ज्ञान, अत्यन्त मधुरतम सत्फल, श्रीसच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण-नाम उच्चरित (जप-स्मरण) कर लेनेमात्र ही प्राणिमात्रका भवसागरसे उद्धार कर देता है और भी क गया है—

कृष्ण नाम अहै, तीन लोक जग सार।
रात दिवस रटवो करो रे मन यहै विचार॥
सार एक कृष्ण-नाम है जगत-बिषय बिन सार।
सुजन दया उपकार तन, भव-निधि उतरहि पार॥

'हरे राम हरे राम॰' इस षोडश नाम-मन्त्रका जप प्रत्येक पुरुष-स्त्री, ब्राह्मण-अन्त्यज, गृही-वनवासी, विद्वान्-मूर्ख, संन्यासी-वानप्रस्थी सभी निश्चय ही सर्वत्र बैठते-उठते, चलते-फिरते, सोते-जागते सरलतापूर्वक कर सकते हैं, कोई प्रतिबन्ध नहीं। जपमें मनकी पवित्रता, एकाग्रता, स्थिरताका होना अत्यावश्यक है।

ध्रुवने राज्यकी सकाम-इच्छासे एकान्त वनमें पवित्र-अन्तःकरण, एकाग्र-मन, अडिग ध्यानावस्था, तन्मयतासे भगवन्नाम-जप किया था। उनको त्रिदेवके प्रत्यक्ष दर्शन हुए, राज्य मिला और परमधाम भी। उनका हृदय अनन्त भगवदानन्द-सागरमें हिलोरें लेने लगा, अनन्य श्रद्धा-भक्तिवश भगवान्‌को दर्शन देने पड़े थे। हम अनुष्ठान-जप-स्मरण-चिन्तन करते अवश्य हैं, किंतु दृढ़ विश्वास नहीं करते, अतः भगवान्‌का साक्षात्कार नहीं हो पाता। यदि मन, वाणी, समस्त इन्द्रियाँ और अन्तःकरणकी वृत्तियाँ अपने इष्टदेवमें एकतादात्म्य होकर जप करें तो सफलता अवश्य प्राप्त होगी। गीता (९।२९)में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

अर्थात् मैं समस्त प्राणियोंमें समान-भावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय, परंतु जो अनन्य भक्त मेरा (भगवान्‌को) श्रद्धा, भक्ति, प्रेमपूर्वक एकाग्र, विशुद्ध मन, पवित्र अन्तःकरणद्वारा निरन्तर चिन्तन-स्मरण, जप-पूजन, भजन-कीर्तन करते हैं, वे मेरे भक्त मुझमें हैं और मैं (स्वयं प्रत्यक्षरूप भगवान्) भक्तके अन्तःकरणमें प्रकट होकर उसे साक्षात् दर्शन देता हूँ। भगवत्स्मरण-चिन्तन-जपके पूर्ण अभ्यासी अनन्य भक्तको भगवान् स्वयं प्राप्त होते हैं।

संसारके सभी भोग्य पदार्थ, सुखके साधन नाशवान्, अपूर्ण परिवर्तनशील हैं, उनमें सुख-शान्तिकी प्रतीति भ्रान्तिमात्र है। अतः बुद्धिमान् ज्ञानीको उनके त्याग और भगवच्चिन्तनमें ही परम शान्ति एवं अनन्त अलौकिक सुख प्राप्त होगा और मानव-जीवनके लक्ष्यकी प्राप्ति भी होगी—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (श्रीमद्भगवद्गीता १२।१२)। भगवत्प्रेमी भक्तको धन-ऐश्वर्य-भोग-विलास आदि हेय समझकर त्यागमें ही अपनेको धन्य समझना चाहिये—

रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

व्यक्तिके लिये मानव-जीवन प्राप्त कर स्व-कर्तव्य-कर्मके अनुसार धर्मानुकूल आचरण करते हुए परमात्माको ही परम आश्रय, परम गति सब प्रकारसे मानते हुए अनन्य श्रद्धा-भक्ति-प्रेमपूर्वक निरन्तर 'हरे राम हरे कृष्ण' नामके गुण, प्रभाव, स्वरूपका स्मरण-चिन्तन-जपद्वारा जीवनके परम लक्ष्य प्रभुकी अनन्य शरण प्राप्त कर लेना ही श्रेयस्कर है। निश्चय ही परमेश्वरकी कृपासे मानवको परम शान्ति, शाश्वत अमृतपद प्राप्त होगा। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है कि भगवान् सभी प्राणियोंके हृदयमें निरन्तर निवास करते हैं। सर्वात्मभावसे उनकी शरण लेकर भजन करते रहनेसे उनकी कृपा अवश्य प्राप्त होती है, जिसके फलस्वरूप अनन्त शान्ति एवं दुर्लभ कैवल्य भी साधकको अवश्य प्राप्त हो जाता है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८।६२)

दुर्लभ मनुष्य-शरीरको प्राप्त कर जो इतना भी नहीं कर पाता, वह उपलब्ध अवसरको खो देता है और उसका पतन अवश्यम्भावी होता है, फिर उसका उद्धार कैसे सम्भव है?

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥
(श्रीमद्भा॰ ११।९।२९)

अनेक जन्मोंके बाद मानव-शरीर प्राप्त कर बुद्धिमान् व्यक्तिको मृत्युके पूर्व ही शीघ्र-से-शीघ्र मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न कर लेना चाहिये। जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति या भगवत्सायुज्य (कैवल्य या मोक्ष) ही है। दुःखपरिणामी विषयभोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं। मानव-जीवन अमूल्य है। अतः जो समय व्यतीत हो गया, उसकी चिन्ता छोड़कर तत्काल ही 'हरे राम हरे कृष्ण' इन नाम-स्वरूपोंमें व्याप्त करुणामय परमात्माको प्राप्त करनेके लिये इस नाम-मन्त्रका जप प्रारम्भ कर देना चाहिये, और अनवरत प्रचलित रखनेका प्रयत्न करना चाहिये, इससे मङ्गलमय भगवान् प्रसन्न होकर कल्याणका मार्ग स्वयमेव प्रशस्त कर देंगे और अपनी प्राप्ति भी अवश्य करा देंगे।

◆

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[मुक्ति सहज है]

एक बात बताता हूँ बहुत ध्यान देनेकी और बड़ी सरल बात है। जिसको जीवन्मुक्ति कहते हैं, तत्त्वज्ञान कहते हैं, उसका तत्काल अनुभव हो जाय—ऐसी बात है! अनुभव भी इतना सहज-स्वाभाविक है कि जैसे—*'संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥'* (मानस १।५८।४)। केवल आपको उधर दृष्टि डालनी है और कुछ नहीं करना है! वह आप सबका अनुभव है; परंतु आप उधर ध्यान नहीं देते हैं; उसको महत्त्व नहीं देते हैं, इतनी ही बात है!

बहन-भाई सब ध्यान देकर सुनना। बाल्यावस्थासे अभीतक आपका शरीर बदला है, भाव बदले हैं, विचार बदले हैं; देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना सब बदले हैं। परंतु आप बदले हो क्या? कोई स्वीकार नहीं करेगा कि मैं बदल गया। शरीरके बदलनेसे अपना बदलना मान लेते हैं, पर शरीर बदलता है, आप नहीं बदलते हो। आपको शरीरके बदलनेका ज्ञान है। बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था शरीरकी हुई, आपकी अवस्था कहाँ हुई? आप तो अवस्थाको जाननेवाले हो। जाननेमें आनेवाला बदला है, जाननेवाला नहीं बदला। केवल इसकी तरफ ख्याल करना है कि मैं बदलनेवाला नहीं हूँ। इसमें क्या परिश्रम है?

'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'—इस अविनाशीपनका आप अनुभव करो कि शरीर विनाशी है और मैं अविनाशी हूँ। इतनी ही बात है। लम्बी-चौड़ी बात नहीं है। मेरी स्थिति 'नहीं बदलना' है। बदलना मेरी स्थिति नहीं है, प्रत्युत शरीरकी स्थिति है। बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था—इन तीन अवस्थाओंका आपको अनुभव है, शरीरको अनुभव नहीं है। अनुभव आप करते हो, शरीर क्या अनुभव करेगा? ऐसे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिका आप अनुभव करते हो। आप जाग्रत्‌में भी रहते हो, स्वप्नमें भी रहते हो और सुषुप्तिमें भी रहते हो।

आप जाग्रत्‌में और स्वप्नमें रहते हो—इसका तो आपको अनुभव होता है, पर आप सुषुप्तिमें भी रहते हो—इसका अनुभव करनेमें थोड़ा जोर पड़ता है। पर मैं सीधी बात बताता हूँ। मैं किस जगह सोया, कब सोया—यह ज्ञान सुषुप्ति (गाढ़ नींद) में नहीं है। परंतु जाग्रत् और स्वप्नमें देश, काल आदिका ज्ञान है। अतः देश, काल आदिके अभावका ज्ञान भी आपमें है और इनके भावका ज्ञान भी आपमें है। सुषुप्तिके समय इनके अभावका अनुभव नहीं होता; क्योंकि उस समय अनुभ करनेके औजार (अन्तःकरण-बहिःकरण) नहीं थे, अविद्यामें लीन हो गये थे। परंतु सुषुप्तिसे जगनेपर आपको अनुभव होता है कि मैं वही हूँ, जो सुषुप्तिसे पहले था, परं बीचमें मेरेको कुछ पता नहीं था। अतः सुषुप्तिके समय जाग्र और स्वप्नके ज्ञानका अभाव था, पर आपका अभाव नहीं था। यदि आपका अभाव होता तो 'मेरेको कुछ पता नहीं था'—ऐसा कौन कहता? ऐसी गाढ़ नींद आयी कि मेरेको कुछ प नहीं रहा तो 'कुछ पता नहीं'—इस बातका तो पता है न? जैसे बाहरसे कोई आवाज दे कि अमुक आदमी है घरमें, है कि नहीं? तो भीतरसे एक आदमी कहता है कि वह आदमी घर नहीं है। परंतु ऐसा कहनेवाला भी नहीं है क्या? अग कहनेवाला नहीं है तो 'वह आदमी घरमें नहीं है'—यह कौ कहता है? ऐसे ही सुषुप्तिमें अगर आप नहीं होते तो 'मेरेक कुछ भी पता नहीं था'—यह कौन कहता? जाग्रत् औ स्वप्नमें ज्ञान रहता है और सुषुप्तिमें ज्ञान नहीं रहता तो ज्ञानके भाव और अभाव—दोनोंका ज्ञान आपमें है।

प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आप अवस्थाओंकी गिनती कर लें हो। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंक आपको ज्ञान है, तभी आप इन तीनोंकी गिनती करते हो अगर इन तीनोंमें आप नहीं रहते, तीनोंका आपको ज्ञान न रहता तो इनकी गिनती कौन करता? अतः बाल्यावस्था अभीतक सब अवस्थाओंमें और जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषु अवस्थामें आप रहते हो, पर ये अवस्थाएँ नहीं रहतीं। जो न रहता, वह संसार और शरीर है तथा जो रहता है, व परमात्माका साक्षात् अंश है। 'मैं अविनाशी हूँ'—इसका अ

करानेके लिये ही यह बात कह रहा हूँ। आपके सामने आनेवाली अवस्थाएँ विनाशी हैं, परिस्थितियाँ विनाशी हैं, घटनाएँ विनाशी हैं, देश-काल और क्रिया विनाशी हैं; परंतु आप अविनाशी हो और देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति आदि सबके भाव-अभावको जानते हो। आप अविनाशी हो और चेतन, अमल तथा सहज सुखराशि हो—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११७। १)

आप चेतन हो। चेतन किसको कहते हैं ? स्थूलरीतिसे अपनेमें जो प्राण हैं, उनके होनेसे चेतन कहते हैं। परंतु प्राण चेतनका लक्षण नहीं है; क्योंकि प्राण वायु है, जड़ है। चेतनका लक्षण है—ज्ञान। आपको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिका ज्ञान होता है तो आप चेतन हो। जाग्रत्-अवस्थाको स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाका ज्ञान नहीं है। स्वप्न-अवस्थाको जाग्रत् और सुषुप्ति-अवस्थाका ज्ञान नहीं है। सुषुप्ति-अवस्थाको जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थाका ज्ञान नहीं है। अवस्थाओंको ज्ञान नहीं है, शरीरोंको ज्ञान नहीं है, प्रत्युत आपको ज्ञान है। अतः आप ज्ञानस्वरूप हुए, चेतन हुए। आप अमल हो। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, अनुकूलता-प्रतिकूलताको लेकर जितने विकार हैं, ये सब मल हैं। जितना मल आया है, अवस्थाओंमें आया है। जाग्रत्में मल आया, स्वप्नमें मल आया, सुषुप्तिमें मल (अज्ञान) आया; परंतु आप तो अमल ही रहे। आप तीनों अवस्थाओंको जाननेवाले रहे। आपमें दोष नहीं है। आप दोषोंके साथ मिलकर अपनेको दोषी मान लेते हो। दोष आगन्तुक हैं और आप आगन्तुक नहीं हैं—यह प्रत्यक्ष बात है। दोष निरन्तर नहीं रहते, पर आप निरन्तर रहते हैं। शोक-चिन्ता, भय-उद्वेग, राग-द्वेष, हर्ष-शोक—ये सब आने-जानेवाले हैं और अनित्य हैं—'**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत**' (गीता २। १४)। भगवान्ने कितनी बढ़िया बात कही कि आने-जानेवालोंको सह लो, उनके साथ मिलो मत। सुख भी आने-जानेवाला है, दुःख भी आने-जानेवाला है। परंतु आप इन आने-जानेवालोंको जाननेवाले हो।

आप सहज सुखराशि हो। सुषुप्तिमें कोई आफत नहीं रहती, दुःख नहीं रहता। आप रुपयोंके बिना रह सकते हैं, आप भूखे-प्यासे रह सकते हैं, आप सांसारिक भोगोंके बिना रह सकते हैं, पर नींदके बिना नहीं रह सकते। नींदके बिना तो आप पागल हो जाओगे। इसलिये वैद्यजीसे, डाक्टरसे कहते हो कि गोली दे दो, ताकि नींद आ जाय। नींदमें क्या मिलता है ? संसारके अभावका सुख मिलता है। यदि जाग्रत्-अवस्थामें संसारके अभावका ज्ञान हो जाय, संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय तो जाग्रत्-अवस्थामें ही दुःख मिट जाय; और परमात्मामें स्थिति हो जाय तो आनन्द मिल जाय ! इसको ही मुक्ति कहते हैं।

दुःख कहाँ है ? दुःख संसारके सम्बन्धमें है। जाग्रत् और स्वप्नमें संसारका सम्बन्ध रहता है, इसलिये शान्ति नहीं मिलती। संसारको भूल जाते हो, तब शान्ति मिलती है। यदि संसारका त्याग और परमात्मामें स्थिति हो जाय तो कितना आनन्द होगा। भूलनेमात्रसे सुख मिलता है। भूलनेमात्रसे मनको ताकत मिलती है, बुद्धिको ताकत मिलती है, इन्द्रियोंको ताकत मिलती है, शरीरको ताकत मिलती है। परंतु संसारके साथ रहनेसे मन थकता है, बुद्धि थकती है, इन्द्रियाँ थकती हैं, शरीर थकता है। संसारका अभाव होता है गाढ़ नींदमें। उस नींदके बिना आप आठ पहर भी नहीं रह सकते। आजकलकी एक बात मैंने सुनी है। पहले मारपीट करके अपराधीसे सच बुलाया करते थे। परंतु आजकल उसको नींद नहीं लेने देते तो वह सच बोल जाता है ! वह जाग्रत्से इतना घबरा जाता है कि सच बोल जाता है। मारपीटसे वह इतनी जल्दी सच नहीं बोलता। अतः नींद नहीं लेना कोई मामूली दुःख नहीं है। नींदमें बहुत बड़ा सुख मिलता है। आप कहते हो कि ऐसे सुखसे सोया कि कुछ पता नहीं था। तो दुःख किसका है ? दुःख संसारके सम्बन्धका है। अतः आप सुखराशि हो। अगर सुखराशि नहीं हो तो नींद क्यों चाहते हो ? विश्राम क्यों चाहते हो ? काम-धंधा करो आठों पहर ! नींदमें शरीरको विश्राम मिलता है, मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको विश्राम मिलता है। संसारको भूल जानेसे आनन्द मिलता है। अगर संसारका त्याग कर दो, तो बड़ा भारी आनन्द मिलेगा और स्वरूपमें स्थिति हो जायगी। स्वरूपमें आपकी स्थिति स्वतः स्वाभाविक है और स्वरूपमें महान् आनन्द है।

आप अविनाशी, चेतन, अमल और सहज सुखराशि हैं।

यदि आप अविनाशी न होते तो आपको बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्थाका ज्ञान नहीं होता; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि-अवस्थाका ज्ञान नहीं होता। आप स्वयं नित्य-निरन्तर रहते हो और ये अवस्थाएँ निरन्तर नहीं रहतीं। ये आपके साथी नहीं हैं और आप इनके साथी नहीं हो। इनके साथ रहना अज्ञान है और इनके साथ न रहनेका, इनके संगके अभावका अनुभव करना ज्ञान है, बोध है, जीवन्मुक्ति है। प्रत्यक्ष बात है, सबका अनुभव है। अब केवल इस ज्ञानको महत्त्व देना है।

आपने रुपयोंको महत्त्व दे रखा है, भोगोंको महत्त्व दे रखा है, शरीरको महत्त्व दे रखा है, कुटुम्बको महत्त्व दे रखा है, जमीन-मकानको महत्त्व दे रखा है। इस तरह नाशवान्को जो महत्त्व दे रखा है, यही अनर्थका मूल है। जिनका कुछ भी महत्त्व नहीं है, जो क्षणभंगुर हैं, एक क्षण भी स्थिर नहीं रहते, उनको तो आपने महत्त्व दे दिया, और आप निरन्तर रहते हो, उसको आप महत्त्व देते ही नहीं! महत्त्वकी चीज तो यह है। केवल इस विवेकको महत्त्व देना है, इतनी ही बात है! यह सब बदलता है, पर आप नहीं बदलते। आप वही रहते हो। सबका अभाव होनेपर आप सुखका अनुभव करते हो। नींदमें आप संसारको भूल जाते हो तो उसमें आपको ताजगी मिलती है, सुख मिलता है। ऐसे ही आप जाग्रत्-अवस्थामें अपने-आपमें स्थित हो जाओ। मैं समाधिकी बात, अन्तःकरणकी एकाग्रताकी बात नहीं कहता हूँ। अपने-आपमें आपकी स्थिति स्वतः है। जाग्रत्में, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें, मूर्च्छामें, समाधिमें, किस अवस्थामें आपकी स्थिति नहीं है? आपकी स्थिति स्वतः है, इसको आप पहचानो। आने-जानेवालोंके साथ नहीं मिलना है—इसका नाम है ज्ञान। इनके साथ मिल जाना है—इसका नाम है अज्ञान। इतनी ही तो बात है! अनेक ग्रन्थोंको पढ़नेसे बोध नहीं होगा और मेरी बात आप मानो तो बोध हो जायगा! वास्तवमें यह मेरी व्यक्तिगत बात नहीं है, सबकी बात है। सबके अनुभवकी बात कही है मैंने।

श्रोता—बात स्पष्ट समझमें आती है, पर व्यवहारकालमें इतना घुल-मिल जाते हैं कि यह विवेक लुप्त-सा हो जाता है!

स्वामीजी—व्यवहारमें जागृति नहीं रहती, इसका कारण क्या है? कि व्यवहारमें आनेवाली नाशवान् वस्तुओंको आपने महत्त्व दे दिया। आपको कितनी जोरदार भूख लगी हुई हो और सिनेमामें आपका मनचाहा बहुत बढ़िया, गरमागरम भोजन दीखता हो तो उसको खानेकी मनमें आती है क्या? मुँहमें पानी आ जायगा, भोजनकी याद आ जायगी, पर उसको खानेका मन करता है क्या? आपको प्यास लगी है और परदेपर दीखता है कि ठंडा जल आ रहा है, गङ्गाजी बह रही हैं, पर मन करता है पीनेका? नहीं करता। कारण क्या है? कि उसको महत्त्व नहीं दिया।

श्रोता—परंतु सिनेमामें निश्चय हो जाता है कि यह है नहीं!

स्वामीजी—अन्नदाता! यही तो मैंने बताया है कि इन सबके अभावका निश्चय करो। जाग्रत् नहीं है, स्वप्न नहीं है, सुषुप्ति नहीं है, मूर्च्छा नहीं है, समाधि नहीं है। इनके अभावका अनुभव करो; बस, यही बात कहनी है। जैसे सिनेमामें अभावका अनुभव होता है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष आपके सामने बदलता है और आप नहीं बदलते। यह बात मैंने बहुत बार कही है, सैकड़ों-हजारों बार कही है कि पहले इस शरीर और संसारसे सम्बन्ध नहीं था, पीछे इस शरीर और संसारसे सम्बन्ध नहीं रहेगा तथा तीसरी बात यह कि अब सम्बन्ध दीखते हुए भी ये प्रतिक्षण बदल रहे हैं। इनके परिवर्तनका प्रत्यक्ष ज्ञान आपको है। आज दिनतक इतने वर्ष हम जी गये—यह बिलकुल गलत है। जी नहीं गये, प्रत्युत मर गये। जन्मनेके बाद ही मरना शुरू हो गया। बालक दो दिनका हुआ तो उसकी उम्रमेंसे दो दिन कम हो गये। प्रत्यक्ष बात है कि ये सब शरीर पहले नहीं थे और पीछे नहीं रहेंगे तथा वर्तमानमें भी नहींमें जा रहे हैं। अतः संसार 'नहीं'—रूप ही हुआ। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता २।१६)—असत्‌की तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। आप सत्-रूप हो और असत्-रूप संसारको जाननेवाले हो। संसार जाननेमें आनेवाला है। यह है नहीं। होता तो ठहरता। बाल्यावस्था सच्ची होती तो ठहरती, युवावस्था सच्ची होती तो ठहरती, वृद्धावस्था सच्ची होती तो ठहरती, धनवत्ता सच्ची होती तो ठहरती, निर्धनता सच्ची होती तो ठहरती। कोई नहीं ठहरता। इस अनित्यताका आपको प्रत्यक्ष अनुभव है। इसको आदर दो, महत्त्व दो। अब इस

कठिनता क्या है ? इसको महत्त्व नहीं देते हो, इसलिये भूल जाते हो। आपके सौ रुपये खो जायँ तो क्या भूल जाओगे ? कई बार याद आयेगा कि रुपये चले गये ! पर ज्ञान चला जाय तो इसकी परवाह ही नहीं है आपको !

श्रोता—महाराजजी ! पदार्थोंके प्रति राग रहते हुए उनकी सत्ताका अभाव नहीं होता।

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि भोजनमें राग रहते हुए भी सिनेमाके भोजनमें सत्ताका अभाव कैसे हुआ ?

श्रोता—वहाँ तो यह जँच गया है कि पदार्थ नहीं है।

स्वामीजी—अच्छा, ये पदार्थ हैं क्या ?

श्रोता—यह इतना स्पष्ट समझमें नहीं आ रहा है।

स्वामीजी—इसका स्पष्ट रूपसे अभाव समझनेकी कोशिश ही नहीं की है आपने ! सिनेमामें पहलेसे ही जानते हैं कि ये नहीं हैं। परंतु यहाँ पहले ही मान लेते हैं कि ये हैं। यह 'है'-पना आपका बनाया हुआ है, इसमें तो है नहीं।

श्रोता—संसार 'है'-पना अंदर बैठा हुआ है, वह निकल नहीं रहा है। बात तो यहाँ अटक रही है !

स्वामीजी—अच्छी बात है, अब ध्यान देकर सुनना आपलोग। 'है'-पना अर्थात् सत्ता दो तरहकी होती है। एक सत्ता हरदम रहती है और एक सत्ता उत्पन्न होनेके बाद होती है*। आपकी सत्ता निरन्तर रहनेवाली है और शरीर-संसारकी सत्ता पैदा होकर होनेवाली है, निरन्तर रहनेवाली नहीं है। आप कहते हो कि सत्ता मिटती नहीं है, मैं कहता हूँ कि सत्ता टिकती नहीं है !

नदीके किनारे एक संत खड़े थे। लोग बोले कि देखो महाराज ! नदी बह रही है और वहाँ पुलपर आदमी बह रहे हैं। संत बोले कि पुल भी बह रहा है ! जैसे नदी बह रही है, आदमी बह रहे हैं, ऐसे पुल भी बह रहा है—यह कैसे मान लें ? संतने पूछा कि जिस दिन पुल बना था, उतना नया है आज ? तो इतना बह गया कि नहीं ? पूरा बहनेपर बिखर जायगा। ऐसे ही संसार भी बह रहा है। संसारकी सत्ता उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है। इस सत्ताको तो आपने महत्त्व दे दिया, पर नित्य रहनेवाली सत्ताको आपने महत्त्व नहीं दिया। शरीर, संसारकी सत्ता तो अपने सामने पैदा होती और नष्ट होती है। अतः नित्य रहनेवाली सत्ताको महत्त्व दो।

श्रोता—रागके रहते हुए 'संसार नहीं है'—यह निश्चय हो जायगा क्या ?

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि अभी मेरे कहनेसे आपको अभावका कुछ ज्ञान हुआ कि नहीं ?

श्रोता—हाँ जी !

स्वामीजी—तो इस समयमें क्या राग मिट गया ?

श्रोता—नहीं मिटा।

स्वामीजी—तो रागके रहते हुए अभावका ज्ञान होता है न ? आप राग-द्वेषपर विचार मत करो, भाव-अभावपर विचार करो। सुगम बात बताता हूँ कि राग-द्वेष दूर नहीं हुए तो कोई परवाह नहीं, परंतु इनकी सत्ता नहीं है—यह बात तो मानो आप। संसारकी सत्ता नहीं तो राग-द्वेष कहाँ टिकेंगे ? मिट जायँगे। आप राग-द्वेषकी चिन्ता मत करो, इनकी बेपरवाह करो। राग हो गया तो हो गया, कोई परवाह नहीं। द्वेष हो गया तो हो गया, कोई परवाह नहीं। न रागको पकड़ो, न द्वेषको पकड़ो। जो पैदा होता है, वह नष्ट होता है। रागकी भी पैदा होनेवाली सत्ता है, द्वेषकी भी पैदा होनेवाली सत्ता है, पदार्थोंकी भी पैदा होनेवाली सत्ता है। यह सत्ता वास्तवमें सत्ता नहीं है। इसमें क्या बाधा लगती है ?

श्रोता—संसारको कैसे भूला जाय ?

स्वामीजी—जैसे नींद आनेपर संसारको भूल जाते हो। अभी मेरी बात सुनते हो तो अभी अपना घर याद है क्या ? अब याद दिलानेसे याद आ गया, नहीं तो भूले हुए थे। ऐसे ही संसारको भूल जाओ। जो नाशवान् है, उसके भूलनेका, उसके अभावका तो अनुभव होता है, पर आप उसको महत्त्व नहीं देते। आप संसारके अभावको और परमात्माके भावको महत्त्व नहीं देते। संसारके अभाव और परमात्माके भावका ज्ञान तो आपको है, अब कृपानाथ ! इतनी कृपा करो कि इस ज्ञानको महत्त्व दो। बालूकी भीत (दीवार) हो और नदीके

---

* इस विषयको विस्तारसे समझनेके लिये 'गीताप्रेस'से प्रकाशित 'गीता-दर्पण'में आया 'गीतामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वका निषेध' शीर्षक लेख देखना चाहिये।

ऊपर बनाना चाहें तो क्या ठहर जायगी ? ये राग-द्वेष तो बालूकी भीत हैं और संसार नदीकी तरह बह रहा है। बहते हुए संसारमें ये राग-द्वेष कैसे टिकेंगे ? इतनी बात याद रखो कि यह बहनेवाला है, रहनेवाला नहीं है। सुखदायी अथवा दुःखदायी कोई परिस्थिति आये, वह रहनेवाली नहीं है इतनी बात याद रखो तो सुगमतासे महान् अनुभव हो जा बोध हो जाय !

◆

देवपूजामें पुष्प

'कुलार्णव-तन्त्र' (१७। ५८) में 'पुष्प' शब्दकी बड़ी सुन्दर निरुक्ति की गयी है। उसमें लिखा है कि 'पुण्य-संवर्धन करने, पापोंका परिहार करने तथा श्रेष्ठ फलोंको प्रदान करनेके कारण यह 'पुष्प' कहा जाता है'—

पुण्यसंवर्धनाच्चापि पापौघपरिहारतः।
पुष्कलार्थप्रदानाच्च पुष्पमित्यभिधीयते ॥

देवोपासनाके समस्त उपकरणोंमें पुष्प ही सर्वोत्तम दिव्य साधन कहा गया है। देवताओंको पुष्प चढ़ानेसे माङ्गल्यकी प्राप्ति होती है और अलक्ष्मीका विनाश होता है तथा ऐश्वर्यकी वृद्धि, मनकी प्रसन्नता, अखण्ड सौभाग्य एवं तेज और बलकी अभिवृद्धि भी होती है। देवता लोग रत्न, सुवर्ण, भूरि द्रव्य आदि (एवं अन्य किन्हीं भी साधनों) से उतना प्रसन्न नहीं होते, जितना वे एक पुष्पके प्रदान करनेसे प्रसन्न होते हैं—

पुष्पप्रदानं मङ्गल्यमलक्ष्मीविप्रणाशनम्।
लक्ष्मीवृद्धिकरं ज्ञेयं सौमनस्यविवर्धनम् ॥
सौभाग्यजननं चैव तेजोबलविवृद्धिदम्।
न रत्नैर्न सुवर्णेन न च वित्तेन भूरिणा ॥
तथा प्रसादमायाति यथा पुष्पैर्जनार्दनः।

(विष्णुधर्मोत्तर° ३। ३४१। २४८—२५०)

'शारदातिलक' आदिके अनुसार देवताका मस्तक सदा पुष्पसे सुशोभित करना चाहिये—

देवस्य मस्तकं कुर्यात् कुसुमोपहितं सदा।

'कीड़ोंसे काटे गये, कुम्हलाये हुए, कटे-फटे, अविकसित, केश-युक्त, चूहेसे कटे, किसीसे माँगे, दूसरेके द्वारा प्राप्त, बासी[१], हीन व्यक्तियों तथा पैरसे स्पृष्ट, तीक्ष्ण गन्धवाले, दूसरे देवताके पुष्पोद्यानसे आनीत, स्वयं भूमिपर गिरे हुए और चुराये हुए पुष्पोंको नहीं चढ़ाना चाहिये'—

पुष्पं च कृमिसम्भिन्नं विशीर्णं भग्नमुद्गतम्।
सकेशं मूषिकोद्धूतं यत्नेन परिवर्जयेत् ॥
याचितं परकीयं च तथा पर्युषितं च यत्।
अन्त्यस्पृष्टं पदास्पृष्टं यत्नेन परिवर्जयेत् ॥
उग्रगन्धं न दातव्यं त्वन्यदेवगृहोद्भवम्।
स्वयं पतितपुष्पाणि त्यजेदुपहितानि च ॥

—पर बिल्वपत्र तथा पान, खदिर, आमलकी ए तुलसीके टूटे-फूटे पत्र भी चढ़ाये जा सकते हैं—

धात्री (तुलसी) खदिरबिल्वानां तमालस्य दलानि च।
छिन्नभिन्नान्यपि मुने न दूष्याणि जगुर्बुधाः॥
सर्वदा तुलसी शुद्धा बिल्वपत्राणि वै तथा॥

(बृहन्नारदीय°, पूर्व° ६७। ६७-६८

शास्त्रोंमें मध्याह्न-स्नानके बाद पुष्प तोड़नेका निषेध है-

स्नात्वा मध्याह्नसमये न छिन्द्यात् कुसुमं नरः।
देवतास्तन्न गृह्णन्ति भस्मीभवति दारुवत् ॥

(लघुहारीत ४१, शारदाति° पदार्था° राघवभ

भगवान् शङ्करपर कुन्द-केतकी, विष्णुपर धतूरा, देवी आक (मदार)का पुष्प न चढ़ाये तथा तगरका पुष्प भगव सूर्यको अर्पित न करे—

शिवे विवर्जयेत् कुन्दमुन्मत्तं च हरौ तथा।
देवीनामर्कमन्दारौ सूर्यस्य तगरं तथा ॥

भगवान् विष्णुके लिये तुलसीपत्र, बिल्वपत्र, आमल पत्र, भृङ्गारपत्र तथा मालती, मल्लिका, यूथिका, अतिमु गुलाब, कनेर, कुब्जक, कर्णिकार, चम्पा, तगर, अशो

---

[१] कमल एवं कुमुद— ये क्रमशः ११ तथा ५ दिनतक बासी नहीं होते (भविष्यपुराण)। तुलसीपत्र, बिल्वपत्र, अगस्त्य-पुष्प— ये कभी बा नहीं होते (शारदातिलक, टीका राघवभट्ट पदार्थादर्श, मेरुतन्त्र १। ७६)।

तिलक एवं कमलके तथा श्रेष्ठ गन्धवाले पुष्प प्रशस्त माने गये हैं।

लक्ष्मीका प्रायः सभी पुष्पोंमें वास है, पर कमल उन्हें अधिक प्रिय है—

'लक्ष्मीर्वसति पुष्पेषु लक्ष्मीर्वसति पुष्करे।'

कोई भी पत्र-पुष्प या फल किसी भी देवतापर उलटकर नहीं चढ़ाना चाहिये—**'यथोत्पन्नं तथार्पणम्'** पर पुष्पाञ्जलिमें एवं बिल्वपत्रके लिये इसकी छूट है—

पुष्पाञ्जलौ न तद्दोषः …… बिल्वपत्रमधोमुखम्[1]

चम्पाकी कलीको छोड़कर किसी दूसरे पुष्पकी कली भी देवतापर नहीं चढ़ानी चाहिये—

चम्पस्य कलिकास्त्यक्त्वान्यकलिकामपि वर्जयेत्।

(कालिकापुराण, विष्णुधर्म० २।९१।७)

—गौतमीतन्त्र महाभारत (आश्व०, वैष्णवधर्मपर्व ८।६०।११०) तथा वृद्ध-गौतमस्मृति (मोर सं० ८।७३—१००) में पुष्पविधिका बड़े विस्तारसे वर्णन किया गया है। वहाँ भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे अपने लिये कुमुद, कनेर, मल्लिका, जाती, चम्पा, नन्द्यावर्त (तगर-पुष्प इसे भगवद् या विष्णुवृक्ष भी कहा जाता है), पलाशपत्र, पलाशपुष्प, दूर्वा, भृंगार और वनमालाको परम प्रिय कहा है। कमलका पुष्प भगवान्‌को लक्ष्मीका निवास होनेसे अन्य सबकी अपेक्षा हजारगुना अधिक प्रिय है और कमलसे भी हजारगुना उन्हें तुलसी प्रिय है। अतः ज़ब कोई पुष्प न मिले तो तुलसी-पत्रसे पूजा कर देनी चाहिये—

सर्वेषामपि पुष्पाणां सहस्रगुणमुत्पलम्।
तस्मात्पद्मं तथा राजन् पद्मात्तु शतपत्रकम्।
तस्मात् सहस्रपत्रं तु पुण्डरीकं ततः परम्॥
पुण्डरीकसहस्रात्तु तुलसी गुणतोऽधिका।
पुष्पाभावे तुलस्यास्तु पत्रैर्मामर्चयेत् पुनः॥

(महा० आश्व०, वैष्णवपर्व, दाक्षिणा० सं० १०९।७७-७८)

यदि तुलसीपत्र भी न मिल सके, तो उसकी शाखा, मूल या मृत्तिकासे ही पूजा करनी चाहिये—

शिफाभावे मृदा तत्र भक्तिमानर्चयेत माम्।

वहाँ भगवान् विष्णुके लिये वर्ज्य पुष्पोंकी संख्या भी बड़ी लम्बी है। यथा—किंकिणी, अगस्त्य, धतूर, पाटल, अमुक्त, वैभीतक, पुन्नाग, भक्तमाल, यौथिक (जूही), निर्गुण्डी, जांगुली, जपा (अड़हुल), कर्णिकार (कचनार), अशोक, शाल्मलि (सेमर), ककुभ (अर्जुनवृक्ष), कोविदार, कुरण्टक, कल्पक, अकोल, गिरिकर्णिका, नील, एकपर्ण, आक एवं पिचुमन्द (नीम) इत्यादिके पुष्प भगवान् विष्णुपर नहीं चढ़ाये जाने चाहिये तथा आकके पत्तेपर रखे या गिरे हुए फूल भी नहीं चढ़ाने चाहिये (महा० आश्व०, वैष्णव०, दाक्षि० १०९)।

इसी प्रकार शिवजीपर केतकी, गणेशजीपर तुलसी एवं दुर्गाजीपर दूर्वा नहीं चढ़ानी चाहिये।

केतकीभवपुष्पैश्च नैवार्च्यः शंकरस्तथा॥
गणेशं तुलसीपत्रैर्दुर्गां नैव तु दूर्वया।

करवीर एवं जपापुष्प दुर्गा देवीको अधिक प्रिय है।

चम्पक-पुष्पके सम्बन्धमें एक मनोरम कथा

शास्त्रोंमें—

'सौवर्णाद्य प्रसूनात्तु मत्प्रियं नास्ति पाण्डव।'

(महा० आश्व०, वैष्णव० ७८)

—इत्यादि वचनोंसे कई स्थलोंपर सुवर्णपुष्प अर्पण करनेकी चर्चा है। यह सुवर्णपुष्प चम्पक या चम्पा ही है। इसकी महिमाके सम्बन्धमें कहा गया है कि इस एक सुवर्णपुष्पसे प्रभुकी पूजाका फल मेरुतुल्य सुवर्णदानके बराबर या उससे भी अधिक है—

मेरुतुल्यसुवर्णानि दत्त्वा भवति यत्फलम्।
एकेन स्वर्णपुष्पेण हरिं सम्पूज्य तत्फलम्॥

(पद्म०, क्रियायोग० १०।३४)

—इस रहस्यके सम्बन्धमें एक कथा व्यासजीद्वारा

---

[1] १-पुष्पं वा यदि वा पत्रं फलं नेष्टमधोमुखम्।

(क) नार्पयेत् कुसुमं पत्रं फलं देवे ह्यधोमुखम्। पुष्पपत्रादिकं विप्र यथोत्पन्नं तथार्पयेत्॥ (बृहन्नारदीयपुराण, पूर्व० ६७।७०)

(ख) बिल्वपत्र एवं धतूर भगवान् शङ्करको परम प्रिय है। यों इक्कीस पुष्प उन्हें बहुत प्रिय हैं जिनमें मुख्य ये हैं—अगस्त्य, जपाकुसुम (अड़हुल), बंधूक, करवीर (कनेर), निर्गुण्डी, हरश्रृङ्गार। दूर्वाद्वारा शिवपूजासे आयु तथा धतूरसे पुत्रकी प्राप्ति होती है—

आयुष्कामो भवेद् यो वै दूर्वाभिः पूजनं चरेत्। पुत्रकामो भवेद् यो वै धत्तूरकुसुमैश्चरेत्॥

(शिवपुराण, रुद्रसंहिता, सृष्टिखं० १४।२६, प्रायः यह पूरा अध्याय पुष्पनिर्णयपर ही है)।

जैमिनि मुनिसे कही गयी प्राप्त होती है—

प्राचीन कालमें आर्यावर्तमें एक सुवर्ण नामका राजा रहता था। वह बड़ा ही धनी, बली तथा विद्वान् भी था। पर वह कुसंगति एवं अहंकारके कारण पाप-परायण हो गया। एक रात्रिमें वह संगीतासक्तिके कारण उज्ज्वला नामक वेश्याके यहाँ अभी पहुँचा ही था कि द्रोही प्रजाने वहीं घेरकर उसे मार डाला। इधर यमदूत भी उसे लेने आ गये। पर वेश्याने राजाके स्वागतमें एक सुवर्णपुष्प दिया था, जिसे लेते ही उसकी सुन्दरतापर मुग्ध होनेके कारण राजाके मुखसे अकस्मात् **'नमो नारायणाय'** उच्चरित हो गया था। अतः विष्णु भगवान्द्वारा भेजे गये विष्णुदूत भी वहाँ पहुँच गये। वे यमदूतोंको मार-पीटकर सुवर्णको विष्णुलोक ले गये। भगवान्ने उस राजाको गले लगाकर पुनः जीवित कर दिया। राजाने प्रभुके सामने दीनतापूर्वक स्तुति की, तो प्रभुने उसके पूर्वमनोरथोंको परिपूर्ण करनेके लिये विश्वकर्माद्वारा विनिर्मित अत्युत्तम दिव्य सुवर्णके आभूषणोंद्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग ही मण्डित कर दिये। पुनः वह प्रभुकी आज्ञासे पृथ्वीपर लौट आया तथा प्रतिदिन मन्दिरमें जाकर स्वर्णपुष्पों (चम्पाके फूलों) द्वारा प्रभुकी पूजा करने लगा। मन्दिरमें प्रभु उसे वैकुण्ठके समान ही मिलते एवं वार्तालाप—प्रेमालाप करते। अब इस धर्मसे उसकी आयु बढ़ने लगी और वह नौ हजार नौ सौ मन्वन्तरोंतक पृथ्वीपर शासन करता रहा। अन्तमें गङ्गातटपर स्वेच्छया बिना क्लेशके शरीर त्यागकर वह प्रभुमें ही जा मिला—

'समासाद्य ययौ मोक्षं प्रसादाच्चक्रपाणिनः ॥'

(पद्म० क्रियायोग० १०। ७३)

—ऐसी चम्पकपुष्पकी महिमा है[१]। (पद्म० क्रियायो १०। ७१-७३)

इसी प्रकार पुष्पार्चनके प्रभावसे राजा नृग, ययाति, नहु विष्वगश्व, करन्धम, दिलीप, युवनाश्व, ऋतुपर्ण, भगीर देवरात, रघु आदि अनेक राजाओंने भी निष्कण्टक चक्रव सार्वभौम साम्राज्य प्राप्त किया था और अनेकोंको यक्ष विद्याधरत्व, गन्धर्वत्व तथा देवत्व भी प्राप्त हुआ था—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं दुर्वाङ्कुरमथापि वा।
अरण्यादाहृतैः पुष्पैः सम्पूज्य मधुसूदनम्॥
पूर्वजन्मनि सम्प्राप्तं राज्यं शृणु नराधिप।
नृगो ययातिर्नहुषो विश्वगश्वः करन्धमः॥
दिलीपो युवनाश्वश्च ऋतुपर्णो भगीरथः।
देवरातः ककुत्स्थश्च विनीतो विक्रमो रघुः॥
एते चान्ये च बहवः पूर्वजन्मनि केशवम्॥
पूजयित्वा क्षितावस्यां प्रापू राज्यमकण्टकम्।
यक्षत्वमथ देवत्वं गन्धर्वत्वं तथैव च॥
विद्याधरत्वं नागत्वं ये गता मनुजोत्तम।
तस्माद्यत्नः सदा कार्यः पुरुषैः कुसुमार्चने॥

(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, प्रथम० अ० १६

भावपुष्प

पुराणोंमें बार-बार अहिंसा, क्षमा, सत्य औ भाव-पुष्पोंका भी वर्णन आया है। इनसे भी भावनापूर्व प्रभुकी मानसिक पूजा करनी चाहिये।

* * *

---

[१] इसी प्रकर क्रियायोगसारके १३वें अध्यायमें कमलपुष्पकी महिमापर एक सुन्दर कथा मिलती है—प्रजा नामक एक धर्मात्मा ब्राह था। वह पूर्वजन्म-विज्ञानके लिये शिवक्षेत्रमें जाकर भगवान् शङ्करकी स्तुति करने लगा। भगवान् शीघ्र ही प्रकट हुए और बतलाया कि वह पूर्वज दण्डपाणि नामका शबर (भील) था। वह व्याध एवं दस्यु-वृत्तिसे रहकर बड़ा ही पाप करता रहा, पर एक दिन उसने सर्ववेदा नामके ब्राह्म माँगनेपर पूजाके लिये एक कमलका पुष्प दे दिया था। जब सर्ववेदाने उसके द्वारा भगवान्की पूजा की, तब वह बहुत प्रसन्न हुआ। इसीसे उ सारे पातक नष्ट हो गये और स्वर्गसे वापस आकर भगवद्भक्त ब्राह्मण हुआ था। बादमें पुनः कमलसे प्रभुकी पूजा कर वह मुक्त हुआ। भग शङ्करके दर्शनसे उसका परम श्रेय हो गया—

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमेव मयोच्यते। कमलैर्हरिमभ्यर्च्य प्राप्यते परमं पदम्॥ (पद्म०, क्रियायोग० १३। १६७)

संत-वाणी

[एक महात्माका प्रसाद]

(१)

जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है तथा जिनसे अपनत्व होता है एवं जिनमें सर्वोत्कृष्टता जान पड़ती है, उनसे स्वाभाविक प्यार उत्पन्न हो जाता है, परंतु प्रमादवश कभी-कभी दोषयुक्त वस्तुओंसे भी अपनत्व हो जानेपर प्यार-जैसा मोह हो जाता है, जो निराशाजनित दुःख उत्पन्न करता है। निराशाजनित दुःख उसे कहते हैं कि जिसकी पूर्तिकी आशा न होनेपर भी पूर्तिकी रुचि रहती है। उस दुःखका विचारशीलोंने निरोध किया है। दुःख बड़ी ही अमूल्य वस्तु है, परंतु आशाजनित होना चाहिये। आशाजनित दुःख उत्पन्न होनेपर मोहसे उत्पन्न होनेवाला दुःख मिट जाता है। प्रेमपात्रकी आवश्यकता प्रेमपात्रसे भी अधिक महत्त्वकी वस्तु है, क्योंकि प्रेमपात्रकी आवश्यकता सभी इच्छाओंके मिटानेमें तथा सभी सम्बन्धोंके विच्छेद करनेमें एवं सभी परिस्थितियोंसे असंग करनेमें समर्थ है। यह भली प्रकार समझ लो कि 'है' 'नहीं' को मिटा नहीं पाता, प्रत्युत प्रकाशित करता है, सत्ता देता है। परंतु 'है' की आवश्यकता 'नहीं' को खा जाती है और 'है' से अभेद करती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रेमपात्रकी आवश्यकता प्रेमपात्रसे भी अधिक महत्त्वकी वस्तु है। यद्यपि सद्भावपूर्वक अपनत्व तथा सर्वोत्कृष्टता एवं आवश्यकता केवल एकमात्र 'है' की ही हो सकती है, परंतु प्रमाद तथा आसक्तिवश साधारण प्राणी उसको—'नहीं' को—शरीरादि वस्तुओंको देखने लगते हैं, जिससे निराशाजनित दुःख उत्पन्न हो जाता है।

(२)

उन्नतिशील प्राणी वही हो सकता है, जिसमें अपनी दृष्टिसे अपनी निर्बलताओंको देखनेकी योग्यता है। निर्बलताका ज्ञान होते ही व्याकुलता उत्पन्न होती है। यह प्राकृतिक नियम है कि ज्यों-ज्यों व्याकुलता बढ़ती जाती है, त्यों-ही-त्यों निर्बलता मिटानेकी शक्ति आती जाती है। निर्बलता उसी प्राणीमें निवास करती है, जिसको निर्बलता होनेपर बेचैनी उत्पन्न नहीं होती। अनन्त शक्ति बेचैनीको उसी प्रकार खा लेती है, जिस प्रकार सूर्य अन्धकारको खा लेता है।

योग्यतानुसार परिश्रम करनेपर बेचैनीका आरम्भ होता है, क्योंकि जबतक करनेका अभिमान शेष रहता है, तबतक सच्ची व्याकुलता नहीं आती। करनेका अभिमान तब मिटता है, जब प्राणी जो कर सकता है, उससे अपनेको नहीं बचाता। साधारण प्राणी करनेकी शक्ति होते हुए भी अपनेको निकम्मा बना लेते हैं और उस दोषको निरभिमानताके नामसे प्रकाशित करते हैं। क्या आनन्दघन भगवान् हमसे वह आशा करते हैं, जो हम कर नहीं सकते ? क्या हम जो कर सकते हैं, उसको करनेपर हमारे प्रेमपात्र वह नहीं करेंगे, जो उनको करना चाहिये ?

सच तो यह है कि हम अपने-आपको तथा प्रेमपात्रको धोखा देनेका प्रयत्न करते हैं। बल होते हुए भी निर्बल बनते हैं तथा निर्बल होते हुए भी बलवान्के समान संतुष्ट रहते हैं। कर्तव्यपरायण प्राणीके जीवनमें हार स्वीकार करनेके लिये कोई स्थान नहीं होता। जिस प्रकार माताको शिशुकी सभी आवश्यकताओंका ज्ञान है एवं शिशुके बिना कहे ही माता वह करती है, जो उसे करना चाहिये। उसी प्रकार आनन्दघन भगवान् हमारे बिना कहे ही वह अवश्य करते हैं, जो उन्हें करना चाहिये। परंतु हम उनकी दी हुई शक्तिका सदुपयोग नहीं करते और निर्बलता मिटानेके लिये बनावटी प्रार्थना करते रहते हैं। आनन्दघन भगवान् निरन्तर शक्ति प्रदान करनेके लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं, किंतु हम उनको सहायता करनेका अवसर नहीं देते।

छोटे-से-छोटे बच्चेको भी आवश्यकता होनेपर बेचैनी होती है, परंतु हम आवश्यकता होते हुए भी चैनसे रहते हैं। हमें अपनी इस ईमानदारीपर विचार करना चाहिये कि हम कितना प्राकृत नियमके विरुद्ध करते हैं। गहराईसे देखिये—आवश्यकता होनेपर पशु-पक्षी भी चैनसे नहीं रहते। फिर न मालूम यह अभागा चैन हमारे जीवनमें कहाँसे आ गया। अतः हमको गम्भीरतापूर्वक अपनेमेंसे इस बनावटी चैनको निकाल देना चाहिये कि जिसने आवश्यकता होते हुए भी हमें संतुष्ट-सा बना रखा है।

गीता-सुधातरङ्गिणी

[साधक-संजीवनीके आधारपर]

बारहवाँ अध्याय

दो०—नमो देव बसुदेव सुत मर्दन चानुर कंस।
देवकि परमानंद प्रद जग गुरुवर जदुबंस॥ १॥
एकादस अध्याय महुँ बिस्वरूप दरसाइ।
पुनि निज अनन्य भक्ति की महिमा दई जनाइ॥ २॥

सो०—नमो कृष्न भगवान श्रीमुरलीधर तोत्र धर।
करहु बिस्व कल्यान कृपा बृष्टि करि सृष्टि पर॥ ३॥
कहहिं पार्थ सुनु स्याम एहि बिधि जो जस भाँति नर।
लगे रहहिं अविराम अगुन सगुन तव रूप महुँ॥ ४॥
सतत युक्त निसकाम सगुन भक्त अरु अपर तव।
निरगुन भक्त अकाम कहहु श्रेष्ठ इन्हमहुँ कवन॥ ५॥

चौ०-बोलेउ कृष्नचंद्र भगवाना। सुनहु पार्थ मम सखा सुजाना॥
जे नर मोमहुँ चित्त लगावइ। श्रद्धा अटल राखि मोहि ध्यावइ॥
अस मम सगुन उपासक जोई। सर्वश्रेष्ठ मानउँ मैं सोई॥
जे सबकर हित महुँ रत रहई। संजम दम समता दृढ़ गहई॥
अचल अचिन्त सर्वगत अच्छर। ध्रुव कूटस्थ अरूप अगोचर॥
अस अव्यक्त उपासक जेते। सकल पाइहहिं मोकहुँ तेते॥
पर यह साधन दुस्तर भारी। तन अभिमान कठिन सकि टारी॥
मन इंद्रिन्ह कहुँ नायँ अधारा। नहिं भीतर बैराग बिचारा॥

दो०—निरगुन महुँ आसक्त चित देह जनित अभिमान।
पावत तस अव्यक्त गति होहिं कलेस महान॥ ६॥

सो०—करहिं समर्पन कर्म मम आश्रित रहि भक्त जन।
धरइ ध्यान लखि मर्म मोकहुँ भजहिं अनन्य मन॥ ७॥

चौ०-तिन्ह हित मैं केवट बनि आऊँ। मौत सिन्धु तें पार लगाऊँ॥
भजन उपाइ सुनावहुँ तोही। जाहि समुझि पावहु तुम्ह मोही॥
मन बुधि करु निवेस मममाहीं। पावहु मोकहुँ संसय नाहीं॥
थिर न बुद्धि मन इत उत भागी। करु अभ्यास जोग मम लागी॥
जौं न बनहिं एहि साधन दोऊ। मम लगि कर्म परायन होऊ॥
मम हित कर्म करहिं चित देई। मिलहिं सिद्धि यह साधन सेई॥
जो इन्हमहुँ समर्थ नहिं पाई। तउ मम जोग सरन रहु भाई॥
संजम दम अरु राखु बिरक्ति। तजहु कर्म मधि फल आसक्ति॥

दो०—जोग रहित अभ्यास ते श्रेष्ठ सास्त्र कर ग्यान।
बिनु समता के ग्यान ते श्रेष्ठ त्रिपुटि जुत ध्यान॥ ८॥
चित्तवृत्ति जुत ध्यान ते श्रेष्ठ कर्मफल त्याग।
त्यागहि तस छन सांति ह्वै बुझि असांति जुत आग॥ ९॥

सो०—अस सदगुन आगार सिद्ध भक्त कहु मुक्त जन।
महिमा तासु अपार बरनउँ गुन लच्छन कछुक॥ १०॥

चौ०-जहँ लगि जीव जगत महुँ कोई। तिन्ह सँग द्वेष भाव नहिं होई।
मैत्रि भाव अरु दया अमीता। ममता अहंकार मद रीता।
सुख दुख उभय माहिं नहिं अंतर। छमासील संतुष्ट निरंतर।
जोगी सम दम दृढ़ व्रत हारा। मन बुधि मम अर्पित मोहि प्यारा।
जिन्हते कोउ उदबेग न पावइ। जो उदबेग आप नहिं लावइ।
हरष ईरिषा भय ते न्यारा। हलचल रहित भक्त मोहि प्यारा।
चाह न तन निरबाह उदर की। रखहिं सुद्धि भीतर बाहर की।
परम चतुर गत बिथा उदासी। भजहिं सतत मम गुनगन रासी।

दो०—संग्रह अरु सुखभोग जुत करइ कर्म सब त्याग।
मोहि भगत अस लगत प्रिय जेहि मम पद अनुराग॥ ११॥

चौ०-मन अनुकूल हरष उर नाहीं। मन प्रतिकूल द्वेष नहिं ताहीं।
दुख महुँ करि चींता नहिं जरई। सुख लगि कबहुँ चाह नहिं करई।
सुभ अरु असुभ कर्म लगि कोई। किंचित राग द्वेष नहिं होई।
एहि बिधि सकल द्वन्द्व ते न्यारा। भगतिमान अस मोकहुँ प्यारा॥
बयरी मित्र मान अपमाना। सुख दुख प्रिय अप्रिय सम जाना।
निंदा अस्तुति महुँ नहिं अंतर। मनन सील संतुष्ट निरंतर।
अहनिसि रहहिं अटल जेहि समता। देह गेह महुँ संग न ममता।
थिर मति सोइ सदगुन आगारा। भगतिमान नर मोकहुँ प्यारा।

छं०—नर भगतिमान सुजान सिद्धहि लछन कछु तिन्हकर कहे।
आदर्स जो एहि मानि हरदम मम भरोसहि दृढ़ रहे॥
श्रद्धा परम आदर सहित एहि धरम अमरित सेवही।
अस मम परायन भक्त मोकहुँ लगत अतिसय पिय सही॥

सो०—श्रीमुख कहि संजोइ निज भक्तन्ह गुन गान हरि।
ताहि परम प्रिय होइ सरन गहहिं अनुसरहिं नर॥ १२

(अनु०—श्रीबजरंगलाल राम अवतारजी सोनी)

भागवतीय प्रवचन—३५

मनःशुद्धि आवश्यक है

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

कर्म चित्तशुद्धिके लिये है। भक्ति मनकी एकाग्रताके लिये है। कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंकी जीवनमें आवश्यकता है। कर्मसे चित्तशुद्धि होनेके पश्चात् ब्रह्मजिज्ञासा जागती है।

हिरण्याक्षकी इच्छा हुई कि स्वर्गमेंसे सम्पत्ति ले आऊँ। दिन-प्रतिदिन उसका लोभ बढ़ता जाता था। एक बार वह पातालमें गया। वहाँ उसने वरुणसे लड़ना चाहा।

वरुणने कहा कि तू वराह नारायणसे युद्ध कर।

हिरण्याक्षने वराह भगवान्‌के पास आकर उनसे कहा कि तू सूअर-जैसा है। तो वराह नारायणने उससे कहा कि तू कुत्ते-जैसा है और बात बढ़ गयी।

सभी पापोंका मूल दुर्वचन या कुत्सित वाणी है। वाणी-दोष होनेसे क्रोधादि उत्पन्न होकर विनाशके कारण होते हैं।

मुष्टिप्रहार करके वराह भगवान्‌ने हिरण्याक्षका संहार किया और पृथ्वीका राज्य मनु महाराजको सौंप दिया। मनुसे उन्होंने कहा कि धर्मसे पृथ्वीका पालन करना और वे बद्रीनारायणके स्वरूपमें लीन हो गये।

मनुष्यमात्रका धर्म है समाजको सुखी करना। यह आदर्श वराह भगवान्‌ने अपने ही आचरणद्वारा मनुष्योंको सिखाया।

लोभको मारनेके लिये वराह नारायणके चरणोंका आश्रय लो। वराहके चरण संतोषके स्वरूप हैं।

मनुष्यके जीवनमें जबतक लोभ है, तबतक पाप है और पाप जबतक है, तबतक शान्ति प्राप्त हो नहीं सकती। जिसका जीवन निष्पाप है, उसे ही शान्ति मिलती है।

केवल अर्थोपार्जनके लिये ही बुद्धिका उपयोग न करो, उसका उपयोग ईश्वरोपासनाके लिये करो, अन्यथा उस जौहरी-जैसी ही तुम्हारी दशा भी होगी, जिसकी कथा यहाँ बतलायी जा रही है—

एक बार किसी राजाके दरबारमें एक जौहरी आया। उसके पास एक हीरा था। उस हीरेका मूल्य निश्चित करनेके लिये कई जौहरियोंको बुलाया गया। सभीने अलग-अलग कीमत बतायी। राजा निराश हुआ। इतनेमें एक वृद्ध जौहरी आया। उसने हीरेकी कीमत निन्यानबे लाख रुपये बतायी, तो राजाने पूछा कि तुमने पूरे एक करोड़ रुपये क्यों नहीं कहा? तो उस वृद्ध जौहरीने और सौ हीरे मँगवाकर उस हीरेके आसपास रख दिये। तो उस हीरेका तेज निन्यानबे हीरोंपर पड़ा, किंतु एकपर न पड़ा। वृद्ध जौहरीने कहा कि यही कारण है कि मैंने एक लाख कम कहा।

राजाको लगा कि यह जौहरी कितना बुद्धिमान् है। वह बोला—मन्त्रीजी! इन्हें कुछ पुरस्कार दीजिये। तभी वहाँ बैठे एक महात्माने कहा कि इस जौहरीके सिरपर धूल (खाक) डालो। महात्मासे ऐसे विचित्र प्रस्तावका कारण पूछा गया।

महात्माने कहा—इस जौहरीने अपनी बुद्धिका उपयोग केवल पत्थरोंका विचार करनेके लिये ही किया है, ईश्वरका भजन करनेके लिये नहीं। जिस बुद्धिका उपयोग उसने केवल पत्थरोंको देखने-परखनेमें किया है, उसका उपयोग यदि उसने ईश्वरको पहचाननेके लिये किया होता तो इसका उद्धार हो जाता। आप इस जौहरीको चतुर मानते हैं, किंतु मैं इसे मूर्ख मानता हूँ।

हिरण्याक्षकी मृत्यु होगी तभी पाप मरेगा और तभी ब्रह्मविद्याका ज्ञान बुद्धिमें स्थायी होगा। बुद्धिके निष्काम होनेपर ही ब्रह्मज्ञान स्थायी हो सकता है।

मनुष्यके शरीरमें नौ छिद्र हैं, जिनके द्वारा ज्ञान बाहर निकल जाता है। इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान बाहर न निकल सके, इसलिये इन्द्रियोंका निरोध करो और उन्हें प्रभुके मार्गकी ओर मोड़ दो।

मन, वचन और कायासे किसीको भी पीड़ा न देना, यही यज्ञ है। जो कारण बिना ही दिल जलाता है, वह आत्मघात कर रहा है। सदा-सर्वदा प्रसन्न रहना भी यज्ञ ही है।

यज्ञ किये बिना, सत्कर्मके बिना चित्तशुद्धि नहीं होती और चित्तशुद्धिके बिना ज्ञान टिकता नहीं। सत्कर्मसे सभी इन्द्रियाँ शुद्ध होंगी। जिसका मन कलुषित है, उसे परमात्माका अनुभव नहीं हो सकता।

मानव-शरीर एक घड़ेके समान है। इसमें नौ छिद्र हैं।

यदि वह छिद्रयुक्त हो तो कभी भरा नहीं जा सकता। प्रत्येक छेदसे ज्ञान बह जाता है। ज्ञानका प्राप्त होना कठिन नहीं है। ज्ञान आता तो है, किंतु वह रह नहीं पाता। विकार-वासनाके वेगमें वह कई बार बह जाता है।

वैसे तो सबकी आत्मा ज्ञानमय है, अतः अज्ञानी तो कोई नहीं है, किंतु ज्ञानको सतत बनाये रखनेके लिये, इन्द्रियोंके द्वारा बही जाती हुई बुद्धिशक्तिको रोकना है। ज्ञानी इन्द्रियोंको विषयकी ओर नहीं जाने देता।

आजकल लोगोंका ज्ञान टिक नहीं पाता, क्योंकि मनुष्यका जीवन विलासी हो गया है। सारा-का-सारा ज्ञान पुस्तकमें ही पड़ा रहता है, मस्तिष्कमें जाता ही नहीं है।

सच्चा संत, विद्वान् तथा गुरु वही है, जो परमात्माको ठीक-ठीक जान लेता है—

'अस्ति ब्रह्मेति यो वेद सन्तमेनं ततो विदुः।' (उपनिषद्)
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः। (भागवत)

हृदयमें सात्त्विक भाव जागे, मन शुद्ध हो जाय तो हृदयमेंसे ज्ञान अपने-आप ही प्रकट होता है।

अपने मनसे पूछो कि प्रभुसे मुझे जो सुख-सम्पत्ति मिले है, उसके लिये मैं पात्र भी हूँ या नहीं। उत्तर नकारात्मक ही होगा। लोभको संतोषसे मारो। अधिक पानेकी इच्छा न करो पाप इसलिये होता है कि मनुष्य मानता है कि प्रभुने मुझे जो दिया है, वह बहुत कम है। पाप नहीं होंगे तो इन्द्रियोंकी शुद्धि होगी और तभी इन्द्रियोंमें ज्ञान-भक्ति टिक पायगी यज्ञादि-सत्कर्मसे चित्तशुद्धि होती है। इसके बाद ब्रह्मज्ञान बुद्धिमें टिक पाता है। अतः भगवत्कृपा प्राप्त करनेके लिये चित्तकी शुद्धि परमावश्यक है।

क्या शुभ कर्मसे कष्टोंका नाश होता है?

(स्वामी श्रीशंकरानन्दजी महाराज)

शंका—महाभारतमें कहा गया है कि 'धर्म ही हनन किये जानेका प्रयत्न करनेपर मनुष्यका संहार करता है और वही धर्म रक्षा किये जानेपर रक्षा करता है।' मनु महाराजने भी ऐसा ही कहा है—

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।'
(मनु० ८। १५, महा० वन० ३१३। १२८)

इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जो मानव शुभ कर्मरूप धर्मका अनुष्ठान नहीं करता, वह कष्ट पाता है और जो शुभ कर्म-रूप धर्मका अनुष्ठान करता है, उसकी कष्टोंसे रक्षा होती है और उसे सुख-शान्ति प्राप्त होती है। परंतु देखनेमें आता है कि ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो शुभ कर्मका अनुष्ठान करनेपर भी कष्ट पा रहे हैं। इसके विपरीत अनेकों ऐसे व्यक्ति हैं कि वे शुभ कर्म न करनेपर भी कष्टरहित हैं। इसलिये संदेह होता है कि 'शुभ कर्मसे कष्टोंका नाश होता है' क्या यह शास्त्रवचन सत्य है?

हम सब-जैसे कलियुगी जीवोंके हृदयमें ही नहीं, किंतु सतयुगी जीवोंने भी जब धर्मात्माओंको कष्टयुक्त तथा अधर्मात्माओंको कष्टमुक्त देखा तो उन्हें भी ऐसा ही संदेह हुआ, ऐसा पुराणोंमें वर्णन आता है। यही कारण है कि महाभारतके जिस वनपर्वमें ऊपर लिखी बात कही है, वहीं तथा शान्तिपर्व और नारदपुराणके पूर्वार्धमें भी शब्दान्तरसे ऊपर लिखी बातसे विपरीत बात भी कही है—

संयताश्च हि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः।
दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः॥
अपरे बालिशाः सन्तो निर्गुणाः पुरुषाधमाः।
आशीर्भिरप्यसंयुक्ता दृश्यन्ते सर्वकामिनः॥
भूतानामपरः कश्चिद् हिंसायां सततोत्थितः।
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखेष्वेव जीर्यते॥
अचेष्टमानमासीनं श्रीः कञ्चिदुपतिष्ठते।
कश्चित् कर्मानुसृत्यान्यो न प्राप्यमधिगच्छति॥
(महा० शा० ३३१। १०—१३, वनपर्व अ० २०९, ना०पु०पू० अ० ६१)

संयमी, दक्ष, बुद्धिमान् मानव भी फलहीन तथा सभी कर्मोंसे रहित देखे जाते हैं। दूसरे मूर्ख, निर्गुण, अधम पुरुष संतोंके आशीर्वादसे रहित होनेपर भी सभी कामनाओंसे युक्त देखे जाते हैं। अन्य कुछ लोग जो प्राणियोंकी हिंसामें ही सदा लगे रहते हैं तथा लोगोंको ठगते रहते हैं, वे सुखसे ही बूढ़े होते हैं। कुछ भी न करनेवाले, बैठे रहनेवालेके पास भी लक्ष्मी उपस्थित होती है। कोई कर्मका अनुसरण करके भी

उचित धन नहीं प्राप्त कर पाता।

महाभारत और नारदपुराणके इन वचनोंसे भी इस शंकाकी पुष्टि होती है। अतः यह विचारणीय है कि शुभ कर्मोंसे कष्टोंका नाश होता है या नहीं? यदि होता है तो धर्मात्माओंके कष्टोंका नाश क्यों नहीं होता? महाभारत तथा नारदपुराणके ऊपर लिखे वचनोंका क्या तात्पर्य है?

समाधान—इस शंकाका समाधान निम्नलिखित शास्त्रवचनोंके अध्ययनसे होता है—

इह जन्मकृतं कर्म परजन्मनि प्राप्यते।
पूर्वजन्मकृतं कर्म भोक्तव्यं तु सदा नरैः॥

(भविष्यपुराण ३। २। २४। ३६)

नहि लोके कृतं कर्म सद्यः फलति गौरिव।

इस जन्ममें किये गये कर्मका फल (प्रायः) अगले जन्ममें मिलता है। पूर्वजन्ममें किये गये कर्म ही प्रायः वर्तमानमें फलरूपमें प्राप्त होते हैं। इस लोकमें किये गये कर्म भूमिमें बोये गये बीजकी तरह तत्काल फल उत्पन्न नहीं करते, अपितु धान्य या वृक्षोंके रूपमें यथासमय प्रतिफलित होते हैं।

इन शास्त्र-वचनोंसे स्पष्ट है कि धर्मात्माओंको जो कष्ट भोगना पड़ रहा है, वह तो पूर्वजन्मोंमें किये गये दुष्कर्मोंका परिणाम है। इस जन्ममें वे जो धर्माचरण कर रहे हैं, उसका फल अगले जन्ममें मिलेगा। महाभारत तथा पुराणोंमें भी इस प्रकारकी शंका कर वहीं उनका समाधान भी किया गया है। पद्म एवं स्कन्द पुराणोंकी भी यही सम्मति है।

पुण्यमाचरतः पुंसो यदि दुःखं प्रजायते।
तदा तापो न कर्तव्यः तत्कर्म पूर्वदेहजम्॥

(पद्मपु० ६। १३१। ११४-११५)

दुर्गमामापदं प्राप्य निजकर्मसमुद्भवाम्।
नहि सञ्ज्वरन्ति मर्त्या धर्मनिन्दां न कुर्वते।
इदमेव तपो मत्वा क्षिपन्ति सुविचेतसः॥

(स्कन्दपु० ५। ३। १९८। ३८-३९)

पुण्यका आचरण करते हुए भी यदि पुरुषको दुःख प्राप्त हो तो उसे दुःखी नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह दुःख पूर्वदेहमें किये गये कर्मका फल है। (इस रहस्यको जाननेवाले मानव) अपने पूर्वकर्मसे उत्पन्न दुर्गम आपत्तिको प्राप्त करके जलते नहीं तथा धर्मकी निन्दा भी नहीं करते।

कर्मका फल प्रायः दूसरे जन्ममें होता है, ऐसा जो ऊपर भविष्यपुराणके श्लोकमें कहा गया है, यह नियम अति उग्र पाप-पुण्यरूप कर्मोंको छोड़कर ही है, ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि अति उग्र पाप-पुण्यरूप कर्मोंका फल इसी जन्ममें भोगा जाता है।

अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते।
अत्युत्कटैरिहस्थैस्तु पुण्यपापैः शरीरभृत्।
प्रारब्धकर्मं विच्छिद्य भुङ्क्ते स तत्फलं बुधः॥

ऊपर लिखे महाभारत तथा नारदपुराणके वचनोंका तात्पर्य भी 'पूर्वजन्ममें किये गये कर्मोंके फलकी प्राप्तिमें मानव ईश्वरके पराधीन है' यह बात बतानेमें ही है, क्योंकि वहीं दोनों ग्रन्थोंमें उन श्लोकोंके पहले श्लोकमें अति स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि मानव यदि क्रियाके फलकी प्राप्तिमें पराधीन न होता तो जो चाहता उसे प्राप्त कर लेता—

योऽयमिच्छेद् यथाकामं कामानां तदवाप्नुयात्।
यदि स्यान्न पराधीनं पुरुषस्य क्रियाफलम्॥

(महाभा० वनप० २०९। ८, शान्तिप० ३३१। ९, नारदपु० अ० ६१)

यदि शुभ कर्मसे कष्टोंका तत्काल नाश न देखनेके कारण उसमें संदेह किया जाय तो व्यापार, खेती, चिकित्सा आदि लौकिक कर्म भी संदेहास्पद होनेके कारण छोड़ दिये जायँ या न किये जायँ, किंतु वे किये ही जाते हैं। इसी प्रकार शुभकर्म या धर्म भी तत्काल फलप्रद न दीखनेपर भी अवश्य अनुष्ठेय हैं। उनका परित्याग नहीं करना चाहिये। उनका श्रेष्ठ फल इस जन्ममें या अगले जन्ममें अवश्य मिलेगा। अतः शुद्ध विचार एवं उज्ज्वल दिव्य ज्ञानका आश्रय लेकर तीव्र एवं अव्यवहित साधनाद्वारा कैवल्य या भगवत्प्राप्तिका अथक प्रयत्न करते जाना चाहिये। तीव्र संवेग उत्पन्न हो जानेपर कृपालु भगवान् सभी विघ्न-बाधाओंको दूरकर अपने-आपको सच्चे प्रेमी साधकको अवश्य प्राप्त करा देते हैं। स्वयं भगवान्‌का वचन है—

'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥'

इस प्रकार सम्यक् बोधसे साधक तथा विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप भगवान्‌में और दृश्यजगत्‌में कोई अन्तर नहीं रह जाता। दृश्य-प्रपञ्च समाप्त होनेपर दुष्प्रारब्ध भी नष्ट हो जाता है। **'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥'**

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें कर्मकी व्यापकता

कायेन मनसा वाचा यत्किञ्चित्कुरुते नरः।
शुभाशुभं च तत्सर्वं कर्म वै गीतया मतम्॥

परमात्मा और परमात्माकी शक्ति प्रकृति—ये दो हैं। इनमें परमात्मा तो हरदम एकरूप, एकरस रहते हैं, उनमें कभी परिवर्तन नहीं होता और प्रकृति हरदम परिवर्तनशील है, वह कभी परिवर्तनरहित नहीं होती *। इस प्रकृतिमें जो कुछ परिवर्तन होता है, वह सब 'क्रिया' है और क्रियाओंका पुञ्ज 'पदार्थ' है। प्रकृतिमें स्वाभाविक होनेवाली क्रियाओंके साथ जब अहंकार लग जाता है, तब उसकी 'कर्म' संज्ञा हो जाती है। वे ही कर्म (चाहे कायिक हों, चाहे वाचिक हों, चाहे मानसिक हों) इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित फल देनेवाले होते हैं (१८। १२)। उन कर्मोंको करनेके जो भाव हैं, वे कर्तामें ही रहते हैं। ये 'कर्म' और 'भाव' शुभ तथा अशुभ—दोनों तरहके होते हैं। 'शुभ' कर्म और भाव मुक्ति देनेवाले तथा 'अशुभ' कर्म और भाव पतन करनेवाले होते हैं। इन्हीं कर्म और भावको भगवान्ने चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें 'कर्म' और 'गुण' नामसे कहा है और इन्हींसे चारों वर्णोंकी रचना करनेकी बात कही है। तात्पर्य है कि 'कर्म' नाम शुभ-अशुभ क्रियाओंका है और 'गुण' नाम शुभ-अशुभ भावोंका है। इन क्रियाओं और भावोंको लेकर ही चारों वर्णोंकी रचना हुई है।

भगवान्ने चारों वर्णोंके जो लक्षण बताये हैं, उन सबको 'स्वभावज कर्म' नामसे कहा है। उनमें ब्राह्मणके शम, दम, तप, शौच आदि नौ गुणोंको और क्षत्रियके शौर्य, तेज, धृति आदि सात गुणोंको भी कर्म कहा है तथा वैश्यके कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य—इन तीन कर्मोंके और शूद्रके परिचर्यात्मक कर्मको भी कर्म कहा है। वैश्य और शूद्रके कर्मोंको तो कर्म कहना ठीक है; क्योंकि वे कर्म ही हैं, पर भगवान्ने ब्राह्मण और क्षत्रियके गुणोंको भी कर्म कहा है! गुणोंको भी कर्म कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखते हुए मनुष्यके द्वारा जो कुछ भी होता है, वह स कर्म ही है अर्थात् प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे भाव, क्रिय आदि भी कर्म ही कहे जाते हैं, जो कि जन्म और अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियोंको देनेवाले हो जाते हैं। परंतु जो मनुष प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्मतत्त्वको प्राप्त जाता है, उसके शरीरसे कर्म होते हुए भी वे कर्म 'अकर्म कहलाते हैं। अपने स्वरूपमें स्थित रहना 'अकर्म' है औ अकर्ममें स्थित रहते हुए शरीर, मन, बुद्धि आदिके द्वारा कर्म होते हैं, वे सभी कर्म 'अकर्म' होते हैं। इसका वर्ण भगवान्ने चौथे अध्यायके अठारहवें श्लोकमें किया है कि कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखता है, वह योगी है बुद्धिमान् है और उसके लिये कुछ भी करना बाकी नहीं है।

इस विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखते हुए मनुष्य जो कुछ भी करता है, वह सब कर्म ही है वह स्थूल शरीरसे सम्बन्ध रखते हुए स्थूल क्रियाएँ करता है सूक्ष्मशरीरसे सम्बन्ध रखते हुए चिन्तन, ध्यान आदि करता और कारणशरीरसे सम्बन्ध रखते हुए समाधि लगाता है गीताके अनुसार ये सभी कर्म हैं; क्योंकि इनमें प्रकृतिके सा सम्बन्ध है। भगवान्ने अठारहवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोक कहा है कि मनुष्य अपने शरीर, वाणी और मनसे जो कुछ करता है, वह सब कर्म ही है। चौथे अध्यायके चौबीसवें तीसवें श्लोकतक जितने यज्ञोंका वर्णन हुआ है, उन सबक भगवान्ने कर्मजन्य बताया है—**'कर्मजान्विद्धि तान्सर्वा** (४। ३२)।

कर्मोंसे छूटनेके लिये फलासक्तिका त्याग करके केवल य अर्थात् कर्तव्य-परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही कर्म किये जा तो वह 'कर्मयोग' हो जाता है (३। ९; १८। ९); विवेकके द्वा कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद किया जाय तो वह 'ज्ञानयोग' हो जाता (१३। २३, ३४) और कर्मोंको भगवान्के अर्पण किया जाय वह 'भक्तियोग' हो जाता है (९। २७; १२। ६)।

---

* यद्यपि प्रकृति सर्ग और महासर्गकी अवस्थामें सक्रिय तथा प्रलय और महाप्रलयकी अवस्थामें अक्रिय कही जाती है, तथापि अक्रिय-अवस्था सक्रिय-अवस्थाकी अपेक्षा कही जाती है। वास्तवमें प्रकृति कभी अक्रिय नहीं रहती। इसमें सूक्ष्म परिवर्तन होता ही रहता है, तभी तो प्रल और महाप्रलयके बाद सर्ग और महासर्ग होता है। जब प्रलय और महाप्रलय होता है, तब आधे प्रलय और महाप्रलयतक प्रकृति प्रलय और महाप्रलय तरफ जाती है और आधे प्रलय और महाप्रलयके बाद प्रकृति सर्ग और महासर्गकी तरफ जाती है।

साधनोपयोगी पत्र

[पिछले दिनों इस स्तम्भमें परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार तथा कुछ अन्य संत महात्माओंद्वारा पूर्वकालमें प्रेषित साधन-सम्बन्धी पत्र प्रकाशित किये जाते रहे हैं, इन पत्रों (पत्रोत्तरों)के द्वारा साधन-सम्बन्धी जिज्ञासाके रूपमें जीवनके सामान्य प्रश्नोंका समाधान स्वतः प्राप्त होता रहता है। इसी क्रममें एक महात्माके पत्र जो बँगलासे हिन्दीमें अनूदित किये गये हैं, उनके कुछ अंश प्रायः यथावत् ही यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इनमें कदाचित् भाषाकी त्रुटि होनेपर भी विषय-वस्तुकी गहराई विशेष रूपसे प्राप्त होती है। इनका मनन करनेसे साधकोंको अवश्यमेव लाभ प्राप्त हो सकेगा।—सम्पादक]

निरापत्सु !

सभी वासनाओं, कामनाओंका भगवान्के पादपद्मोंमें विसर्जन करना होगा—ऐसा पिछले पत्रमें लिखा गया है, किंतु आशापाशशतैर्बद्धः क्षुद्र मानव किस तरह इसमें समर्थ होगा ? वह तो त्रिगुणमयी प्रकृतिके कारावासमें आ ही चुका है। उसकी इन्द्रियाँ तो आपातमनोरम विषय-जालमें ही जकड़ी जा चुकी हैं। वह तो देहको ही आत्मा मानकर शारीरिक सुखके साधनमें ही सदा व्यस्त है। वह किसीको अपना, किसीको पराया समझकर आत्म-रक्षा और परदमनमें ही सदा लगा हुआ है तथा नाना प्रकारकी आशङ्कासे सदा भीत और चकित रहता है। जो सज्जन पुरुष हैं, वे भी तो पर-दुःख-मोचनकी इच्छामें ही कातर रहते हैं। अब उपाय क्या ?

निस्त्रैगुण्य होनेका उपाय—शास्त्र कहते हैं, जैसे काँटेसे काँटेको निकालना पड़ता है, वैसे ही सत्त्वगुणका आश्रय लेकर रज और तमको पराभूत करना होता है, बादमें सत्त्वगुणका भी परित्याग करनेपर गुणातीत आनन्दमय बना जा सकता है। पहले सात्त्विक विभीषणकी सहायतासे कुम्भकर्ण-रूपी तम और रावणरूपी रजोगुणको परास्त करके, पीछे लंकाके विभीषणको फिर लंका भेज देना होता है। भगवान्ने कहा है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

कई बार बाहरके आवरणको देखकर तामसको सात्त्विक अथवा गुणातीत समझकर भ्रम हो सकता है। इसीलिये तीनों गुणोंकी प्रकृतिको अच्छी तरह समझना होगा। गीताने इस विषयका बहुत स्पष्टरूपसे निर्देश किया है।

वासनाओंको धीरे-धीरे सीढ़ी-दर-सीढ़ी भगवन्मुखी करना होता है। ज्ञान, भक्ति और भगवद्दर्शन—इन सबहीकी कामना करनी पड़ेगी एवं इसके निमित्त इसके साथ-साथ ही अन्यान्य इच्छाएँ दमन करनी होंगी। जितना ही आकर्षण भगवान्की ओर बढ़ेगा, उतनी ही अन्यान्य प्रवृत्तियाँ आप ही संयत होती रहेंगी। इसके बाद जो कुछ प्रयोजन होगा उसे भगवान् स्वयं ही कर लेंगे।

भगवद्विषयक कामनामें दोष नहीं है। ऐसी कामना तुम सदा ही कर सकते हो।

जो समझता है—'हम सब बाजीगरकी पुतलियाँ हैं, जैसा नचाता है वैसा नाचते हैं। जो चिन्ता करता है—'वही सकल यन्त्रोंके यन्त्री हैं', जो सोचता है— 'तुम साँप बनकर काटते हो, गारुड़ी बनकर झाड़ते हो', जो देखता है—'इतनी दया और परोपकारकी चेष्टा होते हुए भी पृथिवीकी दीनता, दुर्दशा जैसी-की-तैसी ही है, दुःखको एकबारगी दूर कर देना सर्वथा असम्भव है, उसका मन फिर आगेकी वासना-कामनासे आन्दोलित नहीं होता। जो यह समझना आरम्भ करता है—जब ही मनमें तरङ्गें उठती हैं, तभी भगवान्‌से दूर हट जाता हूँ, ऐसे मनुष्यका मन क्या फिर कर्मोंमें आसक्त होता है ?

मनुष्यकी प्रकृति क्या है ? वह सुख चाहता है, दुःख नहीं चाहता। जो भी सुख मिले, उसे पकड़कर रहूँगा, अथवा उसके साथ जो अविच्छेद्यभावसे मिला हुआ दुःख है उसे नहीं लूँगा। ऐसा क्योंकर हो सकता है ? या दोनोंको ही छोड़ो, नहीं तो दोनों ही लेने पड़ेंगे। इन सब बातोंका विचार करना चाहिये।

जिस समय पूर्व संस्कारोंके कारण कर्मकी प्रवृत्ति मनमें जागती है, तो जिस साधकका मन भगवान्को समर्पित हो चुका है, वह समझता है—'जब सब कुछ भगवान्‌में समर्पण कर दिया गया है तो फिर मैं कर्ता कैसा ? किसके लिये कौन क्या कर्म करेगा ?'

यदि संसारके एक छोटे-से सुखको त्यागनेसे अनन्त सुखकी प्राप्ति हो तो इसमें हानि क्या ?

आत्म-समर्पण—मनुष्य जितना ही विचार करे, इस

देहमें आत्मबुद्धि रखनेके कारण कामना और चञ्चलताको जड़से उखाड़ कर नहीं फेंक सकता—सर्वथा निर्मूल नहीं कर सकता। किंतु उसके लिये आशङ्का न करनी होगी। साधन-पथपर अग्रसर मनुष्य ज्यों ही शक्तिकी अल्पता अनुभव करता है, चढ़ाईपर चढ़ते हुए हाँफने लग जाता है, त्यों ही दुर्बलके बल दीनबन्धु—'जगद्धित कृष्ण' निर्जीव देहमें संजीवनी-सुधा संचरित कर देते हैं और श्रान्त पथिकको स्वयं ही उठाकर ले जाते हैं। इसीलिये तो वे मङ्गलमय, प्रेममय पतितपावन कहलाते हैं। नहीं तो माया-जालमें फँसे हुए दुर्बल मनुष्यके उपायकी सत्ता ही क्या? नहीं तो किस विश्वाससे, किस आशापर मनुष्य उनपर अवलम्बित रह सकता है? '**न मे भक्तः प्रणश्यति**'—यह आश्वास-युक्त वाणी कैसी प्रेम-करुणा घोषित कर रही है। गीताके एक भी वाक्यपर अविश्वास नहीं करना। भगवान्ने योगयुक्त समाधिस्थ होकर गीता सुनायी थी—यह बात महाभारतमें लिखी गयी है।

कोई भी किसी प्रकारका क्यों न हो, पापी-तापी, साधु-असाधु, प्रत्येकका ही कोई-न-कोई शुभ मुहूर्त्त आता है, उस समय वह प्रशान्त-चित्त रहता है। ऐसे समयमें यदि यथासाध्य सरलभावसे कहे—'प्रभो! मेरा समस्त भार ग्रहण करो, मैं चल नहीं सकता, तुम अपनी गोदमें उठाकर ले जाओ। मैं आशा-पाशसे बँधा हुआ हूँ, मोह-मदिरासे अचेतन हूँ, अपना हित-अहित, भला-बुरा समझनेमें असमर्थ हूँ—तुम मेरा मङ्गल करो। मैं साधन नहीं जानता, कृपा करके तुम मुझे दर्शन दो।' ऐसा होनेसे वह बात भगवान्के कानोंमें अवश्य पहुँचेगी, धीरे-धीरे ऐसे शुभ मुहूर्त्तोंकी संख्या बढ़ती जायगी एवं अनन्त करुणाके विशाल कपाट उसके निमित्त चिरकालके लिये खुल जायँगे।

पहले-पहल भाँति-भाँतिकी चञ्चलता होती है। एक बार आत्म-समर्पण किया, उसके उपरान्त क्षणभरमें ही 'अहं' आकर मेरे मनको मेरे अज्ञातसारसे कहाँ ले गया। ज्यों ही पता लगा, त्यों ही फिरसे आत्म-समर्पणका संकल्प करना चाहिये। इस प्रकार करते-करते ही अहङ्कार और चाञ्चल्य दूर हो जाता है।

इसीलिये कहता हूँ कि किसीको भी निराश होनेका कारण नहीं है। जिस अवस्थामें भी होओ, जितना अधिक समय और जितनी अधिक बार सम्भव हो, उनकी ओर देखते रहो। वे निश्चय ही गोदमें उठा लेंगे। जो कुछ हो, सब घर बैठे पाओगे आवश्यकता पड़नेपर भगवान् स्वयं ही भक्तियोग, राजयोग ज्ञानयोग—और कितना ही कुछ सिखा दिया करते है

स्मरण रखना, उनमें एक दुर्बलता है अश्रु-जल—सर हृदयका व्याकुल क्रन्दन उनसे बिलकुल नहीं सहा जाता तुमसे ध्यान नहीं हो रहा है न? अच्छा एक बार रोओ तो सही, देखोगे—दूसरे ही क्षणमें ध्यानमें सजीव मू आ गयी है।

एक बात और है। जितना कुछ काम हो रहा है, जित घटनाएँ घट रही हैं, भगवान् ही इन सबके एकमात्र स्वाधी कारण हैं। 'यह घटना हुई है अतएव यह ही होगी' यह ठी नहीं। इच्छामयकी जो इच्छा है, वही संघटित हो रही है औ होगी। उनके राज्यमें असम्भव कुछ भी नहीं। तुम्हारी छो लड़की रपटीली जगहपर दौड़ रही है, इस कारण फिसलक गिर जायगी यह कुछ जरूरी नहीं। हाँ, बहुतेरे ही उ अवस्थामें फिसल जाते हैं, यह सत्य है; किंतु प्रत्येकको ह ऐसी अवस्थामें चोट खानी होगी यह ठीक नहीं है इच्छामयकी इच्छासे फिसलकर गिर भी सकता है औ (फिर) उनकी इच्छा होनेसे ऐसे स्थानपर दौड़नेपर भी व गिरेगा नहीं। उनकी इच्छासे अनेक मनुष्य इसी तरह दौड़ने फिसल जाते हैं और यदि वह इच्छा करें तो सभी गिर जायँ गिरना और न गिरना फिसलने या दौड़नेपर या और कि बातपर नहीं, सारे कर्मोंके कर्ता भगवान्की इच्छापर निर्भर है विश्व-साम्राज्यके जो कानून बनानेवाले हैं, वही सर्वशक्तिमा इच्छा करें तो किसी समय किसी कानूनको तोड़ भी सकते है यह सत्य है कि उनकी इच्छासे जवा-फूलके पौधेमें साधारणत लाल फूल ही निकलता है, किंतु उनकी इच्छा हो तो क उसमें श्वेत फूल भी निकल सकता है। इसी बातकी चिन्ता क एवं समग्र वासना और चाञ्चल्यको दूर करके सर्वदा उन्हीं अवलम्बन करनेमें यत्नशील रहो।

भगवान्का मङ्गलमयत्व—अवलम्बनकी भित्ति क है, जानते हो? 'वे मङ्गलमय प्रेममय हैं'—यही विश्वास इस विश्वासको चिन्ता और विचारके द्वारा दृढ़ करना होता है 'वे सर्वदा सबका मङ्गल ही कर रहे हैं, हम सब जिस अज्ञान-वश अमङ्गल समझते हैं, वह भी वास्तवमें मङ्गल ह

है, इस सत्यका विश्वास और उपलब्धि करनी होगी। नहीं तो कई बार चञ्चलता आ जायगी। किसी एकने किसी विशेष प्रकारके साधनद्वारा अच्छी उन्नति कर ली, उसी समय तुम्हारे मनमें आया 'मैं मुँह जोये क्यों बैठा हूँ? मुझे भी ऐसा ही करनेसे शीघ्र सिद्धि मिल सकती है।' किंतु उसी मार्गका अवलम्बन करनेसे तुम्हें अधिकतर समय नहीं लगेगा, या किसी प्रकारकी असुविधा न होगी, इसका प्रमाण क्या है? और तुम कौनसे शक्तिमान् हो जो अपने बलसे सिद्धि-लाभ करनेकी स्पर्धा करो? फलतः 'मैं आप कुछ कर सकता हूँ'—यह विश्वास जबतक रहता है, तबतक ठीक-ठीक निर्भरता नहीं आती।

अबोध मानव नहीं समझता कि जिसे जैसी ओषधिका प्रयोजन है, वैद्यराज उसे वही देते हैं। माँ एक लड़केको दूध-भात और एकको माँड़ देती है और एकको कुछ भी नहीं देती। यह अलग-अलग व्यवस्था बच्चेके मङ्गलके लिये ही है। यह माँके प्रेमका ही परिचय है। जहाँ प्रेम नहीं, वहीं पेटेंट ओषधिका उपचार होता है, सबके लिये एक ही-जैसी व्यवस्था होती है। प्रेमके राज्यमें ही विभिन्न अवस्थामें विभिन्न व्यवस्था होती है।

तुम कह सकते हो 'यदि वह मङ्गलमय हों, तो जगत्में इतना रोग-शोक, दुःख-दैन्य, जरा-मृत्यु कैसे? इसके उत्तरमें यह कहना ही हमारी समझमें यथेष्ट होगा कि तुम आत्मा हो, शरीर नहीं हो। आत्माके विकासके लिये ही शरीर है। आत्माकी उन्नतिके लिये भगवान् शरीरको कभी सुखमें, कभी दुःखमें डालते हैं और फिर वर्तमान शरीरके द्वारा जितना कार्य होना सम्भव है, उतना पूर्ण होते ही अधिकतर उन्नतिके लिये, उत्कृष्टतर शरीर-लाभके निमित्त, वह पुरातन जीर्ण शरीरका त्याग करा दिया करते हैं। विद्यार्थीको जब पाठशालामें बेंत लगते हैं, रोगीके फोड़ेमें जब अस्त्र-प्रयोग किया जाता है, तो शिक्षक और चिकित्सकको क्या कोई अमङ्गलकर समझता है?

गिरना कष्टकर है तो सही, किंतु गिर-गिरकर ही बच्चा खड़ा होना सीखता है। एक बार आगमें उँगली जलनेसे ही शिशु सतर्क होता है। प्रत्युत केवल शुद्ध उपदेशसे ही लोग किसी बातमें तत्पर नहीं होते।

रोगका भय, समाजका भय, कानूनका भय यदि न होता तो क्या साधारण लोग संयमी होते? अपमान एवं लाञ्छना, अनुताप एवं विवेकका डंक कितने लोगोंको उन्नत कर रहा है।

दूसरी ओर फिर याद करो—कर्तव्य-परायण भीमसेनने जिस समय भगवान्का आदेश होते हुए भी अस्त्र-त्याग नहीं किया, उस समय वैष्णवास्त्रसे रक्षा करनेके लिये भगवान्हीने उन्हें ढाँक लिया।

पत्रमें और कितना लिखूँ? साधन-पथपर जितना ही आगे बढ़ोगे, भगवान्का मङ्गलमयत्व तुम्हारे निकट उतना ही अधिकतर परिस्फुटित होगा। वर्तमानमें विचार करके कुछ-कुछ समझ सकोगे और बाकी जो रहेगा, उसे विश्वास कर लेना होगा। इस बातको सदैव स्मरण रखनेकी चेष्टा करना कि जैसे प्रत्येक जीवके पक्षमें, वैसे ही समाज एवं जगत्के लिये भी भगवान् सदा ही प्रेममय एवं मङ्गलमय हैं।

सूर्यका तेज सर्वत्र ही समान भावसे पड़ता है। वहाँ छोटे-बड़े, ऊँच-नीचका एक ही-जैसा भाव है। भक्तके प्रति अधिक प्रेम, अभक्तके प्रति घृणा या अल्प प्रेम यह भगवान्के राज्यमें नहीं है। विश्व-जननीके निकट सारी संतान एक-जैसी ही प्यारी है। वह सबको ही भिन्न-भिन्न पथसे एक ही स्थानमें ले जाती है। शिवजी महाराज प्रत्येकको ही शिवत्व दान करते हैं। वे समदर्शी हैं। क्या बड़ी नदी और छोटी नदीमें, समुद्रमें गिरनेके पश्चात् भी कोई भेद रह जाता है? दोनों ही समुद्र हो जाती हैं। यमुनाका पवित्र सलिल और नालीका दुर्गन्धमय स्थिर जल, गङ्गाजीमें गिरते ही दोनोंका ही भेद मिट जाता है, दोनों ही तब गङ्गारूपमें जगत्पावनी शक्तिको प्राप्त करती हैं। इसलिये भय न करो, संदेह न करो, अविश्वासी न बनो। भयरहित प्रशान्तचित्तसे, बिना प्रत्याशाके प्रेमसे भगवान्में आत्म-निवेदन करो, सर्वतोभावसे उनका आश्रय ग्रहण करो, उनमें कूद पड़ो, अमृतकुण्डमें डूब रहो। चिर अमरत्वका यही सनातन पथ है।

[वेदवाणी]

कल्याणकारी कर्म करनेवालेकी न इस लोकमें दुर्गति होती है और न परलोकमें।—श्रीमद्भगवद्गीता

कहानी—

मानवका दुर्भाग्य

वैदिक कालकी बात है, एक जन-राज्यमें महाराज कमलराज शासन करते थे। वे बड़े वीर थे। शत्रुओंका कभी साहस नहीं हुआ कि उनके राज्यपर आक्रमण करें।

प्रजा उनसे बड़ा प्रेम करती थी। महाराज अपने जन-राज्यका प्रबन्ध जन-समितिके द्वारा चलाते थे। उनका न्याय युक्तिसंगत होता था। वे धर्मात्मा थे, परंतु उनमें एक यह कमी थी कि वे बड़े हठी थे। हठ करनेपर वे किसी भी बातको नहीं मानते थे।

एक बार महाराज कमलराज शिकार खेलने गये। उनके कुछ सिपाही भी उनके साथ गये। प्रातःकाल ही जंगलमें एक ओर घेरा डालनेका आदेश हुआ। जब घेरा पड़ गया, तब राजाने घोड़ेपर सवार होकर जंगलमें प्रवेश किया, घोड़ा तेजीसे छोड़ दिया गया। थोड़ी दूर चलनेपर एक भारी भरकम देहका हिरन दिखायी दिया। राजाने घोड़ा उसीकी ओर घुमा दिया।

निरपराध हिरन अपने प्राण बचानेके लिये घने जंगलकी ओर जोरोंसे भागने लगा। महाराज कमलराजका घोड़ा भी उसके पीछे हवा-से बातें करने लगा। हिरन दौड़ता-दौड़ता बहुत दूर निकल गया। घोड़ेको बड़े वेगसे दौड़ानेपर भी राजा हिरनसे बहुत पीछे रह गये। बहुत थक जानेपर एक मोड़पर पहुँचकर हिरनने धोखा देकर बच जानेकी अन्तिम चेष्टा की और वह सफल हो गया।

घेरा डालनेवाले सैनिक दोपहरी होनेतक महाराजकी बाट देखते रहे। वे सोचते रहे कि हिरनको मारकर महाराज अब आते ही होंगे। पर जब वे नहीं आये, तब अन्तमें उन्होंने महाराजको खोजना आरम्भ किया। जंगलका कोना-कोना छान डाला गया, किंतु कुछ भी पता न चला। दूसरे जंगलमें ढूँढ़नेका प्रयत्न किया गया। पर उस बियावान जंगलका कोई ओर-छोर नहीं था, न कहीं महाराजका घोड़ा ही मिला, न महाराज ही मिले। सब सैनिक हताश तथा उदास होकर राजधानी लौट आये। राज्यभरमें कोलाहल मच गया, आखिर महाराज गये तो कहाँ गये! तीन दिनोंके लंबे समयतक प्रतीक्षा करने और अथक प्रयत्न करनेपर भी कुछ परिणाम न निकला। सेनापति महोदयने जो दूसरे सैनिक भेजे थे, वे भी तीन दिनके बाद निराश होकर लौट आये। मन्त्री तथा सेनाप
महारानी तथा रनिवासकी अन्य महिलाओंको आश्वासन
कि महाराज स्वयं आ जायँगे, वे शायद हमारी परीक्षा ले रहे
आखिर शान्तिके सिवा और चारा ही क्या था।

हिरन तो बड़ी कठिनतासे किसी तरह प्राण बचाकर
वृक्षोंकी छायामें विलीन हो गया, पर महाराज घोड़ेको
उदास—निराश हुए निरुद्देश्य वनमें भटकने लगे।

धूप बड़ी तेज थी, थकावटके मारे शरीर चूर-चूर हो
था और बड़े जोरसे प्यास लग रही थी।

वनमें कहीं पानीका नामोनिशान भी मालूम नहीं
चलते-चलते कुछ दूरपर एक सिंह दिखायी दिया, अब
श्रीकमलराजके प्राण सूख गये। वे घोड़ेसे उतर
धनुष-बाण पास होनेपर भी उनमें भूख-प्यासकी व्याकुल
यह साहस नहीं था कि वे वनराजका सामना करते।

घोड़ेको छोड़ महाराज भागने लगे, सनसनाती हवा
एक गम्भीर आवाज आयी—'अरे ओ मूढ़ हिंसक प्रा
हत्यारे! तू अपनी शौक पूरी करने और मारकर खा जा
स्वार्थसे एक निरीह भोले-भाले निरपराध मृगको मौतके
उतारना चाहता था। इससे पहले न जाने कितने ऐसे निरप
जीवोंके प्राण तू इसी तरह निर्दयतासे ले चुका है।
सावधान हो जा! तुझे अपनी घोर हिंसाका फल
मिलनेवाला ही है। इतना अत्याचार करके भी तू न्यायी
धर्मात्मा कहलाता है? धिक्कार है तुझे। अरे बहरे!
खोलकर सुन ले, घोड़ेको सिंहके सामने छोड़कर भागनेसे
तेरे प्राण नहीं बच सकते।'

महाराजके तो होश-हवाश हवा हो गये और सिंह गु
हुआ उनके पीछे हो लिया। घोड़ेने प्रयत्न किया सिं
रोककर उससे युद्ध करके मालिककी जान बचानेका,
सिंह उसके मार्गसे पहले ही मुड़ गया।

महाराजका घोड़ा भटकता, भूलता, हिनहिनाता, भू
प्यासा अपने मालिककी खोज करता रहा, पर जब मालि
मिले, तब वह कमजोर, उद्विग्न, निराश-मनसे
संध्या-समय आकर राजमहलमें पहुँच गया। घोड़ेको

आते देख लोगोंकी बची-खुची आशा भी मिट्टीमें मिल गयी। घोड़ेने अपने हाव-भावसे उन्हें आश्वासन दिया।

महाराज अब एक ऐसे विशाल वृक्षपर थे, जो दुनियाभरमें शायद सबसे मोटा था। राजाने ऊपर-नीचे चारों ओर देखा तो उनकी घबराहट और भी बढ़ गयी। राजाको दीखा—उस वृक्षके चारों ओर एक बड़ा भारी सूखा कुआँ है और एक विकराल काल-सा भूखा अजगर उस कुएँमें मुँह फैलाये पड़ा है। राजाने सोचा—'मैं वृक्षपर कैसे चढ़ गया ! गिर गया होता तो यह भयानक अजगर सदाके लिये मुझे अपने जबड़ोंमें समा लेता। राजाका ध्यान उस टहनीके मूलकी ओर आकर्षित हो गया, देखा तो दो चूहे कुतर-कुतरकर उस टहनीकी जड़को बड़ी जल्दीसे काट रहे थे। एक चूहा काला था और दूसरा सफेद। अब राजाने सोचा कि यह टहनी यदि टूट गयी तो दूसरे ही क्षणमें मैं अजगरके मुखमें होऊँगा। हे भगवान् ! उधर सिंह मैदानमें मेरे उतरनेकी प्रतीक्षा कर रहा है, इधर अजगर और एक तीसरी मुसीबत ये चूहे। अब प्राण कैसे बचेंगे ?'

अचानक ऊपरसे उन्हें शहदकी बूँद टपकती दिखायी दी। वे उस टहनीपर कुछ आगे बढ़े और शहदकी बूँदको मुखमें लेकर दूसरी बूँदकी बाट देखने लगे।

इस प्रकार शहदकी बूँदोंके लोभमें अब वे ऊपरकी आस लगाये बैठे रहे। वे भूल गये कि तीन रूपोंमें उनकी मौत प्रतीक्षा कर रही है।

उनके अन्तःकरणका ज्ञान क्षणभरके लिये जागा, उन्होंने सहायताके लिये मन-ही-मन किसी अदृश्य शक्तिका चिन्तन किया, तत्काल सामने उस विस्तृत मैदानकी ओर देखा तो उन्हें पीताम्बरधारी शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त, दिव्यरत्न मुकुटवाले एक दिव्य पुरुष दिखलायी दिये।

उन दिव्य पुरुषने कहा—'महाराज कमलराज ! देखिये, तीन रूपोंमें मृत्यु आपकी प्रतीक्षामें है और आप मधुके आस्वादनमें मस्त हैं, बचना चाहते हैं तो मैं आपके प्राण बचा सकता हूँ, आप छलाँग लगाकर मेरे पास आ जाइये। यह वनराज, ये चूहे और यह नीचे पड़ा अजगर आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। मैं आपको बचा लूँगा। आप कूद जाइये मेरी ओर।' अपनी अनन्त रहस्यपूर्ण मधुर वाणीमें दिव्य पुरुषने राजासे फिर कहा—'यदि भलाई चाहते हों तो तुरंत कूद आइये।' कमलराजने कहा—'भगवन् ! मैं आनेके लिये तैयार हूँ, पर इस आखिरी बूँदको चख लूँ, जरा ठहर जाइये।' पर दुःख है कि एकके बाद दूसरी, दूसरीके बाद तीसरी, तीसरीके बाद चौथी—बूँदोंके लोभमें ही वे पड़े रह गये और दिव्य पुरुष अन्तर्धान हो गये।

सफेद और काले चूहोंने अपना कर्तव्य पूर्ण किया। टहनी टूटी, महाराज कालके गालमें विलीन हो गये।

प्रायः मानव दूसरोंकी हत्या-हिंसाकी परवा न करता हुआ इन्द्रियतृप्ति—अपने स्वार्थसाधनमें लगा रहता है। अपनी ही स्वार्थ-तुष्टि चाहता है। दिन-रातरूपी चूहे उसके जीवनके क्षणोंको अनवरत कुतरते रहते हैं। सामने भवाटवीका मैदान है। सूखा कुआँ कालका स्थान है, अजगर काल है, सिंह मृत्युका भय है। शहदकी बूँद विषय-रस है।

कभी-कभी मनुष्य घबराकर भगवान्‌का स्मरण करता है तो उसे भगवान् कहते हैं—"मेरी शरणमें आ जाओ, मृत्युसे सदाके लिये बच जाओगे। अनन्त आत्मस्वरूपको—भगवान्‌को प्राप्त हो जाओगे।' पर विषयलोलुप मनुष्य मृत्युके मुखमें पड़ा हुआ भी भगवान्‌के शरणापन्न नहीं होना चाहता। यही मानवका महान् दुर्भाग्य है।

श्राद्धसे सबकी संतृप्ति

ब्रह्मेन्द्ररुद्रनासत्यसूर्याग्निवसुमारुतान् । विश्वेदेवानृषिगणान् वयांसि मनुजान् पशून् ॥
सरीसृपान् पितृगणान् यच्चान्यद्भूतसंज्ञकम् । श्राद्धं श्रद्धान्वितं कुर्वन् तर्पयत्यखिलं हि तत् ॥

'श्रद्धायुक्त होकर श्राद्धकर्म करनेसे केवल पितृगण ही तृप्त नहीं होते; अपितु ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, दोनों अश्विनीकुमार, सूर्य, अग्नि, अष्टवसु, वायु, विश्वेदेव, ऋषि, मनुष्य, पशु, पक्षी और सरीसृप आदि समस्त भूतप्राणी तृप्त होते हैं।'

* * *

मानवकी दानवीय क्रूरता

[आज सारे विश्वमें अपने तुच्छ स्वार्थकी पूर्तिके लिये क्रूरता और निर्दयताका नग्न-नृत्य-सा होने लगा है। अपने क्षणिक और सौन्दर्यकी रक्षाके लिये मानवने दानवको भी पराजित कर दिया है। इसकी एक झलक प्रस्तुत लेखमें प्राप्त होती है। जो दानवीय क्रूरतासे दूर रहकर अपने मानव-जीवनको सार्थक करना चाहते हैं, उन्हें सौन्दर्य-प्रसाधन एवं होटलके भोजनसे सावधान रहना चाहिये। साथ ही संसारके सभी जीवोंपर दया रखते हुए इस प्रकारकी दानवीय क्रूरताका पूर्णतया विरोध चाहिये।—सम्पादक]

आज मनुष्यकी क्रूरता, निर्ममता एवं लोलुपताकी सीमा बढ़ती जा रही है। इसे देख दानव भी लज्जित है। किसी जानवरकी जीवित अवस्थामें ही खाल उतार ली जाती है तो किसीके बच्चोंको उनके जन्मसे पूर्व मादा जानवरके पेटमें रहते हुए ही नाना प्रकारकी यातनाएँ दी जाती हैं। पशु-पक्षियोंपर हो रहे अत्याचार या क्रूर व्यवहार बढ़ते ही जा रहे हैं। अधिकांशतः ये क्रूर व्यवहार वन्य जीवोंकी खाल, सींग आदि प्राप्त करने एवं उनके व्यापारिक उपयोगके लिये किये जाते हैं। प्रसाधन-सामग्री बनाने, इसके परीक्षण करने या फैशनकी होड़के कारण भी जीव-हत्या एवं जीवपर क्रूरताको विगत कुछ दशकोंमें अत्यधिक बढ़ावा मिला है। यह शौक भी अद्भुत है, जिसके लिये असंख्य पशु-पक्षियोंको मौतके घाट उतार दिया जाता है। जैसे—

चीज (Cheese)······**छिः**······**छिः** ····

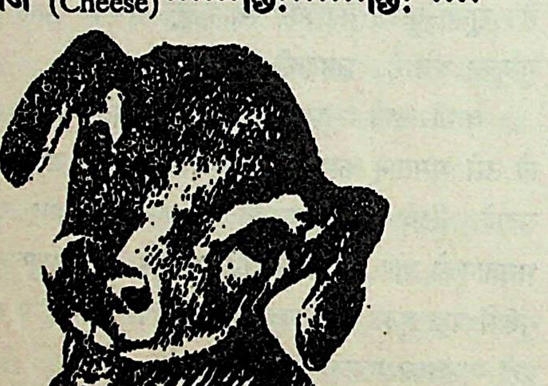

गाय दूध देती है। गायके बछड़ा होता है। बछड़ेके पेटमें 'रैनेट' नामक पदार्थ पाया जाता है। रेनेट प्राप्त करनेके लिये बछड़ेको मार दिया जाता है। 'चीज' बनाते समय इस उपयोग किया जाता है। ऐसा 'चीज' अधिक जायकेदार जाता है। यद्यपि 'माइकोबायल रेनेट' भी चीजके काममें जा सकता है, जो दही एवं वनस्पतिसे बनता है, परंतु य स्वादकी बात है, जिसके लिये नवजात बछड़ोंका वध जाता है।

यह वध 'रैनेट'के वास्ते !

आपकी जबानके जायकेके लिये !!

बछड़ेका जीवन और आजके दानवरूपी मान जायका !!! (यह कैसा राक्षसी व्यवहार है ! छिः छिः !)

शुतुरमुर्गका थैला

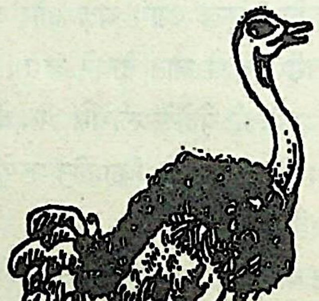

हर छठे माह शुतुरमुर्गके पंख नोचे जाते हैं, लोगोंको इस विशालतम पक्षीके पंखोंसे प्यार है। पंख लिये जानेके बाद इसकी खाल नोची जाती है। खरोंचने नोंचनेका यह क्रम तबतक चलता है, जबतक कि शुतुर प्राण-पखेरू उड़ न जायँ। खालका थैला बन जाता है पंख आपके टोपमें खोंस लिये जाते हैं।

कैसी है यह शुतुरमुर्गी चाल समाजकी ?

बिज्जूका 'सेंट'

बिज्जू नामक जानवर बिल्लीसे बहुत छोटा होता है। बहुत कम लोगोंने इसे जंगलोंमें देखा होगा, चिड़ियाघरोंमें भले ही देखा हो। इस छोटे-से जानवरको बेंतोंसे पीटा जाता है, जिससे यह उद्वेलित हो जाय। उद्विग्न-अवस्थामें इसके शरीरसे वह तरल पदार्थ निकलने लगता है, जिसमेंसे सुगन्ध निचोड़ा जाता है और उसकी ग्रन्थिको चाकूसे खरोंचा जाता है।

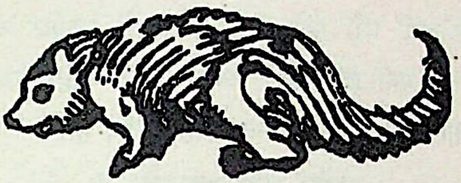

बिज्जूकी पिटाई और चाकूका वार लगातार जारी है, क्योंकि 'सेंट' बनाना है।

'सेंट' में सुगन्ध आती है।

कितने ही जानवरोंकी हत्याकी गन्ध भी आती होगी? राम! राम!! कैसा अनर्थ है!!!

बंदरकी लिपिस्टिक

दर्जनों बंदरोंको साथ बैठाकर उनके गलेमें ट्यूबके जरिये अनेक प्रकारके तरल पदार्थ पेटमें पहुँचा दिये जाते हैं। ये ऐसे पदार्थ हैं जिन्हें बंदर कभी नहीं खा सकता। जैसे 'लिपिस्टिक टेल्कम' या 'बालोंका खिजाब'। इस परीक्षणसे पता लगाया जाता है कि कितनी खुराक खा चुकनेपर बंदर मर जायँगे। ऐसा जहर पचाकर भी बच जानेवाले बंदरोंका पोस्ट मार्टम किया जाता है, महज यह पता करनेके लिये कि ये कैसे बच गये? दिनभरके इस प्रयोगके बाद सायंकालमें बंदरोंकी लाशोंको कूड़ेकी तरह फेंक दिया जाता है। अजीब तमाशा है।

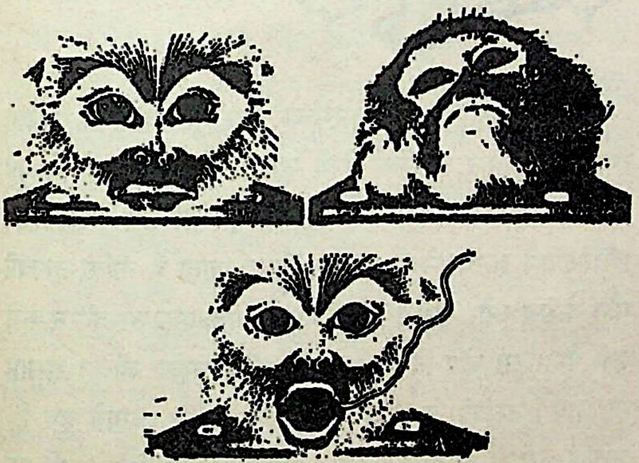

असंख्य बंदर आदमीके हाथों ऐसी यातना पाते हैं।

यह कैसा सौन्दर्य?

इसकी आँखें बड़ी-बड़ी और गोल हैं, जैसे कोई तश्तरी हो। नादान भाव इसके चेहरेसे टपकते रहते हैं, परंतु लोगोंकी क्रूर पिपासाके आगे इसका नादान जीवन कुछ नहीं है। 'स्लैंडर लोरिस' नामक यह छोटा-सा बंदर भारतमें अब बहुत कम संख्यामें रह गया है; क्योंकि इसका शिकार अत्यधिक किया जा चुका है। इसकी आँखें बाहर निकाल ली जाती हैं। इसका दिल बाहर निकाल लिया जाता है। इन दोनोंको पीसकर सौन्दर्य-प्रसाधन-सामग्री बनायी जाती है।

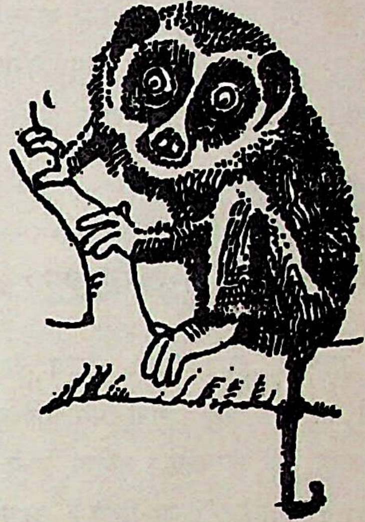

यह कैसा सौन्दर्य?

कितने ऐसे जानवरोंकी मौतसे आपका चेहरा मुस्कराता है? क्या यही मानवता है?

साँपसे प्यार

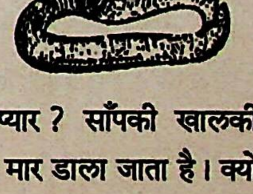

यह कैसा प्यार? साँपकी खालकी खातिर असंख्य साँपोंको पकड़कर मार डाला जाता है। क्योंकि जिंदा खालको

खींचना सरल होता है, अतः जिंदा साँपकी ही खाल उतार ली जाती है। साँपके सिरको कीलसे पेड़के तनेपर ठोंक दिया जाता है। जिंदा साँप तड़पता रहता है और चाकूकी मददसे उसकी खाल जिंदा-अवस्थामें उतरती रहती है।

काम तमाम कर चुकनेपर शिकारी थकान दूर करते हुए आनन्दकी फुँफकारी भरते हैं।

जहरीला कौन अधिक····· ?

आपकी हजामत··· ?

'गिनी पिग'-जैसे छोटे-से जानवरकी खालको खरोंचकर उसपर 'आफ्टर शेव लोशन' का लेप किया जाता है। परीक्षणके रूपमें यह पता लगाया जाता है कि यह लोशन आदमियोंके गालपर कहीं फोड़े, खाज या खुजलीका 'रिएक्शन' न कर दे। अतः 'गिनी पिग' की खाल खरोंची जाती है, एक बार नहीं बार-बार ! अनेक 'गिनी पिग' जानसे मारे जाते हैं। इस प्रकार किस लिये ? आपके लिये— 'आफ्टर शेव लोशन' के वास्ते !

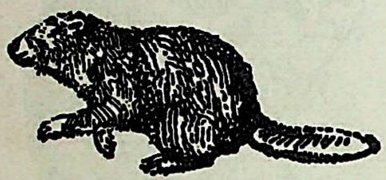

हजामत आपकी और जान किसी जानवरकी। कैसा अन्याय है ।

बेचारे हरिण !

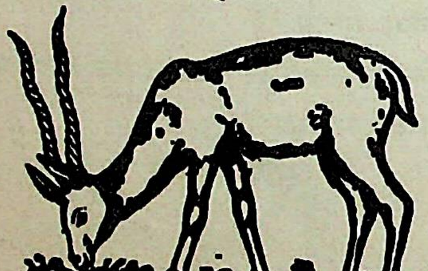

अब यह मृग—कस्तूरी-मृग ! केवल कश्मीरकी घाटियोंमें ही पाया जाता है। बहुत कम संख्यामें ये मृग शेष बचे हैं, क्योंकि कस्तूरीके लिये इन्हें पकड़ लिया जाता है। इन्हें पकड़नेके लिये ऐसे क्रूर तरीके अपनाये जाते हैं, जि कल्पना भी कठिन है। घासके अंदर कँटीले लोहेके ऐसे बिछाये जाते हैं कि बेचारा हरिण पैर रखते ही फँस जाता स्वच्छन्द वातावरणमें निर्बाध विचरण करनेवाला यह सहसा यों पकड़में आ जानेपर छटपटाता है ! लहू-लु अपने पैरको उस इस्पाती शिकंजेसे निकालनेकी बराबर करता है और सिसक-सिसककर प्राण त्याग देता है। प्रकार पकड़े गये औसतन तीन हरिणोंमेंसे दोको तो 'बेक समझकर वहीं पड़े रहने दिया जाता है, क्योंकि या तो कस्तूरी-मृग नहीं होते या वे व्यावसायिक दृष्टिसे अनुप समझे जाते हैं। उनकी जानका यही मूल्य है।

आँसू मगरमच्छके ?

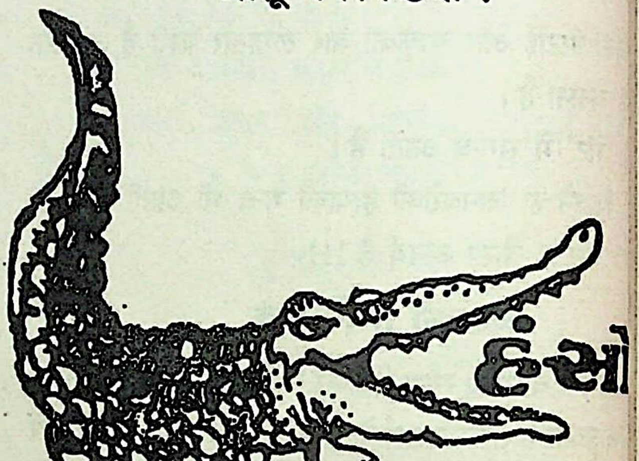

लोग कहते हैं कि मगरमच्छ सदा मुँह खोलकर हँस रहता है; लेकिन लोगोंकी हँसी ज्यादा क्रूर है। मगरमच्छ पानीसे बाहर चालाकीसे लाया जाता है और उसे जलवि परिस्थितिमें छटपटानेको मजबूर किया जाता है ताकि उस मौत करीब और करीब आती जाय। एकाएक उसकी नाक एक पैना छुरा घोंप दिया जाता है ताकि उसका जीवन सम हो जाय। उसकी खालपर बहुत लोग आँख लगाये हुए क्योंकि उसका उपयोग चमड़ेके रूपमें महिलाओंके 'पर्स' 'सूटकेस' आदि बनानेमें किया जाता है।

क्या मगरमच्छ आँसू बहाता है ?

कौन किसपर किस लिये तरस खाता है ? (क्रमशः)

* * *

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आदर्श ईमानदारी

घटना गत ३० जनवरी १९८४ की है। मैंने अपने घर छपरासे प्रातः लगभग ७ बजे आराके लिये प्रस्थान किया। मेरे पास एक हैंडबेग तथा एक बेडिंग था, जिसमें रजाई और पहननेके सूती एवं ऊनी कपड़े आदि सभी आवश्यक सामान थे। अपने घरसे रिक्शेपर सामान रखकर मैं 'आदर्श' होटल आया, जहाँसे मुझे दो प्रतिनिधियोंको साथ लेकर जाना था। उक्त होटलसे एक प्रतिनिधि कहीं चले गये थे, अतः रिक्शा छोड़कर उनकी प्रतीक्षा करनी पड़ी। लगभग ४५ मिनटके पश्चात् वे प्रतिनिधि वापस आये। तब हमने दो रिक्शे किये और उनपर सामान रखवाकर स्वयं बैठकर म्यूनिसिपल चौक पहुँचे, जहाँसे पटनाकी बसें मिलती हैं। पटनाके लिये बस लगी हुई थी, अतः शीघ्र ही सब सामान रखवाकर हम लोग बसमें सवार हो गये। पटना पहुँचनेपर वहाँसे आराके लिये दूसरी बससे जाना था, अतः उतरकर सभी सामान निकलवाया, किंतु मेरा बेडिंग गायब था। बसवालेसे कुछ कहा-सुनी भी हो गयी, उसने कहा कि आपने कोई बेडिंग रखवाया ही नहीं था। तब यही विचार आया कि बेडिंग रिक्शेपर ही छूट गया। मनमें अधिक चिन्ता थी, किंतु यही सोचकर कि जो जाना था सो गया, आगे बढ़ा जाय। निराश होकर हम सभी दूसरी बससे आरा चले गये। सामान खोनेकी मनमें अधिक चिन्ता थी, किंतु यह बात भी आती थी कि रिक्शेवाला यदि ईमानदार होगा तो होटलमें सामान जमा करा देगा।

पुनः छपरा वापस आनेपर सबसे पहले मैं 'आदर्श' होटल गया और वहाँपर पूछ-ताछ की एवं बताया कि गत सोमवारको कोई रिक्शावाला सामान तो जमा नहीं करा गया ? होटलका बैरा मुन्ना था, उसने तुरंत कहा कि हाँ, एक बेडिंग रिक्शेवाला जमा करा गया था और उसने बेडिंग निकालकर दे दी। खोया सामान वापस मिलनेकी अत्यधिक प्रसन्नता थी, साथ-ही-साथ उस गरीब रिक्शेवाले तथा होटलके बैराके प्रति मनमें असीम सद्भावना उत्पन्न हुई।

जब कि आजके इस आर्थिक परेशानीके समयमें सभी ओर बेईमानी, चोर-बाजारी एवं लूटपाटका बोलबाला है, एक गरीब रिक्शेवाले एवं होटलके बैराकी ईमानदारीका आदर्श कितना प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

(२)

कर्मफलकी विचित्रता

यह घटना लगभग १९७०-७१ की है। हमारे घरमें छोटे कदकी एक कपिला गाय थी। वह बड़ी भोली-भाली एवं सुन्दर थी। उसका एक सुन्दर बछड़ा था। गाय दूसरी बार गर्भवती थी। उसकी सेवा-शुश्रूषा मैं बड़े आदर एवं प्रेमभावसे करता था। उसका प्रसवकाल अति निकट आ पहुँचा था। वैशाख-ज्येष्ठका महीना था। एक दिन ठीक दोपहरको एक व्यक्तिने आकर सूचना दी कि वह गाय पड़ोसके एक सूखे कुएँमें गिर गयी है। हमलोग भयभीत हालतमें कुएँके पास पहुँचे। गाँवके लोग भी समाचार सुनकर लगभग ३०-३५ की संख्यामें उपस्थित हो गये। कुआँ अधकच्चा लंबे-चौड़े व्यासवाला था। डोली-रस्सी लेकर १०-१५ व्यक्ति कुएँमें उतर गये और कराहती गायको बाहर निकालकर गाड़ीद्वारा घर ले आये।

इस दुर्घटनासे उसकी कमरकी रीढ़की हड्डी टूट गयी थी। आँगनमें ४ खूँटे गाड़कर पट्टी बाँधकर उसपर गायको खड़ा किया गया। उन दिनों देहातोंमें पशु-अस्पताल एवं पशुओंके डाक्टरों आदिकी विशेष सुविधा नहीं थी। देहाती इलाज किया गया, परंतु लाभ नहीं हुआ। दो दिन बाद एक बछड़ेने जन्म लिया। वह अपनी माँका दूध नहीं पी सका और इस संसारमें सिर्फ दो दिन जीवित रहकर अनन्तलोकवासी हो गया। गायकी आँखोंसे अविरल आँसूकी धार गिरती रहती थी। हमलोग चावलका माँड़ पिलाते एवं चारा आदि खिलाते, किंतु वह खाने-पीनेमें असमर्थ होती थी।

लगभग १० दिन बाद आठ बजे रातको मैं अकेला गायके पास बैठा इस विडम्बनाके विषयमें सोच रहा था और बैठे-बैठे ईश्वरसे प्रार्थना कर रहा था। उसी बीच मैंने परमात्मासे प्रार्थना की कि इस गायने ऐसा कौन-सा अपराध किया था, जिसका इसे इस प्रकार दण्ड मिला। पुनः वहाँसे

उठा और हाथ-पैर धोकर आँगनमें ही खाटपर सो गया। सोते समय मुझे उस गायकी ही चिन्ता थी।

लगभग ४ बजे नींद खुली। जो दृश्य मुझे स्वप्नमें दिखायी दिया था, वह इस प्रकार है—'एक अच्छा सम्पन्न परिवार है। गृहस्वामीके दो बेटे हैं। दोनोंकी बहुएँ बड़ी सुन्दर और सुशील हैं। केलाबाड़ी, आम, केला एवं कुएँका अच्छा सुन्दर दृश्य है। बड़ी बहू निःसंतान है, छोटी बहूका एक सुन्दर लगभग दो वर्षका लड़का आँगनमें खेलता दिखायी दे रहा है। वह पुनः गर्भवती है। प्रसवकाल निकट है। चलने-फिरनेमें कुछ शिथिलता प्रतीत होती है। वह बाल्टी लेकर कुएँके पास जाती है। पीछेसे बड़ी बहू भी जल्दीसे पहुँचती है और अचानक छोटी बहूको कुएँमें ढकेल देती है। उसके कुएँमें गिरते ही कमरकी हड्डी टूट जाती है। लोग दौड़ते हुए आते हैं। कुएँसे उसे निकालते हैं। दो दिन बाद उसका दूसरा बच्चा जन्म लेता है और शीघ्र ही अनन्तलोकवासी हो जाता है। उस बहूकी हालत बिगड़ने लगती है और वह इक्कीसवें दिन मृत्युके मुखमें समा जाती है।'

—इतना दृश्य देखनेके बाद मेरी नींद खुल गयी। मैं घबड़ाकर उठ बैठा। सोचने लगा कि यह गाय उस किसानकी बड़ी बहू है, जो हमारे घर अपना कर्मफल भोगनेके लिये पशु बनकर आयी है। सबेरे मैंने सबसे कहा—'यह गाय ठीक इक्कीसवें दिन स्वर्गवासी होगी। अपनी-अपनी श्रद्धा एवं भक्तिसे इसकी सेवा करो।' हुआ वही। वह ठीक इक्कीसवें दिन ही मृत्युको प्राप्त हुई। यह संसार कर्मफलकी प्रधानतासे परिपूर्ण है।

संत लोग ऐसी विषम परिस्थितियोंमें भगवान्‌का आश्रय लेकर स्वप्नादिके ऐसे रहस्योंको जानकर गौ आदिके परम कल्याण तथा भाग्य-परिवर्तन एवं मूल पापोंके सर्वथा अपाकरणके लिये भगवद्गीता, रामायण आदिका पाठ तथा मृत्युंजय आदिका भी आश्रय लेते हैं। कृपालु भगवान् गोविन्द भी अपनी कामनाकी पूर्तिके लिये की गयी उपासनामें भले ही कुछ देर करते हों, किंतु गौ आदिकी रक्षाके लिये सब कुछ छोड़कर तत्काल उसके प्रारब्धको परिवर्तित कर नवीन प्रारब्ध उत्पन्न कर उसकी रक्षा कर देते हैं। कहा भी है—

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम्।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सिद्धयश्च पदे पदे॥

तथा—

मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥

—बी० एल० श्री

(३)

भगवान्‌की अद्भुत कृपा

दिनाङ्क ७-६-४६को हम १७ व्यक्ति तीन धामकी या झालावाड़से जगन्नाथपुरी, रामेश्वर होते हुए द्वारकाधीशके रवाना हुए। श्रावणका महीना था, पानी बरस रहा हमलोग द्वारकाधीशके स्टेशनसे करीब ८-९ स्टेशन होंगे उस स्टेशनपर सिगनल नहीं हुआ। गाड़ी लगभग आधे रुकी रही। समय सायं ५ बजेका था। हमलोग गाड़ीसे उतरकर देखने लगे, इतनेमें ही सिगनल हो गया और सीटी दिये गाड़ी चल पड़ी। हम सभी दौड़कर गाड़ीमें गये। हमारे साथ एक वृद्ध आदमी जिनका नाम लक्ष्म नाई था, वह गाड़ीमें बैठ नहीं सके। नीचे ही रह गाड़ीकी चाल जोर पकड़ ली। आगे जाकर प्लेटफार्मपर १० मिनिट रुकी, परंतु अबतक वह गाड़ीतक नहीं आ वहीं रह गये। हम सभी रात्रिके साढ़े आठ बजे श्रीद्वारका स्टेशनपर पहुँचे। गाड़ीसे उतरते ही पंडे लोग हमारे पास और मुझसे कहने लगे कि ८-४५ हो रहा है। आप मन्दि जायँगे तो १० बजेतक पहुँचेंगे, दर्शन और आरती होकर पट बंद हो जाता है। यदि हमारा कहना मानें स्टेशनकी धर्मशालामें ठहर जायँ; यहाँ आटा, सिगड़ी सब मिल जायँगे, दर्शन करने प्रातः चले जाइयेगा। समझमें भी उनकी यह राय ठीक जँची और स्टेश धर्मशालामें ही हम सब रुक गये। जब रात्रिको ११-३० सोनेके समय मैं स्टेशनपर यह तलाश करने गया कि गाड़ी अब कब आयेगी तो पता लगा कि प्रातः १०बजेके कोई गाड़ी नहीं आयेगी। हम स्टेशनमें आकर सो गये, एक कुलीसे कह दिया कि यदि लक्ष्मणजी झालावाड़वाले गाड़ीसे उतरें तो हमारे पास उन्हें भिजवा देना, हम मजदूरी दे देंगे।

हम सभी प्रातः सात बजे सारा सामान स्टेश धर्मशालामें सुरक्षित रखकर द्वारकाधीशजीके दर्शन क

लिये चले। पंडा हमारे साथ था, रास्तेमें जगह-जगह पानी भरा हुआ था। धीरे-धीरे हमलोग मन्दिरपर पहुँचे। पंडेने कहा था कि पहले गोमतीजीमें स्नान करें, फिर भगवान्‌का दर्शन करेंगे। जब मैं मन्दिरके पास आया और वहाँसे गोमतीजीकी छटा देख रहा था—कुछ लोग नहा रहे थे, कोई कपड़े बदल रहे थे, यकायक मेरी दृष्टि करीब ३०-४० सीढ़ियोंपर पड़ी तो मैंने देखा कि लक्ष्मणजी खड़े-खड़े धोती सुखा रहे हैं। मैंने सोचा कि वे तो गाड़ीसे नीचे उतरनेपर चलती गाड़ीमें चढ़ न सके थे कैसे यहाँ आ गये। मुझे यों ही भ्रम हो गया कि क्या बात है, फिर मैंने ध्यानसे देखा तो वे ही थे। मैं सहसा सीढ़ीपर नीचे उतरता-उतरता उनके पास पहुँचा तो देखकर मुझे आश्चर्य हो गया कि ये कैसे यहाँ आ गये—मुझे रोमाञ्च हो आया। हमने पूछा—'बाबा! आप कब और कैसे आये।' उन्होंने कहा—'भैयाजी! जब गाड़ी रवाना हो गयी तो मैंने सोचा गाड़ी गयी तो जाने दो, अपने तो पैदल ही चले चलेंगे।' मैं बराबर चलता रहा, जब रातको काफी अँधेरा हो गया, तब मुझे ८-१० सालका एक बच्चा मिला। उसने कहा कि 'बाबा! कहाँ जा रहे हो?' मैंने कहा—'भैया! मैं द्वारकाजी जा रहा हूँ।' उसने कहा—'बाबा! मैं भी वहीं जा रहा हूँ, मेरे साथ चलो।' मैं उसके साथ-साथ चला। थोड़ी देर बाद उसने कहा—'बाबा! द्वारकाजी आ गये। यह द्वारकाधीशका मन्दिर है। यहाँ भगवान्‌का दर्शन करना। रातको ९ बजे आरती होगी उसके भी दर्शन करना, फिर प्रसाद मिलेगा जो ले लेना और यह जो बाहर निवारी है, वहाँपर सो जाना, प्रातः उठते ही निपटनेके बाद गोमतीजीमें स्नान करना, स्नान करनेके बाद यहीं रहना, तुम्हारे साथवाले प्रातः ८ बजे तुम्हें मिल जायँगे।'

उस बालकके कहे-अनुसार मैंने दर्शन किये फिर मुझे प्रसाद मिला, जिसमें मेरा पेट भर गया और उसीके अनुसार मैं स्नान करके देख रहा था कि साथवाले आते होंगे जो आप मिल ही गये।

अब बतलाइये, यह बच्चा कौन था? जो उन्हें रातको आठ बजे ही मन्दिरपर छोड़ गया और सब बातें बता गया। यह घटना बिलकुल सच्ची है। मैं तो उनसे चिपट गया। उनके पास एक पैसा भी नहीं था जो वे कुछ खाते-पीते, सारा पैसा उनकी भाभीके पास रहता था, जो उन्हें समय-समयपर देती रहती थीं। धन्य है, भगवान्‌की अद्भुत लीलाको।

—हरगोपालजी सर्राफ

मनन करने योग्य

[मनुष्यमें देवत्व]

एक पौंड रक्त दे दिया

ईश्वरने मनुष्यमें वे सब दिव्य गुण बीज-रूपसे रखे हैं, जो स्वयं उनमें विद्यमान हैं। हाड़-मांसके ये चलते-फिरते आदमी कहलानेवाले जीव परमात्माके ही छोटे रूप हैं। जो परमात्मा असंख्य सिर, आँख और पाँववाला है, जो अनेक दिव्य गुणोंका भण्डार है, वह मनुष्यके हृदयमें विराजमान है। वह भाँति-भाँतिसे मनुष्यके सत्कर्मोंके रूपमें प्रकट होता रहता है और अपने दैवी स्वरूपका प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करता रहता है। प्रत्येक मनुष्यमें देवत्व प्रचुरतासे भरा पड़ा है तथा विभिन्न रूपोंमें वह प्रकट होता रहता है। हमें चाहिये कि अपने सोये हुए देवत्वको प्रकट करें।

त्याग, बलिदान, सेवा, सहयोग, परस्पर सद्भावपर ही दुनियाका सारा व्यवहार चल रहा है। मानवीय प्रगति और उन्नतिका आधार उसकी दैवी सम्पदा ही है। जब यह नींव हिल जाती है तो संसारमें भीषण संकट उत्पन्न हो जाता है। अतः व्यक्तिको अपने दैवीगुणोंको सुदृढ़ बनाये रखने तथा उन्हें व्यक्त करनेका हर सम्भव उपाय करना चाहिये।

यहाँ एक सच्ची घटना दी जा रही है, जिससे स्पष्ट होता है कि मनुष्यमें देवत्व है और यह संसार देवत्व—सज्जनता और ईमानदारीकी नींवपर टिका हुआ है। देवत्वके उजागर होनेसे इसी भूमिपर स्वर्ग-जैसा सुख-शान्तिका वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

बुन्देलखण्डमें नौगाँवके सिविल हॉस्पिटलके सर्जरी-विभागमें एक गर्भवती स्त्री अपनी असह्य वेदनासे करुण-क्रन्दन कर रही थी। चिकित्सिकाएँ तथा नर्सें उसकी सेवामें

लगी थीं और बाहर बैठे उसके पति तथा अन्य सम्बन्धी भयातुर हुए क्षण-क्षणका समाचार जाननेको उत्सुक थे। उनके चेहरोंपर भावी आशङ्काके काले चिह्न उभरे हुए थे।

डॉक्टर महोदय भी उस स्थितिसे अत्यन्त चिन्तित हो उठे थे। ज्यों ही वे बाहर निकले, उनकी गम्भीर मुद्रा देखकर 'क्यों, क्या हुआ ? कैसा हाल है ?' बाहर बैठे सभी लोगोंने एक साथ ही पूछा। डॉक्टर चुप रहे। बोले, कुछ नहीं।

'डॉक्टर साहब ! हम उसे बचानेके लिये सब कुछ खर्च करनेको तैयार हैं।' जेबसे रुपयोंकी गड्डी निकालते हुए पति बोला।

'रुपयोंसे काम नहीं चलेगा। इस औरतके गर्भाशयके फट जानेसे बहुत-सा रक्त बह गया है। इसे तत्काल एक पौंड रक्तकी आवश्यकता है। यदि ऐसा न हो सका तो इसकी जान भी जा सकती है।'

खून कौन दे ? सब रिश्तेदार चुप ! परिस्थिति विकट है। सभी गुमसुम बैठे रहे, कुछ नहीं बोले।

'मुझे आपके रुपये नहीं चाहिये, इन्हें आप अपने ही पास रखिये। इसे तो रक्तकी आवश्यकता है। यदि आप लोगोंमेंसे किसीका रक्त उससे मिल जाय तो उस रक्तसे रोगिणीकी जान बच सकती है। आप लोग शीघ्रतासे अपने रक्त-वर्गका परीक्षण करवा लें।' यह सुनकर उनमें कानाफूसी शुरू हो गयी। अपना रक्त कोई भी देना नहीं चाहता था, यहाँतक कि उसका पति भी रक्त देनेके लिये तैयार नहीं हुआ।

अब क्या हो ? क्या इस औरतको एक पौंड रक्तके अभावमें मृत्युका वरण करना पड़ेगा। क्या किसीमें दया, त्याग, बलिदान नहीं है ?

मानवताने डॉक्टरकी अन्तरात्माको झकझोरा। उनका देवत्व जाग उठा, 'नहीं ! इस कष्टापन्नके प्राण बचने चाहिये। इसकी अभी अवस्था भी कितनी है ?' संयोगवश परीक्षणसे ज्ञात हुआ कि डॉक्टर महोदय और रोगिणी स्त्रीका रक्त एक समान-वर्गका था।

डॉक्टर महोदय सोचने लगे अपना रक्त देकर यदि एक प्राणीकी रक्षा कर सकता हूँ तो क्यों पीछे हटूँ। यह स बड़ा धर्म है, जो संकटके समय दूसरेके काम आता है। तब उन्होंने अपना रक्त निकलवाकर उस रोगिणी चढ़ाया तथा उसकी समुचित चिकित्सा भी की। ईश्व कृपासे उसकी प्राणरक्षा हो गयी, साथ ही उसकी असह्य पी भी ठीक हो गयी। डॉक्टर महोदय अत्यन्त आनन्दित थे

बाहर बैठे सम्बन्धी रोगिणीके समाचार जानने प्रतीक्षामें बैठे हुए थे। वे तो प्रायः निश्चित कर चुके थे उसका बचना बड़ा मुश्किल है, अब आगे क्या होगा ? इत एक कम्पाउण्डर बाहर निकला। लोगोंने उससे पूछा-तबीअत कैसी है ? क्या ऑपरेशन हो चुका है ?'

कम्पाउंडर बोला—'तुम हृदयहीनोंने जब रक्त दे इनकार कर दिया, तो उदारमना डॉक्टर महोदयने स्वयं अ रक्त देकर रोगिणीकी प्राण-रक्षा की है। अब वह ठीक है।'

रिश्तेदार आश्चर्यसे यह सब सुन रहे थे। अब उ अपनी हृदयहीनता और स्वार्थपरतापर बड़ी लज्जा आ रही थ उन्होंने रक्तके मूल्य-रूपमें कुछ रुपये डॉक्टर महोदयको चाहे, किंतु वे बोले—'यह रक्त-दान मैंने पैसेके लोभमें किया है। मैं उसीके जीवनको उत्तम समझता हूँ जो अ बहुमूल्य शक्तियोंका अधिकाधिक उपयोग परमार्थ-वृत्तिये विकसित करनेमें लगा दे। इससे मनुष्य देवत्वकी अग्रसर होता है और पृथ्वीपर स्वर्गकी-सी सुख-श छा जाती है।'

वास्तवमें डॉक्टर महोदयका यह त्याग और बलि मानवताके लिये गर्वका विषय है। यह युग-युगतक स्मर रहेगा। —डॉ॰ श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्॰ए॰, पी-एच्॰

◆

प्राणिमात्रका एक ही ध्येय है, सभी नित्य सुख चाहते हैं, दुःख कोई भी नहीं चाहता। यह अनुभवसिद्ध बात है स्त्री-पुत्र, धन, राज, मान आदिमें नित्य सुख नहीं है। नित्य-सुखकी प्राप्तिके उपायोंमें अनेक मत-मतान्तर हैं। नित्य-सुखको ही परमपद, ईश्वरप्राप्ति या परमानन्द आदि कहते हैं। यह सुख विश्वास रखकर नाम-जप करनेसे प्राप्त है, जबतक यह सुख न मिले, तबतक नाम-जप करते ही रहो।—अरण्यवासी महात्मा

◆

गोवंशके वधपर रोक लगाने-हेतु संसद्में प्रस्ताव

गोवंशकी हत्याको बंद करनेका प्रश्न बहुत पुराना बन गया है। आजादीकी लड़ाई लड़नेवाले भारतके सपूत जिन्होंने देशको विदेशी दासतासे मुक्त करनेके लिये मातृभूमिकी पवित्र बलिवेदीपर हँसते-हँसते अपने प्राणोंको न्योछावर किया और अपनी कुर्बानियाँ दीं, उनकी अन्तरात्मामें यह धारणा स्पष्ट थी कि यह देश जिस दिन स्वतन्त्र होगा, उस दिनसे यहाँकी पवित्र भूमिपर गो-रक्त नहीं गिरेगा—गोवंशकी हत्या पूर्णरूपसे बंद होगी। पर काश, यह दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है? जिनके हाथोंमें इस स्वतन्त्र देशकी बागडोर आयी, वे इस पवित्र उद्देश्यको भूल गये। अपने स्वार्थकी राजनीतिमें धर्मनिरपेक्षताका बहाना ढूँढ़ा और अबतक गोहत्या-बंदीका कानून नहीं बनने दिया।

स्वतन्त्रता-आन्दोलनकी तरह गो-रक्षा-आन्दोलनका भी अपना एक इतिहास है। १४ अगस्त १९४७ को स्वतन्त्रताका लक्ष्य मिल गया, लेकिन गोरक्षाका लक्ष्य अभी शेष ही है। इसलिये आजादीके बयालीस वर्ष बाद भी अब भी इसकी पुकार कभी तेज तो कभी महीन रूपसे उठती रहती है। कितनी ही बार बड़े-बड़े आन्दोलन, प्रदर्शन, सत्याग्रह, अनशन भी हुए और पुलिसने लाठी-गोली भी बरसायी। इतना ही नहीं, देशके कई सपूत, संत-महात्मा और साधु इसमें शहीद हो गये।

संसद्में प्रस्ताव भी लाया गया। लगभग सन् १९५२की बात है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू प्रधान मन्त्री थे तो लोकसभामें गोवंशकी हत्यापर पूर्णतया प्रतिबन्ध लगानेका एक प्रस्ताव सेठ गोबिन्ददासजीद्वारा प्रस्तुत किया गया। इस प्रस्तावपर बहसके उपरान्त जब मतदान किया गया तो काँग्रेस जो सत्तारूढ पार्टी थी, उसके द्वारा गैर सरकारी प्रस्ताव होनेके कारण प्रस्तावके विरोधमें मत देनेके लिये अपने सदस्योंको ह्विप जारी किया गया। यद्यपि काँग्रेसके अधिकांश सदस्योंने प्रस्तावके विरोधमें वोट दिया, परंतु देशके तीन सपूत—राजर्षि श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डन, सेठ गोबिन्ददास तथा श्रीठाकुरदास भार्गव काँग्रेसके सदस्य होते हुए भी अपनी अन्तरात्माकी आवाज नहीं दबा सके। राजनीति और स्वार्थकी सीमाओंसे ऊपर उठकर गोरक्षा-जैसे पवित्र लक्ष्यकी पूर्तिके लिये प्रस्तावके पक्षमें अपना मतदान किया। सब लोग अकचका गये। तत्क्षण श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डनने पार्टीसे अपना त्यागपत्र प्रस्तुत करते हुए कहा कि 'संसद्में मतदानके समय गोरक्षा-जैसे पवित्र उद्देश्यकी उपेक्षा करना हमारे लिये सम्भव नहीं था, पार्टीका निर्देश न माननेके कारण हम अपना त्यागपत्र प्रस्तुत करते हैं।' उन दिनों श्रीजवाहरलाल नेहरूने उन महानुभावोंका त्यागपत्र स्वीकार करनेका साहस नहीं किया और उसे ससम्मान उन्हें वापस लौटा दिया। यद्यपि वे महानुभाव आज हमारे बीच नहीं हैं, पर उनकी पुनीत भावनाएँ आज भी हमारे आदर्श-रूपमें जीवित हैं।

सन् १९७७ में विपक्षी दलोंकी सरकार बनी थी। जनता पार्टीका शासन था। श्रीमोरारजी देसाई प्रधान मन्त्री थे। गोरक्षाके प्रहरी नेताओंका एक प्रतिनिधि-मण्डल प्रधान मन्त्रीसे मिला। श्रीमोरारजी देसाईने प्रतिनिधि-मण्डलको यह स्पष्ट आश्वासन दिया कि गो-वध-बंदीके लिये केन्द्रीय कानून बनाने-हेतु वे संसद्के अगले सत्रमें प्रस्ताव लायेंगे तथा इसके लिये आवश्यक हुआ तो संविधानमें भी संशोधन करेंगे, किंतु संयोगवश प्रस्ताव आनेके पूर्व ही सरकार बदल गयी और संसद् भंग हो गयी। यह प्रश्न आज भी ज्यों-का-त्यों खड़ा है।

पिछले दिनों एक समाचार दिनाङ्क २३ मई १९९० के समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित हुआ, जिसके अनुसार लोकसभामें कुछ सदस्योंद्वारा यह प्रश्न उठाया गया है, जिसका निर्णय होना अभी बाकी है। संसद्के अगले सत्रमें होगा। हम पाठकोंकी जानकारीके लिये समाचारपत्रमें प्रकाशित प्रति यहाँ छाप रहे हैं, जिससे सब बातें स्वतः स्पष्ट हो जायँगी।

गोवंश-वधपर रोक लगाने-हेतु लोकसभामें विधायी संघर्ष आरम्भ

नयी दिल्ली, २२ मई (स॰ न्यू॰ स॰), लोकसभामें एक बार फिर गोवंश-हत्यापर प्रतिबन्ध-हेतु विधायी संघर्ष इस सत्रके दिनाङ्क ४ मई व १८ मईको प्रारम्भ हो गया है। अगले सत्रमें अन्तिम निर्णयके दौरपर आयेगा।

राजस्थानके सांसद व भूतपूर्व न्यायाधीश श्रीगुमानमल लोढाने अपने संकल्पकी बहस ४ मईको प्रारम्भ की और १८ मईको लगभग ४० मिनटके धाराप्रवाह वाचनके पश्चात् समाप्त कर दी। सदनके

सम्मुख उन्होंने जयप्रकाशनारायणद्वारा लिखित व ज्योतिवसुको सम्बोधित पत्र पढ़कर सुनाया, जिसमें ज्योतिवसुने भी सुप्रीमकोर्टके जज मोहम्मद कुरैशीके निर्णयके अनुसार गोहत्यापर प्रतिबन्ध लगाना सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया था। श्रीलोढाने बसंत साठेद्वारा १२ अप्रैल ७९को दिये गये भाषणको पढ़कर सुनाया। उन्होंने कहा कि इस प्रकार काँग्रेस पार्टी व कम्युनिस्ट पार्टी भी इस संकल्पका समर्थन सिद्धान्ततः स्वीकार करनेके लिये प्रतिबन्धित है। श्रीलोढाने ऋग्वेद, अथर्ववेद, कवि मैथिलीशरण गुप्तकी कविताएँ हिन्दी व संस्कृतमें पढ़कर सदनको बताया कि गोमाता भारतमातासे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके समर्थनमें गाँधी, लाला लाजपतराय, महर्षि दयानन्द, तिलक, मालवीयके विचार भी उद्धृत हैं। हर वर्ष एक करोड़से अधिक गोवंशको काटा जाता है, इस प्रकार हर मिनट २० की औसत आती है।

श्रीलोढाके संकल्पका समर्थन काँग्रेसकी ओरसे बसंत साठेने किया व सम्बन्धित वक्ताओंने भी किया, साथ ही जनता-दल व भाजपाके सम्पूर्ण सांसदोंने किया, परंतु सी॰ पी॰ एम॰ के बीकानेरके सदस्यने विरोध किया। बहस पूर्ण होनेको थी कि शिवसेनाके एक सांसदने अनजानमें कोरमका प्रश्न उठाया, जिस कारण सदनकी बैठक स्थगित करनी पड़ी। श्रीशिवराज पाटिलने बहस अगले सत्रमें जारी रखनेका आदेश दिया।

चूँकि सदनकी बैठक ३० तारीखतक ही है। अतः अब इन दो संकल्पोंपर व संविधान-संशोधन-विधेयकपर जुलाई या अगस्त सत्रमें निर्णय किया जायगा, व जिस प्रकारसे उसे समर्थन मिल र है इसके पारित होनेकी अच्छी सम्भावना है। इस हेतु गोरक्षा सम्बन्धित दर्जनों संस्थाएँ श्रीलोढाको समर्थन दे रही हैं, उनसे अनुरो किया जा रहा है कि वे राष्ट्रमें समर्थन जुटानेके लिये प्रयास करें। ए प्रेस-कान्फ्रेंस भी श्रीलक्ष्मीनारायण मोदीद्वारा शीघ्र बुलायी जा रही है जिसमें संकल्प व संशोधन और समर्थन जुटानेके लिये जनमत तैय करनेकी अपील की जायगी। समस्त राजनीतिक दलोंसे भी ए अपील की जा रही है कि वे इसे पूर्ण समर्थन दें। (दैनिक 'सन्मा २३-५-९० पृष्ठ ७)

भारतवर्षमें गायका एक राष्ट्रिय महत्त्व है। देश करोड़ों-करोड़ जनता इसे अपनी माताके रूपमें मानती है अ अपनी सर्वोपरि श्रद्धा अर्पित करती है। अतः संसद्में चुनक जानेवाले जनताके प्रतिनिधियोंका पुनीत कर्तव्य है कि गोवंशकी हत्यापर रोक लगाने-हेतु केन्द्रीय कानून बनाने लिये सरकारको बाध्य करें, जिससे देशमें हो रहा यह जघ पाप समाप्त हो सके और पूर्वजोंद्वारा इस निमित्त किया ग बलिदान सार्थक हो सके।

—सम्पाद

भगवान्के नामका माहात्म्य

वेपन्ते दुरितानि मोहमहिमा संमोहमालम्बते
सातङ्कं नखरञ्जनीं कलयति श्रीचित्रगुप्तः कृती।
सानन्दं मधुपर्कसम्भृतिविधौ वेधाः करोत्युद्यमं
वक्तुं नाम्नि तवेश्वराभिलषिते ब्रूमः किमन्यत् परम्॥

(नामनिष्ठ किसी भक्तने कहा है—) 'हे भगवन्! आपके नामोच्चार करनेकी अभिलाषा करनेमात्रसे सम्पूर्ण पाप कँ लग जाते हैं, संसारमें अर्थात् पुत्र, पौत्र, कलत्र, भृत्यादिमें बढ़ा हुआ आसक्तिरूप मोह भी मोहित होकर भाग जाता है। अ सकल जन्तुओंके पुण्य-पापके लेखक, यमराजके प्रधान मन्त्री, न्यायशील कुशल श्रीचित्रगुप्तजी भी अपनी नहरनीको शीघ्र आशङ्कापूर्वक उठाते हैं अर्थात् इस नामोच्चारकी अभिलाषावाले जीवका नाम तो मैंने पापियोंकी श्रेणीमें लिख रखा था, अब तो इसने नामोच्चार करनेकी अभिलाषा की है, अतः इसका नाम पापियोंकी श्रेणीसे काट देना चाहिये, नहीं श्रीनाम-माहात्म्यके विशिष्ट ज्ञाता श्रीयमराजजी मुझपर कहीं कुपित न हो जायँ। इस विचारसे ही चित्रगुप्तजी अपनी नहर शीघ्र उठाते हैं। एवं श्रीब्रह्माजी भी 'यह नामोच्चारकी अभिलाषावाला व्यक्ति ब्रह्माण्डको भेदकर अवश्य ही भगवद्धा जायगा' ऐसा विचारकर उसकी पूजाके लिये आनन्दपूर्वक मधुपर्कादि सामग्री जुटानेमें संलग्न हो जाते हैं। अतएव हे प्र आपके मङ्गलमय श्रीनामका माहात्म्य इससे अधिक और क्या कहें।'

Appeal for Śiva-Number

The publication of **The Kalyana-Kalpataru** was resumed after a gap of nearly fifteen years. Consequently the first Annual Number of the **Kalyana-Kalpataru** was brought out in May 1989 (Vol. xxxv) as God-realization Number. Its publication was resumed in May 1989. Now we have completed one year of its publication.

Lord **Śiva** has been in the life of the Indian people since time immemorial. The pre-historic remains found in the Mohanjodaro and Harappa contain elements of Śaivite Sādhanā. The Vedic, the Purāṇic and the classical Sanskrit literature contain abundant materials on Śiva, who has deeply influenced the Indian life. The religious and cultural outlook of the Indian people has been fully structured in the Śaivite background. The tradition of the Āgamika and Tāntrika lore fully witnesses the importance of Śiva in the Indian religio-philosophic tradition. The common folk also hold Lord Śiva in great reverence. Various Śiva temples in the country also witness the devotion and reverence of the Indian people to Lord Śiva, who, with his consort Umā lies deep in the heart of the Indian people.

Ladies and gentlemen came forward in large numbers to patronise the **Kalyana-Kalpataru.** The copies of this issue will be printed in limited number. No V.P.P. will be sent unless requested for. Therefore readers desirous of enrolling as members of this English Magazine should remit a sum of Rs. 30/- as annual subscription for the first issue and eleven subsequent monthly issues. Readers who had enrolled themselves as members should also renew their membership by sending their annual subscription for the XXXVI year from October '90 to September '91 at the following address at their earliest :

The Manager
Kalyana-Kalpataru
P.O. : Gita Press—273005
Gorakhpur (U.P.)
(India)

* * *

योगिराज देवराहा बाबाका महाप्रयाण

पिछले दिनों योगिराज देवराहा बाबा वृन्दावनमें व्रजरजको प्राप्त हो गये। श्रीदेवराहा बाबा इस देशकी एक आध्यात्मिक विभूति तो थे ही, साथ ही सर्वाधिक प्राचीन संत थे, जिनकी अवस्था प्रायः अज्ञात है। कुछ लोग इन्हें १५०-२०० वर्षके अन्तर्गत मानते हैं।

कभी-कभी किसी-किसी संतके दर्शनमात्रसे मनमें स्वतः सत्प्रेरणा प्राप्त होती है, अन्तःकरणमें सात्त्विक वृत्तियाँ जाग्रत् होती हैं और एक अभूतपूर्व शान्तिका अनुभव होता है। श्रीदेवराहा बाबा इसी कोटिके संत थे। प्रयाग, काशी और वृन्दावन इनका मुख्य आवास-स्थल था, जहाँ वे कुछ समय प्रतिवर्ष गङ्गाके मध्यमें मचानपर निवास करते थे। सहस्रोंकी संख्यामें नर-नारी उनके दर्शन कर स्वयंको कृतकृत्य करते। बाबा उन्हें दर्शन देनेके साथ-साथ श्रीभगवन्नाम-संकीर्तन तथा नामोपदेश भी करते तथा भक्तजनोंकी मङ्गलकामनाके साथ उन्हें शीघ्र घर लौटनेका निर्देश करते। गोवंशकी रक्षा, भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषाके प्रचार-प्रसारको बाबा विशेष महत्त्व प्रदान करते थे।

'कल्याण' एवं 'गीताप्रेस' पर प्रारम्भसे ही आपकी विशेष कृपा थी। इन क्षणोंमें हम इन्हें 'कल्याण'-परिवारकी ओरसे अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं।

सम्पादक—'कल्याण'

* * *

पंजीकृत-संख्या जी० आर०—

'कल्याण'के ग्राहक महानुभावों एवं प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

'कल्याण'के ६४वें वर्ष (वि०सं०२०४७) का विशेषाङ्क—'देवताङ्क' सौर वैशाख तथा ज्येष्ठ मासके दो परिशिष्टाङ्कों ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें रजिस्ट्रीसे एवं वी०पी०पी० द्वारा भेजा जा चुका है। जिन ग्राहकोंको चालू व विशेषाङ्क—'देवताङ्क' अबतक प्राप्त न हुआ हो, वे कृपया कार्यालयको सूचित करनेका कष्ट करें।

इस विशेषाङ्कमें मुख्यरूपसे देवस्वरूपके उद्भव एवं विकास, देवचरित्रसे सम्बद्ध उपयोगी रोचक कथाएँ, इन्द्रादि देवताओंके साथ त्रिदेवों एवं त्रिशक्तियोंका रहस्य, पञ्चदेवोपासना, देव-दर्शन, अवतार-तत्त्व तथा विभिन्न देवोंके अवतार, उनके आयुधों, वाहनों तथा परिकरों एवं परिच्छदोंका विवरण, विभिन्न ग्राम्यशक्तियों एवं लोकशक्तियोंका परिचय तथा देवोपासनाकी विभिन्न पद्धतियाँ, देवताओंके दर्शन-प्राप्ति और उनसे लाभ उठानेके उपाय आदि अत्यन्त उप भव्य एवं आकर्षक सामग्री है। साथ ही इसमें कई बहुरंगे, सादे और रेखाचित्र भी यथास्थान दिये गये हैं। सुन्दर, आ ऑफसेटकी छपाई है। किंतु अब इसकी सीमित प्रतियाँ ही शेष रह गयी हैं। अतः कृपालु पाठक एवं महानुभावोंसे नि है कि उन्हें 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य (डाक-खर्च-सहित ४४.०० (चौवालीस) रुपये मात्र) मनीआर्डर अथवा ड्राफ **'व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुरके** पतेपर शीघ्र भेजकर देव-दर्शनमें सहायक इस विशेषाङ्कको शीघ्र ही प्राप्त करना चाहिये, अन्यथा अङ्कोंके समाप्त होनेपर उन्हें निराश होना पड़ सकता है।

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक भी बनाये जाते हैं, इच्छुक महानुभावोंको अजिल्द 'कल्याण'के लिये ४००.०० (चार रुपये मात्र एवं सजिल्द 'कल्याण'के लिये ५००.०० (पाँच सौ) रुपये मात्र मनीआर्डर या ड्राफ्टसे भेजने चाहिये।

'कल्याण'का पूर्ववर्ती एकमात्र प्राप्य विशेषाङ्क

'मत्स्यपुराणाङ्क' (पूर्वार्ध) सानुवाद

'कल्याण'के विगत ६३वर्षोंमें अबतक प्रकाशित कुल ६३ ~~विशिष्ट एवं दुर्लभ विशेषाङ्कोंमेंसे इस समय~~ ~~'मत्स्यपुराणाङ्क' (पूर्वार्ध) सानुवाद प्राप्य है~~। इसकी अब कुछ प्रतियाँ ही शेष बच रही हैं। अतः इच्छुक सज्जनोंको तदर्थ मनीआर्डर या ड्राफ्टद्वारा अग्रिम भेजकर मँगवानेमें शीघ्रता करनी चाहिये, अन्यथा 'कल्याण' के पिछले अन्य विशेष तरह इसके भी शीघ्र बिक जानेपर प्रेमी पाठकोंको निराश होना पड़ सकता है।

इस अङ्कमें महान् साधन, उपदेश और आदर्श चरित्र भरे हैं, जिनसे मनुष्य सहज ही अपने अभ्युदय तथा निःश्रेयस् प्राप्त कर सकता है। सर्वप्रथम मत्स्यावतारकी कथा है, फिर मनुमहाराजका मत्स्य भगवान्से संवाद आया है। इसमें उत्पत्ति, पृथ्वीदोहन, सूर्यवंश, पितृवंशवर्णन, विविध श्राद्धोंका वर्णन, चन्द्रवंशके राजाओंका वर्णन, श्रीकृष्णचरित, ययाति एवं इनके अन्य पुत्रोंका वर्णन, विविध व्रत, दान, ग्रहशान्ति तथा तीर्थोंका माहात्म्य बतलाया गया है। इसके अन्तर्गत ती प्रयागके माहात्म्यका विस्तारसे वर्णन मिलता है तथा त्रिपुरवध एवं तारकवधकी कथा भी विस्तारसे कही गयी है। रंगीन सुसज्जित इस अङ्कका ~~मूल्य २४.०० (चौबीस) रुपये मात्र है~~।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गी
गोरखपुर, पिन—२७

कल्याण

वर्ष ६४

संख्या ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण, वि॰ सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, अगस्त १९९०

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-जाके गति है हनुमान की ! ······················	५२९
२-कल्याण (शिव) ····························	५३०
३-भगवच्चिन्तनका प्रभाव (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ······················	५३१
४-श्रीसूर्यका प्रातः स्मरण-कीर्तन ···	५३४
५-तन्मयता (तत्त्वदर्शी महात्मा श्रीतैलङ्ग स्वामीजी) ···	५३५
६-राधा-कृष्णकी अभिन्नता तथा राधा-प्रेमकी विशुद्धता (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ·································	५३७
७-सदाचार और भगवद्भक्ति (श्रीरामकृष्ण रामानुजदासजी 'श्रीसंतजी' महाराज) ··························	५४०
८-सत्संगकी महिमा ····························	५४१
९-स[illegible]कोंके [illegible]ति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ································	५४२
१०-देवोपासनामें शुचि वेषका महत्त्व ················	५४५
११-विश्वहितके लिये हमारी सनातन प्रार्थना [अनु॰—श्रीमदालसानारायण] ················	
१२-सत्पुरुषोंके गुण ································	
१३-श्राद्ध-मीमांसा (पं॰ श्रीजौहरीलालजी शर्मा) ·······	
१४-मनुष्य अपनी मृत्यु नहीं देखता—यही आश्चर्य है ····	
१५-भक्तिमती निर्मला ······························	
१६-श्रीशिवजीका प्रातः स्मरण-कीर्तन ················	
१७-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ·································	
१८-पशुके समान व्यर्थ जीवन [कविता] ·············	
१९-मानवकी दानवीय क्रूरता ························	
२०-पढ़ो, समझो और करो ··························	
२१-मनन करने योग्य (डॉ॰ श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्॰ए॰, पी-एच्॰डी॰) ······················	

चित्र-सूची

१-श्रीराधामाधव	(इकरंगा)	आवरण-
२-मङ्गलमूर्ति श्रीमारुति	(रंगीन)	मुख-

प्रत्येक साधारण
अङ्कका मूल्य
भारतमें २.०८ रु॰
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

कल्याणका
मूल्य
(डाक-व्यय
भारतमें ४४
विदेशमें
अथवा १०

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

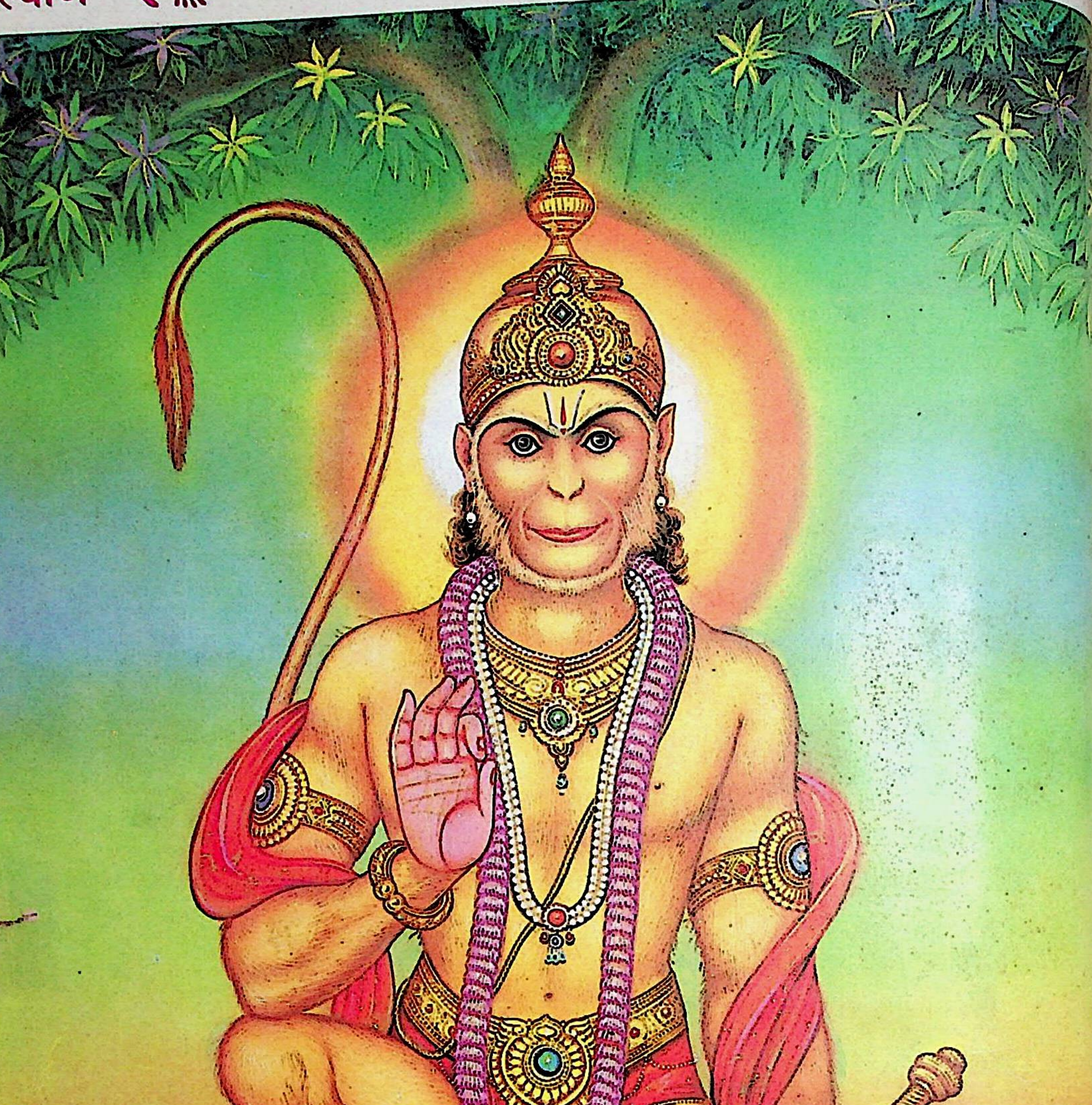

मङ्गलमूर्ति श्रीमारुति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

वर्ष ६४ गोरखपुर, सौर श्रावण, वि० सं० २०४७, श्रीकृष्ण-सं० ५२१६, अगस्त १९९० ई० संख्या ५ पूर्ण संख्या ७६२

जाके गति है हनुमान की !

जाके गति है हनुमानकी ।
ताकी पैज पूजि आई, यह रेखा कुलिस पषानकी ॥
अघटित-घटन, सुघट-विघटन, ऐसी बिरुदावलि नहिं आनकी ।
सुमिरत संकट-सोच-बिमोचन, मूरति मोद-निधानकी ॥
तापर सानुकूल गिरजा, हर, लखन, राम अरु जानकी ।
तुलसी कपिकी कृपा बिलोकनि खानि सकल कल्यानकी ॥

जिसको (सब प्रकारसे) श्रीहनुमान्‌जीका आश्रय है, उसकी प्रतिज्ञा पूरी हो ही गयी। यह सिद्धान्त वज्र (हीरे) की लकीरके समान अमिट है, क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी असम्भव घटनाको सम्भव और सम्भवको असम्भव करनेवाले हैं, ऐसे यशका बाना दूसरे किसीका भी नहीं है। श्रीहनुमान्‌जीकी आनन्दमयी मूर्तिका स्मरण करते ही सारे संकट और शोक मिट जाते हैं। सब प्रकारके कल्याणोंकी खानि श्रीहनुमान्‌जीकी कृपादृष्टि जिसपर है, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—पार्वती, शङ्कर, लक्ष्मण, श्रीराम और जानकीजी सदा उसके अनुकूल रहते हैं।

कल्याण

याद रखो—किसी दूसरे कामके लिये भगवान्से प्रेम करना सच्चा प्रेम नहीं है। वह तो असलमें प्रेमका तिरस्कार है। प्रेममें चाह नहीं होती 'फिर प्रेम क्यों करते हो ?' 'इसीलिये कि किये बिना रहा नहीं जाता।' 'मनको न जाने दो उधर !' 'जाने देनेकी कौन-सी बात, मन इधर तो आता ही नहीं। एक क्षणके लिये भी तो वहाँसे हटना नहीं चाहता। उसे न कोई चाह है न परवाह ! वह तो मतवाला हो गया है।' यह है भगवत्प्रेम। इसीकी साधना करो।

याद रखो—जब सच्चे प्रेमका स्रोत हृदयमें बह निकलेगा, तब क्षणमें ही अनन्त कालकी सारी कालिमा धुल जायगी। फिर स्मरण, कीर्तन, ध्यान और तन्मयता अपने-आप ही होने लगेंगे। रोमाञ्च, अश्रुपात आदि सात्त्विक भावोंका उदय और अभ्युदय स्वाभाविक ही होता रहेगा। ऐसा ही भक्त भुवनको पावन करनेवाला होता है। **'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।'**

याद रखो—सच्चा सौन्दर्य वही है, जहाँ भगवान्का प्रेम छलक रहा है। भगवत्प्रेमको छोड़कर जो कुछ भी है वह तो सदा ही भयानक और बीभत्स है। मन जब विषयासक्तिसे रहित होकर सारी असद्भावनाओंसे मुक्त हो जाता है, तब उसमें भगवत्प्रेमकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रेमसे जिस स्वरूपका प्रकाश होता है, वस्तुतः वही यथार्थ सुन्दर है।

याद रखो—इस प्रेमकी साधनाके लिये आवश्यकता है निष्कपट प्रेम-कामनाकी। बस, उनका प्रेम ही चाहो, प्रेमसे ही चाहो, प्रेममें ही चाहो। दिल खोलकर सरलतासे उन्हें पुकारो। भगवत्प्रेम निष्कपट प्रेमकामनासे ही मिलता है। मनको टटोल-टटोलकर देखते रहो, उसमें कोई दूसरी कामना छिपी तो नहीं है।

याद रखो—तुम जिसको चाहते हो, जिसको अपना बनाना चाहते हो, उसके अनुकूल तो तुम्हें होना ही पड़ेगा। तुम भगवान्को और उनके प्रेमको चाहोगे तो तुम्हारा पहला कर्तव्य होगा, तन-मनसे उनके अनुकूल चलना ! साथ ही तुम्हें अपने बाहर-भीतरके आचरणोंसे यह भी सिद्ध कर देना होगा कि तुम उनके सामने भोग-मोक्ष सभीको तुच्छ समझते हो। इसमें विशेष सावधानीकी आवश्यकता है, नहीं तो विशुद्ध प्रेम-कामना ही उदय नहीं होगी।

विश्वास करो—भगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं औ सबके सुहृद् हैं और वे सदा-सर्वदा सर्वत्र तुम्हारे साथ उनका रक्षक हाथ सदा तुम्हारी रक्षाके लिये तैयार है।

विश्वास करो—तुम्हारे अंदर भगवान् विराजमान तुम्हारे अंदर उनकी शक्ति छिपी हुई है। तुम चाहो तो अ अंदर उनका अनुभव कर सकते हो, उन्हें देख सकते हो औ उनकी अचिन्त्य शक्तिसे शक्तिमान् बन सकते हो !

विश्वास करो—उनकी शक्तिके सामने पाप-ताप शोक-मोहकी, विषाद-दुःखकी, माया-ममताकी ताकत नहीं कि वे तुम्हारे समीप भी आ सकें। तुम्हें वशमें करना तो ब दूरकी बात है।

विश्वास करो—तुमपर पाप-ताप आदिका आक्रमण त होता है, जब तुम भगवान् और भगवान्की शक्तिकी ओर न देखते—अपने अंदर ही उनके होनेका विश्वास नहीं करते

विश्वास करो—तुम चाहो तो सहज ही भगवान् शक्तिके सहारे शान्तिसे अशान्तिको, आनन्दसे शोकको वैराग्यसे आसक्तिको, ज्ञानसे मोहको, प्रकाशसे तमको, हर्ष विषादको, आशासे निराशाको, अनुभवसे कल्पनाको औ नित्य भगवद्भावसे सारे अभावोंको दूर कर सकते हो !

विश्वास करो—भगवान् समग्र शान्ति, समग्र आनन् समग्र ज्ञान, समग्र प्रकाश, समग्र हर्ष, समग्र आशा, सम वैराग्य, समग्र अनुभव और समग्र स्वभावको लेक नित्य-निरन्तर तुम्हारे अंदर विराजमान हैं।

विश्वास करो—विश्वासपूर्वक प्रार्थना करते ही, स्मर करते ही भगवान् तुम्हें अपनानेके लिये तैयार हैं। उनक अमल प्रकाश तुम्हारे जीवन-पथको सर्वथा प्रकाशित कर दे और तुम सहज ही उनके मधुर मनोहर मुसकानभरे मुखड़े देखकर निहाल हो जाओगे।

विश्वास करो—इसी जीवनमें, इसी यात्रामें तुम अप अनन्त कालकी अपूर्ण कामनाको पूर्ण कर सकते हो भगवान्को पाकर अपने अल्प, ससीम और दुःखम जीव-जीवनको महान्, असीम, अनन्त और आनन्दमय ब सकते हो !—**'शिव'**

* * *

भगवच्चिन्तनका प्रभाव

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवत्कृपा वास्तवमें अनुभव करनेकी वस्तु है, कहनेसे तो उसका तिरस्कार होता है, क्योंकि चाहे हम अपनी समझसे कितना ही बढ़ा-चढ़ाकर कहें, भगवत्कृपाके सहस्रांशका भी वर्णन नहीं कर सकते। जिसके पास जो वस्तु है, वह उसे ही देगा, जो वस्तु उसके पास है ही नहीं, वह उसे कैसे दे सकता है—यह नियम है। भगवान् कृपामय हैं—'*प्रभु-मूरति कृपामई है।*' अतएव वे सर्वदा, सर्वथा सब जीवोंको कृपाका ही दान करते हैं। तनिक-सा विचार करनेपर भगवान्की इस कृपाको हम पग-पगपर अनुभव कर सकते हैं। भगवान्ने हमको मनुष्य बनाया, पशु नहीं, पक्षी नहीं, चींटी नहीं, वृक्ष नहीं, पत्थर नहीं—इसमें उनकी कितनी कृपा भरी हुई है! अनन्त जन्मोंके पश्चात् चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते यह अत्यन्त दुर्लभ मानव-शरीर भगवत्कृपासे ही प्राप्त हुआ है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

इस प्रकार भगवान्की अहैतुकी कृपासे हमें अधिकार-विशेष मनुष्य-योनि—कर्म-योनि प्राप्त हुई है (अन्य सब तो भोग-योनियाँ हैं, उनमें जीव केवल अपने प्रारब्धकर्मोंका फल भोगता है, नवीन कर्म करनेके लिये वह स्वतन्त्र नहीं है), हम मोक्षके द्वारपर खड़े कर दिये गये हैं। अब, मुक्तिको प्राप्त करें या द्वारसे वापस लौट आयें, यह हमपर निर्भर करता है। हमें खजानचीके ऊपर चेक मिल गया और रुपये लाने हम खजानचीके पास जा रहे हैं। रास्तेमें हम चेकका दुरुपयोग करें, उसको फाड़ डालें, जला डालें तो हमारी कितनी मूर्खता है! चेकको गवाँ बैठे, अब रुपये कहाँ? ठीक इसी प्रकार यदि हम मानव-देहरूपी चेकको प्राप्त कर प्रमादवश अहङ्कार, कामना, क्रोध, द्वेष आदिके परायण हो भगवान्को प्राप्त न करें तो हमें भगवान्के आज्ञानुसार शूकर-कूकर आदि नीच योनियोंमें भटकना पड़ेगा तथा अन्तमें घोर नरकोंमें जाना पड़ेगा—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। १८—२०)

अन्तिम श्लोकमें भगवान्ने कहा—'**माम् अप्राप्य**'—'मुझको न पाकर।' इसपर यह प्रश्न होता है कि जब उपर्युक्त असुर-स्वभाववाले पुरुषोंको भगवत्प्राप्तिकी बात ही क्या, ऊँची गति भी नहीं मिलती, केवल आसुरी योनि ही प्राप्त होती है, तब भगवान्ने 'माम् अप्राप्य' यह कैसे कहा? ध्यानपूर्वक सोचनेसे इन वचनोंमें बहुत रहस्य दिखायी पड़ता है। भगवान् यहाँ खुले शब्दोंमें यह घोषणा कर रहे हैं कि मानव-योनिमें जीवको भगवत्प्राप्तिका जन्म-सिद्ध अधिकार है। ऐसे अधिकारको प्राप्त करके भी यदि मनुष्य भगवान्को प्राप्त नहीं करते तो यह कितने दुःखकी बात है। वास्तवमें भगवान् जीवकी इस दयनीय दशापर यहाँ तरस खा रहे हैं। इस प्रकार भगवद्वचनोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवत्प्राप्तिके हम सच्चे पात्र हैं, अधिकारी हैं। यदि इतने दिनतक हम उससे वञ्चित रहे तो यह हमारे प्रमादका फल है, हमारी मूर्खताका नतीजा है। भगवान्की तो हमपर पूर्ण दया है, उनका वरदहस्त हमारे मस्तकपर रखा हुआ है तथा वे दर्शन देनेके लिये तैयार हैं, पर हमारे प्रमादके कारण विलम्ब हो रहा है। अतएव आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपने इस प्रमादको छोड़ें और अपने जन्मसिद्ध अधिकारको प्राप्त कर सदाके लिये सर्वथा निश्चिन्त हो जायँ।

राजपुत्रका राज्यपर जन्मसे स्वभावसिद्ध अधिकार है। बच्चा नाबालिग है। गवर्नमेंट 'कोर्ट ऑव वार्ड्स' नियुक्त कर राज्यकी व्यवस्था करती है। बच्चेको योग्य बनाकर सब अधिकार उसको सौंप देती है। परमात्माकी प्राप्ति हमारे बापका राज्य है। अतएव उसपर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।

परमात्मा हमें योग्य बनाते हैं, सारा 'योगक्षेम' स्वयं वहन करते हैं। अतः हमारे उद्धारमें चिन्ता ही क्या है?

लौकिक जीवनमें हम देखते हैं कि यदि राजकुमार, जिसको अधिकार प्राप्त होनेवाला है, योग्य न निकले और मार-पीट, आग लगाना, चोरी-जारी आदि कुकर्म करने लगे तो सरकार उसके अधिकारको छीनकर उसे कारागृहमें डाल देती है अथवा आवश्यकता पड़नेपर निर्वासित भी कर देती है। राजकुमारको इस प्रकार अधिकारसे वञ्चित करने एवं दण्ड देनेसे सरकारको अप्रसन्नता ही होती है, पर मर्यादाके लिये सब करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार जब हम मोहमें फँसकर छल, कपट, अनाचार, व्यभिचार, अत्याचार, हिंसा आदि पापकर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं तो भगवान्को बाध्य होकर हमें दण्ड देना पड़ता है (वास्तवमें भगवान्का दण्ड-विधान भी कृपासे परिपूर्ण होता है। वे यदि मारते भी हैं तो तारनेके लिये), परंतु भगवान् बड़ा पश्चात्ताप करते हैं कि इसको परमपद-प्राप्तिके लिये मैंने सारे साधन दिये, किंतु यह भजन-ध्यान, सेवा, त्याग आदि सत्कर्मोंको छोड़कर विषय-भोगोंमें आसक्त रहा, जिससे भगवत्प्राप्तिरूप अपने अधिकारको खोकर नाना भाँतिकी घोर यातनाओंको भोग रहा है।

वर्षामें देखा होगा, दीपक जलाते ही हजारों पतंगे चारों ओरसे उड़-उड़कर दीपककी लौपर गिरते हैं और अपने शरीरका उसमें हवन कर देते हैं। यदि कोई मनुष्य इस प्रकार उनको जलते देखकर दया करके दीपक बुता देता है तो पतंगे दीपक बुतानेवालेकी दयाके तत्त्वको समझते नहीं। अतः वे मन-ही-मन उसपर बड़ा क्रोध करते हैं। बोलनेकी शक्ति उनमें है नहीं, यदि हो तो उनके क्रोधको, उनके दुःखको हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं। पर उनको दुःख होता अवश्य है। इसी प्रकार जब हम पतंगोंकी भाँति अंधे हो विषय-भोगोंमें फँसकर अपना सर्वनाश करने लगते हैं तो भगवान् हमपर बड़ी कृपा करके, हमारे परम हितके लिये उन भोगोंको हमसे छीन लेते हैं। पर भगवान्की कृपाको न समझकर हम बड़े दुखी होते हैं और कभी-कभी तो क्रोधमें आकर भगवान्को भला-बुरा भी कह बैठते हैं। दीपक बुतानेवालेकी अपेक्षा भगवान्की हमपर अनन्त गुणा अधिक दया है, कृपा है— हम इस बातको नहीं समझते, इसीसे भोगोंके नाश होनेपर तथा मनके प्रतिकूल अवसरोंपर दुखी हो जाते हैं। अतएव प्रतिकूल एवं अनु सभी परिस्थितियोंमें भगवान्की अपार कृपाका दर्शन करते शोक, चिन्ता, भय आदि नहीं करना चाहिये।

संसार क्या है? एक नाट्य-शाला। सभी प्राणी नाट्य-शालाके पात्र हैं। भगवान् इस नाट्य-शालाके हैं। गम्भीर दृष्टिसे सोचें तो भगवान् स्वामी भी हैं और नाट्य पात्र भी। सब प्राणियोंके रूपमें वे ही तो हमारे साथ खेल हैं। भगवान् श्रीकृष्णने ग्वाल-बालोंके साथ क्रीड़ाएँ भगवान् रामने वानर-भालुओंके साथ लीलाएँ कीं। फिर तो मनुष्य हैं। अतएव सब प्राणियोंके रूपमें अपने स्वा देख सबके साथ शुद्ध प्रेमका व्यवहार करना चाहि भगवत्कृपाको समझनेका यह सीधा उपाय है।

स्टेजपर आकर अपना अभिनय दिखानेके लिये पात्रोंको अवसर दिया जाता है। प्रत्येकका समय निश्चित है। अपने निश्चित समयमें वह जैसा भला-बुरा अभिनय क है, उसीसे उसकी सफलता एवं असफलताका निर्णय होता हमें भी अपना अभिनय दिखानेके लिये समय मिला निश्चित समय खतम होते ही हमें स्टेजसे हट जाना पड़े अतएव समय बड़ा मूल्यवान् है। वह हाथसे निकल गया फिर न मालूम कब मिलेगा। लाखों-करोड़ों जीव मौका रहे हैं। न जाने कब हमारा नम्बर आयेगा। निश्चित स निकल जानेपर लाख रुपया देनेपर भी पाँच मिनट मिलेगा। एक सेकेंड भी समय बढ़नेकी गुंजाइश नहीं इसलिये जल्दी-से-जल्दी कार्यकी सिद्धि कर लेनी चाहि हमें नाट्य-शालाके स्वामी उस परमात्माको प्रसन्न करने चेष्टा करनी चाहिये। स्वामी बड़े दयालु हैं, हमपर बड़ी कृ करते हैं। वे सब भूलोंको माफ कर देते हैं। पर हमें छूट आसरा कभी भी नहीं लेना चाहिये। स्वामीको अपने का प्रसन्न करनेके लिये, उसके इशारेपर नाचनेके लिये कठपुत बन जाना चाहिये। हमारे स्वामीके इशारेको हम समझते मालिककी इच्छाके माफिक बन जायँ। यही असली शरण असली भक्ति है।

भगवान्ने श्रीगीताजीके दसवें अध्यायमें आ श्लोकसे लेकर ग्यारहवें श्लोकतक प्रभावसहित भक्तियोग वर्णन किया है। वहाँ नवम श्लोकमें जो भक्तिका स्व

बतलाया है, उसका पालन करना ही सच्चे रूपसे भगवान्‌की शरण होना है। भगवान्‌ने बतलाया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(१०।९)

अर्थात् 'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें निरन्तर रमण करते हैं।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने पहला पद प्रयुक्त किया—**'मच्चित्ताः'**—निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाले। इसका भाव यह कि भक्तोंको चाहिये कि नित्य-निरन्तर अपने स्वामी श्रीभगवान्‌का चिन्तन करते हुए बाजीगरके झमूरेकी भाँति सब काम करे। झमूरा सब काम करता है—चलता है, फिरता है, उछलता है, कूदता है, पर उसका मन निरन्तर अपने स्वामी बाजीगरकी ओर लगा रहता है। साथ ही उसको यह पूर्णरूपसे ज्ञात है कि दूसरोंके न देखनेपर भी जो कुछ हो रहा है, सब बाजीगरका खेल है। अतएव किसी घटना-विशेषसे वह बिलकुल भी प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार भक्तको चाहिये कि वह अपनेको मदारी श्रीभगवान्‌के हाथका झमूरा समझे और जगत्‌के जितने भी व्यापार हैं, सब उस मदारीके खेल हैं—ऐसा मानकर किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिसे मनमें हर्ष या उद्वेगको स्थान न दे। अपनी तन, मन, धन आदि प्रत्येक वस्तुको, जिसपर वह अपना अधिकार समझता है, जिसकी उसको ममता है, भगवान्‌के अर्पण कर दे।

भगवान्‌में अपने चित्तको किस प्रकार लगावे—इसका वास्तवमें कोई उदाहरण मिलता ही नहीं। यों समझानेके लिये चकोरका उदाहरण दिया जा सकता है। चकोर अपने प्रेमास्पद चन्द्रमाको हर समय देखता रहता है। इसी प्रकार हम अपने इष्टको मानसिक नेत्रोंसे हर समय देखते रहें। चित्तवृत्तियोंकी धारा बँध जाय—प्रभुसे लेकर हमारेतक। कोई पक्षी उड़ा और चकोर तथा चन्द्रमाके बीचकी धारामें व्यवधान आ गया। चकोर इस व्यवधानको स्वीकार कर लेता है, वह मरता नहीं। परंतु हमें तो व्यवधान स्वीकार न करके मरना ही स्वीकार कर लेना चाहिये। एक क्षणका भी व्यवधान हो, एक क्षणके लिये भी दूसरी बातका स्मरण हो तो तुरंत प्राण छटपटाने लगें और प्राण शरीरसे निकल जायँ। हम जान-बूझकर न मरें, जान-बूझकर मरना तो पाप है, पर प्राण स्वतः शरीरसे निकल जायँ। सच्चा प्रेम तो यही है। वैसे प्रभु सब कुछ माफ कर देते हैं। यदि इतनी तत्परता न हो कि व्यवधान पड़नेपर प्राण न रहें, तो भी वे उसे अपना लेते हैं। किंतु माफी लेनेवालेकी अपेक्षा न लेनेवाला गौरवका पात्र है। यह अभिमान नहीं करना चाहिये कि हम माफी नहीं लेते। नहीं तो प्रभुको उस अभिमानको दूर करनेके लिये कोई दूसरी परिस्थिति उत्पन्न करनी पड़ेगी, जिससे बाध्य होकर हमें माफी माँगनी पड़ेगी। अतएव **'मच्चित्ताः'** का यही भाव है कि जहाँतक हो अपनी ओरसे व्यवधान पड़ने ही न दे और यदि पड़ ही जाय तो मछलीकी भाँति प्राण तड़पने लगें। यदि ऐसा हो जायगा तो फिर प्रभु व्यवधान पड़ने ही न देंगे, क्योंकि यह उनकी प्रतिज्ञा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९।२२)

भगवान्‌ने कहा—**'योगक्षेमम् अहं वहामि'**—योग (अप्राप्तकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्तकी रक्षा) मैं स्वयं वहन करता हूँ। इस प्रकार भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जो-जो आवश्यक वस्तु या साधन हमें प्राप्त हैं, सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उनकी रक्षा करना और जिस वस्तु या साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना—इसकी जिम्मेवारी भगवान्‌ने अपने ऊपर ली। अब भला, हमारे उद्धारमें क्या संदेह एवं विलम्ब हो सकता है। बस, आवश्यकता है केवल नित्य-निरन्तर अनन्यभावसे चिन्तन करनेकी।

भगवान्‌ने आगे कहा—**'मद्गतप्राणाः'**—मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले। हमलोगोंके प्राण शरीरगत हैं। शरीर गया प्राण गये। पर उपर्युक्त प्रकारके भक्तोंके प्राणोंके आश्रय भगवान् हैं। समस्त इन्द्रियोंसे खाने, पीने, सोने आदिकी जो भी चेष्टाएँ होती हैं, सब भगवान्‌के लिये होती हैं। उन सबमें उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं रहता। फिर आगे कहा—**'बोधयन्तः परस्परम्'**—मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा

आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए। वास्तवमें समय इस प्रकार ही बीतना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो फिर मौन रहना ही अच्छा है। अब उपर्युक्त प्रकारसे भजन करनेवालोंकी गतिका वर्णन करते हैं—**'तुष्यन्ति च रमन्ति च'**—निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार केवलमात्र अपने पतिमें ही रमण करती है, दूसरा पुरुष उसकी दृष्टिमें रहता ही नहीं, उसी प्रकार भक्तके नेत्र जहाँ भी जाते हैं, वहीं वह भगवान्‌में क्रीडा करता है। नित्य रमण करता है, प्रेमपूर्वक निरन्तर भजन करता है। यह रमण ही उसका भजन है। जैसे गोपियोंको सर्वत्र श्रीकृष्ण ही दिखायी पड़ते थे—***'जित देखौं तित स्याममई है'***, उसी प्रकार भक्तको सम्पूर्ण भूतोंमें वासुदेव ही व्यापक दिखायी पड़ते हैं और सम्पूर्ण भूत वासुदेवके अन्तर्गत। वह **'एकत्वमास्थितः'** भजता है अर्थात् भगवान्‌के सिवा और कुछ उसकी दृष्टिमें रह ही नहीं जाता। इस प्रकार उसमें न तो कोई कामना रहती है और न किसी प्रकारका भय ही। वह तो सर्वथा प्रेममें विचरण करता है।

साधकको चाहिये कि वह अपने साधनमें इतना तत्पर जाय कि एक क्षणका भी व्यवधान मृत्युके समान बन जा ऊँची श्रेणीके भक्त किसी प्रकारकी छूट नहीं चाहते, चाहे प्र चले जायँ, मुक्ति न मिले, भगवत्प्राप्ति न हो। वे मुक्तिके लि भजन नहीं करते, भजनके लिये ही भजन करते हैं। अतः ए क्षणके लिये भी चिन्तन छूटना उनके लिये असह्य हो जाता है वे भगवान्‌से माँगते हैं तो यही कि 'हे प्रभो ! एक क्षणका व्यवधान न पड़े। हमारी ऐसी अवस्था बन जाय कि ए क्षणका व्यवधान भी हम सहन न कर सकें।' ऐसे प्रेमी भ ही मुक्तिको ठुकरा सकते हैं। पर हमें अभीतक भजनका र प्राप्त नहीं हुआ है। इसीसे हम व्यवधानको सहन कर रहे हैं यदि भजनका रस समझमें आ जाय तो फिर क्षणभरके लि भी भजन छूटे, यह सम्भव नहीं। अतएव हमारी तो भगवा यही प्रार्थना है कि 'प्रभो ! हमें ऐसा बना दीजिये कि ए व्यवधान हम सहन न कर सकें।' बस, इतना होनेसे सब का बन जायगा।

* * *

श्रीसूर्यका प्रातः स्मरण-कीर्तन

प्रातः स्मरामि खलु तत् सवितुर्वरेण्यं रूपं हि मण्डलमृचोऽथ तनुर्यजूंषि।
सामानि यस्य किरणाः प्रभवादिहेतुं ब्रह्माहरात्मकमलक्ष्यमचिन्त्यरूपम् ॥
प्रातर्नमामि तरणिं तनुवाङ्मनोभिर्ब्रह्मेन्द्रपूर्वकसुरैर्नुतमर्चितं च।
वृष्टिप्रमोचनविनिग्रहहेतुभूतं त्रैलोक्यपालनपरं त्रिगुणात्मकं च ॥
प्रातर्भजामि सवितारमनन्तशक्तिं पापौघशत्रुभयरोगहरं परं च।
तं सर्वलोककलनात्मककालमूर्तिं गोकण्ठबन्धनविमोचनमादिदेवम् ॥
श्लोकत्रयमिदं भानोः प्रातः प्रातः पठेत्तु यः।स सर्वव्याधिनिर्मुक्तः परं सुखमवाप्नुयात् ॥

'मैं सूर्य भगवान्‌के उस श्रेष्ठ रूपको प्रातःकाल स्मरण करता हूँ जिसका मण्डल ऋग्वेद है, तनु यजुर्वेद है और कि सामवेद हैं तथा जो ब्रह्माका दिन है, जगत्‌की उत्पत्ति, रक्षा और नाशका कारण है तथा अलक्ष्य और अचिन्त्यस्वरूप है। प्रातः शरीर, वाणी और मनके द्वारा ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओंसे स्तुत और पूजित, वृष्टिके कारण एवं अवृष्टिके हेतु, ती लोकोंके पालनमें तत्पर और सत्त्व आदि त्रिगुणरूप धारण करनेवाले तरणि (सूर्य भगवान्)को नमस्कार करता हूँ। जो पापों समूह तथा शत्रुजनित भय एवं रोगोंका नाश करनेवाले हैं, सबसे उत्कृष्ट हैं, सम्पूर्ण लोकोंके समयकी गणनाके निमित्तभू कालस्वरूप हैं और गौओंके कण्ठबन्धन छुड़ानेवाले हैं, उन अनन्तशक्ति आदिदेव सविता (सूर्य भगवान्)का मैं प्रातःका भजन-कीर्तन करता हूँ। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्यके स्मरणरूप इन तीनों श्लोकोंका पाठ करता है, वह सब रोगों मुक्त होकर परम सुख प्राप्त करता है।'

* * *

तन्मयता

(तत्त्वदर्शी महात्मा श्रीतैलङ्ग स्वामीजी)

[गताङ्क पृ०-सं० ४९६ से आगे]

चित्त-वृत्तिके निरोधका नाम ही योग है[1]। चित्तकी वशीभूत इन्द्रियोंको इष्ट-साधनमें लगानेकी जिसकी क्षमता है, उसके लिये लोकालय अथवा अरण्य सब समान है। एकाग्रता योगका प्राण है[2]। इस एकाग्रता-निबन्धनसे जीवात्मा और परमात्मा एकीभूत होगा। जीवात्मा और परमात्मामें कोई प्रभेद दिखायी न देगा, तभी वह प्रकृत योगीकी स्थितिको प्राप्त होगा। ईश्वरके लाभार्थ योगाङ्गका अवलम्बन नहीं करना पड़ता। भक्त भक्तिके द्वारा उसको प्रसन्न कर उसमें समाहित होता है। इसीको समाधि कहते हैं।

समाधि-अर्थमें, ब्रह्ममें मनका स्थिर-करण, अर्थात् परमात्मा एवं जीवात्माका एकीकरण है। अतएव समाधि योगका फलरूप है। चित्तको वशीभूत कर सब कार्योंमें निःस्पृहता धारणपूर्वक आत्मामें अवस्थान करनेको ही समाधि कहते हैं।

जिस[3] अवस्थामें विशुद्ध अन्तःकरणके द्वारा आत्माका अवलोकन कर आत्मामें ही परितृप्त, बुद्धिमात्र-लभ्य, अतीन्द्रिय, आत्यन्तिक सुखकी उपलब्धि होती है, जिस अवस्थामें अवस्थान करनेसे आत्मतत्त्वसे परिच्युत होना नहीं पड़ता, जिस अवस्थाके लाभसे दूसरा लाभ लाभ नहीं समझा जाता, जिस अवस्थाके उपस्थित होनेपर गुरुतर दुःख भी विचलित नहीं कर सकता, उसी अवस्थाका नाम योग है।

मनको[4] आत्मामें लगाकर स्थिर बुद्धिद्वारा थोड़ा-थोड़ा विरति-अभ्यास करो—दूसरा कोई चिन्तन ही न करो। चञ्चल-स्वभाव मन जिस-जिस विषयकी ओर जाय, उस-उस विषयसे उसको हटाकर आत्मामें लगाओ। रजः एवं तमः-विहीन योगीलोग इसी प्रकार मनको वशीभूत करते हुए अनायास ब्रह्म-साक्षात्कार कर सर्वोत्कृष्ट सुखोंको प्राप्त होते हैं। सर्वत्र ब्रह्मदर्शी समाहित-चित्तसे सब भूतों—सब प्राणियोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखता है। जो कामनाशून्य होकर योगाभ्यास करता है, वही समाधिस्थ मुक्त होनेके योग्य है। ईश्वरमें लीन होकर जीवात्मा और परमात्मामें मिल जानेका नाम ही मुक्ति है।

जब[5] जीवात्मा और परमात्मामें पृथक्-ज्ञान न रहे, जब जीव बाह्य-ज्ञानशून्य हो जाय और सभी बहिरिन्द्रियाँ अचल बन जायँ, तब उसी समय या अवस्थाका नाम समाधि है। मनको, इन्द्रियोंको वशीभूत करके इन्द्रियोंको मनके वशीभूत करना—योग-शिक्षाका प्रधान उपाय है। प्रथम इन्द्रिय-उत्पन्न चित्तकी वृत्तियोंको संयत और चित्तको वशीभूत करना होगा। अनन्तर चित्तको चित्तके वशीभूत अर्थात् सांसारिक और इन्द्रियोंकी वृत्तिके वशीभूत चित्तको कामनाशून्य चित्तमें समाहित करना होगा। विविध लक्ष्योंसे चित्तको हटाकर अपने मुख्य लक्ष्यका पथानुगामी बनाना होगा। नाना प्रकारकी चिन्ताओं—विचारोंसे धीरे-धीरे संयत करके सर्वदा आत्मचिन्तनमें नियुक्त करना होगा।

योग दो प्रकारका है—सकाम[6] और निष्काम। सकाम योगी मोक्षको प्राप्त नहीं होता। निष्काम योगी ही मोक्ष पा

---

[1] 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (पातञ्जलयोगदर्शन १। २)

[2] 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।'

[3] 'यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया। यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। (गीता ६। २०-२३)

[4] देखिये श्रीमद्भगवद्गीता ६। २५-२९

[5] 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।' (पातञ्जलयोगदर्शन ३। ३)

[6] युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्। अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ (गीता ५। १२)

सकता है। निष्काम धर्मपालन ही योगका मूल है।

तन्मयत्व योगका एक अन्यतम प्रधान अङ्ग है। उसको योगका फलरूप भी कहा जा सकता है। तन्मयत्व-भाव उपस्थित होनेपर और किसी क्रिया या अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं रहती। योग-सिद्धि—यही तन्मयत्व-भाव है। इसी भावकी उपलब्धि हो जानेपर काम्य वस्तुके प्रति ही एकमात्र दृष्टि रहती है। दूसरी किसी वस्तुपर दृष्टि नहीं पहुँचती। अन्य चिन्ताकी धारणा नहीं रहती। हृदयमें केवल उसी एकमात्र काम्य वस्तुके अस्तित्वकी उपलब्धि होती है। मन एवं अभीष्ट वस्तुके बीचमें कोई भेद—पार्थक्य नहीं रहता। मनमें वही काम्य वस्तु एवं उस काम्य वस्तुमें केवल मन मात्र रहता है। वह अभीष्ट वस्तु ही हृदयको पूर्ण कर रखती है। उस स्थितिमें वह जगत्में रहकर भी जगत्वासी नहीं है। काम्य वस्तुमें ही उसका अस्तित्व है। काम्यवस्तुकी अवर्तमानतामें जान पड़ता है, उसका अस्तित्व ही नहीं रहता। काम्य वस्तुमें मिल जाना ही तन्मयत्वभाव है।

किसी कार्यका भी अनुष्ठान करनेके समय सबसे पहले उसमें तन्मय होना आवश्यक है। उस कार्यमें तन्मय या तल्लीन हो जानेसे कभी विफल-मनोरथ होनेकी सम्भावना नहीं रहती—उसकी सिद्धि निश्चय है। जिसकी जिस कार्यमें जैसी भावना रहेगी, वह उस कार्यमें उसी भावनाके अनुरूप सिद्धिलाभ करेगा[1]। जो व्यक्ति अभीष्ट विषयमें जिस परिमाणमें मनोयोग देगा, वह व्यक्ति उस कार्यमें उसी परिमाणमें सिद्धि प्राप्त करेगा। किसी कार्यमें पूरी सिद्धि पानेके लिये उस कार्यमें पूर्णरूपसे तन्मय होनेकी आवश्यकता है। तन्मयता एकाग्रताके बिना नहीं होती। किसी कार्यकी सम्पन्नतामें उसके लिये एकाग्रतासे लगना पड़ेगा। एकाग्रताके बिना कार्यमें तन्मयत्वभाव उत्पन्न नहीं होता। कार्यमें विश्वास न होनेसे या कृतनिश्चय न होनेसे उस कार्यमें कभी अग्रसर होनेका उत्साह नहीं रहता और इसलिये उसमें सफलता नहीं मिलती। पहले कार्यमें विश्वास स्थापन करना चाहिये। कारण, विश्वास ही सिद्धि या सफलताकी जड़ है[2]। तन्मय एकाग्रता और सिद्धिलाभ—इन सबके मूलमें विश्वास ही है

सृष्टिकालमें भगवान्ने सर्वप्रथम माया प्रकाश की वह माया ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूपा एवं कार्यकारणरूपा सत्त्व, रज, तम त्रिगुणविशिष्टा है। उसकी दो शक्ति हैं—आवरण और विक्षेप।

इनमें एक आवरण अर्थात् मायाद्वारा जीव आ होनेसे नित्य सत्य परमात्माको देख नहीं पाता और इसलि अपनेको अहंकारकी सहायतासे उससे स्वतन्त्र समझता है

दूसरी शक्ति विक्षेप—जिसके द्वारा जीव असत्य व सत्यारोप करता हुआ जगत्को नित्य एवं सत्य समझता है परमात्माको भूलकर अनित्य विषय-वस्तुमें मत्त रहता है। सब भावनाओंको हृदयसे हटाकर 'सोऽहम् सोऽहम्' की धारणाद्वारा तन्मयताका भाव धारण करना ही योगनिष्ठ क है। इस स्थितिकी प्राप्तिके लिये ही नियम, आस प्राणायामादि अनुष्ठानोंको करते हुए योगी दीर्घ-जीव व्योमगमन-क्षमता, अन्तर्धान-शक्ति, परकाय-प्रवेश-पटु दूरदर्शन, त्रिकाल-ज्ञान और अष्टसिद्धि[4] लाभ करनेमें स होते हैं।

यह सदा स्मरण रखने योग्य है कि भक्तिकी भावना उ हुए बिना साधक पुरुषाकार साधनद्वारा चाहे जितना उन्नत जाय, किंतु उसका पतन होनेकी सम्भावना रहती है। तपस् उच्च सोपानपर चढ़ जानेपर भी तपस्वीके समक्ष कभी क अविश्वास और निराशा उपस्थित हो जाती है। परंतु उसके स ही एक बार भक्ति उत्पन्न हो जानेपर फिर अविश्वास कभी स नहीं पा सकता।

योगी लोग उस समय अनायास मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं आत्माके साथ परमात्माका जो योग है, वही तन्मयत्वभाव किसी विषयमें अनन्यमना होकर ध्यान लगाना ही तन्मय है है। तन्मयतासे बन्धन छूटकर मुक्ति मिल जाती है।

---

१. 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।' (पञ्चतन्त्र)

२. 'विश्वासः फलदायकः।'

३. अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकं शक्तिद्वयमस्ति। (वेदान्तसारः ३५—३७)

४. अष्टसिद्धियाँ ये हैं— अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामावसायिता।

राधा-कृष्णकी अभिन्नता तथा राधा-प्रेमकी विशुद्धता

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृ०-सं० ४९८ से आगे]

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्योवशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि॥

समस्त संसारके प्राणी भोग-सुखकी कामना करते हैं। सभीके मन सदा भोग-लालसासे भरे रहते हैं। मनुष्य दिन-रात इसी चिन्तानलमें जलते रहते हैं कि उनकी भोग-लालसा पूरी हो। इस भोग-कामको लेकर ही जगत्के प्राणी निरन्तर दुःखसागरमें डूबते-उतराते रहते हैं। यह भोग-काम मनुष्यके ज्ञानको ढके रखता है। मनुष्य भूलसे भोग-कामको ही प्रेम मान लेते हैं और कामके कलुषित गरल-कुण्डमें निमग्न रहकर प्रेमके पवित्र नामको कलङ्कित करते हैं। वस्तुतः काम और प्रेममें महान् अन्तर है। जैसे काँच और हीरा देखनेमें एक-से दिखायी देते हैं, पर दोनोंमें महान् भेद होता है। अनुभवी जौहरी ही असली हीरेको और उसके मूल्यको पहचानते-जानते हैं, उसी प्रकार प्रेमकी पहचान भी किन्हीं बिरले भोग-काम-लेश-शून्य प्रेमी महानुभावोंको ही होती है। काम अन्धतम है, प्रेम निर्मल भास्कर है। अंधा मनुष्य अपनेको ही जानता है, दूसरेको नहीं, परंतु कामान्ध मनुष्य तो अपना हित भी नहीं देखता। इसीसे कामको 'अन्धतम' कहा गया है। कामका उदय होनेपर विद्वान्की विद्वत्ता, त्यागीका त्याग, तपस्वीकी तपस्या, साधुकी साधुता और वैरागीका वैराग्य—सभी हवा हो जाते हैं। कामान्ध मनुष्य अपना कल्याण ही नहीं नष्ट करता, सर्वनाश कर डालता है। कामकी दृष्टि रहती है अधः इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें और प्रेमका लक्ष्य रहता है ऊर्ध्वतम भगवान्के आनन्द-विधानकी ओर। कामसे आत्माका अधःपात होता है और प्रेमसे दिव्य भगवदानन्दका दुर्लभ आस्वादन मिलता है। अतएव काम तथा प्रेम परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। 'काम' और 'प्रेम' का भेद बतलाते हुए श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल,
कृष्णसुख-तात्पर्य प्रेम तो प्रबल।
लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म, कर्म,
लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख मर्म॥
सर्वत्याग करये, करे कृष्णेर भजन,
कृष्णसुख हेतु करे प्रेमेर सेवन।
अतएव कामे प्रेमे बहुत अन्तर—
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर॥

मनुष्यकी कामना जब शरीरमें केन्द्रित होती है, तब उसका नाम होता है 'काम' और जब श्रीकृष्णमें केन्द्रित होती है, तब वही 'प्रेम' बन जाती है।

यह निजेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छा, भोग-सुख-कामना जिसकी जितनी कम है, वह उतना ही महान् है। जो निज-भोग-सुखको सर्वथा भूलकर सर्वथा पर-सुख-परायण हो जाते हैं, वे सच्चे महापुरुष हैं, और जिनका आत्मसुख सदा-सर्वदा सर्वथा श्रीकृष्ण-सुखमें परिणत हो जाता है, वे तो महापुरुषोंके द्वारा भी परम वन्दनीय हैं। उनकी तुलना जगत्में कहीं किसीसे होती ही नहीं। श्रीगोपाङ्गनाएँ ऐसी ही कृष्णसुख-प्राणा और सहज कृष्ण-सुख-स्वभावा थीं। वे ही सच्ची प्रेमिकाएँ थीं। इसीसे वे वेदधर्म, देहधर्म, लोकधर्म, लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख, स्वजन एवं आर्यपथ—यों 'सर्वत्याग' करके सदा श्रीकृष्णका सहज भजन करती थीं। जबतक मनमें जरा भी लोक-परलोक, भोग-मोक्ष आदिकी कामना रहती है, तबतक 'सर्वत्याग' हो ही नहीं सकता। श्रीकृष्ण-सुखके लिये सर्वत्याग—यही गोपीकी विशेषता है। निजसुखके लिये लोग बहुत कुछ त्याग करते हैं, परंतु केवल कृष्णसुखके लिये 'सर्वत्याग' करना केवल गोपीमें ही सम्भव है। वस्तुतः यह 'कृष्णसुख' गोपीप्रेमका स्वरूप-लक्षण है और 'सर्वत्याग' तटस्थ लक्षण है।

निज-सुख-कामनाको प्रीतिरसकी 'उपाधि' कहा गया है। गोपीप्रेममें यह उपाधि नहीं है, इसीसे गोपीप्रेमको 'निरुपाधि'

प्रेम कहते हैं।

प्रश्न हो सकता है—तो क्या श्रीकृष्णके दर्शनकी भी गोपीजनोंको इच्छा नहीं है ? और क्या उनका दर्शन प्राप्त करके भी वे सुखी नहीं होतीं ? इसका उत्तर यह है कि निश्चय ही श्रीगोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णदर्शनके लिये नित्य-नित्य समुत्सुका रहती हैं और निश्चय ही श्रीकृष्णके दर्शनसे उन्हें परम सुखकी अनुभूति होती है। इतना अधिक सुख उन्हें होता है कि उससे उनके मुखमण्डलपर, उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें, उनके रोम-रोममें प्रफुल्लताकी बाढ़ आ जाती है। पर यह सब इसी कारण होता है कि इससे प्रियतम श्रीकृष्णको अपार सुख मिलता है, उनका हृदय एक अभिनव महान् उल्लाससे भर जाता है। मुझे देखकर श्रीकृष्णको कितना महान् सुख प्राप्त हो रहा है—इस अनुभूतिसे प्रत्येक गोपीका सुख-समुद्र उमड़ उठता है और उससे उसके प्रत्येक अङ्गकी और मुखकी कान्ति और भी समुज्ज्वल, सुमधुर हो जाती है। गोपीकी इस परम मधुर आनन्दज्योतिप्रसरित मुखश्रीपर श्यामसुन्दरके नेत्र निर्निमेष होकर गड़ जाते हैं और उनके अन्तरके सुख-समुद्रमें विपुल रूपमें आनन्दकी तरङ्गें लहराने लगती हैं। श्रीकृष्णका यह परम सुख गोपियोंको पुनः-पुनः श्रीकृष्णके सुख-दर्शनके लिये प्रेरित करता है। **'श्रीकृष्णसुखत्वे गोपीसुखत्वं तत्सुखत्वेन पुनः श्रीकृष्णसुखत्वम्।'** वस्तुतः श्रीकृष्णसुख ही गोपीका सुख है, स्वतन्त्र सुखानुसंधानकी उसमें कल्पना भी नहीं है। श्रीकृष्ण-आस्वादनजनित सुख भी उसको स्वतन्त्ररूपसे नहीं होता, श्रीकृष्ण-सुख परतन्त्र ही होता है।

गोपीका वस्त्राभूषण धारण करना, शृङ्गार करना, खाना-पीना, जीवन धारण करना—सभी सहज ही श्रीकृष्णसुखके लिये हैं। श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते ।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम् ॥

'अर्जुन ! गोपियाँ अपने अङ्गोंकी रक्षा या देख-भाल भी इसीलिये करती हैं कि उनसे मेरी सेवा होती है। गोपियोंको छोड़कर मेरा निगूढ़ प्रेमपात्र और कोई नहीं है।'

गोपी अपने देहकी रक्षा, सार-सँभाल तथा शृङ्गार-सज्जा करती हैं—यह सत्य है। अवश्य ही यह साधन-राज्यमें एक नयी बात है। सभी साधन-क्षेत्रोंमें शरीरकी इतनी देख-भाल साधनमें बाधक मानी जाती है। सभी देहको तुच्छ सम देहकी सेवा छोड़ देनेकी सम्मति देते हैं। यह अनोखी प्र तो गोपी-भजनकी ही है, जिसमें देहकी सेवा भी भ सहायक होती है। पुजारी प्रतिदिन पूजाके प्रत्येक पा माँजकर उज्ज्वल करता है और सजाता है। गोपियोंका विश्वास तथा अनुभव है कि श्रीकृष्णकी सेवामें जिन- उपचारोंकी आवश्यकता है, उनमें उनका शरीर भी आवश्यक उपचार है, इसलिये वे शरीररूप इस पात्रको उज्ज्वल करके श्रीकृष्ण-पूजाके लिये सुसज्जित करती पूजाका उपचार वस्तुतः पुजारीकी सम्पत्ति नहीं होती, वह भगवान्की ही सम्पत्ति है। पुजारी तो उसकी देख- सँभाल-सजावट करनेवाला है। इसी प्रकार गोपियोंके श्रीकृष्णकी सम्पत्ति हैं, गोपियोंके ऊपर तो उनके यथा यत्नपूर्वक सँभाल करनेका भार है। गोपियोंके तन-मन- सभीके स्वामी श्रीकृष्ण हैं। शरीरको धो-पोंछकर वस्त्राभूष सजानेपर उसे देखकर श्रीकृष्ण सुखी होंगे, कृष्ण-सुख-कामनाको लेकर ही ये प्रातःस्मरणीया व्रजदे श्रीकृष्णके सेवोपचारके रूपमें अपने शरीरोंकी सावधा साथ सेवा करती हैं। यह शरीरसेवा श्रीकृष्णसेवाके लिये है। अतः यह भी परम साधन है, प्रेमका एक लक्षण है

अपने पृथक् सुखसे तो गोपियोंकी सहज ही विरक्ति एक दिन एक गोपी श्रीकृष्णकी सेवामें लगी थी, इससे बड़ा आननद मिला और उस आनन्दके कारण उसमें प्रे विकार—अश्रुपात, कम्प, जडता आदि उत्पन्न हो गये। प्रेमानन्दसे क्षणकालके लिये सेवानन्दमें बाधा आ गयी। गोपीको बड़ा क्रोध आ गया। आनन्दपर क्रोध ! यहाँ क्रोध वस्तुतः उस सेवानन्दजनित प्रेमानन्दपर नहीं है, आनन्दजनित विकारपर है, क्योंकि इस प्रेमविकारने सेवान बाधा उपस्थित कर दी।

गोविन्दप्रेक्षणाक्षेपिवाष्पपूराभिवर्षणम् ।
उच्चैरनिन्ददानन्दमरविन्दविलोचना ॥

'कमलनयना गोपीने आँसू बरसानेवाले प्रेमान उच्चस्वरसे निन्दा की।' गोपीगीतमें श्रीगोपियाँ गाती हैं—

यत् ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।

तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥

'तुम्हारे चरण कमलसे भी अधिक कोमल हैं, उन्हें हम अपने कठोर उरोजोंपर बहुत डरते-डरते धीरेसे रखती हैं कि कहीं उन्हें चोट न लग जाय। उन्हीं चरणोंसे तुम रात्रिके समय घोर वनमें भटक रहे हो। कंकड़-पत्थर आदिके आघातसे उनमें क्या पीड़ा नहीं होती ? हमें तो इसकी सम्भावना मात्रसे ही चक्कर आ रहा है। श्रीकृष्ण! हमारे श्यामसुन्दर! प्राणप्रियतम ! हमारा जीवन तुम्हारे लिये है, हम तुम्हारे लिये ही जी रही हैं, हम तुम्हारी ही हैं।' इस श्लोकमें आये हुए शब्दोंपर गहराईसे ध्यान देनेपर तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

१-गोपियाँ अपनी विरह-व्यथासे जितनी व्यथित हैं, उससे कहीं बहुत अधिक पीड़ा उनको इस विचारसे हो रही है कि हमारे वक्षोजसे प्रियतमके कोमल चरणतलको चोट लगेगी।

२-गोपियाँ अपने वक्षःस्थलपर श्रीकृष्णका चरणस्पर्श प्राप्त करके महान् सुखको प्राप्त होती हैं, परंतु उस सुखमें प्रियतमके सुखको नहीं भूल जातीं, गोपियोंको अपने सुखका विरोधी भय लगा रहता है, इसीसे वे डरती-डरती श्यामसुन्दरके चरणोंको धीरे-धीरे हृदयपर धारण करती हैं।

३-गोपियोंके हृदयोंपर चरण रखनेसे श्रीकृष्णको भी सुख ही होता है, पर उस सुखमें भी गोपियोंको यह शङ्का हो जाती है कि कहीं कोमल चरणकमलोंको चोट न लग जाय।

गोपियोंमें इसीलिये सहज ही निजसुखका अनुसंधान नहीं है। उनके शरीर, मन, वचनकी सारी चेष्टाएँ और संकल्प श्रीकृष्णसुखके लिये ही होते हैं, इसीसे उनका 'सर्वत्याग' स्वाभाविक है। गोपियोंमें 'सर्वत्याग'की भी विचार-बुद्धि नहीं है। हमारे सर्वत्यागसे श्रीकृष्ण सुखी होंगे—इस प्रकारके विचारसे वे सर्वत्याग नहीं करतीं। उनमें श्रीकृष्ण-सुख-कामनाकी कर्तव्य-बुद्धि भी नहीं है। श्रीकृष्णके प्रति सहज अनुराग ही यह सर्वत्याग कराता है, यह तो गोपियोंका सहज स्वभाव है, उनका स्वरूपभूत लक्षण है। उनकी प्रत्येक क्रिया सहज ही श्रीकृष्णसुखके लिये होती है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः ॥

'गोपियो ! इसमें संदेह नहीं कि तुम लोगोंने **'मदर्थम्'**—'मेरे लिये' लोकमर्यादा, वेद-मार्ग और अपने स्वजनोंका भी त्याग कर दिया है। ऐसी स्थितिमें तुम्हारी मनोवृत्ति और कहीं न चली जाय, मुझमें ही लगी रहे, इसीलिये परोक्षमें तुम लोगोंसे प्रेम करता हुआ ही मैं यहीं छिप गया था। भगवान्ने उद्धवजीसे कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ॥

'मेरा मन ही गोपियोंका मन है, मेरे ही प्राणोंसे वे अनुप्राणित हैं और मदर्थ—मेरे लिये उन्होंने देहके सारे लौकिक कार्य त्याग दिये हैं।'

इसी प्रकार गोपियोंको अपने दुःखका भी अनुसंधान नहीं है। उनका महान् दुःख भी यदि श्रीकृष्णके सुखका साधन है तो वह उनके लिये ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर सुखरूप है। श्रीकृष्ण थोड़ी ही दूरपर मथुरामें रहे, पर उनकी इच्छाके प्रतिकूल गोपियोंके मनमें कभी मथुरा जाकर श्रीकृष्णसे मिलनेकी कल्पना भी नहीं आयी। असह्य दुःखमें भी श्रीकृष्ण-सुखकी कामना वे कैसे करती हैं—इसका एक उदाहरण देखिये। व्रजसे मथुरा जाते समय श्रीराधाने हँसकर उद्धवसे कहा—

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद् गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात् कदापि ।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु ॥

'उद्धव ! यद्यपि श्रीकृष्णके गोष्ठमें पधारनेसे हमें बड़ा सुख होता, तथापि यदि इसमें उनकी जरा भी क्षति हो तो वे कभी न पधारें। दूसरी ओर, उनके मथुरा नगरीसे यहाँ न आनेसे यद्यपि हमें बड़ी भारी पीड़ा होती है, फिर भी यदि इससे उनके चित्तमें सुखका उदय होता हो तो वे सदा वहीं निवास करें।'

इससे सिद्ध है कि गोपीमें निज-सुख-कामका सर्वथा सहज ही अभाव है। श्रीकृष्ण-सुख ही उनका सर्वस्व है, स्वभाव है, जीवन है। (क्रमशः)

सदाचार और भगवद्भक्ति

(श्रीरामकृष्ण रामानुजदासजी 'श्रीसंतजी' महाराज)

समस्त संतमत तथा सद्ग्रन्थोंका सार यही है कि सदाचार और भगवद्भक्तिद्वारा ही मानव-जीवनको सफल बनाया जा सकता है। हनुमान्, भरत, युधिष्ठिर, अर्जुन, चन्द्रहास, गोस्वामी श्रीतुलसीदास एवं श्रीचैतन्य महाप्रभु आदि भक्तोंके जीवन-दर्शनमें सदाचार और भगवद्भक्तिकी ही विशिष्टता परिलक्षित होती है।

भारतीय संस्कृतिके आलोकमें ऐसा प्रतीत होता है कि सदाचारका मूल आधार है भगवद्भक्ति और भगवद्भक्तिका मूल आधार है शरणागतिकी भावना। शरणागतिका अर्थ है एकमात्र भगवान्‌की कृपापर विश्वास करना और उनपर पूर्ण निर्भर रहना। शरणागतिके लिये अकिंचन होना आवश्यक है। अकिंचनका भाव मनुमहाराजके 'सद्यः प्रक्षालिकता' (जहाँ भोजनके बाद हाथ धोकर शेष अन्न कुछ न बचाया जाय) एवं 'अशाश्वतनिकता' (भगवान्‌के भरोसे रहकर जहाँ कलके लिये कुछ न रखा जाय) से है। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌को भोग लगाकर, अतिथि आदिको खिलाकर स्वयं प्रसाद-भक्षण करे एवं कलके लिये कुछ शेष न रखे। श्रीगोपालभट्टजीके हरिभक्तिविलास (११।४१८) के अनुसार 'अकिंचन' उसे कहा जाता है, जिसे प्रभु-भक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी कामना न हो।

भारतकी गरिमा इसकी आध्यात्मिक संस्कृति और सदाचारकी रक्षामें ही निहित है। श्रीजीवगोस्वामीजीने अपनी पुस्तक 'भक्ति-संदर्भ'में, श्रीमद्भागवत (११।२९।६) की टीकामें सदाचारको भक्तिका द्वार कहा है। जिस प्रकार गृहमें प्रवेश करनेके लिये द्वारकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भक्ति-जगत्‌में प्रवेशके लिये सदाचार अनिवार्य है। सदाचार और भक्ति दोनोंका मूल आधार ईश्वरकी सत्तामें पूर्ण विश्वास करना है। सदाचारका वर्णन भिन्न-भिन्न रूपोंमें श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीरामचरितमानस तथा श्रीमद्भागवत आदि समस्त धर्मग्रन्थोंमें मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञका, बारहवें अध्यायमें भक्तके लक्षणोंका एवं चौदहवें अध्यायमें गुणातीतकी स्थितिका वर्णन है। यद्यपि ये सब बहुत ऊँची स्थितियाँ हैं तथापि उन साधकोंको भी प्रारम्भमें सदाचारका आश्रय अवश्य ग्रहण करना पड़ता श्रीरामचरितमानसमें संत-गुण-वर्णनके प्रसंगमें सदाचा उल्लेख मिलता है। श्रीमद्भागवतमें भी भक्त ध्रुव, प्रह्लाद अम्बरीष आदि भागवतोंके आचरणके विषयमें सदाचा चर्चा आयी है।

सामान्य दृष्टिसे सदाचारके दो रूप बताये जा स हैं—१-सामान्य सदाचार—इसे लोक-भाषामें 'शिष्टाचार' कहा जा सकता है। लोकपरम्पराके अनुसार जैसे माता, पि गुरु तथा बड़ोंका आज्ञापालन एवं उनके प्रति श्रद्धा रखते उन्हें आदर, मान-सम्मान आदि देनेके आचरणको 'शिष्टाच कहा जाता है। २-दैनन्दिन सदाचार—इसमें शौच, स्ना संध्या, पूजा-पाठ, बलिवैश्वदेव, हवन, भोजन, विश्राम वर्णानुकूल जीविका-निर्वाहके कार्य आदि सम्मिलित संतोंके सभी आचरण इसी प्रकारके होते हैं, सदाचारका स स्वरूप भी यही है।

भगवद्भक्ति मानव-जीवनका पुनीत कर्तव्य है। भाग आदि पुराणोंमें भगवद्भक्तिकी महिमा सर्वाधिक तथा सर्वों बतायी गयी है। रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचा वल्लभाचार्य आदि महापुरुषोंके जीवनमें सदाचारके स भगवद्भक्तिका ही प्राधान्य रहा है। जयदेवके गी चण्डीदासके पद, विद्यापतिके छन्द, भक्त सूरदास एवं गोस्वा श्रीतुलसीदासजीकी अनुपम रचनाओंमें भगवद्भक्तिकी प्रधानता है। श्रीमद्भागवतमें जीवनमें सबसे बड़ी व भगवद्भक्ति ही बतायी गयी है। मुक्ति अत्यन्त दुर्लभ है, कि भगवान् उसे कदाचित् किसी सदाचारी, ज्ञानी आदिको प्र करनेके लिये तैयार हो जाते हैं, परंतु वे अपनी विशु अनपायिनी भक्ति किसीको देनेके लिये तैयार नहीं होते, क्यों इसमें स्वयं उन्हें भक्तका अनुगामी बनना पड़ जाता श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्‌से कहते हैं—'राजन्! कहाँ भगवान् त्रिलोकीके गुरु, वैकुण्ठोंके स्वामी, यदुकुल और अ सबके कुलोंके नेता और सर्वदेव सर्वेश्वर हैं, परंतु भक्ति कारण उन्हें आप सबका दौत्यकर्म, कैंकर्य एवं अर्जुनके रथ सारथ्य भी करना पड़ा—

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्॥

(श्रीमद्भा० ५।६।१८)

श्रीमद्भागवत (३।१५।४८)में सनकादि ऋषि भगवान्से कहते हैं कि 'हे प्रभो! जो आपके शरणागत भक्त हैं, वे मुक्ति नहीं चाहते, बल्कि आपकी निरन्तर भक्ति चाहते हैं।' भगवान् श्रीकृष्णने अपने भक्त अर्जुनको जीवनका सार बताते हुए कहा है—'मन्मना भव मद्भक्तो०' (गीता १८।६५)। अर्जुन तो भगवान्के सखा एवं परम प्रिय निकटस्थ सम्बन्धी थे, किंतु ऐसा कहकर भगवान्ने उनके विश्वासको और भी दृढ़ कर दिया एवं उन्हें अपनी भक्तिकी अनूठी महिमा बतायी। कभी-कभी मायाके प्रचण्ड प्रभावके कारण बड़े-बड़े भक्तोंका भी भक्तिभाव विचलित होने लगता है और विश्वासमें कमी आने लगती है। पर भगवान् तो अत्यन्त दयालु तथा कृपालु हैं, वे अपने भक्तोंकी सदा रक्षा करते रहते हैं।

भक्तिका जन्म भावमें होता है और भावमें ही इसका विकास होता है। भाव बढ़ते-बढ़ते महाभावकी स्थितिमें पहुँच जाता है, जहाँ भक्त भगवान् बन जाता है। 'शिक्षाष्टक-३'में श्रीचैतन्यमहाप्रभु भक्ति, विनय, नम्रता एवं सेवा-शुश्रूषाकी भावनाका स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि भक्त अपने-आपको तृणसे भी तुच्छ जानकर और वृक्षके समान सहिष्णु बनकर सबको सम्मान देते हुए भगवान्का सर्वदा कीर्तन करता रहे—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

सच्चा भक्त वही है जो किसीसे कभी कुछ नहीं माँगता। उसके पास जितना धन, बल, शक्ति आदि होती है, उससे वह दूसरे लोगोंकी सेवा करता है तथा निरन्तर दूसरोंके उपकारमें उसका जीवन व्यतीत होता है।

भक्तोंके स्वभावको देखकर चेतन प्राणियोंकी तो बात ही क्या, वन्य वृक्ष, लताएँ आदि भी द्रवित एवं पुलकित होने लगती हैं। जैसा कि भरतजीकी वनयात्राके समय और उनके साथ भगवान् श्रीरामके मिलनेके समय होता है। भक्तोंके आदर्श तथा सदाचार-सम्पन्न श्रीभरतजीके विषयमें देवगण कह उठे—

जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥

भक्तोंके प्रभावसे कठोर पाषाण भी पिघलकर द्रवीभूत हो जाते हैं। चित्रकूटस्थित कामदगिरिकी परिक्रमामें अब भी दूर-दूरतक पिघले हुए पत्थर दिखायी पड़ते हैं—

द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन पेमु न जाइ बखाना॥

सदाचारकी शोभा भक्तिसे और भक्तिकी शोभा सदाचारसे उत्तरोत्तर द्विगुणित होने लगती है। अतः कल्याणकामी पुरुषको भगवत्प्राप्तिके लिये सदाचारपूर्वक भक्तिमार्गमें निरन्तर प्रवृत्त रहना चाहिये।

सत्सङ्गकी महिमा

हरति हृदयबन्धं कर्मपाशार्दितानां वितरति पदमुच्चैरल्पजल्पैकभाजाम्।
जननमरणकर्मश्रान्तविश्रान्तिहेतुस्त्रिजगति मनुजानां दुर्लभः सत्प्रसङ्गः॥

(स्क० पु०, वै० बद० १।१२)

'संसारमें साधु पुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ है। वह देहाभिमानी अजितात्मा पुरुषोंकी सञ्चित पापराशिको हर लेता है और अधिक पुण्यके कारण उन्हें उत्तम गति प्रदान करता है। तीनों लोकोंके मनुष्योंके लिये सत्सङ्ग दुर्लभ है, वह कर्मपाशसे पीड़ित मनुष्योंकी हृदय-ग्रन्थि (आन्तरिक बन्धन) को दूर करता है, बहुत कम बोलनेवाले और एकमात्र भगवान्का भजन करनेवाले लोगोंको उच्च पद प्रदान करता है और जन्म-मृत्युके चक्रसे थके हुए मानवोंको चिर-विश्रामकी प्राप्ति करानेका कारण होता है।'

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[नित्ययोग और उसकी प्राप्ति]

संसारमें जितने भी पदार्थ हैं, वे सब-के-सब आगन्तुक हैं अर्थात् हरेक पदार्थका संयोग और वियोग होता है। ऐसे ही सम्पूर्ण क्रियाओंका संयोग और वियोग होता है। क्रियाओंका आरम्भ होना क्रियाओंका संयोग है और क्रियाओंका समाप्त हो जाना क्रियाओंका वियोग है। ऐसे ही संकल्पोंका भी संयोग और वियोग होता है। संकल्प पैदा हो गये तो संयोग हो गया और संकल्प मिट गये तो वियोग हो गया। अतः संयोग और वियोग पदार्थोंके साथ भी है, क्रियाओंके साथ भी है और मानसिक भावोंके साथ भी है।

संयोग और वियोग—दोनोंमें अगर विचार किया जाय तो जो संयोग है, वह अनित्य है और जो वियोग है वह नित्य है। यह खास समझनेकी बात है। जैसे, आपका और हमारा मिलना हुआ तो यह संयोग हुआ एवं आपका और हमारा बिछुड़ना हो गया तो यह वियोग हुआ। मिलनेके बाद बिछुड़ना जरूर होगा; परंतु बिछुड़नेके बाद फिर मिलना होगा—यह नियम नहीं है। अतः वियोग नित्य है। पहले आप नहीं मिले तो वियोग रहा और आप बिछुड़ गये तो वियोग रहा। वियोग स्थायी रहा। जितनी देर आप मिले हैं, उतनी देर यह संयोग भी निरन्तर वियोगमें ही बदल रहा है। जैसे, एक आदमी पचास वर्ष लखपति रहा। जब उसे लखपति हुए एक वर्ष हो गया, तब पचास वर्षोंमेंसे एक वर्ष कम हो गया अर्थात् एक वर्षका वियोग हो गया। अतः संयोगकालमें भी वियोग है।

संयोगसे होनेवाले जितने भी सुख हैं, वे सब दुःखोंके कारण अर्थात् दुःख पैदा करनेवाले हैं—'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते' (गीता ५।२२)। अतः संयोगमें ही दुःख होता है। वियोगमें दुःख नहीं होता। वियोग (संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद)में जो सुख है, वह अनन्त है, अपार है। उस सुखका वियोग नहीं होता; क्योंकि वह नित्य है। जब संयोगमें भी वियोग है और वियोगमें भी वियोग है तो वियोग ही नित्य हुआ। इस नित्य वियोगका नाम 'योग' है। गीता कहती है—'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' (६।२३) अर्थात् दुःखोंके संयोगका जहाँ सर्वथा वियो उसको 'योग' कहते हैं। अतः संसारके साथ वियोग नि और परमात्माके साथ योग नित्य है।

'योग' नाम किसका है? पातञ्जलयोगदर्शनने चि वृत्तियोंके निरोधको योग कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरो (१।२)। परंतु गीता समताको योग कहती है—'स योग उच्यते' (२।४८)। यह समता नित्य रहती है। सं पहले भी समता है, अन्तमें वियोग होनेपर भी समता है; संयोगके समय भी समता है। इस प्रकार समतामें नित्य हि ही नित्ययोग है। इस नित्ययोगका जिसको अनुभव हो गय उसको गीताने 'योगारूढ़' कहा है। योगारूढ़की पहचान है? इसके लिये गीता (६।४) ने तीन बातें बतायी हैं पदार्थोंमें आसक्ति न होना, क्रियाओंमें आसक्ति न होना सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग होना—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

तात्पर्य है कि इन्द्रियोंके भोगोंमें और क्रियाओंमें आ न हो तथा भीतरसे यह आग्रह भी न हो कि ऐसा होना चा और ऐसा नहीं होना चाहिये। 'संकल्प' नाम किसका ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये, ऐसा मि चाहिये और ऐसा नहीं मिलना चाहिये, ऐसा संयोग चाहिये और ऐसा संयोग नहीं होना चाहिये—इसको 'संक कहते हैं। अतः न तो पदार्थोंमें आसक्ति हो और न पदा अभावमें आसक्ति हो, न क्रियाओंमें आसक्ति हो औ क्रियाओंके अभावमें आसक्ति हो तथा कोई संकल्प न है 'योगारूढ़' हो गया। तात्पर्य है कि पदार्थ मिले या न क्रिया हो या न हो, इनका कोई आग्रह नहीं हो—'नैव कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन' (गीता ३।१८)। पदार्थ तो अच्छी बात, न मिलें तो अच्छी बात! क्रिया हो तो अ बात, न हो तो अच्छी बात! संकल्प पूरा हो तो अच्छी न हो तो अच्छी बात! वृत्तियोंका निरोध हो तो अच्छी न हो तो अच्छी बात! अपना सम्बन्ध नहीं है इनसे।

इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्ति न होनेका अर्थ हुआ—अचाह और अप्रयत्न होना। इन्द्रियोंके भोगोंमें, पदार्थोंमें आसक्ति न हो तो 'अचाह' हो गये और क्रियाओंमें आसक्ति न हो तो 'अप्रयत्न' हो गये। तात्पर्य है कि चाहनाका भी अभाव हो और प्रयत्नका भी अभाव हो। अचाह और अप्रयत्न हुए तो परमात्मासे अभिन्नता स्वतः हो गयी। वास्तवमें अभिन्नता हो नहीं गयी, अभिन्नता थी। अचाह और अप्रयत्न न होनेसे उसका अनुभव नहीं होता था। चाह और क्रियाका अभाव हुआ तो स्वरूपमें स्थितिका, नित्ययोगका अनुभव हो गया।

परमात्मामें आपकी स्थिति निरन्तर है, आपकी समझमें आये या न आये। आप संसारके साथ जितना सम्बन्ध मानते हैं, उतनी आपकी नित्ययोगसे विमुखता है ! संसारमें सिवाय धोखेके कुछ मिलनेवाला नहीं है। संसारके सब संयोगोंका, सम्बन्धोंका वियोग ही होगा।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥

(वाल्मीकि० २।१०५।१६)

'समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है, लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगोंका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है।'

परंतु परमात्माके साथ जो नित्ययोग है, वह जीवमात्रको सदा प्राप्त है। संयोगजन्य सुखमें फँस जाते हैं, इसलिये परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्धकी तरफ दृष्टि नहीं जाती। तात्पर्य है कि नित्ययोगका अभाव नहीं हुआ है, केवल उधर दृष्टि नहीं है। भोगी-से-भोगी, रागी-से-रागी, पापी-से-पापी, पुण्यात्मा-से-पुण्यात्मा, मुक्त-से-मुक्त, मूर्ख-से-मूर्ख, विद्वान्-से-विद्वान् कोई क्यों न हो, नित्ययोगसे उसका वियोग कभी हुआ नहीं, कभी होगा नहीं, कभी हो सकता नहीं। उस नित्ययोगकी प्राप्ति करना ही गीताका खास सिद्धान्त है। नित्ययोगकी प्राप्ति क्या है ? अप्राप्त (संसार) के माने हुए सम्बन्धको मिटा देना ही नित्ययोगकी प्राप्ति करना है। अप्राप्तके साथ हमने सम्बन्ध किया है, इसीसे नित्यप्राप्तकी तरफसे हम विमुख हो गये हैं। नित्ययोग तो ज्यों-का-त्यों है। परंतु संसारका संयोग कभी रहा नहीं, कभी रहेगा नहीं, कभी रह सकता नहीं। संयोग तो वियोगमें ही बदलेगा। संयोगको आप कभी रख नहीं सकते और वियोग आपको कभी छोड़ नहीं सकता।

पदार्थोंका सम्बन्ध होगा तो उनका वियोग मुख्य रहेगा। क्रियाएँ होंगी तो उनका भी वियोग मुख्य रहेगा। संकल्पोंका भी वियोग होगा। ऐसा हो जाय और ऐसा नहीं हो जाय—ये दोनों ही वियोगमें बदलेंगे। ऐसा होना चाहिये—इसका भी वियोग होगा और ऐसा नहीं होना चाहिये—इसका भी वियोग होगा। परमात्माका योग ही नित्य रहेगा। संकल्प पूरा हो जाय तो भी संयोग नहीं रहेगा और संकल्प पूरा नहीं हो तो भी संयोग नहीं रहेगा। आप **'सर्वसंकल्पसंन्यासी'** स्वतःसिद्ध हैं। संयोगमें आप रस लेने लगते हैं तो आपकी नित्ययोगसे विमुखता हो जाती है। नित्ययोगका वियोग नहीं होता, विमुखता होती है। जब नित्ययोगके सम्मुख हो जाओगे, तब अनन्त जन्मोंके पाप नष्ट हो जायँगे—***'सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥'*** नित्ययोगके सम्मुख होनेपर पाप बेचारा कहाँ टिकेगा ? वह तो विमुखतामें ही टिकता है।

नित्ययोगकी प्राप्तिके लिये जो योगमें आरूढ़ होना चाहता है, उसके लिये कर्म करना कारण है—**'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'** और योगारूढ़ होनेपर अर्थात् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर एक शान्ति मिलती है, वह शान्ति परमात्माकी प्राप्तिमें कारण है—**'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते'** (गीता ६।३)। तात्पर्य है कि जो योगारूढ़-अवस्था है, उसमें राजी नहीं होना है। उसमें राजी होनेसे, उसका भोग करनेसे अटक जाओगे, जिससे परमात्मप्राप्ति होनेमें कई दिन लग जायँगे। जैसे, पहले बालककी खेलमें रुचि रहती है। परंतु जब उसकी रुचि रुपयोंमें होती है, तब खेलकी रुचि अपने-आप मिट जाती है। ऐसे ही जबतक परमात्मप्राप्तिका अनुभव नहीं हुआ है, तबतक उस शान्तिमें रुचि रहती है अर्थात् शान्ति बहुत बढ़िया मालूम देती है। परंतु कुछ दिनके बाद शान्तिकी रुचि अपने-आप मिट जाती है। अगर उस शान्तिका उपभोग न करो, उससे उपराम हो जाओ तो बहुत जल्दी परमात्मप्राप्तिका अनुभव हो जायगा।

योगारूढ़ होनेमें कर्म करना कारण है अर्थात् कर्म

करते-करते जब सबका वियोग हो जायगा, तब योगारूढ़ हो जाओगे। कर्म करनेसे योगकी प्राप्ति होगी—इसका नाम 'कर्मयोग' है; क्योंकि कर्मोंकी समाप्ति हो जायगी और योग नित्य रहेगा। क्रियाओंकी समाप्ति, पदार्थोंकी समाप्ति, परिस्थितियोंकी समाप्ति, संयोगोंकी समाप्ति (सम्बन्ध-विच्छेद) होनेपर नित्ययोग रह जायगा। ऐसे ही ज्ञानके द्वारा संसारसे वियोग किया जाय तो यह 'ज्ञानयोग' है। एक चीज रहनेवाली (अविनाशी) है और एक चीज नहीं रहनेवाली (नाशवान्) है। नहीं रहनेवाली चीजसे वियोग तो हो ही रहा है। केवल आप अनुभव कर लो कि जितने भी पदार्थोंका संयोग है, वह पहले नहीं था, फिर नहीं रहेगा और अब भी प्रतिक्षण वियोगमें बदल रहा है। परंतु इनको जाननेवाला (साक्षी) ज्यों-का-त्यों रहता है। इस प्रकार विचारके द्वारा संसारके संयोगका वियोग करना 'ज्ञानयोग' है। ऐसे ही संसारका सम्बन्ध जितना टूटेगा, उतना परमात्माके साथ सम्बन्ध जाग्रत् होगा। यह 'भक्तियोग' है। अब भी परमात्माके साथ किसी भी प्राणीका वियोग नहीं है। कारण कि परमात्मा सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुओंमें, सम्पूर्ण क्रियाओंमें, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें, सम्पूर्ण अवस्थाओंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। संसारको आदर देनेसे हम परमात्मासे विमुख हो गये। परमात्मा हमारेसे कभी विमुख नहीं हुए।

कर्मके द्वारा योगमें पहुँचो तो कर्मयोग हो गया, ज्ञानके द्वारा योगमें पहुँचो तो ज्ञानयोग हो गया। भक्तिके द्वारा योगमें पहुँचो तो भक्तियोग हो गया। कर्म, ज्ञान और भक्ति—तीनों योगमें समाप्त हो जाते हैं अर्थात् योगमें सब एक हो जाते हैं। उस योगमें सबकी स्वतःसिद्ध नित्य स्थिति है। इस नित्य स्थितिको सँभालना है—*'संकर सहज सरूपु सम्हारा'* (मानस १।५८।४) तात्पर्य है कि ख्याल न होनेसे उसका पता नहीं था, पर ख्याल होते ही पता लग गया कि ओहो! यह बात है!! कितनी सुगम, कितनी श्रेष्ठ बात है!

'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु····· योगारूढस्तदोच्यते'—यहाँ **'यदा'** और **'तदा'** पद देनेका तात्पर्य है कि आप जिस समय पदार्थोंमें, क्रियाओंमें और संकल्पमें आसक्ति नहीं करेंगे, उसी समय आप योगारूढ़ हो जायँगे। अब ऐसा आप एक घंटेमें कर लें, एक दिनमें कर लें, एक जन्ममें कर लें अथवा अनेक जन्मोंमें कर लें, यह आपकी मरजी है।

योगकी प्राप्ति (अनुभूति) होनेपर फिर उससे कर्म निवृत्ति नहीं होती—**'यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः'** (गीता १५।४)। कारण कि निवृत्ति गुणोंके संग होती है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३।२१)। वहाँ गुणोंका अत्यन्त अभाव है, फिर निवृत्ति कैसे होगी? भगवान्का अंश भगवान्में मिल गया! जैसे, आप कितने ही बड़े धनी हैं और बड़े-बड़े होटलोंमें ठ हैं, फिर भी आपका नाम मुसाफिर है। घर चाहे टूटा-फूटा छप्पर हो, पर वहाँ पहुँच गये तो अब आप मुसाफिर नहीं रहे घर पहुँच गये। ऐसे ही नित्ययोगकी प्राप्ति हो गयी तो हम अपने घर पहुँच गये!

अभी वस्तुओंकी और क्रियाओंकी सत्ता मानते हैं, इसलिये कहते हैं—**'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते'**। वास्तवमें इनकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। परमात्मतत्त्वमें न वस्तु है और न क्रिया है। वह वस्तुरहित और क्रियारहित तत्त्व है, इससे उसकी प्राप्ति अभ्याससाध्य नहीं है। मन-बुद्धि इन्द्रियोंकी सहायता लेते हैं और प्रयत्न करते हैं, तब अभ्यास होता है। परमात्मतत्त्व तो ज्यों-का-त्यों है। उसकी प्राप्ति विधि नहीं चलती, प्रत्युत निषेध चलता है। वस्तु और क्रिया-का निषेध करनेपर वह स्वतः है—**'शिष्यते शेषसंज्ञः'**। इसलिये इसमें कुछ करनेकी बात ही नहीं है। यह करण-निरपेक्ष तत्त्व है।

जिसके द्वारा तत्काल क्रियाकी सिद्धि होती है, उसका नाम 'करण' होता है—**'साधकतमं करणम्'**, **'क्रियायाः निष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्'**। जैसे, 'रामके बाणसे बालि मारा गया'—इस वाक्यमें करणत्व बाणमें है, धनुष, प्रत्यञ्चा हाथ आदिमें नहीं। अतः क्रियाकी सिद्धिमें करण काम आता है। परंतु जहाँ क्रिया है ही नहीं, वहाँ करण कैसे का आयेगा? क्रियारहित तत्त्वमें कुछ न करना ही 'करना' है कहते हैं कि अन्तःकरणकी शुद्धिसे वह तत्त्व मिलता है। परं अन्तःकरणकी शुद्धिसे वह तत्त्व मिलता है, जो करण-साध्य होता है। जो तत्त्व करण-साध्य है ही नहीं, उसकी प्राप्ति अन्तःकरणकी शुद्धि-अशुद्धिसे क्या मतलब? मतलब है नहीं है। वास्तवमें करणके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होने

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sanjay Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करणकी जैसी शुद्धि होती है, वैसी शुद्धि किसी उद्योगसे कभी हुई नहीं, कभी होगी नहीं और कभी हो सकती नहीं। कारण कि उद्योग, प्रयत्न करेंगे तो जड़की सहायता लेंगे। यदि जड़की सहायता लेंगे तो जड़से ऊँचे कैसे उठेंगे ?

जिन क्रियाओंका आदि और अन्त होता है, उन क्रियाओंके जनकको 'कारक' कहते हैं। नित्ययोगकी प्राप्तिमें किसी कारककी जरूरत नहीं है अर्थात् कर्ताकी, कर्मकी, करणकी, अधिकरणकी, सम्प्रदानकी, अपादानकी, किसीकी भी जरूरत नहीं है। उसकी प्राप्तिमें इन सभी कारकोंका वियोग है। वह कारक-निरपेक्ष स्वतःसिद्ध तत्त्व है।

जैसे परमात्मामें क्रिया और वस्तुका, कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अभाव है, ऐसे ही आत्मामें भी कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अभाव है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१) अर्थात् शरीरमें रहते हुए भी आत्मा न करता है और न लिप्त होता है। तात्पर्य है कि कर्तृत्वका अभाव और निर्लिप्तता पहलेसे ही विद्यमान है, इनको कहींसे लाना नहीं है। न कर्तृत्वका अभाव करना है और न निर्लिप्तता लानी है, ये तो स्वतःसिद्ध हैं। कर्तृत्व और लिप्तता अपनी बनायी हुई है; अतः इनका त्याग करना है। इनका त्याग होते ही नित्ययोग स्वतःसिद्ध है* । भगवान् कहते हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(गीता १४। १९)

'जब विवेकी मनुष्य तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और अपनेको गुणोंसे पर अनुभव करता है, तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।'

देवोपासनामें शुचि वेषका महत्त्व

शुचि वेष उपासनाका आधार है, परंतु आधुनिक कालमें वैदिक संस्कृतिके विस्मरण और पाश्चात्त्य संस्कृतिके ग्रहणके कारण स्वयं उपासक या साधक स्वतः जो रुचता है, उसे ग्रहण करते हैं, यह बात बहुत ही अनुचित है। यह समझनेकी बात है कि यदि किसी मकानकी नींव ठीक न हो तो उसपर बना हुआ मकान चाहे कितना ही भव्य, सुन्दर या ऊँचा हो, टिकाऊ नहीं हो सकता। इसी प्रकार शुचिताहीन उपासना चाहे कितनी ही साङ्गोपाङ्ग, कितनी ही समृद्ध क्यों न हो, उसमें निहित मूलभूत दोष सारी उपासनामें अनुस्यूत होनेके कारण उस उपासनाको कदापि शास्त्रानुकूल एवं फलदायिनी नहीं रहने देंगे।

शास्त्रानुकूल उपासनाका मूल आधार शुचित्व होनेके कारण उपासनाके पहले स्नान तथा स्नानोपरान्त धौत वस्त्रधारण उपासकके लिये अत्यावश्यक है।

पहले उपासकको शुद्ध जलसे स्नान करके स्वच्छ और पवित्र वस्त्र धारण करना चाहिये। उपासना-शास्त्रमें वेषका स्वतः एक विशिष्ट स्थान है। शिखा, यज्ञोपवीत, कौपीन— ये सर्वसाधारण उपासकके वेष होते हैं। धोती, उत्तरीय भी वैदिक कालमें वस्त्रोंमें परिगणित थे। जगन्नियन्ता प्रजापतिका अर्थात् सगुण परमात्माका दर्शन ऋषिलोग दिव्यदृष्टिसे करते थे। उन्होंने ब्रह्माजीको यज्ञोपवीतके साथ सगुण आकार धारण किये हुए देखा था। यज्ञोपवीतके मन्त्रसे ही यह सिद्ध होता है—

ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं
प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि देव-देवीके स्वाभाविक वेष, उनकी भाषा—सब दैवी होनेके कारण पवित्र थे, उनसे पवित्रताकी वृद्धि होनेके कारण अर्थात् उन्नति-साधन होनेके कारण ऋषि-मुनियोंने उनका अनुकरण और प्रसार किया। विशिष्ट वेष-धारणका दूसरा उद्देश्य यह है कि अपनी रुचिकी बात जब दूसरा अङ्गीकार करेगा तो वह सहज ही अपना प्रिय बन जायगा। यह बात मानस-शास्त्रकी दृष्टिसे सुस्पष्ट है। इस

---

* इस विषयको विस्तारसे समझनेके लिये 'गीता-दर्पण' में आया 'गीतामें द्विविध सत्ताका वर्णन' शीर्षक लेख पढ़ना चाहिये।

प्रकार वैदिक संस्कृतिमें प्रसरित वेष-परिधान करनेसे वेदवर्णित देवता प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वह वेष उनकी रुचिका है। अस्तु, उपासनाका हेतु क्या है ?— देवताको प्रसन्न करना ही तो है ? इसलिये बात छोटी हो या बड़ी, देवताको प्रसन्न करनेके लिये बाल्यकालसे ही वह अवश्य ग्रहणीय होती है। अतएव साधनामें तत्त्वतः छोटे-बड़े भाव न होनेके कारण वेषका क्या महत्त्व रह जाता है ? यह सोचकर वेषादिकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। वेष, मन्त्र, जप, ध्यान, पूजा, स्तुति-स्तोत्र आदिमें कोई भी साधन हो, वह बाह्य होनेके कारण दृश्य हो या आन्तरिक होनेके कारण अदृश्य हो—तथापि साधनाकी दृष्टिसे उसका अपना महत्त्व है। इनमें आचार बाह्य होनेपर तथा इनका प्रारम्भ वेषसे होनेपर विज्ञ पुरुषकी दृष्टिमें इनका महत्त्व अकारण नहीं जान पड़ता।

'आचारः प्रथमो धर्मः।' 'आचारप्रभवो धर्मः' अथवा **'आचारः परमो धर्मः'**—इत्यादि शास्त्र-वचनोंके द्वारा आचार-धर्मका पालन उपासकके लिये अनिवार्य हो जाता है।

जो विशुद्ध वेष वेदोंमें प्रशंसित है, देवताओंको प्रिय लगनेवाला है, उसे ही धारण करना चाहिये। यह शुद्धता, स्वच्छता और पवित्रता दोनोंपर अवलम्बित है। 'स्वच्छता' का अर्थ है 'बाह्य शुद्धता' और 'आन्तरिक शुद्धता' को 'पवित्रता' कहते हैं। बाह्य शुद्धता शारीरिक आरोग्यके लिये है और आन्तरिक शुद्धतासे मानसिक आरोग्यको बनाये रखनेमें सहायता मिलती है। उपासना मुख्यतः आन्तरिक अर्थात् मानसिक और आत्मिक उन्नति-साधनके लिये होती है। अतएव पवित्रताकी उपेक्षा करके केवल बाह्य स्वच्छतापर निर्भर रहनेसे उपासकका काम नहीं निकल सकता। इसलिये जल-वस्त्रादि सारे उपासनाके साधनोंको शुचि यानी पवित्र बनाये रखनेपर ही लक्ष्य होना चाहिये।

यहाँ शुचिताके विषयमें वैज्ञानिक दृष्टिसे कुछ रहस्य-निदर्शन आवश्यक जान पड़ता है। चर और अचर अर्थात् प्राणी और जड पदार्थ, अपने विशिष्ट स्वभाव यानी गुण-धर्मसे आवेष्टित होते हैं। इसके अतिरिक्त परिवर्तनशील संस्कारके कारण यह आवेष्टन भी अनित्य होता है। इन दोनोंके मिलनेसे एक वलय तैयार होता है। उस वलयमें उलट-फेर, अच्छे-बुरे गुण-कण कार्यरत रहते हैं। एक पदार्थका दूसरे पदार्थके सा सम्पर्क होनेपर उनके पारस्परिक वलयका मिश्रण होता है औ उनसे संकर अर्थात् मिश्रस्वरूपके वलयका निर्माण होता है इस वलयमें जीवदृष्टिसे वैचारिक और वैकारिक परमाणुओं न्यूनाधिक मिश्रण होनेपर त्रिगुणोंका संचालन विवि शक्तियोंके रूपमें क्रियाशील हो जाता है। उसके द्वा दैवीशक्तिकी हानि करनेवाले अर्थात् मारक और बाधक वलयोंके गुण 'अशुद्धिकर' होते हैं। इसके विपरीत अच्छे गुणोंसे युक्त परमाणु 'शुद्धिकर' होते हैं।

'आचार'—प्रत्यक्षतः जाननेमें आता है और 'विचा परोक्षतः, परंतु इसके दूसरी ओर अर्थात् भौतिक कक्षा अप्रत्यक्ष क्षेत्रमें जो कुछ चल रहा है, वह सामान्य दृष्टिगोचर नहीं होता और न जाननेमें आता है। केवल उस क्षेत्रमें प्रकृतिके और शक्तिके परिणाम होते रहते हैं, क्रिया प्रतिक्रिया सतत चालू रहती है। यह गूढ़ तत्त्व बहुत है महत्त्वका है। इस प्रकारकी क्रिया-प्रतिक्रियासे वलय-वलय जो संघर्ष उत्पन्न होता है, उस संघर्षमें दैवी गुणकणोंका ह्रास होते रहना स्वाभाविक होता है। उसको पलटकर अर्था अशुद्ध गुणकणोंका ह्रास करके दैवी गुणकणोंकी वृद्धि करन विशिष्ट विधिद्वारा ही हो सकता है। यहाँ विचारशक्ति कारण नहीं होती, यह महत्त्वकी बात है। इस विधिका आधार आचार धर्मपर रहता है। अर्थात् विशिष्ट प्रकारसे किये जानेवा स्नान-आचमन आदि शुद्धि-कर्म दैवी गुणोंके उदयके लिये पवित्रताके लिये अर्थात् शुचिकरणार्थ साधक होते हैं। इ शुद्धि या पवित्रताका उद्देश्य यह होता है कि अपने गतिशील वलय, जो इतर राजस-तामस अर्थात् अपवित्र प्राणी-पदार्थोंके सम्पर्कसे मिश्रित होते रहते हैं, वे शुद्ध होकर दीप्तिमान हो उ यही नहीं— बल्कि शुद्ध होनेके बाद वे अधिक पुण्य-गुणों युक्त हों। शुचित्वका रहस्य निश्चयपूर्वक इसीमें निहित है।

सारांश यह है कि विरोधी गुणोंका, शक्तियोंके वलयरूपमें एकत्र होना दोनोंके ही लिये घातक होता है क्योंकि इसमें संघर्ष पैदा होता है। ये दोनों ही वलयान्तर्ग होनेवाले संघर्ष व्यक्तिकी दैवी और पारमार्थिक उन्नति स्वभावतः बाधक होते हैं। यह विरोध या संघर्ष यद्यपि हम मनमें आभासित नहीं होता, तथापि सम्पर्कद्वारा सूक्ष्मत

घटित होता ही है। यह दैवी सत्य है। आधुनिक विज्ञानने भी यह सिद्धान्त प्रस्थापित किया है कि जिसे हम प्रकट रूपमें नहीं जानते, वह संज्ञा-प्रवाह अन्तर्मनको ज्ञात होता है और उसका दृश्य-परिणाम किसी-न-किसी रूपमें दीख पड़ता है। अन्तर्मनकी यह ज्ञान-कक्षा निरोध या संघर्षसे युक्त होनेके कारण किसी-न-किसी प्रकार ज्ञात या अज्ञातरूपमें उसका स्फोट विकृतरूपमें होता है। आधि अर्थात् मानसिक रोग और व्याधि अर्थात् शारीरिक रोग उसी विकृतिके रूप हैं। उदाहरणार्थ आजकलके अपस्मार आदि रोग इसी कोटिमें आते हैं। इसके विपरीत अन्तर्मनमें स्थित ज्ञान अनुकूल और व्यक्तित्वके लिये अनुरूप होनेपर उसका परिणाम आरोग्य, उल्लास आदि रूपमें दिखलायी देता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो बात हमारी जानकारीमें नहीं है, वह है ही नहीं—ऐसा नहीं समझना चाहिये। वह अन्तमें कार्यरत होता है तथा **'फलानुमेयः प्रारम्भः'**—इस नीतिके अनुसार परिणाम देखकर उसके मूलका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस दृष्टि और क्रमसे अन्तर्मनके आगे जानेपर वहाँ कार्य करता हुआ अज्ञात संज्ञा-प्रवाह दिव्यदृष्टिसे दीख पड़ता है। इस प्रवाहके समुदायसे चराचर पदार्थोंके, विशेषतः व्यक्तिके आधिदैविक वलय भरे रहते हैं। इन वलयोंमें पूर्वजन्मके शक्तिशाली संस्कार, जन्मजात गुणधर्म आदिकी लहरें आन्दोलित होती रहती हैं अर्थात् तत्तत् गुण-कणोंके स्पन्दनसे वे वलय परिपूर्ण होते हैं। जिस प्रकार प्रकृतिमें पानीका प्रवाह नीचेकी ओर बहता है, उसी प्रकार इस प्रवाहका खिंचाव स्वभावतः अवनतिकी ओर होता है। अतएव नलका पानी जैसे ऊपरकी ओर खींचा जाता है, उसी प्रकार उन्नति भी प्रयत्नपूर्वक साध्य हो सकती है। पूर्वजन्मोंके बलिष्ठ संस्कारोंके द्वारा जन्मसे ही उन्नतिकी ओर प्रवृत्ति हो तो इसे अपवाद ही समझना चाहिये। दूसरी बात यह है कि दृश्य-अदृश्य जगत्में तामसी शक्तिका प्रभाव और प्राबल्य प्रकृतितः देखनेमें आता है। उसके द्वारा व्यक्ति-वलयकी लहरें उसका आहार बनकर दूषित हो जानेके कारण बहुत ही हानिप्रद हो जाती हैं। ऐसी स्थितिमें उन्हें दूषित न होने देना अर्थात् मुमुक्षु व्यक्ति उससे अलिप्त रहकर सम्भाव्य अवनतिको टाल दे, यही शुचि अर्थात् पवित्र करनेका मूल हेतु है। उदाहरणतः नीरोग मनुष्यके सहवाससे रोगी व्यक्तिके अच्छा होनेकी बात सुननेमें नहीं आती, इसके विपरीत रोगके कीटाणुओंके प्रभावसे रोगी व्यक्तिके पास रहनेवाला नीरोग मनुष्य भी बीमार पड़ जाता है। लोहेको अपने स्पर्शसे सुवर्ण बना देनेकी पारस-पत्थरकी शक्ति अथवा नालीके जलको अपनेमें मिलाकर शुद्ध कर देनेकी गङ्गाजीकी शक्तिको अपवादस्वरूप ही समझना चाहिये। अतिरिक्त इसके नालीमें मिलकर स्वच्छ स्रोतके जलको गंदा होनेका दृश्य सर्वत्र देखनेमें आता है। इसका कारण स्पष्ट है, और वह है—निसर्गतः तामस गुणका प्राबल्य। जगत्की उत्पत्ति भी तो मूलतः अज्ञानवश हुई है, यह वेदान्तशास्त्रका सिद्धान्त है। अज्ञान तमोगुणका लक्षण है। अतएव यह स्वभावतः तमोगुणका ही प्रभाव है। सबसे प्रथम उत्पन्न और सबका आधार आकाश भी तो तमोरूप है! तथापि अपने अङ्गके तेजसे आकाशके भीतरके अन्धकारको दूर करनेका कार्य सूर्य-तारागण आदि अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार करते ही हैं। इसी प्रकार तमोगुणके प्रभावसे दूर रहकर, अपनी सामर्थ्यको बढ़ाकर उन्नत होना मानवका कर्तव्य है। इस प्रकारके अनिष्ट प्रभावको नष्ट करनेका एक प्रबल उपाय शुचि अर्थात् पवित्रताकी क्रिया है। इस प्रकार इस उपायसे शुद्ध होनेके बाद अपने वलयमें पुण्य प्रभावकी वृद्धि अर्थात् पवित्रीकरण होता है। अतएव ये दोनों प्रक्रियाएँ करनेसे उन्नयनका अथवा उपासनाका हेतु सफल होता है। सारांश यह है कि भौतिक आरोग्यकी दृष्टिसे स्वास्थ्यशास्त्रका जो महत्त्व है, वैसा ही दैवी स्वच्छताके अथवा आरोग्यताके शास्त्रके अनुसार शुचिता या पवित्रताका महत्त्व है। इसको दिव्य स्वास्थ्यके नामसे पुकारना ठीक होगा।

तात्पर्य यह है कि स्वच्छता (भौतिक) और शुचित्व (दैविक) दोनों घटकोंके मिलानेसे 'शुद्धि'—तत्त्व पूर्ण होता है। इस दृष्टिसे वेषमें रेशमी, ऊनी तथा सूती धौतवस्त्र शुद्ध माने गये हैं। इनमें शुद्धिके अतिरिक्त पवित्रताका अर्थात् पुण्यकारिताका ही गुणधर्म स्वभावतः निहित है।

अशुद्धिकी क्षीण करनेकी प्रक्रियाको शुद्धिकरण तथा अशुद्धिकी क्षीणताके आगे शुद्धताकी दृढ़ताको पवित्रीकरण कहते हैं। धर्मशास्त्रोंके द्वारा ये दोनों ही प्रशंसित गुण जल और वस्त्रादिमें रहते हैं। इनके द्वारा हमारे चक्राकार मिश्रित

वलय शुद्ध और दीप्तिमन्त होते हैं। उन वलयोंमें सत्त्वगुणके परमाणु और सात्त्विक शक्ति संक्रमित होकर उनको दिव्य और तेजस्वी बनाते हैं। यह दिव्यता और तेजस्विता उपासनाके लिये नितान्त आवश्यक होती है।

सूती वस्त्रका नित्य धोना आवश्यक है तथा उसको अन्य संस्कारोंसे अलिप्त शुचि तथा पवित्र होना चाहिये। रेशमी और ऊनी वस्त्र भी स्वच्छताकी दृष्टिसे खूब धुले होने चाहिये। इन तीनों प्रकारके वस्त्रोंमें मानसिक और दैविक शक्तिकी उन्नतिके लिये आवश्यक तेज निहित रहता है। सूक्ष्म प्रज्ञा होनेपर जो जानना चाहो, वह जान सकते हो। सूक्ष्म प्रज्ञा या दिव्यदृष्टि यदि एक बार प्राप्त हो जाय तो भी ऐसे वस्त्रोंमें रहनेवाले विद्युत् तेजके द्वारा इनमें स्थित सुप्त-शक्तिका अनुमान हो सकता है। इस प्रकारकी सुप्त-शक्ति कृष्णमृगचर्म, दर्भ, पञ्चपल्लव, पञ्चगव्य, गङ्गोदक आदि पवित्र वस्तुओंमें पर्याप्त परिमाणमें रहती है। अतएव शुद्धिके लिये या पवित्रताकी प्राप्तिके लिये प्रसङ्गानुसार इन सबका उपयोग करना उपासनाकी दृष्टिसे अत्यावश्यक होता है।

सारांश यह है कि ऐसे स्वच्छ और शुद्ध अर्थात् शुचि और पवित्र वेष, जो वेद-सम्मत हैं, तथा वैदिक संस्कृतिके द्वारा अनुमोदित हैं, उनका परिधान करके उपासकको संध्या-पूजा, ध्यान आदि अङ्गोपाङ्गसे युक्त उपासना करनेसे वह उपासना शास्त्रानुकूल शुद्धिपर अवलम्बित होनेके कारण शीघ्र ही सफलता प्रदान करती है। अतएव विधियुक्त उपासनाको आचरणमें लानेवाले साधककी उन्नति स्वभावतः बहुमुखी और सर्वाङ्गीण होती है तथा वह इसके द्वारा आत्मोद्धार करके अन्य लोगोंके लिये निश्चित मार्गदर्शक बन सकता है।

उपासनामें शुचिता या शुद्धिकी बड़ी महत्ता है। यह शुद्धि मुख्यरूपसे निम्नलिखित रूपमें समझनी चाहिये—

१-जो ईमानदारी, सत्य तथा परहितयुक्त उपार्जित धन हो—वह द्रव्य शुद्ध है।

२-जिसमें सम्मान, सत्य तथा हित भरा हो—ऐसा बर्ता शुद्ध है।

३-जिसमें निज-सुख-वासनाका त्याग एवं प्रेमास्पदको सुखी बनानेकी एकान्त इच्छा और क्रिया सहज हो— वह प्रे शुद्ध है।

४-जिस सेवाके बदलेमें निष्काम सेवा करनेकी ही वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती हो—वह सेवा शुद्ध है।

५-जिस व्यापारमें हिंसा, पर-अहित, चोरी आदि न होकर केवल आजीविका-निर्वाहार्थ सत्यता हो—वह व्याप शुद्ध है।

६-जिसमें घबराहट पैदा करनेवाले शब्द न हों, जो सत्य हो, मधुर हो एवं हितकर हो— वह वाणी शुद्ध है।

७-जिसमें अहिंसा, सेवा, गुरुजनोंका पूजन-मान, ब्रह्मचर्य, निरभिमानतायुक्त विनय हो तथा जो शुद्ध खान-पानसे पोषित एवं भजनपरायण हो— वह शरीर शुद्ध है।

८-जिसमें प्रसन्नता, निर्मलता, दया, सतत ईश्वर-चिन्त और शुद्ध भाव-विचार भरे हों और जो कभी व्यर्थ-अनर्थकी बात न सोचता हो— वह मन शुद्ध है।

९-जिसमें मद्य, मांस, अंडे, तामसी वस्तु, जूठन आदि न हों और जो खिलानेवालेको सुखी बनाकर किया जाता है तथा जो चोरीकी कमाईका न हो—वह खान-पान शुद्ध है।

१०-जिसमें राजस, तामस शृंगार न हो, हिंसा न हो, चोरीकी कमाईका न हो, अपने तथा दूसरेके मनमें विकार पैदा न करके शुद्ध-भाव पैदा करनेवाला हो, स्वच्छ, सादा तथा पवित्र हो, अच्छी तरह शुद्ध साधनोंसे धोया-साफ किया हुआ हो— (चर्बीके साबुनसे नहीं),—वह वस्त्र-परिधान शुद्ध है।

११-जिससे मनमें सेवा-भाव, त्याग-भाव, सादगी, इन्द्रिय-संयम, दैवी-सम्पदाके गुण, भगवद्भक्ति, भोगविर आदि उत्पन्न होते हों—वह सत्सङ्ग तथा वह स्वाध्या शुद्ध है।

◆

संसारमें मनुष्य अहंभावके कारण अनेक कष्ट सहता है। लक्ष्मी चञ्चला और क्षणस्थायिनी है। लाभके साथ हानि छायाकी भाँति रहती है। जीवात्माको परमात्माका अंश समझकर मृगतृष्णाका पीछा छोड़ो, भ्रम त्यागकर ज्ञान प्राप्त करो और ईश्वरके मार्गमें प्रविष्ट हो।—शंकराचार्य

◆

विश्वहितके लिये हमारी सनातन प्रार्थना

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्॥

दुर्जन हों सज्जन-सुखदाता सज्जन शान्ति-प्रदाता हों।
बन्धन-मुक्त शान्त जन अन्य जनोंके विमुक्ति-दाता हों॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु॥

समाजका कल्याण करें नित न्यायोचित शासन भूपाल।
गो, ब्राह्मण नित रहें कुशल जन, सभी सुखी होवें तत्काल॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी शस्यशालिनी।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः॥

यथा-समय बारिश हो, धरती हरी-भरी धन-धान्यवती।
क्षोभ-रहित हो देश हमारा ब्राह्मण हों भय-रहित व्रती॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

सभी सुखी आरोग्यवान् हों मङ्गलमय दर्शन पावन।
रहे न कोई दीन दुखी, जगमें लहरावे नवजीवन॥

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

कठिन कष्ट संकट हों पार करें, सब शुभ दर्शन पावें।
मनवाञ्छित फल प्राप्त करें जन मन प्रमुदित चित लहरावें॥

स्वस्ति मात्रे उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेन सूर्यम्॥

पितर हमारे हों प्रसन्न गोमाताओंका हो कल्याण।
प्राणिमात्र हों सुखी जगत्में स्वजनोंका मङ्गल-कल्याण॥
ज्ञानारोग्यानन्द-प्रदाता सूर्यदेवका शुभ दर्शन।
देह, प्राण, मनसे हम वर्णन करें नित्य नव दिग्दर्शन॥

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद् वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारमवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(ऋग्वेदीय शान्तिपाठ)

हे सच्चिदानन्द परमात्मा! सुस्थिर हो वाणी मनमें।
मन वाणीमें स्थिर हो जावे एकाकार सुजीवनमें॥
प्रकाश-रूप-स्वरूप प्रभो! प्रगटो प्रार्थना यही मेरी।
वेदज्ञानी मन हो मेरा तदनुरूप वाणी मेरी॥
श्रीगुरुमुखसे सुना और जो अनुभव मैंने कर पाया।
ज्ञान रहे चैतन्य-रूप वह कभी न भूलूँ भरमाया॥
चाह यही दिन-रात करूँ अध्ययन गहनमें रमा रहूँ।
नित्य-निरन्तर ब्रह्मज्ञानके चिन्तनमें नित निरत रहूँ॥
वाणीसे श्रेयस्कर शब्दोंका ही मैं उच्चार करूँ।
सदा सत्य बोलूँ, परमेश्वर रक्षा करें यह आस धरूँ॥
परब्रह्म परमात्मासे नतमस्तक विनय यही मेरी।
रक्षित हों आचार्य देव सिखलाते ब्रह्मविद्या गहरी॥
अनुगृहीत हूँ मैं परमात्मन्! रक्षा मेरी आप करें।
आचार्य ब्रह्मज्ञानी उनकी रक्षा हो प्रभु! सम्मान करें॥
आधिदैविक, आधिभौतिक आध्यात्मिक हैं त्रिविध ताप।
हे प्रभो! हो जायँ शान्त, हो जायँ शान्त, हो जायँ शान्त॥

(अनु०—श्रीमदालसा नारायण)

[प्रेषक—श्रीजयदयालजी डालमिया]

सत्पुरुषोंके गुण

धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहिता मित्रेऽवञ्चकता गुरौ विनयिता चित्तेऽतिगम्भीरता।
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेऽतिविज्ञानिता। रूपे सुन्दरता हरौ भजनिता सत्स्वेव संदृश्यते॥

धर्ममें तत्परता, वाणीमें मधुरता, दानमें उत्साह, मित्रोंसे निष्कपटता, गुरुजनोंके प्रति नम्रता, चित्तमें गम्भीरता, आचारमें पवित्रता, गुणग्रहणमें रसिकता, शास्त्रमें विद्वत्ता, रूपमें सुन्दरता एवं हरिभजनमें लगन—ये सब गुण सत्पुरुषोंमें ही देखे जाते हैं।

श्राद्ध-मीमांसा

(पं० श्रीजौहरीलालजी शर्मा)

श्राद्ध क्या है ? किसका होता है ? जीवितोंका या मृतकोंका ? करना चाहिये या नहीं ? इत्यादि अनेक शङ्का-समाधान इसके विषयमें प्राचीन कालसे ही होते चले आ रहे हैं। श्राद्ध पितरोंकी तृप्तिके निमित्त अवश्य करना चाहिये यह सिद्धान्त है, इसकी कुछ चर्चा सर्वसामान्यके लाभार्थ यहाँ की जाती है।

श्राद्ध किसे कहते हैं ? इस विषयमें महर्षि पराशरका मत है—

देशे काले च पात्रे च विधिना हविषा च यत्।
तिलैर्दर्भैश्च मन्त्रैश्च श्राद्धं स्याच्छ्रद्धया युतम्॥

'उपयुक्त देश, काल, पात्रके विचारसे हविष्य आदिके द्वारा विधिपूर्वक, श्रद्धाके साथ तिल, कुश और मन्त्र आदिकी सहायतासे जो कृत्य (पितरोंकी तृप्तिके निमित्त) सम्पादित किया जाता है, उसे श्राद्ध कहते हैं।' इसी प्रकार महर्षि मरीचि भी कहते हैं—

प्रेतान् पितॄंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत्प्रियमात्मनः।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्तितम्॥

'प्रेत तथा पितरोंके निमित्त अपना प्रिय भोजन जिस कर्ममें श्रद्धाके साथ दिया जाता है, वह श्राद्ध कहलाता है।' महाराज मनुजीका भी ऐसा ही मत है—

यद्यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः।
तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्॥

'(मनुष्य) श्रद्धाके साथ विधिपूर्वक पितरोंके लिये जो-जो यथोचित (भोजनादि कव्य-पदार्थ) देता है, उससे परलोकमें पितरोंको बहुत तृप्ति होती है।'

हेमाद्रिके मतमें श्राद्ध शब्दका वाच्य वह कर्म है जिसमें हवन, पिण्डदान और ब्राह्मण-भोजन कराया जाय। यथा—

होमश्च पिण्डदानं च तथा ब्राह्मणभोजनम्।
श्राद्धशब्दाभिधेयं स्यात् .... ॥

इत्यादि।

श्राद्धके भेद—इसके अनेक भेद हैं, कुछ ये हैं—

१-एकोद्दिष्ट—यह एक पितरके उद्देश्यसे किया जाता है।

२-पार्वण—पिता, पितामह, प्रपितामह। मातृ तीन और सपत्नीक मातामहादि तीनके निमित्त किया जाता है।

३-इष्ट-श्राद्ध—यज्ञके आरम्भमें होता है।

४-अष्टका-श्राद्ध—यह पौष, माघ, फाल्गुन मा कृष्णपक्षकी अष्टमीको होता है।

५-महालय—यह कन्यागत सूर्यमें आश्विनमा कृष्ण-पक्षमें होता है।

महर्षि विश्वामित्र बारह श्राद्ध मानते हैं—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं सपिण्डनम्।
पार्वणं चेति विज्ञेयं गोष्ठ्यां शुद्ध्यर्थमष्टमम्॥
कर्माङ्गं नवमं प्रोक्तं दैविकं दशमं स्मृतम्।
यात्रास्वेकादशं प्रोक्तं पुष्ट्यर्थं द्वादशं स्मृतम्॥

१-नित्यश्राद्ध—यह नित्य किया जाता है, इ विश्वेदेव नहीं होते।

२-नैमित्तिक—यह एकोद्दिष्ट होता है, इसमें एक, आदि अयुग्म ब्राह्मण-भोजन कराया जाता है। यह विश्वेदेवरहित होता है।

३-काम्य—यह श्राद्ध किसी पुत्र-धनादिकी प्रा कामनासे किया जाता है।

४-वृद्धि—यह पुत्रजन्मादि-संस्कारोंमें पितरों प्रसन्नताके निमित्त किया जाता है। इसे नान्दीमुख आभ्युदयिक श्राद्ध भी कहते हैं।

५-सपिण्डन—यह श्राद्ध गन्ध, जल, तिल आ किया जाता है। इसमें चार पात्र होते हैं, प्रेतका पितरोंके सम्मेलन होता है।

६-पार्वण—यह अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा अमावास्याके दिन अथवा संक्रान्ति आदि पर्वके दिन होता है।

७-गोष्ठीश्राद्ध—गोष्ठीमें अनेक लोग प्रसन्नता स्वेच्छासे सामग्री एकत्र कर इसे सम्पन्न करते हैं।

८-शुद्धिश्राद्ध—इसमें किसी शुद्धिके नि ब्राह्मण-भोजन कराया जाता है।

९-कर्माङ्गश्राद्ध—गर्भाधान, पुंसवन आदि संस्कारकर्मोंका अङ्गभूत होनेसे यह कर्माङ्ग श्राद्ध कहल

१०-दैविक—यह श्राद्ध देवताओंके निमित्त होता है।

११-यात्रा—यह देशाटनको जाते समय या प्रवेशके समय किया जाता है।

१२-पुष्टि—यह शरीरको स्वास्थ्यलाभ होनेपर अथवा धनादिके लाभ होनेपर किया जाता है। तीर्थ-श्राद्ध, गयाश्राद्ध आदि और भी अनेक भेद हैं।

श्राद्धके उपयुक्त देश—गङ्गा-यमुनादिका तीर, कुरुक्षेत्र, प्रभासक्षेत्र, गया, प्रयाग, गयाशीर्ष, पुष्कर, अमरकण्टक, तुलसीवन आदि अनेक हैं, किंतु श्राद्धके लिये सर्वोत्तम स्थान अपना घर माना गया है, जो तीर्थसे अठगुना फलदायक है। घर एकान्त और गोबरसे लिपा-पुता होना चाहिये।

शुचिदेशं विविक्तं तु गोमयेनोपलेपयेत्।
तीर्थादष्टगुणं पुण्यं स्वगृहे ददतः शुभे॥

उपयुक्त काल—यज्ञोपवीत-विवाह आदि संस्कार, संक्रान्ति, युगादि तिथियाँ, ग्रहण, देवप्रतिष्ठा, गृह-प्रतिष्ठा, कूपारामादि अथवा जब कर्ताकी इच्छा हो या जब उपयुक्त सामग्री आदिका लाभ हो जाय।

श्राद्धकमलाकरमें श्राद्धके ७२ अवसर बतलाये गये हैं—१२ अमावस्याएँ, १२ संक्रान्तियाँ, १४ मन्वादि एवं ४ युगादि तिथियाँ, ४ अवन्तिकाएँ (आषाढ़ी-आषाढ़में, उत्तराषाढ़ानक्षत्रका योग, कार्तिकी, माघी, वैशाखी), १६ अष्टकाएँ (अगहन, पूस, माघ, फाल्गुन दोनों पक्षोंकी सप्तमी-अष्टमी तिथियाँ हैं), ६ अन्वष्टकाएँ (पूस, माघ, फाल्गुनकी अष्टकाके पीछेवाली नवमी तिथियाँ), दो निधन-तिथियाँ एवं दो अयनयोग (उत्तरायण, दक्षिणायन)—ये ७२ श्राद्धके अवसर हैं[1]। वैसे शास्त्रोंमें श्राद्धके कुल ९६ पवित्र अवसर बताये गये हैं।

श्राद्ध-ब्राह्मण—विद्वान्, वेदज्ञ, सदाचारी, अपनी शाखाका गुणी, धेवता, भानजा, अभ्यागत आदि होने चाहिये।

नियम-पालन—श्राद्धकर्ता और श्राद्धमें भोजनार्थ निमन्त्रित ब्राह्मणादि भोक्ता अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, शौच, स्वाध्याय, ईश्वर-चिन्तन आदि नियमसे रहें।

श्राद्धोपयोगी अन्नादि—गेहूँ, जौ, चावल, तिल, उड़द, मूँग, समा, पसाई, चना, सरसोंका तेल, गौका दूध, दही, घी, भैंसका दही-मट्ठा, केला, गन्ना, सिंघाड़ा, ककड़ी, खरबूजा, इमली, आमला, सेव, संतरा, अनार, सेंद, बेर, बेल, भसींडा, नीबू, अंगूर, अदरख, मूली, खिरनी, जम्भीरी, मुनक्का, नारियल, लौकी, आलू, अरवी, जमीकन्द, शकरकन्द, तोरई, काशीफल, बथुआ, खोल, गुड़, शक्कर, चीनी, जीरा, धनिया, सोंठ, हींग, मिर्च, सेंधा नमक, इलायची, पान, सुपारी, तुलसी, कपूर, शहद, अन्य उत्तम ऋतुफल और शाक। मध्याह्न और अपराह्न, खड्गपात्र, नेपाल-कम्बल, चाँदी, कुश, तिल, शाक एवं दौहित्र—ये आठ वस्तुएँ पवित्र मानी गयी हैं।

पात्र—श्राद्धमें रत्न, सुवर्ण, चाँदी, ताँबा, काँसी, मट्टी, ढाकके पत्ते, रत्नपात्र अच्छे हैं। भोजनमें लोहेका पात्र निषिद्ध है। इसी प्रकार शुद्ध जल, सफेद चन्दन, पुष्प, वस्त्र, धूप, दीप, अक्षत, यज्ञोपवीत आदि पदार्थ श्राद्धमें ग्राह्य हैं।

श्राद्धमें शास्त्रका उपयोग—पुरुषसूक्त, श्रीसूक्त, पावमानी, पारिप्लवाख्यान आदि वेदके अन्य सूक्तोंके स्वाध्यायसे, कठोपनिषदादि उपनिषदोंके विशिष्ट भागका प्रवचन करनेसे, धर्मशास्त्रका पाठ करनेसे एवं पुराणेतिहासोंके पुण्यस्थलोंके कथोपकथनसे एवं श्रीमद्भगवद्गीता आदि पुण्य ग्रन्थोंके पाठसे पितरोंको विशेष लाभ होता है।

श्राद्धमें अत्यन्त पवित्र तीन प्रयोजनीय—कुतप नामक मुहूर्त[2] (दोपहरके बाद कुल २४ मिनटका समय),

---

[1] १-अमावस्या द्वादशैव क्षयाहद्वितये तथा। षोडशापरपक्षस्य अष्टकान्वष्टकाश्च षट्॥
संक्रान्त्यो द्वादश तथा अयने द्वे च कीर्तिते। चतुर्दश च मन्वादेर्युगादेश्च चतुष्टयम्॥
अवन्तिकाश्चतस्रश्च श्राद्धान्येवं द्विसप्ततिः। (श्राद्धकमलाकर)

[2] २-अह्नो मुहूर्ता विख्याता दश पञ्च च सर्वदा। तस्याष्टमो मुहूर्तो यः स कालः कुतपः स्मृतः॥ (मत्स्यपुराण)
'पंद्रह मुहूर्तोंमें विभक्त दिनमानके अष्टम भागको 'कुतप' कहते हैं।

तिल, दौहित्र[१]—इन तीन वस्तुओंको मनुने श्राद्धमें अत्यन्त पवित्र कहा है[२]।

श्राद्धमें प्रशंसनीय तीन गुण—पवित्रता, अक्रोध और अचापल्य (जल्दीबाजी नहीं करना)—ये तीन श्राद्धमें प्रशंसनीय गुण हैं[३]।

श्राद्धमें तुलसीकी महामहिमा—तुलसीकी गन्धसे पितृगण प्रसन्न होकर गरुड़पर आरूढ़ हो विष्णुलोकको चले जाते हैं। तुलसीसे पिण्डार्चन किये जानेपर पितरलोग प्रलयपर्यन्त तृप्त रहते हैं[४]।

शङ्का-समाधान

१-प्र०—श्राद्ध करनेसे क्या लाभ होता है?

उ०—श्राद्धसे अनेक लाभ हैं। प्रथम तो उन पितरोंको तृप्ति होती है, जिनके निमित्त यह किया जाता है, किंतु इससे भी अधिक लाभ होता है, जैसा कि विष्णुपुराणसे सिद्ध है—

ब्रह्मेन्द्ररुद्रनासत्यसूर्याग्निवसुमारुतान्।
विश्वेदेवान् पितृगणान् वयांसि मनुजान् पशून्॥
सरीसृपानृषिगणान् यच्चान्यद् भूतसंज्ञितम्।
श्राद्धं श्रद्धान्वितं कुर्वन् प्रीणयत्यखिलं जगत्॥

'श्रद्धासहित श्राद्धकर्म करनेसे मनुष्य ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, अश्विनीकुमार, सूर्य, अग्नि, वसु, मरुद्गण, विश्वेदेव, पितृगण, पक्षी, मनुष्य, पशु, सरीसृप (सर्पादि), ऋषिगण, भूतगण आदि सम्पूर्ण जगत्को तृप्त कर देता है।' दूसरे, भोजन करनेवाले सदाचारसम्पन्न, योग्य, वेद-शास्त्रज्ञ, ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार और उनकी सहायता होती है। जिसके बदलेमें वे लोग अपना सत्कर्मांश देकर श्राद्धदाताका कल्याण करते हैं। तीसरे, श्राद्धकर्ताको जो फल मिलता है उसका वर्णन इ प्रकार है—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पितरः श्राद्धतर्पिताः॥

'पितरलोग श्राद्धमें तृप्त होकर श्राद्धकर्ताको दीर्घ आ धन, संतान, विद्या, अनेक प्रकारके सांसारिक सुख, रा स्वर्ग और मोक्षतक देते हैं।' महर्षि सुमन्तुके मतमें तो श्रा बढ़कर कल्याणकारी कोई दूसरा सत्कर्म है ही नहीं।

न हि श्राद्धात्परं किञ्चिच्छ्रेयस्करमुदाहृतम्।

२-प्र०—श्राद्ध न किया जाय तो क्या हानि है?

उ०—श्राद्ध अवश्य करना चाहिये, प्रकृति इसके करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको प्रेरणा करती है, इसलि संसारका मनुष्यमात्र इसे किसी-न-किसी रूपमें मन, वा कर्मद्वारा अवश्य करता भी है। कोई अपने प्रियजन सद्गतिके निमित्त ईश्वरसे प्रार्थना करता है, अन्य उस उद्धारके लिये श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीमद्भागवत धर्मग्रन्थोंका स्वाध्याय करते हैं, कोई पितरके निमित्त अने दान-दक्षिणा देता है एवं अनेक परोपकारके कार्य करता और कोई उसके लिये समाधि बनवाकर उसपर पुष्पादि चढ़ है। अनेक लोग पितरोंकी सद्गतिके लिये मासिक, वार्षि श्राद्ध करते हैं, दूसरे लोग तीसरे, दसवें आदि दिनोंमें द पुण्य, भगवन्नाम-संकीर्तन कर अथवा कराकर पितरोंके अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। ठीक है, जिस द भगवान्ने जीवके सुखके लिये वायु, जल, अग्नि, वृक्ष अ अनेक लाभकारी पदार्थ उत्पन्न किये हैं और जिन माता, पि गुरु आदि सुहृद्जनोंने अपने जीवनकालमें इस मनुष्यके लि

---

[१] (क) वृद्धशातातपस्मृति 'दौहित्र'का अर्थ गैंडेके सींगका बना पात्र बतलाती है। यथा—
दुहित्रं खड्गमृगस्य ललाटे यत् प्रदृश्यते। तस्य शृङ्गस्य यत् पात्रं दौहित्रमिति कीर्तितम्॥
(ख) स्मृत्यन्तरमें 'दौहित्र' शब्दका अर्थ शुक्लप्रतिपत्का गोदुग्ध कहा गया है—
अमावस्यां गते सोमे या तु खादति गौस्तृणम्। तस्या गोर्यद् भवेत् क्षीरं तद् दौहित्रमुदाहृतम्॥
(ग) सामान्य अर्थ 'दुहितुः पुत्रः' नाती भी होता है। पर उसे उपनीत होना चाहिये।

[२] त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः। (मनु० ३।२३५)

[३] त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्॥ (मनु० ३।२३५)

[४] (क) तुलसीगन्धमाघ्राय पितरस्तुष्टमानसाः। प्रयान्ति गरुडारूढास्तत्पदं चक्रपाणिनः। (प्रयोगपारिजात)
(ख) पितृपिण्डार्चनं श्राद्धे यैः कृतं तुलसीदलैः। प्रीणिताः पितरस्तेन यावच्चन्द्रार्कमेदिनी॥

अनेक कष्ट सहकर उसको सब प्रकारसे सुख पहुँचाया, विद्या पढ़ाकर अज्ञानान्धकार दूरकर ज्ञानका प्रकाश दिया और मोक्षमार्ग सुझाया, उस परमेश्वरका स्मरण, भजन, नामसंकीर्तन करना एवं उन सुहृज्जनोंको इस लोकमें वस्त्र-भोजनादिका सुख और परलोकगत उनकी तृप्ति और सद्गतिके निमित्त ईश्वरसे प्रार्थना और स्वोपार्जित धनादिद्वारा परोपकार करना सर्वथा उचित, अवश्य-कर्तव्य और अपनी कृतज्ञता प्रकट करनेके हेतु परमधर्म है। इसके विपरीत प्रकृतिका अनादर करनेवाले जो लोग बुद्धिको तिलाञ्जलि देकर जगत्‌की रचना करनेवाले श्रीभगवान्‌को मतगणनाद्वारा सिद्ध करना चाहते हैं, एवं यह समझ और कहकर कि पितृलोक नहीं है पितरोंका श्राद्ध नहीं करते, उनकी क्या गति होती है इसको भगवान् ही जानें। शास्त्र तो उनको अनिष्टकी प्राप्ति ही बतलाते हैं।

उनका स्पष्ट कथन है कि जो अदृष्ट जगत्‌को नहीं मानता और यह धारणा बनाकर कि पितृगण होते ही नहीं, उनका श्राद्ध नहीं करता तो आप्यायित न होनेके कारण विवश होकर पितृगण (प्रेतरूपमें आकर) उसके रक्तका ही पान करते हैं।

न सन्ति पितरश्चेति कृत्वा मनसि यो नरः।
श्राद्धं न कुरुते तत्र तस्य रक्तं पिबन्ति ते॥

३-प्र०—श्राद्ध (सेवा-सत्कार) जीवित पितरोंका ही होना चाहिये—मृतोंका नहीं। इससे क्या लाभ?

उ०—लाभ तो ऊपर बताया गया। **'एवं प्रेतान् पितॄंश्च निर्दिश्य'** इत्यादि वचनोंसे सिद्ध है कि श्राद्ध मृतोंका ही होता है, जीवितोंका नहीं। और वेदसे भी यही प्रमाणित होता है—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोज्झिताः।
सर्वांस्तानग्नेऽआ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
(अथर्व०)

'हे सर्वज्ञ अग्निदेव! जो पितर गाड़े गये, जो पड़े रह गये, जो अग्निमें जला दिये गये और जो फेंक दिये गये हों, उन सबको हवि-भोजनके लिये यहाँ लाओ' जीवितोंके लिये ऐसे आवाहनादिकी आवश्यकता नहीं।

४-प्र०—देहात्मवादियोंका कहना है कि शरीरसे भिन्न आत्मा दूसरा पदार्थ नहीं है, शरीरका नाश हो जानेपर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, जीव सब कुछ नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार नास्तिकशिरोमणि चार्वाक कहता है कि **'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'**—शरीरके भस्मीभूत हो जानेपर उसका आना-जाना कहाँ? इसका भी यही मत है कि देह ही आत्मा है और इसके नष्ट होनेपर कुछ रहता ही नहीं। इस दशामें तो पितरोंकी सत्ता ही नहीं है, फिर उनके लिये श्राद्ध कैसा?

उ०—देहात्मवादियोंका यह मत सत्य नहीं है, क्योंकि देहके साथ आत्माका नाश नहीं होता, जीवात्मा सर्वथा शरीरसे भिन्न है। भगवद्गीताके अनुसार वह अज (अजन्मा) है। भूत, भविष्य, वर्तमानमें सदा एकरस रहता है, सदासे चला आ रहा है, शरीरके मरने और मारे जानेपर वह नहीं मरता और न मारा जाता है। जीवात्माको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकता। कहा है—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

और भी—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

मनुष्य जिस प्रकार पुराने वस्त्रोंको उतारकर नये वस्त्र पहन लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा जीर्ण-शीर्ण शरीरोंको त्यागकर नये-नये शरीर धारण करता रहता है। ऐसे ही अनेक शास्त्रीय वचनोंसे सिद्ध है कि शरीर और आत्मा एक नहीं भिन्न-भिन्न हैं एवं जीवात्मा मृत-शरीरको छोड़कर पितरादिके रूपसे अन्य लोकोंमें जाता है।

५-प्र०—क्या एक पितृलोक ही है अथवा और भी लोक हैं, जहाँ जीवात्मा मर्त्यलोकसे जाकर बसते हैं। यह पितृलोक कहाँ है?

उ०—लोक अनेक हैं, जैसे—देवलोक, पितृलोक, गन्धर्वलोकादि, परंतु श्राद्धका सम्बन्ध पितृलोकसे है। पितृलोक पितरोंका निवासस्थान है, जो चन्द्रलोकके ऊर्ध्वभागमें स्थित है, जैसा कि शास्त्रोंमें आया है—**विधूर्ध्वभागे**

पितरो वसन्ति।' श्रीमद्भागवतके अनुसार—

'उपरिष्टाच्च जलाद् यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा निवसन्ति।'

जलमय चन्द्रलोकके ऊर्ध्वदेशमें अग्निष्वात्त आदि पितृगण निवास करते हैं। अथर्ववेदके अनुसार—

'उदन्वती द्यौरवमा पीलुमती मध्यमा तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते।'

आकाशकी पहली कक्षा जलवाली नीची है, मध्यमा कक्षा परमाणुवाली है, तीसरी प्रकाशवाली कक्षा उत्तमा है, जिसमें पितर निवास करते हैं। ये पितर दो प्रकारके हैं—नित्य और नैमित्तिक। नैमित्तिक पितर वे हैं जो पाञ्चभौतिक शरीर छोड़कर वायवीय स्थूल शरीरमें लिपटे सूक्ष्म शरीरको धारण किये हुए पितृलोकमें होते हुए कर्मवश मनुष्यादि योनियोंमें चले जाते हैं, परंतु नित्य पितर स्थायीभावसे पितृलोकमें निवास करते हैं। पितृलोकके अधिष्ठाता यमराज हैं, जो पितृपति और परेतराट् कहलाते हैं। ईश्वरीय नियमके अनुसार नित्य पितर ही नैमित्तिक पितरोंको श्राद्धान्न पहुँचाते हैं, जब वे कर्मवश अन्य योनियोंमें रहते हैं और धर्मराजरूपसे धर्मात्माओंको स्वर्गमें भेजते हैं।

६-प्र०—श्राद्धसे पितरोंकी तृप्ति होती है, यह बात तबतक सम्भव है, जबतक पितरोंका निवास पितृलोकमें रहे। और यदि उनका जन्म मनुष्य, पश्वादि योनियोंमें हो गया तो श्राद्ध निष्फल रहा।

एक बात और भी है। संसारके असंख्य, अनन्त जीवोंमें एक विशेष व्यक्तिका पता लगाना नितान्त असम्भव है कि कौन किस योनिमें है। इसके लिये कोई साधन नहीं। इससे श्राद्ध व्यर्थ है।

उ०—सृष्टिके आदिमें प्रजापतिने प्रजा और यज्ञ दोनोंको एक साथ उत्पन्न किया और आज्ञा दी—'हे प्रजाजनो! मनुष्यो! देव-पितृगणो! तुम सब आपसमें एक दूसरेका उपकार करते रहो। मनुष्य यज्ञ करें, देव-पितर आदिको संतुष्ट करें और देव-पितर आदि वर्षा, धन-धान्यादि पदार्थ दानकर मनुष्योंको प्रसन्न रखें। यों परस्पर उपकार करते हुए परम कल्याणको प्राप्त होओगे।'

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

……………………………………

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥

(गीता)

इसी नियमके अनुसार श्राद्धकर्ता पितृलोक-स्थायी पितरोंके द्वारा अपने पिता-माता आदि सम्बन्धियोंको श्राद्धान्न-जल पहुँचाता है, जिससे उनको सुखकी प्राप्ति होती है। श्राद्धकर्ता जब मन लगाकर (श्रद्धाके साथ) श्रीभगवान्से प्रार्थना करता है कि 'हे प्रभो! अपनी कृपासे इस श्राद्धकृत्यको सफल कीजिये, जो मैंने अमुक पितरादिके निमित्त सम्पादित किया है।' श्रीभगवान् उसकी प्रार्थना सुनते हैं और उनकी बाँधी हुई (पितृ-लोक-स्थापनादि) मर्यादाके अनुसार भक्तके श्राद्धका फल यथारीति उस जीवको प्राप्त होता है, चाहे वह चौरासी लक्ष योनियोंमेंसे अपने कर्मवश किसी योनिमें विद्यमान हो। इस विषयमें हेमाद्रिमें कहा गया है—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति॥
पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम्।
दानवत्वे तथा मांसं प्रेतत्वे रुधिरोदकम्॥
मानुषत्वेऽन्नपानादि नानाभोगरसो भवेत्।

श्राद्धकर्ताका पिता यदि शुभकर्मके द्वारा देवयोनिको प्राप्त हुआ है तो उसके निमित्त दिया हुआ श्राद्धान्न-जल आदि अमृतरूप होकर उसको मिलता है। इसी प्रकार गन्धर्वयोनिमें विविध भोगरूपसे, पशुयोनिमें तृणरूपसे, नागयोनिमें वायुरूपसे, यक्षयोनिमें पानरूपसे, राक्षसयोनिमें आमिषरूपसे, दानवयोनिमें मांस-रूपसे, प्रेतयोनिमें रुधिररूपसे तथा मनुष्ययोनिमें अनेक प्रकारके भक्ष्य-भोज्य-चोष्य-लेह्य-पेय-चर्व्यरूपसे श्राद्धान्न जीवको पहुँचता है। यों जीवको उसके पूर्वजन्मके पुत्रादिसे संकल्पके द्वारा दिये हुए श्राद्धान्नका फल मिलता है, जिससे उसको सुखकी प्राप्ति होती है।

७-प्र०—एक बड़ी भारी शङ्का यह की जाती है कि जब श्राद्धका फल मृत जीवात्माको अन्य योनियोंमें मिल सकता है

तो जीवितोंके नाम किये हुए श्राद्धका फल भी श्राद्धकर्ताके जीवित पिताको जो तीर्थयात्राको गया है अथवा घरकी दूसरी या तीसरी मंजिलपर बैठा है मिलना चाहिये जिससे उसको भूख-प्यासकी बाधा न हो।

उ०—श्राद्धका सम्बन्ध मृत पितरोंसे है जीवितोंसे नहीं। जैसा कि श्राद्धके लक्षण **'प्रेतान्पितृंश्च निर्दिश्य'** इत्यादिसे सिद्ध है। कारण यह है कि पितरोंका सूक्ष्म-शरीर जो बुद्धि, मन, पञ्च-तन्मात्रा (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध), पञ्च ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण), पञ्च-कर्मेन्द्रिय (वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ)—इन सत्रह तत्त्वोंका बना होता है। और इसका आधारभूत स्थूल शरीर भी जो पञ्च महाभूत (पृथ्वी-अप्-तेज-वायु-आकाश)-घटित—इन पितरोंको मिलता है वह भी (पञ्चीकरण नियमसे) वायुमय ही होता है, इसीलिये पितृगण सुगमतासे सर्वत्र आ-जा सकते हैं। और मनुष्यके मनोनिग्रहपूर्वक आवाहन करनेपर सूक्ष्म-शरीरसम्पन्न पितरलोग पास आकर सम्भाषण भी करते हैं। जीवित मनुष्योंके विषयमें ऐसा नहीं, क्योंकि उसका चित्त अन्यत्र व्याप्त रहता है। दाता और प्रतिग्रहीता दोनोंके चित्त सम्मुख नहीं होते, जो फलप्राप्तिमें कारण है।

श्राद्धमें मनःशक्तिके अतिरिक्त मन्त्रशक्तिका भी उपयोग होता है। वेदमन्त्रोंद्वारा पितरोंका आवाहन किया जाता है। यथा—

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मादयन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्। (यजुर्वेद)

हमारे 'अग्नि' के द्वारा, 'स्वधा' शब्दके द्वारा कव्योंको ग्रहण करनेवाले सौम्य स्वभावके पितृगण देवताके गमनयोग्य मार्गसे यहाँ पधारें। इस यज्ञमें अन्नसे प्रसन्न होकर आशीर्वाद दें और हमारी रक्षा करें। दूसरा मन्त्र कहता है—

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म यांश्च न प्रविद्म त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः। स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व।

'जो पितर इस लोकमें हैं, जो इस लोकमें नहीं हैं, जिनको हम जानते हैं, जिनको हम नहीं जानते, हे सर्वज्ञ अग्निदेव! तुम उन सबको जानते हो, जो-जो जहाँ हैं, सो आप पितरोंकी तृप्तिके निमित्त इस यज्ञका सेवन करें।'

सूक्ष्मशरीरधारी पितर सामने बैठे हुए भी साधारण जनोंको स्थूल-दृष्टिसे दिखायी नहीं देते। किंतु शुद्धात्मा पुरुष उनका दर्शन कर लेते हैं। श्राद्धमें वायु-शरीरधारी पितर ब्राह्मणोंके साथ भोजन करते हैं। पद्मपुराणसे ज्ञात होता है कि एक बार जब श्रीरामचन्द्रजी पिताका श्राद्ध कर ब्राह्मण-भोजन करा रहे थे, तब सीताजी अपने स्वर्गीय श्वशुर महाराज दशरथको ब्राह्मणोंके शरीरमें स्पष्ट प्रतिबिम्बित होते तथा भोजन करते देख लज्जित हो हट गयीं। जब श्रीरामचन्द्रजीने उनसे हटनेका कारण पूछा, तब उन्होंने कहा—'महाराज! मैंने आपके पिताजीको ब्राह्मणोंके अङ्गोंमें देखा है।

पिता तव मया दृष्टो ब्राह्मणाङ्गेषु राघव।

अतः भगवान्‌को स्मरण करते हुए शुद्ध मन एवं बुद्धिके द्वारा (काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेषसे सर्वथा रहित होकर) एकमात्र पितरोंके उद्देश्यसे कृपणता परित्यागकर श्रद्धापूर्वक किया गया श्राद्धकर्म उद्दिष्ट पितरों तथा कर्ताका भी कल्याण अवश्य कर देता हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

मनुष्य अपनी मृत्यु नहीं देखता—यही आश्चर्य है

गृहे पर्यन्तस्थे द्रविणकणमोषं श्रुतवता स्ववेश्मन्यारक्षा क्रियत इति मार्गोऽयमुचितः।
नरान् गेहाद् गेहात् प्रतिदिवसमाकृष्य नयतः कृतान्तात् किं शङ्का न हि भवति रे जागृत जनाः॥
अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्। शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

पड़ोसके घरमें चोरीकी बात सुनकर अपने घरका प्रबन्ध किया जाता है, यह उचित ही है, किंतु घर-घरसे प्रतिदिन मनुष्योंको पकड़कर ले जाते हुए कालसे क्या कुछ भी भय नहीं होता? अतएव हे मनुष्यो! अब भी सावधान हो जाओ। प्रतिदिन जीव यमराजके घर जा रहे हैं तो भी शेष बचे लोग स्थिर रहना चाहते हैं, इससे बढ़कर क्या आश्चर्य है?

पितरो वसन्ति।' श्रीमद्भागवतके अनुसार—

'उपरिष्टाच्च जलाद् यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा निवसन्ति।'

जलमय चन्द्रलोकके ऊर्ध्वदेशमें अग्निष्वात्त आदि पितृगण निवास करते हैं। अथर्ववेदके अनुसार—

'उदन्वती द्यौरवमा पीलुमती मध्यमा तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते।'

आकाशकी पहली कक्षा जलवाली नीची है, मध्यमा कक्षा परमाणुवाली है, तीसरी प्रकाशवाली कक्षा उत्तमा है, जिसमें पितर निवास करते हैं। ये पितर दो प्रकारके हैं—नित्य और नैमित्तिक। नैमित्तिक पितर वे हैं जो पाञ्चभौतिक शरीर छोड़कर वायवीय स्थूल शरीरमें लिपटे सूक्ष्म शरीरको धारण किये हुए पितृलोकमें होते हुए कर्मवश मनुष्यादि योनियोंमें चले जाते हैं, परंतु नित्य पितर स्थायीभावसे पितृलोकमें निवास करते हैं। पितृलोकके अधिष्ठाता यमराज हैं, जो पितृपति और परेतराट् कहलाते हैं। ईश्वरीय नियमके अनुसार नित्य पितर ही नैमित्तिक पितरोंको श्राद्धान्न पहुँचाते हैं, जब वे कर्मवश अन्य योनियोंमें रहते हैं और धर्मराजरूपसे धर्मात्माओंको स्वर्गमें भेजते हैं।

६-प्र०—श्राद्धसे पितरोंकी तृप्ति होती है, यह बात तबतक सम्भव है, जबतक पितरोंका निवास पितृलोकमें रहे। और यदि उनका जन्म मनुष्य, पश्वादि योनियोंमें हो गया तो श्राद्ध निष्फल रहा।

एक बात और भी है। संसारके असंख्य, अनन्त जीवोंमें एक विशेष व्यक्तिका पता लगाना नितान्त असम्भव है कि कौन किस योनिमें है। इसके लिये कोई साधन नहीं। इससे श्राद्ध व्यर्थ है।

उ०—सृष्टिके आदिमें प्रजापतिने प्रजा और यज्ञ दोनोंको एक साथ उत्पन्न किया और आज्ञा दी—'हे प्रजाजनो! मनुष्यो! देव-पितृगणो! तुम सब आपसमें एक दूसरेका उपकार करते रहो। मनुष्य यज्ञ करें, देव-पितर आदिको संतुष्ट करें और देव-पितर आदि वर्षा, धन-धान्यादि पदार्थ दानकर मनुष्योंको प्रसन्न रखें। यों परस्पर उपकार करते हुए परम कल्याणको प्राप्त होओगे।'

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

……

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥

(गीता)

इसी नियमके अनुसार श्राद्धकर्ता पितृलोक-स्थायी पितरोंके द्वारा अपने पिता-माता आदि सम्बन्धियोंको श्राद्धान्न-जल पहुँचाता है, जिससे उनको सुखकी प्राप्ति होती है। श्राद्धकर्ता जब मन लगाकर (श्रद्धाके साथ) श्रीभगवान्से प्रार्थना करता है कि 'हे प्रभो! अपनी कृपासे इस श्राद्धकृत्यको सफल कीजिये, जो मैंने अमुक पितरादिके निमित्त सम्पादित किया है।' श्रीभगवान् उसकी प्रार्थना सुनते हैं और उनकी बाँधी हुई (पितृ-लोक-स्थापनादि) मर्यादाके अनुसार भक्तके श्राद्धका फल यथारीति उस जीवको प्राप्त होता है, चाहे वह चौरासी लक्ष योनियोंमेंसे अपने कर्मवश किसी योनिमें विद्यमान हो। इस विषयमें हेमाद्रिमें कहा गया है—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति॥
पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम्।
दानवत्वे तथा मांसं प्रेतत्वे रुधिरोदकम्॥
मानुषत्वेऽन्नपानादि नानाभोगरसो भवेत्।

श्राद्धकर्ताका पिता यदि शुभकर्मके द्वारा देवयोनिको प्राप्त हुआ है तो उसके निमित्त दिया हुआ श्राद्धान्न-जल आदि अमृतरूप होकर उसको मिलता है। इसी प्रकार गन्धर्वयोनिमें विविध भोगरूपसे, पशुयोनिमें तृणरूपसे, नागयोनिमें वायुरूपसे, यक्षयोनिमें पानरूपसे, राक्षसयोनिमें आमिषरूपसे, दानवयोनिमें मांस-रूपसे, प्रेतयोनिमें रुधिररूपसे तथा मनुष्ययोनिमें अनेक प्रकारके भक्ष्य-भोज्य-चोष्य-लेह्य-पेय-चर्व्यरूपसे श्राद्धान्न जीवको पहुँचता है। यों जीवको उसके पूर्वजन्मके पुत्रादिसे संकल्पके द्वारा दिये हुए श्राद्धान्नका फल मिलता है, जिससे उसको सुखकी प्राप्ति होती है।

७-प्र०—एक बड़ी भारी शङ्का यह की जाती है कि जब श्राद्धका फल मृत जीवात्माको अन्य योनियोंमें मिल सकता है

तो जीवितोंके नाम किये हुए श्राद्धका फल भी श्राद्धकर्ताके जीवित पिताको जो तीर्थयात्राको गया है अथवा घरकी दूसरी या तीसरी मंजिलपर बैठा है मिलना चाहिये जिससे उसको भूख-प्यासकी बाधा न हो।

उ०—श्राद्धका सम्बन्ध मृत पितरोंसे है जीवितोंसे नहीं। जैसा कि श्राद्धके लक्षण **'प्रेतान्पितॄंश्च निर्दिश्य'** इत्यादिसे सिद्ध है। कारण यह है कि पितरोंका सूक्ष्म-शरीर जो बुद्धि, मन, पञ्च-तन्मात्रा (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध), पञ्च ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण), पञ्च-कर्मेन्द्रिय (वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ)—इन सत्रह तत्त्वोंका बना होता है। और इसका आधारभूत स्थूल शरीर भी जो पञ्च महाभूत (पृथ्वी-अप्-तेज-वायु-आकाश)-घटित—इन पितरोंको मिलता है वह भी (पञ्चीकरण नियमसे) वायुमय ही होता है, इसीलिये पितृगण सुगमतासे सर्वत्र आ-जा सकते हैं। और मनुष्यके मनोनिग्रहपूर्वक आवाहन करनेपर सूक्ष्म-शरीरसम्पन्न पितरलोग पास आकर सम्भाषण भी करते हैं। जीवित मनुष्योंके विषयमें ऐसा नहीं, क्योंकि उसका चित्त अन्यत्र व्याप्त रहता है। दाता और प्रतिग्रहीता दोनोंके चित्त सम्मुख नहीं होते, जो फलप्राप्तिमें कारण है।

श्राद्धमें मनःशक्तिके अतिरिक्त मन्त्रशक्तिका भी उपयोग होता है। वेदमन्त्रोंद्वारा पितरोंका आवाहन किया जाता है। यथा—

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मादयन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्। (यजुर्वेद)

हमारे 'अग्नि' के द्वारा, 'स्वधा' शब्दके द्वारा कव्योंको ग्रहण करनेवाले सौम्य स्वभावके पितृगण देवताके गमनयोग्य मार्गसे यहाँ पधारें। इस यज्ञमें अन्नसे प्रसन्न होकर आशीर्वाद दें और हमारी रक्षा करें। दूसरा मन्त्र कहता है—

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म यांश्च न प्रविद्म त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः। स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व।

'जो पितर इस लोकमें हैं, जो इस लोकमें नहीं हैं, जिनको हम जानते हैं, जिनको हम नहीं जानते, हे सर्वज्ञ अग्निदेव! तुम उन सबको जानते हो, जो-जो जहाँ हैं, सो आप पितरोंकी तृप्तिके निमित्त इस यज्ञका सेवन करें।'

सूक्ष्मशरीरधारी पितर सामने बैठे हुए भी साधारण जनोंको स्थूल-दृष्टिसे दिखायी नहीं देते। किंतु शुद्धात्मा पुरुष उनका दर्शन कर लेते हैं। श्राद्धमें वायु-शरीरधारी पितर ब्राह्मणोंके साथ भोजन करते हैं। पद्मपुराणसे ज्ञात होता है कि एक बार जब श्रीरामचन्द्रजी पिताका श्राद्ध कर ब्राह्मण-भोजन करा रहे थे, तब सीताजी अपने स्वर्गीय श्वशुर महाराज दशरथको ब्राह्मणोंके शरीरमें स्पष्ट प्रतिबिम्बित होते तथा भोजन करते देख लज्जित हो हट गयीं। जब श्रीरामचन्द्रजीने उनसे हटनेका कारण पूछा, तब उन्होंने कहा—'महाराज! मैंने आपके पिताजीको ब्राह्मणोंके अङ्गोंमें देखा है।

पिता तव मया दृष्टो ब्राह्मणाङ्गेषु राघव।

अतः भगवान्‌को स्मरण करते हुए शुद्ध मन एवं बुद्धिके द्वारा (काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेषसे सर्वथा रहित होकर) एकमात्र पितरोंके उद्देश्यसे कृपणता परित्यागकर श्रद्धापूर्वक किया गया श्राद्धकर्म उद्दिष्ट पितरों तथा कर्ताका भी कल्याण अवश्य कर देता हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

मनुष्य अपनी मृत्यु नहीं देखता—यही आश्चर्य है

गृहे पर्यन्तस्थे द्रविणकणमोषं श्रुतवता स्ववेश्मन्यारक्षा क्रियत इति मार्गोऽयमुचितः।
नरान् गेहाद् गेहात् प्रतिदिवसमाकृष्य नयतः कृतान्तात् किं शङ्का न हि भवति रे जागृत जनाः॥
अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्। शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

पड़ोसके घरमें चोरीकी बात सुनकर अपने घरका प्रबन्ध किया जाता है, यह उचित ही है, किंतु घर-घरसे प्रतिदिन मनुष्योंको पकड़कर ले जाते हुए कालसे क्या कुछ भी भय नहीं होता? अतएव हे मनुष्यो! अब भी सावधान हो जाओ। प्रतिदिन जीव यमराजके घर जा रहे हैं तो भी शेष बचे लोग स्थिर रहना चाहते हैं, इससे बढ़कर क्या आश्चर्य है?

भक्त-गाथा—

भक्तिमती निर्मला

निर्मला सचमुच बहुत ही निर्मल थी। कलियुगकी कालिमाएँ उसे छू नहीं गयी थीं। वह दिव्यलोककी देवी, वैराग्यकी मूर्तिमती प्रतिमा और भगवद्भक्तिका सजीव विग्रह थी। उसका मुखमण्डल जैसा सुन्दर और भोला-भाला था, उसका अन्तःकरण उससे भी कहीं अधिक मनोहर और सरल था। संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका मन फँसा नहीं था, उसको किसी भी वस्तुकी चाह नहीं थी और कहीं भी उसकी सीमाबद्ध गंदी ममता नहीं थी। वह अपने प्राणाराम राममें अनुरक्त थी, राम ही उसकी चाहके एकमात्र लक्ष्य थे और समस्त विश्वमें व्याप्त विश्वातीत रामके ही पावन चरणोंमें उसकी ममता थी। सदा प्रसन्न रहना उसका स्वभाव था। मोटी साफ सफेद साड़ी, सफेद कब्जा, गलेमें तुलसीजीकी माला, मस्तकपर सफेद चन्दन और जीभपर नित्य नाचनेवाला रामनाम—यही उसका स्वाभाविक शृङ्गार था। हृदयमें रामका ध्यान, मुखमें रामका नाम और शरीरसे दिनभर रामकी भावनासे घरभरकी छोटी-बड़ी सब तरहकी सेवा, यही उसका मन, वाणी, शरीरका काम था। वह कभी न थकती थी, न ऊबती थी, न झल्लाती थी। शान्ति, प्रसन्नता, आनन्द, मुसकान मानो भगवान्की देनके रूपमें सदा उसकी सेवा करते थे। वह रातके पिछले पहर उठती। शौच-स्नानके बाद छः बजेतक रामजीकी मूर्तिके सामने बैठकर ध्यान-पूजन और रामायणका पाठ करती, फिर काममें लग जाती। दोपहरको एक समय बिना मसालेका सादा भोजन करती। जीभके स्वादको उसने जीत लिया था। चार घड़ी रात बीतनेपर उसका काम पूरा होता तब जमीनपर टाट बिछाकर उसपर कुशका आसन डालकर बैठ जाती और प्रातःकालकी भाँति ही रामजीका ध्यान, पूजन करती। एक पहर रात बीत जानेपर कुशका आसन उठाकर उसी टाटपर रामजीके चरणोंमें उनके नामका स्मरण करती हुई सो जाती। जाड़ेमें भी उसका यही नियम चलता। उन दिनोंके लिये वह एक रूईदार कब्जा और ऊनी कम्बल और रखती।

× × ×

पण्डित विश्वनाथ गौड़ ब्राह्मण थे। थे तो गुजरातके, परंतु काशीमें जाकर बस गये थे। विश्वनाथके पास भोग-विलास लिये धन तो नहीं था, परंतु भगवान्की कृपासे उनके घर कि बातकी कमी नहीं थी। वे बड़े विद्वान् थे। लोगोंमें उनका ब आदर था। उनकी संस्कृत-पाठशाला थी। वे विद्यार्थियों बड़े चावसे व्याकरण, न्याय और मीमांसा आदि दर्शनों शिक्षा देते थे। बड़े विलक्षण व्याकरणी तथा दर्शनशास्त्र महान् पण्डित होनेपर भी उनके हृदय-प्राङ्गणमें भक्तिदेवी स नाचती रहती थीं। वे संध्याके समय नित्यप्रति वाल्मीकि रामायणकी बड़ी ही सुन्दर कथा बाँचते थे। जो एक ब उनकी कथा सुन लेता, वह फिर उसे कभी न छोड़ता। उन वाणीमें बड़ा मधुर रस था, समझानेकी सुन्दर शैली थी औ उससे पवित्र भावोंकी अखण्ड धाराएँ बहती रहती थीं। क बाँचते-बाँचते वे गद्गद हो जाते, कभी-कभी तो रो पड़ते श्रोताओंकी भी यही दशा होती। घरमें सदाचारिणी ब्राह्म थी। पतिकी भाँति पत्नी भी रामजीकी भक्त थी। निर्म उन्हींकी एकमात्र पुत्री थी। वह बचपनसे ही कथा सुनने ल थी। माता-पिता दोनों भक्त थे। इससे बचपनमें ही निर्मला निर्मल हृदय-सरोवरमें भक्तिलता लहराने लगी थी। पित उसने भगवान् रामकी पूजापद्धति सीख ली थी। बड़ी होने पिताने बड़ी धूमधामसे निर्मलाका व्याह किया। निर्म पण्डितजीकी एकमात्र संतान थी, इससे उनके भक्त निर्मलाके विवाहमें बड़ी उदारता और उमंगके साथ धन ख किया। वर भी बड़ा सुशील, सुन्दर और सदाचारी था। उस नाम गुलाबराय था। सचमुच वह गुलाब-सा सुन्दर था औ अपने सद्गुणोंकी सुगन्धसे सबको सुखी करता थ विधाताका विधान कोई टाल नहीं सकता। सालभरके बाद हैजेसे उसका देहान्त हो गया। विश्वनाथपर मानो वज्रपा हुआ। उनका हृदय आकुल हो उठा, परंतु प्रभु रामजी भक्तिने उनको सँभाला। आकुलतामें ही उनका मन रामजी चरणोंमें चला गया। विश्वनाथजी रो-रोकर मानसिक भाव रामजीकी पूजा करने लगे। प्रभु रामजीने भक्तपर कृपा की। अपने संतसुखदायी सर्वदुःखहारी मङ्गलमय स्वरूपमें प्रकट गये और भक्त विश्वनाथजीको ढाढ़स बँधाते हुए बोले—'भै

विश्वनाथ ! इतना आतुर क्यों हो रहे हो ? जानते नहीं हो मेरा प्रत्येक विधान मङ्गलमय होता है ? निर्मलाको यह वैधव्य तुम्हारे और उसके कल्याणके लिये ही प्राप्त हुआ है। सुनो ! पूर्वजन्ममें भी तुम सदाचारी ब्राह्मण थे। वहाँ भी निर्मला तुम्हारी कन्या थी। तुम्हारा नाम था जगदीश और निर्मलाका नाम था सरस्वती। तुममें और सरस्वतीमें सभी सद्‌गुण थे। परंतु तुम्हारे पड़ोसमें एक क्षत्रियका घर था, वह बड़ा ही दुष्टहृदय था। वह मनसे बड़ा कपटी, हिंसक और दुराचारी था, परंतु ऊपरसे बहुत मीठा बोलता था। वह बातें बनानेमें बहुत चतुर था। सद्‌गुणी होनेपर भी उसके कुसङ्गसे तुम्हारे हृदयपर कुछ कालिमा आ गयी थी, वह सरस्वतीको कुदृष्टिसे देखता था। उसके बहकावेमें आकर सरस्वतीने अपने पतिका घोर अपमान किया था और तुमने उसका समर्थन किया था। सरस्वतीके पतिने आकुल होकर मन-ही-मन सरस्वतीको और तुमको शाप दे दिया था। यद्यपि उसके लिये यह उचित नहीं था, परंतु दुःखमें मनुष्यको चेत नहीं रहता। उसी शापके कारण निर्मला इस जन्ममें विधवा हो गयी है और तुम्हें यह संताप प्राप्त हुआ है। पतिके तिरस्कारके सिवा सरस्वतीका जीवन बड़ा पवित्र रहा। उसने दुराचारी पड़ोसीके बुरे प्रस्तावको ठुकरा दिया। जीवनभर तुलसीजीका सेवन, एकादशीका व्रत और रामनामका जाप करती रही। तुम इसमें उसके सहायक रहे। इसीसे तुमको और उसको दूसरी बार फिर वही ब्राह्मणका शरीर प्राप्त हुआ है और मेरी कृपासे तुम दोनोंके हृदयमें भक्ति आ गयी है। मेरी भक्ति एक बार जिसके हृदयमें आ जाती है, वह कृतार्थ हुए बिना नहीं रहता। भक्तिका यह स्वभाव है कि एक बार जिसने उसको अपने हृदयमें धारण कर लिया, उसको वह मेरी प्राप्ति कराये बिना नहीं मानती। बड़ी-बड़ी रुकावटोंको हटाकर, बड़े-बड़े प्रलोभनोंसे छुड़ाकर वह मेरी ओर लगा देती है और मुझे ले जाकर उसके हृदयमें बसा देती है। मैं भक्तिके वश रहता हूँ—यह तो प्रसिद्ध ही है। तुमलोगोंपर जो यह दुःख आया है, यह भक्तिदेवीकी कृपासे तुम्हारे कल्याणके लिये ही आया है। यह दुःख तुम्हारे सारे दुःखोंका सदाके लिये नाश कर देगा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

विश्वनाथ विचित्र स्वप्न देखकर जगे हुए पुरुषकी भाँति चकित-से रह गये। इतनेमें ही निर्मला सामने आ गयी। निर्मलाको देखकर विश्वनाथका हृदय फिर भर आया। उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। वे दुःसह मर्मपीड़ासे पीड़ित हो गये। परंतु निर्मलाकी साधना बहुत ऊँची थी। वह अपने वैधव्यकी हालतको खूब समझती थी, परंतु वह साधनाकी जिस भूमिकापर स्थित थी, उसपर वैधव्यकी भीषणताका कुछ प्रभाव नहीं था। उसने कहा—'पिताजी ! आप विद्वान्, ज्ञानी और भगवद्भक्त होकर रोते क्यों हैं ? शरीर तो मरणधर्मा है ही। जड पञ्चभूतोंसे बने हुए शरीरमें तो मुर्दापन ही है। फिर उसके लिये शोक क्यों करना चाहिये ? यदि शरीरकी दृष्टिसे ही देखा जाय तो हिंदू-स्त्री अपने स्वामीकी अर्धाङ्गिनी है। उसके आधे अङ्गमें वह है और आधे अङ्गमें उसके स्वामी हैं। इस रूपमें स्वामीका विछोह कभी होता ही नहीं। हिंदू-स्त्रीका स्वामी तो सदैव अर्धाङ्गरूपमें उसके साथ मिला हुआ ही रहता है। अतएव हिंदू-स्त्री वस्तुतः कभी विधवा होती ही नहीं। वह विलासके लिये विवाह नहीं करती, वह तो धर्मतः पतिको अपना स्वरूप बना लेती है। ऐसी अवस्थामें—पृथक् शरीरके लिये रोनेकी क्या आवश्यकता है ? इसके अतिरिक्त सबसे महत्त्वकी बात तो यह है कि सारा जगत् ही प्रकृति है। पुरुष, स्वामी तो एकमात्र भगवान् श्रीरघुनाथजी ही हैं। श्रीरघुनाथजी अजर, अमर, नित्य, शाश्वत, सनातन, अखण्ड, अनन्त, अनामय, पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। प्रकृति कभी उनके अंदर सोती है, कभी बाहर उनके साथ खेलती है। प्रकृति उनकी अपनी ही स्वरूपशक्ति है। इस प्रकृतिसे पुरुषका वियोग कभी होता ही नहीं। पुरुषके बिना प्रकृतिका अस्तित्व ही नहीं रहता। अतएव हमारे रघुनाथजी नित्य ही हमारे साथ हैं। आप इस बातको जानते हैं, फिर आप रोते क्यों हैं ? कर्मकी दृष्टिसे देखें तो, जीव अपने-अपने कर्मवश जगत्में जन्म लेते हैं, कर्मवश ही सबका परस्पर यथायोग्य संयोग होता है, फिर कर्मवश ही समयपर वियोग हो जाता है। कर्मजनित यह सारा सम्बन्ध अनित्य, क्षणिक और मायिक है। यह नश्वर जगत् संयोग-वियोगमय ही तो है, यहाँपर नित्य क्या है ? इस संयोग-वियोगमें हर्ष-विषाद क्यों होना चाहिये ?

फिर भगवान्‌का भक्त तो प्रत्येक बातमें भगवान्‌के मङ्गलमय विधानको देखकर विधानके रूपमें स्वयं विधाताका

स्पर्श पाकर प्रफुल्लित होता रहता है। चाहे वह विधान देखनेमें कितना ही भीषण क्यों न हो जाय। अतएव पिताजी ! आप निश्चय मानिये—भगवान्‌ने हमारे परम मङ्गलके लिये ही यह विधान किया है, जो जगत्‌की दृष्टिमें बड़ा ही अमङ्गलस्वरूप और भयानक है। आप निश्चिन्त रहिये, हमारा परम कल्याण ही होगा।'

निर्मलाके दिव्य वचन सुनकर विश्वनाथजीकी सारी पीड़ा जाती रही। उन्होंने कहा—'बेटी ! तू मानवी नहीं है, तू तो दिव्यलोककी देवी है। तभी तेरे ऐसे भाव हैं। तूने मुझको शोकसागरसे निकाल लिया। मैं धन्य हूँ, जो तेरे पिता कहलाने योग्य हुआ हूँ।'

तभीसे निर्मला पिताके घर रहने लगी और माता-पितासहित अपना जीवन भगवान्‌के भजनमें बिताने लगी। घरमें श्रीरघुनाथजीका विग्रह था। माता-पिताकी तथा श्रीरघुनाथजीकी सेवा करना ही उसका काम था। घरका काम करते समय भी उसका मन भगवान्‌में लगा रहता। भगवान्‌का सङ्ग उसके जीवनका जीवन बन गया था। वह कुछ भी करती, किसी भी काममें रहती, स्वाभाविक ही भगवान्‌के साथ रहती। भगवान्‌के बिना वह रह ही नहीं सकती थी।

कुछ समय बाद उसके माता-पिता दोनों एक ही दिन भगवान्‌का स्मरण करते हुए संसारसे बिदा हो गये। वह रोयी नहीं। भगवान्‌के नित्य सांनिध्यने उसके जीवनको निर्भय, रसमय, आनन्दमय, संयोगमय, चिन्मय और भगवन्मय बना दिया था। किसी भी बाहरी अवस्थाका उसकी इस नित्य स्थितिपर असर नहीं पड़ता था। माता-पिताकी यथोचित क्रिया करनेके बाद वह घर छोड़कर गङ्गातीरपर कुछ दूर चली गयी। उस समय काशीका गङ्गातट तपोभूमि थी। वहाँ उसने भी भागीरथीके पावन तटपर तीस साल भगवान्‌के ध्यानमें बिताये और अन्तमें शरीरको गङ्गमैयाकी गोदमें छोड़कर भगवान् शङ्करकी कृपासे भगवान् श्रीरामजीके दिव्य साकेतमें पहुँचकर उनकी नित्य-चर्यामें नियुक्त हो गयी।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

श्रीशिवजीका प्रातःस्मरण-कीर्तन

प्रातः स्मरामि भवभीतिहरं सुरेशं गङ्गाधरं वृषभवाहनमम्बिकेशम्।
खद्वाङ्गशूलवरदाभयहस्तमीशं संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम्॥
प्रातर्नमामि गिरिशं गिरिजार्धदेहं सर्गस्थितिप्रलयकारणमादिदेवम्।
विश्वेश्वरं विजितविश्वमनोऽभिरामं संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम्॥
प्रातर्भजामि शिवमेकमनन्तमाद्यं वेदान्तवेद्यमनघं पुरुषं महान्तम्।
नामादिभेदरहितं षडभावशून्यं संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम्॥
प्रातः समुत्थाय शिवं विचिन्त्य श्लोकत्रयं येऽनुदिनं पठन्ति।
ते दुःखजालं बहुजन्मसञ्चितं हित्वा पदं यान्ति तदेव शम्भोः॥

'जो सांसारिक भयको हरनेवाले और देवताओंके स्वामी हैं, जो गङ्गाजीको धारण करते हैं, जिनका वाहन वृषभ है, जो अम्बिकाके ईश हैं तथा जिनके हाथोंमें खद्वाङ्ग, त्रिशूल और वरद तथा अभय मुद्राएँ हैं, उन संसार-रोगको हरनेके निमित्त अद्वितीय औषधरूप ईश (महादेवजी) का मैं प्रातःकाल स्मरण करता हूँ। भगवती पार्वती जिनका आधा अङ्ग हैं, जो संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कारण हैं, आदिदेव हैं, विश्वनाथ हैं, विश्वविजयी और मनोहर हैं, सांसारिक रोगोंको नष्ट करनेके लिये अद्वितीय औषधरूप उन गिरिश (शिव) को मैं प्रातःकाल नमस्कार करता हूँ। जो अन्तसे रहित आदिदेव हैं, वेदान्तसे जाननेयोग्य, पापरहित एवं महान् पुरुष हैं तथा जो नाम आदि भेदोंसे रहित, छः अभावोंसे शून्य, संसाररोगको हरनेके लिये अद्वितीय औषध हैं, उन एक (अद्वितीय) शिवजीको मैं प्रातःकाल भजता हूँ। जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर भगवान् शिवका ध्यान कर प्रतिदिन इन तीनों श्लोकोंका पाठ करते हैं, वे लोग अनेक जन्मोंके सञ्चित दुःखसमूहसे मुक्त होकर शिवजीके उस कल्याणमय पदको पाते हैं।'

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें 'यज्ञ' शब्दकी व्यापकता

गीताया यज्ञशब्दस्तु कर्तव्यकर्मवाचकः ।
पालनीयस्ततो यज्ञो निष्कामैर्मानवैः सदा ॥

गीताजीके श्लोकोंपर विचार किया जाय तो यह बात सिद्ध होती है कि निष्कामभावसे किये गये शास्त्रविहित सभी शुभकर्मोंका नाम 'यज्ञ' है। यज्ञोंका विशेष वर्णन चौथे अध्यायमें आता है। उसमें भगवान् कहते हैं कि केवल यज्ञके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (४। २३)। इसी बातको भगवान् तीसरे अध्यायके नवें श्लोकमें दूसरे ढंगसे कहते हैं कि 'यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त जो भी कर्म होते हैं, वे सभी बन्धनकारक होते हैं—**'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।'** चौथे अध्यायके चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवान् बारह प्रकारके यज्ञोंका वर्णन करते हैं—१-ब्रह्मयज्ञ, २-भगवदर्पणरूप यज्ञ, ३-अभिन्नतारूप यज्ञ, ४-संयमरूप यज्ञ, ५-विषय-हवनरूप यज्ञ, ६-समाधिरूप यज्ञ, ७-द्रव्ययज्ञ, ८-तपोयज्ञ, ९-योगयज्ञ, १०-स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ, ११-प्राणायामरूप यज्ञ और १२-स्तम्भवृत्ति प्राणायामरूप यज्ञ। फिर इकतीसवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले सनातन परब्रह्मको प्राप्त होते हैं—**'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्'** (४। ३१)। इसी बातको भगवान्‌ने तीसरे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें **'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः'** पदोंसे कहा है कि 'यज्ञशेषका अनुभव करनेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।' इस प्रकार तीसरे अध्यायके नवें और तेरहवें तथा चौथे अध्यायके तेईसवें और इकतीसवें—इन चारों ही श्लोकोंमें यज्ञका फल बताया गया है—सम्पूर्ण पापोंका नाश; संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति। अतः परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके जितने भी उपाय हैं, वे सब-के-सब गीताके 'यज्ञ' शब्दके अन्तर्गत आ जाते हैं।

गीताका 'यज्ञ' शब्द इतना व्यापक है कि इसमें यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, होम आदि सभी शास्त्रविहित शुभकर्म आ जाते हैं। चौथे अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें वेदकी वाणीमें बहुत-से यज्ञोंका विस्तारसे वर्णन हुआ है—ऐसा कहकर भगवान्‌ने दहरादिकी उपासनाका भी 'यज्ञ' शब्दमें अन्तर्भाव कर दिया है, जिसका वर्णन गीतामें नहीं है, प्रत्युत उपनिषद्में है। फिर भगवान् कहते हैं कि 'इन सब यज्ञोंको तू कर्मजन्य जान' और 'इस प्रकार जाननेसे तू मुक्त हो जायगा'—**'एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे'** (४। ३२)।

चौथे अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं'—**'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'**। अपने कर्मोंकी दिव्यताका वर्णन भगवान् तेरहवें-चौदहवें श्लोकोंमें करते हैं। उनमें भगवान् कहते हैं कि सृष्टि-रचना आदिका कर्ता होनेपर भी मुझे तू अकर्ता जान, क्योंकि कर्मफलमें मेरी कोई स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म बाँधते नहीं। इस प्रकार मुझे तत्त्वसे जाननेवाला भी कर्मोंसे नहीं बँधता। तात्पर्य है कि जो मेरी तरह कर्तृत्वाभिमान और फलासक्तिसे रहित होकर कर्म करेगा, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधेगा। इस प्रकार भगवान्‌ने अपने कर्मोंकी दिव्यता बतायी। जो कर्म बाँधनेवाले हैं, वे ही कर्म मुक्त करनेवाले हो जायँ—यही कर्मोंकी दिव्यता है। फिर पंद्रहवें श्लोकमें भगवान् **'एवं ज्ञात्वा'** पदोंसे कहते हैं कि इस प्रकार जानकर मुमुक्षु पुरुषोंने भी कर्म किये हैं, इसलिये तू भी कर्म ही कर—**'कुरु कर्मैव'**। सोलहवें श्लोकमें कर्मोंसे निर्लिप्त रहनेके इसी तत्त्वको विस्तारसे कहनेके लिये भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं और **'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'** पदोंसे उसे जाननेका फल मुक्त होना बताते हैं। यही बात भगवान् उस विषयका उपसंहार करते हुए **'एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे'** (४। ३२) पदोंसे कहते हैं। इस प्रकार कर्तृत्वाभिमान और आसक्तिसे रहित होकर किये गये सम्पूर्ण शुभ कर्म 'यज्ञ' के अन्तर्गत आ जाते हैं।

गीतामें कहीं तो यज्ञ, दान और तप—इन तीन शुभ कर्मोंका वर्णन आता है (१७। २४-२५, २७; १८। ३, ५), कहीं यज्ञ, दान, तप और वेदाध्ययन—इन चार शुभ कर्मोंका

वर्णन आता है (८।२८; ११।५३) और कहीं यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन और क्रिया—इन पाँच शुभ कर्मोंका वर्णन आता है (११।४८)। वास्तवमें तो एक यज्ञके उल्लेखसे ही सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका उल्लेख हो जाता है।

तीसरे अध्यायके दसवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि सृष्टिके आदिमें प्रजापति ब्रह्माजीने यज्ञोंके सहित प्रजाकी रचना की—**'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा'**। यहाँ **'प्रजाः'** पदके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी आ जाते हैं और उसके साथ **'सहयज्ञाः'** विशेषण देनेसे यह शङ्का होती है कि यज्ञमें सबका अधिकार तो है नहीं, फिर भगवान्‌ने सारे प्रजाजनोंके साथ यह विशेषण क्यों लगाया ? इसका समाधान यही है कि यहाँ उस यज्ञकी बात नहीं है, जिसमें सबका अधिकार नहीं। यहाँ 'यज्ञ' शब्द कर्तव्यकर्मोंका वाचक है। अपने वर्ण, आश्रम, धर्म, जाति, स्वभाव, देश, काल आदिके अनुसार प्राप्त सभी कर्तव्यकर्म 'यज्ञ' के अन्तर्गत आ जाते हैं। दूसरेके हितकी भावनासे किये जानेवाले सब कर्म भी 'यज्ञ' ही हैं। **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** (१८।४६) पदोंसे अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा परमात्माका पूजन करनेकी जो बात कही गयी है, वह भी 'यज्ञ'के ही अन्तर्गत है।

संखिया, भिलावा आदि जो जहर हैं, उनको जब वैद्यलोग शुद्ध करके औषधरूपमें देते हैं, तब वे जहर भी अमृतकी तरह होकर बड़े-बड़े रोगोंको दूर करनेवाले बन जाते हैं। इसी तरह कामना, ममता, आसक्ति, पक्षपात, विषमता, स्वार्थ, अभिमान आदि सब जहररूप हैं। कर्मोंमेंसे इस जहरके भागको निकाल देनेसे वे कर्म अमृतमय होकर जन्म-मरणरूप महान् रोगको दूर करनेवाले बन जाते हैं। ऐसे अमृतमय कर्म ही 'यज्ञ' कहलाते हैं।

सबके मूल हैं परमात्मा। परमात्मासे वेद प्रकट होते वेद कर्तव्यपालनकी विधि बताते हैं। मनुष्य उस वि कर्तव्यपालन करते हैं। कर्तव्यपालनसे यज्ञ होता है यज्ञसे वर्षा होती है। वर्षासे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी हैं और उन्हीं प्राणियोंमेंसे मनुष्य कर्तव्यपालनसे यज्ञ करते (३।१४-१५)। इस तरह यह सृष्टि-चक्र चल रहा परमात्मा सर्वव्यापी होनेपर भी कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञमें नि विद्यमान रहते हैं—**'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठित** (३।१५) तात्पर्य है कि जहाँ निष्कामभावसे कर्तव्यका पालन किया जाता है, वहाँ परमात्मा रहते हैं। परमात्मप्राप्तिके इच्छुक मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। परंतु जो मनुष्य यज्ञ करता, अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उसके लि भगवान् कहते हैं कि 'वह तो चोर ही है'—**'स्तेन एव स** (३।१२); 'वह पापका भी भक्षण करता है'—**'भुञ्जते त्वघम्'** (३।१३); 'वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें र करनेवाला अघायु (पापमय जीवन बितानेवाला) मनुष्य व्य ही जीता है'—**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीव** (३।१६)।

यज्ञ अर्थात् कर्तव्यपालनकी जिम्मेवारी मनुष्यपर ही अतः मनुष्यको चाहिये कि वह निष्कामभावसे भगवत्पूजनके भावसे अपने कर्तव्यका तत्परतापूर्वक पा करे। अपने-अपने कर्तव्य-कर्ममें तत्परतापूर्वक लगा हु मनुष्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है—**'स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** (१८।४५)।

◆

पशुके समान व्यर्थ जीवन

जिहिं तन हरि भजिबो न कियौ।
सो तन सूकर-स्वान-मीन ज्यौं, इहिं सुख कहा जियौ ?
जो जगदीस ईस सबहिनि कौ, ताहि न चित्त दियौ।
प्रगट जानि जदुनाथ बिसार्‌यौ आसा-मद जु पियौ ॥
चारि पदारथ के प्रभु दाता, तिन्हैं न मिल्यौ हियौ।
सूरदास रसना बस अपनैं टेरि न नाम लियौ ॥

◆

मानवकी दानवीय क्रूरता

[गताङ्क पृ०-सं० ५२२ से आगे]

खरगोशका क्या कसूर है ?

खरगोशकी आँखें किसने फोड़ीं ? क्यों फोड़ीं ?

इस निरीह जानवरका सिर एक शिकंजेमें जकड़ दिया जाता है। धातुके एक क्लिपसे इसकी आँखें खुली-की-खुली रख दी जाती हैं। सिर धोनेके 'शेम्पू' की एक-एक बूँद इसकी आँखमें टपकायी जाती है। खरगोश चीत्कार करने लगता है। उसकी आँखोंमें ऐसी तीखी जलन होती है कि वह शिकंजेसे छुटकारा पानेके लिये अपनी कमर तुड़ा बैठता है। आँखोंसे अविरल आँसू निकलते रहते हैं। आँखसे अंधा हो जानेपर खरगोश शीघ्र मर जाता है।

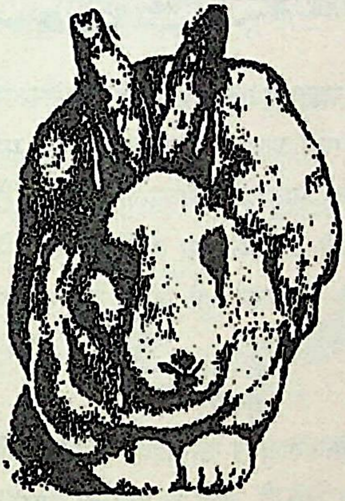

'शेम्पू' बनानेसे पहले उसकी परख करनेके लिये उसे खरगोशकी आँखमें डाला जाता है। बेचारे जानवरकी मौत और आपकी मौज ! आपके बालोंको मुलायम रखनेके लिये कैसा क्रूर व्यवहार इस निरीह जानवरके साथ किया जाता है। खरगोश कितना प्यारा, कितना स्नेहिल और भोला जीव है !

और मानव-समाज·····?

ह्वेलका क्या होगा ?

यह सर्वमान्य सत्य है कि ह्वेल मछली सर्वाधिक बुद्धिमान् एवं चेतनशील होती है। इसके शरीरकी रचना मानव-शरीर-जितनी जटिल होती है, परंतु इसके विरुद्ध जारी लड़ाईमें इन दोनोंके बीच कोई समानता नहीं है। इस मछलीका शिकार ऐसे 'हारपून ग्रिनेड' की मददसे किया जाता है जो इसके शरीरमें जाकर फटते हैं। इस मछलीको मारना भी कई घंटोंका काम है। मरते समय इसके गलेसे एक विचित्र-सी चीख निकलती है। लेकिन किसे परवाह है ? इस मछलीका शिकार समुद्रमें जारी है। लोग इसका मांस चाहते हैं। कुछ देश तो इसके तेलका उपयोग 'मिसाइल' के पुरजोंको तर एवं कामयाब बनानेमें भी लेते हैं।

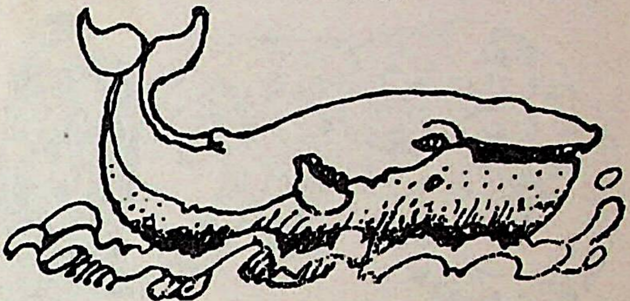

सील और डोल्फिन-जैसे समुद्री जानवरोंके साथ भी ऐसा व्यवहार होता है। किसीके सिरपर लगातार डंडे मारकर या किसीको जालमें समेटकर तटतक लाया जाता है। उनकी मुलायम खालके लालचमें शिकार जारी है।

भालू आया भालू आया

गलीमें भालूका नाच देखा है ? क्या आपको पता है कि उस जानवरको यह नाच सिखानेमें कितनी यातनाएँ दी जाती हैं ? जंगलसे पकड़ना भी आसान नहीं है। गड्ढा खोदकर उसमें जा गिरे भालूको लोहेकी बेंतोंसे पीटकर शान्त किया जाता है। उसकी नाकमें छेद करके कड़ा पहनाया जाता है। गर्म तवेपर उसे खड़ा कर दिया जाता है। बार-बार वह कूदता है और इस प्रकार नाचना सीख जाता है। भालूवालेका पेट पालनेके लिये बेचारे जानवरको कितनी यातना भुगतनी पड़ती है। इस जानवरकी खालके ओवरकोट बनाये जाते हैं। यदि लोगोंको गर्म तवेपर नंगे पैर खड़ा किया जाय तो····?

वनराज भी न बचे

जहरसे खाल खराब हो जाती है। बंदूककी गोलीसे खालमें गोल निशान पड़ जाते हैं। अतः बाघको फंदेसे पकड़ा जाता है। शिकंजेमें उसका पंजा फँस जानेके बाद निकल नहीं सकता। हाथकी हड्डी टूट जाती है, खून निकल आता है। बेचारा जानवर दहाड़ता है। शिकारी उसे चारों ओरसे तानियोंके घेरेमें भींचते हैं। तबतक भींचते रहते हैं, जबतक कि उसकी जान न निकल जाय। या फिर उसकी पूँछ ऊँची करके पीछेसे तेज गर्म लोहेकी छड़ उसके शरीरमें घुसा दी जाती है। वह दहाड़ मारकर मर जाता है।

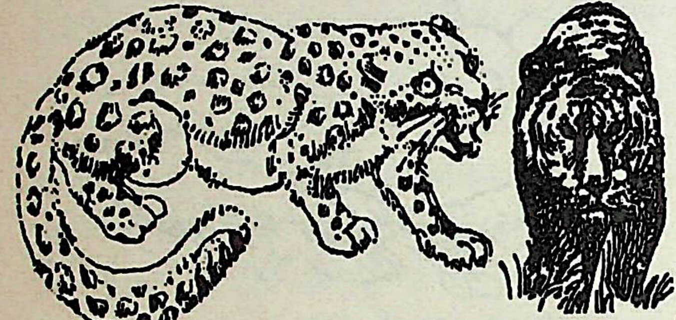

बघेरे या बाघकी खाल जिंदा एवं साबूत बच जाती है.....।

गजराज तक गिरफ्तमें

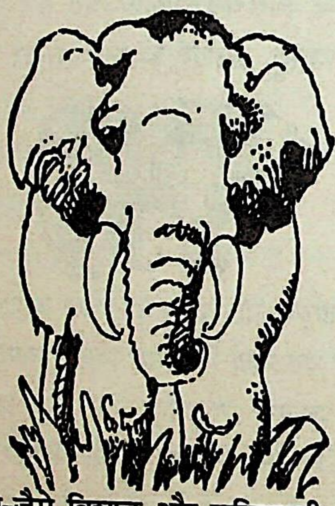

गजराज-जैसे विशाल और शक्तिशाली जानवर तकको लोगोंने नहीं छोड़ा। जगह-जगह ऐसे फल जंगलमें बिखेर दिये जाते हैं, जिनपर विषैले रसायनका लेप पहले ही किया गया होता है। हाथी उन्हें खाते ही चित्त हो जाते हैं। आकाशमें मँडराते हुए गिद्धोंसे अंदाज लगाकर शिकारी वहाँतक पहुँच जाते हैं और उन हाथियोंके दाँत निकालकर बाजारतक ले आते हैं। हाथियोंके दाँत, जिनसे बनती हैं अनेक ची हाथी-दाँतकी।

हाथीके दाँत दिखानेके और होते हैं और खानेके और, यह कहावत यदि मानव-समाजपर लागू की जाय तो....?

नादान कराकुल

मेमने तकको लोगोंने नहीं बख्शा है। कराकुल भेड़के बाल बड़े घुँघराले और खाल अत्यन्त नरम होती है। मनचले लोग अपने शौककी पूर्तिके लिये इसी खालके कपड़े या टो पहनना चाहते हैं। लेकिन मेमनेके पैदा होते ही उसके बालोंका मुलायमपन कम हो जाता है। अतः मादा भेड़को गर्भावस्थामें ही बेंतोंसे पीटा जाता है। इस कदर बेंतोंसे उसपर प्रहार किया जाता है कि उसके प्राण-पखेरू उड़ जायँ। मरते ही उसके पेटसे होनेवाले मेमनेको निकाला जाता है। क्रूरताकी पाशविकता इससे अधिक क्या होगी कि उस मेमनेकी खाल जिंदा-अवस्थामें ही उतार ली जाती है। उसके मरनेतकका इंतजार नहीं किया जाता।

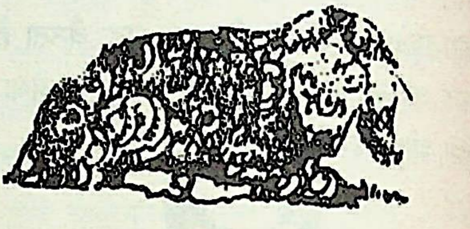

बेचारे कछुए

पानीके किनारे कुछ ऊँचाईपर जमीन खोदकर कछुए अपना घर बना लेते हैं, जहाँ वे दीन-दुनियासे दूर छुप जाते हैं। बेचारे कछुएको क्या पता? उनके पाँव-तलेकी जमीन यकायक सरका दी जाती है और वे इस प्रकार उलटे लुढ़क जाते हैं कि सहसा सीधे नहीं हो पाते। उनके नीचे शरीरके कोमल अङ्गोंको तनिक धूप दिखाकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया

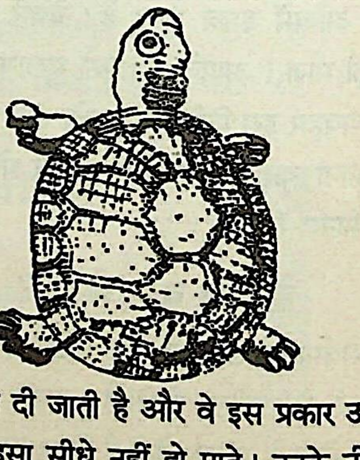

जाता है। कारखानोंमें भेजकर इससे एक विशिष्ट तेल निकाला जाता है, जिसका उपयोग प्रसाधन-सामग्रीके रूपमें किया जाता है। इस प्रकार कछुआ समुद्रतटसे आपके कमरेमें प्रसाधन-सामग्रीके रूपमें पहुँच जाता है। आपके सौन्दर्यके लिये कितने कछुओंकी जान जाती है प्रतिदिन, प्रतिवर्ष।

नेवलेकी खाल

नेवला डरावना होता है। कई लोग इसे पालतू भी बना लेते हैं। परंतु शिकारी लोग इसे लोहेकी गर्म छड़ोंसे पीटकर बेहोश कर देते हैं, या फिर इसके बिलमेंसे इसका मुँह बाहर निकलते ही शिकंजेमें इसकी गरदन दबा ली जाती है। शिकंजेको जरा मोड़ते ही इसकी गरदन टूट जाती है। अनेक शिकारी असंख्य नेवलोंकी गरदन मोड़नेकी तलाशमें दर-दर भटकते रहते हैं, क्योंकि इसकी खाल भी आपके लिये उपयोगी है। खाल तो आपके भी है न····· ?

कितने बीवरोंकी खालसे बना आपका कोट ?

चूहे-जैसा ही जानवर होता है 'बीवर'। इसके शरीरसे निकला तेल सौन्दर्य-प्रसाधन-सामग्री बनानेमें काम आता है।

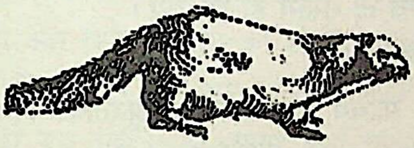

इसकी खालके कोट बनते हैं। छोटा-सा यह जानवर रुमाल-बराबर है। करीब ६० ऐसे जानवरोंकी खालसे एक व्यक्तिका कोट बनता है। कितना व्यापक वध है यह।

सीलके शिशु भी

सील मछलीके बच्चोंके साथ भी क्रूरता कुछ कम नहीं होती है। कनाडामें बेसबाल खेलनेके बल्ले-जैसे डंडेसे इस मछलीके बच्चोंकी लगातार तबतक पिटाई की जाती है, जबतक कि वे मर न जायँ। नारवेमें लोहेकी तीखी सलाख सीलके बच्चोंके सिरमें घुसा दी जाती है और उसकी खाल तुरंत उतारनेके लिये उसे चीर दिया जाता है। बेचारी माँ अपने शिशुके क्रन्दनको सुनती रहती है। जब शिकारी चले जाते हैं तो वह अपने शिशुके अस्थिपंजरके समीप आकर अपने मुँहसे उस लहू-लुहान पिण्डको सूँघती है। कहाँ गया उसका शिशु ? वह तो सदाके लिये विलुप्त हो गया, पर खाल किसी रईसका कोट बन गयी।

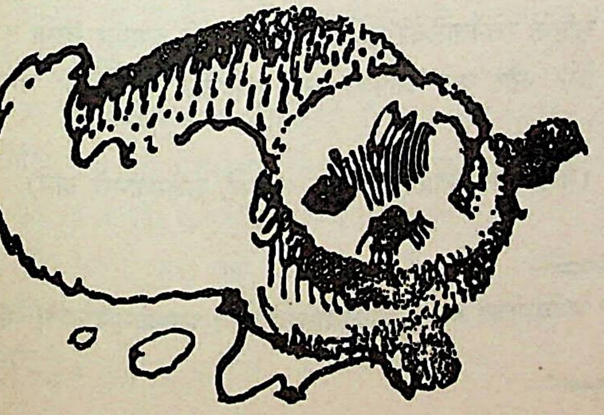

सूअरका स्वाद ?

सूअरके बाल उखाड़नेमें भी इसी प्रकारकी क्रूरता बरती जाती है। नाना प्रकारके उपयोगमें इन बालोंको लिया जाता है। परंतु क्यों ? क्या सूअरके बालके बिना काम नहीं

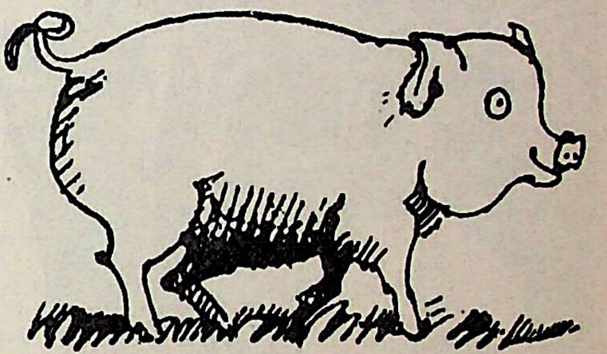

चलता ? नगरोंमें सूअरके वधके दृश्य आसानीसे देखे जा सकते हैं। जिंदा सूअरको हाथ-पैर बाँधकर आगकी लपटोंपर सेंका जाता है। किसके लिये ? सिर्फ स्वादके लिये ! कैसा क्रूर है यह स्वाद !!

मिंककी मौत

मिंक नामक जानवर पानीमें रहता है और इसके बाहर

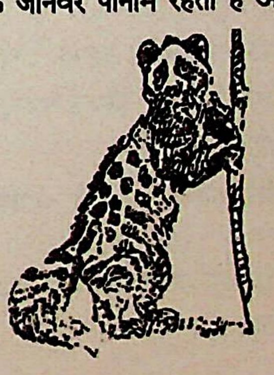

भी। इसका कसूर सिर्फ इतना ही है कि मुलायम बालवाली इसकी खाल अत्यन्त मोहक एवं लुभावनी होती है। अतः मिंकपर कहर ढाया जा रहा है। रईस लोगोंके कोटकी खातिर मिंकका व्यापक वध हो रहा है। 'चिनचिला' नामक दक्षिणी अमेरिकाके जानवरको भी मिंककी भाँति अकारण सजा-ए-मौत सहनी पड़ रही है।

कुत्तेका कान चाहिये

कुत्ता तो सर्वाधिक ईमानदार अङ्गरक्षक होता है। लेकिन आदमी उसकी जानका भी भक्षक बनता जा रहा है। बेशकीमती नस्लके कुत्तोंको एक साथ खड़ा करके उसके शरीरमें विद्युत्का करंट प्रवाहित किया जाता है। काँपते, सिहरते, कँपकँपाते हुए कुत्तोंका झुंड-का-झुंड दम तोड़ देता है। इनके नर्म कानका उपयोग आपके शौकके लिये, आपके 'पर्स' बनानेके लिये होता है। कैसा है यह कुत्तेका जीवन ?

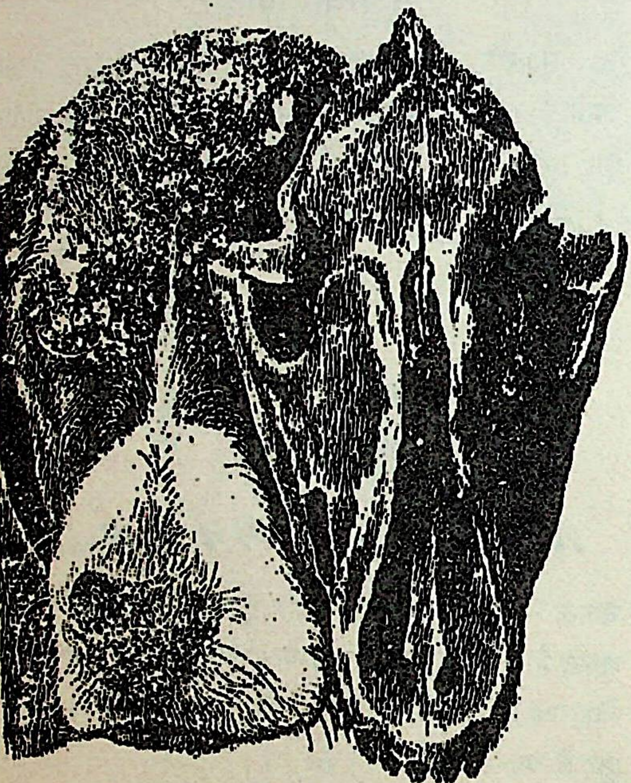

इसके लिये उपाय भी हैं—

वन्य जीवोंके साथ ऐसे क्रूर व्यवहार करनेके लिये विदेशी व्यापारियोंको भारत एक बड़ी मंडी नजर आती है, क्योंकि यहाँ पशु-पक्षी काफी संख्यामें हैं। ऐसे वन्य जीवोंका अनैतिक एवं गैर कानूनन व्यापार भी जोरोंपर है। खाल, सींग, प्रसाधन-सामग्री और जीभके स्वाद आदिकी खातिर मानवताको ताकमें उठाकर रख दिया गया है। अधिकांशतः विज्ञानकी प्रगतिसे अब रासायनिक रूपसे बने पदार्थ उपलब्ध हैं, जो उसी उपयोगमें लाये जा सकते हैं, जिसके लिये पशु-पक्षियोंका वध किया जाता है। ह्वेल मछलीके तेलके स्थानपर सिन्थेटिक तेल बनाया जा चुका है, जिसका प्रयोग उतना ही असरदार है। खालके कपड़ोंके स्थानपर नाना प्रकारके कृत्रिम रासायनिक वस्त्र बनाये जाग चुके हैं, जिन्हें देखनेसे जरा भी कृत्रिम नहीं लगते हैं।

फिर भी····· !

फिर भी पशु-पक्षियोंकी हत्या और उनके साथ अमानवीय व्यवहार जारी है। औसतन एक जानवरको जिंदा पकड़ने या एक स्थानसे दूसरे स्थानपर भेजनेमें ५-७ जानवर मर जाते हैं। हालहीमें २० लाख जिंदा मगरमच्छ अन्ताराष्ट्रिय जगत्में बिकनेके लिये एक देशसे दूसरे देशमें लाये गये, परंतु इनमेंसे आधे तो रास्तेमें ही मर गये।

और आप····· ?

जरा सोचिये, इस प्रकारकी क्रूरताका निवारण किस प्रकार किया जा सकता है? आप मानव हैं। आपमें मानवीयता है। तो फिर आप चुप क्यों हैं ? पशुओंपर हो रही क्रूरताके निवारणमें आपका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

ऐसे लावण्यमय जानवरों या वन्य जीवोंका ऐसी क्रूरतासे वध करनेका अधिकार आपको किसने दिया ? क्या इस सुन्दर सृष्टिके रचनेवालेकी दृष्टिसे आपका यह व्यापार छिपा हुआ है ? और क्या आपको इस कुकर्मका फल नहीं भोगना पड़ेगा ?

(पशुक्रूरता-निवारण-समिति, जयपुर, राजस्थानसे प्राप्त)

* * *

विषयोंके चिन्तन करनेवाले मनुष्यका मन विषयोंमें और भगवान्का स्मरण करनेवालेका मन भगवान्में लगा रहता है।—श्रीमद्भागवत

पढ़ो, समझो और करो

(१)

गोमाताकी सेवाका चमत्कार

मेरे पूर्वज गाँवमें सदा सम्पन्न रहे, मेरे पिताजीका जीवन भी उन्नत रहा, वे चार-पाँच घंटे ईश्वराराधनमें लगाते और शेष समय साहूकारी, गल्ला-बीजके लिये देनेमें और खेतीके कार्यमें व्यतीत करते। इस कार्यमें उनका खूब मन लगता। उन्होंने भूमि भी पर्याप्त एकत्र कर ली थी। वे कृषि बहुत उत्तम तरीकेसे करते। गाँवके लोगोंपर उनका प्रभाव था और सब लोग उनसे संतुष्ट रहते थे। पिताजीके परलोकगमनके बाद गृहस्थीका सारा दायित्व मुझपर आ पड़ा। किंतु क्रमशः सम्पत्तिका ह्रास होने लगा। थोड़े ही समयमें मेरी सम्पत्ति आधी रह गयी। भूमिका कार्य स्थगित हो गया। बीजका गल्ला सब डूब गया। पैसेकी आय बंद हो गयी। खेतीसे अन्न कम होने लगा और अधिकांश जमीन परती पड़ गयी। देखते-देखते सारा काम चौपट हो गया।

मैं रात-दिन चिन्तित रहने लगा। भाग्यने जैसे मेरा साथ छोड़ दिया था। मैं जिस कार्यमें हाथ डालता, उसीमें असफल होता। मेरे दो और छोटे भाई हैं। उन लोगोंकी इच्छासे मुझे उनसे पृथक् होना पड़ा! सारी सम्पत्ति तीन भागोंमें बराबर-बराबर बाँटकर हम सब अपना-अपना कार्य चलाने लगे। मुझे चार वर्ष बीत गये, किंतु मेरी दशा उत्तरोत्तर अवनत होती गयी। गाँवके लोग मुझे निरुद्यमी और आलसी कहने लगे। मुझपर ऋण भी काफी हो गया। यहाँतक कि अनाजके लिये भी मैं दूसरोंका मुँह देखने लगा। जिनको मैं गल्ला और रुपया दिया करता था, अब उनके द्वारपर मुझे दौड़ना पड़ता, किंतु इतना होनेपर भी मैं धैर्य नहीं छोड़ सका और भगवान्‌का भरोसा मेरे मनमें बना रहा।

एक दिन चिन्तित-मन चारपाईपर मैं लेटा हुआ था कि मेरी आँख लग गयी। निद्रामें मुझे लगा कि बैल-गाय मुझे मारने दौड़ रहे हैं और मनुष्यकी भाषामें बोलते हुए मुझसे कह रहे हैं कि 'अभी हम तुझे और तंग करेंगे। तूने अपने खाने-पीनेके सिवा कभी हमारी भी खबर ली है कि हम भूखे या प्यासे हैं? सारों (गोशाला) में कभी जाकर देखा भी है कि वह साफ है या हम गोबर-मूत्रमें पड़े हैं? तू अपने इसी पापका परिणाम भोग रहा है। तू अब भी चेत जा और अपना तरीका बदल दे, नहीं तो अन्ततः तेरा सर्वनाश हो जायगा।'

गाय-बैलोंके वचन सुनकर मुझे बहुत व्यथा हुई और मैं चौंककर जाग उठा। मैंने देखा, यह तो स्वप्न था। रात आधीसे अधिक बीत चुकी थी। किंतु मैं उसी समय लालटेन लेकर गोशालामें गया। वहाँ देखा, सारे पशु भूखे खूँटेसे बँधे हैं। उनके आगे घास-भूसाका एक तिनका भी नहीं था। कूड़ेका ढेर लगा है। मैं मन-ही-मन पश्चात्ताप करने लगा। मैंने उसी क्षण अपने हाथसे गोशालाको साफ करना शुरू किया और दिनके दस बजेतक गोशालाकी सफाईमें लगा रहा। उस दिनसे हर समय मैं अपने जानवरों एवं गोशालापर ध्यान रखने लगा। प्रातः-सायं गो-दुग्ध अपने हाथसे दुहना और चारा-घास एवं स्वच्छ जल अपने सामने डलवाना मेरा मुख्य कर्तव्य हो गया। मेरे गाय-बैल जब चरने जाते, तब मैं गोशाला अपने हाथोंसे साफ करता। कूड़ा-करकट अलग गड्ढेमें डालता और उसकी अच्छी खाद बनती। जानवर सुखपूर्वक रहने लगे। मेरे जानवर स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट हो गये। घृत-दुग्ध पर्याप्त मिलने लगा। बैलोंके सुस्वास्थ्यके कारण मेरी कृषि चमक उठी और अनाज पाँचगुना-छःगुना उत्पन्न होने लगा। खेतीमें मेरी रुचि बढ़ गयी और निराशा दूर हो गयी। ऋण भी अधिकांश चुका दिया गया। मेरी स्थितिमें काफी परिवर्तन हो गया। मुझे निरुद्यमी, आलसी और अभागे कहनेवाले लोग अब मेरी प्रशंसा करने लगे।

यह घटना बिलकुल सची है। रईसीके चक्करमें मैं अपनी सम्पत्तिका नाश कर चुका था, किंतु आज ईश्वरकी कृपा, गो-माताके आशीष और अपने हाथों काम करनेके कारणसे मेरी दशा अत्यन्त सुन्दर हो गयी। यदि कोई गोपालक कृषक भाई मेरी तरह दरिद्रनारायणके शिकार हो गये हों तो उन्हें मेरे पथका अनुसरण करना चाहिये। मैं पूर्ण विश्वासके साथ कहता हूँ कि भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास और गो-माताकी सेवासे बुरी-से-बुरी हालत बदलकर अच्छी हो जायगी।

—एक गो-सेवक कृषक

(२)

मनुष्यकी महत्ता

बहराइचमें एक घर।

करुण वेदनासे परिपूर्ण विलाप करती हुई चीत्कारें सुनायी पड़ती हैं। किसीकी मृत्युपर पुरुष और स्त्रियाँ विलाप कर रहे हैं। दाह-संस्कार करनेके लिये पड़ोसी जन एकत्रित हो रहे हैं। सभी दुःखी हैं। यों तो मृत्युपर सबका दुःखी होना स्वाभाविक ही है, किंतु इस व्यक्तिके मरनेसे सभीको विशेष विक्षोभ है। कमानेवाला कोई नहीं, छोटे बच्चे और चौंतीस वर्षकी विधवा। पूरा परिवार जैसे मझधारमें ही डूब गया है। विधिका विधान कौन टाल सकता है? अब कौन इनके बच्चोंको पालेगा, पढ़ायेगा, कन्याओंके शिक्षण और विवाहका प्रबन्ध करेगा? चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा दिखायी देता है।

पैसा पास न हो तो शवका दाह-संस्कारतक दुर्लभ है। ऐसेमें मौतका तो क्षोभ होता ही है, पैसेकी मजबूरी काँटोंकी तरह और अधिक खटकती है। आदमीको तो लोक-लाजका भी ध्यान रखना पड़ता है।

लीजिये, शोक मनानेवालोंका जमघट हो गया। रोने-पीटनेके बीचमें धीरे-धीरे फुसफुसाहट सुनायी पड़ने लगती है।

'क्यों, कुछ रुपयेका प्रबन्ध हो जाय तो दाह-संस्कारके लिये लकड़ी, घी, कफन आदिके लिये आदमी भेजा जाय?

विधवासे पैसे कौन माँगे? पैसेका सवाल विकट है।

डेढ़-दो सौसे भी कुछ अधिक ही रुपया खर्च होगा?

तो चंदा कर लिया जाय, कितना-कितना लें?

'छिः छिः चंदेसे शव उठेगा क्या? बड़ी लज्जाकी बात होगी। काफी देर होती जा रही है। इनके यहाँ कोई रिश्तेदार भी तो मौजूद नहीं।'

बातें हो ही रही थीं कि नगरके एक वयोवृद्ध सज्जन पं० श्रीशारदा महाराज आते दिखायी दिये। वे भी आकर थोड़ी देर चुपचाप बैठकर लोगोंकी खुसरपुसर सुनते रहे। पैसेका क्या प्रबन्ध हो? यही विकट समस्या सबको उलझनमें फँसाये हुए थी। कोई प्रबन्ध नहीं हो पा रहा था।

मित्रो! यह रहे रुपये, शारदा महाराज अपने जेबसे बटुआ निकालते हुए बोले, 'लीजिये, ये पाँच सौ रुपये। इस अवसरपर इनसे अवश्य आपका काम चल जायगा।'

'पाँच सौ।' सुनकर सबकी आँखें वयोवृद्ध महाराज लग गयीं। आदमीके शरीरमें जैसे प्रत्यक्ष ईश्वर बोल रहे थे।

संकटके समय यह आर्थिक सहायता, परमात्माके भेजी गयी सहायता ही थी। इस उदार दानसे वहाँ प्रभावित थे। सभी उनकी प्रशंसा करने लगे।

पैसा पाकर कुछ आदमी लकड़ीका प्रबन्ध करने घाट गये, कुछ कफन लेने, शेष घृत आदि सामानका इन्तजा करने चले गये।

थोड़ी देर तो शारदा महाराज कुछ न बोले। सब कु प्रशंसा सुनते रहे। दाह-संस्कारके प्रबन्धका कार्य देखते र इसी बीच एक सज्जन बोले—'महाराज! आपने वक्तपर ब भारी सहायता की है। इस घरकी प्रतिष्ठा बचा ली है।'

दूसरेने कहा—'सचमुच, दाह-संस्कारसे पूर्व ही मित्र घर पहुँचकर उसके प्रबन्धकोंको ५००.०० (पाँच सौ रुपये की सहायता करना बड़ा उत्तम धार्मिक कार्य है। मित्र हो ऐसा ही हो। जो संकटके समय अपने मरे हुए मित्र प्रतिष्ठाकी रक्षा करे वही सच्चा मित्र कहलानेका अधिकारी है शारदा महाराज आप धन्य हैं। आपको पाकर मानवता ध हुई है।'

'नहीं, आपलोग गलतीपर हैं। मैं इतना ऊँचा नहीं हूँ असली बात तो यह है कि मैंने अपने इस स्वर्गीय मित्रसे पाँच सौ रुपये बहुत दिन हुए उधार लिये थे। यह बात वे औ मैं, हम दोनोंके अलावा कोई नहीं जानता। मेरे इन स्व मित्रने न कभी अपना रुपया माँगा और न मैंने वह धन उ वापस ही लौटाया। यह बात यों ही सबसे छिपी रही। वे मे इज्जतका बड़ा ख्याल करते थे। रुक्का-परचा लिखाने दूसरोंके सामने उसका जिक्र करनेसे मेरी प्रतिष्ठामें हानि हो मेरे स्वाभिमानको ठेस लगेगी, यह सोचकर उन्होंने कभी रकमका जिक्र प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूपसे किसीसे किया। उनके निकट-सम्बन्धियों—पत्नी, पुत्रतकको उधारकी रकमका कोई पता नहीं था। उसके सम्बन्धमें जानता था कि वे अब तो दुनियामें रहे नहीं, सिर्फ मैं ही रहस्यको जाननेवाला रह गया। मुझे जैसे ही उनकी मृ दुःखद समाचार विदित हुआ, तुरंत पाँच सौ रुपयेका प्र

करके दाह-संस्कारके पूर्व ही उनके ऋणसे उऋण हो रहा हूँ। शेष उनकी धर्मपत्नी और पुत्रोंको सहायतार्थ दे दीजिये। आजतक उन्होंने कभी अपने कर्जका तकाजा नहीं किया था। इस ऋणको अदाकर मैं अपनी अन्तरात्मामें हलकापन अनुभव कर रहा हूँ।'

यह कहते-कहते उनके नेत्रोंमें करुणाके आँसू आ गये। यदि वे ईमानदार न होते तो वह रहस्य किसीको न बतलाते और बड़ी आसानीसे रुपये मार सकते थे।

लोगोंको उनकी इस ईमानदारीको देखकर महान् आश्चर्य हुआ। उन्होंने बिना माँगे ही धन लौटा दिया था। ऐसे ईमानदार देवपुरुष अब भी मौजूद हैं।

हमें चाहिये कि हम ईश्वरके बनाये नियमोंसे ही धन कमायें। बेईमानीका धन हमसे दूर रहे। अनुचित रीतिसे कमाया धन हम न रखें। धर्मसे धन कमायें और परोपकारादि धर्मके कार्योंमें ही खर्च करें—यही धर्मका सार है।

—डॉ॰ श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰

* * *

मनन करने योग्य

शीला हतप्रभ हो उठी !

अड्ड-खड्डकी ध्वनि करती हुई बस यकायक रुकी। उसमें बेतहाशा भीड़ थी। बड़ी मुश्किलसे खड़े-खड़े ही शीलाने यात्रा की थी। भगदड़ तथा जल्दबाजीमें यात्री लोग शिष्टताकी परवाह किये बिना जल्दी-जल्दी उतर-चढ़ रहे थे। इसी धक्का-मुक्कीमें शीला भी बससे किसी तरह नीचे उतरी और फिर बस शीघ्रतासे आगे चल पड़ी। शीलाने बससे उतरकर जल्दी-जल्दी अपने वस्त्रोंको सँभाला और फिर गलेके सोनेके कण्ठहारको टटोला।

अरे, यह क्या ? उसका सोनेका नेकलेस कहाँ है ? गला खाली ! ऊफ ! गजब हो गया। नेकलेस…… गिर…… गया……। भयानक हानि !

शीलाकी तो वह हालत कि काटो तो खून नहीं। उसका चेहरा विषाद, भय और आवेशमें फक् पड़ गया। वह उलझनमें पड़ गयी।

'हे परमेश्वर ! यह तो बड़ा भारी नुकसान हो गया।' उसने मानसिक व्यथासे माथा पकड़ लिया। वह अविचलित पत्थरकी मूर्तिकी तरह खड़ी थी, निष्प्राण, निश्चल ! क्या करे अब वह ? बेचारी शीलाके सामने सोनेके नेकलेसके खो जानेकी गम्भीर समस्या थी। न जाने कैसे उसके माता-पिताने वह हार बनवाया होगा ? कैसे पैसे इकट्ठे किये होंगे ? यह सोच-सोचकर वह पागल-सी होकर इधर-उधर देखने लगी। अब क्या करूँ ? किससे अपने मनकी व्यथा कहूँ !

तभी एक भले मानुष अधेड़ सज्जनने हतप्रभ लड़कीको देखकर समीप आकर कहा—बहन ! क्यों क्या बात है, बहुत परेशान दिखायी देती हो। क्या कुछ खो गया है ?

शीलाने संदेह और भयातुर करुणस्वरमें नेकलेस खो जानेकी बात बतायी और दीर्घ श्वास छोड़कर कहा—'मुसीबत यह है कि उस बसका मुझे नम्बरतक याद नहीं है जो पूछताछ करती।' उसकी जीभ लड़खड़ा गयी। शब्द रुक गये।

'मैं भी तो तुम्हारे साथ ही उसी बससे उतरा हूँ। बहन ! गाड़ीका नम्बर मुझे याद है। वह ८१ नम्बरकी बस थी।' वे सज्जन बोले !

शायद उस गाड़ीका कंडक्टर इस विषयमें कुछ बता सके। यह सोचकर दोनों व्यक्ति समीपकी दूकानमें टेलीफोन करनेके लिये गये।

वहाँ जानेपर पता चला कि वह बस उस स्टापपर भरी हुई होनेके कारण रुकी ही नहीं थी। अब क्या करे ? समय बीतता जा रहा था। जितनी देरी उतना ही बसका मिलना कठिन। तब उन्होंने हेड आफिसको टेलीफोन किया। वहाँसे उत्तर आया कि यद्यपि खोई हुई वस्तुकी प्राप्तिकी कोई गारंटी नहीं दी जा सकती, फिर भी आपके नेकलेसका पूरा ध्यान रखा जायगा। जवाब सुनकर शीला चिन्तित और व्यग्र हो उठी।

कोई उपाय न देखकर वह जल्दी-जल्दी हड़बड़ाकर अपने घर पहुँची और वहाँसे रात होते-होते हैरान-सी अपने पिताजीके साथ बसके दफ्तरमें पहुँची। वह और उसके पिता दोनों ही विचित्र अवस्थामें थे। रात काफी गुजर चुकी थी। सब बसें वापस पहुँचकर खड़ी हो चुकी थीं। डिपो बसोंसे भरा हुआ था।

'आप गुमशुदा मालके दफ्तरमें जाकर पूछताछ कीजिये।'

'वह कहाँ है ? कृपाकर हमें वहाँतक पहुँचा दीजिये।'

बसके एक कर्मचारीको दया आ गयी। वह उन्हें लेकर महकमेके आखिरी किनारेपर स्थित कमरेमें पहुँचा। 'यह रहा गुमशुदा-विभाग ! यहाँ पूछताछ कर लीजिये। शायद मिल जाय।'

'क्या बात है ? आप लोग हड़बड़ाये-से क्यों हैं ? क्या कोई चीज खो गयी है ? कर्मचारीने सहानुभूतिपूर्ण स्वरमें कई प्रश्न पूछ डाले।

'जी हाँ', शीला भर्राये हुए स्वरमें बोली—'मैं आज ८१ नम्बरकी बससे यात्रा कर रही थी। मेरा सोनेका नेकलेस गायब है। शायद वह किसीको उस बसमें पड़ा मिला हो !'

वह हतबुद्धि-सी अपलक कर्मचारीके मुँहके आशाजनक उत्तरकी प्रतीक्षा कर रही थी।

'किस डिजायनका था आपका नेकलेस ?'

'शीलाने डिजायन आदि समझानेकी कोशिश की, पर वह विक्षोभमें पूरा वर्णन न कर पायी। उसे अपने नेकलेसका ब्यौरा याद भी तो न रह सका था। तब उसके पिताने नेकलेसके आकार-प्रकार आदिकी सारी बातें बतायीं। जिसे सुनकर आश्वस्त होकर उस कर्मचारीने कहा—'आप नेकलेस हमारे पास जमा हुआ है। अभी कुछ ही देर प एक बस-कंडक्टरने उसे दफ्तरमें दाखिल कर दिया है।'

'ओफ ! तो मेरा खोया हुआ नेकलेस मिल गया' शीला आनन्दमिश्रित स्वरमें चिल्ला उठी।

इस अप्रत्याशित समाचारको सुनकर पिता भी प्रसन्न गये। थोड़ी देरमें नेकलेस उनके हाथमें था।

'मैं उन ईमानदार कंडक्टर महोदयका नाम जानना चाह हूँ'—शीलाके पिताने कहा।

'वे दिल्ली वेस्टके कंडक्टर श्रीपरशुराम अम्बाजी सा हैं। उन्हींकी ईमानदारीके कारण यह नेकलेस आपको मि सका है। हमारे यहाँ उनकी ईमानदारीके कई किस्से हैं। साक्षात् देवपुरुष हैं।'

दोनों कंडक्टर साहबकी ईमानदारीकी प्रशंसा करते हु अपना नेकलेस लेकर खुशी-खुशी बाहर निकले।

मनुष्यकी ईमानदारी भी देवत्वका ही एक अङ्ग है। ई ईमानदारीमें निवास करता है। जो व्यक्ति अपने ईमान कायम रहते हैं और अपना कर्तव्य पूरा करते हैं, वे देवता किसी भी हालतमें कम नहीं हैं।

—डॉ॰ श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्॰ ए॰, पी-एच॰

'कल्याण'के ग्राहक महानुभावोंको ग्राहक-संख्या-परिवर्तनके लिये आवश्यक सूचना

'कल्याण'के समस्त सम्मानित ग्राहकोंसे निवेदन है कि 'कल्याण'का सौर भाद्रपद, वि॰ सं॰ २०४७, सितम्ब मासका छठा अङ्क जब आपकी सेवामें प्रेषित होगा, तब उस अङ्कके रैपरपर आपकी नयी ग्राहक-संख्या कम्प्यूटरद्वारा छपी होगी। कृपया सावधानीपूर्वक इस नयी ग्राहक-संख्याको नोट कर लें एवं भविष्यमें मनीआर्ड भेजते समय अथवा पत्र-व्यवहार करते समय इस नयी ग्राहक-संख्याका प्रयोग अवश्य करनेका कष्ट करें।

समस्त ग्राहक महानुभावोंके पते प्रान्तोंके क्रमसे समायोजित करके उस प्रान्तके अनुसार 'ग्राहक-संख्या' आवंटित करनेकी योजना है, अतएव इस योजनाकी सफलतामें ग्राहक महानुभाव सहयोग देनेकी कृपा करें, जिससे उनका कार्य शीघ्र एवं सुगमतासे सम्पन्न हो सके। कम्प्यूटरद्वारा छपे हुए पतेमें कहीं कोई त्रुटि हो तो कृपया पत्रद्वारा सूचित करके पतेमें आवश्यक सुधार अवश्य करा लेनेका कष्ट करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण', गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन २७३००

'कल्याण'के आगामी ६५वें वर्ष वि० सं० २०४८ (सन् १९९१ ई०) का विशेषाङ्क

'योग-तत्त्वाङ्क'

मङ्गलमय भगवान्‌की असीम कृपा, प्रेरणा एवं शक्तिसे 'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क 'योग-तत्त्वाङ्क'के रूपमें प्रकाशित करनेका निर्णय लिया गया है। भारतीय सनातन शास्त्रोंमें तथा सत्पुरुषोंद्वारा योगके प्रति अपार श्रद्धा एवं आस्था प्रकट की गयी है और योगको ईश्वर-प्राप्ति तथा भगवत्साक्षात्कारका मुख्य द्वार बतलाया गया है। साथ ही कहीं-कहीं इसे भगवान्‌का अन्यतम स्वरूप भी बतलाया गया है। योग-साधनासे सभी प्रकारकी सिद्धियाँ, पराशान्ति और कैवल्यकी भी प्राप्ति सुगम हो जाती है। अतः योग सर्वथा आश्रयणीय है।

पर योग क्या है ? वह कितने रूपोंमें विभक्त है ? उसकी साधन-प्रणाली क्या है ? किस प्रकार चित्तको शुद्ध एवं शान्त करके समाधि-योगके द्वारा परमात्म-साक्षात्कार किया जा सकता है ? इन सब बातोंको स्वरूपतः समझे बिना उसका सम्यक् आचरण सम्भव नहीं है। इसलिये योग-तत्त्व एवं यौगिक प्रक्रियाओंको सभी प्रकारसे ठीक-ठीक समझकर उसे हृदयङ्गम करने और सम्यक् भगवद्दर्शनके द्वारा विश्वका परमहित सम्पादन करनेकी दृष्टिसे इस विशेषाङ्कमें योग-साधनाके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंपर पूर्ण प्रकाश डालनेका विचार किया गया है। साथ ही इसमें विविध प्रकारके योगों, योगशास्त्रों और प्राचीन कालसे अर्वाचीन समयतकके प्रायः सभी योगसिद्ध महात्माओं एवं सत्पुरुषोंकी योगमय जीवनचर्याओं, साधन-पद्धतियों एवं उपासना-प्रक्रियाओंको भी सचित्र एवं रोचक भाषा-शैलीमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

इसकी परिपूर्णता एवं सफलताके लिये हम परम प्रभुसे प्रार्थना करते हुए सभी गण्यमान्य आचार्यों, संत-महात्माओं, विद्वान्-मनीषी लेखकों एवं साधकोंसे सहयोगका सादर अनुरोध करते हैं कि वे संलग्न सूचीके निर्दिष्ट विषयों अथवा अन्य अतिरिक्त योगसे सम्बद्ध उपयोगी विषयोंपर अपने चिरस्वाध्याय, साधना एवं अनुभवके आधारपर अपनी सामग्री कार्तिक कृष्ण प्रक्ष द्वादशी, सं० २०४७ (१५ अक्टूबर, १९९० ई०) तक अवश्य भेज देनेकी कृपा करें। विशेषाङ्ककी एक संक्षिप्त वाञ्छनीय सूची दिशा-निर्देशके रूपमें साथमें दी जा रही है।

(सरल एवं रोचक भाषामें, विषयसे सम्बद्ध, संक्षिप्त विशिष्ट सामग्रीको प्रकाशनमें प्राथमिकता दी जा सकेगी।)

विनीत—
राधेश्याम खेमका
(सम्पादक)

'योग-तत्त्वाङ्क'की प्रस्तावित विषय-सूची

१-'योग' शब्दका अर्थ एवं उसकी व्याख्या।
२-'योग'की परिभाषा एवं उसके विविध भेद।
३-योग-तत्त्व-रहस्य-मीमांसा।
४-योगका महत्त्व।
५-योगका सार्वभौम स्वरूप।
६-निर्विकल्प समाधि और विभिन्न दार्शनिक दृष्टि।
७-चितिशक्ति और द्रष्टाकी स्वरूपावस्थिति।
८-योगदर्शनकी विशिष्ट पारिभाषिक पदावली।
९-योगके अन्तराय।
१०-संहिताओंमें योगके बीजका अनुसंधान।
११-उपनिषदोंमें योग और उनके द्वारा परमात्म-साक्षात्कार।
१२-षड्दर्शनोंमें योग।
१३-पाशुपत आगममें योग।
१४-स्मृतियोंमें योग।
१५-वैष्णवागमोंमें योग।
१६-शाक्तागमोंमें योग।
१७-विविध रामायणोंमें योग।
१८-महाभारतमें योग।
१९-पुराणोंमें योग—
  (क) विष्णुपुराणमें योगसम्बन्धी खाण्डिक्य और केशिध्वजका संवाद।
  (ख) श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण, योगाचार्य कपिल एवं जडभरत आदिद्वारा योगोपदेश।
  (ग) मार्कण्डेयपुराणमें भगवान् दत्तात्रेय, मदालसा एवं महर्षि मार्कण्डेयद्वारा उपदिष्ट योगोपदेश।
  (घ) स्कन्दपुराणमें शिवयोगीद्वारा भद्रबाहुको उपदेश।
  (ङ) महायोगी संवर्तकी योगशक्ति एवं उनके द्वारा उपदिष्ट योगतत्त्व-मीमांसा।
  (च) शिवपुराण, लिङ्गपुराण तथा कूर्मपुराणोंकी योगपरायणता।
  (छ) ब्रह्मादि अन्य पुराणोंमें करालजनक आदिके योगोपदेश।

२०-योगवासिष्ठमें योग।
२१-आयुर्वेदमें योग।
२२-ज्योतिषमें योग।
२३-व्याकरणमें योग।
२४-हिन्दी-साहित्यमें योग।
२५-श्रीमद्भगवद्गीतामें योगका स्वरूप और उसके विविध भेद।
२६-अष्टाङ्गयोग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।
२७-योगोंके विविध भेद—
पूर्णयोग, महायोग, राजाधिराजयोग, ज्ञानयोग, प्रेमयोग, बुद्धियोग, कर्मयोग, क्रियायोग, सांख्ययोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, लययोग, मन्त्रयोग, जपयोग, हिरण्यगर्भप्रोक्त मूल योग, गोरखनाथप्रोक्त हठयोग, कुण्डलिनीयोग, हठयोगके नेति, धौति, वस्ति आदि षट्कर्म।
२८-विविध सम्प्रदायोंमें योग—
(१) शंकराचार्यका अद्वैत-सम्प्रदाय तथा उनकी साधनामें योगकी प्रधानता।
(२) रामानुजसम्प्रदाय एवं रामानुज-दर्शनमें योगकी विशेषताएँ।
(३) मध्वसम्प्रदायमें योगकी महत्ता।
(४) विष्णुस्वामी तथा वल्लभसम्प्रदायमें योग-विलक्षणता।
(५) निम्बार्कसम्प्रदायमें योगका निरूपण।
(६) रामानन्द, कबीर तथा नानक आदिके सम्प्रदायोंमें योगसाधना।
(७) बौद्ध-दर्शनमें योगकी महत्ता।
(८) जैनसम्प्रदायोंमें योगकी प्रधानता।
(९) यहूदी-धर्ममें योग।
(१०) ईसाई-धर्ममें यौगिक प्रक्रिया।
(११) इस्लाम-धर्ममें योग।
(१२) पारसी-धर्ममें योग-साधना।
(१३) अन्यान्य धर्मोंमें योग-चर्या।
२९-योगसार-सर्वस्व—स्वरूपप्रतिष्ठा, कैवल्य, चितिश भगवत्प्राप्ति।
३०-योगः कर्मसु कौशलम्।
३१-योगेनाप्नोति ताः सर्वाः नान्यैर्योगगतिं व्रजेत्।
३२-समत्वं योग उच्यते।
३३-जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।
३४-योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।
३५-योगाचार्योंकी योग-चर्या एवं साधना-पद्धति—
योगके प्रथम प्रवर्तक भगवान् हिरण्यगर्भ, योग योगीश्वर भगवान् शङ्कर, योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण, म दत्तात्रेय, महर्षि मार्कण्डेय, महर्षि लोमश, महा याज्ञवल्क्य, योगाचार्य पतञ्जलि, योगाचार्य घेरण्ड ऋ महायोगी देवर्षि नारद, महायोगी सनत्कुमार, सन योगिगण, राजर्षि जनकके दरबारमें नौ योगीश्वरगण, ये विग्रह महर्षि शुकदेव, योगाचार्य महर्षि वसिष्ठ, म पराशर एवं व्यासादि ऋषिगण, योगियोंमें अग्रगण्य रा पुण्डरीक, ध्रुव, पृथु तथा भीष्म, आचार्य शंकर, रामानु निम्बार्क, मध्व, चैतन्य, रामानन्द, कबीर, ना मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, जालन्धरनाथ, भर्तृहरि, जैन निवृत्तिनाथ, वर्द्धमान महावीर, गौतम बुद्ध, ईसा, जर ज्ञानेश्वर, सोपानदेव, मुक्ताबाई, रामकृष्ण परम विवेकानन्द, जगद्बन्धु आदिकी योगचर्या।
३६-भारतके विविध प्रान्तोंके विशिष्ट योगी।
३७-शरीर-रक्षा एवं स्वास्थ्यकी दृष्टिसे योग-साधना।
३८-प्राचीन योगाश्रम।
३९-अर्वाचीन योगाश्रम।
४०-विदेशोंमें योग-साधनाके प्रमुख केन्द्र।
४१-गो-सेवासे विशुद्ध योगकी प्राप्ति।
४२-योग-साधनाका राष्ट्र-सेवामें उपयोग।
४३-योगमें विश्व-कल्याणकी भावना।
४४-योगसे देहसिद्धि एवं अन्य सिद्धियोंकी उपलब्धि।
४५-योगद्वारा पूर्ण शान्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति।
४६-योगदृष्टिसे विश्वैकात्म्य दृष्टि।

* * *

आवश्यक सूचना

'कल्याण'का 'नारी-अङ्क' पुनः प्रकाशित हो गया है। इस विषयमें एक सूचना चालू वर्षके तीसरे अङ्कके कव चारपर प्रकाशित की गयी है। इस अङ्कका मूल्य ४५.०० (पैंतालीस रुपये मात्र) तथा डाक-खर्च १४.०० (चौदह है। कृपालु पाठकोंको ५९.०० (उनसठ रुपये मात्र) भिजवाकर अपनी प्रति शीघ्र मँगा लेनी चाहिये।

* * *

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कल्याण

वर्ष ६४

संख्या ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, वि॰ सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, सितम्बर १९९०

विषय — पृष्ठ-संख्या
१-कमलात्मिका भगवती श्रीमहालक्ष्मी …………… ५६९
२-कल्याण (शिव) ………………………… ५७०
३-शोकनाशके उपाय (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ………………… ५७१
४-शुद्ध ज्ञानकी प्राप्तिके उपाय (ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाई जी व्यास) … ५७३
५-रे मन ! चल तू प्रभुके तीर [कविता] (श्रीविष्णुगुप्तजी 'विष्णु') … ५७५
६-राधा-कृष्णकी अभिन्नता तथा राधा-प्रेमकी विशुद्धता (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ……………………………… ५७६
७-वसुधैव कुटुम्बकम् (महन्त श्रीदीनबन्धुदासजी) …… ५७९
८-साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ……………………………… ५८१
९-प्रदक्षिणा (परिक्रमा) तथा स्वस्तिकका रहस्य ……… ५८४
विषय — पृष्ठ-संख्या
१०-जितेन्द्रिय बनो (संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज) .. ५८६
११-देवत्वकी विशेषता (डॉ॰ श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र 'विनय') ……………………… ५८७
१२-राम ते अधिक राम कर दासा (श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री, रामायणी, साहित्यरत्न) ……………… ५८९
१३-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ……………………………… ५९१
१४-गौका महत्त्व क्यों ? ……………………… ५९३
१५-स्वप्नसे वैराग्य ………………………… ५९५
१६-जा दिन संत पाहुने आवत [कविता] ………… ५९७
१७-पढ़ो, समझो और करो ……………………… ५९८
१८-मनन करने योग्य ………………………… ६००
१९-श्रीराम-जन्मभूमि (राधेश्याम खेमका) ………… ६०२
२०-श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना ……………… ६०४
२१-श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना ………… ६०८

चित्र-सूची

१-प्रणवस्वरूप भगवान् विष्णु (इकरंगा) आवरण-पृष्ठ
२-श्रीश्रीमहालक्ष्मी (रंगीन) मुख-पृष्ठ

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें २.०० रु॰
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपतिं जय रमापते॥

कल्याणका वा
मूल्य
(डाक-व्ययसहि
भारतमें ४४.०
विदेशमें ६
अथवा १०

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

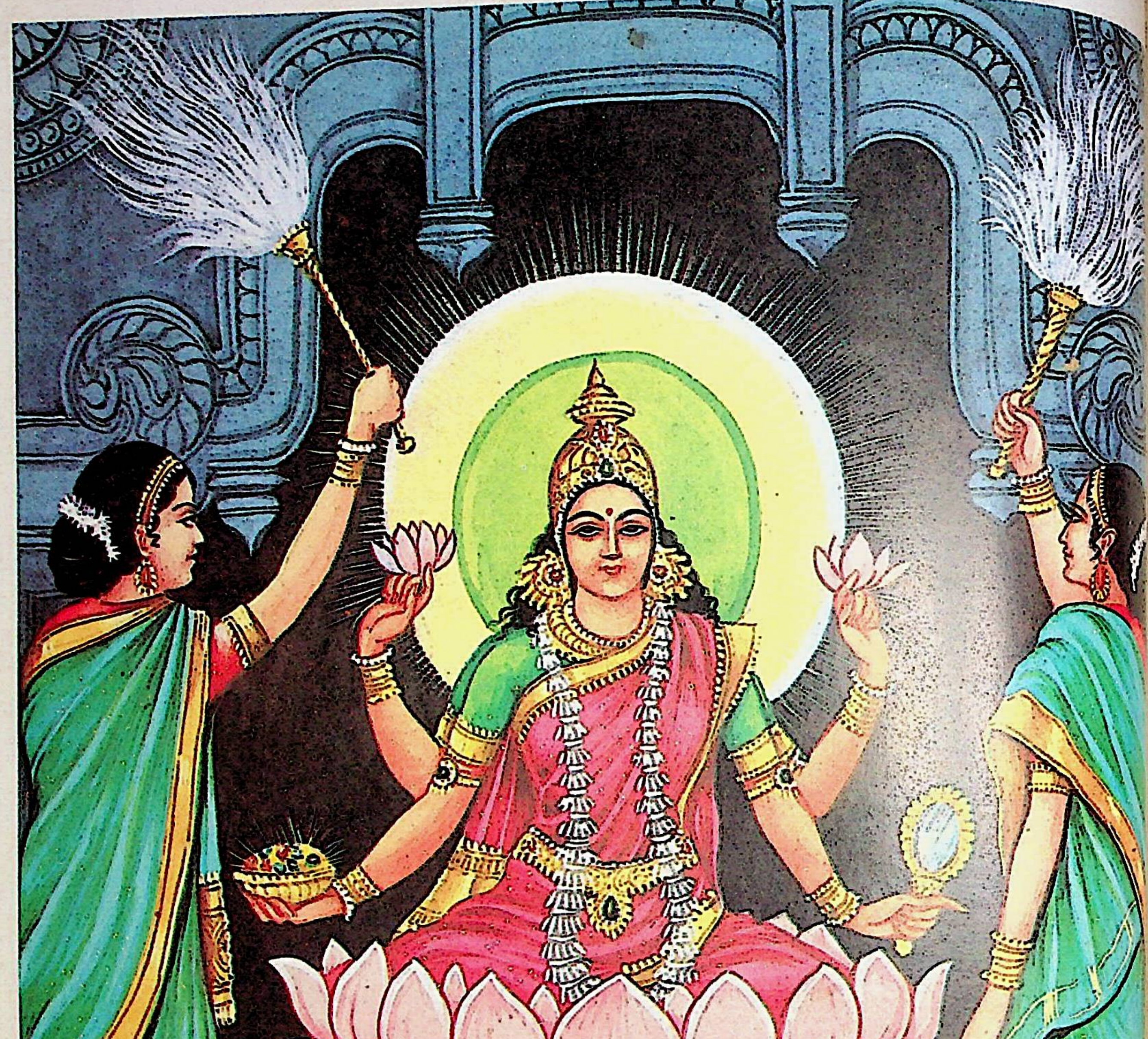

श्रीश्रीमहालक्ष्मी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

वर्ष ६४ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद, वि॰ सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, सितम्बर १९९० ई॰ { संख्या ९
पूर्ण संख्या ७६३

कमलात्मिका भगवती श्रीमहालक्ष्मी

सिन्दूरारुणकान्तिमब्जवसतिं सौन्दर्यवारां निधिं
कोटीराङ्गदहारकुण्डलकटीसूत्रादिभिर्भूषिताम् ।
हस्ताब्जैर्वसुपात्रमब्जयुगलादर्शौ वहन्तीं परा-
मावीतां परिचारिकाभिरनिशं ध्यायेत् प्रियां शार्ङ्गिणः ॥

कमलपर विराजमान, सिन्दूरके समान रक्तवर्णकी कान्तिसे युक्त, सौन्दर्यकी सागरभूता, मुकुट, बाजूबंद, हार, कुण्डल और करधनी आदि आभूषणोंसे समलङ्कृत, अपने दो हाथोंमें कमल, एक हाथमें दर्पण तथा एक हाथमें रत्नपूर्ण पात्र धारण किये हुई, परिचारिकाओंसे घिरी, भगवान् विष्णुकी प्राणप्रिया भगवती श्रीश्रीमहालक्ष्मीका अहर्निश ध्यान करना चाहिये ।

सौ॰भा॰ १—

कल्याण

संसारमें जो कुछ भी ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, शक्ति, श्री, सुख, सम्पत्ति, स्नेह, प्रेम, अनुराग, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, रस, तत्त्व, गुण, माहात्म्य आदि देखते हो, वह सब वहींसे आता है जहाँ इसका अटूट भण्डार है। अनादिकालसे अबतक इस भण्डारमेंसे लगातार इन सारी वस्तुओंका वितरण हो रहा है और अनन्त कालतक होता रहेगा, परंतु इस महान् वितरणसे उस भण्डारका एक तिलभर स्थान भी खाली न होगा। वह सदा पूर्ण, अनन्त और असीम ही रहेगा। जानते हो वह भण्डार कहाँ है और उसका क्या स्वरूप है? नहीं जानते, जानते होते तो भला उस अनन्त भण्डारको छोड़कर क्षुद्र और तुच्छ-सी चीजोंपर क्यों मरे फिरते?

वह भण्डार हैं भगवान्, और वे सभी जगह हैं, उनका महत्त्व और उनका तत्त्व जाननेकी चेष्टा करो, जरा-सी भी उनके महत्त्वकी झाँकी हो जायगी, उनके तत्त्वका ज्ञान हो जायगा, तो फिर तुम्हें दूसरी कोई चीज सुहावेगी ही नहीं। उनके सौन्दर्य-माधुर्यकी जरा-सी छाया भी कहीं दीख जायगी तो फिर जगत्का सारा सौन्दर्य-माधुर्य चित्तसे सदाके लिये हट जायगा।

तुम जो उनका चिन्तन छोड़कर विषय-चिन्तन करते हो, एकमात्र उन्हें ही पानेकी कामना न रखकर विषयोंकी कामना करते हो, उन्हींके बलपर सर्वथा निर्भर न रहकर जगत्के जड बलका आश्रय ग्रहण करना चाहते हो, उनके कृपाकणसे ही अपनेको परम धनी न मानकर दुनियाकी दिखावटी और क्षण-क्षणमें नाश होनेवाली धन-सम्पत्तिका मोह करते हो, उनके दासत्वका महान् पद पानेकी अनन्त कीर्तिका तिरस्कारकर दीवानी दुनियामें नाम कमाना चाहते हो और उनके नित्य सांनिध्यमें रहनेपर भी अपनेको असहाय समझते हो, इससे यही सिद्ध होता है कि तुमने उनका महत्त्व और प्रभाव कुछ भी नहीं जाना।

विश्वास करो और समझो कि वे सच्चिदानन्दघन हैं, नित्य हैं, परम पवित्र हैं, सब ईश्वरोंके ईश्वर हैं—परम प्रभु हैं, सबमें, सब जगह, सर्वदा और सर्वथा व्याप्त हैं, सारा उन्हींका पसारा है, वे तुम्हारे अपने हैं, तुम उनके निजजन हो, परम आत्मीय हो, वे नित्य तुम्हारे साथ—सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते सदा ही रहते हैं, एक क्षणके लिये भी तुमसे अलग नहीं होते। उन्हें जानो, देखो और पहचानो। तुम्हारे सारे अभाव मिट जायँगे। तुम्हारे सब दुःखोंका सदाके लिये नाश हो जायगा। तुम्हें परम शान्ति मिल जायगी।

उन परम प्रियतम सच्चिदानन्दघन प्रभुको जानने, देखने और पहचाननेका सबसे पहला साधन है परम श्रद्धा। जिन अनुभवी महात्माओंने भगवान्को जाना, देखा और पहचाना है, उनके वचनोंपर श्रद्धा करो। शास्त्रोंने भगवान्को जानने, देखने और पहचाननेके जो साधन बतलाये हैं, उनपर श्रद्धा करो। ज्यों-ज्यों तुम्हारी श्रद्धा बढ़ेगी, त्यों-ही-त्यों तुम्हें भगवान्का प्रकाश समीप आता हुआ दिखायी देगा। तुम अपने अंदर एक प्रकारके आनन्द और शान्तिका अनुभव करोगे, जिससे साधन और भजनमें तुम्हारा मन अधिकाधिक लगता जायगा। और ज्यों-ज्यों भजन बढ़ेगा, त्यों-ही-त्यों तुम भगवान्को कुछ-कुछ जानने, देखने और पहचानने लगोगे। साधनकी जननी श्रद्धा है। श्रद्धा है तो सब कुछ है, श्रद्धा नहीं तो कुछ भी नहीं।

याद रखो, श्रद्धासे सच्चा भजन होता है और भजन होनेसे ही सच्ची श्रद्धा भी होती है। सत्संगके द्वारा श्रद्धा बढ़ाओ और साथ ही भजन करके श्रद्धाको उज्ज्वल, निर्मल सात्त्विक और अनन्य बना लो। फिर जो भजन होगा, वह भगवान्को तुरंत प्राप्त करानेवाला होगा। भजनमें बड़ी शक्ति है। भजनकी सीधी विधि है भगवान्को निरन्तर याद रखना और उन्हें याद रखते हुए उनकी सेवाके भावसे ही संसारके आवश्यक कार्य करना। उनका स्मरण हृदयमें सदा अखण्डरूपसे बना रहना चाहिये। अखण्ड स्मरण होने लगे तो समझो, तुमपर भगवान्की बड़ी भारी कृपा है, अब तुम उस कृपाके बलसे निहाल होनेहीवाले हो। जबतक अखण्ड स्मरण न हो, तबतक बार-बार अभ्यासके द्वारा स्मरणकी चेष्टा करो। नाम-जपका नियम कर लो तथा मनको और जगहोंमें जानेसे रोकनेकी सतत चेष्टा करते हुए उस भगवान्में लगाते रहो। अभ्यास करते-करते भगवान्की कृपासे मन भगवान्में लग ही जायगा।—'शिव'

शोकनाशके उपाय

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

दुःख अथवा शोकके दो ही हेतु होते हैं—प्रियवियोग एवं अप्रियसंयोग अथवा इष्टका विनाश एवं अनिष्टकी प्राप्ति। इन्हीं दो हेतुओंसे मनुष्यको दुःख, शोक, चिन्ता अथवा व्याकुलता होती है। इन्हीं दो बातोंको लेकर सारा संसार दुःखी हो रहा है, ऐसा कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी। कोई-कोई तो इनके कारण इतने अधिक दुःखी हो जाते हैं कि उन्हें सारा संसार अन्धकारमय दीखने लगता है, उन्हें चारों ओरसे निराशाके बादल घेर लेते हैं, शोकके मारे दिन-रात उनकी छाती जला करती है, दिनमें चैन नहीं पड़ता और रातको नींद नहीं आती, शरीर सूखकर काँटा हो जाता है, खाना-पीना हराम हो जाता है—यहाँतक कि कुछ लोगोंको तो जीवन भारी हो जाता है और वे घुल-घुलकर शरीर छोड़ देते हैं। कुछ लोग तो और भी आगे बढ़ जाते हैं—वे विषादिका प्रयोग करके, जलमें डूबकर, फाँसी लगाकर अथवा आगमें जलकर प्राण त्याग देते हैं। प्रायः लोग स्त्री, पुत्र, धन, मान, कीर्ति अथवा स्वास्थ्य आदि इष्ट पदार्थोंके नाश हो जाने अथवा किसी मुकद्दमेमें फँस जाने, किसी भयानक रोगके शिकार हो जाने या किसी प्राणसङ्कटके उपस्थित हो जानेपर ही ऐसा करते हैं। ऐसे पुरुषोंके चित्तको शान्त करनेका क्या उपाय है, इसीपर कुछ विचार किया जाता है।

वास्तवमें बात यह है कि ज्ञान, भक्ति अथवा विवेक-विचार किसी भी दृष्टिसे शोक करना अज्ञानके सिवा और कुछ नहीं है। अतएव मनुष्यको न तो धन-मकान, जमीन-जायदाद आदि जड वस्तुओंके लिये और न स्त्री, पुत्र आदि चेतन प्राणियोंके लिये शोक करना चाहिये। जिनका विनाश हो चुका है, उनके लिये तो शोक करना बिलकुल ही बेकार है, बल्कि जिनका विनाश होनेवाला है, उनके लिये भी बुद्धिमान् मनुष्यको शोक नहीं करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने भी गीताके आरम्भमें अर्जुनको शोककी निवृत्तिके लिये ज्ञानकी दृष्टिसे यही उपदेश दिया है। भगवान् कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

(२।११)

'हे अर्जुन! तू शोक न करने योग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है, परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण अभी नहीं गये हैं अर्थात् जो मरनेवाले हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

ऊपरके श्लोकसे भगवान्का तात्पर्य यह है कि किसीके लिये किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी शोक कदापि न करना चाहिये।

ज्ञानके सिद्धान्तके अनुसार दो ही पदार्थ माने गये हैं—(१) जड और (२) चेतन। इन्हींको दूसरे शब्दोंमें (१) असत् और (२) सत् भी कह सकते हैं। सत् वह है जिसका नाश न हो और असत् अथवा मिथ्या वह है जो कायम नहीं रहता—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २।१६)

उपर्युक्त वचनसे भगवान्ने यह सिद्ध किया है कि इन्द्रियोंद्वारा दीखनेवाले जितने पदार्थ हैं, वे सब जड, अनित्य, क्षणिक एवं नाशवान् हैं—कुछ गहरा विचार करनेपर प्रतीत होता है कि वे स्वप्नवत् हैं और स्वप्नवत् होनेसे वे वास्तवमें हैं ही नहीं। इसलिये जो ये नाशवान् जड पदार्थ हैं, उनके लिये शोक करना किसी प्रकार भी नहीं बनता।

दूसरा जो चेतन-तत्त्व है, वह नित्य है, सत् है—उसका कभी विनाश नहीं होता। इसलिये उसके लिये भी शोक करना नहीं बनता। बालिके मारे जानेपर उसकी पत्नी ताराको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने यही उपदेश दिया था। वे क्या कहते हैं, इसे गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें सुनिये—

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥

(राम॰ किष्कि॰ १०।२-३)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु—इन पञ्चतत्त्वोंसे यह अत्यन्त अधम शरीर बना हुआ है। वह शरीर तो तुम्हारे सामने पड़ा है और जीव नित्य है, फिर तुम किसके लिये रोती हो?'

ऊपरके वचनोंसे भी भगवान्ने यही दिखलाया है कि शरीर विनाशी है और आत्मा नित्य—अविनाशी है, इसलिये दोनों ही दृष्टिसे शोक करना नहीं बनता। जो वस्तु विनाशी है, नाश होनेके पूर्व भी उसे नष्ट ही समझना चाहिये, क्योंकि वह वस्तु एक-न-एक दिन अवश्य नष्ट होगी, स्थिर नहीं रहनेकी। इस प्रकार इष्ट वस्तुके वियोगमें शोक नहीं करना चाहिये, यह बात ज्ञानकी दृष्टिसे बतायी गयी।

इसी प्रकार अनिष्टकी प्राप्तिमें भी ज्ञानकी दृष्टिसे शोक करना नहीं बनता। इस बातको स्वप्नके दृष्टान्तसे समझाया जाता है। स्वप्नमें किसीको कोई रोग हो जाय, कैद या बन्धन हो जाय अथवा जलप्लावन आदि कोई अन्य संकट उपस्थित हो जाय या बाघ, भालू, सर्पादिसे भय प्राप्त हो तो नेत्र खुलनेपर उस अनिष्टकी सत्ता नहीं रहती। जब नेत्र खुलनेपर—जाग्रत्में उस वस्तुकी सत्ता नहीं रहती, तब विचारसे ऐसा समझमें आता है कि स्वप्नके समय भी उसका अभाव ही था—अज्ञानके कारण निद्रादोषसे बिना हुए ही उसकी प्रतीति हुई थी, जिसके कारण उस स्वप्नका देखनेवाला दुखी हो गया था। उपर्युक्त स्वप्नके दृष्टान्तसे यह मानना चाहिये कि यदि जाग्रत्में हमें अपने मनके प्रतिकूल किसी अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है तो वह भी वास्तवमें असत् ही है, क्योंकि कुछ समयके बाद उस वस्तुका अभाव हो जाता है और जिस वस्तुका अभाव हो जाता है वह वास्तवमें है ही नहीं, केवल प्रतीत होती है। ज्ञान होनेके उत्तरकालमें तो इस दृश्य जगत्का अत्यन्त अभाव हो जाता है। ऐसा समझकर विवेकी पुरुषको अनिष्टकी प्राप्तिमें भी शोक नहीं करना चाहिये।

ऊपर ज्ञानकी दृष्टिसे इष्ट वस्तुके विनाश और अनिष्टके संयोगमें शोक करनेका अनौचित्य बतलाया। अब भक्तिकी दृष्टिसे शोक करनेकी अनावश्यकता बतलाते हैं। ऊँचे भक्तोंकी बात तो जाने दीजिये, साधारण कोटिके भक्तोंको भी यदि उन्हें भक्तिका सिद्धान्त मान्य है, तो उपर्युक्त दोनों हेतुओंमेंसे किसी भी हेतुको लेकर शोक नहीं करना चाहिये। क्योंकि भक्तिके सिद्धान्तमें जड-चेतन सभी पदार्थ, यहाँतक कि भक्त स्वयं भी—अर्थात् उसका शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि—सब कुछ भगवान्के ही होते हैं। ऐसी स्थितिमें यदि किसीका पुत्र मर गया, स्त्री जाती रही, पति मर गया, धन नष्ट हो गया, इज्जत-आबरू चली गयी, पैठ मारी गयी, तो उसे ऐसा समझना चाहिये कि वह वस्तु कहीं गयी नहीं, क्योंकि जब सब कुछ भगवान्का है और भगवान् सर्वव्यापी हैं—वे सब जगह और सब कालमें हैं, तब जो वस्तु हमसे छिन जाती है, वह भगवान्के राज्यको छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं चली जाती, भगवान्के ही भण्डारमें रहती है। जब सब कुछ भगवान्का है और भगवान् ही जड-चेतन सबके मालिक हैं, तब वे यदि अपनी किसी वस्तुको एक जगहसे हटाकर दूसरी जगह ले जाते हैं, तो हमें उसके लिये दुखी क्यों होना चाहिये ? इसी बातको दृष्टान्तके द्वारा समझानेकी चेष्टा की जाती है।

एक सेठकी कई जगह दूकानें हैं अथवा सरकारी डाकखाने जगह-जगह हैं। यदि सेठ अपनी एक दूकानका माल दूसरी जगह भेजता है अथवा सरकार यदि एक पोस्ट-आफिसका रुपया दूसरे पोस्ट-आफिसमें भेजता है, तो मुनीमको अथवा पोस्टमास्टरको इसके लिये रोनेकी अथवा मन मैला करनेकी क्या आवश्यकता है ? यदि वे ऐसा करते हैं तो यह उनकी सरासर मूर्खता एवं अन्याय है। मालिककी खुशी है, वह अपनी चीजोंको चाहे जहाँ रखे। सच्चा भक्त अथवा नौकर तो वह है जो मालिक जैसा कहे वैसा करे, मालिककी राजीमें ही राजी रहे। इसके विपरीत जो नौकर मालिककी चीजको मालिकके माँगनेपर देनेमें आनाकानी करता है अथवा दुखी होता है, वह सच्चा नौकर नहीं, नमकहराम है। मुनीम दूकानके मालको और पोस्टमास्टर डाकखानेके खजानेको अपना समझने लगे और बदनीयतीसे अपने ही पास रखना चाहे तो वह दण्डका पात्र होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवान्की चीजको अपनी मानकर भगवान्के माँगनेपर देनेमें आनाकानी करता है अथवा मन मैला करता है, वह बेईमान है, भक्त नहीं। भक्तको तो प्रभुके विधानमें सदा संतुष्ट रहना चाहिये। भगवान्की प्रत्येक क्रिया निर्भ्रान्त एवं हितसे भरी हुई होती है और जो कुछ होता है, भगवान्की आज्ञासे ही होता है—ऐसा समझकर उसे प्रत्येक घटनामें प्रसन्न रहना चाहिये।

भक्तोंकी बात तो जाने दीजिये, संसारमें जो नेकनीयत मनुष्य होते हैं, वे भी ऐसे स्थलोंपर शोक नहीं करते। मान लीजिये कोई मनुष्य अपने किसी विश्वस्त मित्र अथवा बन्धुके पास धरोहरके रूपमें कुछ रुपया अथवा गहने इत्यादि रख देता

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Harayana Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है और आवश्यकता होनेपर जब उन्हें वापिस ले जाता है तो जो ईमानदार होता है वह उस धरोहरको वापिस देते समय न आनाकानी करता है और न उस धरोहरके हाथसे चले जानेपर शोक ही करता है, बल्कि जिसकी जो वस्तु थी, उसे उसके हवाले करके वह सुखी होता है और ऐसा समझता है मानो उसके सिरसे एक बोझा उतर गया। शोक करनेका तो उसके लिये कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किसी मित्रकी धरोहरको अपने पास रखकर उसे लौटानेमें जो आनाकानी करता है, वह तो बेईमान है और विश्वासघाती कहलाता है। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन आदि भगवान्‌की दी हुई धरोहरको जो अपनी मानकर वापस देनेमें आनाकानी करता है अथवा भगवान्‌के द्वारा जबर्दस्ती वापस ले लिये जानेपर रोता है, वह भगवान्‌का विश्वासपात्र नहीं समझा जाता, भक्त तो उसे कैसे कहा जाय ? उसे तो भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को सौंप देनेमें प्रसन्नता होनी चाहिये और ऐसा करके चिन्तासे मुक्त हो जाना चाहिये।

यदि कोई स्त्री, पुत्र आदिको भगवान्‌की वस्तु न समझे तो भी उसे यह समझकर प्रसन्नता होनी चाहिये कि मेरी स्त्री, मेरा पति अथवा पुत्र भगवान्‌के पास उनकी रक्षामें पहुँच गया। जितनी सँभाल उसकी भगवान् कर सकते हैं, उतनी वह कर ही नहीं सकता था। ऐसी दशामें अपनी प्यारी वस्तुको अपनेसे कहीं अधिक समर्थ एवं प्रेमी रक्षककी देखरेखमें रखकर उसे शोकके बदले प्रसन्नता ही होनी चाहिये। (क्रमशः)

शुद्ध ज्ञानकी प्राप्तिके उपाय

(ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाईजी व्यास)

ज्ञानप्राप्तिके लिये बहुत पढ़ना और बहुत जानना—इस वासनाको धीरे-धीरे कम करना चाहिये। यह संसार असत्य—नाशवान् है। इसमें स्थित पदार्थोंके लिये धीरे-धीरे वासना कम करनी चाहिये।

ईश्वरके नाम-जपमें, इस जपके परिणाममें शास्त्रका ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्रकाशित हो रहा है। पुस्तकका ज्ञान शुद्ध, अशुद्ध अथवा मिश्रित होता है। अनुष्ठानके पश्चात् हृदय-ज्ञान—दैवी ज्ञान केवल शुद्ध होता है। इसलिये पुस्तकों और सामयिकोंमेंसे ज्ञान प्राप्त करनेमें व्यर्थ समय गँवानेके बदले ईश्वरके नामका जप करना ही श्रेष्ठ है।

मनुष्यको चाहिये कि पिता, पुत्र, पति होनेके अभिमानको गला दे। कौन पिता, कौन पुत्र ! यह सब स्वप्नका खेल है। इसीसे शान्ति रखनी चाहिये और आनन्दमें रहना चाहिये। जिससे क्लेश हो, उसका त्याग करना चाहिये।

साधक केवल भगवन्नाम-जप करता रहे तो इससे उसके सारे अभीष्ट सिद्ध होते जायँगे। चोरी, हिंसा, परस्त्री-सम्बन्ध आदिका परित्याग करे और अहिंसा-धर्मका पालन करे। अमुक वस्तु मुझे मिले, यह इच्छाका स्वरूप है और यही संसारका मूल है। किसी भी वस्तुकी इच्छा न हो, यह मोक्षका द्वार है।

मुखाकृति अन्तःकरणकी स्थितिको परिलक्षित कराती है। इस तरह जब जिस वस्तुमें अहंता, ममता हो जाती है, तब उसकी प्राप्ति, वृद्धि अथवा नाश होनेसे मन विशेष प्रभावित होता है और उसका प्रभाव मुखपर बदलती हुई कान्तिके द्वारा अभिव्यक्त होता है। कोमल दृष्टि, स्नेहपूर्ण वाणी, मुखकी सौम्यतापूर्ण कान्ति, प्रसन्नता, निरपेक्षता—ये सब अखण्ड सुखकी प्राप्तिके सूचक हैं।

जबतक पाप क्षीण न हो जायँ और चित्त-शुद्धि न हुई हो, तबतक साधकको चाहिये कि वह भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले जगद्गुरु परमेश्वरके साकार-स्वरूपका भजन-पूजन करे। इस भक्तिके प्रभावसे ही पापमुक्त होकर और चित्तशुद्धि होनेपर साधक निराकार परम तत्त्वमें स्वाभाविक रूपसे स्थित हो जायगा। विषयोंमें रुचि, क्रोध, भय, शोक, मोह, लोभ और अन्तःकरणको क्षुब्ध करनेवाली अशान्ति—ये सब अशुद्ध चित्तके लक्षण हैं। भक्ति करते हुए सत्य, अहिंसा, समानता, अस्तेय और अपरिग्रहका सेवन करना चाहिये और विषय-वृत्तिको कम करते रहना चाहिये।

मुमुक्षु अपना स्वधर्मरूपी कर्म करे और जप, ध्यान, दान आदिका सेवन करे। काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म और चित्तको चञ्चल तथा क्षुब्ध करनेवाले कर्मोंका त्याग करे।

आत्माके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंमें आसक्ति उत्पन्न होना ही कामनाजन्य संकल्प है। कर्ममात्रका त्याग तो देहधारी कर ही नहीं सकता। इससे मात्र कर्मफलमें आसक्तिका त्याग करना आवश्यक है। मनको जीतनेसे सुख प्राप्त होता है, परंतु भोगोंसे सच्चा सुख नहीं मिलता। अहं या कर्ता होनेके अभिमानका त्याग अखण्ड सुख देता है।

वीर्यका नाश होनेसे बुद्धिका नाश होता है। वीर्य ही जीवन है। वीर्य और बुद्धिका प्रगाढ़ सम्बन्ध है।

जो दृश्य रूपमें देखे जाते हैं, उन सबका नाश होता है और नाश होनेके पश्चात् फिरसे उनकी उत्पत्ति होती है। परंतु जिसका न तो नाश होता है और न तो जिसकी उत्पत्ति होती है, वही तत्त्व सत्य है और वही तत्त्व साधकका अपना स्वरूप है।

खूब शान्तिमें रहना चाहिये, हमेशा कार्यरत नहीं रहना चाहिये। चित्तको शान्ति देनी चाहिये। दिन-रात उथल-पुथल करते रहनेसे क्या मिलनेवाला है? चित्तकी अविकल शान्ति ही परम अभीष्ट है।

जो कर्म हम अपने गुरुजनों, संतों अथवा सज्जनोंके सामने प्रकट-रूपसे नहीं कर सकते, उन कर्मोंको एकान्तमें करनमें भी दोष है।

ईश्वर दयालु है। उस भगवान्‌के कौनसे गुण गायें? इसलिये सम्पूर्ण विकल्पोंको छोड़कर उस अन्तर्यामीके शरणमें जाना ही इष्ट है। उस दीन-दयालुके शरणमें जाना चाहिये। जिन बातोंमें शङ्का हो, उनमें कुछ बोध मिले, मार्गदर्शन मिले ऐसी ईश्वरसे प्रार्थना करनी चाहिये। ज्यों-ज्यों साधककी श्रद्धा उस अन्तर्यामी दीन-दयालुमें बढ़ेगी, त्यों-त्यों उसकी शङ्काओं और तर्कोंका जाल समाप्त हो जायगा। खूब जप करें। उसमें खूब श्रद्धा रखें। वह तो दासका भी दास है, आज्ञाकारी सेवक है, हमेशा आज्ञा-प्राप्तिकी बाट जोहता है।

मनु महाराजका एक श्लोक याद रखने योग्य है। इसका जीवनमें उपयोग करें—

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥
(मनु० ६।४६)

समस्त जीवनके कर्तव्योंको मनु महाराजने इस श्लोकमें प्रस्तुत कर दिया है। दृष्टिसे जाँचकर कदम रखना चाहिये, पानीको कपड़ेसे छानकर पीना चाहिये, सत्यसे शुद्ध कर बोलनी चाहिये और मनसे अथवा विचारोंसे जो कार्य प्रतीत हो, उसीका आचरण करना चाहिये। कोई भी करनेसे पहले बुद्धिसे विचारना चाहिये, उस क्रियाके गुण देखने चाहिये। यदि क्रिया गुणसहित और दोषरहित हो करना चाहिये, अन्यथा नहीं। गुण और दोषका आत्माके उद्धारकी दृष्टिसे करना चाहिये।

आत्मोद्धार-मार्गीके लिये श्रद्धा एक मुख्य साधन है। और सत्-शास्त्रमें बुद्धि स्थिर करें और श्रद्धा भगवन्नाम-जपसे कल्याण होता है। जिन्हें गुरु और श्रद्धा है, वे ही इन बातोंको अच्छी तरह समझ सकते हैं।

साधक हमेशा ऐसे अभ्यासमें रत रहे और ऐसी करे, जिससे भवसागरकी पीड़ा और भय दूर हो। परिवारके लोगोंका उनके ऋणानुबन्धके अनुसार जीवन होगा। कोई भी व्यक्ति किसीके भी प्रारब्धमें रंचमात्र नहीं कर सकता।

वसिष्ठ महाराजके उपदेशके पश्चात् भगवान् चन्द्रजीने चौदह वर्ष अभ्यास किया, शुकदेवजीने जनक आदिके उपदेशके पश्चात् दस वर्षतक अभ्यास बिना अभ्यासके ज्ञान स्थिर नहीं होता।

साधक किसी भी प्रकारकी वासना न करे और ऐसी इच्छा न करे कि दूसरे उसके विचारों और आदर्शोंका करें। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपना शरीर स्वयं वहन है, उसी प्रकार प्रत्येकको अपना प्रारब्ध भोगना ही पड़ता है।

हर्ष और आनन्द दोनों भिन्न-भिन्न भाव हैं। हर्ष प्राप्तिमें और सांनिध्यमें होता है। जहाँ कुछ भी जाना नहीं सकता, कुछ भी दीख नहीं पड़ता, कुछ भी सुनायी नहीं कोई विचार नहीं आता, वहाँ अपार शान्तिके आनन्दका अनुभव होता है, पर उसका वर्णन नहीं हो सकता।

भक्त सबसे पहले सगुण साकारकी उपासना करता उसका भजन करता है। यदि इस भक्तिमें फलकी हो तो ज्यों-ज्यों भक्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों भोगकी इच्छा जगत्‌की वासना घटती जाती है। भक्ति करते हुए न घटे तो वह उत्कृष्ट भक्ति नहीं है, उसमें दम्भका बाहुल्य ऐसा भक्त आदरणीय नहीं होता। भक्ति करते हुए

अवश्य छूट जाती है। व्यसन-त्याग इसका प्रथम सोपान है। अधर्म-कर्मका नाश इसका दूसरा सोपान है और धीरे-धीरे धर्मरूपी वासना भी समाप्त हो जाती है। सगुण भक्तिका तीसरा सोपान है आजीविकाकी चिन्तासे मुक्त होना। इसका भार ईश्वर स्वयं उठाते हैं, किसी अन्यको निमित्त बनाकर अथवा किसीके हृदयमें प्रेरणा बनकर। इस प्रकार भक्तिके परिपक्व होनेपर और इहलोककी चिन्ताएँ समाप्त होनेपर परलोककी भी चिन्ता समाप्त हो जाती है और अन्तमें सगुण मूर्ति हर घटमें, हर पत्तेमें प्रतिभासित होती है। नरसिंह मेहताने अन्तमें यही ललकार लगायी—*'ब्रह्म लटका करे, ब्रह्म पासे'*—ब्रह्म ब्रह्मके पास इतराता है, उसे रिझाता है।

साधक योग, भक्ति, ज्ञान अथवा कर्म किसी भी एक मार्गको पकड़े और निष्काम उपासना करे या साधना करे, लाभकी आकाङ्क्षा किये बिना सतत उपासना या साधनामें लगा रहे तो साधककी इच्छा हो या न हो तो भी उसे मोक्ष मिलेगा, ज्ञान भी मिलेगा। वास्तविक ज्ञान प्राप्त होते ही साधकको इस समस्त संसारके सभी पदार्थ एक-एक आत्माके विवर्तके रूपमें, विलासके रूपमें प्रतिभासित होते हैं और अन्तमें कोई पदार्थ दिखायी ही नहीं देता। दिन-के-दिन निकल जाते हैं, नींद नहीं आती, जाग्रत्-अवस्थामें चेतना नहीं रहती और इस प्रकार काल बीतता रहता है। यही ज्ञानकी श्रेष्ठ भूमिका है और इसके परिपक्व होनेपर जीवनमुक्तावस्थाकी प्राप्ति होती है और फिर प्रारब्धके अधीन शरीर-यात्रा चलती रहती है। नये प्रारब्धका उदय नहीं होता है और प्रारब्धके समाप्त होनेपर शरीर-पतनके साथ विशुद्ध कैवल्यकी प्राप्ति होती है।

(अनुवादक—प्रा० भूदेवप्रसाद हरिलालजी पंड्या)

रे मन ! चल तू प्रभुके तीर

(श्रीविष्णुगुप्तजी 'विष्णु')

जीवन पाप-पंकमें बीता, लिया न प्रभुका नाम।
'मैं' के मदमें रहा घूमता, किया न तेरा काम॥
अन्त समयमें आया द्वारे हर लो मनकी पीर।
रे मन ! चल तू प्रभुके तीर॥
भ्रमित रहा मायाके घरमें, यह मेरा-यह तेरा।
कोई न जगसे गया साथमें, सब कुछ रैन-बसेरा॥
तेरा तुझको अर्पण करने आया शरण अधीर।
रे मन ! चल तू प्रभुके तीर॥
इच्छा घोड़े भाग रहे हैं, गया न मनसे काम।
राग-द्वेषका मेला लगता, जगमें आठों याम॥
समय पंखपर चढ़कर जाता, मानव अधम शरीर।
रे मन ! चल तू प्रभुके तीर॥
छोड़ जगतके माया-बन्धन, भज लो प्रभुका नाम।
सत्कर्मोंसे जीवन रचकर, जाना उसके धाम॥
हाथ उठाकर दयाधर्मका दर्शन दो रघुवीर।
रे मन ! चल तू प्रभुके तीर॥

राधा-कृष्णकी अभिन्नता तथा राधा-प्रेमकी विशुद्धता

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृ०-सं० ५३९से आगे]

श्रीकृष्ण गोपियोंके नित्य ऋणी हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपना यह सिद्धान्त घोषित किया है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** (जो मुझको जैसे भजता है, उसे मैं वैसे ही भजता हूँ।) इसका यह तात्पर्य समझा जाता है कि भक्त जिस प्रकारसे तथा जिस परिमाणके फलको दृष्टिमें रखकर भजन करता है, भगवान् उसको उसी प्रकार तथा उसी परिमाणमें फल देकर उसका भजन करते हैं—सकाम, निष्काम (मुक्तिकाम), शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य आदिकी जिस प्रकारकी कामना-भावना भक्तकी होती है, भगवान् उसे वही वस्तु प्रदान करते हैं, परंतु यहाँ गोपियोंके सम्बन्धमें भगवान्‌के इस सिद्धान्त-वाक्यकी रक्षा नहीं हो सकी। इसके प्रधान कारण तीन हैं—१-गोपीके कोई भी कामना नहीं है, अतएव श्रीकृष्ण उसे क्या दें। २-गोपीके कामना है केवल श्रीकृष्ण-सुखकी, श्रीकृष्ण इस कामनाकी पूर्ति करने जाते हैं तो उनको स्वयं अधिक सुखी होना पड़ता है। अतः इस दानसे ऋण आदि भी बढ़ता है। ३-जहाँ गोपियोंने सर्वत्याग करके केवल श्रीकृष्णके प्रति ही अपनेको समर्पित कर दिया है, वहाँ श्रीकृष्णका अपना चित्त बहुत जगह बहुत-से प्रेमियोंके प्रति प्रेमयुक्त है। अतएव गोपीप्रेम अनन्य और अखण्ड है, कृष्णप्रेम विभक्त और खण्डित है। इसीसे गोपीके भजनका बदला उसी रूपमें श्रीकृष्ण उसे नहीं दे सकते और इसीसे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए वे कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।२२)

'गोपियो! तुमने मेरे लिये घरकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीरसे, अमर जीवनसे अनन्त कालतक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्यागका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं सदा तुम्हारा ऋ हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभावसे ही, प्रेमसे ही मुझे उऋण क सकती हो। परंतु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ।'

प्रेममार्गी भक्तको चाहिये कि वह अपनी समझसे त मन, वचनसे होनेवाली प्रत्येक चेष्टाको श्रीकृष्णसुखके लिये करे। जब-जब मनके प्रतिकूल स्थिति प्राप्त हो, तब-तब श्रीकृष्णकी सुखेच्छाजनित स्थिति समझकर परम सुख अनुभव करे। यों करते-करते जब प्रेमी भक्तका के श्रीकृष्णसुख-काम अनन्यतापर पहुँच जाता है, तब श्रीकृष्ण मनकी बात भी उसे मालूम होने लगती है। गोपियों 'श्रीकृष्णानुकूल जीवन' में यह प्रत्यक्ष है। वे उनके जीवन अपना सब कुछ बना लेते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः।
सत्यं वदामि ते पार्थ गोप्यः किं मे भवन्ति न॥
मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

'गोपियाँ मेरी सहायिका, गुरु, शिष्या, दासी, बान्धव, हैं। अर्जुन! मैं तुमसे सत्य ही कहता हूँ कि गोपियाँ मेरी क नहीं हैं अर्थात् सब कुछ हैं। अर्जुन! मेरी महिमाको, मे सेवाको, मेरी श्रद्धाको और मेरे मनके भीतरी भावोंको गोपि ही जानती हैं, दूसरा कोई नहीं जानता।'

श्रीकृष्णसुखजीवना, श्रीकृष्णप्राणा, श्रीकृष्णपरिनिष्ठि मति गोपियोंके सम्बन्धमें श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

निजेन्द्रिय-सुख हेतु कामेर तात्पर्य। कृष्णसुखेर तात्पर्य गोपीभाव व
निजेन्द्रिय-सुख-वाञ्छा नहे गोपीकार। कृष्ण-सुख-हेतु करे संगम-विहा
आत्मसुख-दुःख गोपी ना करे विचार। कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहा
कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग। कृष्ण-सुख-हेतु करे शुद्ध अनु

यह गोपीस्वरूपकी एक छोटी-सी झाँकीकी छायामात्र इन गोपियोंमें सर्वशिरोमणि हैं वृषभानुदुलारी श्रीराधा गोपियाँ श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा हैं। गोपियोंका परम आ और परम सेव्य श्रीराधामें ही निहित है। श्रीराधारूपी दर्पणमें श्रीकृष्णका पूर्ण दर्शन प्राप्त होता है और वह दर्शन

श्रीकृष्णको ही होता है। दर्पणका दृष्टान्त भी एकदेशीय ही है, क्योंकि दर्पण केवल प्रतिबिम्बको—छायाको ग्रहण करता है, परंतु प्रेमीका प्रेमभरा हृदय तो बिम्बको—मूल वस्तुको ही ग्रहण करता है। प्रेमीके हृदयमें परम प्रियतम श्रीकृष्णके रूपकी छाया नहीं पड़ती, वहाँ तो वे स्वयं सदा सुखपूर्वक निवास करते हैं। वाल्मीकिजीने स्थाननिर्देश करते हुए भगवान् श्रीरामको उनके नित्य-निवासके लिये निज घर बतलाया था—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥
(राम० अयो० दो० १३१)

प्रेमका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद् भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥

ध्वंसका कारण समुपस्थित होनेपर भी जो ध्वंस नहीं होता, जो कभी रुकता, घटता और मिटता नहीं, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, उसे 'प्रेम' कहते हैं। प्रेमकी ज्यों-ज्यों प्रगाढ़ता होती है, त्यों-त्यों उसमें नये-नये रूपोंका आविर्भाव होता रहता है। रसशास्त्रमें उन्हींको विभिन्न नामोंसे बतलाया गया है। प्रेम प्रगाढ़ होते-होते क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभावका स्वरूप प्राप्त करता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरा रतिमें भी उत्तरोत्तर उत्कृष्टता और पूर्णता है। मधुरा रति अत्युत्कृष्ट है। इसमें अनुरागकी बड़ी वृद्धि होती है। यही अनुराग प्रगाढ़ होकर 'भाव' तथा 'महाभाव' बन जाता है। जैसे मधुरा रतिमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—चारों रतियोंका समावेश रहता है, वैसे ही 'महाभाव'में भी स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग तथा भाव सम्मिलित रहते हैं।

'राग' की स्थितिमें श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी सम्भावना होनेपर असीम और भयंकर-से-भयंकर दुःखमें भी सुखकी प्रतीति होती है। तीव्र प्रेम-पिपासाके कारण इष्ट वस्तुमें होनेवाली परमाविष्टताका नाम ही 'राग' है। इसी रागकी परिपकता होनेपर 'अनुराग' होता है। अनुरागमें श्रीकृष्णका स्वरूप प्रतिक्षण नया-नया दिखायी देता है। जितना ही देखा-सुना जाता है, उतना ही अनुराग बढ़ता है और जितना अनुराग बढ़ता है, उतनी ही रूपकी नव-नवरूपता बढ़ती चली जाती है।

श्यामसुन्दरमें नित्य नव-सौन्दर्यका दर्शन करनेवाली एक गोपी दूसरी नयी गोपीसे कहती है—

सखी री ! यह अनुभवकी बात।
प्रतिपल दीखत नित नव सुंदर, नित नव मधुर लखात॥
छिन छिन बढ़त रूप गुन माधुरि, छिन छिन नूतन रंग।
छिन छिन नित नव आनँद धारा, छिन छिन नई उमंग॥
नित नव अलकनि की छबि निरखत अलि-कुल नित नव लाजै।
नित नव सुकुमारता मनोहर अंग अंग प्रति राजै॥
नित नव अंग सुगंध मधुर अति मनहिं मत्त करि डारत।
नित नव दृष्टि सुधामयि जन के ताप असेष निवारत॥
नित नव अरुनाई अधरनि की, नित नूतन मुसुक्यान।
नित नूतन रस-सुधा-प्रवाहिनि मधु मुरली की तान॥
नित नूतन तारुन्य, ललित लावन्य नित्य नव बिकसै।
नित नव आभा बिबिध बरन की पिय के तनु तें निकसै॥
कछुवै होत न बासी कबहूँ, नित नूतन रस बरसत।
देखत देखत जनम सिरान्यो, तऊ नैन नित तरसत॥

अनुरागकी पूर्ण परिणति या निस्सीमता—महाभावकी समीपवर्तिनी प्रेमकी स्थितिका नाम 'भाव' है। भावकी पराकाष्ठा ही 'महाभाव' है। महाभाव सूर्यके सदृश है। सूर्यके दो स्वभाव हैं—जिसके साथ सूर्यका सम्पर्क होता है, उसके अन्धकारका नाश कर देना और अपनी शुभ्र किरणमालासे उसे स्नान करा देना। इसी प्रकार 'महाभाव' भी भगवान् श्रीकृष्णकी असीम कृपासे जिसके हृदयमें उदित हो जाता है, उसके हृदयमें अनादिकालसे स्थित 'स्वसुखतात्पर्य'-रूप अन्धकारको वह सदाके लिये हर लेता है और निज सम्बन्धी जनमात्रके भीतर-बाहरको नित्य परमानुरागमय बना देता है।

महाभावकी 'रूढ़' और 'अधिरूढ़'—दो अवस्थाएँ हैं। महाभावकी जिस अवस्थामें सात्त्विक भाव उद्दीप्त हो उठते हैं, उसे 'रूढ़' महाभाव कहते हैं। गोपी-प्रेममें इस रूढ़-भावकी अभिव्यक्ति होती है। यह 'रूढ़-महाभाव' श्रीकृष्णकी पटरानियोंके लिये अति दुर्लभ है। यह तो केवल व्रजदेवियोंके द्वारा ही संवेद्य है, व्रजसुन्दरियोंमें ही सम्भव है।

मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावतिदुर्लभः।
व्रजदेव्येकसंवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते॥

जिसमें रूढ़भावोक्त समस्त अनुभावोंसे सात्त्विक भाव किसी विशिष्ट दशाको प्राप्त हो जाते हैं, उसे 'अधिरूढ़' महाभाव कहते हैं। श्रीराधा इस अधिरूढ़ महाभावकी घनीभूत प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। श्रीराधाके प्रेमका नाम ही 'अधिरूढ़ महाभाव' है। इस अवस्थामें श्रीकृष्णके मिलन और विरहजनित सुख और दुःखोंका साथ-ही-साथ अतुलनीय रूपमें उदय होता है।

इस अधिरूढ़ 'महाभाव'के दो प्रकार हैं—'मोदन' और 'मादन'। 'मोदन' महाभाव श्रीकृष्णमें भी होता है। श्रीराधारानीकी विरह-व्याकुल स्थितिको भी 'मोदन' या 'मोहन' कहते हैं। 'मोहन'-अवस्थाको दिव्योन्माद भी कहा जाता है। 'मादन' महाभाव श्रीराधाकी ही एकमात्र सम्पत्ति है। ह्लादिनी शक्तिकी परिपूर्ण परिणति ही 'मादन' है। इसमें श्रीराधारानी नित्य अनवच्छिन्न मिलनानन्दका अनुभव करती हैं।

श्रीकृष्णके नित्य नवीन माधुर्यके प्रादुर्भावका कारण श्रीराधा ही हैं। श्रीराधाका दुर्लभ प्रेम श्रीकृष्णकी अप्रतिम माधुर्यराशिको सर्वतोभावसे केवल ग्रहण ही नहीं करता, ग्रहण करके वह उस माधुर्यको और भी विशेषरूपसे उज्ज्वल तथा अनवरत उज्ज्वलतर करता रहता है। श्रीकृष्णमाधुर्यके नित्य नवीनत्वकी प्रकाशभूमि है श्रीराधाकी नित्यवर्धनशील उत्कण्ठा। श्रीराधाका प्रेम विभु होकर भी नित्य वर्धनशील है और श्रीकृष्णका माधुर्य नित्य वस्तु होकर भी नित्य नवायमान है। श्रीकृष्णका सांनिध्य ही श्रीराधा-प्रेमकी वर्धनशीलता है और श्रीराधाका सांनिध्य ही श्रीकृष्णमधुरिमाकी नित्य नवायमानता है। यह महाभावकी लीला अनन्तकालतक चलती ही रहती है। श्रीकृष्णनिष्ठ मधुरिमा और श्रीराधानिष्ठ उत्कण्ठा—दोनों ही असीम और अनन्त हैं। श्रीराधारानी श्रीकृष्ण-माधुरीका आस्वादन नित्य-निरन्तर सम्पूर्णरूपसे करती रहती हैं, तो भी उस माधुर्यका कहीं अन्त तो आता ही नहीं, वह उत्तरोत्तर अपने मधुर स्वरूपमें तथा परिमाणमें बढ़ता ही रहता है और श्रीराधाकी माधुर्यास्वादनकी पिपासा भी उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

यह 'राधा-कृष्ण'का नित्य-विहार अनादिकालसे अनन्तकालतक नित्य-निरन्तर चलता ही रहता है। श्रीराधाभाव दिव्यातिदिव्य प्रेम-माधुर्य-सुधा-रसका एक अगाध अनन्त असीम महासमुद्र है। उसमें नित्य नयी-नयी अनन्त दिव्य अमृतमयी मधुरिमा तथा महिमामयी अनन्त वैचित्र्यम महातरङ्गें उठती रहती हैं। यह राधाभावका दिग्दर्शन राधाभाव-महासागरकी किसी एक तरङ्गका सीकर मात्र है। प्रातःस्मरणीय आचार्यों तथा प्रेमी महात्माओंने उनके विभिन्न रूपोंके दर्शन और वर्णन किये हैं, वे सभी सत्य हैं। श्रीराधाके असीम तथा अनन्त महिमामय स्वरूप तथा तत्त्व उनके आनन्द और प्रेमकी, उनके श्रीकृष्णमिलन और विरह व्याख्या मुझ-सरीखा तुच्छ जीव कैसे कर सकता है। उन एक-एक तरङ्गमें अनन्तकालतक निवास तथा विचरण कि जा सकता है।

यों श्रीराधा श्रीकृष्णकी ही अभिन्नस्वरूपा हैं। भगवान् आनन्दस्वरूप ही श्रीराधाके रूपमें अभिव्यक्त है। श्रीरा श्रीकृष्ण नित्य एक और अभिन्न हैं। श्रीराधा श्रीकृष्णकी प्रे हैं, श्रीराधा श्रीकृष्णकी आराधिका हैं, उनकी भक्ता हैं, श्रीरा श्रीकृष्णकी आराध्या-उपास्या हैं। श्रीराधा विश्वजननी हैं विश्वमयी हैं, विश्वस्वरूपा हैं, विश्वातीता हैं। श्रीराधा योगमा हैं, दैवी माया हैं, निजमाया हैं। श्रीराधा श्रीकृष्णकी शक्ति हैं यह शक्ति ही शक्तिमान् श्रीकृष्णकी आत्मा है। श्रीरा कवियोंकी काव्य-सामग्री हैं। श्रीराधा सबकी आराध्या हैं श्रीराधा अनिर्वचनीय हैं, श्रीराधा अचिन्त्य हैं।

मेरे एक राधा नाम अधार ॥
कोउ देखत निज रूप ब्रह्म पर निराकार अबिकार।
कोउ करि निज तादात्म्य आत्म महँ, जो सम सर्बाधार॥
कोउ द्रष्टा देखत प्रपंच जिमि मिथ्या स्वप्न-बिकार।
कोउ निरखत नित दिव्य ज्योति हिय परम तत्त्व साकार॥
कोउ कुंडलिनीं कौं जाग्रत करि षद् चक्रनि करिं पार।
पहुँचत सिखर सहस दल ऊपर, जोग सिद्धि को सार॥
कोउ अनहद धुनि सुनत दिवस निसि अजपा जाप सँभार।
कोउ निष्काम कर्म रत जोगी, कोउ नित करत बिचार॥
कोउ कमलापति, कोउ गिरिजापति नाम रूप उर धार।
भक्त-कल्पतरु राम-कृष्ण कोउ सेवत अति सत्कार॥
हौं जडमति अति मूढ़ हठीलो नटखट निपट गँवार।
राधे राधे रटौं निरंतर मानि सार को सार॥

श्रीवृषभानुदुलारी कीर्तिदाकुमारीकी जय!

(समाप्त)

वसुधैव कुटुम्बकम्

(महन्त श्रीदीनबन्धुदासजी)

देवभूमि भारतमें एक शाश्वत, मृत्युंजयी, कालनिरपेक्ष, सार्वभौम संस्कृतिका अखण्ड प्रवाह विद्यमान है। इसका स्वल्प भी आचरण मनुष्यके लिये जीवन और जगत्के रहस्योंको खोल देता है, जिससे मनुष्य प्रबुद्ध बन जाता है। ऋषि-महर्षियों, साधु-संतोंका यह महान् उपकार है कि उन्होंने लोकशिक्षण-हेतु, 'वसुधैव कुटुम्बकम्'—सम्पूर्ण विश्वको ही अपना परिवार मानकर अत्यन्त उदात्त भावना एवं उत्तम आदर्शका प्रचार-प्रसार किया। जीवन और जगत्के रहस्योंको सुलझानेके लिये भारतीय उपलब्धियाँ आज भी संसारके लिये चिन्तन एवं अन्वेषणका विषय बनी हुई हैं। सुखी, शान्त, समृद्ध एवं संतुलित जीवनके लिये आवश्यक निर्दिष्ट सिद्धान्त प्रतिपादित कर मर्यादाओंकी उत्तम व्यवस्था इस भारतदेशमें सनातन कालसे चली आ रही है और इसका सम्पूर्ण विश्वमें प्रचार-प्रसार हुआ।

जीवनको साङ्गोपाङ्ग समग्र और संतुलित परिभाषा देनेमें भारतीय दृष्टिबोध संसारमें अपना सर्वोपरि स्थान रखता है। यही इस मिट्टीकी विशेषता है और महानता है। विश्वकी अन्यान्य जीवन-प्रणालियोंमें अनेक उतार-चढ़ाव आये और उनमें आमूल-चूल परिवर्तन हो गया। आधुनिक सुख-सुविधाओंसे सम्पन्न एवं समृद्ध कई देश आज भी नयी-नयी प्रणालियोंका अवलम्बन लेते हैं, छोड़ते हैं, किंतु कोई कारगर परिणाम सामने नहीं आये हैं। अशान्ति, अतृप्ति एवं असंतुलनमें भटकता हुआ जीवन संसार-व्यापी उथल-पुथलके रूपमें व्यक्त होता दिखायी दे रहा है, नित्य नये आयाम गढ़े जाते हैं, फिर शीघ्र ही दूसरी प्रणालियाँ उनपर प्रभावी हो जाती हैं। वर्तमानमें चल रहे सांस्कृतिक उत्थान-पतन, राजनीतिप्रेरित युद्धों-महायुद्धोंने समस्त विश्वको हिलाकर रख दिया है। इससे हम भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे हैं। ऐसे समयमें उत्कृष्ट जीवन-शिल्पी ऋषि-महर्षियोंद्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक दृष्टियाँ ही 'आत्म-दीप' बनकर जीवनको प्रकाशमय कर सकती हैं। जीवनकी समस्वरताके लिये इन प्रणालियोंका अवबोधन प्राप्त कर ही हम अपनी दीनता, मलिनताको धोकर प्रखर, तेजस्वी बनकर जीवनके उच्चतम मानदण्डोंकी उपलब्धि करते हुए, अपने समाज एवं राष्ट्र ही नहीं, अपितु मानवताके लिये भी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

यद्यपि संसारके बाह्य भौतिक स्वरूपमें, संचार-साधनों, वैज्ञानिक आविष्कारों आदिकी उन्नतिसे बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है, किंतु इनसे आन्तरिक आध्यात्मिक पक्षमें कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ है। क्षुधा एवं अनुरागकी पुरातन शक्तियाँ और हृदयगत निर्दोष उल्लास इत्यादि मानव-प्रकृतिके सनातन गुण हैं। आज मानव-जातिके वास्तविक हितों, धर्मके प्रति गम्भीर आवेगों और दार्शनिक विचारों आदिमें वैसी प्रवृत्ति नहीं दीखती जैसी कि भौतिक पदार्थोंमें हो रही है।

आजके ब्रह्माण्डीय युगमें जब कि एकके बाद एक नये क्षितिज-पटल मानवके समक्ष खुलते जा रहे हैं, ऐसी चकाचौंधमें वह अध्यात्म-पथका आश्रय न लेनेके कारण असंतुलित एवं दिशाहीन-सा होता जा रहा है एवं एक संस्कृति दूसरी संस्कृतिको निगलनेके लिये खड़ी हो रही है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको निगलनेकी तैयारी कर रहा है। विश्वमें 'मात्स्य-न्याय' चल पड़ा है। ऐसेमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सूत्र हमें सही दिशा दिखाता है, आशाकी भावनाओंका संचार करता है, विश्वके लिये शान्ति-मन्त्रका कार्य करता है एवं नयी ऊर्जा प्रदान करता है।

मानवीय जीवन और विश्व-जीवनमें निरन्तर पारस्परिक विनिमय होता रहता है। जो व्यक्ति केवल अपने लिये कार्य करता है, वह व्यर्थ ही जीवन बिताता है। संसारमें प्रगति मानवीय और दिव्यके बीच परस्पर सहयोगके कारण होती है। भारतीय शास्त्रोंके अनुसार सभी पुण्य एवं पवित्र कर्म यज्ञके नामसे कहे गये हैं और यज्ञ ही भगवान् विष्णु हैं, जो सम्पूर्ण विश्वमें परिव्याप्त हैं। इसलिये सम्पूर्ण जगत्में विष्णुके रूपमें ही सचराचर प्राणियोंको देखते हुए अन्तर्हृदयसे उनकी सेवा, शुश्रूषा और हितकी चिन्ता करते हुए सबकी कल्याण-कामना ही सर्वोत्तम यज्ञ है और वही सच्ची आराधना भी है।

गीतामें भी वसुधामात्रमें एक कुटुम्बकी दृष्टिको महान् अथवा सर्वोत्तम योग बताया गया है। वहाँ कहा गया है कि सम्पूर्ण जगत्के प्राणियोंमें या सम्पूर्ण जगत्रूप प्राणी-परिवारमें

अपनी ही आत्माको देखे और अपनी ही आत्मामें सम्पूर्ण विश्व अथवा प्राणियोंको अनुस्यूत देखे। अपनी ही आत्माके सुख-दुःखकी स्थितिको सम्पूर्ण प्राणियोंमें देखते हुए समान व्यवहार करनेवाला व्यक्ति ही सर्वोत्कृष्ट योगी है और यही सर्वोत्कृष्ट कार्य भी है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(गीता ६। २९, ३२)

इसी प्रकार—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(६। ३०)

—जो साधक मुझे सब जगह देखता है और सब वस्तुओंको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी तिरोहित नहीं होता और न वह कभी मेरी आँखोंसे दूर होता है। जब सबमें भगवद्दर्शन ही विश्वधर्म है, फिर विभेद कैसा? श्रीतुलसीदासजीने रामायणमें भी इन्हीं भावनाओंको सुललित्यपूर्ण ढंगसे प्रस्तुत किया है—

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥
सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

—हमारा यह आदर्श सदैवसे रहा है। सदियोंसे इस भावको रूप देनेके लिये हम यह सत्प्रयास कर रहे हैं।

भारतीय संस्कृतिमें पितरों एवं पूर्वजोंको तर्पण करते समय 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अत्यन्त उदार भावनासे ओत-प्रोत निम्न श्लोक अशेष विश्वके समस्त प्राणियोंकी तृप्ति-हेतु बोले जाते हैं। इसमें ऋषियोंका तीव्र, सूक्ष्म एवं लक्ष्यके प्रति गहन दृष्टिकोणका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी पड़ता है। विष्णुपुराण (३। ११। ३२-३६) में कहा गया है—

देवासुरास्तथा यक्षा नागगन्धर्वराक्षसाः।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धाः कूष्माण्डाः पशवः खगाः॥
जलेचरा भूनिलया वाय्वाहाराश्च जन्तवः।
तृप्तिमेतेन यान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया॥
ये बान्धवाबान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते तृप्तिमखिला यान्तु ये चास्मत्तोयकाङ्क्षिणः॥
यत्र क्वचनसंस्थानां क्षुत्तृष्णोपहतात्मनाम्।
इदमाप्यायनायास्तु मया दत्तं तिलोदकम्॥

'देव, असुर, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पि गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर वायु-भक्षक आदि सभी प्रकारके जीव मेरे दिये हुए इस तृप्त हों। जो प्राणी सम्पूर्ण नरकोंमें नाना प्रकारकी यातनाएँ रहे हैं, उनकी तृप्तिके लिये मैं यह जलदान करता हूँ। जो बन्धु अथवा अबन्धु हैं तथा जो अन्य जन्मोंमें मेरे बन्धु थे और भी जो-जो मुझसे जलकी इच्छा रखनेवाले हैं, वे सब दिये हुए जलसे परितृप्त हों। क्षुधा और तृष्णासे व्याकुल कहीं भी क्यों न हों मेरा दिया हुआ यह तिलोदक उनको प्रदान करे।'

उपर्युक्त श्लोकोंमें जड-चेतन एवं इतर प्राणियों कौटुम्बिक भावनाओंसे ओतप्रोत हो तर्पणके द्वारा आप करनेका प्रयत्न किया जाता है। इससे जगदात्मा भ विष्णु एवं अपनी आत्माकी भी निर्व्याज-रूपसे परिपूर्ण हो जाती है।

आजके तेजीसे बढ़ते हुए विज्ञानके युगमें हमें 'व कुटुम्बकम्' की भावनाओंको अपनाना नितान्त आवश्य गया है। युगधर्मकी माँग है कि इस भावनाका जित व्यापक प्रसारण हो उतना ही त्राण है।

प्राचीन ऋषिलोग सनातन कालसे सम्पूर्ण वि प्राणियोंके सुखकी कामना मुक्त हृदयसे करते आये हैं। यह निरन्तरका उद्घोष ही था कि विश्वके समस्त प्राणी सुखी और सर्वथा नीरोग रहें और सब लोग निरन्तर उ कल्याणकी परम्पराओंको देखते रहें तथा विश्वका कोई प्राणी किसी भी प्रकारके क्लेशका भाजन न बने—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

◆

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

श्रोता—करण-निरपेक्ष साधनकी दृष्टिसे जो कर्तव्य आप सिखाते हैं, उसका स्वरूप क्या है ?

स्वामीजी—आप करण-निरपेक्ष साधनपर जोर मत लगाओ, प्रत्युत इस बातपर जोर लगाओ कि भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जड़ चीज (करण आदि) की सहायताकी आवश्यकता नहीं है। जैसे आपने सुना है कि करण एक है, ऐसे आप जानते हैं कि कारक कितने होते हैं ? कारक छः होते हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। कारक शब्दका अर्थ क्या है ? जिससे क्रियाकी सिद्धि होती है, उसको कारक कहते हैं। कोई भी क्रिया कारकके बिना नहीं होती। अतः व्याकरणमें जहाँ इसका विवेचन हुआ है, वहाँ पहले ऐसा अर्थ किया है कि जो क्रियाका सम्बन्धी हो, उसको कारक कहते हैं। उसपर विचार करते-करते कहा कि षष्ठी कारक नहीं है; क्योंकि उसका क्रियाके साथ सम्बन्ध नहीं है। परंतु **'राज्ञः पुरुषो गच्छति'** राजाका पुरुष जाता है—इसमें राजाका सम्बन्ध पुरुषके साथ और पुरुषका सम्बन्ध गमनरूपी क्रियाके साथ होनेसे राजाका सम्बन्ध परम्परासे क्रियाके साथ हो गया; अतः राजा कारक होना चाहिये ? ऐसी शङ्का होनेपर यह निर्णय किया गया कि जो क्रियाको पैदा करनेवाला हो, उसका नाम कारक है—**'क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्।'**

प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है—यह सबका अनुभव है। जैसे मैंने व्याख्यान आरम्भ किया तो उसकी समाप्ति भी होगी। आप कोई भी काम करो, उसका आरम्भ और अन्त जरूर होता है। जिसका आरम्भ और अन्त होता है, वह अनन्तका प्रापक नहीं होता। जो खुद ही उत्पन्न और नष्ट होता है, वह अनन्तकी प्राप्ति करानेवाला कैसे होगा ? वस्तुमात्र, व्यक्तिमात्र, परिस्थितिमात्र, क्रियामात्र उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली ही क्रिया होती है तथा उत्पन्न और नष्ट होनेवाले ही पदार्थ होते हैं। ऐसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाले जड़के द्वारा अनुत्पन्न चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत जड़के त्यागसे चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति होती है। अतः करण-निरपेक्षका अर्थ केवल करणसे रहित ही नहीं है, प्रत्युत कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण—छहों कारकोंसे रहित है। कारकमात्र क्रियाजनक होते हैं, और क्रिया उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाली होती है। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली क्रियासे अनुत्पन्न तत्त्वकी प्राप्ति कैसे होगी ? अतः परमात्मतत्त्व कर्ता-निरपेक्ष है, कर्म-निरपेक्ष है, करण-निरपेक्ष है, सम्प्रदान-निरपेक्ष है, अपादान-निरपेक्ष है और अधिकरण-निरपेक्ष है। तात्पर्य है कि कोई भी कारक परमात्माको पकड़ नहीं सकता; क्योंकि सभी कारक उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। उत्पन्न और नष्ट होनेवालेके त्यागसे अनुत्पन्न तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी तो किसकी प्राप्ति होगी ? जहाँ उत्पन्न और नष्ट होनेवालेसे उपराम हुए, अनुत्पन्न तत्त्व प्राप्त हो जायगा।

वास्तवमें अनुत्पन्न तत्त्व अप्राप्त नहीं है। उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंका, वस्तुओंका सहारा ही उसमें बाधक है। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली क्रिया, वस्तु, परिस्थिति, अवस्था, घटना आदिका जो महत्त्व अन्तःकरणमें पड़ा हुआ है, यही उस तत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक है। अतः करण-निरपेक्ष कहनेका तात्पर्य करणके साथ विरोध नहीं है, प्रत्युत उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुके द्वारा अनुत्पन्न तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती—इसमें तात्पर्य है।

श्रोता—नाशवान्‌का महत्त्व कैसे छूटे ?

स्वामीजी—दूसरोंका हित करनेसे। अपनी शक्तिके अनुसार दूसरोंका हित करो। अन्नक्षेत्र खोलो, प्याऊ लगाओ, अस्पताल खोलो। इस तरहसे लोगोंके हितकी भावना होनेसे महत्त्व छूटेगा। वस्तु हमारेको मिल जाय—यह जड़को खींचनेका उपाय है, और जबतक जड़को खींचते रहोगे, तबतक चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी। इन वस्तुओंके द्वारा दूसरोंका हित हो—यह जब होगा, तब मात्र क्रिया और पदार्थका प्रवाह लोगोंके हितकी तरफ हो जायगा और चिन्मय तत्त्व शेष रह जायगा, उसकी प्राप्ति हो जायगी। जड़ तो स्वतः नष्ट होता है। जड़का खिंचाव तो रह जाता है, पर जड़ नहीं रहता। बाल्यावस्था रह गयी क्या ? नहीं रही तो युवावस्था रहेगी क्या ? धनवत्ता रहेगी क्या ? यह बनी रहे और मेरी तरफ आ जाय—ऐसी मान्यता ही बाधा है। अब इसकी

जगह यह भाव हो जाय कि दूसरोंका हित हो, दूसरोंका भला हो तो जड़ताका त्याग हो जायगा और त्याग होते ही तत्काल परमशान्तिकी प्राप्ति हो जायगी—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२।१२)। अतः करण-निरपेक्षका तात्पर्य त्यागमें है। जड़की सहायता जड़की प्राप्तिमें तो उपयोगी हो सकती है, पर चिन्मय तत्त्वकी प्राप्तिमें जड़की सहायता काम नहीं करती।

एक बात और बतायें। कोई आदमी सदावर्त खोलता है तो क्या उसका लक्ष्य यह होता है कि मैं दुनियामात्रकी भूख मिटा दूँगा? क्या '**सर्वभूतहिते रताः**' का अर्थ यह होता है कि मैं सबका हित कर ही दूँगा? यह नहीं है। अपनी शक्ति दूसरोंकी सेवामें लगानेमें ही तात्पर्य है। सबकी भूख दूर करनेका, सबका दुःख दूर करनेका उसका ठेका नहीं है। जितना अन्न मैं खाता हूँ, उसके सिवाय अपने पास जो अन्न है, वह दूसरोंके काम आ जाय।

'**सर्वभूतहिते रताः**' का तात्पर्य है—अपने स्वार्थका त्याग करना। कारण कि स्वार्थका जो लोभ है, यही तो बाधक है। ऐसे ही वस्तुओंका, पदार्थोंका, व्यक्तियोंका, अवस्थाओंका मनमें जो महत्त्व अङ्कित है, यही परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक है। जब दुनियामात्र मिलकर एक आदमीकी भी पूर्ति नहीं कर सकती, उसको सुखी नहीं कर सकती, तो फिर एक आदमी सम्पूर्ण दुनियाकी पूर्ति कैसे कर देगा? अपनी पूरी शक्ति लगा देनेकी ही जिम्मेवारी है, दूसरोंका दुःख दूर कर देनेकी जिम्मेवारी नहीं है।

श्रोता—हमारा तो सारा समय जड़ताकी प्राप्तिमें ही लग रहा है!

स्वामीजी—तो फिर परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी अन्नदाता! और चाहे सो हो जाय! गीताने साफ कहा है कि जड़ चीजोंसे सुख भोगना और उनका संग्रह करना—इन दोमें जिसकी आसक्ति होती है, उसमें परमात्माको प्राप्त करनेका निश्चय भी नहीं हो सकता, प्राप्त करना तो दूर रहा! (गीता २।४४)। संसारमें मेरा नाम हो जाय, मेरेको आराम मिले, मैं धनी बन जाऊँ—यह जड़ चीजोंकी जबतक मनमें लालसा है, तबतक चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी। यह तात्पर्य है करण-निरपेक्षका! आप ध्यान दें। करण-निरपेक्षका अर्थ है कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति जड़की अपेक्षा नहीं रखती, प्रत्युत जड़के त्यागकी अपेक्षा रखती है। क्रिया और पदार्थ, व्यक्ति और वस्तु, अवस्था और परिस्थिति—इनके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। इनकी उपेक्षा हो जाय, त्याग हो जाय, भीतरसे इनका महत्त्व हट जाय तो तत्काल प्राप्ति हो जायगी, क्योंकि परमात्मा अप्राप्त नहीं है। संसार अप्राप्त है, पर उसको प्राप्त मानते हैं, प्राप्त करना चाहते हैं, यही बाधा है। यह बाधा सुगमतासे दूर होती है—'**सर्वभूतहिते रताः**' होनेसे, प्राणिमात्रके हितमें हमारी प्रीति हो जाय। प्रीति होनेसे क्या होगा? स्वार्थकी जो भावना है, व्यक्तिगत सुखभोगकी जो इच्छा है, वह हटेगी, और वह जितनी हटेगी, उतने ही आप चिन्मय तत्त्वके नजदीक पहुँच जाओगे। उस तत्त्वसे विमुखता हुई है, अलगाव नहीं हुआ है।

दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अपने सुखभोगकी इच्छा मिटती है। माता बालकका पालन करती है तो वह बालकको भूखा नहीं रहने देती, खुद भूखी रह जाती है। ऐसे ही केवल दुनियामात्रका हित करनेकी जोरदार इच्छा होगी तो अपने स्वार्थबुद्धिका त्याग सुगमतासे हो जायगा।

श्रोता—दो बात मालूम पड़ती है कि जड़ताका त्याग करना और अन्तःकरणको साधनरूपमें प्रयुक्त नहीं करना।

स्वामीजी—साधनमें प्रयुक्त न करनेका तात्पर्य है कि यह हमारा नहीं है और हमारे लिये नहीं है, औरोंका है और औरोंके लिये है। न अन्तःकरण हमारे लिये है, न बहिःकरण हमारे लिये है। न इन्द्रियाँ हमारे लिये हैं, न शरीर हमारे लिये है, न सम्पत्ति हमारे लिये है। हमारी कहलानेवाली जितनी चीजें हैं, वे हमारी नहीं हैं और हमारे लिये नहीं हैं—ये दो बातें दृढ़ करनी हैं। स्वार्थबुद्धि, संग्रहबुद्धि, सुखबुद्धि, भोगबुद्धि नहीं होनी चाहिये, फिर सब ठीक हो जायगा। यही करण-निरपेक्षका तात्पर्य है।

करण किसका नाम है? जिस साधनके अनन्तर तत्काल क्रियाकी सिद्धि हो जाय, उसका नाम करण है। जैसे, '**रामेण बाणेन हतो वाली**'—'रामके बाणसे बालि मरा' तो बालिके मरनेमें बाण हेतु हुआ; अतः बाण करण हुआ। यद्यपि बाणके चलनेमें धनुष, डोरी, हाथ आदि सब हेतु हैं, तथापि बालि बाणसे मरा है, धनुष, डोरी आदिसे नहीं। अतः जिससे बालि मर गया, उस बाणको करण कहेंगे। करणसे क्रियाकी सिद्धि

होती है, उससे परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो जायगी ?

श्रोता—महाराजजी ! क्रियाकी सिद्धिमें तो कर्ता भी रहता है ?

स्वामीजी—हाँ, कर्ता भी रहता है, कर्म भी रहता है, करण भी रहता है, सम्प्रदान भी रहता है, अपादान भी रहता है और अधिकरण भी रहता है।

श्रोता—फिर यह केवल करण-निरपेक्ष कैसे हुआ ?

स्वामीजी—करण-निरपेक्ष इसलिये कहा है कि क्रियाकी सिद्धि करणके व्यापारके बाद ही होती है। करणका लक्षण बताया है—'**साधकतमं करणम्**' (पाणि० अ० १।४।४२)। साधक नहीं, साधकतर नहीं, साधकतम बताया है। क्रियाकी सिद्धिमें जो अत्यन्त उपकारक होता है, उसका नाम 'करण' होता है। अतः अत्यन्त उपकारक जो कारक है, वह करण भी जिसकी प्राप्तिमें हेतु नहीं है, फिर दूसरे कारक हेतु कैसे हो जायँगे ? यह तात्पर्य है करण-निरपेक्ष कहनेका।

श्रोता—इसे यदि कारक-निरपेक्ष कहें तो क्या हर्ज है ?

स्वामीजी—बिलकुल कारक-निरपेक्ष कह सकते हैं। परंतु क्रियाकी निष्पत्ति करणके बाद होती है—'**क्रियाया निष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरं करणत्वं भवेत् तेन।**' क्रियाके होनेमें सब कारक कारण हैं—'**क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्**', पर करणके व्यापारमें क्रियाकी सिद्धि हो ही जाती है। अतः करण-निरपेक्ष कहनेसे कारक-निरपेक्ष हो गया।

श्रोता—इसका मतलब यह हुआ कि करणके द्वारा हम जो क्रिया करें, वह '**सर्वभूतहिते रताः**' होनी चाहिये ?

स्वामीजी—ध्यान दें, परमात्माकी प्राप्तिमें प्राणिमात्रका हित कारण नहीं है, प्रत्युत प्राणिमात्रके हितका भाव कारण है। अतः अपना भाव, उद्देश्य, लक्ष्य बदल दिया जाय तो सब ठीक हो जायगा। जैसा भाव, उद्देश्य, लक्ष्य होगा, उसके अनुसार ही व्यवहार होगा। अतः लक्ष्य केवल दूसरोंके हितका हो, अपने स्वार्थ और सुखका न हो।

श्रोता—रामने बालिको मारनेका पहले निश्चय किया, फिर बाण काममें लिया। यदि बाण काममें नहीं लेते तो केवल निश्चयसे बालि मर जाता क्या ?

स्वामीजी—क्रियाकी सिद्धिमें ही करणकी अपेक्षा है। परमात्मा क्रियाका विषय है ही नहीं। करण विशेष होनेसे क्रिया विशेष होगी, कर्ता कैसे विशेष हो जायगा ? कलम अच्छी होनेसे लिखना अच्छा होगा, लेखक कैसे अच्छा हो जायगा ? कल्याण करणका करना है कि कर्ताका करना है ? मुक्ति करणकी होगी कि कर्ताकी होगी ? करणके द्वारा कर्ताकी मुक्ति कैसे हो जायगी ? करणके द्वारा तो क्रिया होगी।

क्रियाकी सिद्धिमें करण प्रधान है। अतः करण-निरपेक्ष कहनेसे स्वतः ही कारक-निरपेक्ष हो गया। कारकसे क्रियाकी सिद्धि हो जायगी, दुनियाका काम हो जायगा, पर परमात्मा कैसे प्राप्त होगा ?

श्रोता—आप कहते हैं कि परमार्थका कार्य करना चाहिये, अन्नक्षेत्र खोलना चाहिये, प्याऊ लगाना चाहिये, तो उनका फल भोगनेके लिये पुनः जन्म लेना पड़ेगा और इस तरह जन्म-मरणसे कभी छुटकारा नहीं होगा।

स्वामीजी—पारमार्थिक कार्यसे कल्याण नहीं होता। कल्याण निष्कामभावसे होता है। बन्धन कामनासे ही होता है। कामना नहीं होगी तो कल्याण ही होगा, और क्या होगा ? जन्म-मरणका कारण तो कामना ही है। अतः कामनाका त्याग करना है।

* * *

दाराः पुत्रा धनं वा परिजनसहितो बन्धुवर्गः प्रियो वा
माता भ्राता पिता वा श्वशुरकुलजना भृत्य ऐश्वर्यवित्ते।
विद्या रूपं विमलभवनं यौवनं यौवतं वा
सर्वं व्यर्थं मरणसमये धर्म एकः सहायः॥

'स्त्री, पुत्र, धन, परिजन, बन्धुवर्ग, प्रिय सुहृद्, माता, पिता, भ्राता, श्वशुर-कुलके लोग, भृत्यवर्ग, ऐश्वर्य, धन, विद्या, रूप, उज्ज्वल भवन, यौवन और युवतियोंका समुदाय—ये सभी मृत्युकालमें व्यर्थ सिद्ध होते हैं, उस समय एकमात्र धर्म ही सहायक होता है।'

* * *

प्रदक्षिणा (परिक्रमा) तथा स्वस्तिकका रहस्य

प्रदक्षिणा—

शास्त्रके कथनानुसार पूज्य, वन्दनीय और आदरणीय व्यक्ति तथा विभिन्न शक्तियाँ (भगवान्, देवता आदि) प्रदक्षिणाके योग्य हैं। केवल श्रेष्ठ पवित्र सत्त्वगुण-प्रधान तत्त्व ही पूजनीय होनेके कारण उनकी सेवासे उपासक स्वयं पवित्र एवं सात्त्विक बनता है। जिस प्रकार भगवान्‌के चरणोंका स्पर्श प्राप्त करके जल-तीर्थ 'चरणामृत' बन जाता है, वैसे ही भगवान्‌को निवेदित किया गया नैवेद्य 'प्रसाद' बन जाता है और उस चरणामृत तथा प्रसादके ग्रहण करनेसे उपासक पवित्र हो जाता है। उसी प्रकार साधकमें, सत्त्वगुणी प्राणी, पदार्थ तथा देवताकी दाहिनी दिशासे की गयी परिक्रमासे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है। जलमें स्नान करनेपर स्वाभाविकरूपसे गीला होनेके समान ही पूजनीय वस्तुकी प्रदक्षिणा करनेसे हम पुण्यकणों तथा पवित्र गुणोंसे युक्त हो जाते हैं। यह तथ्य स्वयंसिद्ध होनेसे शास्त्रसम्मत है। जैसे साधारण स्वच्छ जल तथा भगवान्‌से स्पर्श किये गये जल अर्थात् चरणामृतके अन्तरको चर्मचक्षुओंसे नहीं पहचाना जा सकता, वैसे ही साधारण अन्न-पदार्थ और भगवान्‌को अर्पित किये हुए अन्न-पदार्थ अर्थात् प्रसादके भेदको बहिर्मुखी दृष्टिसे देखा नहीं जा सकता। इस अन्तरको दिव्यदृष्टिसे एवं सूक्ष्मबुद्धिसे निश्चित ही देखा जा सकता है; वैसे ही परिक्रमा न किये हुए और परिक्रमा किये हुए भगवान्‌के सम्मुख उपस्थित व्यक्तिके आभामण्डलके अन्तरको सूक्ष्मग्राही अन्तश्चक्षुओंसे एवं ज्ञानदृष्टिसे ही देख सकना सम्भव है। इसी प्रकारके सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम ज्ञान-ग्रहणसे ही धर्मशास्त्रोंके सिद्धान्तोंका आविर्भाव हुआ है। उनके अनुशीलन-परिशीलन तथा निरीक्षण-परीक्षणका कार्य उसी प्रकारकी अत्यन्त सूक्ष्म तथा दिव्य प्रज्ञा या दैवी मेधा ही कर सकती है और यह कार्य प्रगतिशील तथा उन्नत ज्ञान शक्तिसे सम्पन्न होना उचित भी है।

दैवी शक्ति और उसका तेजोवलय (ज्योतिर्मण्डल) स्वभावतः ही दक्षिणवर्ती होते हैं अर्थात् भाव यह है कि उस मण्डलकी दिव्य प्रभा सदैव ही दक्षिण दिशाकी ओरसे गतिमान होती है। दिव्यत्व या देवत्व ही श्रेष्ठत्व होनेसे दायाँ हाथ या दक्षिणावर्तन श्रेष्ठ है। इसी कारण दिव्य लहरियोंका दक्षिणकी ओर गतिमान होना स्वाभाविक है। जिस स्थानपर देवताकी प्रतिष्ठा भलीभाँति करके प्रतिमा अवस्थित है, उस स्थानके मध्यबिन्दुसे अर्थात् देवप्रतिमासे कुछ दूरीतक उस देवताकी दिव्य प्रभा बिखरी रहती है, जो निकटमें कुछ गहरी और आगे क्रमशः कम तथा विरल होती जाती है। सूर्य तथा चन्द्रमाकी ओर ध्यानसे देखनेपर इस तथ्यको हम देख सकते हैं। उस देवताके चारों ओर घूमने या उस तेजोमण्डलमेंसे निकलनेपर वे दिव्य कण हमारे चारों ओर चिपक जाते हैं। तेजकी इन लहरियोंकी गतिकी दिशामें हमारे गतिमान होने अथवा चलनेसे उस देवताके ज्योतिर्मण्डलके अन्तर्गत विद्यमान दिव्य कणों, सत्त्वगुणके परमाणुओं तथा पवित्र गुणोंकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। इसीलिये देवताका तेज दक्षिणवर्ती होनेसे उसकी प्रदक्षिणा भी उसीके अनुरूप गतिकी दिशामें करना शास्त्रसम्मत है। दक्षिणवर्ती या दाहिने हाथकी ओर घूमना यही 'प्रदक्षिणा' शब्दका अर्थ है। इसलिये जितनी अधिक प्रदक्षिणा की जाय, उतनी ही अधिक दिव्यताके पु हमारे व्यक्तित्वको प्राप्त होंगे और व्यक्तित्वका वलय उससे पुनीत होकर स्वच्छ होगा।

दैवी आभामण्डलकी गति दक्षिणवर्ती होती है। उसके विरुद्ध अपनी गति होनेपर अर्थात् वामवर्ती प्रदक्षिणा करनेसे हमारे अंदर जो दिव्य परमाणु पहलेसे हैं, उनमें तथा ज्योतिर्मण्डलकी गतिमें संघर्ष निर्माण होगा, उसमें उनका अपव्यय होकर वे नष्ट हो जायँगे। दिव्य या पुण्य कणोंका नाश होना एक प्रकारसे पाप ही है। इसके विपरीत दिव्य परमाणुओंका सञ्चय पुण्य है। इसीलिये वामवर्तिनी परिक्रमा पापरूप है तथा वर्जित है। दक्षिणावर्तिनी प्रदक्षिणा पुण्यरूप होनेसे ग्राह्य एवं विहित समझी जाती है। कार्य-कारणका इस प्रकार विवेचन करनेसे यह पता चलता है कि यह परम्परा अन्धविश्वास न होकर विज्ञानसम्मत तथ्य है।

परिक्रमायोग्य दिव्य वस्तु यथा—भगवान्, देवता आदि अपनी परिक्रमा करनेवालेको अपने तेजःकण उनकी दक्षिणावर्तिनी गति होनेके कारण स्वभावतः ही देते हैं। उनके

यह तेजोदान वर-प्रदान है, जो सम्भावित विघ्नों एवं संकटोंका नाश करनेमें समर्थ है। परंतु ऐसी इन महान् विभूतियोंकी परिक्रमा यदि उपासकोंने न की तो उनके ये तेजःकण अथवा दिव्य परमाणु व्यर्थ चले जाते हैं। परिणामस्वरूप सम्भावित संकटोंके निराकरणका वर या सामर्थ्य प्राप्त करनेसे हम वञ्चित रह जाते हैं। परिक्रमाके योग्य विभूतियोंकी परिक्रमा न करनेसे हम अपने ही हितका तथा कल्याणका नाश कर देते हैं। इस प्रकार पापके भागी बनते हैं। इसका एक उत्तम दृष्टान्त इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न होनेवाले महाराज दिलीपका है। स्वर्गसे पृथ्वीपर लौटते समय उन्हें मार्गमें देवताओंकी दिव्य गौ कामधेनु दिखायी दी, पर राजा दिलीपने उस ओर दुर्लक्ष्य किया और उसकी परिक्रमा नहीं की। इसपर गो माता क्रुद्ध हो गयीं। उसका परिणाम यह हुआ कि परिक्रमा करनेसे उन्हें जिन पुण्यकर्मोंका लाभ हुआ होता और उसके कारण उनके पूर्वजन्मोंके पापके फलस्वरूप संतान न होनेमें जो बाधा थी, उसका नाश हो गया होता, जिससे आगे चलकर संतानकी प्राप्ति हो सकती थी, परंतु दिलीपके ऐसा न करनेके कारण वह बाधा ज्यों-की-त्यों बनी रही। उन्हें निःसंतान रहनेका दुःख भोगना पड़ा। परंतु कुछ कालके बाद ऋषि वसिष्ठको अपनी दिव्यदृष्टिसे राजाके इस पूर्वके प्रमादका पता चला, उसके परिमार्जनके लिये प्रायश्चित्तके रूपमें राजाको कामधेनुकी पुत्री नन्दिनी गौकी दीर्घकालतक सतत और निरलस होकर सब प्रकारकी सेवा करनी पड़ी। इस सेवासे— परिक्रमा न करनेके पापसे राजाके शुद्ध होनेपर, नन्दिनी एवं स्वयं कामधेनुने राजापर प्रसन्न होकर उन्हें वरदान दिया, जिससे उन्हें पुत्रकी प्राप्ति हुई। यह कथा जानकार लोगोंको भलीभाँति ज्ञात है। तात्पर्य यह है कि विभूतिकी परिक्रमा न करना प्रमादमात्र है। उस विभूतिके पवित्र गुणोंसे अलिप्त तथा वञ्चित रहनेकी स्थिति शाप तथा पापरूप होनेपर भी पश्चात्ताप तथा प्रायश्चित्तके द्वारा इस पापकी निवृत्ति की जा सकती है अर्थात् यह निवृत्ति शाप-निवारक बन जाती है। सारांश यह कि तटस्थता तथा उपेक्षा, जहाँ प्रमाद समझा जाता है, वहाँ परिक्रमामें उलटी गति स्वीकार करना तो और भी महान् पाप है।

केवल महादेवजीके बारेमें तेजोलहरीकी गति केवल दाहिनी ओर नहीं है, अतः अरघे (जलहरी) के निचले भागके कोनेतक जाकर यह पुनः वापस लौटती है, इसी कारण उनकी परिक्रमा विशिष्ट प्रकारसे दोनों ओर करनेका विधान है। इसी शास्त्रीय आधारके कारण ही ऐसी विशिष्ट परिक्रमाको स्वभावतः 'प्रदक्षिणा' कहा गया है। जिस प्रकार लौह-चुंबककी शक्तिकी गतिकी दिशा चुंबकपर कागज रखकर उसके ऊपर चिपके हुए लौहकणोंकी गतिसे दिखायी देती है, उसी प्रकार दिव्य लहरियोंका दक्षिणावर्तन भी प्रगत, सूक्ष्म तथा दिव्य प्रज्ञा या बुद्धिके ध्यानमें आ सकता है। इसी प्रकार अदृश्य—परंतु सत्यके भानके रहस्यज्ञानको समझा जा सकता है।

स्वस्तिक—

देवताके चारों ओर घूमनेवाले आभामण्डलका चिह्न ही 'स्वस्तिक' होनेके कारण तथा वह देवताका प्रतीक होनेके कारण शास्त्रमें उसे शुभ माना गया है। तर्कसे भी इसे सिद्ध किया जा सकता है और यह मान्यता श्रुतिद्वारा प्रतिपादित तथा युक्तिसंगत भी दिखायी देती है। यदि जानकार लोगोंको इस प्रकारकी अनुभूति भी होती है, तो इसमें आश्चर्य कुछ नहीं। श्रुति, अनुभूति तथा युक्ति—इन तीनोंका यह एक-सा प्रतिपादन प्रयागराजमें होनेवाले संगमके समान है। इसे यों देखिये— दिशाएँ मुख्यतः चार हैं। खड़ी तथा सीधी रेखा खींचकर जो धनचिह्न (+) जैसा आकार बनता है, वह आकार चारों दिशाओंका द्योतक है। तेजोलहरी चारों दिशाओंमें अर्थात् सभी दिशाओंमें दाहिनी ओरसे गतिमान है, यह प्रदर्शित करनेके लिये उसका रेखाचित्र किस प्रकार बनाया जा सकता है, इसका सीधा सरल उत्तर है कि धनचिह्नके आकारकी चारों भुजाओंके कोनेसे ९० अंशका कोण बनानेवाली एक रेखा दाहिनी ओर खींचनेसे यह पूरा कार्य हो जाता है। इसका प्रारम्भ ऊपरवाली भुजासे करना स्वाभाविक ही है। प्रथमतः आकारकी जो ऊपरकी भुजा है, वहाँ दाहिनी दिशामें एक रेखा खींची जाय। इसके बाद उस पूरे आकारको उस रेखाकी दिशामें अर्थात् दाहिनी ओर घुमानेसे पूर्वी दिशाके बायीं ओरकी भुजा चक्रगतिसे ऊपरकी ओर आ जायगी। अब दाहिनी ओर रेखा खींचनेसे और इस प्रकार सब मिलाकर चार बार करनेसे जो चिह्न बनता है, वह दाहिनी ओरकी गति अर्थात् दक्षिणावर्ती गतिका प्रतीक है। तेजोवलयके दाहिनी ओरसे गतिमान होनेके कारण पर्यायसे तथा इस रेखाचित्रको

देवताके तेजका ही प्रतीक मानना होगा।

देवताका तेज कल्याणकारक होता है। यह उपासकोंके लिये श्रेष्ठ है। इसलिये हम तेजकी गतिके अनुरूप गतिको स्वीकार करते हैं अर्थात् परिक्रमा करते हैं। उसी प्रकार कल्याणकारी गतिके चिह्नको 'स्वस्तिक' कहा जाना उचित ही है। 'स्वस्ति' का अर्थ है—क्षेम, मङ्गल इत्यादि प्रकारकी शुभता एवं 'क' अर्थात् कारक या करनेवाला। इसलि देवताका तेज शुभ करनेवाला— स्वस्ति करनेवाला है औ उसका गति-सिद्ध-चिह्न 'स्वस्तिक' कहा गया है।

स्वस्तिकके चिह्नका रहस्य भी परिक्रमाके रहस्यके सम है। उपासनाका रहस्य जाननेके लिये इच्छुक जिज्ञासुओं लिये यह उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

* * *

भागवतीय प्रवचन—३६

जितेन्द्रिय बनो

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

स्वायम्भुव मनुकी रानीका नाम शतरूपा था। मनु महाराजके दो पुत्र थे—प्रियव्रत और उत्तानपाद। तीन कन्याएँ भी थीं—आकूति, देवहूति तथा प्रसूति। आकूतिका रुचिसे, देवहूतिका कर्दमसे और प्रसूतिका दक्षसे विवाह हुआ।

कर्दम ऋषि और देवहूतिके घर कपिल भगवान् आये थे।

विदुरजी प्रश्न करते हैं कि 'हे मैत्रेयजी ! आप कर्दम और देवहूतिके वंशकी कथा कहिये। कपिल भगवान्की इस कथाको सुननेकी मेरी इच्छा है।'

मैत्रेयजी कहते हैं—कपिल ब्रह्मज्ञानके स्वरूप हैं। कर्दम बनोगे तो तुम्हारे घर कपिल आयेंगे। कर्दम अर्थात् इन्द्रियोंका दमन करनेवाला। कर्दम अर्थात् जितेन्द्रिय। जबतक मनुष्य कर्दम नहीं बन पाता, तबतक उसे कपिल नहीं मिलता। शरीरमें सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर अपने-आप ज्ञानका झरना फूट पड़ता है, ज्ञान प्रकट होता है।

शरीरमें सत्त्वगुणकी वृद्धिसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। शुद्ध आहार, शुद्ध आचार और शुद्ध विहारसे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है। सत्त्वगुण बढ़ेगा तो ज्ञान मिलेगा। सत्त्वगुण बढ़ता है संयमसे, सदाचारसे। सत्त्वगुणके बढ़नेसे अंदरसे ज्ञानका स्फुरण होता है। जीभके सुधरनेसे जीवन सुधरता है। जीभ जो कुछ माँगे, वह सभी उसे मत दो। सोनेपर दो-चार मिनटमें ही नींद आ जायगी ऐसा महसूस हो, तभी सोना चाहिये। सोनेपर तुरंत नींद न आयेगी तो जीव कामसुखका चिन्तन करेगा।

जीवन सात्त्विक बनाओ।

जितेन्द्रिय बननेके लिये सरस्वतीके किनारे रहना होगा। सरस्वतीका किनारा सत्कर्मका किनारा है। यमुनाजी भक्तिका स्वरूप हैं, गङ्गा ज्ञानका और सरस्वती सत्कर्मका स्वरूप हैं।

शुकदेवजी राजर्षिको सुनाते हैं—राजन्! कर्दम ऋ सर्वदा तप करते थे। उनके तपसे भगवान् प्रसन्न हुए। भगव ऋषिके घर पधारे। विदुरजीके घर भी द्वारकानाथ गये थे।

भगवान् श्रीकृष्ण हर तरहसे उदार हैं। किंतु समय देने उदार नहीं हैं। सुवर्णकी अपेक्षा समयको अधिक मूल्यव मानो। लक्ष्यको लक्ष्यमें रखोगे तो जीवन सफल होगा। बि लक्ष्यका मनुष्य बिना पतवारकी नाव-जैसा है।

कर्दम जितेन्द्रिय महात्मा थे। उनकी तपश्चर्या सफल ह गयी। उनके सामने भगवान् प्रकट हुए। सिद्धपुरके पास कर्द ऋषिका आश्रम था। उन्होंने बड़ी तपश्चर्या की। शरीरमें केवल हड्डियाँ ही रह गयीं। ऐसी कठोर तपश्चर्यासे भगवान् प्रस हुए। आँखोंसे हर्षाश्रु निकल आये। उन्हीं आँसुओंसे बिन्दु सरोवर बना। सिद्धपुरकी यात्रा करते समय बिन्दु-सरोवर स्नान करना पड़ता है।

अधिक ध्यान करोगे तो भगवान् तुमपर भी प्रसन्न हों और तुम्हें दर्शन भी देंगे। सावधान रहो कि तुम्हारा मन कहीं सांसारिक विषयोंमें स्थिर न हो जाय।

संसारका सौन्दर्य क्षणिक है। धन-सम्पत्तिके बढ़नेप लोगोंमें विवेकका अभाव होने लगता है। जगत्की कोई भ वस्तु सुन्दर नहीं है। आँखोंमें विकार होनेके कारण वस्तु सुन्द लगती है। शरीरकी नहीं, हृदयकी सुन्दरता देखो। जगत्की अपेक्षा जगत्का सर्जनहार अधिक सुन्दर है। श्रीकृष्ण सुन्द हैं, ऐसा बार-बार विचार करनेसे भक्तिका उदय होता है। एक ईश्वर ही नित्य-सुन्दर है।

ठाकुरजीके दर्शन करनेसे आँखें सफल होती हैं। कर्द

कहते हैं—महाराज ! आपके दर्शन करनेसे मेरी आँखें सफल हुई हैं। आपको प्राप्त करनेके बाद संसारकी माँग करनेवाला मूर्ख है। संसारके जिस सुखका भोग नरकके कीड़े भी करते हैं, वैसे सुखकी इच्छा परमात्मासे करनेवाला कौन मूर्ख होगा।

लौकिक कामसुखकी इच्छापूर्तिके लिये श्रीकृष्णकी आराधना करनेवाला तुच्छ है।

कर्दमने भगवान्‌से कहा कि 'मैं आपसे स्त्रीसंग नहीं, सत्संगकी इच्छा करता हूँ। मुझे ऐसी स्त्री दीजिये कि जो मुझे आपकी ओर ले जाय। ऐसी पत्नी मुझे मिले कि जब कभी मेरे मनमें पाप आ जाय तो वह मुझे उस पापकर्मसे रोके और आपके मार्गमें ले चले।'

भगवान्‌ने कहा—दो दिनके बाद मनुमहाराज तुम्हारे आश्रमपर आयेंगे और अपनी पुत्री देवहूतिको तुम्हें अर्पण करेंगे।

पति-पत्नी पवित्र-जीवन जीयें तो भगवान्‌की इच्छा उनके यहाँ जन्म लेनेकी होती है।

भगवान्‌ने कहा कि 'मैं पुत्ररूपमें तुम्हारे यहाँ आऊँगा। जगत्‌को मुझे सांख्यशास्त्रका उपदेश करना है।' ऐसा कहकर श्रीहरि वहाँसे बिदा हो गये।

मनुमहाराज शतरूपा और देवहूतिके साथ कर्दम ऋषिके आश्रममें आये। और उन्होंने कहा कि 'मैं यह कन्या आपको अर्पण करना चाहता हूँ।'

कर्दम ऋषि कहते हैं—मेरा विवाह कामके विनाशके लिये है। काम कृष्णमिलनमें विघ्नकर्ता है। उसी कामको मुझे मारना है। एक पुत्रके होनेतक लौकिक सम्बन्ध बनाये रखूँगा। एक पुत्रके हो जानेपर लौकिक सम्बन्धका त्याग करूँगा और संन्यास ले लूँगा।'

भोगके बिना रोग नहीं होता। पूर्वजन्मके पापके कारण भी कुछ रोग होते हैं, तो कुछ रोग इस जन्मके भोग-विलासके कारण होते हैं। '**भोगे रोगभयम्।**' भोगोपभोगमें रोगोंका भय है। भोग बढ़नेसे आयुष्यका क्षय होता है। हम भोगका उपभोग नहीं कर पाते, भोग ही हमारा उपभोग कर जाता है।

कर्दम ऋषिने आदर्श बताया कि 'मेरा विवाह एक सत्-पुत्रके लिये है। उसके बाद मैं संन्यास लूँगा। मेरी यह प्रतिज्ञा तुम्हारी कन्याको मान्य हो तो मैं विवाह करनेको तैयार हूँ।'

मनुमहाराजने पुत्रीसे कहा—यह तो विवाहके समय ही संन्यासकी बात करने लगे हैं।

किंतु देवहूति भी असाधारण थी।

देवहूतिने कहा— मुझे ऐसे ही पतिकी आवश्यकता थी। कामान्ध होकर संसार-सागरमें डूबनेके लिये गृहस्थाश्रम नहीं है। मेरी ऐसी ही इच्छा थी कि मुझे कोई जितेन्द्रिय पति मिले।

देवको बुलानेवाली शक्ति ही देवहूति है। निष्काम बुद्धि ही देवको बुला सकती है।

देवत्वकी विशेषता

(डॉ॰ श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र 'विनय')

'देवत्व' एक पारिभाषिक शब्द है। सामान्यतः दान एवं प्रकाश अर्थात् तेजःसम्पन्नता ही देवताका मुख्य लक्षण है। गीतामें दो प्रकारकी आध्यात्मिक सम्पत्तियोंकी चर्चा है—(१) दैवी सम्पत्ति और (२) आसुरी सम्पत्ति। दैवी सम्पत्तिके महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं—अभय, अन्तःकरणकी पवित्रता, ज्ञानयोगमें स्थित रहना, दान, इन्द्रिय-निग्रह, स्वाध्याय, तप तथा सरलता आदि।

धनकी तीन गतियाँ हैं—दान, भोग और नाश ! जो दान और भोग नहीं करता उसके वित्तका विनाश निश्चित है—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

अतएव व्यावहारिक दृष्टिसे जो इस तथ्यको समझकर अपनी समृद्धि और शक्तियोंको दानमें विनियुक्त करता है वह देव है—'**ददातीति देवः।**' जो केवल अपने प्राणोंका ही पोषण करता है वह असुर है—'**असून् प्राणान् रक्षतीत्यसुरः।**' और जो केवल समृद्धिकी रक्षा करता रहता है वह है 'राक्षस' '**रक्षतीति रक्षः।**'

देवताओंमें सत्त्वगुणकी प्रधानता रहनेसे प्रत्युत्पन्नगतित्व एवं सहयोग, औदार्य आदि भावनाएँ प्रतिष्ठित रहती हैं, जब कि असुरोपरिनिष्ठ राग-द्वेष, छल-कपट एवं राक्षसोंमें व्यामोह,

प्रमाद, कल्मष आदि दुर्गुण रजोगुण तथा तमोगुण-स्वभावको प्रदर्शित करते हैं। इसीलिये देवताओंको जन्मतः कनिष्ठ होनेपर भी असुरों या दैत्योंकी अपेक्षा श्रेष्ठ तथा वन्दनीय माना जाता है।

इस संदर्भमें एक महत्त्वपूर्ण कथा प्राप्त होती है। एक बार असुर अर्थात् सभी दैत्य-दानव मिलकर प्रजापति ब्रह्माके पास गये और उपालम्भ देते हुए बोले—'पितामह! हम सभी देवता और दैत्य आपके पौत्र कश्यपजीके पुत्र हैं, बल्कि हम दैत्य तो उनके ज्येष्ठ पुत्र हैं, देवता अनुज होनेके कारण हमसे अवर हैं—छोटे हैं। फिर भी आप सर्वदा देवताओंसे ही अधिक स्नेह करते हैं। आखिर ऐसा पक्षपात क्यों?

असुरोंकी बात सुनकर ब्रह्माजी कुछ मुसकराये और बोले—'दितिपुत्रो! तुम सबका कहना उचित है। तुम लोग और देवता दोनों ही मेरे पौत्रकी संतान हो, इसलिये मुझे दोनोंपर समान प्रीति भी है, तथापि उनकी बुद्धि और उदार भावनासे स्वभावतः मेरा अनुग्रह देंवताओंके प्रति अधिक हो जाता है, क्योंकि मैं समष्टिबुद्धिका अधिष्ठाता तथा सृष्टिकर्ता हूँ।' यह सुनकर दैत्योंको देवताओंके प्रति और भी अमर्ष हुआ और वे बोले—

'ब्रह्मन्! बिना दोनोंकी परीक्षा लिये आपने ऐसा किस आधारपर मान लिया? जो गुण आपने देवताओंमें बतलाये हैं, वे हममें भी तो हो सकते हैं? कृपया आप परीक्षा लेकर ही इस मतको स्थिर करें।' ब्रह्माजीने 'समय आनेपर परीक्षा भी कर ली जायगी'—ऐसा कहकर असुरोंको बिदा कर दिया।

कुछ समय पश्चात् सृष्टिकर्ताने अपने दोनों प्रपौत्रोंको अपने भवनमें भोजन करने-हेतु निमन्त्रित किया। दोनों ही अपने समुदायके साथ ब्रह्मलोक पहुँचकर पितामहके चरणोंमें उपस्थित हुए। दैत्य-दानवोंकी देवताओंसे वैरभावना तो थी ही, शत्रुओंको समक्ष देखकर वह और भी भड़क उठी। वे बोले 'पितामह! हम दोनों एक साथ बैठकर भोजन नहीं कर सकते।' ब्रह्माजीने उनकी रुचिके अनुसार ज्येष्ठता-क्रमको मानकर पहले दैत्योंकी पंक्ति बैठायी। देवता वहाँसे दूर पृथक् कक्षोंमें अपने समयकी प्रतीक्षा करने लगे। बड़ी प्रसन्नतासे दैत्योंकी पंक्ति बैठी। सामने ब्रह्मभवनकी दिव्य, सुस्वादु पायस (खीर) के पात्र रखे गये। बेचारे असुर आचमन क भोजनारम्भ करना ही चाहते थे कि तभी ब्रह्माजी बोल उठे—

'असुरो! आपलोग भोजन करें, इसके पहले मेरी ए शर्त है, उसपर ध्यान दें।'

आपलोग भोजन अवश्य करें, किंतु उसमें आपलोगों हाथकी कुहनी नहीं मुड़नी चाहिये। शर्त सुनकर असुर मन-ही-मन खीजसे भर गये, फिर भी पितामहकी शर्त पालन तो करना ही था। बेचारे सीधे हाथोंसे ग्रास उठाते, कि कुहनी मोड़े हाथ मुँहके पासतक तो जा नहीं सकता था, कि प्रकार उसे मुँहकी सीधमें लाकर ऊपरसे ही ग्रास छोड़ दे इस तरह कुछ मुखमें, कुछ सिरमें, कुछ अन्य अवयवों ग्रासोंके गिर जानेसे वे भूखे ही रह गये। क्रुद्ध और लज्जि होकर उन्होंने यथाकथञ्चित् भोजन किया।

ब्रह्माजीने असुरोंकी ओर मुसकराते हुए एक अर्थ दृष्टि डाली और फिर उन्हें वहीं आसनोंपर बैठा दिया। इसके बाद देवताओंकी भी वैसी ही पंक्ति बैठी, वैसे ही पायस परिवेषण हुआ और भोजनारम्भके कुछ ही क्षण पूर्व वही श उनके प्रति भी रखी गयी।

देवताओंने एक क्षण विचार किया, परस्पर देखक स्मितपूर्वक कुछ इङ्गित किया और दूसरे ही क्षण दो समानान्त पंक्तियोंमें विभक्त होकर बिलकुल समीप—आमने-सामने गये। अब भोजन करनेमें क्या समस्या रह गयी। आमने सामने बैठे हुए अपने बन्धुओंके मुखमें बिना कुहनी मोड़े वे पायसके मधुर ग्रास समर्पित करने लगे और परस सहयोग—सहकारने सभीको आकण्ठ तृप्त और समुल्ल कर दिया।

पितामहकी परीक्षा पूरी हो गयी थी, असुरोंके पास औ कुछ कहनेको शेष नहीं था। प्रजापतिने देवताओंकी अप्र विशेषता—बुद्धिमत्ता और सहयोग-भावनाको प्रमाणित कर उनके प्रश्नका उत्तर दे दिया था।

यदि ये दैवी गुण मनुष्यके जीवनमें भी आ जायँ तो व भी लौकिक दृष्टिसे देवता बन सकता है, क्योंकि देवत्व सद्गुणोंकी साधनाका अपर पर्याय ही है।

* * *

राम ते अधिक राम कर दासा

(श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री, रामायणी, साहित्यरत्न)

सत्संगकी महिमाका वर्णन करते हुए श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—हे पक्षिराज गरुड़जी ! मेरे मनमें ऐसा विश्वास है कि भगवान् रामके दास उनसे कम नहीं, बल्कि किसी अंशमें उनसे कुछ अधिक ही हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र समुद्रके समान हैं और धीर-बुद्धिवाले संत-जन सर्वत्र वृष्टिदायक कल्याणकारी जलवाहक मेघके सदृश हैं। भाव यह है कि संत लोग भगवान्का साक्षात्कार कर सामान्य जनताके पास पहुँचकर उनके कृपालु स्वभाव एवं चरित्रका वर्णन करते हैं और उन्हें भी भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखलाते हैं। यही संत या भगवद्भक्तोंकी भगवान्से विशेषता है। जैसे समुद्र सब जगह नहीं घूमता, वैसे भगवान् भी अपनी त्रिपाद्‌विभूतिसे संयुक्त होकर अपने नित्यनिवास क्षीरसिन्धु या वैकुण्ठमें ही स्थित रहते हैं। नारदादि संतजन मेघके सदृश भगवान् (समुद्र) का संदेश तथा उनके रहस्योंको ग्रहण कर समस्त संसारमें फैलाते हैं। भगवान् चन्दनके वृक्ष हैं तो संत एवं भगवद्भक्त शीतल-मन्द एवं चन्दनकी सुगन्धको दूर-दूरतक प्रवाहित, प्रसारित करनेवाले वायुदेवताके समान हैं। उत्तरकाण्डमें कहा गया है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥

शङ्का हो सकती है कि जब भगवान्के समान कोई नहीं हो सकता तो उनसे बढ़कर कोई क्या और कैसे हो सकता है? भगवान्ने स्वायम्भुव मनुसे स्वयं ही कहा था—

आपु सरिस खोजौं कहँ जाई।

—अन्यान्य उदाहरण भी हैं—

जेहि समान अतिसय नहिं कोई।

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।

—फिर **'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः'** (गीता) आपके समान भी जब कोई नहीं है तो आपसे अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है? तब ***'राम ते अधिक राम कर दासा।'*** कैसे संगत होगा? यह परम सत्य है। फिर भी संतों, भगवद्भक्तोंका समस्त शास्त्र, पुराणेतिहासादिके अतिरिक्त अपने भी जीवनका जो अनुभव होता है, वह शास्त्रादिके विपरीत नहीं होता। भगवान् श्रीसदाशिव अपना अनुभव कह रहे हैं—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना॥

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

मोरें मत बड़ नामु दुहू तें।

इसी प्रकार श्रीभुशुण्डिजी भी—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

—अपना अनुभव अनेक कल्पोंका बताते हैं। जो सिद्धान्त सत्य है—वह कैसे है? इसपर कुछ विचार शास्त्रानुसार ही लिखा जा रहा है। दासके लक्षण भी भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे श्रीकाकभुशुण्डिजीको बतलाये हैं—

निज सिद्धांत सुनावउँ तोही। सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही॥
मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिधि प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

यहाँ इतने बड़े संसारमें भगवान्को अपना सेवक, दास, भक्त प्राणप्रिय होता है, यह स्पष्ट किया है। गीतामें भी **'भक्तिमान् यः स मे प्रियः'** कहा गया है। भगवान् केवल भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं—

भक्त्या तुष्यति केवलं न तु गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः।

भक्तोंकी महिमासे समस्त पुराण भरे पड़े हैं। तभी भुशुण्डिजीने मेघ तथा पवन दो उदाहरण दिये। पवनकी गति सर्वत्र है। वह चन्दनकी गन्धको लेकर अन्य वृक्षोंके सारमें बसा देता है।

मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कंकोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः।

इसी प्रकार संतों, भगवद्भक्तोंमें ही यह शक्ति है कि भगवान्का भाव लेकर दूसरोंके अन्तःकरणको भगवद्भाव-भावित करके फलरूपा भक्ति प्रदान करते हैं।

जैसे चन्दनका वृक्ष सुगन्धसे पूर्ण होनेपर भी किसी वृक्षको अपने समान सुगन्धित नहीं बना पाता। यह विशेषता पवनकी ही है कि वह चन्दनकी सुगन्ध लेकर अन्य वृक्षोंको चन्दनके समान सुगन्धित कर देता है। वैसे ही भगवान् भक्तिसे पूर्ण हैं, संत पवनके समान हैं। ये भगवान्‌की भक्ति दूसरे मनुष्योंमें प्रवेश कराकर उस मनुष्यको भी अपने सदृश संत एवं भगवद्भक्त बना देते हैं। इसीलिये वे—*'होत तरन तारन नर तेऊ ॥'* बन जाते हैं।

सत्संगतिकी महिमा अपार है। वाल्मीकि, नारद, अगस्त्य आदिने अपने मुखसे ही अत्यन्त साधारण स्थितिसे महात्मा बननेका कारण सत्संग बतलाया है। यहाँतक कि विश्वमें आजतक जिस-किसीको ज्ञान, विद्या, यश, गति, मुक्ति या अन्य किसी प्रकारका सच्चा श्रेय हुआ है, उसके मूलमें एकमात्र सत्संगति ही कारण रही है। इसलिये सत्संगति ही समस्त मोद एवं मङ्गलका मूल कही गयी है, वही सच्ची सिद्धि है और दूसरी सिद्धियाँ तथा दूसरे श्रेष्ठ कर्म तो साधन-स्वरूप हैं—

सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥

इसके उदाहरणके रूपमें गोस्वामी तुलसीदास महर्षि भरद्वाजके मुखसे उद्गार प्रकट करते हुए कहते हैं कि सब साधनोंका फल भगवान् सीतारामका दर्शन हुआ, किंतु उस फलका भी परम फल भरत-जैसे भगवद्भक्त और संतका दर्शन हो गया, जिससे तीर्थराज प्रयागसहित हम सभी ऋषि-मुनियोंका परम सौभाग्य जाग उठा और हमलोग सर्वथा कृतकृत्य हो गये, यहाँतक कि सारा जगत् पवित्र एवं कृतार्थ हो गया—

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा ॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा ॥
भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ। कहि अस पेम मगन मुनि भयऊ ॥

समस्त संसारके सृष्टि, पालन, संहारकर्ता भगवान् अपने दासोंकी महिमा बढ़ानेके लिये स्वयं प्रयत्नशील रहते हैं। इस कारण *'राम ते अधिक राम कर दासा'* होना परम स्वाभाविक ही है। क्योंकि—

अधिक बढ़ावत आपते जनमहिमा रघुबीर।
सबरी पद-रज-परस ते सुद्ध भयो सर-नीर ॥

परम भक्तिमती शबरीके अपमानसे जब सरोवरका जल दूषित हो गया तो प्रभु श्रीरामके शबरी-आश्रममें पधारनेपर अपमान करनेवाले मुनिकुमारोंने भगवान्‌से प्रार्थना की कि इस सरोवरके जलको आप स्वयं शुद्ध कर दीजिये। श्रीरामने उत्तर दिया—

मतंगमुनिविद्वेषाद्रामभक्तावमानतः ।
जलमेतादृशं जातं भवतामभिमानतः ॥

'आपके गुरु मतंगजीसे द्वेष एवं रामभक्तिमती शबरीके अपमान तथा स्वयं जातीय अभिमानके कारण ही यह जल दूषित हो गया।' अब तो फिर—

एक उपाय अहै मुनि बृंद बनै नहिं जाति गुमान किए।
सबरी अपमान की छूति लगी सो मिटै सबरी अस्नान किए ॥

अन्तमें मुनियोंने शबरी माँसे प्रार्थना की। उसके स्नान करते ही उस सरोवरका जल परम निर्मल, स्वच्छ, सुगन्धित हो गया। भक्तकी महिमाको भक्त-भक्तिमान् स्वयं भगवान् ही बढ़ानेको तैयार रहते हैं। वे तो अर्जुनसे यहाँतक कहते हैं कि—

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः ।
मद्भक्तानां च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः ॥

दास भक्त भी स्वयंको प्रभुके ही समर्पण कर देता है। उसका स्वयंका अहं कुछ होता ही नहीं। आलवन्दार-स्तोत्रमें कहा गया है कि 'हे प्रभो ! जो कुछ मैं हूँ और जो कुछ मेरा है, वह सर्वस्व तो आपका ही है। यह विचार करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि आपको समर्पण करूँ तो क्या करूँ, क्योंकि यह सब तो आपका ही दिया हुआ है।'

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतः स्वमिति प्रबुद्धधीरथवा किन्नु समर्पयामि ते॥

भक्त भगवान्‌को स्वयं समर्पित एवं भगवदाश्रयी होता है। इसी कारण भगवान् भी **'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** का ही निर्वाह करते हैं। भक्तका निजी अहंकार कुछ नहीं, वह तो *'जनहि मोर बल'* से बलवान् होता है। जिसके साथ भगवान्‌का स्वयं बल साथमें होगा और फिर भक्त-महिमा वह स्वयं ही बढ़ाना चाहेंगे तो *'राम ते अधिक राम कर दासा'* में किसी प्रकारके संदेहका अवकाश ही नहीं रहता। (क्रमशः)

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें लोकसंग्रह

साधकात् प्रभुसिद्धाभ्यां जायते लोकसंग्रहः।
येनोन्मार्गं परित्यज्य भवन्ति धार्मिका जनाः॥

लोक शब्द स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—इन तीन लोकोंका वाचक है। इन तीनों लोकोंकी मर्यादाको स्थायी रखनेके लिये कर्म करना 'लोकसंग्रह' है। यह लोकसंग्रह मनुष्यके ही अधीन है; क्योंकि मनुष्य-शरीरमें किये गये कर्मोंके फलरूपमें ही ये स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—तीनों लोक होते हैं (१४।८)।

जिसको लोग आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, आदर्श मानते हैं, और जिसके आचरणों तथा वचनोंसे लोग उन्मार्गसे बचकर सन्मार्गपर चलते हैं, उसके द्वारा लोकसंग्रह होता है। यह लोकसंग्रह साधक, सिद्ध और भगवान्—इन तीनोंके द्वारा होता है; जैसे—

(१) साधकके द्वारा लोकसंग्रह—भगवान्ने अर्जुनको साधकमात्रका प्रतिनिधि बनाकर कहा कि पहले राजा जनक-जैसे महापुरुष कर्मोंके द्वारा ही परमसिद्धिको प्राप्त हुए हैं; अतः लोकसंग्रहको देखते हुए तू भी उनकी तरह अनासक्तभावसे कर्म करनेके योग्य है (३।२०)।

(२) सिद्धके द्वारा लोकसंग्रह—सिद्ध महापुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य मनुष्य भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं और वे अपनी वाणीसे जो कुछ कह देते हैं, दूसरे लोग भी उसीका अनुवर्तन करते हैं (३।२१)। कर्मोंमें आसक्त मनुष्य जिस प्रकार सावधानी और तत्परतापूर्वक कर्म करते हैं, सिद्ध महापुरुष भी लोकसंग्रहकी इच्छासे अनासक्तभावसे उसी प्रकार कर्म करे (३।२५)।

(३) भगवान्के द्वारा लोकसंग्रह—भगवान् अपने विषयमें कहते हैं कि त्रिलोकीमें मेरे लिये न तो कुछ करना बाकी है और न कुछ पाना बाकी है, तो भी मैं कर्तव्य-कर्म करता हूँ। यदि मैं निरालस्य होकर कर्तव्य-कर्म न करूँ तो लोग मेरा ही अनुवर्तन करेंगे अर्थात् वे भी अपना कर्तव्य-कर्म छोड़ देंगे, जिससे उनका पतन हो जायगा। अतः यदि मैं कर्तव्य-कर्म न करूँ तो मैं संकरताको उत्पन्न करनेवाला और प्रजाका नाश करनेवाला बन जाऊँगा (३।२२—२४)।

तात्पर्य है कि वास्तवमें लोकसंग्रह भगवान् और सिद्धके द्वारा ही होता है; क्योंकि उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। ऐसे तो साधक भी मर्यादामें चलता है और उसके द्वारा भी लोकसंग्रह होता है, पर वैसा लोकसंग्रह नहीं होता; क्योंकि साधकमें अपने कल्याणका प्रयोजन भी रहता है।

ज्ञातव्य

भगवान् और सिद्ध महापुरुषका भाव सर्वथा निष्काम होनेसे उनके द्वारा शुद्ध, आदर्श लोकसंग्रह होता है। साधकका भाव सर्वथा निष्काम नहीं होता, प्रत्युत उसका उद्देश्य निष्काम होनेका होता है; अतः उसके द्वारा गौणरीतिसे लोकसंग्रह होता है। सामान्य मनुष्यमें सकामभाव रहता है; अतः उसके द्वारा विशेष लोकसंग्रह नहीं होता। वह जो शास्त्रविहित क्रिया करता है, केवल उस क्रियासे ही सामान्य लोकसंग्रह होता है। लोकसंग्रह दो तरहसे होता है—

(१) आचरणसे—मनुष्य जिस वर्ण, आश्रममें स्थित है, उसके अनुसार शास्त्रने जिसके लिये जिस कर्मकी आज्ञा दी है, उस कर्मको निष्कामभावसे केवल संसारके हितके लिये ही करना।

(२) वचनसे—अपने सिवाय दूसरे वर्णों एवं आश्रमोंमें रहनेवाले जितने लोग हैं, उनको उन्मार्गसे बचाकर सन्मार्गपर लाना।

इन दोनों तरहसे होनेवाले लोकसंग्रहमें अपने आचरणोंसे लोगोंपर जो असर पड़ता है, वह असर केवल वचनोंसे नहीं पड़ता। जिसके आचरण अपने वर्ण-आश्रमकी मर्यादाके अनुसार होते हैं, उसीके वचनोंका असर दूसरोंपर पड़ता है। इन्हीं बातोंको बतानेके लिये भगवान्ने तीसरे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें 'यत्'-'यत्', 'तत्'-'तत्' और 'एव'—ये पाँच शब्द दिये हैं; और उत्तरार्धमें 'यत्' तथा 'तत्'—ये दो ही शब्द दिये हैं*। इसका तात्पर्य यह है कि अपने आचरणका प्रभाव दूसरोंपर अधिक पड़ता है और

---

* यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (गीता ३।२१)

वचनोंका प्रभाव दूसरोंपर कम पड़ता है; अतः आचरण करना मुख्य है। हाँ, कोई बहुत श्रद्धालु हो तो उसपर केवल वचनोंका भी असर पड़ सकता है।

मनुष्य अपने आचरण लोकमर्यादाके अनुसार ही करे। उनमें किसी प्रकारका दिखावटीपन न हो। उन आचरणोंको कोई देखे या न देखे, कोई माने या न माने, इसकी परवाह न करके वह समुदायमें अथवा एकान्तमें सुचारुरूपसे अपने कर्तव्यका पालन करता रहे। उन कर्मोंको करनेमें किञ्चिन्मात्र भी व्यक्तिगत स्वार्थका भाव न हो, प्रत्युत विश्वमात्रके हितका भाव हो। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण कर्म संसारमात्रके हितकी दृष्टिसे ही करे।

अपने कल्याणका भाव रखकर कर्म करना भी स्वार्थ है। अतः लोकसंग्रह करनेवाले मनुष्यको इस भावका भी त्याग कर देना चाहिये और केवल संसारमात्रके कल्याणका भाव रखना चाहिये। यद्यपि अपने कल्याणका भाव रखना सकामभाव नहीं है, तो भी व्यक्तिगत कल्याणका भाव लोकसंग्रहको पूरा नहीं होने देता। जो मनुष्य अपने कल्याणका भी भाव न रखकर, केवल दूसरोंके कल्याणका भाव रखकर अपने कर्तव्यका पालन करता है, उसके द्वारा स्वतः ही लोगोंका हित होता है। जैसे बर्फके पास जानेपर ठण्डक मिलती है, आगके पास जानेपर गरमी मिलती है, ऐसे ही उस मनुष्यके पास जानेपर, उसको याद करनेपर भी लोगोंका कल्याण होता है। अगर ऐसा मनुष्य गृहस्थाश्रममें हो तो उसके घरका अन्न-जल लेनेवालेका भी कल्याण हो जाता है और अगर वह संन्यासाश्रममें हो तो वह जिसके अन्न-जल आदिको ग्रहण करता है, उस (अन्न-जल देनेवाले) का भी कल्याण हो जाता है। ऐसे लोकसंग्रही महापुरुषके दर्शन, भाषण और चिन्तनसे भी लोगोंका कल्याण होता है। उसके जीवित रहनेपर उसके आचरणों, वचनों, भावोंका प्राणियोंपर जैसा असर पड़ता है, वैसा ही असर उसका शरीर न रहनेपर भी पड़ता है। जिस स्थानपर वह महापुरुष रहता था, उस स्थानपर कोई अपरिचित व्यक्ति भी चला जाय तो उस व्यक्तिको वहाँ बड़ी शान्ति मिलती है। उस महापुरुषके दिये हुए उपदेश आकाशमें स्थायीरूपसे रहते हैं, जो अधिकारी व्यक्तिको उसकी जिज्ञासा, उत्कण्ठाके अनुसार मिलते रहते हैं। अधिकारी व्यक्तिको इस बातका पता नहीं लगता कि वे भाव कहाँसे आये, पर वह उन भावोंके आनेमें भगवान् या संतोंकी कृपाको ही कारण मानता है।

महापुरुषके द्वारा जो भी क्रियाएँ होती हैं, वे सब आदर्शरूपसे होती हैं। कहीं-कहीं उनकी क्रियाएँ अनुयायीरूपसे भी दीखती हैं। जो आस्तिक लोग शास्त्रविहित कर्मों एवं उन कर्मोंके फलोंमें दृढ़ श्रद्धा-विश्वास रखते हुए सकामभावसे तत्परतापूर्वक कर्म करते हैं, उन लोगोंकी तरह ज्ञानी महापुरुष भी तत्परतासे कर्म करता है (३। २५)।

कर्मयोगी साधकमें कर्म करनेका जो स्वभाव होता है, वही स्वभाव सिद्धावस्थामें भी रहता है। अतः कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषमें स्वाभाविक ही कर्म करनेकी प्रवृत्ति दीखती है। परंतु ज्ञानयोगसे सिद्ध महापुरुषमें वैसी प्रवृत्ति नहीं दीखती। कारण कि ज्ञानयोगी पहलेसे ही अपनेको असङ्ग अनुभव करता है। अतः सिद्धावस्थामें उसकी कर्मों और पदार्थोंसे स्वाभाविक ही उपरति रहती है, जो ज्ञानमार्गके साधकोंके लिये आदर्श होती है; और उस महापुरुषकी पदार्थ आदिसे जो तटस्थता है, वह दुनियामात्रके लिये हितकारी होती है।

प्रश्न—सिद्ध महापुरुषमें अहंभाव नहीं रहता, फिर उसके द्वारा लोकसंग्रह, क्रियाएँ कैसे होती हैं?

उत्तर—उस महापुरुषके शरीरद्वारा क्रिया होनेमें दो कारण हैं—एक उनका प्रारब्ध और दूसरा प्राणियोंका भाव। जिस प्रारब्धके प्रवाहसे उसको शरीर मिला है, उसी प्रारब्धसे उसके द्वारा सभी क्रियाएँ होती हैं; और उसके सामने जो प्राणी आते हैं, उन प्राणियोंके भावोंके अनुसार ही उसके द्वारा क्रियाएँ होती हैं। अगर उसके पास प्रेमभाव रखनेवाला, श्रद्धालु मनुष्य आता है तो उसके साथ उस महापुरुषका बर्ताव भी प्रेमयुक्त होता है; और अगर उदासीन अथवा वैरभाव रखनेवाला मनुष्य आता है तो उस महापुरुषका बर्ताव भी उदासीनकी तरह होता है (वैरभाव महापुरुषमें होता ही नहीं)।

संसारमें ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि जिस योग-साधनकी जिस समय आवश्यकता होती है, उस समय संत-महापुरुषोंके द्वारा उसी योग-साधनका प्रचार होता है। जैसे, जिस समय संसारके लिये ज्ञानयोगकी आवश्यकता थी, उस समय श्रीशंकराचार्यजीके द्वारा विशेषतासे ज्ञानयोगका

प्रचार हुआ; और जिस समय संसारके लिये भक्तियोगकी आवश्यकता थी, उस समय श्रीरामानुजाचार्यजीके द्वारा विशेषतासे भक्तियोगका प्रचार हुआ। जैसे भगवान्‌के द्वारा होनेवाली सभी क्रियाएँ प्राणिमात्रके हितके लिये ही होती हैं, ऐसे ही महापुरुषके द्वारा होनेवाली सभी क्रियाएँ प्राणिमात्रके हितके लिये स्वतः होती हैं। उसके आचरण एवं वचन (उपदेश)—दोनों ही प्राणिमात्रके हितके लिये होते हैं, पर उसके भीतर हित करनेका अभिमान नहीं होता। जैसे सूर्य भगवान्‌से दुनियामात्रको प्रकाश एवं कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है, ऐसे ही उस महापुरुषके आचरणों तथा वचनोंसे दुनियामात्रको प्रकाश (ज्ञान) एवं कर्तव्य-कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है, चाहे उसका शरीर रहे अथवा न रहे। जब भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णके अवतार हुए, तब उनको साक्षात् भगवान् माननेवाले मनुष्य बहुत कम थे, पर आज उनको भगवान् माननेवाले मनुष्योंकी संख्या ज्यादा है। कलियुगके कारण मनुष्योंके आचरणोंमें तो शिथिलता आयी है, पर उनको भगवान् माननेका भाव बढ़ा है। ऐसे ही महापुरुषोंका शरीर न रहनेके बाद उनके सिद्धान्तोंका, उनके वचनोंका विशेष प्रचार होता है।

जबतक मनुष्यमें अहंभाव रहता है, तबतक उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ दुनियाके लिये हितकारी नहीं होतीं। अहंभाव मिटनेपर उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ दुनियाके लिये हितकारी, आदर्श हो जाती हैं। हाँ, सकामभावसे कर्म करनेवाले मनुष्योंके कर्म भी दूसरोंके लिये आदर्श होते हैं, पर वे कर्म कल्याण करनेवाले नहीं होते। सकामभावसे कर्म करनेवाले मनुष्योंमें उतनी ही शुद्धि आती है, जितनेसे वे भोगोंको भोग सकें। उनमें वह शुद्धि नहीं आती, जिससे कल्याण हो जाय।

जिन गाँवोंमें, प्रान्तोंमें संत-महापुरुष हुए हैं अथवा गये हैं, वे गाँव आज भी शुद्ध हैं अर्थात् आज भी वहाँके लोगोंमें आस्तिकता, अच्छे विचार, अच्छे आचरण आदि देखनेको मिलते हैं। परंतु जिन गाँवोंमें न तो कोई संत हुआ है और न कोई संत गया ही है, उन गाँवोंके लोग भूत-प्रेतोंकी तरह ही होते हैं।

◆

गौका महत्त्व क्यों ?

ॐ नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥

भगवती लक्ष्मी प्रायः चञ्चला कही गयी हैं। वे लाख प्रयत्न करनेपर भी स्थिर नहीं रहतीं। धर्म-कर्ममें तनिक भी वैगुण्य उत्पन्न होते ही वे अपने आश्रितोंका परित्यागकर तत्काल चली जाती हैं, किंतु गौओंमें उनका शाश्वत अधिष्ठान है। यहाँतक कि गोबरको उनका नित्य-निवास माना गया है। इसीलिये गौको सच्ची श्रीमती कहा गया है। सच्ची श्रीमतीका अर्थ भी व्यापक है। आचार्य व्याडिके अनुसार सद्धर्म, सद्बुद्धि, सरस्वती, समस्त मङ्गल, परस्पर सौहार्द, सौजन्य, कीर्ति, लज्जा और शान्ति—ये सब शुद्ध श्रीके लक्षण हैं। ये सभी गो-सेवाजनित श्रीके ही आश्रित रहते हैं। गो-सेवारहित श्री रज तथा तमोगुणोंसे प्रभावित होनेके कारण स्वार्थ, लोभ, अविश्वास, अहंकार एवं स्पर्धा आदि दोषोंको उत्पन्न कर साधकको शुद्ध दृष्टिसे शून्य बनाकर द्यूतकार, चाटुकार एवं दुर्गुणी मनुष्योंका साहचर्य करा देती है और परिणामस्वरूप पुनः कलह, अशान्ति, छल, छद्म आदि दुराचारोंद्वारा उसके नरकका मार्ग प्रशस्त कर देती है।

गायोंके दर्शन एवं चिन्तन मात्रसे ही मनमें शान्ति, पवित्रता और सभी प्रकारके कल्याण-मङ्गलका उदय होने लगता है। शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है कि यदि स्वप्नमें काली, उजली या अन्य किसी भी वर्णकी गायका दर्शन हो जाय तो उस व्यक्तिके समस्त कष्ट नष्ट हो जाते हैं, फिर प्रत्यक्ष गोभक्तिके चमत्कारका क्या पूछना ?

भगवान् गोविन्द जड-चेतनात्मक समस्त प्राणियोंमें निवास करते हैं, पर गौओंमें विशुद्ध सत्त्वमय होनेसे उनका निवास भगवती लक्ष्मीकी अपेक्षा भी अधिक है और इसी कारण सभी देवता, सभी पुण्य, सभी तीर्थ, सभी सद्गुण, सभी ऐश्वर्य, सभी कल्याण-मङ्गल एवं सुख-शान्ति भी गौके शरीरमें साक्षात् निवास करते हैं, जिन्हें विशुद्ध ज्ञानदृष्टिवाले प्रत्यक्ष देख सकते हैं। इसी कारण भगवान् गोविन्द गो-सेवकपर अपनी पूर्ण कृपा व्यक्त कर उसके सामने सम्यक्‌रूपसे साक्षात्

प्रकट होकर गौरूपसे ही उसका समस्त कल्याण कर देते हैं। इसीलिये गोमती विद्या आदिमें गौको प्रणाम करनेमें ही सर्वाधिक पुण्य बताया गया है।

गो-सेवाके चमत्कारके सामने दूसरे सभी चमत्कार यद्यपि नगण्य हैं, किंतु अल्पबुद्धिवाले सकाम गोभक्तोंके लिये सामान्य गाय भी कामधेनु बनकर उसकी सभी इच्छाओंको पूर्ण करती हुई अन्तमें ज्ञान प्रदानकर उसे भी अपना वैष्णवीरूप दिखाकर पूर्णरूपसे चमत्कृत कर सर्वथा कृतार्थ कर देती है।

प्राचीन ऋषि-मुनियों, राजा-महाराजाओं तथा अन्य प्रायः सभी मनुष्योंको भी उपर्युक्त गो-सेवाका चमत्कार ज्ञात था। वैश्य एवं गोपालगणोंका तो मुख्य धर्म ही गो-सेवा एवं गो-पालन था। कृषकोंको भी कृषिके लिये सभी प्रकार गोवंशका समाश्रयण आवश्यक था और प्रसिद्ध है कि भारतमें गो-दुग्धकी नदियाँ बहती थीं। गोकुलके महागोपों—नन्द, सुनन्द, उपनन्द, महानन्द आदिके पास लाखों गायें थीं और सम्पूर्ण भारतवर्ष गोधन एवं गव्य पदार्थोंसे सर्वथा सम्पन्न था। अकिञ्चन ऋषि-आश्रमोंमें अन्य सब कुछका भले ही अभाव दिखे, किंतु गायें वहाँ भी भरी पड़ी थीं। इसीलिये उनके शिष्योंमें उनके ही गोत्रोंका प्रवर्तन हुआ। इसी गो-सेवाकी प्रधानतासे ही शिष्य और गुरु सभी प्रकारके दिव्य, सूक्ष्म, अदृष्ट, अव्यवहित, अलौकिक, भूत, भविष्य, वर्तमानके ज्ञानोंके साथ सम्पूर्ण लौकिक तथा शास्त्रीय ज्ञान-परिज्ञानोंसे युक्त, सर्वथा संशयशून्य ब्रह्मसाक्षात्कार भी करनेमें समर्थ थे। यहाँतक कि साक्षात् ब्रह्म भी गोलोकका परित्याग कर भारतीय वसुन्धरामें गोकुलका बाहुल्य देख अत्यन्त लावण्यमय गोविन्दका रूप धारण करके उनकी परिचर्याके लिये अवतीर्ण हो आये और यहाँ गो-सेवाके चमत्कारोंका प्रदर्शन करते हुए अद्भुत गीताशास्त्रके वक्ता ज्ञान-विज्ञान, शौर्य-पराक्रम तथा ऐश्वर्यके एकमात्र केन्द्रबिन्दु बनकर 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' के रूपमें सभी देवता, देवियों, दिव्य गोपियों, भक्तजनों एवं ऋषि-मुनियोंके भी उपास्य बन गये। श्रीशुकदेवजी श्रीमद्भागवतमें कहते हैं कि भगवान् गोविन्द स्वयं अपनी समृद्धि, रूपलावण्य एवं ज्ञान-वैभवको देखकर चकित हो जाते थे—

विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥
(३।२।१२)

तात्पर्य यह है कि महान् आश्चर्यकर ऋद्धि-सिद्धियोंकी अवर्णनीय परम्परा अपने चारों ओर घिरे देख भगवान् श्रीकृष्णको भी आश्चर्य होता था कि सभी प्रकारके युगपद्विरोधी ऐश्वर्य, ज्ञान, बल और ऋषि-मुनि, भक्त राजागण तथा देवी-देवताओंका सर्वस्व-समर्पण—ये मेरे पास एक ही साथ सब कैसे आ गये? वास्तवमें यह सब उनकी गो-सेवाका ही फल था, जिसमें वे अन्ततक तल्लीन रहे।

ऐसे चमत्कारोंकी भारतीय साहित्यमें कोई गणना नहीं है, किंतु दुःखकी बात है, आज धर्मनिरपेक्ष भारतमें कुछ लोग ईश्वर एवं धर्मको नहीं मानते और जडवादी नास्तिक पाश्चात्योंके अनुकरणमें ही बुद्धिमत्ता मानते हुए गोवंशकी उपेक्षा कर घातक अस्त्रयुक्त आधुनिक उपकरणोंका आश्रय लेकर देशका कल्याण करना चाहते हैं, किंतु इससे देशका कल्याण न होकर सम्पूर्ण देशमें अनर्थकी परम्परा, हिंसा आदि दुष्प्रवृत्तियाँ, अनुदिनकी वर्धमान सांघातिक महर्घता तथा क्रोध, लोभ आदि असाधु भावनाओंका साम्राज्य छा गया है और सभी प्रकारके अवाञ्छनीय दोष, दुर्गुण व्याप्त हो गये हैं। कृत्रिम घी, दूध, मक्खन आदिमें अपवित्रतम एवं स्वास्थ्यघाती पदार्थोंका प्रयोग होने लगा है। आश्चर्य है कि इसी दुर्बुद्धिको सभ्यताका आदर्श मानकर लोग अपनेको उन्नत मानते जा रहे हैं।

यह असत्-मार्ग है। इस मार्गका सर्वथा परित्यागकर सत्की ओर उन्मुख होना चाहिये। भगवत्कृपासे यदि हृदयमें सात्त्विक बुद्धिका उदय हो जाय और गो-माताकी सच्ची सेवा होने लगे, तो इससे जीवन सफल होकर भगवान्के नित्य गोलोकधामकी प्राप्ति हो सकेगी। अस्तु, देवाधिष्ठानभूता, नित्य वन्दनीया गौ माताकी शरण अवश्य ग्रहण करनी चाहिये।

* * *

जो तुम्हारे लिये काँटे बोवे, तुम उसके लिये फूल बोओ, तुम्हारे भीतर ही तुम्हारा मन भयानक वैरी है, उसके घातोंसे बचनेके लिये सदा सावधान रहो।—कबीर

* * *

स्वप्नसे वैराग्य

राज्याभिषेकके एक दिन पहलेकी बात है। तरुण राजा अपने सुन्दर शयनगृहमें एक पलंगपर लेटा था। रात्रि अधिक हो चुकी थी और सभी सभासद् जा चुके थे। अभी उसकी अवस्था केवल सोलह वर्षकी थी। उसके जन्म और जीवनके सम्बन्धमें सही ज्ञान किसीको भी नहीं। सम्भवतः उसकी माता अपने यौवनकालमें किसी साधारण व्यक्तिसे प्रेम करने लगी थी। इसपर उसके नानाने अत्यन्त क्रोधित होकर उसके माता-पिताकी हत्या करा दी, जब कि उसका जन्म हुए केवल एक ही सप्ताह हुआ था। इसी बीच एक गड़रिया वहाँसे निकला और अनाथ बालकको अपने साथ ले गया। कुछ कहते थे कि बूढ़े राजाने स्वयं वधिकोंको आज्ञा दी थी कि वे बालकको गड़रियेके पास छोड़ दें। जो कुछ भी हो, एक दिन वह अपने धर्मपिताकी भेड़ें चरा रहा था कि कुछ शिकारियोंने उसे खोज निकाला। जब राजा बूढ़ा हुआ, तब उसे चिन्ता हुई कि कहीं किसी दूसरे वंशमें उसका राज्य न चला जाय। इसलिये उसने तरुण राजाको ढुँढ़वाया तथा अपने मन्त्रिमण्डल एवं समस्त प्रजाके सम्मुख उसकी अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।

बालक राजाने अपने सौन्दर्य-प्रेमके लक्षण दिखाने प्रारम्भ कर दिये। उसने तरह-तरहके कीमती एवं अभूतपूर्व सौन्दर्यशाली सामान प्राप्त करनेके लिये भारत, मिस्र, ईरान आदि देशोंको सौदागर भेजे, परंतु उसका सर्वाधिक ध्यान उस लबादेपर था, जो अभिषेकवाले दिन उसे पहनना था। साथ ही हीरे-जवाहरातोंसे जड़े हुए मुकुट तथा मोतियोंकी धारियोंवाले राजदण्डके विषयमें भी वह चिन्तित था। यह लबादा सोनेके तारोंसे बुना जानेवाला था। उसने आज्ञा दी थी कि संसारभरसे कीमती जवाहरात मँगवाये जायँ तथा कलाकार दिन-रात्रि श्रम करके कार्य पूरा करें। वह मन-ही-मन अपनेको वह वस्त्र पहने गिरजेकी वेदीके सम्मुख खड़ा देखता तथा प्रसन्नतासे उसका मुख खिल उठता एवं उसकी आँखोंमें एक अजीब-सी चमक आ जाती।

एक दिन रातको जब घड़ियालने मध्यरात्रि घोषित की, तब उसने घंटा बजाया और सेवकोंने आकर उसके वस्त्र उतार दिये तथा बिस्तरपर गुलाब-जल छिड़क दिया। उनके जानेके कुछ समय बाद ही उसे नींद आ गयी और उसने यह स्वप्न देखा—

वह एक लंबी नीची दालानमें खड़ा है और चारों ओरसे करघोंके चलनेकी आवाज आ रही है। मूक गम्भीर जुलाहे उनपर झुके हुए हैं तथा दुबले-पतले निर्बल बालक वहीं उनकी सहायता कर रहे हैं। उनके गाल भरपेट खाना न मिलनेके कारण पिचके हुए थे। पतले-पतले हाथ काँप रहे थे। कुछ ढली उम्रकी स्त्रियाँ मेजोंके पास बैठी-सी थीं। उनके मुख भी चिन्ता एवं श्रमसे म्लान हो रहे थे। बड़ी दुर्गन्धपूर्ण एवं उमसभरी हवा थी। तरुण राजा एक जुलाहेके पास गया और उसका कार्य निरखने लगा।

जुलाहेने सक्रोध उसकी ओर देखा और कहा—'इस प्रकार तू क्यों ताकता है? क्या स्वामीने तुझे अपना जासूस बनाकर भेजा है?'

'परंतु तुम्हारा स्वामी कौन है?' तरुण राजाने पूछा।

'वह भी हमारी ही तरह मनुष्य है, अन्तर केवल इतना है कि जहाँ हम चिथड़ोंमें घूमते हैं, वह सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित घूमता है और जहाँ हम भूखसे अशक्त हो रहे हैं, उसे अधिक खानेसे कोई कष्ट नहीं हुआ।' जुलाहेने बड़ी कटुतासे उत्तर दिया।

जुलाहेने फिर कहा—'युद्धमें शक्तिशाली लोग अशक्तोंको दास बना लेते हैं, परंतु शान्तिमें निर्धन धनवालोंके दास हो जाते हैं। हमें जीवित रहनेके लिये कार्य करना पड़ता है, पर जो जीविका उस कार्यके करनेपर हमें मिलती है, उससे तो केवल मृत्यु ही सम्भव है। हमारी मेहनतकी कमाईसे वे अपने कोठे भरते हैं और हमारे देखते-ही-देखते हमारे बालक मुरझा जाते हैं। जिन अंगूरोंको हम रक्त-शोणित एक करके पैदा करते हैं, उनकी मदिराका आनन्द दूसरे लोग उठाते हैं। इस तरह यद्यपि हमारी जंजीरें आँखें चाहे देख न सकें, परंतु वे हमें बाँधे हैं। चाहे लोग हमें स्वतन्त्र कहें, पर हम हैं दास ही।'

'क्या यह सभीके साथ है?'

'हाँ, सभीके साथ। हमारी अंधेरी गलियोंमें दरिद्रता क्रीडा करती है एवं दुराचार निवास करता है। दुःख हमें सुबह जगाता है एवं लज्जा हमारे साथ रात्रिको शयन करती है। परंतु

तुझे इससे क्या ?'

यह कहकर अत्यन्त घृणासे जुलाहेने अपना कार्य फिर आरम्भ कर दिया। तभी छोटे राजाने देखा कि करघेपर जो धागा लगा था, वह सोनेका था।

इसे देखकर एक विचित्र भयसे वह भर गया तथा पूछा—'यह किसका वस्त्र बुन रहे हो तुम ?'

'यह तरुण राजाका 'रोब' है, पर तुझे इससे क्या ?' उत्तर मिला। और इसी समय राजाने एक चीख भरी तथा उसकी आँख खुल गयी।

तनिक देर बाद वह फिर सो गया। इस बार फिर उसने स्वप्न देखा।

दूसरा स्वप्न इस प्रकार था—

उसने देखा कि वह एक विशाल नावके डेकपर लेटा हुआ है। गहरे लाल रंगका साफा बाँधे एक काला व्यक्ति पास ही एक कालीनपर बैठा है। उस नावको सौ दास खे रहे थे, इनके शरीरपर वस्त्र नामकी वस्तु केवल एक लँगोटीके रूपमें थी। प्रत्येक दास एक-दूसरेसे जंजीरद्वारा बँधा था। हबशी लोग चारों ओर घूम रहे थे तथा चाबुकोंसे दासोंको हाँक रहे थे। ज्यों ही वे एक खाड़ीके निकट पहुँचे, उन्होंने नाव रोक दी और एक सीढ़ी पानीमें लटका दी। एक दासको, जो अवस्थामें सबसे छोटा था, पकड़कर उसके नाक एवं कानमें मोम भर दिया तथा उसकी कमरसे एक भारी पत्थर बाँध दिया। धीरे-धीरे वह सीढ़ीद्वारा पानीमें उतर गया। कुछ समय पश्चात् वह एक मोती लेकर ऊपर आया। हबशियोंने उससे मोती छीन लिया और उसे फिर जलमें ढकेल दिया। इसी प्रकार वह कई मोती लाया।

अन्तमें जब गोताखोर ऊपर आया, तब इस बार वह जो मोती लाया था, वह सर्वाधिक सुन्दर था। उसका आकार पूर्ण-चन्द्रके समान था, परंतु उस दासके नाक-मुँह आदिसे रक्तस्राव हो रहा था। कुछ समय बाद ही उसकी मृत्यु हो गयी। हबशियोंने उसे उठाया और नावके बाहर फेंक दिया। फिर नावके मालिकने प्रसन्नतापूर्वक उस मोतीको चूमा और कहा—'वह मोती तरुण राजाके राजदण्डमें लगेगा।'

और ज्यों ही राजाने यह सुना, एक चीखके साथ उसकी आँख खुल गयी।

कुछ समय पश्चात् जब इसकी आँख लगी, तब उसने तीसरा स्वप्न देखा, वह इस प्रकार था—

.....एक सूखी हुई नदीकी सतहपर बहुत-से स्त्री-पुरुष श्रम कर रहे थे। वे पृथ्वीमें गहरे गड्ढे करते तथा उनमें घुस जाते। उनमेंसे कुछ बड़ी-बड़ी छेनियोंसे चट्टानें तोड़नेकी चेष्टा करते, दूसरे रेतमें ही टटोलते। वे कैक्टस नामक पौधेको जड़से उखाड़ लेते तथा उसकी गुलाबी कलियोंको पैरोंसे मसल देते। उनमेंसे प्रत्येक व्यक्ति व्यस्त था।

पासकी एक कन्दरामेंसे 'धनलिप्सा' एवं 'मृत्यु' उन्हें देख रही थीं।

मृत्युने कहा—'मैं बहुत थक गयी हूँ। तू इनमेंसे एक तिहाई मुझे ले लेने दे।'

पर धनलिप्साने अपना सिर हिलाया, बोली—'ये सब तो मेरे सेवक हैं।'

इसपर मृत्युने फिर पूछा—'तेरे हाथमें क्या है ?'

'मेरे हाथमें अन्नके तीन दानें हैं। पर तुझे इससे क्या ?'

'उनमेंसे तू एक मुझे दे दे'—मृत्युने याचना की। 'केवल एक, मैं अपनी वाटिकामें लगाऊँगी और यहाँसे चली जाऊँगी।'

'उहह, मैं तुझे एक भी न दूँगी।' यह कहकर धनलिप्साने अपना हाथ अपने वस्त्रमें छिपा लिया।

मृत्यु हँसी। एक प्याला उसने पानीसे भरा। उसमेंसे 'जूड़ी-ताप' निकली और वह सब मनुष्योंके बीचसे गुजरी। उनमेंसे एक तिहाई मरकर गिर पड़े।

इसी प्रकार दूसरी बार इनकार करनेपर मृत्युने दूसरे बुखारको जन्म दिया। 'बुखार' उनसे होकर गुजरा तथा जिस-जिसको उसने छुआ, वही मरकर गिर पड़ा।

तीसरी बार मृत्युने 'प्लेग' को जन्म दिया और उसके कारण कोई भी मनुष्य जीवित नहीं बचा।

तरुण राजाने रोकर पूछा—'ये लोग कौन थे और क्या ढूँढ़ रहे थे ?'

'ये छोटे राजाके मुकुटपर मढ़नेके लिये माणिक एवं पन्ना ढूँढ़ रहे थे।' किसीने पीछेसे उत्तर दिया।

यह सुनकर फिर एक चीखके साथ राजाकी आँख खुल गयी। देखा तो चारों ओर दिन निकल आया था तथा चिड़ियाँ

बाहर बागमें चहचहा रही थीं।

कुछ समय पश्चात् मन्त्री एवं राज्यके उच्चाधिकारी आये तथा उन्होंने झुककर प्रणाम किया। सेवकोंने सोनेके तारोंसे बुना हुआ लबादा, उसका मुकुट एवं राजदण्ड सामने लाकर रख दिया। वे अत्यन्त सुन्दर थे। पर तरुण राजाको रातके स्वप्न याद थे। उसने कहा—'इन वस्तुओंको यहाँसे ले जाओ, क्योंकि मैं इन्हें नहीं पहनूँगा।'

यह सुनकर सभीको अत्यन्त आश्चर्य हुआ। कुछने सोचा—'शायद राजा परिहास कर रहा है।' परंतु फिर उसने कहा—'इन वस्तुओंको यहाँसे ले जाकर कहीं छिपा दो। यद्यपि आज मेरे अभिषेकका दिन है, फिर भी मैं इन्हें नहीं पहनूँगा। मेरा यह लबादा 'दुःख'के करघेमें 'पीड़ा'के हाथोंद्वारा बुना गया है। माणिकके हृदयमें 'हत्या' और मुक्ताके हृदयमें 'मृत्यु' निवास करती है।'

यह कहकर तीनों स्वप्न उसने बताये। फिर भी उसके दरबारियोंने उसे समझानेकी चेष्टा की। उन्होंने कहा कि उन वस्तुओंको यदि वह नहीं पहनेगा तो प्रजा उसे अपना राजा माननेसे इनकार कर देगी।

'सम्भव है, आप सच कहते हों। परंतु यदि ऐसा है तो उचित होगा कि मैं जैसा इस महलमें आया था, वैसा ही उससे चला जाऊँ।' यह कहकर उसने सबसे बिदा ली, पुराने भेड़की खालके वस्त्र धारण किये, हाथमें गड़रियोंवाली लाठी ली तथा जंगली गुलाबकी एक शाखा लेकर मोड़ी और सिरपर पहन ली। और इसी 'लबादे', 'राजदण्ड', एवं 'मुकुट'को धारण करके वह नगरकी सड़कोंसे होकर गुजरा। लोगोंने उसे देखकर कहा—'यह मूर्ख है।'

'नहीं, मैं राजा हूँ।' उसने उत्तर दिया। साथ ही अपने तीनों स्वप्न सुनाये। पर इसका उत्तर उन्होंने (नागरिकोंने) यह दिया कि 'धनिकोंके ऐश्वर्यसे ही दरिद्रोंकी जीविका चलती है। स्वामीके लिये मेहनत करना कड़ुआ चाहे भले ही हो, परंतु किसी स्वामीका न होना, जिसके लिये परिश्रम किया जा सके, और भी अधिक कष्टप्रद है।'

जब वह गिरजेमें पहुँचा, तब पादरीने एक बार फिर समझानेकी चेष्टा की, पर तभी बहुत तीव्र शोर हुआ। राज्यके कुछ क्रुद्ध दरबारी तलवार लेकर उसे मारनेके लिये भीतर आये। राजाने अपनी प्रार्थना समाप्त की तथा बड़े दुःखके साथ उनकी ओर देखा।

·····और तभी सबने बड़े आश्चर्यके साथ देखा कि खिड़कीसे आनेवाली सूर्यकी किरणोंने उसके चारों ओर एक अत्यन्त अभूतपूर्व लबादा बुन दिया है, जो कि उसके राजकीय लबादेसे कहीं सुन्दर है। हाथवाली मृत लाठीसे अनेक शुभ्र वर्णके पुष्प विकसित हो पड़े, जो किसी भी मोतीसे अधिक सुन्दर थे। मुकुटसे भी गुलाबकी कलियाँ निकल आयी थीं, जो मणियोंसे भी अधिक सुन्दर थीं। इन्हीं अभूतपूर्व अलंकारोंको पहने वह खड़ा था तथा सभी सभासद् एवं प्रजाजन घुटने टेककर नतमस्तक हो रहे थे उसके चरणोंपर!

जा दिन संत पाहुने आवत

जा दिन संत पाहुने आवत।
तीरथ कोटि सनान करैं फल, जैसौ दरसन पावत॥
नयौ नेह दिन-दिन प्रति उन कैं, चरन-कमल चित लावत।
मन-बच-कर्म और नहिं जानत, सुमिरत औ सुमिरावत॥
मिथ्या-बाद-उपाधि-रहित है, बिमल-बिमल जस गावत।
बंधन कर्म कठिन जे पहिले, सोऊ काटि बहावत॥
संगति रहैं साधु की अनुदिन, भव-दुख दूरि नसावत।
सूरदास संगति करु तिन की, जे हरि-सुरति करावत॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

श्रीबलदाऊजी पानी भर लाये

वैसे तो बरौनी प्रतिदिन प्रातःकाल ही पानी भरने आ जाया करती थी, परंतु आज वह समयपर नहीं आयी। गोपीबाईको आज पानीकी अत्यधिक आवश्यकता थी। कई बार बुलानेपर बरौनी आयी और आते ही साफ-साफ शब्दोंमें कहा—'देखो बड़ी माँ! अब मुझसे काम नहीं होगा। आप कोई दूसरा प्रबन्ध कर लें, अब मैं पानी देनेमें लाचार हूँ।'

गोपीबाईने विनम्रतासे कहा—'आज तो पानी भर ही दो, कल जैसा उचित होगा वैसा कर लूँगी। मैंने एक माहसे अन्न नहीं खाया है। आज पुरुषोत्तम-मासव्रत समाप्त हो रहा है। अतएव मुझे भोजन तैयार कर भोग लगाना है। इसलिये पानीकी बहुत जरूरत है।'

बरौनीने इतनी आरजू-मिन्नतके पश्चात् भी साफ-साफ कह दिया—'मैं न आपका उपवास जानती हूँ न व्रत। मैंने स्पष्ट कह दिया कि मैं अब पानी नहीं भर सकती।'

गोपीबाईने पानी भरनेके लिये लाख प्रयत्न किया, पर बरौनी पानी भरनेको राजी न हुई और नीचा सिर किये चुपचाप वहाँसे चली गयी। गोपीबाईकी हिम्मत न हुई कि उसे रोक सके।

× × ×

गोपीबाई ग्रामकी प्रतिष्ठित महिला थीं। उनका गाँवमें बहुत सम्मान था। वे बम्हनी-निवासी जगतराम श्रीवास्तवके कुलकी बहू थीं। अपने पिता टीकारामकी मृत्युके पहले ही उनके ससुर काशीप्रसाद स्वर्गवासी हो चुके थे, अतः उनकी सास गिरिजाबाई अपने पुत्रके साथ उनके मायके आ गयी थीं। परंतु कालके कठोर हाथोंने उनके प्यारे पुत्रको भी उनसे छीन लिया।

विधवा गोपीबाईकी तीन बच्चियोंकी शादी हो चुकी थी और उनका इकलौता पुत्र ससुरालकी सम्पत्ति मिल जानेके कारण ससुरालमें ही रहता था। वे घरमें अकेली ही थीं। वे भगवद्भक्त होनेके कारण व्रत-उपवास अधिक करती थीं। अधिकमास (पुरुषोत्तममास) व्रत निराहार करनेके कारण वे दुर्बल हो चुकी थीं। उनकी ताकत स्वयं पानी लानेकी नहीं थी। उस ग्राममें एक ही कुआँ था। वह इतना गहरा था उसमेंसे पानी खींच निकालना बहुत कठिन था। जब बरौ पानी देना इन्कार कर दिया तो गोपीबाईको बहुत दुःख हु वे भगवान्‌के पास जाकर रोने लगीं। उन्होंने मनमें ठान लि कि आज भोजन नहीं बनाऊँगी। भगवान् जब पानीका प्र नहीं कर सकते तो खाना बनानेसे क्या लाभ?

जेठका महीना था। दोपहरी अपने प्रचण्ड वेगसे तप थी। चिलचिलाती धूपमें घरसे बाहर निकलना भी कठिन थ फिर कुआँसे पानी भरकर लाना कैसे सम्भव था। अतएव दरवाजा बंद कर लेट गयीं। ग्राममें बलदाऊजीका वि मन्दिर था। गोपीबाईका बलदाऊजीके प्रति अधिक प्रेम थ वे प्रतिदिन उनके दर्शन किये बिना भोजन नहीं करती थ आज वे उनका दर्शन करने भी नहीं गयीं।

× × ×

'बड़ी माँ! बड़ी माँ!!' बाहरसे किसीने आवाज द गोपीबाईकी नींद खुल गयी। उन्होंने भीतरसे ही लापरवाह उत्तर दिया—कौन है? 'मैं हूँ श्याम' बाहर खड़े नवयुवक उत्तर दिया। गोपीबाईने लेटे-लेटे ही कहा—'अंदर आ किवाड़ खुले पड़े हैं।'

बलभद्रजीके मन्दिरके पुजारीका मझला बेटा श्य किवाड़ खोलकर अंदर गया। वह अपने हाथमें ताँबेका ए पात्र लिये हुए था। आते ही उसने कहा—'आपको भूख ल रही है। आप भोजन तैयार कीजिये मैं पानी लाया हूँ।'

गोपीबाईने अनमने-स्वरमें कहा—आज खाना न बनाऊँगी। मैं कल अपने बेटेके पास सीरागाँव चली जाऊँ श्रीबलदाऊजीके दर्शन एवं महावीर बजरंगबलीकी सेव लोभसे ही मैं यहाँ रह रही हूँ और मेरी यहाँ कोई इज्जत तो नहीं। मुझे खाना बनानेके लिये पानी तक नहीं मिल पा है, अब मुझे यहाँ रहनेमें क्या लाभ है।

श्यामने कहा—'आज आप इस जलसे भोजन तै कीजिये, कल सब प्रबन्ध हो जायगा?' गोपीबाईकी बलदाऊजीके ताँबेके लोटेपर पड़ी। वह पानीसे लबालब हुआ था। वे पूजनके उस पात्रको भलीभाँति जानती थीं

श्यामने पूछा—'पानी कहाँ रख दूँ बड़ी माँ!' गोपीबाईने एक बर्तनकी ओर इशारा करते हुए कहा—'इसीमें रख दो।' श्यामने उस बर्तनमें पानी भर दिया और बोला—'तुम्हें मेरी सौगंध है बड़ी माँ! भोजन बना लेना और अब मैं जा रहा हूँ।' गोपीबाईने कोई उत्तर नहीं दिया। श्यामने पुनः कहा—'मैं जा रहा हूँ।' गोपीबाईने लापरवाहीसे कहा—'चले न जाओ'।

× × ×

श्यामके जाते ही गोपीबाईको ऐसा प्रतीत हुआ जैसे उनसे भूल हो गयी है। ब्राह्मणका बालक दोपहरको पानी लाया और मुझे सौगंध दे गया कि 'भोजन तैयार कर लेना, पर मैंने कुछ उसे नहीं दिया।' मुझसे बड़ी भूल हो गयी है।

गोपीबाईने विधिवत् भोजन तैयार किया। भगवान्‌को भोग लगाया और एक माहके पश्चात् अन्न ग्रहण किया। भोजनोपरान्त उन्होंने सोचा कि आज व्रत-विसर्जनका दिन है। ब्राह्मणके बालकके द्वारा लाया हुआ जल मैंने खर्च किया है, अतएव मेरा यह कर्तव्य है कि मैं मन्दिर जाकर श्यामको कुछ पैसे दे आऊँ? ऐसा विचार करके वे मन्दिर चली गयीं।

मन्दिरमें पहुँचकर उन्होंने भगवान् बलभद्रके दर्शन किये। भगवान् बलभद्रकी प्रसन्नचित्त छबिको निहारकर वे अपनी सुध-बुध खो बैठीं। पुजारीने आकर उन्हें चरणामृत दिया। चरणामृत लेनेके बाद उन्होंने पुजारीसे श्यामको बुला देनेका आग्रह किया।

पुजारीने बड़ी उत्सुकतासे पूछा—'क्यों श्यामसे क्या काम है?' गोपीबाईने एक ही साँसमें सारा किस्सा पुजारीको सुना दिया और कहा—'मैं ब्राह्मणके हाथका पानी बिना कुछ पैसे दिये नहीं पी सकती। अतः आप ये रुपये श्यामको दे दीजियेगा।'

गोपीबाईके शब्दोंको सुनकर पुजारी हक्का-बक्का-सा रह गया। उसने आश्चर्यमिश्रित स्वरमें कहा—'श्याम एक माहसे अपने मामाके यहाँ गया हुआ है, वह तो यहाँ है ही नहीं। आप क्या कह रही हैं?'

यह सुनते ही गोपीबाई स्तब्ध रह गयीं, मन-ही-मन न जाने क्या सोचने लगीं, वे प्रभुकी लीलाके बारेमें कुछ भी निर्णय न ले सकीं और तुरंत पण्डितजीको प्रणाम करके वे चुपचाप अपने घर लौट आयीं। आते ही उन्होंने देखा कि जिस बर्तनमें श्यामने पानी भरा था, वह अब भी भरा हुआ है, घड़ेमें भरे जलको उन्होंने अपने मस्तकपर डाला और भगवान्‌के पास जाकर रोने लगीं तथा कहने लगीं—आपने मेरे लिये कष्ट उठाया।

सारे ग्राममें चर्चा फैल गयी कि आज स्वयं बलदाऊजीने श्यामका रूप बनाकर बड़ी माँको पानी लाकर दिया है। सबके हृदय प्रसन्नतासे पूर्ण हो गये। श्रीबलदाऊजीकी जय-जयकार होने लगी।

—श्रीमधुकान्तजी कपिधवज

(२)

हनुमदाराधनका प्रत्यक्ष फल

यह घटना इसी वर्षके चैत्र नवरात्रकी है। मेरे जीजाजी श्रीमदनलालजी कलकत्तेके एक सम्भ्रान्त नागरिक हैं। वे प्रतिवर्ष नवरात्रमें अपनी पत्नीके साथ अयोध्यामें निवास करते हैं। दिनाङ्क २८ मार्च ९० को कलकत्तेमें उनके पौत्र विवेक, जिसकी अवस्था लगभग १७ वर्ष की है, उसने दिनमें लगभग ११ बजे स्कूलके लिये प्रस्थान किया, परंतु सायंकालतक घर वापस नहीं पहुँचनेपर स्वाभाविक रूपसे माता-पिताको चिन्ता हुई और उसकी खोज की गयी, परंतु तीन दिनोंतक लगातार खोज करनेपर भी कोई पता न लगनेसे चिन्ता बढ़ती गयी। लड़केके दादाजीको तत्काल अयोध्या समाचार दिया गया। वे भी नवरात्रके बीचमें ही यह समाचार सुनकर काशी होते हुए तुरंत कलकत्ता पहुँचे। काशीमें एक सज्जनने लड़केके दादाजी श्रीमदनलालजीको एक अनुभूत अनुष्ठान बताया कि आप कलकत्ता पहुँचकर तत्काल हनुमानचालीसाका १०८ पाठ, दीपक जलाकर विधिपूर्वक श्रीहनुमान्‌जीकी मूर्तिके समक्ष करें तो तत्काल इसका परिणाम प्राप्त होगा।

श्रीमदनलालजीने कलकत्ता पहुँचकर सबसे पहले पूर्ण श्रद्धावनत होकर अपनी ठाकुरबाड़ीमें श्रीहनुमान्‌जी महाराजसे आर्द्रचित्त होकर प्रार्थना की तथा उन सज्जनके बताये-अनुसार १०८ बार हनुमानचालीसाका पाठ घृतका दीपक जलाकर करना प्रारम्भ किया। पाठकी संख्या पूर्ण होनेके पूर्व ही अचानक टेलीफोनकी घंटी बजी। लड़केके पिताने टेलीफोन उठाया और टेलीफोनमें अपने लड़केकी आवाज पहचानकर वे आश्चर्यचकित हो गये। अबतक पाँच दिन बीत चुके थे, पर

अपने बच्चेका कोई सुराग न मिलनेके कारण घरके सभी लोग अत्यधिक चिन्तित हो चुके थे। शनैः-शनैः बच्चेके लौटनेकी आशा धूमिल होती जा रही थी, पर हठात् श्रीहनुमंतलालजीकी कृपाका चमत्कार प्रत्यक्ष देखकर वे हर्षोत्फुल्ल हो उठे। लड़केने फोनपर अपने पिताको बताया कि वह टाटानगरसे बोल रहा है और सुरक्षित है। वह बहुत घबराया हुआ था। जिसके यहाँ उसने आश्रय प्राप्त किया था, उस व्यक्तिने अपना पता-ठिकाना इन्हें फोनपर बताया और यह आश्वासन दिया कि आप किसीको भेजकर अपने बच्चेको ले जायँ। तत्काल उस बच्चेको आदमी भेजकर बुलानेकी व्यवस्था की गयी। उसी दिन रात्रिमें जब वह अपने घर पहुँचा तो उसने आप-बीती सब कथा सुनायी। कहा—उस दिन कुछ बदमाशोंने स्कूलसे आते समय उसका अपहरण कर लिया था तथा दो दिनतक तो उसे कलकत्तेमें ही रखा, कुछ यातनाएँ भी दीं, इसके अनन्तर वे लोग उसे बिहारमें समस्तीपुर ग्राममें ले गये। वहाँ प्रकारसे एक युवती तथा एक अन्य व्यक्ति उनके द्वारा कर लाये गये थे। ऐसा लगता था कि अपहरण करना उनका धंधा है। इसी बीच भगवान्की कृपासे कुछ क्षण बालकको ऐसे मिल गये कि वह उन बदमाशोंके चंगु निकल भागनेमें सफल हो गया तथा किसी ट्रेनसे टाटानग पहुँचा और वहाँ किसी एक सज्जन व्यक्तिको आप-बीती सुनायी। उसने ही अपने यहाँ उसे आश्रय पूर्ण आश्वासन दिया और उसके खाने-पीनेकी व्यवस्था तथा कलकत्ते घरवालोंको उसकी सूचना दी। माता-पिता तथा घरके सभी लोग भगवान्की साथ-साथ उस व्यक्तिकी दयाकी भी सराहना करने श्रीहनुमान्जी महाराजकी आराधनाका प्रत्यक्ष फल कृतकृत्य हो गये। (प्रेषक—श्रीविश्वनाथजी भावसिंह

* * *

मनन करने योग्य

तुम कौन हो ?

सोचो, तुम कौन हो ? जिस शरीरको तुम 'मैं' समझते हो और कभी-कभी कहते भी हो—'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं बीमार हो गया, मैं स्वस्थ हूँ' आदि, वह शरीर ही क्या तुम हो ? याद करो, लड़कपनमें यह शरीर कैसा था, जवानीमें इसका क्या स्वरूप था और अब बुढ़ापेमें इसका सारा ही रंग-रूप बदल गया। जिसने लड़कपनमें इसको देखा था, वह तो अब इसे पहचान ही नहीं सकता। कहाँ वह नन्हें-नन्हें कोमल हाथ-पैर, मोहन मुखड़ा, दूध-से दाँत, भौंरोंके रंग-से काले घुँघराले बाल और कहाँ आजका यह कुबड़ा शरीर, झुर्रियाँ पड़ी हुई चमड़ी, सफेद केश, चिपका मुँह, डरावनी सूरत। वह शरीर तो मर ही गया, उसका एक भी निशान अब नहीं है, ऐसे शरीर ही क्या तुम हो ? नहीं, तुम यह नहीं हो, तुम तो वह हो जो इस शरीरकी बाल, युवा और वृद्ध तीनों अवस्थाओंको समानरूपसे जानता है। शरीर बदल गया, परंतु तुम नहीं बदले। शरीर जड है, तुम चेतन हो, शरीर बढ़ता है, तुम नहीं बढ़ते, शरीर क्षय होता है, तुम जैसे-के-तैसे हो, शरीर पैदा होता है और नष्ट हो जाता है, तुम सदा ही रहते हो। फिर तुम क्यों अपनेको शरीर समझते हो और क्यों शरीरके मानापमान, सुख-दुःख और जन्म-मरणमें अपना अप सुख-दुःख और जन्म-मरण मानते हो ? क्यों सचमुच तुम्हारी भूल है न ? अच्छा बताओ, क्या तुम 'नाम' नामकी पुकार सुनते ही सोतेमें बोल उठते हो, नामको गाली देता है तो उसे सुनकर मारे शोकके रो उठते हो, क्रोधके जलने लगते हो। परंतु सोचो तो सही, क्या वस्तु नाम हो ? जब तुम माँके गर्भमें थे, उस समय बताओ क्या नाम था ? जब तुम जन्मे उस समय क्या तुम्हारा यह था ? जिस नामको आज तुम अपना स्वरूप समझते हो ? था ! क्या मरनेके बाद जहाँ जाओगे वहाँ यही नाम नहीं ! फिर क्यों यह समझते हो कि मैं 'रामप्रसाद' हूँ ? रखा हुआ कल्पित नाम है जो अनित्य है, चाहे जब बदल सकता है। फिर इस नामकी निन्दा-स्तुतिमें तुम क्यों निन्दा-स्तुति समझते हो और क्यों दुःख-सुखका अनुभव हो ? यह भी तुम्हारा भ्रम ही है न ?

अच्छा, क्या तुम आँख, कान, नाक, जीभ, चमड़ी आदि इन्द्रियोंमेंसे अपनेको कोई मानते हो ? यदि ऐसा है बताओ आँखें फूट जानेसे, नाक कट जानेसे, कान

जानेसे या हाथ-पैर टूट जानेसे क्या तुम मर जाते हो ? नहीं, तो फिर तुम इन्द्रियाँ कैसे हुए ? तुम तो इनको, इनकी चेष्टाओंको और इनकी अच्छी-बुरी हालतको देखने और जाननेवाले हो, फिर इन्द्रियको अपना स्वरूप मानना तुम्हारी गलती नहीं तो और क्या है ?

ठीक, तुम अपनेको मन बतलाओगे ! पर जरा सोचकर कहो, मनमें जब नाना प्रकारके विचार उठते हैं, तब तुम उनको जानते हो या नहीं ? नहीं जानते, तो कहते कैसे हो कि 'मेरे मनमें अभी यह विचार आया था', और जानते हो तो यह निश्चय समझो कि जाननेवाला उस जानी हुई वस्तुसे अलग होता है। सुषुप्तिके समय मनका पता नहीं रहता, परंतु तुम तो वहाँ रहते ही हो, क्योंकि तुम जागकर कहते हो कि 'मैं सुखसे सोया था।' मन जहाँ-तहाँ भटकता है, तुम अपनी जगह अचल बैठे सदा उसकी हरेक चालको देखा करते हो, उसकी प्रत्येक बातको जानते हो, इसलिये तुम मन नहीं हो, तुम तो उसके द्रष्टा हो—फिर अपनेको मन मानना तुम्हारी भ्रान्ति ही तो है !

तुम बुद्धि भी नहीं हो, मनकी चालकी तरह बुद्धिकी भी प्रत्येक स्थितिको, उसके हरेक कार्यको और विकारको, उसकी नीचता-उच्चताको, अपवित्रता-पवित्रताको और उसके अच्छे-बुरे निर्णयको तुम जानते हो। उसमें ये सब बातें आती-जाती, बढ़ती-घटती रहती हैं, पर तुम सदा उसकी सारी हरकतोंको देखा ही करते हो। इसीसे कहा करते हो—'मेरी बुद्धि उस समय बिगड़ गयी थी। सत्संगके प्रभावसे मेरी बुद्धिकी मलिनता जाती रही।' तब फिर तुम अपनेको बुद्धिका द्रष्टा न मानकर बुद्धि ही कैसे मानते हो ? यह तुम्हारा भ्रम ही है !

तुम 'अहंकार' भी नहीं हो—आत्मामें स्थित होकर तुम यदि अपनेको 'मैं' कहते तो तब तो ठीक था, परंतु तुम तो देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके समूहमें 'मैं'-बुद्धि करके अहंकार करते हो, वस्तुतः इस अहंकारके भी तुम द्रष्टा ही हो। इसीसे कहा करते हो—'मैंने भूलसे अहंकारके वश ऐसा कह दिया था।'

इसी प्रकार तुम प्राण भी नहीं हो, प्राण तुम्हारे आश्रित हैं। तुम प्राणोंके आधार हो।

तुम शुद्ध, बुद्ध, नित्य, चेतन, आनन्दमय आत्मा हो, देहके नाशमें तुम्हारा नाश नहीं होता और देहके बननेमें तुम नये बनते नहीं। नामका महत्त्व और हीनत्व तुम्हें महान् और हीन नहीं बना सकता। तुम तो सदा निर्विकार हो ! तुम्हें न कोई गाली दे सकता है, न तुम्हारा अपमान कर सकता है, न तुम्हें मार सकता है और न तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट कर सकता है। तुम अपने स्व-रूपमें सदा स्थिर अचल प्रतिष्ठित हो। इस बातको समझो और जगत्‌के द्वन्द्वोंसे अविचल रहो। यह स्व-रूपस्थिति ही तुम्हारी असली स्थिति है। इसको पा लेनेमें ही, पा लेना क्या, अपनी इस नित्य स्व-रूपस्थितिको जान लेनेमें ही तुम्हारी सफलता है। इसे जान लोगे तो तुम महात्मा बन जाओगे। नाम, रूप और इन्द्रिय, मन आदिको आत्मा मानना ही अधमत्व है और आत्माको अपने महत्-स्वरूपमें अविचल देखना ही महात्मापन है।

यह महात्मापन केवल ऊपर लिखी पंक्तियोंके लिखने-पढ़ने या कहना-सुनना जान लेनेसे ही नहीं प्राप्त होता। असली जानना तो वह है जब शरीर, मन आदिसे अहंता-ममता सर्वथा हट जाय और सचमुच ही इनके हानि-लाभमें आत्माको कुछ भी हानि-लाभका अनुभव न हो और उसकी स्व-रूपस्थिति नित्य अच्युत रहे।

हमलोग कहना सीख लेते हैं और लोगोंको सिखाने लगते हैं, परंतु स्वयं वैसा करना, वैसा बनना नहीं सीखते। बने हुए कहलाना चाहते हैं, महात्मा बनकर पुजवाना चाहते हैं, परंतु वस्तुतः महात्मापन स्वीकार नहीं करना चाहते। इसीसे किसी मतविशेषके आग्रही बनकर कोरे उपदेशक रह जाते हैं। सुख-दुःखकी लहरोंमें बहनेवाले, अशान्तचित्त, मायामोहित साधनहीन प्राणी-मात्र रह जाते हैं। जिस समय शरीर, मन, वाणीसे सर्वथा पृथक् आत्माका स्वरूपनिर्देश करते हुए उपदेश करते हैं, उसी समय गहराईसे देखनेपर पता चलता है, हमारी स्थिति शरीर-मनमें ही है, हम उन्हींके सुख-दुःख—मानापमानको अपना सुख-दुःख, मानापमान समझकर हर्ष-शोकको मानसिक तरंगोंमें डूबते-उतराते रहते हैं ! यह दशा शोचनीय है। इससे अपनेको बचाओ, इससे निकलकर ऊपर उठो, बस, यही पुरुषार्थ है, यही साधन है, इसीमें लगे रहो ! सच्चे साधक बनो—कहनेमात्रके सिद्ध महात्मा नहीं !

श्रीराम-जन्मभूमि

भगवान् श्रीराम भारतवासियोंके आदर्श हैं। श्रीरामको परब्रह्मका अवतार माना गया है, जो मर्यादाओंकी रक्षाके लिये अवतरित हुए। सदाचार-संस्थापन और धर्म-संरक्षण ही उनका मुख्य उद्देश्य था। वास्तवमें श्रीरामका जीवन ही भारतकी संस्कृति है। इसी कारण भगवान् श्रीरामकी कथाका प्रचार-प्रसार और विस्तार भारतीय जनमानसमें सर्वाधिकरूपसे होता रहा है। वेद, पुराण और इतिहासमें भगवान् श्रीरामकी कथाओं और लीलाओंका वर्णन सर्वत्र व्याप्त है। उनके जीवन-चरित्रकी घटनाएँ, लीलास्थल, लक्षण और उनके चिह्न जिनका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है, वे आज भी उपलब्ध हैं। इसीलिये भगवान् श्रीरामका अवतार, उनकी लीलाएँ और उनकी कथाएँ कपोल-कल्पित नहीं, बल्कि वास्तविक हैं और भारतीय जनमानसकी सर्वाधिक श्रद्धाके प्रतीक हैं।

अभी कुछ वर्षों पूर्वतक यह देश सदियोंसे गुलामीकी जंजीरोंसे बँधा था। यह संयोगकी बात थी कि पहले तो यहाँ मुसलमानोंका आधिपत्य था, बादमें अंग्रेजोंका शासन हुआ। किसी भी देशको अधिक दिनोंतक गुलाम बनाकर रखनेके लिये उसकी संस्कृति और धर्मको मिटाना आवश्यक होता था, इसका प्रयास अंग्रेजोंने भी यहाँ किया। भारतीय संस्कृतिके आधारभूत ग्रन्थ 'वेद' जिन्हें हम अनादि, अपौरुषेय और साक्षात् भगवद्वाणीके रूपमें स्वीकार करते हैं, मैक्समूलर और मेकडोनल-जैसे अंग्रेज विद्वानोंने अपना सम्पूर्ण जीवन यह सिद्ध करनेमें ही बिताया कि वेद मनुष्यद्वारा निर्मित हैं और ये अमुक समयमें बनाये गये हैं। उनका लक्ष्य था कि वेदोंमें जो हमारी अटूट श्रद्धा है, हम इसे परमेश्वरकी वाणी मानते हैं, उसको क्षति पहुँचे, पर यह कार्य इतना सरल नहीं था। इसी प्रकार कुछ शासकोंने पूर्वकालमें अपनी संकीर्ण विचारधाराके अन्तर्गत हमारे प्रमुख आध्यात्मिक स्थल, उपासना-गृह, जो इस देशकी संस्कृतिके धरोहर हैं और यहाँकी करोड़ों-करोड़ जनताकी उपासनाका केन्द्र-बिन्दु हैं, उन्हें नष्ट कर उसका स्वरूप परिवर्तित कर लिया जो वास्तवमें परस्पर मतभेद, द्वेष और वैमनस्यका बीज बन गया है। जबतक यह देश परतन्त्रताकी बेड़ीमें कसा था, तबतक इसका कोई निराकरण भी नहीं था। पर जब हम स्वतन्त्र हुए तो उन दिनों इस देशके कर्णधार और अपने देशके नेता सरदार बल्लभभाई पटेल इस ओर ध्यान गया और उन्होंने यह आवश्यक समझा देशकी जनताका मनोबल उठानेके लिये और यहाँ संस्कृतिको सुरक्षित रखनेके लिये ऐसे प्रश्नोंका समाध यथाशीघ्र होना चाहिये। यही कारण था कि तत्काल उन्हें सर्वप्रथम सोमनाथ-मन्दिर, जो पूर्वकालमें विदे आक्रमणोंद्वारा विध्वस्त कर दिया गया था, उसके पुनरुद्धा घोषणा की। यथाशीघ्र उसका निर्माण-कार्य पूरा होने भारतके प्रथम राष्ट्रपति डॉ॰ राजेन्द्रप्रसादजीने इसका उद्घा किया। दुर्भाग्यवश सरदार पटेलके निधनके बाद देशके नेताओंने इस महत्त्वपूर्ण मुद्देपर ध्यान नहीं दिया और वे अ तात्कालिक राजनीतिक स्वार्थकी सिद्धिमें लगे रहे। वास्तवं श्रीराम-जन्मभूमिके प्रश्नको राजनीतिक रूप नहीं दिया जा चाहिये। यह शुद्ध आध्यात्मिक एवं सम्पूर्ण राष्ट्रके गौरवक प्रश्न है।

श्रीराम भारतीय संस्कृतिके प्रतीक हैं और भारतवासियोंके जीवन हैं। एक बार किसीने ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजसे कहा कि 'भारतीय संस्कृति और सनातन धर्मके अनेक ग्रन्थ हैं। कितने तो वेद हैं, उपनिषद् हैं, पुराण उपपुराण और स्मृतियाँ हैं, इन सबको एक साथ कैसे पढ़ा ज सकता है? कोई एक ग्रन्थ ऐसा हो जिसे पढ़नेपर पूरी भारतीय संस्कृतिका दिग्दर्शन हो जाय।' इसपर श्रीस्वामीजीने उत्तर दि कि 'किसी एक ग्रन्थमें भारतीय संस्कृतिका दर्शन करना हो तो भगवान् रामकी कथा 'श्रीरामचरितमानस' पढ़ लो। इस एक पुस्तकसे भारतकी संस्कृति समझमें आ जायगी और इसका ज्ञान भी हो जायगा।' यह इस ग्रन्थकी महिमा नहीं बल्कि भगवान् श्रीरामके चरित्रकी महिमा है। यही कारण है कि राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीने स्वराज्यके बाद इस देशमें रामराज्यके स्थापनाकी कल्पना की थी। यह बात सर्वविदित है।

'श्रीराम-जन्मभूमि' वास्तवमें कोई मन्दिर-मसजिदका विवाद नहीं है। कारण, मन्दिर तो कहीं भी बनाया जा सकता है, इसी तरह मसजिद भी कहीं रखी जा सकती है, परंतु जन्मभूमिका स्थान बदला नहीं जा सकता। वह भी ऐसी जन्मभूमि जो साक्षात् परब्रह्म परमात्माके अवतारकी भूमि हो।

भगवान् श्रीराम पूर्णब्रह्म साक्षात् परमात्माके रूपमें अपनी सम्पूर्ण कलाओंके साथ इस पवित्र भूमिपर अवतरित हुए थे। यह जन्मभूमि करोड़ों-करोड़ देशवासियोंका दिव्य स्मृति-स्थल है, जो अति पवित्र है। जहाँ थोड़ी साधना और उपासना करनेपर भी सिद्धि प्राप्त हो जाती है और जिसके दर्शनमात्रसे अमोघ फलकी प्राप्ति होती है। यहाँतक कि जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति भी मिलती है। यह बात मनगढ़ंत या काल्पनिक नहीं, बल्कि शास्त्रकी बात है। पुराणोंमें इसके संदर्भ मिलते हैं। 'भगवान् श्रीरामकी जन्मभूमि यही है', यह भी इन पुराणोंके वचनोंसे सिद्ध होता है। स्कन्दपुराण (वैष्णवखण्ड, अयोध्या-माहात्म्य)के कुछ वचन हम यहाँ उद्धृत करते हैं, जिनसे स्वतः सब स्पष्ट हो जायगा—

तस्मात् स्थानादैशाने रामजन्म प्रवर्तते।
जन्मस्थानमिदं प्रोक्तं मोक्षादिफलसाधनम्॥

(विघ्नेश्वरके) स्थानसे ईशानकोणमें राम-जन्मस्थान है। मोक्ष आदि सभी फलोंके देनेवाले इस स्थानको राम-जन्मस्थान कहा गया है।

विघ्नेश्वरात् पूर्वभागे वासिष्ठादुत्तरे तथा।
लोमशात् पश्चिमे भागे जन्मस्थानं ततः स्मृतम्॥

विघ्नेश्वरके पूर्वमें तथा वसिष्ठ-स्थानसे उत्तरमें, लोमश-स्थानसे पश्चिम दिशामें राम-जन्मस्थान है।

यद्दृष्ट्वा च मनुष्यस्य गर्भवासजयो भवेत्।
विना दानेन तपसा विना तीर्थैर्विना मखैः॥

रामजन्मभूमिके दर्शनमात्रसे बिना दानके, बिना तपके, बिना तीर्थयात्राके तथा बिना यज्ञ किये ही मुक्ति हो जाती है तथा फिर गर्भमें नहीं आना पड़ता।

नवमीदिवसे प्राप्ते व्रतधारी हि मानवः।
स्नानदानप्रभावेण मुच्यते जन्मबन्धनात्॥

रामनवमीके दिन रामनवमी-व्रत करनेवाला पुरुष स्नान-दान और तपके प्रभावसे जन्म-मरणके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है।

कपिलागोसहस्राणि यो ददाति दिने दिने।
तत्फलं समवाप्नोति जन्मभूमेः प्रदर्शनात्॥

प्रतिदिन हजारों कपिला गौके दानसे जो फल मिलता है, वही फल जन्मभूमिके दर्शनमात्रसे मिल जाता है।

आश्रमे वसतां पुंसां तापसानां च यत्फलम्।
राजसूयसहस्राणि प्रतिवर्षाग्निहोत्रतः॥

आश्रममें निवास करनेवाले तपस्वीजनों, यावज्जीवन अग्निहोत्र करनेवालों तथा सहस्रों राजसूय-यज्ञ करनेवालोंको जो फल मिलता है, वही फल जन्मभूमिके दर्शनमात्रसे मिल जाता है।

नियमस्थं नरं दृष्ट्वा जन्मस्थाने विशेषतः।
मातापित्रोर्गुरूणां च भक्तिमुद्वहतां सताम्॥
तत्फलं समवाप्नोति जन्मभूमेः प्रदर्शनात्॥

माता-पिता और गुरुकी सदा भक्ति करनेवालों तथा ध्यानावस्थित या समाधिस्थ पुरुषोंके दर्शनसे जो फल मिलता है, वही फल जन्मभूमिके दर्शनमात्रसे मिल जाता है।

उपर्युक्त वचनोंसे तथा जन्मभूमिके प्रत्यक्ष दर्शनसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि भगवान् श्रीरामकी जन्मभूमि यही है और इसकी अमित महिमा है।

जहाँतक साम्प्रदायिक सद्भावकी बात है*, कोई भी आस्तिक हिन्दू आस्तिक मुसलमानको हृदयसे आदर देता है और इसी तरह कोई भी आस्तिक मुसलमान आस्तिक हिन्दूका भी आदर करता है। सबको अपने धर्मके अनुसार चलनेकी स्वतन्त्रता है। दो भाई एक साथ तभी रह सकते हैं, जब एक दूसरेके प्रति उनमें त्यागकी भावना हो और परस्पर समझदारी रहे। धर्म-निरपेक्षताके नामपर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातकी उपेक्षा कर देना और उसे टाल देना कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं कही जा सकती। यह तो एक प्रकारका राजनीतिक स्वार्थ है और देशकी सेवामें एक व्याघात है।

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' भगवान् श्रीरामकी यह उक्ति कितनी मार्मिक है। 'जननी और जन्मभूमि स्वर्गसे भी श्रेष्ठ है।' शास्त्रोंमें कहा गया है कि स्वर्गमें सर्वाधिक सुखभोगकी प्राप्ति होती है, जो अपने शुभकर्मोंके अनुसार

---

* यह पूर्णरूपसे तभी सम्भव है जब श्रीराम-जन्म भूमिपर बाबरद्वारा निर्मित मसजिदको हटाकर सम्मानके साथ किसी अन्य स्थानपर स्थापित किया जाय और भगवान् श्रीरामकी जन्मभूमिका उनकी स्मृति-चिह्नके रूपमें पुनरुद्धार किया जाय जिससे इस अप्रिय प्रकरणको शीघ्र भुलाया जा सके।

प्राणीको मिलता है, परंतु जन्मभूमि और जन्म देनेवाली जननीका सांनिध्य प्राप्त होनेपर स्वर्गका यह सर्वोत्कृष्ट सुख भी तुच्छ हो जाता है। कहते हैं कि भगवान्‌की तरह भगवल्लोक और भगवद्धाम भी नित्य शाश्वत और दिव्यानन्दसे युक्त है। इसलिये भक्तगण भगवद्धाममें ही निरन्तर निवास करना चाहते हैं, अन्यत्र कहीं रहना पसंद नहीं करते।

'श्रीरामचरितमानस'में स्वयं भगवान् श्रीराम जन्मभूमिकी महिमाका वर्णन करते हुए कहते हैं—

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥
जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा॥
अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥

जन्मभूमि 'श्रीराम' को अति प्रिय है और 'श्रीराम' हमा आराध्य हैं। अतः हम सभी भारतवासियोंका और इस देशके कर्णधारोंका यह परम कर्तव्य है कि इस प्राचीन मूल स्थानको सुरक्षित कर भारतीय जनमानसकी भावनाओंका समादर करें।

—राधेश्याम खेमका

श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

(इस जपकी अवधि कार्तिक पूर्णिमा, विक्रम-संवत् २०४६ से चैत्र पूर्णिमा, विक्रम-संवत् २०४७ तक रही है।)

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

'राजन्! मनुष्योंमें वे लोग भाग्यवान् हैं तथा निश्चय ही कृतार्थ हो चुके हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं श्रीहरिका नाम-स्मरण करते और दूसरोंसे स्मरण करवाते हैं।'

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस वर्ष भी इस षोडश नाम-महामन्त्रका जप पूर्ववत् पर्याप्त संख्यामें हुआ है। विवरण इस प्रकार है—

(क) मन्त्र-संख्या २८,४०,२५,००० (अट्ठाईस करोड़ चालीस लाख पच्चीस हजार)।

(ख) नाम-संख्या ४,५६,४४,००,००० (चार अरब छप्पन करोड़ चौवालीस लाख)।

(ग) षोडश नाम-मन्त्रके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी जप हुआ है।

(घ) बालक, युवक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, अपढ़ एवं विद्वान्—सभी तरहके लोगोंने उत्साहसे जपमें योग दिया है। भारतका शायद ही कोई ऐसा प्रदेश बचा हो, जहाँ जप न हुआ हो। भारतके अतिरिक्त बाहर नेपाल आदिसे भी जप होनेकी सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं।

स्थानोंके नाम—

अंजनगाँव, अंदेवली, अंनदपुर, अंबाड़ा, अंबालासिटी, अकबरपुर, अकलकतरा, अकोढ़ा, अक्कलकोट, अगौ अघोड़ा, अचलपुर, अजनेरा, अजबपुरा, अजमेर, अजितग अथाईखेड़ा, अधीया, अधोया, अनधौरा, अनसा अनुग्रहनगर, अपरबाजार, अपानदाँ, अमगवाँ, अमतगाँ अमनपुर, अमरगढ़, अमरपुर, अमरावती, अमलो अमीनगरसराय, अमीरनगरसराय, अमृतसर, अमृतपु अयोध्या, अरई, अरड़का, अरनिया चौहान, असू अलिराजपुर, अलीगंज, अलीगढ़, अल्लागंज, अशोकपु असदपुर, असनावर, असलोदा, अहमदनगर, अहल्यापु अहेर, अहेरी, आंकिन आंधी, आंबले, आगरा, आनन्दगाँव आबूनगर, आरंग, आरा, आलमबाग, आसपुरा, आसरानग इंगोहटा, इंडलोद, इंदिरानगर, इंद्राना, इंदौर, इचलकंर इदरीसपुर, इब्राहीमाबाद, इमिलिया, इरोद, इलाहाबा इस्माइलगंज, इस्लामपुर, ईश्वरपुरसाई, उकाचा, उच्चैन, उज्जै उटीला, उत्साहनगर, उदनाबाद, उदयपुर, उदयाखेड़ी, उधमपु उनीदा, उपहरटी, उपाध्यायटीला, उमरियाँ, उमरेड, उम्दा, उ उल्हासनगर, ऊन, ऊना, ऋषभदेव, ऋषिकेश, एकइल, ए ओकातिया, ओझाछपरा, ओढनपुर, ओड़ेकेरा, ओमनगं औढनपुर, कंजर, कंठीलो, कंवाली, कन्नावा, कन्नौ कन्हौली, कच्छ, कजाड़ी, कटड़ाचढतसिंह, कटनी, कट कटरापुरवा, कटिहार, कठवत, कठौता, कडूर, कदमकु कनकापुर, कनासिया, कपासन, कमताना, कमलानग

करंगामाल, करणपुरककेन, करवाड़, करसोंग, कराड़, करीमनगर, करुई, करुवाडांगा, कर्णकुटी, कर्णगढ़, कर्णपुर, कर्वी, करेली, करैहापारा, करौली, कलकत्ता, कलक्टरगंज़, कल्याणपुर, कल्याणपुरी, कल्याणबीघा, कविलपुर, कसहा, कसहापूर्व, कस्तूरबानगर, कहारबाड़ी, कांगपोकपी, कांटावागी, कान्ड्रा, काँधला, काँवट, कांसड़ी, कादरगंज, कादीचक (बाढ़), कानपुर, कारंजा, कालकुण्ड, कालन्द्री, कालवसिया, कालिमाढी, कालीबाग, काशीमठ, किरावली, किलोदा, किशनगंज, किशोरगंज, कीताडीह, कीरीबूरु, कुंजपुरा, कुंडल, कुंडवाचैनपुर, कुँवरपुर, कुचामन, कुटिलीया, कुमारधुर्वी, कुलशेखरम, कुसमरा, कुसहाँ, कूचाघासीराम, कूचापरमेश्वरीदास, केंदुआ, केउटी, केकड़ी, केडलगंज, केदारनगर, केरपानी, केवलारी, केशवपुरम्, कैथल, कोकर, कोचीन, कोटद्वार, कोटरी, कोडला, कोटा, कोठी, कोनाग, कोबिल, कोमाख़ान, कोल्हापुर, कोहीर, कौलिया, कृष्णनगर, खंडवा, खंभात, खगडिया, खजवा, खजुरीरुण्डा, खजुहा, खदीमा, खड्गपुर, खड़ौठ, खमगाँव, खरकड़ी कलां, खरगोन, खरदानेकला, खरसिया, खरहरी, खरेला, खलारी, खलीलाबाद, खाम, खार, खिरनी, खिरियाबाँट, खींवसर, खुँटपला, खुरहानमिलिक, खुरुसलेंगा, खेड़ापतिनगर, खेड़ीराम, खतराजपुर, खेतोलाई, खेरोट, खैराली, खोरीडीह, खौड़, गंगापुर, गंगापुरसिटी, गंगालूर, गंगावती, गडैरामा, गढ़बसई, गढ़मोरा, गढ़ारोड, गणेशपुरा, गणेशबाजार, गनेड़ी, गरनियाँ, गरोठ, गल्लाटोला, ग्वाड़, ग्वालियर, गांगगोधन, गाँधीनगर, गाजीपुरा, गार्डेनरिच रोड, गिरिजास्थान,. गिरिडीड, गिल्केरा, गीतानगर, गुजरा, गुठिना, गुडगुर्की, गुडेवल्लूर, गुढ़ा, गुड़गावाँ, गुना, गुर्भामारकुण्डी, गुरसराय, गुराडियाँ जोगा, गुरान, गुरुग्राम, गुलजारपुर, गुलबर्गा, गुलबार, गुलबारकोठार, गुलाबपुरा, गैसड़ीबाजार, गोड़हिया, गोड़हिया नं० १, गोनौन, गोपालगढ़, गोरखपुर, गोरखप्रासी, गोलाबाजार, गोविन्दगढ़, गोविन्दपुरी, गोहनारोड, गौन्डाला, गौहाटी, घनश्यामपुर, घरौंदा, घरौन, घाटाशिला, घाटासेर, घोटा, घौंघोर, चंडरकी, चंडीगढ़, चंडेश्वर, चंदला, चंदा, चंदेरी, चंदौसी, चंद्रनगरकामट, चंद्रपुर, चंद्रहटी, चम्पावत, चक, चकगौरापट्टी, चक्रियारोड, चनवथ, चमाला, चरौदा, चसगवाँ, चहली, चाँडिल, चाँदई, चाँदपुरकला, चाँदवावडी, चापाखोवा, चाम्बी, चालिसगाँव, चावन्डिया, चिंचोली, चित्तूपुर, चित्तौड़गढ़, चित्रगुप्तनगर, चिन्हारा, चिरवारी, चिराँवडा, चिराँवद, चिलकहर, चिलमिल, चूड़ी अजीतगढ़, चूरु, चैनपुर, चौपड़ा, चौपारन, चौबेका परसियाँ, चौरई, छकना, छत्रपुरा, छपरा, छापड़ा, छावनी, छिंदवाड़ा, छिनका, छुरा, जंगलोह, जंबू, जगतपुर, जगदीशपुर, जगनेर, जगनेवा, जगम्मनपुर, जग्गूपुरा, जनकपुरी, जबरासर, जबलपुर, जबेरा, जमनापार, जमलापुर-ध्यान, जमशेदपुर, जमाँनियाँ, जमुआँ, जमुनानगर, जयनगर, जयपुर, जरहाडीह, जलवेदा, जलेश्वर, जहाँगीराबाद, जहाजपुर, जारवल, जाजोता, जाजोद, जामजोधपुर, जामूगुरी, जालंधर, जालंधर छावनी, जालना, जालोर, जालौरियाका वास, जुक्कल, जुनामोढा, जेवरा, जैतपुर, जोगिपारा, जोधपुर, जोबनी, जोरातराईपर्वत, जोरावरडीह, जोशीपाड़ा, जौनपुर, जौरा, ज्यूनियाँ, ज्यौलीकोट, झड़गाँव, झाँसी, झाला, झींली, झीकेपानी, झुगरी, झुमरीतलैया, झूमराखंड, झोंकर, झोंडगे, टंगिया, टनकपुर, टपरिया, टहरौली, टिगरिया, टूड़ावेह, टेहटा, टैगोरपार्क, टोलशिवनराय, ठाठीपुर, डगरहा, डड़वाखुर्द, डबरेड़ा, डरी, डांगावास, डाकपत्थर, डाकाचाका, डाबलाकला, डालीगंज, डाह, डिप्टीगंज, डिब्रूगढ़, डिभियागर्भे, डूड़राही, डुमरवार, डुमाईगढ़, डूंगरपुर, डेहरी, ढकियांतिवारी, ढालपुर, ढोसर, तबड़ा, तमकुड़ा, तलाड़ा, ताजपुर, तारानगर, तालबेहट, तालीकोटि, ताहाचल (नेपाल), तिकुनिया, तिकुनियाखीरी, तितरोद, तिरुनेलवेली, तिलकनगर, तीखमपुर, तीतरिया, तुनि, तुसरा, तेलियासर, तेल्हारा, तोंडापुर, तोरनी, थड़ौली, थतिया, थाणे, थिरौला, थोई, दच्छन, दमाड़िया, दर्रा, दलेगा, दहेन्डा, दादपुर, दादर, दादरी, दामोदरनगर, दारिमाधव, दालमीसैण, दापोरी, दिदावली, दिल्ली, दिलोखरा, दीवाननगर, दुर्ग, दुर्गापुर, दुलावनी, देअरालीमसहार, देरबेकेरा, देव, देवकली, देवखेरा, देवखोह, देवगढ़, देवजरा, देवढी, देवनगर, देवप्रयाग, देवमई, देवरिया, देवरी, देवरीनाहर मऊ, देवरीरानीपुर, देवीपुरा, देशभटली, देहरादून, देहली, दोनपाह, दोहात, दोहाहांगडी, दौलतगंज, दौसा, द्वारिकापुरी, धनगाँवा, धनबाद, धनपुर, धनाती, धरमपेठ, धरहरा, धिसानामी,

धीरदेसर, धीरदेसपुरोहितान, धेपुरा, धोबीवराड, धौलपुर, नई अलीपुर, नई दिल्ली, नगलाकंचन, नगलामुर्ली, नजफगढ, ननौरा, नयागढिया, नयागाँव, नरगोड़ा, नरनी, नरपेटारोड, नरवर, नरसिंहगढ़, नरसिंहपुर, नरहम, नरही, नरेला, नल्लाजर्ला, नल्लरेज़ेरलर, नवगछिया, नवनीतनगर, नवरंगपुर, नवरगाँव, नवलगढ़, नवसारी, नवादा, नवाँनगर, नांदूरा, नांदेड, नागचला, नागपुर, नाचनी, नाथद्वारा, नाथेड, नापासर, नायला, नारनौल, नारायणनगर, नारेहड़ा, नावडीह, नावला, नावलीवृन्दावन, नाहन, नाहरांवाली, निटर्रा, निभौर, निरपुड़ा, निरमण्ड, निवाई, निवादा, नीम्बूचौड, नेपालगंज, नेपियर-टाउन, नेवढी, नेहरा, नेहरूनगर, नैनोद, नैनीताल, नैमिषारण्य, नोरुड़ा, नौगवाचकडिया, नौताना, नौरोजीनगर, न्यूकिशोरगंज, न्हाती, पंचवटी, पंचेवा, पंजागुटरा, पंजेरी, पंजाखरा, पंडरीखुर्द, पंडरीतराई, पंडरीबुजुर्ग, पंडारा, पंडितपुर, पंतनगर, पकरहट, पचरुखिया, पचौरी, पचौरीगहमर, पजावा, पटना, पटनीबाजार, पटेलनगर, पटोरी, पटोरीबाजार, पट्टुलकी, पटौर, पद्मा, पनैला, परवाणू, परसरमा, परसा, परसिया, परासीखुर्द, पलवल, पलसी, पलियाकलाँ, पसगवाँ, प० डोरी, पहाड़गंज, पहुँवा, पांगरी, पाँचलीखुर्द, पांडुकेश्वर, पांडेयटोला, पाटवा, पाटलिपुत्र, पानापुर, पानीगाँव, पारु, पालकोट, पालपा, पालम, पालवी, पाली, पालीरोड, पाले, पितीवाड़ा, पिथौरागढ़, पिपलौदा, पिलकिछा, पिलखुवा, पीताम्बरपुरा, पीपरपाँटी, पीपरीउमरन, पीपरीगहरवार, पीपरोली, पीपलाज, पीपली आचार्यान्, पीपीगंज, पीरवा, पीलीवंगाली, पुंडरा, पुणरु, पुनहा, पुनहाना, पुरवालियान, पुरामटोला, पुरी, पूनसीसर, पूरनियाँ, पेशोक, पैंची, पैकिन, पैठत, पैनियाँहिम्मत, पोखरैड़ा, पोडी, प्रतापगढ़, प्रतापनगर, प्रह्लादपुरी, प्रीतमपुरी, प्रेमधामकैल, प्रेमपुरा, फरदहा, फरीदाबाद, फलोदी, फागी, फिरोजाबाद, फीलखाना, फूलपुररामा, बकवाँ, बकवाबुजुर्ग, बगरुच्छ बाजार, बगरू, बगही, बछामढ़ी, बड़गाँव, बड़गाँवरोड, बड़वानी, बड़ाजलगाँ, बड़ामहादेव, बड़ैरा, बड़ौत, बदनपुर एरिया, बनगाँव, बनत, बनवारी-बसन्त, बनीडीह, बभनी, बम्बई, बम्हनी, बरदापालीम, बरला अलीगढ़, बराखड़कलाँ, बराराबुजुर्ग, बरिगवाँ, बरेटा, बरेरा, बरेली, बरोरी, बरौंधा, बलवीरनगर, बलरामपुर, बलुआँ, बसन्त, बसन्तपुरी, बसुका, बहराइच, बहरागोड़ा, बहेराकलाँ, बाँका, बाँगरोद, बाँदरी, बाँसवाड़ा, बाँसी, बागा, बागोरी, बाड़ी, बाढ़, बानापुरा, बानीपुर, बानीयम बाड़ी, बाबरमंडी, बाबरपुरमंडी, बाबूबाजार, बारा, बाराबंकी, बारू, बाली, बालीबंध, बालेर, बालेतरा, बासदेवासिंधिया, बिजाड़, बिरहाना, बिलग्राम, बिलौनाकला, बिशुनपुर, बिशुनपुरा, बिहुआ, बीकानेर, बीदर, बीना, बीबीगंज, बीसुनपुर, बुडली, बुन्देली, बूरमाजारा, बेतियाहाता, बेनीकामा, बेलनगंज, बेलरगाँव, बेलियाघाटा, बेलूडीहा, बोकठा, बोदरी, बोनियापट्टी, बोरादह, बोराबड, बौलाई, ब्रह्मपुर, ब्रह्मपुरी, ब्राह्मणवाड़ाथड़ी, ब्यावर, भंडरी, भँवरगढ़, भगदरी, भगोसामखदूमपुर, भगौरा, भगौसा, भटकरजा, भटवा, भद्रपुर, भदैनी, भदौरा, भरकच्चो, भरुआसुमेरपुर, भरुच, भरैला, भलन्दा, भवानीमंडी, भाटापारा, भादरा, भाभानगर, भिंडासरी, भिलाई, भीमगंजमंडी, भीममंडी, भुरकुण्डा, भुल्लाराई, भूपालपुरा, भूरंगखेल, भूरमण्डी, भेदगाँव, भेलवाडीह, भैंसवाबाजार, भैंसा, भैंसाझार, भैरहवाँ, भैरोगंज, भैंसाना, भोजपुर, भोजूडीह, भोपा, भौंडा, भौती, भ्रमरपुर, मंगलाज, मंजेश्वर, मंजोखरा, मंदर, मंदलाली, मंदसौर, मंडी, मंडीपाड़ा, मउदहा, मकरोनियाँ, मखमेलपुर, मगरापार, मटिहरा, मडलौंडा मणिपुर, मदनगंज, मद्रास, मदुराई, मधुबनी, मधुपुर, मननपुरमोरसंड, मनिगांव, मनीमाजरा, मनुस्यारी, मरहतिया, मरैला अकबरपुर, मलकीपुर, मलकलीपुर मलकाजगिरि, मलगँवा, मलसीसर, मल्लीताल, मलारनाचौड़, मवइया, मवई, मवई-बुजुर्ग, महतानी, महना, महनियावास, महम, महराना, महावीरनगर, महादेवाँ, महाराणाप्रतापनगर, महिन्दवारा, महुआ, महुआखेड़ा, महुआरा, महुडर, महूकलाँ, महूनाका, महौली, मांगरौली, मांडल, मांडा, माछरा, माधवगंज, माधवपुर, माधवपुरी,

माधोपुर गोविन्द, मानसमण्डल, मानसा, मामूभान्जा, मायना, मारवाडासेकी, मालपुर, मालयौन, मालवीयनगर, मालाकोली, मलिनियाँदिरा, मालीपुर, मालेरकोटला, मिन्डासरी, मिरजानहाट, मिरिक, मिल्की, मीनापाड़ा, मीरपुर, मीरपुरसिरोही, मुण्डरदेही, मुगलसराय, मुजफ्फरपुर, मुड़ीवाड़ा, मुत्तौर, मुरकुण्डा, मुरलीचन्दना, मुरहदी, मुरादनगर, मुरादाबाद, मुरार, मुरी, मुरैना, मुल्लापुर, मुहम्मदाबाद, मुहम्दाबाद गोहना, मुण्डी, मूनस्यारी, मूरतपुर, मूली, मेंहदी, मेवली, मेहकर, मेहसाना, मैठानी, मोजरी, मोठीलार, मोतीझील, मोतीनगर, मोर्शी, मोहाना, मौघिया, मौरडू, म्याऊ, यमुनानगर, येवदा, येवला, रंगोहटा, रंजीतनगर, रघुनाथपुर, रजउर, रजुराबाजार, रठेरा, रतननगर, रतनदास, रतलाम, रबड़हरा, रबपुरा, रबपुरापाली, रमनीपुर, रमपुरवा बाजार, रहुआसंग्राम, रांगिया, रांची, राउतपुर, राउरकेला, राजनाँदगाँव, राजपिपरी, राजमहल, राजाजीनगर, राजापुर, राजेगाँव फार्म, राठधना, राणीसती रोड, राणेवेन्नूर, रामकोट, रामगढ़, रामगढ़कैंट, रामगढ़ी, रामगाँव, रामगुड़ीपारा, रामचौरा, रामतीर्थ, रामनगर, रामपुरकलाँ, रामपुरा, रामानन्दनगर, रायथला, रायपुर, रायसिंहनगर, रालैया, रावत-भाटा, रावतसर, रासना, रासीका डेरा, रुड़की, रुधौली, रेवाड़ी, रोपड़, रोसड़ा, रौंसरा, रौंसीपुरखुर्द, रौनियाँ, लंका, लक्ष्मणगंज, लक्ष्मणबाग, लक्ष्मीनगर, लखनऊ, लखनपुर, लखनौडीह, लखोदिया, लगरगवाँ, लतीफपुर, लदूना, ललितपुर, लवनापार, लवाइच, लश्कर, लाइनाबाजार, लाखनडिहरा, लागलेरी, लाडनूँ, लातूर, लालगंज, लालगढ़, लालसी, लालाछपरा, लावन, लुहारी, लोइसिंहा, लोइंग, लोहारी, लोहारपुरा, लौहर फरना, वजीरपुर, वामोरीशाला, वाराणसी, विक्रमपुर, विकासनगर, विकोली, विक्रोती, विदिशा, विमड़ी, विमौती, विरार, विरोंधी, विवेकानन्दपुरी, विशौनी, विश्वनाथपुर, विष्णुपुर, विष्णुपुरी, वेराघाट, वैहबलपुर, वोरावद, वोलायखुर्द, व्रजघात, व्यंकटेशनगर, व्यवहार बाग, शंकरनगर, शंकरपुर, शंकरबाग, शंकर बिगहा, शकरा, शकूरबस्ती, शबरी-आश्रम, शरहना, शहडोल, शहद, शहरना, शांतीनगर, शादीपुर, शास्त्रीनगर, शाहजहाँपुर, शाहदरा, शाहपुरतहका, शाहबाद मारकंडा, शाहाबाद, शाहोपुर बरमा, शिकारपुर, शिकोहाबाद, शिरूर, शिवगंज, शिवाजीनगर, शुभकहर, शेगाँव, शेटगेरी, शेवतर, शेरुणा, शोकहरा, शोलागुडी, श्यामाश्रय, श्रीकृष्णपुरमल्ला, श्रीगंगानगर, श्रीनगर, श्रीनगरपुरी, श्रीरामपुर, श्रीविद्यानगर, श्रीवैकुण्ठम्, श्रीशिरनीया, संगरिया, संडीला, संतोषीपारा, संतोषीपारा-धुरा, संभलपुर, संभाजीनगर, सइतियापुर, सकरा, सगवाली, सगासपुर, सघोट, सढ़ोरा, सतना, सतारा, सथरा, सदूलगंज, सनईचौराहा, सनखेड़ा, सपोटरा, सफीपुर, सफीलगुड़ा, सराड़ा, सर्रा, सरीला, सरोजनीनगर, सलेम, सलेमपुर, सलैया, सवाई, सवाईमाधोपुर, सहपऊ, सहसापुर, सहारनपुर, सांकरी, साँगानेर, सांगारवेड़ा कला, साकेत नगर, साखरवाड़ी, साठवाँ, साड़म, साधपुर, साफियाबाद, साल्नेर, साल्वीबाखल, साल्मिपुर, साल्हेघोरी, सावनेर, सावरमती, सासन, सासाराम, सिंघल, सिकरावी, सिधिया, सिद्धबरौलिया, सिमरी, सिमरोल, सिरोही, सिरौंज, सिवनी, सिवहारा, सीकर, सीतामढ़ी, सीतामढ़ीबाजार, सीथल, सीसवाली, सीसोहार, सुंदरपुर, सुगराखंड, सुठालिया, सुथारोका वास, सुदामानगर, सुदामापुरी, सुनरमा, सुनाम, सुनाफाट, सुपौल, सुभाषबाग, सुरेन्द्रनगर, सुरेबान, सुलह, सुल्तानपुर, सुल्तानी, सूरत, सूरा, सूलिया, सेंठा, सेंदुआर, सेऊ, सेखुई, सेमरा, सेमरौर, सेवर, सेहरी, सोजत, सोतीटोला, सोधेटोला, सोनपुर, सोनपुरा, सोनपेठ, सोनीपत, सोनीहरलाल, सोफ्ता, सोरमपुर, सोलापुर, सोहना, सौरईयाँ, स्थाणा, स्नेहनगर, स्वाल्पा, हताईखेड़ा, हथीयह, हनुमन्ती, हरदाग, हरनी, हरपुरखेड़ी, हरगूलालरोड, हरिपुर, हरिद्वार, हरिनगर, हरिपुरडीहटोल, हरिहरपुरबैदौलिया, हरीहर, हरीपुरनायक, हसुआ, हाँफा, हाजीपुर, हाथरस, हावड़ा, हास्पीटल, हिंगोली, हिंगौनिया, हिंडोरिया, हिंडौनसिटी, हिंदूवाड़ा, हिब्बा, हिम्मतगंज, हिसार, हीनूँ, हीरावाडी, हुड़राही, हुमायूँपुर, हेरुल, हैठीवाली, हैदराबाद, होलियाकावास, होशियारपुर, होसिर, ९९ ए०पी०ओ० ।

* * *

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

आज सारे संसारमें जीवनकी जटिलताएँ बढ़ती जा रही हैं। अधिकतर लोग अपनी असीमित भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेमें संलग्न हैं। वे अपने क्षुद्र स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरोंका अहित करनेमें भी कोई संकोच नहीं करते। परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, कलह और हिंसाके वातावरणमें अशान्त स्थिति है। भारतसे बाहर अन्य देशोंमें तो यह स्थिति और भी भयानक है। अधिकतर लोग मानसिक तनावके शिकार बनते जा रहे हैं। कलिका प्रकोप सर्वत्र व्याप्त है। प्रश्न यह होता है कि इस स्थितिका समाधान क्या है ? ऋषि-महर्षि, मुनि और शास्त्रोंने इस स्थितिको अपनी अन्तर्दृष्टिसे देखकर बहुत पहलेसे यह घोषित कर दिया है कि 'कलिकालमें मानव-कल्याण और विश्व-शान्तिके लिये श्रीहरिके नामके अतिरिक्त कोई दूसरा सुलभ साधन नहीं है।' इसीलिये यह बात जोर देकर शास्त्रोंमें कही गयी है कि 'भगवान् श्रीहरिका नाम ही एकमात्र जीवन है। कलियुगमें इसके अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा—चारा नहीं है'—

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृहन्नारदीयपुराण)

हमारे शास्त्रोंके अतिरिक्त अनुभवी संत-महात्माओंने भी भगवान्के नाम-स्मरण-जपको कलियुगका मुख्य धर्म (ऐहिक-पारलौकिक कल्याणकारी कर्तव्य) माना है। इतना ही नहीं, जगत्के समस्त धर्म-सम्प्रदाय भी किसी-न-किसी रूपमें भगवान्के नाम-स्मरण-जपके महत्त्वको प्रतिपादित करते हैं। नामके जप-स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई भी नियम नहीं है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने भी कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।

'हे भगवन्! आपने लोगोंकी विभिन्न रुचि देखकर नित्य-सिद्ध अपने बहुत-से नाम कृपा करके प्रकट कर दिये। प्रत्येक नाममें अपनी सारी शक्ति भर दी और नाम-स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई नियम भी नहीं रखा।'

विपत्तिसे त्राण पानेके लिये आज श्रीभगवन्नामका स्म ही एकमात्र उपाय है। ऐसा कौन-सा विघ्न है, जो भगवन्ना स्मरणसे नहीं टल सकता और ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो मिल सकती ? इस कलिकालमें मङ्गलमय भगवान्के आश्र लिये भगवन्नामका सहारा ही एकमात्र अवलम्बन है। अतः भारतवर्ष एवं समस्त विश्वके कल्याणके लिये, लौकि अभ्युदय और पारलौकिक सुख-शान्तिके लियें तथा साधकों परम लक्ष्य एवं मानव-जीवनके परम ध्येय भगवान्की प्रा लिये सबको भगवन्नामका स्मरण, जप, कीर्तन करना चाहि

अतः 'कल्याण'के भाग्यवान् ग्राहक-अनुग्राहक, पाठ पाठिकाएँ स्वयं तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे प्रतिवर्ष भगवन्नाम- करते-कराते आये हैं।

गत वर्ष तीस करोड़ नामजपकी प्रार्थना की गयी प्रतिवर्षकी भाँति यद्यपि इस वर्ष भी लोगोंने बड़े उत्सा भगवन्नामका जप किया है तथा अट्ठाईस करोड़ चा लाखसे कुछ अधिक मन्त्र-नाम-जपकी सूचनाएँ वि स्थानोंसे हमें प्राप्त हुई हैं, जिन्हें इसी अङ्कमें अन्यत्र प्रका किया गया है। पिछले वर्ष यह नाम-जपकी संख्या ला साढ़े चौबीस करोड़ थी। अधिक जपके लिये हमारी प्रार्थ यद्यपि जपकी संख्या कुछ अधिक बढ़ी है तथापि वह करोड़ नहीं पहुँच पायी है। अतः आप महानुभावोंसे पुनः वर्ष तीस करोड़ भगवन्नाम-मन्त्र-जपकी प्रार्थना की जा रही यह नाम-जप और अधिक उत्साहसे करना तथा कर चाहिये, जिससे भगवन्नाम-जपकी संख्यामें उत्तरोत्तर वृद्धि हो

निवेदन है कि पूर्ववत् कार्तिक शुक्ल पूर्णिमासे जप आ किया जाय और चैत्र शुक्ल पूर्णिमा वि॰ सं॰ २०४८ तक किया जाय। पूरे पाँच महीनेका समय है।

भगवान्के इस प्रभावशाली नामका जप स्त्री-पु ब्राह्मण-शूद्र सभी कर सकते हैं। इसलिये 'कल्याण' भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर विनय प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक सबके परम कल्या भावनासे स्वयं अधिक-से-अधिक जप करें और प्रेमके विशेष चेष्टा करके दूसरोंसे भी जप करवायें। नियमादि स भाँति ही हैं—

१-जप प्रारम्भ करनेकी तिथि कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा (दिनाङ्क २।११।१९९० ई०) शुक्रवार रखी गयी है। इसके बाद भी किसी भी तिथिसे जप आरम्भ कर सकते हैं, परंतु उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ल पूर्णिमा सं० २०४८ को कर देनी चाहिये। इसके आगे भी अधिक जप किया जाय तो और उत्तम है।

२-सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३-एक व्यक्तिको प्रतिदिन उपरिनिर्दिष्ट मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप तो अवश्य ही करना चाहिये, अधिक तो कितना भी किया जा सकता है।

४-संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे अथवा अंगुलियोंपर या किसी अन्य प्रकारसे भी रखी जा सकती है। तुलसीकी माला उत्तम होगी।

५-यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समयपर आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय—सोनेके समयतक इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

६-बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो बादमें अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

७-संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं; उदाहरणके रूपमें—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—सोलह नामके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिमन्त्रजपकी संख्या १०८ होती है, जिसमें भूल-चूकके लिये ८ मन्त्र बाद कर देनेपर गिनतीके लिये एक सौ मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिन जो भाई-बहन मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ल पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर हमें अन्तमें सूचित करें। सूचना भेजनेवाले सज्जन जपकी संख्याकी सूचना ही भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि नहीं। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

८-प्रथम सूचना तो मन्त्र-जप प्रारम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र पूर्णिमातक जितनी जप-संख्याका संकल्प किया हो उसका उल्लेख रहे और दूसरी बार जप आरम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या उल्लिखित हो।

९-जप करनेवाले सज्जनको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव नष्ट हो जायगा। स्मरण रहे, ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक होकर और प्रभावक बनते हैं।

१०-सूचना संस्कृत, हिन्दी, मराठी, मारवाड़ी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी, उर्दूमें भेजी जा सकती है।

सूचना भेजनेका पता—

'नामजप-कार्यालय', द्वारा—'कल्याण'-सम्पादकीय-विभाग, गीताप्रेस, पो०-गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर)

प्रार्थी—
राधेश्याम खेमका
सम्पादक-'कल्याण'

आवश्यक निवेदन

'कल्याण'के गत सौर श्रावण, वि०-सं० २०४७ (अगस्त १९९०)के पाँचवें अङ्ककी पृष्ठ-संख्या पर ग्राहक-संख्या-परिवर्तनके विषयमें इस आशयकी सूचना दी गयी थी कि 'आगामी सौर भाद्रपद, वि २०४७ (सितम्बर १९९०)के अङ्कसे 'कल्याण'के समस्त ग्राहकोंके पते प्रदेश-क्रमसे आवंटित का अङ्कके रैपरपर कम्प्यूटरद्वारा नयी ग्राहक-संख्या अङ्कित की जायगी', किंतु कतिपय कारणोंसे तदनुसार ग्राहक-संख्या' अब सौर भाद्रपद, वि०-सं० २०४७ (सितम्बर १९९०)के अङ्कसे आवंटित नहीं क सकेगी। परंतु निकट भविष्यमें शीघ्र ही इस योजनाके, आगामी किसी अङ्कसे क्रियान्वित हो जानेकी आ

अतः समस्त ग्राहक महानुभावोंसे पुनः निवेदन है कि वे आगामी किसी मासके अङ्कपर कम्प्यू छपी अपनी उस नयी ग्राहक-संख्याको देखकर भविष्यमें समस्त प्रकारके पत्राचार और आवश्यक प्रयो कृपया उसे अवश्य नोट कर लें और सदैव अपनी 'नयी ग्राहक-संख्या'का ही प्रयोग करें। इस यो सफलताके लिये 'कल्याण'को आप सभी ग्राहक महानुभावोंका सक्रिय सहयोग अपेक्षित एवं मूल्यवान है

व्यवस्थापक—'कल्याण' गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३

* * *

Sādhaka-Sañjīvanī

(A commentary by Swami Sri Ramsukhdasji Maharaja)

on

ŚRĪMADBHAGAVADGĪTĀ

It is the ninth edition of the book presented before its readers. A marve commentary, unravelling the social, religious and philosophical ravellings with command and authority. A worth-reading treatise, 1166 full pages, complete Gītā in letters on the last four additional pages, 18 coloured illustrations with 17 more sketches, make the book very valuable. In four coloured wrapper under a plastic makes it quite decorative. Having a nominal price of Rs. 50.00, the book is worth in any library domestic or otherwise.

* * *

ŚRĪMADBHAGAVADGĪTĀ

(Tattva-Vivecanī Tīkā by Sri Jayadayal Goyandka)

The sixth edition of Tattva-Vivecanī Tīkā is out of press now. The bold type, bea and accurate printing have enhanced its utility. It is free from the shortcomings o previous editions.

Gītā is decidedly the cream of Indian metaphysical knowledge and this Tīkā with even the most delicate problems of socio-philosophical nature while explaining subject matter of the book. Containing 736 pages with four beautiful coloured illustr along with many more line-sketches, the book has become very illustrating comprehensive. The four-coloured wrapper under a plastic jacket adds its beauty attraction. With a nominal price of Rs. 20.00, it is unique.

The Ma
Gita Press, Gorakhpur—27

* * *

कल्याण

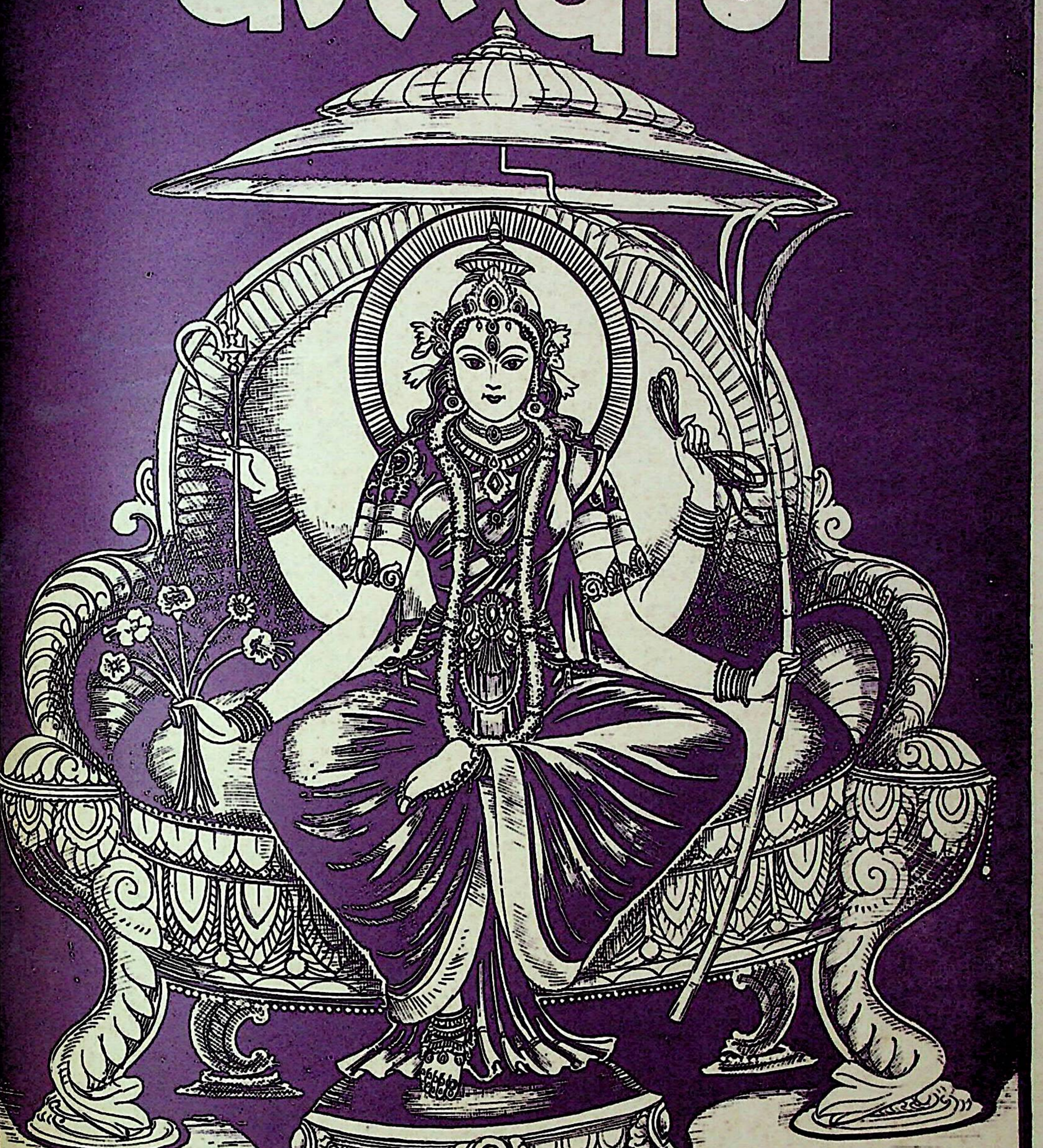

वर्ष ६४

संख्या ७

भगवान

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, वि॰ सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, अक्टूबर १९९०

विषय पृष्ठ-संख्या
१-व्रजवासियोंद्वारा गिरिराज गोवर्धनकी प्रदक्षिणा ६०९
२-कल्याण (शिव) ६१०
३-गो-पूजन ६११
४-शोकनाशके उपाय (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ६१४
५-मानस-निरोध (पूज्यपाद अनन्तश्री ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ... ६१७
६-है नीको मेरो देवता कोसलपति श्रीराम [कविता] ... ६२०
७-चरम और परम उपासनाका सुधा-मधुर-फल—भगवत्प्रेम (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ६२१
८-देवालय-संरक्षण (श्रीजयगोपालजी सिंहल) ६२४
९-साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ६२६
१०-खान-पानमें संयम (पं॰ श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ६३०

विषय पृष्ठ-
११-देवहूति-कर्दम-चरित्र (संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज) ....
१२-गौमाताका अभिनन्दन [कविता] (श्रीजगदीशचन्द्रजी शर्मा, एम्॰ए॰, बी॰एड्॰) ....
१३-राम ते अधिक राम कर दासा (श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री, रामायणी, साहित्यरत्न) ....
१४-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ....
१५-दीपावली (विद्याधुरीण पं॰ श्रीजौहरीलालजी शर्मा सांख्य-योगाचार्य) ....
१६-देवताओंकी माता अदिति ....
१७-अमृत-बिन्दु ....
१८-पढ़ो, समझो और करो ....
१९-मनन करने योग्य (डॉ॰ श्रीरामकृष्णजी सर्राफ) ....
२०-रत्न-पिटारी ....

चित्र-सूची

१-राजराजेश्वरी भगवती महात्रिपुरसुन्दरी (इकरंगा) आवरण-
२-व्रजवासियोंद्वारा गोवर्धनकी परिक्रमा (रंगीन) मुख-

प्रत्येक साधारण
अङ्कका मूल्य
भारतमें २.०० रु॰
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

कल्याणका
मूल्य
(डाक-व्यय
भारतमें ४४.०
विदेशमें
अथवा १०

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

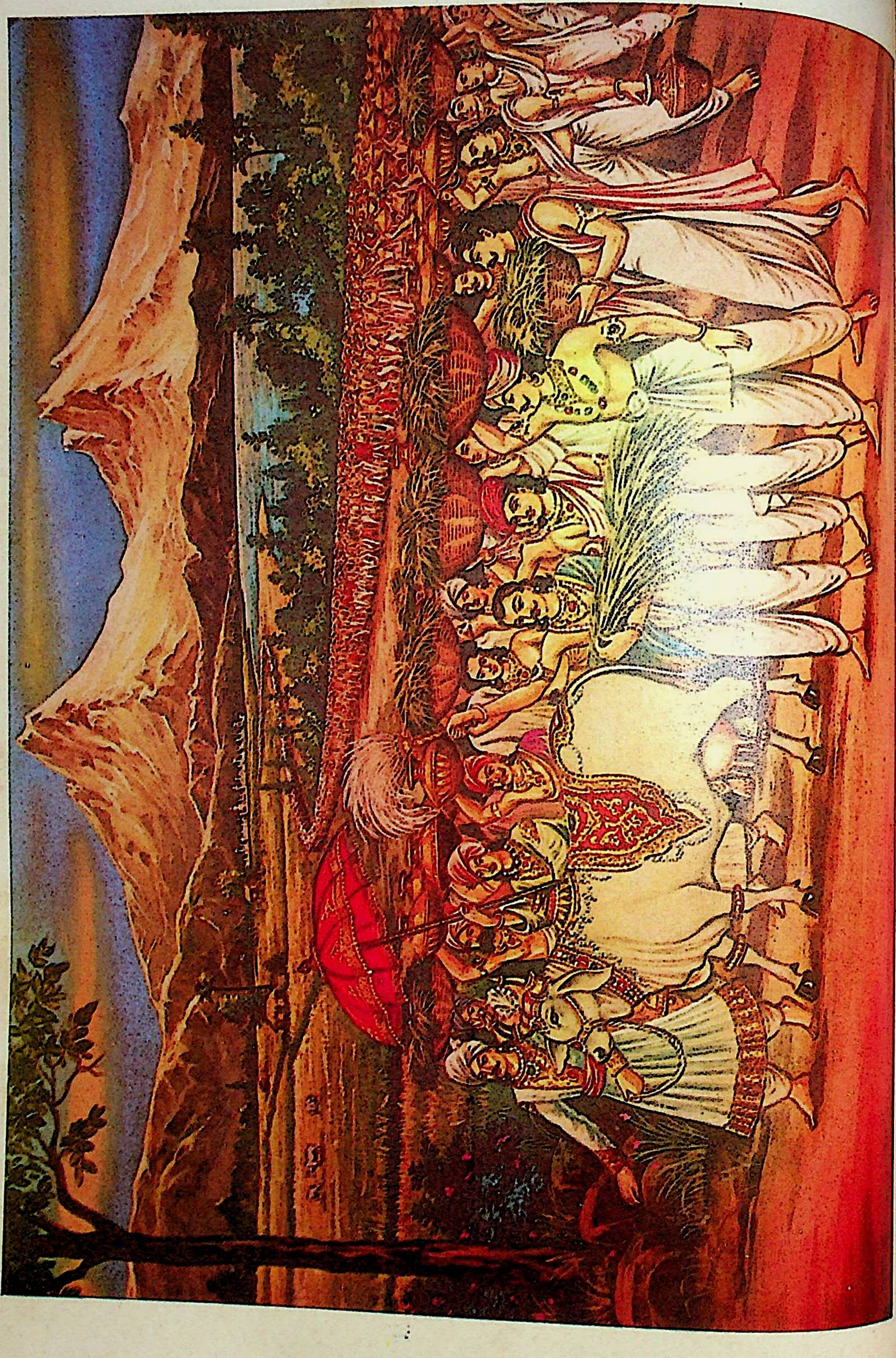

पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

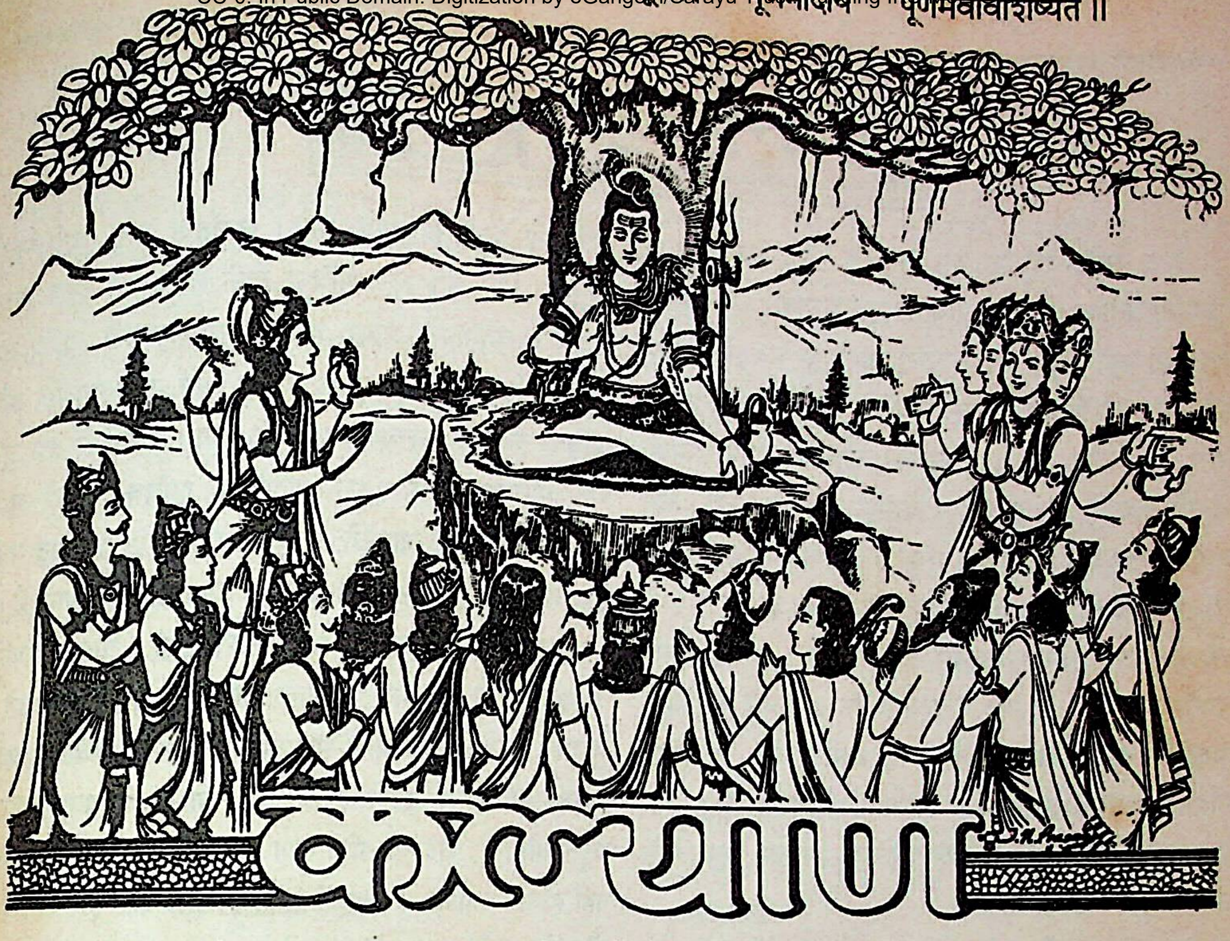

कल्याण

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

वर्ष ६४ गोरखपुर, सौर आश्विन, वि॰सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, अक्टूबर १९९० ई॰ संख्या ७ पूर्ण संख्या ७६४

व्रजवासियोंद्वारा गिरिराज गोवर्धनकी प्रदक्षिणा

कालात्मना भगवता शक्रदर्पं जिघांसता । प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याःसाध्वगृह्णन्त तद्वचः ॥
तथा च व्यदधुः सर्वं यथाऽऽह मधुसूदनः । वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान् ॥
उपहृत्य बलीन् सर्वानादृता यवसं गवाम् । गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥

(श्रीमद्भा॰ १० । २४ । ३१-३३)

(श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् !) कालात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी इच्छा थी कि इन्द्रका गर्व नष्ट कर दिया जाय। नन्दबाबा आदि गोपोंने उनकी बात सुनकर बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर ली । भगवान् श्रीमधुसूदनने जिस प्रकारका यज्ञ करनेको कहा था, वैसा ही यज्ञ उन्होंने प्रारम्भ किया । पहले ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर उसी सामग्रीसे गिरिराज और ब्राह्मणोंको सादर भेंटें दीं तथा गौओंको हरी-हरी घास खिलायी । इसके बाद नन्दबाबा आदि गोपोंने गौओंको आगे करके गिरिराजकी प्रदक्षिणा की ।

* * *

कल्याण

याद रखो, जबतक तुम भजनके लिये किसी संसारी स्थितिकी प्रतीक्षा करते हो, तबतक तुम वास्तवमें भजन करना चाहते ही नहीं। यदि भजन करना चाहते तो भजनसे बढ़कर ऐसी कौन-सी स्थिति है, जिसके लिये तुम भजनको रोककर पहले उसे पाना चाहते। संसारके धन-जन, मान-सम्मान, पद-गौरव सभी विनाशी हैं। ये किसीके सदा रहते नहीं। और जिन्हें ये सब प्राप्त हैं, वे क्या सुखी हैं ? उन्हें क्या शान्ति मिल गयी है ? उनके जीवनका उद्देश्य क्या सफल हो रहा है ? वे क्या उन्हें प्राप्त करके भजनमें लग गये हैं ? बल्कि इसके विपरीत अनुभव तो यह कहता है कि ज्यों-ज्यों सांसारिक संग्रह बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों क्लेश, कामना, द्वेष, अशान्ति, अज्ञान, असावधानी और विषयासक्ति बढ़ती है। और विषयासक्त पुरुष कभी सुख-शान्तिके भण्डार परमात्माके मार्गपर नहीं चलना चाहता।

इस विषयासक्तिका सर्वथा नाश तो तब होगा, जब तुम अखिल ऐश्वर्य, सौन्दर्य और माधुर्यके समुद्र भगवान्‌को जानकर उनमें आसक्त हो जाओगे। तबतक शास्त्र और संतोंकी वाणीपर श्रद्धा करके, विषयोंकी नश्वरता और क्षणभङ्गुरता प्रत्यक्ष देखकर विषयी और विषयप्राप्त पुरुषोंकी मानसिक दुर्दशापर विचार करके चित्तको विषयोंसे हटाते रहो और सर्वसुखस्वरूप श्रीभगवान्‌में लगाते रहो। भगवान्‌के रहस्य और प्रभावकी बातोंको, उनकी लीलाओंको, उनके गुणोंको श्रद्धापूर्वक सत्पुरुषोंसे सुनो। उनके नामका जप करो और यह चेष्टा सच्चे मनसे करते रहो कि जिसमें एक क्षणभरके लिये भी मनसे उनका विस्मरण न हो। प्रत्येक क्षण उनकी मधुर याद बनी ही रहे। जब भूलो, तब पश्चात्ताप करो। याद आनेपर फिर न भूलनेकी कोशिश करो। भगवान्‌के स्मरणको ही परम धन और परम लाभ समझो। सच्ची बात भी यही है—भगवान्‌का स्मरण ही जीवनका एकमात्र परम धन है।

पहलेके दोषों और पापोंके लिये चिन्ता न करो, उससे कोई लाभ नहीं, जो होना था सो हो चुका। न चुपचाप बैठे भविष्यके लिये ही शोक करो। जहाँतक बने, वर्तमानको सुधारो। फिर भूत और भविष्य दोनों ही अपने-आप सुधर जायँगे। वर्तमानमें प्रयत्न करके भगवत्कृपासे यदि तुम भगवान्‌को पा गये तो पूर्वके समस्त कर्म जल जायँगे और भविष्य तो परम कल्याणमय हो ही गया। वास्तवमें तब तुम भूत, भविष्यत्, वर्तमान इस कालभेदको लाँघकर इससे आगे उस स्थितिमें पहुँच जाओगे, जहाँ कालभेद और देशभेद नहीं है। जहाँ केवल आनन्द-ही-आनन्द और ज्ञान-ही-ज्ञान है।

यह होगा, वर्तमानपर ध्यान रखनेसे ही। तुम्हारे हाथमें वर्तमान ही है। इसका एक-एक क्षण भगवान्‌में लगाओ। बुद्धिको, मनको, इन्द्रियोंको सब ओरसे बटोरकर सर्वतोभावसे भगवान्‌की सेवामें लगा दो। याद रखो—जीवनका काल बहुत थोड़ा है, यदि यह बीत गया तो फिर पछतानेसे कुछ भी नहीं होगा। क्योंकि भगवान्‌की प्राप्तिका अधिकार इस मानव-जीवनमें ही है। यह यदि नष्ट हो गया तो एक बहुत अच्छा सुअवसर तुमने हाथसे खो दिया। अतएव न भूतकालके कार्योंके लिये पश्चात्ताप या चिन्ता करो, न भविष्यकी किसी स्थितिकी बाट देखो, बल्कि सब ओरसे चित्त हटाकर किसी ओर भी न ताककर जीवनके इस परम उद्देश्यकी सिद्धिके साधनमें वैसे ही लग जाओ, जैसे अत्यन्त भूखा आदमी सामने भोजन पाकर सबसे पहले उसे खानेमें लग जाता है।

सब इन्द्रियोंको भगवत्सेवामें लगा दो। धन-जन, पूजा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, आराम-भोग आदि समस्त कामनाओंको चित्तसे निकालकर चित्तको निर्मल करके उसमेंसे हिंसा, द्वेष, वैर, काम, क्रोध, ईर्षा, अभिमान आदि दोषोंको निकालकर तत्परताके साथ सारी इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके एकमात्र स्वामी हृषीकेश भगवान्‌की सेवामें लगा दो।

इन्द्रियोंको तो भगवान्‌से प्रतिकूल कार्योंसे हटाये ही रखो, मनमें भी कोई प्रतिकूल भावना न आने दो। तुम्हारे सब कार्य भगवान्‌के अनुकूल ही हों और हों केवल उनकी सेवा-पूजाके लिये ही। —'शिव'

गो-पूजन

जो मनुष्य प्रतिदिन जौ आदिके द्वारा गौकी पूजा करता है, उसके पितृगण और देवता सदा तृप्त होते हैं। जो सदाचारी पुरुष नियमपूर्वक प्रतिदिन गायोंको खिलाता है, वह सच्चे धर्मके बलसे सारे मनोरथोंको प्राप्त करता है। जो व्यक्ति गौओंके शरीरसे गंदगी, मच्छर आदिको हटा देता है, उसके पूर्वज लोग कृतार्थ होते हैं। यहाँतक कि 'यह भाग्यशालिनी संतान हमारा उद्धार कर देगी' यह सोचकर वे उस अत्यन्त उत्सवमय कार्यके लिये आनन्दसे नाचने लगते हैं। (पद्म०, पाताल०, अ० १८)

जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर हाथमें जलका पात्र लेकर गौओंमें जाता है, उनके सींगोंको सींचता है और फिर उस जलको अपने मस्तकपर धारण करके उस दिन उपवास करता है, उसको बहुत पुण्य होता है। तीनों लोकोंमें सिद्ध, चारण और महर्षियोंके द्वारा सेवित जितने तीर्थ हैं, गौओंके सींग-जलका अभिषेक उन सब तीर्थोंमें स्नान करनेके समान है। (पद्मपु०, सृष्टि० अ० ४८)

गो-पूजाका विधान

सबसे पहले—

'अद्य पूर्वोच्चरितदेशकालविशेषे तथानेकगुणविशेषणविशिष्टायां शुभपुण्यतिथौ मम आत्मनः श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तफलप्राप्त्यर्थं यथाज्ञानं यथामिलितोपचारैः गोः पूजनमहं करिष्ये।'

'आज पूर्वमें उच्चरित देश-काल-विशेषमें तथा अनेक गुणोंसे विशिष्ट इस शुभ एवं पवित्र तिथिमें स्वयंको श्रुति, स्मृति एवं पुराणोंमें वर्णित फलकी प्राप्ति करानेके लिये जैसा मुझे ज्ञान है, उसके अनुसार तथा जो कुछ पूजाकी सामग्री मुझे प्राप्त हुई है, उसीसे मैं गो-माताका पूजन करूँगा।' यह संकल्प पढ़कर कलश आदि पूजाकी सामग्रीका जलसे प्रोक्षण करे। इसके अनन्तर निम्नलिखित मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए उन्हींके भावानुसार गो-माताका ध्यान करे—

ध्यान-मन्त्र

नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥
गवामङ्गेषु तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश।
यस्मात्तस्माच्छिवं मे स्यादिह लोके परत्र च॥

'श्रीमती गौओंको नमस्कार है। कामधेनुकी संतानोंको नमस्कार है। ब्रह्माजीकी पुत्रियोंको नमस्कार है। पावन करनेवाली गौओंको नमस्कार है। गौओंके अङ्गोंमें चौदहों भुवन स्थित हैं, अतः मेरा इस लोकमें एवं परलोकमें भी कल्याण हो।' फिर नीचे लिखे मन्त्रोंसे आवाहनपूर्वक पूजन करे—

आवाहन-मन्त्र

आगच्छ देवि कल्याणि शुभां पूजां गृहाण मे।
वत्सेन सहितां त्वाहं देवीमावाहयाम्यहम्॥

'हे कल्याणमयी देवि! तुम आकर मेरी शुभ पूजाको ग्रहण करो। बछड़ेके सहित देवीस्वरूपा तुम्हारा मैं आवाहन करता हूँ।'

आसन-मन्त्र

नानारत्नसमायुक्तं कार्तस्वरविभूषितम्।
आसनं ते मया दत्तं गृहाण जगदम्बिके॥
श्रीरुद्ररूपिण्यै गवे नम इदमासनम्।

'हे जगज्जननी! नाना रत्नोंसे जटित एवं स्वर्णसे विभूषित यह आसन मैं तुम्हें अर्पित करता हूँ, इसे स्वीकार करो। श्रीरुद्ररूपिणी गौको नमस्कारपूर्वक यह आसन समर्पित है।'

पाद्य-मन्त्र

सौरभेयि सर्वहिते पवित्रे पापनाशिनि।
गृहाणैतन्मया दत्तं पाद्यं त्रैलोक्यवन्दिते॥

'हे सर्वहितकारिणी पापनाशिनी पावनकारिणी त्रैलोक्यवन्दिता कामधेनुपुत्रि! मेरे द्वारा अर्पित इस पाद्यको ग्रहण करो।'

अर्घ्य-मन्त्र

सर्वदेवमये देवि सर्वतीर्थमये शुभे।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं सौरभेयि नमोऽस्तु ते॥

'हे देवि! तुम सर्वदेवमयी हो—समस्त देवताओंका तुम्हारे शरीरमें निवास है। हे शुभे! तुम सर्वतीर्थमयी हो—सारे तीर्थ तुम्हारे अंदर निवास करते हैं। हे सुरभिपुत्री! मेरे दिये हुए इस अर्घ्यको स्वीकार करो। तुम्हें नमस्कार है।'

आचमन-मन्त्र

देहस्थितासि रुद्राणि शङ्करस्य सदा प्रिया।

धेनुरूपेण सा देवी मम पापं व्यपोहतु ॥

'हे रुद्राणि ! तुम भगवान् शङ्करको सदा प्यारी हो तथा उनकी आधी देहमें स्थित रहती हो। वही देवी गौके रूपमें मेरे पापका नाश करे।'

स्नान-मन्त्र

या लक्ष्मीः सर्वलोकेषु या च देवेष्ववस्थिता ।
धेनुरूपेण सा देवी मम पापं व्यपोहतु ॥

'जो लक्ष्मीदेवी समस्त लोकोंमें व्याप्त हैं और जिनका देवताओंमें निवास है, वही देवी गौके रूपमें मेरे पापको नष्ट करें।'

इसके अनन्तर सम्भव होनेपर पञ्चामृत आदिसे स्नान कराकर **'आ गावो अग्मन्०'** इत्यादि सूक्तसे अथवा श्रीसूक्त या पुरुषसूक्तसे महाभिषेक करे।

वस्त्र-मन्त्र

आच्छादनं गवे दद्यां सम्यक् शुद्धं सुशोभनम् ।
सुरभिर्वस्त्रदानेन प्रीयतां परमेश्वरी ॥

'मैं गो-माताको अत्यन्त शुद्ध एवं सुन्दर वस्त्र अर्पित करता हूँ। इस वस्त्र-दानसे परमेश्वरी सुरभि देवी प्रसन्न हों।'

चन्दन-मन्त्र

सर्वदेवमये देवि चन्दनं चन्द्रसंनिभम् ।
कस्तूरीकुङ्कुमाढ्यञ्च सुगन्धिं प्रतिगृह्यताम् ॥

'हे सर्वदेवमयी देवि ! कस्तूरी और केशर मिला हुआ और चन्द्रमाके समान सफेद रंगका यह सुगन्धित चन्दन स्वीकार करो।'

इसके अनन्तर गो-माताको अक्षत (अखण्डित चावल) आभूषण, रोली आदि सौभाग्यसूचक द्रव्य, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ एवं सुगन्धित पुष्पोंसहित पुष्पमाला अर्पित करे।

न्यास

निम्नलिखित मन्त्रोंसे गो-माताके विभिन्न अङ्गोंमें विभिन्न देवताओंका न्यास करे।

शृङ्गमूलयोर्ब्रह्मविष्णू न्यसामि—दोनों सींगोंकी जड़में क्रमशः ब्रह्माजी एवं भगवान् विष्णुको स्थापित करता हूँ।

शृङ्गाग्रयोः सर्वतीर्थाणि०—दोनों सींगोंके अग्रभागमें समस्त तीर्थोंको·····।

ललाटे महादेवं०—ललाटमें भगवान् शङ्करको·····।

ललाटाग्रे महादेवीं०—ललाटके अग्रभागमें महादेवी पार्वतीको·····।

नासावंशे षण्मुखं०—नासिकाकी डाँडीमें श्रीस्वामि-कार्तिकको·····।

कर्णयोरश्विनौ०—दोनों कानोंमें अश्विनीकुमारोंको·····।

चक्षुषोः शशिभास्करौ०—दोनों नेत्रोंमें क्रमशः चन्द्र और सूर्यको·····।

दन्तेषु वायुं०—दाँतोंमें वायुदेवताको····।

जिह्वायां वरुणं०—जीभमें वरुणदेवताको·····।

हुंकारे सरस्वतीं०—हुंकारमें देवी सरस्वतीको····।

गण्डयोर्यमधर्मौ०—दोनों कनपटियोंमें क्रमशः यमराज एवं धर्मको····।

ओष्ठयोः सन्ध्याद्वयं०—दोनों ओठोंमें क्रमशः प्रातः-संध्या एवं सायंसन्ध्याको····।

ग्रीवायामिन्द्रं०—गर्दनमें देवराज इन्द्रको·····।

कुक्षिदेशे रक्षांसि०—पेटके ऊपरी भागमें राक्षसोंको···।

उरसि साध्यान्०—छातीमें साध्यनामक देवताओंको···।

चतुष्पादेषु धर्मं०—चारों चरणोंमें धर्मदेवताको····।

खुरमध्ये गन्धर्वान्०—खुरोंके मध्यभागमें गन्धर्वोंको···।

खुराग्रे पन्नगान्०—खुरोंके अग्रभागमें नागोंको····।

खुरपार्श्वेष्वप्सरसः०—खुरोंके पार्श्वभागमें अप्सराओंको···।

पृष्ठे एकादशरुद्रान्०—पीठमें ग्यारह रुद्रोंको····।

सर्वसन्धिषु वसून्०—समस्त जोड़ोंमें वसुनामक देवताओंको····।

श्रोणीतटे पितॄन्०—पीछेके भागमें पितरोंको····।

लाङ्गूले सोमं०—पूँछमें चन्द्रदेवताको····।

बालेषु आदित्यरश्मीन्०—पूँछके बालोंमें सूर्यकी किरणोंको···।

गोमूत्रे गङ्गां०—गोमूत्रमें भगवती गङ्गाको·····।

क्षीरे सरस्वतीं०—दूधमें सरस्वती देवीको····।

दध्नि नर्मदां०—दहीमें नर्मदा नदीको·····।

सर्पिषि हुताशनं०—घीमें अग्निदेवको·····।

रोमसु त्रयस्त्रिंशतकोटिदेवान्०—रोमोंमें तैंतीस करोड़ देवताओंको·····।

उदरे पृथिवीं०—पेटके अंदर पृथिवीदेवीको·····।

पयोधरेषु सागरान्—चारों थनोंमें क्रमशः चारों समुद्रोंको स्थापित करता हूँ।

धूप-मन्त्र

देवद्रुमरसोद्भूतो गोघृतेन समन्वितः।
प्रयच्छामि महाभागे धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

'हे महाभाग्यवती गो-माता! कल्पवृक्षकी गोदसे बनी हुई तथा गौके घीसे मिश्रित यह धूप मैं तुम्हें अर्पण करता हूँ, इसे स्वीकार करो।'

दीप-मन्त्र

आनन्दकृत् सर्वलोके देवानाञ्च सदा प्रियः।
गौस्त्वमादिजगन्नाथे दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

'जगत्‌की आदि स्वामिनी हे गोमाता! यह दीपक समस्त लोकोंको आनन्द देनेवाला और देवताओंको सदा ही प्यारा है, इसे स्वीकार करो।'

गोग्रास-नैवेद्य-मन्त्र

सुरभिस्त्वं जगन्मातर्देवि विष्णुपदे स्थिता।
सर्वदेवमये ग्रासं मया दत्तमिमं ग्रस॥

'हे जगदम्बे! तुम्हीं स्वर्गमें रहनेवाली कामधेनु हो। हे सर्वदेवमयी देवि! मेरे द्वारा अर्पित इस ग्रासको मुँहमें ले लो।' इसके अनन्तर हाथोंमें मलनेके लिये चन्दन, मुखशुद्धिके लिये पान तथा फल एवं दक्षिणा अर्पण करे और कपूरकी आरती करके निम्नलिखित मन्त्रसे नमस्कार करे—

नमस्कार-मन्त्र

पञ्च गावः समुत्पन्ना मथ्यमाने महोदधौ।
तासां मध्ये तु या नन्दा तस्यै देव्यै नमो नमः॥
सर्वकामदुघे देवि सर्वतीर्थाभिषेचिनि।
पावनि सुरभिश्रेष्ठे देवि तुभ्यं नमो नमः॥

'क्षीरसमुद्रके मथे जानेपर उसमेंसे पाँच गौएँ प्रकट हुईं। उनमेंसे जो नन्दा नामकी श्रेष्ठ गौ है, उस देवीको बारम्बार नमस्कार है। हे सुरभि देवि! तुम समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली तथा समस्त तीर्थोंमें स्नान करनेवाली हो। अतः हे पवित्र करनेवाली देवि! तुम्हें बारम्बार नमस्कार है।'

प्रदक्षिणा-महिमा

गवां दृष्ट्वा नमस्कृत्य कुर्याच्चैव प्रदक्षिणम्।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा॥
मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः।
वृद्धिमाकाङ्क्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः॥

'गो-माताका दर्शन एवं उन्हें नमस्कार करके उनकी परिक्रमा करे। ऐसा करनेसे सातों द्वीपोंसहित भूमण्डलकी प्रदक्षिणा हो जाती है। गौएँ समस्त प्राणियोंकी माताएँ एवं सारे सुखको देनेवाली हैं। वृद्धिकी आकाङ्क्षा करनेवाले मनुष्यको नित्य गौओंकी प्रदक्षिणा करनी चाहिये।'

पुष्पाञ्जलि-मन्त्र

नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥

फिर निम्नलिखित मन्त्रोंसे गो-माताकी प्रार्थना करे—

गावो ममाग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे हृदये नित्यं गवां मध्ये वसाम्यहम्॥
सर्वदेवमये देवि सर्वदेवैरलंकृते।
मातर्ममाभिलषितं सफलं कुरु नन्दिनि॥

'गौएँ मेरे आगे रहें, गौएँ मेरे पीछे भी रहें। गौएँ मेरे हृदयमें निवास करें और मैं सदा गौओंके बीचमें निवास करूँ। हे देवि! तुम सर्वदेवमयी हो, समस्त देवताओंद्वारा पूजित एवं अलंकृत हो। हे मातः! हे नन्दिनि! मेरी अभिलाषाको पूर्ण करो।' पुष्पाञ्जलिके बाद ताँबेके अर्घ्यपात्रमें चन्दन, पुष्प एवं अक्षतसे युक्त जल लेकर गौ माताके चरणतलमें निम्नलिखित मन्त्रसे अर्घ्य दे—

अर्घ्य-मन्त्र

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥
क्षीरोदार्णवसम्भूते सुरासुरनमस्कृते।
सर्वदेवमये मातर्गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥

'हे गोमाता! तुम जंगलोंमें घूमती हुई सदा घास चरती रहो और शुद्ध जल पीती रहो। सुन्दर घास चरनेसे तुम ऐश्वर्यवती बनो और हम भी तुम्हारी कृपासे ऐश्वर्यवान् हों। हे मातः! तुम क्षीरसमुद्रसे प्रकट हुई हो, समस्त देवता और दानव तुम्हारी वन्दना करते हैं। हे सर्वदेवमयि! मेरे अर्घ्यको ग्रहण करो, तुम्हें नमस्कार है।' अर्घ्य देनेके बाद उस जलको अक्षतोंसहित अपने मस्तकपर छोड़कर उड़दकी दालके बड़ोंका गो-ग्रास अर्पण करे।

शोकनाशके उपाय

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गताङ्क पृ०-सं० ५७३ से आगे]

अनिष्टकी प्राप्तिमें भक्तको शोक नहीं करना चाहिये, यह बात आगे समझायी जाती है। जो कुछ भी अनिष्ट हमें प्राप्त होता है, प्रभुकी आज्ञासे ही प्राप्त होता है। कोई वस्तु अथवा घटना अपने कितनी भी प्रतिकूल क्यों न हो, वह मेरे स्वामीके तो अनुकूल ही है—ऐसा समझकर भक्तको सदा प्रसन्न रहना चाहिये, मेरे स्वामीसे भूल तो कभी होती ही नहीं, वे जो कुछ करते हैं, समझ-बूझकर ही करते हैं। ऐसी स्थितिमें अनिष्टरूपमें जो कुछ मुझे प्राप्त होता है, वह तो मेरे प्रभुका भेजा हुआ पुरस्कार है, ऐसा समझकर प्रह्लादकी भाँति उसे प्रतिक्षण मुग्ध होते रहना चाहिये। इसके विपरीत जो किसी अनिष्ट प्रसङ्गपर क्षुब्ध होता है, वह भगवान्‌का भक्त नहीं कहा जा सकता। भक्तको तो ऐसा मानना चाहिये कि जो कुछ प्रभु करते हैं, हमारे हितके लिये ही करते हैं, हम अज्ञतावश उसे समझ नहीं पाते। जिसको हम अनिष्ट समझते हैं, थोड़ा भीतर प्रवेश करनेपर हमें मालूम होगा कि वह तो वास्तवमें हमारे लिये परमानन्दका विषय है। अनिष्ट कहलानेवाले प्रसङ्गोंसे, थोड़ा-सा भी विचार करनेपर हमें निम्नलिखित लाभ प्रत्यक्ष दिखायी देंगे। इनके अतिरिक्त न मालूम कितने लाभ भगवान्‌की उन मनको प्रतिकूल लगनेवाली क्रियाओंसे हमें होते हैं—उनका हम अंदाजा नहीं लगा सकते।

(१) पहली बात तो यह है कि हमें अपने मनके प्रतिकूल जिस दुःखदायक पदार्थकी प्राप्ति होती है, वह हमारे ही किसी पूर्वकृत अपराधका फल है; क्योंकि भगवान्‌के राज्यमें बिना अपराध किसीको दण्ड नहीं मिल सकता। इस प्रकार हमारे अपराधोंका दण्ड देकर भगवान् हमें पापमुक्त करते हैं, शुद्ध बनाते हैं।

(२) इस प्रकारकी शिक्षा देकर भगवान् हमें भविष्यमें पाप करनेसे रोकते हैं।

(३) इस प्रकार कष्ट देकर भगवान् हमारे आत्माको बलिष्ठ बनाते हैं। आगमें तपानेसे जैसे सोना निखर उठता है, उसी प्रकार कष्ट सहनेसे आत्मा शुद्ध और बलिष्ठ होता है—यह सबका अनुभव है।

(४) कभी-कभी हमलोग अपनी भक्तिका झूठा अभिमान करने लगते हैं और वास्तवमें भगवान्‌में जैसा विश्वास होना चाहिये, वैसा न होनेपर भी अपनेको विश्वासी मान बैठते हैं। इसलिये इस प्रकारके कष्ट देकर भगवान् हमारी परीक्षा लेते हैं और हमें अपनी असली स्थितिका परिचय कराते हैं तथा हमारा अभिमान भंग करते हैं।

(५) हमारे अपराधोंका दण्ड देकर भगवान् अपनी न्यायशीलता सिद्ध करते हैं और हमें चेतावनी देते हैं कि मेरे भजनके सहारे पापमें कभी प्रवृत्त न होना, नहीं तो इस प्रकारका दण्ड फिर तैयार है, मैं भजनके बलपर पाप करनेवालोंकी रू-रियायत नहीं करता।

(६) अन्तिम और सबसे बड़ा लाभ यह है कि कष्टमें हमें भगवान् याद आते हैं। हमलोग संसारके तुच्छ, नाशवान् भोगोंके पीछे भगवान्‌को भूले रहते हैं। इसलिये बीच-बीचमें कष्ट देकर भगवान् हमें चेतावनी देते रहते हैं कि मुझे भूलो मत, नहीं तो बड़ी दुर्दशा होगी, यह मनुष्य-शरीर भोगोंके लिये नहीं मिला है, मुझे प्राप्त करनेके लिये ही मिला है—इसलिये इसे व्यर्थ कामोंमें न गँवाओ।

इसके अतिरिक्त हमारे मनको प्रतिकूल लगनेवाली भगवान्‌की क्रियाओंमें हमारा कितना हित भरा रहता है, इसे हमलोग समझ नहीं सकते। अतः प्रभु हमारे लिये जो कुछ करते हैं, उसमें उनकी अपार दया एवं अपना परम हित मानकर हमें खूब प्रसन्न रहना चाहिये।

विवेक एवं विचारकी दृष्टिसे भी हमें इष्ट वस्तुके वियोगमें एवं अनिष्टकी प्राप्तिमें शोक नहीं करना चाहिये। इष्टका वियोग एवं अनिष्टका संयोग दोनों ही क्षणिक हैं। जिस वस्तुके साथ संयोग होता है, उसका वियोग भी अवश्यम्भावी है। संसारके संयोग और वियोग वैसे ही हैं, जैसे किसी मुसाफिरखाने अथवा पान्थशालामें यात्रियोंका एकत्रित होना तथा अलग-अलग हो जाना अथवा रेलगाड़ीमें मुसाफिरोंका चढ़ना-उतरना। जैसे किसी मुसाफिरखाने अथवा सरायमें रात्रिमें विश्राम करनेके लिये यात्री लोग ठहरते हैं और सबेरा होते ही

अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानको चल देते हैं, उसी प्रकार एक परिवारमें कई प्राणी एकत्र होते हैं और समय पूरा होते ही बिछुड़ जाते हैं। रेलगाड़ीमें जैसे भिन्न-भिन्न स्थानोंको जानेवाले मुसाफिर चढ़ते-उतरते रहते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न जीव इस संसारमें जन्मते-मरते रहते हैं। रेलगाड़ीमें हम जिस डिब्बेमें बैठे हुए होते हैं, उसमें यदि कोई दूसरा मुसाफिर सवार होता है, तो उसके आनेपर हम खुशी नहीं मनाते और उसके उतर जानेपर हम दुःखी नहीं होते। इसी प्रकार अपने परिवारवालोंके जन्मने-मरनेपर हमें हर्ष-शोक नहीं करना चाहिये। बल्कि रेलगाड़ीमें तो कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है। हमारे डिब्बेमें दूसरेके घुस आनेपर हम अप्रसन्न होते हैं और उतर जानेपर प्रसन्न होते हैं, किंतु ऐसा भी होना ठीक नहीं है। रेलगाड़ीमें हमारे पास जिस स्टेशनका टिकट होता है, उसके आगे हम नहीं जा सकते, उसी प्रकार जितनी आयु लेकर मनुष्य इस संसारमें आता है, उससे अधिक वह नहीं जी सकता। इसलिये विवेक एवं विचारकी दृष्टिसे भी हमें इष्ट-विनाश एवं अनिष्टसंयोगपर दुःखी नहीं होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इष्टविनाश एवं अनिष्टसंयोगपर शोक अथवा चिन्ता करना, रोना-चिल्लाना, लौकिक दृष्टिसे भी महान् मूर्खता है। इससे प्रत्यक्षमें हमारी हानि होती है। लोगोंकी दृष्टिमें हम गिर जाते हैं, दुर्बल-हृदय समझे जाते हैं, जगत्‌में हमारी मूर्खता ही प्रकट होती है, स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, शरीर चिन्तासे जर्जर हो जाता है, ओज एवं बलकी हानि होती है और हम दुःखी होकर रोते-रोते मरते हैं। इसलिये विवेकी पुरुषकी तो बात ही क्या है, जो थोड़ा भी समझदार है, उसे भी शोक नहीं करना चाहिये, बल्कि ईश्वरके प्रत्येक विधानमें उसकी दया मानकर प्रसन्न रहना चाहिये। यदि दया समझमें न आवे तो कम-से-कम होनीको प्रबल समझकर ही शोक नहीं करना चाहिये। चाहे हम ज्ञान, भक्ति—इनमेंसे किसी भी सिद्धान्तको न मानें, बल्कि ईश्वरमें भी हमारा विश्वास न हो तो भी जो कुछ होनेको है वह तो होकर ही रहेगा, हमारे टाले टलेगा नहीं—यही समझकर हमें धैर्य धारण करना चाहिये। जो निरुपाय बात है, उसके लिये चिन्ता करनेसे क्या लाभ है? फिर जो बात हो चुकी, उसके लिये शोक करना तो और भी बेकार है। हमारे शोक करनेसे वह अन्यथा तो हो नहीं सकती, फिर उसके लिये शोक करना अपनी ही हानि करना है।

जो लोग शोकसे अभिभूत होकर अथवा आवेशमें आकर आत्महत्या कर बैठते हैं, वे तो अत्यन्त ही मूर्ख हैं। वे लोग अज्ञानवश वर्तमान कष्टसे मुक्त होनेके लिये शरीरका नाश कर देते हैं, परंतु इससे सुख पाना तो दूर रहा, उल्टा उन्हें अधिक कष्ट भोगना पड़ता है। ऐसा करनेसे प्रथम तो उन्हें अमूल्य मानव-जीवनसे हाथ धोना पड़ता है, जिसके द्वारा मनुष्य नित्यसुखरूप परमात्माको पाकर कृतार्थ हो जाता है और जन्म-मरणरूप बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, जिसे शास्त्रोंने अत्यन्त दुर्लभ बतलाया है और जिसे यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें भटकता-भटकता कभी परमात्माकी अहैतुकी कृपासे ही प्राप्त होता है*। इसके अतिरिक्त प्राणोंके वियोगके समय भी उसे इतना कष्ट होता है जिसकी सीमा नहीं है। पहले उसे उस कष्टका अनुमान नहीं होता, परंतु पीछे जब उसके प्राण निकलते हैं, उस समय उसे इतना कष्ट होता है, जिसके समान और कोई दुःख नहीं है। साधारण मृत्युके समय भी लोग कहते हैं, हजारों बिच्छुओंके डंक मारने-जैसा कष्ट होता है, फिर जो स्वयं जान-बूझकर मरता है, उसके कष्टका तो कहना ही क्या है।

तीसरी बात यह है कि मरनेके बाद उसे घोर नरकोंकी प्राप्ति होती है। ईशोपनिषद्‌में कहा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

अर्थात् वे असुरसम्बन्धी लोक आत्माके अदर्शनरूप

---

* मानव-देहके लिये गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें लिखा है—

आकर चारि लच्छ चौरासी।जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही।देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो।सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥

अज्ञानसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं, वे मरनेके अनन्तर उन्हें प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान, भक्ति अथवा विवेक-विचार—किसी भी दृष्टिसे शोक करना उचित नहीं है। वास्तवमें इष्टवियोग अथवा अनिष्टसंयोग दुःखदायक नहीं होता, अज्ञानमूलक ममता ही दुःखका हेतु है। मान लीजिये किसी सड़कके दोनों ओर दो मकान हैं। उनमेंसे एकमें हमारी ममता है और दूसरेमें पारक्यबुद्धि है। जिसमें ममता नहीं है, उसपर यदि कोई आपत्ति आती है—कोई उसे तोड़ता है अथवा उसमें आग लग जाती है तो हमें दुःख नहीं होता, किंतु जिसमें हमारी ममता है, उसकी यदि कोई एक ईंट भी निकालता है तो हमें ऐसा दुःख होता है मानो हमारे शरीरको ही कोई नोचता हो। कुछ दिन बाद उसी मकानको हम पूरा मूल्य लेकर बेच डालते हैं। उसके बाद यदि कोई उसको भी तोड़ता है अथवा उसमें आग लगाता है, तो हम खड़े-खड़े हँसते हैं, हमें दुःख नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि मकानका टूटना या नष्ट होना दुःखदायी नहीं है, उसमें जो हमारी ममता है, वही दुःखका हेतु है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव संसारमें, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी जमीन है, यह मेरी सम्पत्ति है—इस प्रकार ममता कर लेता है और फिर उनके विनाशसे दुःखी होता है। अतः ममताका नाश ही दुःखनाशका उपाय है और ममताके नाशके लिये दो ही उपाय हैं—(१) ज्ञानी महात्माओंके सङ्गसे ज्ञान प्राप्त कर ममताके मूल अज्ञानका नाश करना अथवा (२) ईश्वरकी भक्ति करके उनकी कृपासे अज्ञानका नाश करना। गीतामें भी दुःखनाश और परम शान्ति प्राप्त करनेके यही दो उपाय बताये गये हैं—

(१) श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(४।३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त करके वह बिना विलम्बके तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

(२) तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८।६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरण जा। उस परमात्माकी ही कृपासे तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त हो जायगा।'

यह ईश्वरकी शरणागति ही दुःखसे सदाके लिये छूटनेका सर्वोत्तम उपाय है। और किसी रास्तेसे दुःख नहीं मिटेगा, चाहे हम जीवनभर रोते और कलपते रहें।

जो सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वलोकमहेश्वर भगवान् सबके प्रेरक, सर्वान्तर्यामी और सबके परम सुहृद् हैं—अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियोंको तथा प्राणोंको और समस्त धन-जनादिको उनके समर्पण करके उन्हींपर निर्भर हो जाना सब प्रकारसे परमेश्वरके शरण होना है। अर्थात् बुद्धिके द्वारा भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्को ही परम प्राप्य, परमगति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना, उनको अपना एकमात्र स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी मानकर सब प्रकारसे उनपर निर्भर और निर्भय हो जाना तथा सब कुछ भगवान्का समझकर और भगवान्को सर्वव्यापी जानकर समस्त कर्मोंमें ममता, अभिमान, आसक्ति और कामनाका त्याग करके भगवान्के आज्ञानुसार अपने कर्मोंद्वारा समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित परमेश्वरकी सेवा करना, जो कुछ भी दुःख-सुख प्राप्त हों, उनको भगवान्के द्वारा भेजे हुए समझकर पुरस्काररूपमें उन्हें सिर चढ़ाकर सदा संतुष्ट रहना, भगवान्के किसी भी विधानमें कभी किञ्चिन्मात्र भी असंतुष्ट न होना, मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करके भगवान्के सिवा किसी भी सांसारिक वस्तुमें ममता और आसक्ति न रखना, अतिशय श्रद्धा और अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करते रहना—ये सभी भाव तथा क्रियाएँ सब प्रकारसे परमेश्वरके शरण ग्रहण करनेके अन्तर्गत हैं। शरणागतिके इस भावको आदर्श रखकर जहाँतक बने भगवान्के शरण होकर उनका भजन, ध्यान, नाम-जप और कीर्तन करनेसे तथा सत्संग करनेसे शान्ति मिल सकती है। [समाप्त]

* * *

मानस-निरोध

(पूज्यपाद अनन्तश्री ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रायः यह प्रश्न हुआ करता है कि साधारण स्थितिमें मन कुछ शान्त भी रहता है, परंतु भगवान्‌का ध्यान, स्मरण या मन्त्रजप करते समय तो मन और भी चञ्चल हो उठता है। जिन वस्तुओं और कार्योंका साधारण दशामें स्मरण भी नहीं होता, वे भी जपादिके समय आ उपस्थित होते हैं। अतः मनोनिरोधकी दृष्टिसे तो ऐसा जान पड़ता है कि जप, ध्यानादि न करना ही श्रेष्ठ है।

निःसंदेह ऐसी स्थिति होती है, परंतु इसमें भी जपपर अधिक विश्वास करना उचित है। जो लोग यह कहते हैं कि ध्यान-जप आदिसे कुछ नहीं होता, उनकी अपेक्षा उनमें विशेषता है, जो जप-ध्यान आदिमें चञ्चलताकी वृद्धिका अनुभव करते हैं। यदि अलौकिक हेतुओंसे अनिष्ट होता है, तो उनसे इष्टकी भी सम्भावना की जा सकती है। जिस कार्यसे कुछ होता है, उसीपर विश्वास होता है। जप, ध्यान, स्मरणसे मनकी चञ्चलता बढ़नेपर साधकको चाहिये कि उत्साह-भङ्ग न होने दे। अधिक तत्परतासे जप, ध्यान करे और मनकी चञ्चलतासे अपने साधनकी सफलता और प्रभावकारितापर विश्वास लाये। जैसे अति चञ्चल बंदर भी तबतक शान्त रहता है, जबतक उसके ग्रहण या बन्धनका उपक्रम न किया जाय, किंतु ग्रहण या बन्धनका उपक्रम होते ही फिर उसकी चञ्चलताका पता लगता है। इसी तरह अति चञ्चल मन भी तबतक कुछ शान्त रहता है, जबतक भजन-ध्यानद्वारा उसके निरोधका प्रयत्न नहीं किया जाता, परंतु साधक जैसे ही उसके निरोध या नाशके लिये भजन-ध्यानका आरम्भ करता है, वैसे ही मन व्याकुल होकर अपने-आपको बचानेके लिये भागने लगता है। अतः मनका भागना देखकर साधकको समझना चाहिये कि मनपर हमारे साधनका प्रभाव पड़ा है। वह आत्मनिरोध या आत्मनाशके भयसे भाग रहा है, यह नहीं कि वह हमारे साधनोंको कुछ समझता ही न हो और उसकी उपेक्षा करता हो। अब यदि हम सावधानी और तत्परतासे भजन, ध्यानादि साधनोंका अनुष्ठान करते जायँगे, तो यह भागते-भागते परिश्रान्त होकर पकड़में आ सकेगा। ग्रहण या निरोधका प्रयत्न न करनेपर, जैसे बंदर निश्चिन्त होकर बैठ जाता है, वैसे ही ध्यान-भजन छोड़ देनेपर मन भी निश्चिन्त हो जाता है। जैसे मक्षिकाएँ अपवित्र पदार्थोंपर बड़े चावसे बैठती हैं, परंतु चन्दन-पुष्पादि दिव्य पदार्थोंपर नहीं बैठतीं, दीपशिखापर तो आत्म-नाशके भयसे कदापि बैठना ही नहीं चाहतीं, वैसे ही मन भी अपवित्र बाह्य विषयोंमें आसक्त होता है, क्योंकि वहाँ उसकी वृद्धि होती है। परंतु सात्त्विक आश्रयोंसे एवं भगवान्‌के स्वरूप, गुण, लीला, नाम आदिकोंके स्पर्शसे वह डरता है। अतएव भजन, ध्यानसे वह पूर्ण प्रयासके साथ भागना चाहता है। फिर भी मन जीवका करण (ज्ञानादिका साधन) है, अतः उसे बार-बार बाह्य विषयोंसे हटाकर भगवत्स्वरूप गुण-चरित्रादि-प्रतिपादक सद्ग्रन्थोंके श्रवण, मनन, मन्त्रजप एवं स्वरूप-ध्यानमें लगानेसे वह शनैः-शनैः वशमें आ सकेगा—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'

वस्तुतः मनोनिरोध-प्रसङ्ग तो बहुत पीछे उठना चाहिये। प्रथम तो मनकी मनन-परम्परा एवं विचारधारा सात्त्विक हो, इसीपर अधिक जोर देना चाहिये। जैसे गङ्गा आदि सरिताओंके प्रवाहोंको परावर्तित कर उनको उद्गमस्थानमें पहुँचाकर सुखा डालना अति दुष्कर है, वैसे ही मनके अनन्त वृत्तिप्रवाहोंको अत्यन्त रुद्ध करना भी अति दुष्कर है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति—इन पञ्चविध वृत्तियोंका आत्यन्तिक निरोध निर्विकल्प समाधिमें ही होता है। प्रथम तो अक्लिष्टा या सात्त्विकी वृत्तियोंका अवलम्बन करके क्लिष्टा अर्थात् राजसी, तामसी वृत्तियोंका निरोध करना चाहिये। उसके भी पहले देह एवं इन्द्रियोंकी उच्छृङ्खलताका निवारण करना चाहिये। तदर्थ वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान परमावश्यक है। योगशास्त्रमें भगवत्पादपङ्कज-समर्पणबुद्ध्या स्वधर्मानुष्ठान चित्तनिरोधका साधन माना गया है। देह, हस्त, पाद, वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंकी चपलताका मिटाना कठिन है। इसीलिये शास्त्रोंने कहा है—

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः।

निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तसेवनम् ॥

अर्थात् मौन, अपरिग्रह, निराशा, निरीहा (निश्चेष्टता), एकान्तसेवन आदि योगके प्रथम द्वार हैं, जिन्हें प्राप्त कर लेनेपर भी बहुत कुछ शान्ति प्राप्त हो जाती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान—इन यम-नियमोंका अनुष्ठान निरोधके सभी तीव्र उपायोंकी अपेक्षा बहुत सरल है, परंतु इनके अभ्याससे ही प्राणीको योगके प्रत्यक्ष चमत्कार अनुभूत होने लगते हैं। वस्तुतः आजकल लोगोंमें कहने, सुनने, समझनेकी ही परिपाटी अवशिष्ट रह गयी है, अनुष्ठान-परम्परा लुप्त-सी हो गयी है। योगशास्त्रकी सम्मति है कि साधकको किसी भी योगकी भूमिकाका अभ्यास होनेसे ऊपरकी भूमिकाका मार्ग अपने-आप विदित हो जाता है। अतएव योग ही योगीका गुरु होता है। यम, नियम, आसनका अभ्यास होनेसे प्राणकी गतिमें सूक्ष्मता अपने-आप होती है। साधारण रीतिसे भी प्राणायाम करनेसे चित्तके चाञ्चल्यका अभाव और धारणाकी योग्यता हो जाती है। इस तरह अच्छे पुरुषों तथा ग्रन्थोंके सङ्ग एवं अभ्याससे और सात्त्विक वातावरणमें रहनेसे देह, इन्द्रियोंकी सभी चेष्टाएँ सात्त्विक ही होती हैं, तत्पश्चात् सद्विचारों एवं सत्सङ्कल्पोंसे सद्भावना और सत्कर्मोंकी वृद्धि होती है। फिर तो उससे प्राणीका जीवन ही मङ्गलमय हो जाता है। वस्तुतः दुराचार, दुर्विचार एवं दुर्भावना ही सभी अनर्थोंका मूल है। यदि सत्सङ्ग, सच्छास्त्राभ्यास एवं समीचीन वातावरण-सेवनद्वारा सदाचार, सद्विचारकी सद्भावनाओंसे उनका बाध किया जा सका, तब तो निर्विकल्प समाधि भी दूर नहीं है। उसके बिना तो सब कुछ दुर्लभ ही है। यद्यपि ऊँचे-ऊँचे साधनोंके लिये सभी लोग लालायित होते हैं, तथापि इस सुगम किंतु अतिदिव्य साधनकी ओर लोगोंका ध्यान कम जाता है।

यह स्पष्ट है कि एक सङ्कल्प या विचारसे दूसरे सङ्कल्प या विचारका बाध होता है। मनमें जभी कुत्सित सङ्कल्प उठें, शीघ्र ही उन्हें सद्विचार या सङ्कल्पसे दूर किया जा सकता है। भगवद्ध्यान, भगवन्नामजप, भगवत्स्मरण या भगवच्चरित्र-चिन्तनसे दुर्विचार, दुर्भावना या निरर्थक प्रपञ्च-चिन्तनका बाध सरलतासे हो सकता है। भगवान्‌की लीलाओं एवं चरित्रोंके रसास्वादनमें आसक्त होते ही मनसे असत्य भावनाओंका निकलना स्वाभाविक है। नहीं तो सत्समागमसे, सत्सङ्गसे तो अवश्य ही अन्य भावनाएँ मिटती हैं। ऐसा न हो सके, तो भी मनोरञ्जक अन्य कथानकों या पुस्तकोंसे अवश्य ही मनको असद्विचारों एवं असद्भावनाओंसे रोकना चाहिये। विचार, सङ्कल्प या भावनाएँ मनुष्यके पास ऐसे दुर्लभ पदार्थ हैं, जिनसे प्राणी अपना कल्याण और सर्वनाश दोनों ही कर सकता है। कुत्सित एवं असद्-विषयोंके विचार या भावनासे प्राणियोंके मनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। भगवान्‌की मायाशक्तिका अंश ही जीवकी मनःशक्ति है। जैसे भगवान्‌के सङ्कल्पमें विचित्र प्रपञ्चके निर्माण करनेकी शक्ति होती है, वैसे ही उनके अंशभूत जीवके भी सङ्कल्पमें विचित्र शक्ति है, परंतु जब असद्वस्तुके चिन्तनसे विमुख करके वह सात्त्विक पदार्थों एवं भगवान्‌में ही नियत की जाय, तभी उसका प्रभाव फलित होता है। सद्भावनासे अन्तरात्माका आप्यायन और असद्भावनासे ह्रास होता है। अतएव पहले सात्त्विकी भावनाओंका आश्रयण करके राजसी, तामसी भावनाओंके निरोधपर ही अधिक जोर दिया जाता है। जैसे गङ्गाका प्रवाह सुखानेमें अधिक कठिनाई होनेपर भी प्रवाहका मुख स्वाभिमत दिशाकी ओर फेर लेना दुष्कर नहीं है, वैसे ही मनोभावनाको रोक देनेकी अपेक्षा उसे अपने अनुकूल बना लेना सरल है। बंदरकी चञ्चलता दूर करनेमें पहले उसे एक उद्यानमें भटकनेकी स्वतन्त्रता देनी चाहिये, फिर एक वृक्षमें, फिर एक शाखामें एवं क्रमेण उसे निश्चल बनाया जा सकता है। वैसे ही मनको भी प्रथम अनेक सात्त्विक पदार्थोंके चिन्तनमें स्वतन्त्रता होनी चाहिये, फिर शनैः-शनैः सूक्ष्म-सूक्ष्म विषयोंमें स्थितिका प्रयत्न भी सार्थक हो सकता है। इसलिये निर्गुणोपासकोंको प्रथम स्थूल-प्रपञ्चाभिमानी अव्याकृतकी पूर्ण उपासना कर लेनेके पश्चात् कार्य-कारणातीत, परमसूक्ष्म, तुरीय ब्रह्मके चिन्तनमें योग्यता तथा अधिकार प्राप्त होता है। सगुण ब्रह्मोपासकोंके लिये भी सर्वकामत्व, सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वगन्धत्व, सर्वरसत्व, भामनीत्वादि अनन्त गुणगणोंका चिन्तन विहित है। सगुण एवं साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्मके उपासकोंके लिये भी इसी तरह अनन्त चरित्रों, गुणों एवं नामोंका अनुसंधान विधित्सित है।

मनका स्वभाव है कि वह विषयोंके चिन्तनसे विषयोंमें फँसता है और भगवान्‌का चिन्तन करते-करते उन्हींमें आसक्त हो जाता है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।२७)

रूक्ष-से-रूक्ष विषयका भी चिन्तन करनेसे उसमें सङ्ग, आसक्ति एवं राग हो जाता है—

'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।'

मनको पहले विस्तृत बृहत् विषयमें स्थिर किया जाता है। भगवान्‌के स्वरूप, गुण, नाम एवं चरित्रोंका चिन्तन करते-करते मनकी चञ्चलता शान्त हो जाती है, फिर सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के मधुर, मनोहर स्वरूपमें चित्त स्थिर किया जा सकता है। उसमें भी स्वरूप-चिन्तनसे चञ्चल होनेपर मन्त्रचिन्तन, उससे भी उपरत होनेपर गुण या चरित्रका चिन्तन करना चाहिये। पुनः शान्त होनेपर स्वरूपानुसंधान करना होता है—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

जैसे गज युक्ति एवं अङ्कुशसे ही वशमें होता है, वैसे ही मन भी युक्तिसे ही वशमें होता है। चरित्र, नाम और स्वरूपानुसंधानकी महिमासे मनमें भगवान्‌की मधुर मूर्ति प्रकट होती है। बस, उसके प्रकट होते ही मनकी उसमें आसक्ति और एकाग्रता हो जाती है। अत्यन्त प्रेमासक्तिसे जब शिथिल मन ध्येयस्वरूपको भी नहीं ग्रहण कर सकता है, तब ध्येयके बिना ध्यान और ध्याताका भी अभाव हो जाता है, उस समय अनिर्देश्य, शुद्ध, अखण्ड, सच्चिदानन्दका प्रकाश होता है। जो ध्याता, ध्यान एवं ध्येयका प्रकाशक था, वही इस अवसरमें ध्याता, ध्यान, ध्येयके अभावका भासक होकर व्यक्त होता है। बस, यही मनोनिरोधकी चरम सीमा और चरम फल है।

मनको शान्त करनेके लिये उपनिषदोंने बहुतसे उपाय वर्णन किये हैं। भिन्न-भिन्न वस्तुओंकी सत्तासे ही मनमें अनेक प्रकारके विक्षेप होते हैं। अतः यह भावना करनी चाहिये कि समस्त विश्व भगवान्‌से ही उत्पन्न होता है, उन्हींमें उसकी स्थिति और प्रलय होता है, अतः सब कुछ भगवान्‌का ही स्वरूप है। जैसे समुद्रसे उत्पन्न तथा उसीमें स्थित और विलीन होनेवाले तरङ्ग, फेन, बुद्‌बुद् समुद्र ही हैं, मिट्टी और सुवर्णसे उत्पन्न, उनमें स्थित एवं विलीन घट, शराव तथा मुकुट-कुण्डलादि सब कुछ मृत्तिका एवं सुवर्ण ही हैं, वैसे ही भगवान्‌में ही उत्पन्न, स्थित विलीन होनेवाला समस्त विश्व भगवत्स्वरूप ही है। शत्रु-मित्र, उदासीन, अनुकूल, प्रतिकूल सभी वस्तु भगवान्‌का ही स्वरूप है। ऐसी भावनासे राग-द्वेषादि चित्तके अनेक विक्षेप शीघ्रतासे मिट जाते हैं। समस्त जीव भगवान्‌के ही अंश हैं, सर्वभूतोंमें जीवरूपसे भगवान् ही विराजमान हैं, ऐसी भावनासे ही मनमें शान्तिका संचार होता है। किसीका भी तिरस्कार, अपमान भगवान्‌का ही अपमान समझकर सर्वत्र शुद्ध बुद्धिसे हिताचरण अतिशीघ्र ही मनोविक्षेप दूर कर देता है। जभी मन कामादि दोषोंसे विकृत हो, तभी उक्त भावनासे शीघ्र मन शान्त किया जा सकता है। एक सङ्कल्प या विचारसे दूसरे सङ्कल्पोंका रुक जाना स्वाभाविक है। भावनामें असमर्थ प्राणीको श्वासकी गतिको रोककर बड़े वेगसे किसी नाम या मन्त्रका जप करना चाहिये। मनको एक वेगमें निरत कर देनेसे दूसरे वेग अपने-आप शिथिल हो जाते हैं—

सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी। सहज बिमल मन लागि समाधी॥

अथवा दीर्घस्वरसे भगवन्नामका उच्चारण करके मनोराज्यपर विजय प्राप्त हो सकता है। पहले-पहल हठ तथा प्रयत्नसे मनके विकारोंको रोकना आवश्यक है। दुःसङ्कल्प, दुर्विचारोंको रोककर उत्तम विचारों एवं सङ्कल्पोंका प्रवाहित करना ही मनोनिग्रहकी मुख्य कुंजी है। निर्गुण-सगुण भगवान्‌के बोधक शास्त्रोंके विचारसे मन शान्त होता है। मन शान्त होनेपर सुखसे उसे ध्येयतत्त्वमें स्थिर किया जा सकता है। भगवान्‌के चरित्र, मङ्गलमयी लीलाओंके श्रवण, कीर्तन, मननसे मनकी भयानकता मिट जाती है, फिर ध्यान और धारणामें बड़ी सहायता मिलती है। भगवान्‌की मायाका वर्णन और अनुमोदन करनेसे प्राणीकी अन्तरात्मा मायामोहित नहीं होती—

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः।
श्रद्धया शृण्वतो राजन् माययाऽऽत्मा न मुह्यति॥

शुद्ध विचारके साथ-साथ शुद्ध कर्मोंकी भी बड़ी आवश्यकता होती है। वेदान्तक्रमसे प्रपञ्चकी परब्रह्म

परमात्मासे उत्पत्ति और उन्हींमें क्रमसे लयकी भावनासे चिर शान्ति मिलती है। शुद्ध, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्द भगवान्‌से आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जलादि—क्रमसे प्रपञ्चोत्पत्तिकी भावना करके फिर विपरीतक्रमसे परमेश्वरमें प्रपञ्चके लयकी भावना करनी चाहिये। पार्थिव प्रपञ्चको केवल पृथ्वीमें और उसे जलमें, जलको तेजमें लय करके केवल तेजका ही चिन्तन करना चाहिये। तेजको वायुमें और उसे आकाशमें लय करके आकाशको स्वप्रकाश, आनन्दरूप अनन्त सत्‌में लय कर देना चाहिये। जबतक स्थिति रह सके, तबतक केवल सत्‌का ही चिन्तन करना और विक्षेप होनेपर पुनः सत्‌से आकाशादिक्रमेण सृष्टिकी भावना करनी चाहिये। इस तरह सृष्टि और प्रलयकी भावना करनेसे मन शान्त हो जाता है। तात्पर्य यही कि मनको कर्तव्यमुक्त कर देनेसे वह अन्यान्य विषयोंमें अवश्य भटकेगा, परंतु कार्य दे देनेसे उसकी चञ्चलता स्वयं शान्त हो जायगी। यदि केवल मनसे जप किया जाय और साक्षीरूपसे मनके कर्तव्योंको देखता रहा जाय, तब भी मन शान्त होता है। जैसे बेगारीमें पकड़ा हुआ मजदूर देख-रेख न करनेसे स्वेच्छाचारी होता है, वैसे ही मनको सावधानीसे न देखनेपर वह स्वेच्छाचारी हो जाता है।

जब मनको किसी मन्त्रके जपमें लगा दिया जाय और मानस मन्त्रकी धारा चल पड़े, तब केवल साक्षीरूपसे मनके व्यापारको देखते जाना चाहिये। बस, मानस मन्त्रकी धारामें दूसरी वस्तु या दृश्य न दीखना चाहिये, सावधानीसे मनको अन्य विषयोंकी ओर न जाने देकर केवल जपमें लगाना चाहिये और जिह्वासे जप न करके मनसे ही जप करना चाहिये। हाँ, जब मनसे नहीं बने, तब तो जिह्वासे भी जपना ही चाहिये। जिह्वासे भी जपकी अद्भुत महिमा है, किंतु यह तो मनके निरोधका एक प्रकार है। यदि चरित्रश्रवण करनेसे भगवान्‌की मनोहर मूर्ति हृदयमें आ जाय, तब तो उसके सौन्दर्य, माधुर्यमें मनका स्वभावसे ही आकर्षण और एकाग्रता हो जाती है। मूर्ति और चित्रपटोंमें भी नेत्र और मनको लगानेसे मन शान्त होता है। प्रसिद्ध मन्दिरों, मूर्तियों एवं सूर्य-मण्डलमें भगवान्‌की तेजोमयी मूर्तिके ध्यानसे चित्तकी एकाग्रता होती है।

* * *

है नीको मेरो देवता कोसलपति श्रीराम

है नीको मेरो देवता कोसलपति राम।
सुभग सरोरुह लोचन, सुठि सुन्दर श्याम ॥
सिय-समेत सोहत सदा छबि अमित अनंग।
भुज बिसाल सर धनु धरे, कटि चारु निषंग ॥
बलि-पूजा चाहत नहीं, चाहत एक प्रीति।
सुमिरत ही मानै भूलो पावन सब रीति ॥
देहि सकल सुख, दुख दहै, आरत-जन-बंधु।
गुन गहि, अघ-औगुन हरै अस करुनासिंधु ॥
देस-काल-पूरन सदा बद बेद पुरान।
सबको प्रभु सबमें बसै, सबकी गति जान ॥
को करि कोटिक कामना, पूजै बहु देव।
तुलसिदास तेहि सेइये, संकर जेहि सेव ॥

* * *

चरम और परम उपासनाका सुधा-मधुर फल—भगवत्प्रेम

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

'भाव' जब चित्त-प्रदेशमें निश्चल हो जाता है, तब वह 'स्थायिभाव' कहलाता है। वैष्णवशास्त्रोंके अनुसार 'कृष्णरति' या 'भगवद्रति' ही 'स्थायिभाव' है। भगवद्रतिका प्रत्येक स्तर 'स्थायिभाव' ही है, परंतु वह एक ही भाव चित्तवृत्तिके भेदसे विभिन्न रूपोंमें प्रकाशित होता है। आचार्य भरतने रसके आठ विभाग किये हैं—शृंगार, वीर, भयानक, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण और हास्य। किसी-किसीने 'शान्त' रसको नवाँ भाव माना है। वैष्णव महात्माओंने भगवद्रसके रूपमें रसोंका विभाजन करते हुए रति या स्थायिभावके पाँच भेद किये हैं—'शान्ति', 'प्रीति', 'सख्य', 'वात्सल्य' और 'माधुर्य' (प्रियत्व)। इन पाँच स्थायिभावोंके विकासमें पाँच रसोंका उदय होता है। वे हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। यह अनिवार्य नहीं है कि इनका क्रम-विकास ही हो, पर यह निर्विवाद है कि अगले-अगले रसमें पिछले-पिछले रसकी निष्ठा अवश्य रहती है। जैसे आकाशादि पञ्चभूतोंके गुण अगले-अगले भूतोंमें वर्तमान रहते हैं, वैसे ही इस क्षेत्रमें भी रसोंकी स्थिति होती है। जैसे पृथ्वीमें पाँचों गुणोंकी स्थिति है, वैसी ही माधुर्यमें शान्त-दास्यादिके समस्त गुणोंकी विद्यमानता है। इसे नीचेके उदाहरणसे समझिये—

आकाश या व्योममें—शब्द एक गुण है।

वायु या मरुत्‌में—शब्द, स्पर्श—ये दो गुण हैं।

अग्नि या तेजमें—शब्द, स्पर्श, रूप—ये तीन गुण हैं।

अप् या जलमें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस—ये चार गुण हैं।

क्षिति या पृथ्वीमें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच गुण हैं। इसी प्रकार शान्तादि रसोंको समझना चाहिये।

शान्तरस—निष्ठामय है।

दास्यरस—निष्ठा और सेवामय है।

सख्यरस—निष्ठा, सेवा और विश्रम्भ (संकोच-शून्यता)-मय है।

वात्सल्यरस—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ और ममतामय है।

माधुर्य—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ, ममता और सम्पूर्ण आत्म-समर्पणमय है। इनमें सर्वप्रथम है शान्तरस। इसकी आधारभूता है स्थायिभावकी शान्तिरति। शान्तिका अर्थ 'शम' है। श्रीमद्भागवतके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णमें निरन्तर अनुराग होना ही 'शम' है और ऐसा अनुराग जहाँ होता है, वहाँ लौकिक-पारलौकिक भोग-विषयोंमें विराग होता ही है। भगवान्‌में एक ऐसी निष्ठा होती है, जिससे विषय-भोगोंमें विरति स्वयमेव हो जाती है। ऐसे शान्तरसके भक्तके जीवनद्वारा भगवान्‌की भक्तिकी आनन्ददायिनी धारा बहती रहती है। शान्तरसके भक्तमें भगवान्‌में निर्बाध निष्ठा, समस्त दैवी सम्पदाके गुणोंका समावेश, इन्द्रिय और मनपर विजय, दोष-दुर्गुणोंका अभाव, तितिक्षा, श्रद्धा, निष्कामभाव, दृढ़ निश्चय आदि गुण स्वभावगत होते हैं। यहाँ भोगवासना और भोगासक्तिका अभाव होता है। इसी शान्तरसकी मूल भित्तिपर 'विशुद्ध भगवत्प्रेम'का महान् प्रासाद निर्मित होता है।

पर इस शान्तरसमें भगवान्‌के साथ कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहता। इसीलिये रसके आरोहण-क्रमकी दृष्टिसे वैष्णव महानुभावोंने शान्तरसको सबसे नीचा स्थान दिया है। इसका विकास होनेपर एक प्रीतिरसका उदय होता है, जो इसके ऊपरकी अवस्था है। उसे दास्यरस कहते हैं। 'प्रेम' की यह आरम्भिक अवस्था है।

इस भावके भक्तकी निरन्तर यह भावना रहती है कि मैं भगवान्‌का अनुग्राह्य हूँ, अनुग्रहका पात्र हूँ। अनुग्रह-पात्र 'दास' भी हो सकता है अथवा 'लाल्य' भी। अतः इस रसमें दो प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं—'सम्भ्रम-प्रीति' और 'गौरव-प्रीति'।

इनमें दास भक्त अनुग्रहका पात्र होनेके कारण अपनेको भगवान्‌से बहुत ही नीचा समझता है और भगवान्‌की कृपा-प्राप्तिके लिये उनको प्रसन्न करना अपना कर्तव्य समझता है। इसीसे 'सम्भ्रम'का भाव उत्पन्न होता है। 'सम्भ्रम'में भगवान्‌के प्रति भक्तका पराया-भाव होता है। वह सदा ही अपने-आपको अत्यन्त हीन समझकर भगवान्‌की सेवा करनेको समुत्सुक रहता है। कभी संकोचरहित नहीं हो सकता और सदा उनके अनुग्रहकी इच्छा करता है। यही 'सम्भ्रम-प्रीति' है।

'गौरव-प्रीति'युक्त भक्त अपनेको सदा भगवान्‌के द्वारा रक्षित और लालित-पालित होकर रहनेकी सतत कामना करता है। यह तो परम सत्य है ही कि परम पुरुष अखिल-विश्व-ब्रह्माण्डनायक भगवान् ही चराचर प्राणि-पदार्थमात्रके रक्षक और पालक हैं। परंतु धर्मके क्षेत्रमें उपास्य और उपासकमें प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना आवश्यक है। धर्मक्षेत्रमें व्यक्तिगत भावना और कामनाका एक विशिष्ट स्थान है। ये भावना-कामनाएँ प्रत्येक मनुष्यके मनमें होती हैं, पर वे प्रायः सुप्त रहती हैं। अनुकूल संगादिके द्वारा उनकी अधिकाधिक अभिव्यक्ति होती है। तब वह भक्त इस भावनामें निमग्न हो जाता है कि भगवान् मेरे रक्षक, पालक तथा विधाता हैं। एकमात्र श्रीकृष्ण ही मेरे प्रभु और रक्षक हैं। इसीको शास्त्रोंमें 'गौरव' कहा गया है। इस भावमें जिस विचारसे सुख मिलता है, उसे 'गौरव-प्रीति' कहते हैं। यही 'अनन्यभाक् भजन' है।

'दास'-भक्तोंके चार प्रकार माने गये हैं—१-अभिकृत, २-आश्रित, ३-पारिषद और ४-अनुग। 'अभिकृत' दास-भक्तोंमें ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर, वरुण आदि मुख्य माने जाते हैं। 'आश्रित' दासभक्तोंके तीन भेद हैं—(१) शरणागत, (२) ज्ञाननिष्ठ और (३) सेवानिष्ठ। विभीषण, सुग्रीव, जरासन्धके कारागारमें बंदी राजागण और कालियनाग आदि 'शरणागत' हैं। भगवान्‌के दिव्य समग्र स्वरूप तथा लीला-तत्त्वको जानकर जिन महानुभावोंने मोक्षकी इच्छाका सर्वथा परित्याग कर केवल भगवान्‌का ही परमाश्रय लेकर उनके भजन-रसके आस्वादनमें ही अपनेको लगा रखा है, ऐसे सनत्कुमार, शौनक, नारद और शुकदेव आदि 'ज्ञाननिष्ठ' हैं। और जिन्होंने भुक्ति-मुक्तिकी सारी स्पृहासे अतीत होकर केवल भगवत्सेवामें ही अपनेको लगा रखा है और दिये जानेपर भी मुक्तिको स्वीकार न करके जो सदा सेवापरायण ही हो रहे हैं, ऐसे श्रीहनुमान्, चन्द्रध्वज, बहुलाश्व, इक्ष्वाकु, पुण्डरीक आदि 'सेवानिष्ठ' दास-भक्त हैं। 'पारिषद'-भक्त वे हैं जो सारथि आदि कार्योंके द्वारा सेवा करते हैं तथा सेवाके लिये साथ रहते हुए समय-समयपर सलाह आदि भी दिया करते हैं, जैसे—उद्धव, विदुर, संजय, भीष्म, शक्रजित् आदि। अब रहे 'अनुग' दासभक्त, जो सदा प्रभुकी सेवामें ही लगे रहते हैं। ये दो प्रकारके हैं—'पुरस्थ' और 'व्रजस्थ'। सुचन्द्र, मण्डल, स्तम्ब और सुतम्बादि 'पुरस्थ' हैं, और रक्तक, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, सुविलास, पत्रक, पत्री, प्रेमकन्द, आनन्द, चन्द्रहास, पयोद, शारद और रसद आदि 'व्रजस्थ' भक्त हैं। इतना स्मरण रहे कि भगवान्‌का दास न किसी दूसरेका 'दास' होता है और न किसी दूसरेको 'दास' बनाता है।

परंतु इस दास्यरसमें एक कमी है, जो दासके द्वारा ऐसे कर्म-आचरण नहीं होने देती, जिनसे भगवान् श्रीकृष्णको विशेष आनन्द प्राप्त हो। वह है—अपनेमें हीनता, दीनता और मर्यादाका भाव, जो सदा ही जाग्रत् रहता है और सदा ही सम्भ्रम-संकोचका उदय कराता रहता है। अतएव इससे भी आगे 'सख्यभाव'में पहुँचना है। सख्यका स्थायिभाव 'सख्यरति' है। सख्य होता है दो समान गुणधर्मा मनुष्योंमें। उसमें समानताके भावकी प्रीति होती है, इससे भक्त अपनेको दीन-हीन नहीं समझता और परस्पर गुप्त-से-गुप्त रहस्यकी बात भी छिपायी नहीं जाती। दास्यरसके मर्यादा-संकोच-सम्भ्रमका प्रतिबन्ध इसमें नहीं है, न उतना मान-सम्मान है।

सख्यरसके भक्तोंके भी दो भेद हैं—'पुरसम्बन्धी' (ऐश्वर्यज्ञानयुक्त) और 'व्रजसम्बन्धी' (विशुद्ध भक्तिमय)। अर्जुन, भीम, द्रौपदी, उद्धव, सुदामा ब्राह्मण आदि 'पुरसम्बन्धी' भक्त हैं। व्रजसम्बन्धी सख्यभक्तोंमें ऐश्वर्यज्ञान नहीं है, पर उनकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) सुहृद् सखा, (२) सखा, (३) प्रिय सखा और (४) प्रियनर्मसखा। भगवान् श्रीकृष्णसे कुछ अधिक उम्रके वात्सल्यभावसे युक्त, सदा-सर्वदा श्रीकृष्णकी देख-रेख रखनेवाले सुभद्र, भद्रवर्धन, मंडलीभद्र, गोभट, यक्षेन्द्रभट, भद्राङ्ग, वीरभद्र, बलभद्र, महागुण और विनय आदि 'सुहृद् सखा' हैं। जो श्रीकृष्णसे कुछ कम उम्रके और श्रीकृष्णकी सेवा-सुखके ही अभिलाषी हैं—वे देवप्रस्थ, भानु, कुसुमपीड, मणिबन्ध, वरूथप, विशाल, वृषभ और ओजस्वी आदि 'सखा' हैं। जो श्रीकृष्णके समान उम्रके हैं, जिनमें वात्सल्य और दास्य-रसका सम्मिश्रण सर्वथा नहीं है। अपनेको श्रीकृष्णकी बराबरीका मानते हैं तथा जो श्रीकृष्णके साथ सदा निस्संकोच खेला करते हैं, कंधोंपर चढ़ा लेते हैं, स्वयं चढ़ जाते हैं, कभी मान करके रूठ जाते हैं तथा श्रीकृष्ण जिनको मनाते हैं, कभी श्रीकृष्णका जरा-सा भी मुख उदास देखते हैं तो रो-रो मरते हैं और अपने प्राण देकर

भी उन्हें सुखी देखना चाहते हैं—वे श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, किंकण, स्तोककृष्ण, भद्रसेन, पुण्डरीक, अंशु, विटंक और विलासी आदि 'प्रियसखा' हैं। और इन लोगोंसे भी अधिक भावयुक्त अत्यन्त अन्तरङ्ग, गोपनीय लीलाओंके सहचर सुबल, अर्जुनगोप, वसन्त, गन्धर्व और उज्ज्वल आदि 'प्रियनर्मसखा' हैं। इस सख्यरसके भक्तमें जगत्‌के सभी प्राणियोंके प्रति सहज 'मैत्री-भावना' हो जाती है।

सख्यरसमें कोई संकोच-सम्भ्रम न होकर विश्रम्भका भाव होनेपर भी एक कमी है। इसमें देश-काल-परिस्थितिकी कुछ ऐसी बाधाएँ रहती हैं, जिनसे भक्तका सारा समय और ध्यान केवल इसी भावमें नहीं लगा रहता। वे बाधाएँ बहुत अंशमें वात्सल्य-रसमें पहुँच जानेपर हट जाती हैं।

वात्सल्य-रसका स्थायिभाव 'वात्सल्य-रति' है। इसमें एक विचित्र ममताका उदय होता है। श्रीकृष्ण मेरा लाल है, मेरा दुलारा बच्चा है। यहाँ भगवान् उस भक्तके पुत्र होकर रहते हैं। श्रीकृष्ण यशोदामैयाका स्तन्यपान करके तथा नन्द बाबाकी गोदमें बैठकर जो सुख-लाभ करते हैं और जो सुख-सौभाग्य उनको देते हैं, उसकी कहीं कोई तुलना नहीं। इस वात्सल्य-रसकी ऐसी विलक्षणता है कि यह भगवान्‌की भगवत्ताको सर्वथा छिपा-सी देती है। नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी भगवान्‌के आनन्दांशसे सम्भूत देव-देवी ही हैं। वे भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान न रखते हों यह सम्भव नहीं है, तथापि वात्सल्य-रसके आस्वादनके लिये इनके सामने भगवान् ही अपने सर्वलोक-महेश्वरत्वको, अनन्त ऐश्वर्य-ज्ञान-स्वरूपको नन्हेंसे नन्दकुमारके रूपमें छिपा लेते हैं। लीलाके लिये अपने उस ऐश्वर्य-स्वरूपकी कभी-कभी झाँकी भी करा देते हैं। भगवान्‌ने मिट्टी खानेके समय, दूध पीते समय, दामोदर-लीलामें ऐश्वर्य दिखाया, पर यशोदा मैयाके उमड़ते मातृभावके सामने उसका कोई भी प्रभाव नहीं रह गया।

इस वात्सल्य-रसमें स्नेहका महान् रस-समुद्र उमड़ता रहनेपर भी यही सर्वोच्च रस नहीं है। रसकी सर्वोच्च परिणति है—कान्त या मधुरभाव अथवा माधुर्य-रसमें। यह मधुर या परमोच्च उज्ज्वल रस शृङ्गाररसका अतीन्द्रिय, दिव्यस्वरूप है। यहाँ इस बातको सदा स्मरण रखना चाहिये कि इस माधुर्य-रसकी लौकिक नर-नारियोंके दाम्पत्य-प्रेमसे कहीं भी, कोई भी समानता नहीं है। हम मनुष्योंमें प्रेम और स्नेहके जितने भी सम्बन्ध हैं, सभी स्वार्थमूलक हैं—अपने सुखकी कामनासे संयुक्त हैं। पर यह भगवत्प्रेम-रस, जिसकी आस्वादनलीला व्रजमें हुई थी केवल और केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही है। लौकिक प्रेम अहंसे युक्त 'स्वार्थमूलक' है और यह माधुर्य-प्रेम त्यागपूर्ण 'प्रियतम-सुखमूलक' है। इसीसे यह 'काम' है और यह 'प्रेम' है। दोनोंमें उतना ही अन्तर है, जितना घोर अन्धकार और परमोज्ज्वल प्रकाशमें है। लौकिक प्रेम कितना ही श्रेष्ठ तथा पूर्ण हो, वह इस दिव्यभावतक पहुँचनेकी कदापि सामर्थ्य नहीं रखता। लौकिक मलिन विषयकामकी तो बात ही क्या है, मुक्तिकी कामना भी यहाँ सहज ही कलंक-सी त्याज्य है।

श्रीरुक्मिणीजी आदि महिषीगण, श्रीलक्ष्मीजी आदि नित्यदेवीगण और महाभाव-स्वरूपा श्रीराधिका आदि गोपाङ्गनागण इस माधुर्य-रसकी आदर्श हैं। गाढ़ता और मृदुताके अनुसार इस माधुर्यरतिके तीन भेद माने गये हैं—साधारणी, समञ्जसा और समर्था।

भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारकालीलामें 'साधारणी', मथुरामें 'समञ्जसा' और वृन्दावनमें 'समर्था' रति है। यद्यपि द्वारकाकी महाभाग्यवती महिषियोंका प्रेम बहुत ही ऊँचा है और उनकी मन-बुद्धि सदा ही प्रियतम भगवान्‌के प्रति समर्पित है, पर उनका प्रेम-समर्पण वेद-विधिके अनुगत है। उनमें गृहस्थ-धर्मानुसार पुत्र-कन्यादिके लालन-पालनकी आशा और अपने स्वामीके द्वारा आत्म-सुख-प्राप्तिकी आकाङ्क्षा भी है, यह 'साधारणी-रति' है जिसमें पुत्र-कन्याके लालन-पालनादिकी तथा अपने रक्षणावेक्षणकी अपेक्षा नहीं है। प्रियतम श्रीकृष्णको सुख देना और उनसे सुख पाना 'आत्म-सुख' और 'प्रियतम-सुख'का मिश्रण यों जो 'समरस-विलास' है, वह 'समञ्जसा-रति' है। परस्पर गुणजनित सुख-प्राप्तिकी अभिलाषा होनेसे यह भी 'समर्था-रति' नहीं है। 'समर्था-रति' तो केवल श्रीगोपाङ्गनाओंमें ही है, जहाँ स्व-सुख-वासनाके लेश-गन्धकी भी कल्पना नहीं है। रसराज आनन्दस्वरूप भगवान् इस शुद्ध प्रेमरसके आस्वादनमें ही परमसुख प्राप्त करते हैं। इन श्रीगोपीजनोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं श्रीराधाजी; वे परम निर्मल, परम उज्ज्वल, दिव्यातिदिव्य रसकी अनन्त अगाध सागर हैं। श्रीराधारानी महाभावस्वरूपा हैं। श्रीलक्ष्मीजी,

महिषीगण और व्रजसुन्दरियाँ आदि सभी श्रीकृष्ण-प्रेयसियाँ इन श्रीराधाकी ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। श्रीराधा ही अनन्त श्रीकृष्ण-कान्तागणकी बीजरूपा मूलशक्ति हैं। लक्ष्मीगण इनकी 'अंश-विभूति', महिषीगण 'वैभवविलास' और व्रजाङ्गनाएँ 'काय-व्यूहरूपा' हैं।

श्रीराधाका यह प्रेम पूर्ण और असीम है। यह सदा बढ़ता ही रहता है। यह सर्वश्रेष्ठ विशुद्ध, सरल, निर्मल और श्रीकृष्ण-सुखैकतात्पर्यमय एकमात्र श्रीकृष्णसुखरूप है। यही परमोज्ज्वल, परमोत्कृष्ट नित्यानन्तरूप प्रेम परम पुरुषार्थ है। यही सर्वश्रेष्ठ चरम तथा परम उपासनाका सर्वोपरि सुधा-मधुर दिव्य फल है, जो श्रीराधाकी कृपासे प्राप्त हो सकता है।

श्रीगोपीजनके परम पवित्र त्यागभावका अनुकरण करके उनकी भाँति सर्वसमर्पणकी साधना (जिसे 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं) करनेसे श्रीराधाका कृपालाभ सम्भव है।

देवालय-संरक्षण

(श्रीजयगोपालजी सिंहल)

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः'—मनुष्य श्रद्धामय है। किसी भी स्थानपर, किसी भी वंश, जाति, परम्परामें मनुष्य जन्म ले, परंतु उसकी श्रद्धा ही उसके स्वरूपका प्रतीक है। कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी बिन्दुपर आकर मानवकी श्रद्धा केन्द्रित हो ही जाती है और वह उसी मानव-बिन्दुके आधारपर उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जाता है। भारतवर्ष विश्वका हृदय-स्थान है। आध्यात्मिकता, धार्मिकता इस देशके कण-कणमें व्याप्त है। आजसे नहीं, अनादिकालसे भारतीयोंकी स्वस्थ चिन्तनधारा स्वतन्त्ररूपसे प्रवहमान रही है। मनुष्य-शरीर पाँच तत्त्वोंसे बना है। अतः स्वभावतः मनुष्यकी श्रद्धा एवं स्वभावके अनुसार सगुण ब्रह्मकी पञ्चोपासनाकी ओर प्रवृत्ति होती है। पृथक्-पृथक् तत्त्वके पृथक्-पृथक् देवता होते हैं। अतः जिस तत्त्वकी प्रधानता जिस मनुष्यके स्वभावमें होगी, उसी तत्त्वसे सम्बन्धित देवताके प्रति उसकी स्वाभाविक रुचि होगी। महर्षियोंने विभिन्न मनुष्योंके लिये विभिन्न देवोंकी उपासनाका निर्देश किया है। हमारे देवालय भारतीय संस्कृतिके केन्द्र हैं, जहाँ मनुष्य अपनी श्रद्धा एवं स्वभाव तथा अभिरुचिके अनुसार स्वतन्त्ररूपसे साधना कर आत्मोन्नतिके मार्गपर अग्रसर होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी-तत्त्वके गुण कहे गये हैं और विष्णु, सूर्य, शक्ति, गणपति एवं शिवका इनसे क्रमशः सीधा सम्बन्ध है। अतः मनुष्य अपने स्वभावानुसार न्यूनाधिक रूपमें इन देवताओंकी ओर श्रद्धासे उन्मुख होता है और उनकी आराधनाके लिये, उपासनाके लिये अच्छे-से-अच्छे मन्दिरोंका निर्माण करता है, उनमें प्रतिमाओंकी प्राण-प्रतिष्ठा करता है और इष्टदेवकी मूर्तिके माध्यमसे उक्त परमतत्त्वको प्राप्त करता है। वह अपने मनकी चिन्ता, दुःख, विषमता आदि विषम स्पन्दनोंको अपने भगवद्विश्वासरूपी सम-शक्तिद्वारा पराभूत करते हुए आत्मशक्तिको प्रकाशित करनेमें सफल हो जाता है।

प्राचीन महर्षियोंने बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक इन सभी बातोंपर विचार करते हुए मन्दिरोंका विज्ञान-सिद्ध निर्माण करानेका विधान किया है, जहाँ शङ्ख, घण्टा, घड़ियाल आदिके द्वारा शब्द, धूप-दीप आदिके सुगन्धित वायुसे 'गन्ध' एवं वायुकी शुद्धि विविध रंगोंके वस्त्रालङ्कारों, पुष्पों आदिसे सुसज्जित मूर्तियोंके स्पर्शसे, पूजनसे, दर्शनसे नेत्रोंको आह्लादित कर तृप्ति-लाभ करते हैं। केशर, चन्दन, तुलसी, गङ्गाजल, कस्तूरी-मिश्रित चरणामृत पानकर अनेक विकारोंका शमन करते हैं। दुग्ध, दधि, घृत, शर्करा, मधु-मिश्रित पञ्चामृतके पानसे अनेक शारीरिक विकारोंको दूर कर, इस पाञ्चभौतिक शरीरको देवालयमें प्रवेशका अधिकारी बनाकर पवित्र अलौकिक वातावरणका निर्माण कर आत्मलाभ करते हैं।

अपनी इसी उपासना-पद्धतिको अपनाते हुए भारतीय जनोंने लाखों-करोड़ों वर्षोंसे इस देशके कोने-कोनेमें स्थित नगरों, कस्बों तथा ग्रामोंमें हजारोंकी संख्यामें देवालयोंका निर्माण कर अपनी श्रद्धाकी अभिव्यक्ति की है। प्राचीन कालमें जब वर्तमान भौतिक साधन सुलभ नहीं थे, यहाँके निवासियोंने विशाल पर्वतोंकी दुर्गम कन्दराओं, शिखरों, उपत्यकाओंसे लेकर पवित्र नदियोंकी पावन घाटियोंतकमें बड़े-बड़े विशाल गगनचुम्बी मन्दिरोंका निर्माण किया। उनमें भगवान्के अनेक रूपोंके श्रीविग्रह प्रतिष्ठित किये और सहस्रों रुपयोंसे दैनिक भोग तथा शृङ्गार, पूजन-अर्चन आदिके द्वारा अपनी श्रद्धाकी अभिव्यक्ति करते आ रहे हैं।

विदेशी आक्रमणोंसे इन पवित्र धरोहरोंकी रक्षाके लिये हजारों धर्मवीर बलिदानी वीरोंने अपने सिरतक कटाये, सर्वस्व बलिदान करके येन-केन-प्रकारेण इनकी रक्षा की और इनके अस्तित्वको कायम रखा। हमारे पूर्वजोंके अमर बलिदानोंका ही यह फल है जो देवालयोंके रूपमें विद्यमान हैं। भारत स्वतन्त्र हुआ तो इस देशकी धर्मप्राण जनताने सुखकी साँस ली और राष्ट्रभरमें एक नहीं अनेकों दिव्यातिदिव्य एवं भव्यातिभव्य मन्दिरोंका निर्माण कराया और अब भी यह क्रम जारी है। लक्ष्मीके उपासक, धर्मप्रिय, धनाढ्यलोग अपने हृदयमें निहित श्रद्धा एवं भक्तिका प्राकट्य इन देवालयोंके निर्माणके माध्यमसे करते रहे हैं, जिससे यश और प्रसिद्धि मिलना उसका गौण एवं लौकिक फल है। भगवान् लक्ष्मी-नारायणकी कृपासे प्राप्त सम्पत्तिका विनियोग उनके भक्तोंद्वारा, उनके लिये विशाल भव्य मन्दिरोंके रूपमें होना स्वाभाविक ही है। **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'** की भक्तिभावना इन देवालयोंमें होनेवाले भोग-प्रसाद आदिसे स्पष्ट प्रकट होती है। परंतु उस सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् निर्गुण ब्रह्मकी सगुण-साकार श्रीविग्रहके रूपमें होनेवाली उपासनाका एक दुर्बल पक्ष भी है, जिसे छिपाना अनुपयुक्त होगा। उसीपर विचार करने-हेतु यह प्रसङ्ग उठाया गया है। कुछ साधन-सम्पन्न न्यासों एवं समितियों आदिद्वारा संचालित व्यवस्थावाले देवालयोंको छोड़कर आज इन देवालयोंकी, हिन्दू-धर्म, संस्कृति-श्रद्धा एवं भक्तिभावके प्रतीक इन आध्यात्मिक केन्द्रोंकी वर्तमान दशापर देशवासियोंको विचार करना चाहिये। असंख्य मन्दिर उपेक्षित दशामें पड़े हुए हैं। पूजा-भोगकी नियमित व्यवस्था न होनेसे मूर्तियोंमें देवत्व नहीं रहता, ऐसा शास्त्रवचन है। देवत्वके अभावमें उत्तम पवित्र धरोहर अश्रद्धा, उपेक्षा एवं उपहासका कारण बनकर हमपर मूक दृष्टि डालकर कुछ करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं। जब वहाँ न घण्टा बजता है न घड़ियाल, न आरती होती है न पूजन-प्रसाद, न सत्संग होता है न सत्-शिक्षाका प्रचार-प्रसार, न प्रकाशकी व्यवस्था है और न सफाईकी। तो ऐसे देवत्वहीन वातावरणमें धर्म-हीन एवं धर्मके शत्रु नास्तिक व्यक्ति चोर और तस्कर बनकर हमारी संस्कृतिघातियोंके रूपमें प्रतिष्ठित हो कला और धर्मके प्रतीक, भक्ति और श्रद्धाके प्रतीक उन मूर्तियोंको देशके बाहर भेज रहे हैं, जो विदेशी विधर्मियों और बड़े-बड़े धनाढ्य अरबपतियोंके ड्राइंग रूमोंकी शोभा बढ़ा रही है।

हम अपनेको धर्मात्मा कहलानेमें निःसंदेह गौरव अनुभव करते हैं। अधिकांश व्यक्ति अपने-अपने विश्वासानुसार नित्य मन्दिरमें जाकर दर्शन-पूजन-अर्चनादि भी करते हैं। विभिन्न अवसरपर बड़े-बड़े धार्मिक अनुष्ठान भी सम्पन्न कराते हैं, जिनमें आज भी लाखों-करोड़ों रुपये नित्य इस धर्मप्राण देशमें व्यय होते हैं, यह संतोषकी बात है; परंतु उन मन्दिरोंके ठीक-ठीक रख-रखावके लिये, मूर्तियोंकी रक्षाके लिये, आज इन भक्तोंतकको समय नहीं है तो फिर अन्योंसे क्या आशा की जायगी कि वे इस पुनीत कार्यकी ओर अग्रसर होंगे। विभिन्न सम्प्रदायोंके मूर्धन्य आचार्योंसे विनम्र, करबद्ध निवेदन है कि वे देवालय-संरक्षण-कार्यकी ओर थोड़ा ध्यान देकर इस अमर थातीकी रक्षा करनेमें मार्ग-दर्शन करें और अपने अनुयायियों, भक्तोंको इस ओर प्रेरित करें कि वे प्राचीन देवस्थानोंकी मरम्मत, सफाई, पुताई, प्रकाश, पानी, पूजा एवं आरतीकी व्यवस्थाके साथ-साथ मूर्तियोंकी सुरक्षाकी ओर शीघ्र ध्यान दें।

सम्पूर्ण देशमें धर्मप्राण जनताको चाहिये कि इस ज्वलन्त प्रश्नपर गम्भीरतापूर्वक विचार करके अपने-अपने क्षेत्रोंके महात्माओं, विद्वानों, आचार्योंकी संरक्षणतामें योजनाबद्धरूपसे कार्यका संचालन करें। छोटे-बड़े सभी मन्दिरोंकी सूचियाँ तैयार करके उपेक्षित पड़े मन्दिरोंके जीर्णोद्धारमें लग जायँ। थोड़ी-थोड़ी मरम्मत एवं पुताईसे ही चाहे कार्य आरम्भ हो, परंतु यह आज समयकी पुकार है। हमारी आस्थाके मानबिन्दुओंपर आज संकट है, हमारे चरित्रके हनन एवं धार्मिक संस्कारोंके समूल नष्ट होनेकी स्थिति बनी हुई है। सम्पूर्ण राष्ट्रके सर्वधर्म समभाव और **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**की उदात्त भावनासे परिपूरित होते हुए भी आज इस राष्ट्रके निवासियोंके रक्तमें धर्मविहीनताके विषैले तत्त्व शनैः-शनैः प्रविष्ट हो रहे हैं। इतिहास साक्षी है कि जब भी इस धर्मपर आपत्ति आयी, इसके अनुयायियोंने प्राणपणसे उसकी रक्षा की है। आओ, हम प्रतिज्ञा लें कि आजके इस भीषण कालमें हम अपनी उन पवित्र धरोहरोंकी रक्षामें आजसे ही जुट जायँगे और सभी देवालयोंके निकट-निवासियोंसे सम्पर्क स्थापित कर उन्हें इस पुनीत कार्यके लिये प्रेरित करेंगे।

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

एक वस्तुका निर्माण (बनाना) होता है और एक वस्तुका अन्वेषण (ढूँढ़ना) होता है। ढूँढ़नेसे वही चीज मिलती है, जो पहलेसे थी। जो चीज बनायी जाती है, पैदा की जाती है, वह पहले नहीं होती, प्रत्युत बननेके बाद होती है। परमात्मतत्त्व पैदा नहीं किया जाता। वह कृतिसाध्य नहीं है। जो कृतिसाध्य नहीं है, उसमें कर्ता, कर्म, करण आदि कोई भी कारक लागू नहीं होता। करना सब प्रकृतिमें होता है—**'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** (गीता ३। २८), **'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्'** (गीता १४। १९), **'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते'** (गीता ५। ९), **'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।'** (गीता ३। २७)। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें क्रिया है नहीं, कभी हुई नहीं, कभी होगी नहीं, कभी हो सकती नहीं। वह परमात्मतत्त्व तो ज्यों-का-त्यों है। 'नहीं' की तरफ जो आकर्षण है, इसके सिवाय उसकी प्राप्तिमें कोई बाधा नहीं है। 'नहीं' को सत्ता भी आपने ही दी है। उसकी खुदकी सत्ता तो है ही नहीं। अपने बचपनको आपने छोड़ा है क्या ? किसीने छोड़ा हो तो बता दो कि किस तारीखको बचपन छोड़ा। बचपन तो अपने-आप छूट गया। यह असत् एक क्षणभर भी नहीं टिकता। इसके बदलनेकी गतिको देखा जाय तो इसको दो बार आप देख नहीं सकते। पहले जैसा देखा, दूसरी बार देखनेसे वह वैसा नहीं रहा, बदल गया। अब आपके ख्यालमें आये या न आये, यह बात अलग है।

जो वर्षमें बदलता है, वही महीनेमें बदलता है, वही दिनमें बदलता है, वही घंटेमें बदलता है, वही मिनटमें, सेकेंडमें बदलता है। सिवाय बदलनेके संसारमें और कुछ तत्त्व ही नहीं है—**'सम्यक् प्रकारेण सरति इति संसारः'**, **'गच्छति इति जगत्।'** जो हरदम बदलता है, उसको तो आप स्थायी मानते हैं और जो कभी बदला नहीं, कभी बदलेगा नहीं, कभी बदल सकता नहीं, उसकी प्राप्तिको कठिन मानते हैं। जो निरन्तर रहता है, कभी बदलता नहीं, उसकी प्राप्ति कठिन है तो फिर सुगम क्या है ? वह तो स्वतः-स्वाभाविक है, सिर्फ उधर दृष्टि करनी है।

आप ध्यान दें, यह जो 'संसार है' ऐसा दीखता है, यह 'है' पना क्या संसारका है ? अगर संसारका है तो फिर बदलता क्या है ? सत्का तो अभाव होता नहीं और संसारका अभाव प्रत्यक्ष हो रहा है। अवस्थाका, परिस्थितिका, घटनाका, देशका, कालका, वस्तुका, व्यक्तिका—इन सबका परिवर्तन होता है—यह प्रत्यक्ष हमारे अनुभवकी बात है। स्थूल-से-स्थूल बात बतायें कि आप यहाँ नहीं आये तो भी प्रकाश वैसा ही था और आप आ गये तो भी प्रकाश वैसा ही है। आप आयें या चले जायँ, प्रकाशमें क्या फ़र्क पड़ता है ? ऐसे ही आप कभी दरिद्री हो जायँ, कभी धनी हो जायँ, कभी बीमार हो जायँ, कभी स्वस्थ हो जायँ, कभी आपका सम्मान हो जाय, कभी अपमान हो जाय, पर आपके होनेपनमें क्या फर्क पड़ता है ? आपका जो होनापन है, सत्ता-स्वरूप है, उसमें आप स्थित रहो—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४। २४)। तात्पर्य है कि आपकी सत्ता निरन्तर रहनेवाली है। अगर आपकी सत्ता नहीं रहेगी तो चौरासी लाख योनियाँ कौन भोगेगा, नरक कौन भोगेगा, स्वर्ग आदि लोकोंमें कौन जायगा ? आपकी सत्ता निरन्तर ज्यों-की-त्यों है। उसमें कोई परिवर्तन हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।

विचार करें, आपके होनेपनमें कौन-से करणकी सहायता है ? किस कारककी सहायतासे आपका होनापन है ? आपका होनापन करण-निरपेक्ष है। अपने होनेपनमें रहते हुए भी आप उससे चिपकते हैं, जो नहीं है। वास्तवमें उससे कभी चिपक सकते नहीं। किसीकी ताकत नहीं कि असत्के साथ चिपक जाय, असत्के साथ रह जाय। कैसे रह जायगा ? असत् तो परिवर्तनशील है। पर मेहनत सब उसीके साथ चिपकनेकी होती है। कोरी फालतू मेहनत होती है। अपने होनेपनमें क्या फर्क पड़ता है ? क्रियाओं और पदार्थोंके परिवर्तनको अपनेमें मान लो तो आपकी मरजी है, होनेपनमें तो कोई परिवर्तन है नहीं। आने-जानेवालोंमें परिवर्तन है, प्रकाशमें परिवर्तन नहीं है। ऐसे जो सबका प्रकाशक है, स्वयंप्रकाश है, प्रकाशस्वरूप है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। जो है, उसमें 'नहीं' पना नहीं हो सकता और जो नहीं है, उसमें 'है' पना नहीं हो सकता— **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'**

(गीता २ । १६) । असत्‌की सत्ता नहीं होती और सत्‌का अभाव नहीं होता। सत् सदा ज्यों-का-त्यों, अटल, अखण्ड रहता है और उसमें सबकी स्थिति स्वतः है। परंतु जो मिटता है, उसमें आप स्थिति मान लेते हैं कि मैं धनी हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं नीरोग हूँ, मेरा सम्मान है, मेरा अपमान है। मिटनेवालेको आप पकड़ नहीं सकोगे, चाहे युग-युगान्तरोंतक मेहनत कर लो ! अपनी स्वतःसिद्ध सत्तामें स्थित हो जाओ तो गुणातीतके सब लक्षण आपमें आ जायँगे। वास्तवमें वे लक्षण आपमें हैं, पर बदलनेवालेके साथ मिल जानेसे उनका अनुभव नहीं हो रहा है।

श्रोता—महाराजजी ! क्रियाओंमें भी तो वही सत्ता है ?

स्वामीजी—क्रियाओंकी सत्ता है ही नहीं। क्रियाएँ तो आरम्भ होती हैं और नष्ट होती हैं। मैंने व्याख्यान शुरू किया और अब खत्म हो रहा है। क्रिया और पदार्थ सब खत्म होनेवाले हैं।

श्रोता—बिना सत्ताके क्रिया कैसे हुई ? सत्ता है, तभी तो क्रिया हुई ?

स्वामीजी—तो बस, सत्ता हुई मूलमें, क्रिया कहाँ हुई ? यही तो हम कहते हैं ! क्रियाका अभाव होता है। सत्ताका अभाव कभी होता ही नहीं। बिलकुल प्रत्यक्ष बात है। इसका कोई खण्डन कर सकता ही नहीं। किसीकी ताकत नहीं कि इसका खण्डन कर दे। असत्‌की सत्ता भी सत्‌के अधीन है, सत्‌की सत्ता भी सत्‌के अधीन है। असत्‌की स्वतन्त्र सत्ता कभी हुई नहीं, कभी होगी नहीं, कभी हो सकती नहीं। इसलिये अपने स्वरूपमें स्थित रहो, इधर-उधर चलो ही मत। **'समदुःखसुखः स्वस्थः'**—सुख-दुःख तो आते-जाते हैं, इसमें आप स्वतः ही सम हो। अगर आप सम नहीं हो तो यह सुख हुआ और यह दुःख हुआ—इन दोनोंका ज्ञान कैसे होता है ? सुख आता है तो आप सुखके साथ निरन्तर मिलकर सुखी हो जाते हो और दुःख आता है तो दुःखके साथ मिलकर दुःखी हो जाते हो। अगर आप सुखके साथ मिल ही जाते तो फिर दुःखके साथ नहीं मिल सकते और दुःखके साथ मिल जाते तो फिर सुखके साथ नहीं मिल सकते। अतः वास्तवमें आप सुख-दुःख दोनोंसे अलग हो, पर भूलसे अपनेको सुख-दुःखके साथ मिला हुआ मानकर सुखी-दुःखी हो जाते हो। सुख और दुःख तो बदलनेवाले हैं, पर आप न बदलनेवाले हो। आपके सामने कभी सुख आता है, कभी दुःख, कभी मान होता है, कभी अपमान; कभी आदर होता है, कभी निरादर; कभी विद्वत्ता आती है, कभी मूर्खता; कभी रोग आता है, कभी नीरोगता; पर आप वही रहते हो। अगर वही नहीं रहते तो इन सबका अलग-अलग अनुभव कैसे होता ? अगर अलग-अलग अनुभव होता है, तो फिर आपका अभाव कैसे हुआ ? सुख-दुःख आदिका अभाव हुआ। अतः कृपानाथ ! आप इतनी कृपा करो कि अपने होनेपनमें स्थित रहो। आपका होनापन स्वतःसिद्ध है, कृतिसाध्य नहीं है। उधर दृष्टि नहीं डाली, बस इतनी बात है।

श्रोता—महाराजजी ! अन्तःकरणमें राग-द्वेष रहते हुए ही क्रियाएँ होती हैं !

स्वामीजी—बिलकुल क्रियाएँ होती हैं राग-द्वेष रहते हुए; परंतु आपका कभी अभाव होता है क्या ? कितना ही राग-द्वेष हो जाय, कितना ही हर्ष-शोक हो जाय, आपमें कुछ फर्क पड़ता है क्या ?

श्रोता—फर्क न पड़नेपर भी साधकमें घबराहट रहती है कि राग-द्वेष तो हो रहे हैं !

स्वामीजी—आप राग-द्वेषको पकड़ लेते हो, बहते हुएको पकड़ लेते हो, तब घबराहट होती है। राग रहता नहीं, द्वेष रहता नहीं, वैर रहता नहीं, सुख रहता नहीं, दुःख रहता नहीं; जो रहता नहीं, उसको पकड़ लेते हो। आप उसको पकड़ो मत। आप तो वैसे-के-वैसे रहते हो। अगर वैसे नहीं रहते तो सुख और दुःखको, राग और द्वेषको आप अलग-अलग कैसे जानते हो। रागके समय रहते हो, वही द्वेषके समय रहते हो; द्वेषके समय रहते हो, वही रागके समय रहते हो, तब दोनोंका अनुभव होता है। जिसको दोनोंका अनुभव होता है, उसमें दोनों कहाँ हैं ?

यह एक वहम है कि अन्तःकरण शुद्ध होनेसे कर्ता शुद्ध हो जायगा। सभी कारक क्रियाके होते हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण—ये सब क्रियाके हैं, प्रकृतिके हैं। यह प्रकृति जिससे प्रकाशित होती है, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः आप राग-द्वेषसे डरो मत। ये तो मिटनेवाले हैं, आने-जानेवाले हैं। असत् तो मिट रहा है।

किसीकी ताकत नहीं कि असत्‌को स्थिर रख सके और सत्‌का विनाश कर सके। असत् तो टिक नहीं सकता और सत् मिट नहीं सकता। असत्‌में किसीकी स्थिति हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती नहीं; एवं सत्‌से अलग कोई हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं।

श्रोता—असत्‌में स्थित होकर ही तो भोक्ता बनता है!

स्वामीजी—बिलकुल, इसमें कहना ही क्या है। वह असत्‌में स्थिति मान लेता है, स्थित होता नहीं। अगर आपकी स्थिति सत्‌में है तो फिर असत्‌में स्थिति कैसे हुई? अगर असत्‌में स्थिति है तो फिर सत्‌में स्थिति कैसे हुई? रागमें आपकी स्थिति है तो द्वेष कैसे हुआ? द्वेषमें आपकी स्थिति है तो राग कैसे हुआ? राग और द्वेष तो संसारके हैं, उसमें आप लिप्त हो जाते हो। आपमें न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है, न शोक है। बड़ी सीधी-सरल बात है, जिसमें कठिनताका नामोनिशान ही नहीं है!

श्रोता—फिर गड़बड़ी कहाँ है?

स्वामीजी—असत्‌को आप छोड़ना नहीं चाहते—यहाँ ही गड़बड़ी है! संयोगजन्य सुख आपने मान रखा है, यहाँ गड़बड़ी है।

श्रोता—असत्‌का त्याग कैसे हो?

स्वामीजी—अरे! असत्‌को आप पकड़ सकते ही नहीं। किसीकी ताकत नहीं कि असत्‌को पकड़ ले। असत्‌का त्याग क्या करना है, त्याग तो अपने-आप हो रहा है!

सुख और दुःख, राग और द्वेष—दोनोंका जिसको अनुभव होता है, उसमें न सुख है, न दुःख है, न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है, न शोक है। जो इन सबसे रहित है, वह आपका स्वरूप है। जिसमें राग-द्वेष आदि होते हैं, वह आपका स्वरूप नहीं है। सीधी बात है! राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि जो दो चीजें हैं, वे आपमें नहीं हैं। वे बेचारी तो आपके सामने गुजरती हैं। कभी राग हो गया, कभी द्वेष हो गया, कभी हर्ष हो गया, कभी शोक हो गया, कभी निन्दा हो गयी, कभी प्रशंसा हो गयी। ये तो होनेवाले हैं और मिटनेवाले हैं। अब होनेवाले और मिटनेवालेको पकड़कर आप सुखी-दुःखी होते हैं! ये तो आपके सामने आते हैं, बीतते हैं, गुजरते हैं। आप ज्यों-के-त्यों रहते हो। आपमें फर्क पड़ता नहीं, आप बदलते नहीं। जो नहीं बदलता, वह आपका स्वरूप है और जो बदलता है, वह प्रकृतिका है। इतनी ही बात है, लम्बी-चौड़ी बात ही नहीं है। कृपानाथ! कृपा करो, आप अपने स्वरूपमें स्थित रहो। स्वरूपमें आपकी स्थिति स्वतः है। आगन्तुक सुख-दुःखमें, आगन्तुक राग-द्वेषमें आप अपनी स्थिति जबरदस्ती करते हो, और उसमें आपकी स्थिति कभी रह सकेगी नहीं। आप कितना ही उद्योग कर लो, न रागमें, न द्वेषमें, न सुखमें, न दुःखमें आपकी स्थिति रह सकेगी। कारण कि आप इनके साथ नहीं हो, ये आपके साथ नहीं हैं। आप कहते हैं कि मिटता नहीं, हम कहते हैं कि टिकता नहीं!

श्रोता—इनमें अपनी जो स्थिति मान रखी है, उस मान्यतासे छूटनेका साधन क्या है?

स्वामीजी—साधन यही है कि नहीं मानेंगे। जो भूलसे मान लिया, उसको नहीं मानना ही साधन है। कितनी सीधी-सरल बात है! कठिनताका नाम-निशान ही नहीं है। निर्माण करना हो, बनाना हो, उसमें कहीं कठिनता होती है, कहीं सुगमता होती है। जो ज्यों-का-त्यों विद्यमान है, उसको जाननेमें क्या कठिनता है?

श्रोता—जिस समय राग-द्वेष आते हैं, उस समय तो प्रभावित हो जाते हैं!

स्वामीजी—तो प्रभावित होना आपकी गलती हुई, राग-द्वेषकी थोड़े ही गलती हुई! आप राग और द्वेष—दोनोंको जानते हो और दोनोंसे अलग हो। अब आप अलग होते हुए भी प्रभावित हो जाते हो, मिल जाते हो, तो यह गलती मत करो।

श्रोता—उसका असर पड़ता है!

स्वामीजी—आप उसको आदर देते हो तो असर पड़ता है। आदर दोगे तो असर पड़ेगा ही! ये तो आगन्तुक हैं। गीता साफ कह रही है—**'आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व'** (२। १४) 'ये आने-जानेवाले और अनित्य हैं, इनको सह लो, विचलित मत होओ।' आप मुफ्तमें विचलित होते हो, पत्थर उछालकर सिर नीचे रखते हो! इसमें दूसरेका क्या दोष है?

श्रोता—यह सहना अभ्याससे आयेगा क्या?

स्वामीजी—आप सहते ही हो, नहीं तो आप क्या

करोगे ? सुख आ जाय, उस समय आप क्या करोगे ? दुःख आ जाय, उस समय आप क्या करोगे ? जबरदस्ती तो सहते ही हो, जानकर सह लो तो निहाल हो जाओ ! नहीं तो भोगना पड़ेगा ही। नहीं सहोगे तो कहाँ जाओगे ? चाहे सुख आये, चाहे दुःख आये, आप तो ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥
(गीता २।१५)

'हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! सुख-दुःखमें सम रहनेवाले जिस धीर मनुष्यको ये मात्रास्पर्श, पदार्थ व्यथा नहीं पहुँचाते, वह अमर हो जाता है।'

ये प्राकृत पदार्थ किसको व्यथा नहीं पहुँचाते ? जो सम रहता है, उसको। आप सम नहीं रहते तो कभी सुख पाते हो, कभी दुःख पाते हो। आपने मुफ्तमें बड़े परिश्रमसे बन्धनको पकड़ा है, पर वह टिकेगा नहीं, टिक सकता नहीं। परंतु आप नये-नये बन्धनको पकड़ते रहते हो। बचपन छूट गया तो जवानीको पकड़ लिया और जवानी छूट गयी तो वृद्धावस्थाको पकड़ लिया। आगन्तुकको पकड़कर मुफ्तमें दुःख पाते रहते हो। कृपा करो, आप अपने स्वरूपमें स्थित रहो।

श्रोता—महाराजजी ! तुलसीदासजीको जब शारीरिक कष्ट हुआ तो वे भी सम नहीं रह सके और उन्होंने हनुमानबाहुक लिखा, तो हमारी क्या ताकत है कि सम रह जायँ ?

स्वामीजी—वे सम नहीं हुए तो उनकी मरजी, आप क्यों विषम होते हैं ? गोस्वामीजी हों या दूसरा कोई हो, हम उनकी पंचायती करते ही नहीं; हम तो अपनी पंचायती करते हैं! आप क्यों सुखी-दुःखी होते हो ? कहीं ऐसा लिखा है कि जो तुलसीदासजीमें नहीं हुआ, वह आपमें नहीं होगा ? तुलसीदासजीके छोरा-छोरी नहीं हुए, पर आपके हो गये ! तुलसीदासजीमें जो बीमारी नहीं आयी, वह आपमें आ गयी ! जो तुलसीदासजीमें नहीं आयीं, वे कई बातें आपमें आ गयीं ! आपमें जो बातें आयी हैं, वे सब तुलसीदासजीमें आयी थीं क्या ? जितनी आपपर बीती है, उतनी तुलसीदासजीपर बीती थी क्या ? फिर तुलसीदासजीको बीचमें क्यों लाते हो ?

मैं तो अपने अनुभवकी बात आपको कहता हूँ, न तुलसीदासजीकी बात कहता हूँ, न शंकराचार्य आदिकी बात कहता हूँ। आप अनुभव करके देखो। अगर आपको अनुभव करना है तो इधर-उधरकी बात मत करो। आपसे चर्चा करके मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि वास्तवमें अपने कल्याणकी इच्छा है ही नहीं। अपने कल्याणकी इच्छावाला दूसरी बात कर नहीं सकता। कल्याणकी सच्ची इच्छा हो तो सब सम्बन्ध तोड़कर भजनमें लग जाय। किसीसे न लेना है, न देना है, न आना है, न जाना है; किसीसे कोई मतलब नहीं। रोटी मिल जाय तो खा ली, और न मिले तो कोई परवाह नहीं—***'जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिये, सीताराम सीताराम सीताराम कहिये।'*** यदि रोटी न मिलनेसे मर जाओगे तो क्या रोटी खाकर जीते रहोगे ? क्या रोटी खानेवाला कभी मरता नहीं ? समय आनेपर सबको मरना पड़ेगा ही। इसलिये कोई करे या न करे, हमें तो अपना कल्याण करना है।

कल्याण स्वतःसिद्ध है, बन्धन स्वतःसिद्ध नहीं है। बन्धन कृत्रिम है और आपका बनाया हुआ है। आप अपने-आपका अनुभव करो कि बालकपनसे आजतक आप वही हो कि दूसरे हो ? अवस्थाएँ बदलीं, देश बदला, काल बदला, परिस्थिति बदली, पर आप वही रहे। जो बदलता है, उसको ले-लेकर आप सुखी-दुःखी होते हो। आप अपने होनेपनमें स्थित रहो। जो बदलता है, उसमें क्यों स्थित होते हो ?

दौड़ सके तो दौड़ ले, जब लगि तेरी दौड़।
दौड़ थक्या धोखा मिट्या, वस्तु ठौड़-की-ठौड़॥

श्रोता—स्वामीजी ! अपने स्वरूपमें भी स्थित होना है और शरीरको चारा भी देना है……।

स्वामीजी—दोनोंमें अपने स्वरूपमें स्थित होना है। शरीरके पीछे क्यों पड़े हो ? वह तो नष्ट हो रहा है।

श्रोता—उसको चारा तो देना पड़ेगा महाराजजी !

स्वामीजी—चारा देनेके लिये कौन मना करता है ? कभी मना किया है मैंने स्वप्नमें भी ? पर अपनेको क्यों देना पड़ेगा, जिसको गरज है, वह दे या न दे। आप कहाँसे लाओगे देनेके लिये ? लोगोंका इधर-से-उधर दिया है और उधर-से-इधर लिया है, और आपने क्या किया है ? जो हैं, उन्हीं चीजोंमें उथल-पुथल किया है। चारा देना पड़े या न पड़े, कोई आवश्यकता नहीं आपको। जो जीवन्मुक्त महापुरुष होते

हैं, उनकी लोगोंको गरज हो तो वे उन्हें अन्न दें, वस्त्र दें, नहीं तो मरने दें ! उस महापुरुषको तो संसारसे कोई मतलब नहीं है, संसारसे कुछ लेना नहीं है, जिनको दूधकी गरज है, वे दूध देनेवाली गायका पालन अपने-आप करेंगे, ऐसे ही जिनको जीवन्मुक्त महापुरुषकी गरज है, वे उसका पालन अपने-आप करेंगे। नहीं करेंगे तो उसको लेना है ही नहीं। उसका तो काम बन गया है !

आवश्यकताके अनुसार अन्न लेना, जल लेना और सोना—इन तीन चीजोंके लिये मैं मना करता ही नहीं। भूख भी लगेगी, प्यास भी लगेगी, नींद भी आयेगी, ये तो आती रहेंगी, अपना क्या मतलब है इनसे ? जैसे कभी धूप आती है, कभी छाया आती है, कभी वर्षा आती है, कभी हवा चलती है, कभी ठंडी आती है, कभी गरमी आती है, ऐसे ही भूख भी लगती है, प्यास भी लगती है। कभी संयोग होता है,कभी वियोग होता है; यह तो होता ही रहता है। इसको क्या आदर दें ? हो गया तो क्या, नहीं हो गया तो क्या ? आप तो वैसे-के-वैसे ही रहे। प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है !

खान-पानमें संयम

(पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

'कबिरा' क्षुधा है कूकरी करत भजनमें भंग।
याको टुकड़ा डारि के भजन करो निःशंक॥

'स्वादकी दृष्टिसे किसी भी चीजको चखना अस्वादव्रतका भंग करना है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर हमें पता चलेगा कि जो अनेक चीजें हम खाते हैं, वे शरीर-रक्षाके लिये जरूरी न होनेसे त्याज्य ठहरती हैं।' (महात्मा गाँधी)

पवित्र जीवनके लिये खान-पानके संयमकी अत्यन्त आवश्यकता है। भोजन यदि जीवन-रक्षाके लिये किया जाय तो वह आनन्दप्रद होता है, अन्यथा उसके द्वारा अधिक-से-अधिक जितनी हानि हो सकती है, होती है। वास्तवमें हमें जीनेके लिये खाना चाहिये, न कि खानेके लिये जीना ! जो लोग खानेके लिये ही जीते हैं, वे अधम श्रेणीके मनुष्य हैं। जीवन-रक्षाके लिये जो भोजन करते हैं, वास्तवमें वे ही भोजनके वास्तविक उपयोगको जानते हैं। क्षुधाको शान्त करनेके लिये भूखभर ही जो भोजन किया जाता है, वही वास्तविक आनन्दप्रद भोजन होता है। आवश्यकतासे यदि एक कौर भी अधिक भोजन कर लिया जाय तो वह एक ग्रास ही भोजन करनेवालेके पतनका कारण होता है। भूखसे अधिक भोजन शरीरके लिये तो हानिकर होता ही है, आत्माके लिये भी उससे कम हानिकर नहीं होता। जहाँ भूखसे बहुत कम खाना त्यागका गलत आदर्श है, उसी प्रकार अधिक भोजन करना भी बहुत बड़ी भूल है। केवल इन्द्रियतृप्ति और स्वादके लिये जो भोजन किया जाता है, वह मनुष्यको स्पष्टरूपसे पतनके भीषण गड़हेमें ले जाकर डाल देता है—इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है। ऐसा भोजन हमें प्रभु-पथसे विमुख कर नरककी भीषण ज्वालाओंमें ले जाकर पटक देता है। अतः हमें केवल शुद्ध, सात्त्विक और स्वास्थ्यप्रद भोजन करना चाहिये और सो भी केवल उतना, जितना हमारी क्षुधा-शान्तिके लिये अनिवार्य हो। केवल वही भोजन हमें साधनपथपर आरूढ़ करा सकेगा।

संसारमें मदिरा, ताड़ी, चाय, काफी, कोको, भाँग, अफीम, चरस, गाँजा, तंबाकू, बीड़ी, सिगरेट, चुरुट आदि जितनी मादक वस्तुएँ हैं, वे सब मनुष्यमात्रके लिये अव्यवहार्य हैं। उनका उपयोग मनुष्यको साक्षात् नरककी ओर ले जानेवाला है। मनुष्यको राक्षस बनानेवाली तथा पतनके भीषण गर्तमें डुबानेवाली ऐसी वस्तुएँ साधकोंके लिये कितनी हानिप्रद हैं, यह सभी सोच सकते हैं। उन्हें तो इस प्रकारकी सारी वस्तुओंका सर्वथा त्याग कर देना पड़ेगा। बिना इनका त्याग किये साधनपथपर अग्रसर ही नहीं हुआ जा सकता। तंबाकू—जिसे कि दुर्भाग्यसे अधिकांश भारतवासी पीनेके अभ्यासी हैं—कितने पापकी जड़ है। पद्मपुराणमें तो यहाँतक कहा गया है कि—

धूम्रपानरते विप्रे दानं कुर्वन्ति ये नराः।
ते नरा नरकं यान्ति ब्राह्मणा ग्रामशूकराः॥

—'धूम्रपान करनेवाले ब्राह्मणको दानतक देनेवाला नरकका अधिकारी होता है और उन ब्राह्मणोंका तो कहा ही क्या जाय। ऐसे लोगोंको ग्रामशूकर बनकर विष्ठा-भोजन करना पड़ता है।'

अन्य मादक वस्तुओंका सेवन तो इससे भी अधिक पापका कारण है। आत्मिक पतन और शारीरिक हानि—सभी बातें इनके सेवनसे प्राप्त होती हैं। मादक वस्तुओंसे हानियाँ इस प्रकार हैं—

१-इनसे दुःख और क्लेश, घृणा और द्वेष, पाप और बेशर्मीका द्वार खुल जाता है। मनुष्यका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, उसमें मानवताके स्थानपर दानवता आ विराजती है, शक्ति घट जाती है, क्रोध बढ़ जाता है, आँखें लाल बनी रहती हैं, जीभ कटुभाषी हो जाती है!

२-काम-वासनाको इनसे खूब उत्तेजना मिलती है। शरीर भ्रष्ट और निरर्थक बन जाता है। उसमें बुरी-बुरी बीमारियाँ आकर डेरा जमा लेती हैं!

३-बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। मनुष्य वासनाओंका दास बन जाता है। उसकी अवस्था बिलकुल पागलोंकी-सी हो जाती है। उसका चरित्र, चाल-ढाल, बोल-चाल, व्यवहार-बर्ताव पशुओंसे भी गया-बीता हो जाता है

४-सारा संयम स्वाहा हो जाता है। सारे आवश्यक बन्धन टूट जाते हैं। किसी भी निन्द्य-से-निन्द्य कुकर्मके करनेमें उसे तनिक भी लज्जा नहीं आती। साधारण स्थितिमें मनुष्य जिन पापोंकी कल्पनातकसे घबड़ा उठता है, नशेकी अवस्थामें उसे अपनी इस पापभीरुतापर हँसी आती है और वह बिलकुल निधड़क होकर पापोंमें संलग्न हो जाता है, अपना सारा कर्तव्यकर्म भूल जाता है। उसका हृदय कमजोर हो जाता है तथा उसकी आत्मिक शक्तिका सर्वथा लोप हो जाता है।

५-ईश्वर और धर्म दोनों ऐसे व्यक्तिके उपहासके विषय बन जाते हैं। वह इनके सर्वथा प्रतिकूल हो जाता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि दो परस्परविरोधी बातें एक साथ कभी हो ही नहीं सकतीं। एक व्यक्ति एक ही साथ पाप भी करता जाय और पुण्य भी—ऐसा होना सर्वथा असम्भव है। ऐसा व्यक्ति तो केवल शैतानकी उपासना करता है। मन्दिरमें जाकर भी शराब पीनेकी आज्ञा माँगता है—सो भी भगवान्‌की सर्वव्यापकताकी दुहाई देकर! ऐसी उलटी बुद्धिको कोई क्या करे!

६-ऐसे व्यक्तिके जीवन-कर्मका सारा ढाँचा एकबारगी ही पलट जाता है। दिन-रात उसे पापकर्म ही सूझा करते हैं। हरदम शैतानियतका भूत ही उसके सिरपर सवार रहा करता है। प्रलोभन और दुर्बलताएँ सदैव ही उसे मनमानी रीतिसे नचाया करती हैं। इस प्रकार दिन-रात उसके पाप बढ़ते ही रहते हैं, घटनेका नाम नहीं लेते।

७-उसका आत्मा पतित और अधोमुखी हो जाता है, अतः वह सदैव दुष्कर्मों और पापोंके वशीभूत बना रहता है। वह अपनी सारी इच्छाशक्ति, बुद्धि, सामर्थ्य, साहस, पवित्रता आदिसे पूर्णरूपेण हाथ धो बैठता है। उसकी भला-बुरा सोचनेकी शक्ति मारी जाती है।

अतएव साधकोंको इस प्रकारके सारे व्यसन सर्वथा त्याग देने चाहिये, अन्यथा वे कभी भी अपने मनोरथमें सफल नहीं हो सकते।

मादक वस्तुओंका सेवन करनेवाले व्यक्तियोंको सभी सरलतासे पहचान सकते हैं। यह बीमारी सब बीमारियोंसे अधिक खतरनाक है। बीमारीसे तो केवल तन और धनकी हानि होती है, किंतु इस बीमारीसे तो मनुष्यकी सर्वोत्तम वस्तु—आत्माका अकल्याण होता है, मानसिक पतन होता है। ऐसे अभागोंके बाहरी व्यवहार ही इस प्रकारके होते हैं, जिन्हें देखकर प्रत्येक मनुष्य ऐसे पापपूर्ण मार्गसे सदैव बचे रहनेकी शिक्षा ले सकता है। ऐसे लोगोंके भद्दे-गंदे इशारे, लंबी-चौड़ी व्यर्थकी तमाम झूठी बातें, असभ्यतापूर्ण हास्य, बुद्धिशून्य गाली-गलौज, तमाम निस्सार और व्यर्थके पापपूर्ण कार्य, कुम्भकर्णी निद्रा, पागलोंका-सा प्रलाप, नालियों आदिमें गिरकर घंटों पड़े रहना, वमन, मल-मूत्रका बिना बिचारे यत्र-तत्र-सर्वत्र त्याग आदि देख-सुनकर भला किसे घृणा न आयेगी।

साधकोंके चरणोंमें निवेदन है कि यदि दुर्भाग्यसे वे ऐसे किसी भी व्यसनके शिकार बन गये हों तो उनका कर्तव्य है कि वे शीघ्र-से-शीघ्र अपनेको उसके पाशसे मुक्त करनेका प्रयत्न करें। केवल तभी ही वे अपने अभीष्टतक पहुँचनेमें सफल हो सकेंगे, अन्यथा नहीं।

खान-पानमें संयम पालनेके नियम

१-भूख लगनेपर ही भोजन करने बैठें। उसके पूर्व किसी भी दशामें नहीं। भूख न लगी होनेपर भोजन करना पाप है।

२-कभी भी जल्दी-जल्दी और अधीर होकर भोजन मत करो। धीरे-धीरे खूब चबा-चबाकर केवल भूख भर भोजन करो। गटर-गटर भोजन करना असभ्यताकी निशानी है। दूसरे जल्दी-जल्दी खानेमें भूखसे कुछ-न-कुछ अधिक भोजन स्वतः ही कर लिया जाता है—जो कि एक महान् घृणित पाप है।

३-भोजनमें तुनकमिजाजी कभी मत करो। जो भोजन सामने आये, उसमें मीन-मेष मत निकालो। जो रूखा-सूखा मिले, उसे भगवच्चरणोंमें निवेदित कर प्रभुका प्रसाद समझकर आनन्दपूर्वक ग्रहण करो।

४-भूखसे अधिक तो एक ग्रास भी मत खाओ। चाहे जितनी अच्छी-अच्छी भोजनकी वस्तुएँ सामने रखी हों, किंतु आवश्यकतासे अधिक एक भी वस्तु मत खाओ। स्वादिष्ट समझकर किसी भी वस्तुकी ओर नेत्रोंको चञ्चल मत करो। स्मरण रखो कि नेत्रोंकी चपलता और स्वादकी आकाङ्क्षा सर्वनाशका प्रवेशद्वार है।

५-जहाँतक हो सके, दावतोंसे बचो। दुष्ट मित्रोंकी सङ्गति तो सर्वथा ही त्याग दो। जहाँपर प्रलोभन तथा आकर्षक वस्तुएँ अधिक होती हैं, वहींपर पतनकी अधिक सम्भावना रहती है। मनचले दोस्तोंका साथ तो और भी सर्वनाशकी जड़ है। वे अपने मित्रोंको केवल उन्हीं स्थानोंपर लिवा ले जाया करते हैं, जहाँपर पतनके सामान बहुतायतसे इकट्ठे होते हैं। ऐसे स्थानोंपर पहुँचकर भोला-भाला व्यक्ति सहज ही आकर्षणोंके सम्मुख घुटने टेक देता है। किया क्या जाय, मानव-स्वभाव है ही ऐसा। ऐसे स्थानोंपर यदि विवेकसे काम न लिया जाय तो मनुष्यका फिसल पड़ना एक साधारण-सी बात है। प्रायः सभीको अपनी इस प्रकारकी दुर्बलताओंका पता रहता है, अतएव भूलकर भी ऐसे स्थानोंपर न जाना चाहिये जहाँपर जरा-सी भी ऐसी आशङ्का हो।

७-तुम अपने कल्याणके लिये जो सिद्धान्त निश्चित कर लो, उनके पालनमें कठोर-से-कठोर बन जाओ। यदि तुम उनका दृढ़तापूर्वक पालन नहीं करते तो यह स्पष्ट है कि तुम स्वयं अपने आदर्शतक नहीं पहुँचना चाहते। अतः कैसा भी अवसर आये, तुम अपने सिद्धान्तोंपर दृढ़ बने रहो। सिद्धान्त-पालनमें शिथिलता तुम्हारी निर्बलताहीकी द्योतक है, उसका परिणाम कितना भयङ्कर हो सकता है, यह तुम स्वयं ही सोच सकते हो।

सादा रहन-सहन और उच्च विचार—इस आदर्शको सदैव अपने सम्मुख रखकर जी-जानसे इसके पालनमें संलग्न रहो। आदर्शके पालनमें जो कष्ट और बाधाएँ आयें, उनका सहर्ष स्वागत करो, पर भूलकर भी अपने पथसे विचलित मत हो।

मांस, मदिरा, गाँजा, चरस, भाँग, अफीम, चंडू, मिर्च, खटाई, तंबाकू, बीड़ी, सिगरेट, चुरुट, सुल्फा आदि किसी भी हिंसात्मक और उत्तेजक पदार्थका भूलकर भी सेवन न करो। इससे शारीरिक स्वास्थ्य तो चौपट होता ही है, साथ-ही-साथ घोर आत्मिक पतन भी होता है।

खान-पानमें संयम पालनेवालेके लक्षण

१-वह सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन देखकर ललचाया नहीं करता।

२-वह केवल उतना भोजन करता है, जितनी उसे भूख होती है तथा जितना वह अपनी शरीर-रक्षाके लिये आवश्यक समझता है।

३-उसकी अच्छा और स्वादिष्ट भोजन पानेकी इच्छा सर्वथा नष्ट हो जाती है।

४-मादक और उत्तेजक पदार्थोंसे उसे पूर्णरूपेण घृणा हो जाती है।

५-उसे अच्छी और गम्भीर निद्रा आती है, प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उसकी नींद खुल जाती है। सोकर उठनेपर उसका हृदय खूब आनन्द और उत्साहसे भरा रहता है।

६-परिश्रम करनेमें उसका खूब मन लगा करता है।

७-उसका हृदय सदैव स्वर्गीय आनन्दसे परिपूर्ण रहता है, जिससे प्रभु-प्रार्थनामें उसे बड़ा सुख मिलता है।

८-वह प्रलोभनोंका दास नहीं रहता।

९-उसकी वासनाएँ उसे अधिक नहीं सतातीं तथा वह सहज ही उनपर विजय प्राप्त कर लेता है।

◆

भागवतीय प्रवचन—३७

देवहूति-कर्दम-चरित्र

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

मनु महाराजने अपनी कन्या देवहूतिका विवाह ऋषि कर्दमके साथ कर दिया और देवहूति कर्दमके आश्रममें पति-सेवामें रहने लगी। उसने सोचा कि मेरे पति तपस्वी हैं, अतः मुझे भी तपस्विनी होना होगा। वे दोनों बारह वर्ष एक घरमें रहते हुए भी संयमी और निर्विकार रहे।

संयमीको ही ज्ञान मिलता है। ज्ञान बाजारमें नहीं मिलता। पूर्ण संयमके बिना ज्ञान नहीं पाया जा सकता। पूर्ण संयमके बिना परमात्मा भी प्रकट नहीं होता। कर्दम जीवात्मा है और देवहूति बुद्धि है। देवहूति देवको बुलानेवाली निष्काम बुद्धि है। एक दिवस कर्दमने देखा कि देवहूतिका शरीर बहुत दुर्बल हो गया है, उसने दीर्घकालतक मेरी सेवा करते-करते अपना शरीर सुखा दिया है—यह देखकर उनका हृदय भर आया। उन्होंने देवहूतिसे कहा—'देवि! कुछ वरदान माँगो। तुम जो भी माँगोगी वही मैं दूँगा।'

देवहूतिने कहा—आप-जैसे ज्ञानी पति मुझे मिले हैं, मेरे लिये यही वरदान है। मैं तो पूजा करके बस इतना ही माँगती हूँ कि मेरा सौभाग्य अखण्डित रहे। स्त्रीका धर्म है कि वह प्रतिदिन तुलसी और पार्वतीकी पूजा करे, पति एवं गुरुजनोंकी सेवा करे।

यह सुनकर कर्दम बोले—'कुछ-न-कुछ तो तुम्हें माँगना ही होगा।'

पतिके आग्रह करनेपर देवहूतिने कहा कि 'आपने विवाहसे पूर्व यह प्रतिज्ञा की थी कि संतानके होनेपर आप संन्यास लेंगे। अब यदि इच्छा हो तो एक बालकका मुझे दान दें।'

मनुष्य-शरीरकी रचना ऐसी ही है कि वह भोगोंका मर्यादित परिमाणमें ही उपभोग कर सकता है। मर्यादाका उल्लङ्घन करेगा तो वह रोगी हो जायगा। कर्दम बोले—'मैं तुझे दिव्य शरीर अर्पित करूँगा।'

देवहूति सरस्वतीके किनारेपर स्नान करने गयी। सरस्वतीमेंसे अनेक दासियाँ निकलीं। देवहूतिने स्नान किया और उनका शरीर दिव्य सौन्दर्ययुक्त हो गया। कर्दम ऋषिने संकल्पके बलसे विमान बनाया और दोनों उसपर बैठ गये।

देवहूतिकी नौ कन्याएँ हुईं, किंतु पुत्र एक भी न हुआ। नौ कन्याओंका अर्थ है नवधा भक्ति। नवधा भक्तिके बिना ज्ञान नहीं होता।

नवधा भक्तिके न होनेतक कपिल अर्थात् ज्ञान नहीं आता। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—ये नौ अङ्ग नवधा भक्तिमें आते हैं। नवधा भक्तिके सिद्ध होनेपर ही कपिल भगवान् पधारते हैं। भक्ति ही ज्ञानरूपमें बदलती है। भक्तिकी उत्तरावस्था ही ज्ञान है। अपरोक्ष ज्ञानकी पूर्वावस्था ही भक्ति है। भक्तिके बाद ज्ञान आता है। ज्ञानकी माता भक्ति है। जिसकी नवधा भक्ति सिद्ध नहीं होती, उसे ज्ञान नहीं मिलता। भक्तिद्वारा ही ज्ञान मिलता है। '**भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते।**' तात्त्विक दृष्टिसे अन्तमें ज्ञान और भक्तिमें अन्तर नहीं है। भक्तिमें पहले '**दासोऽहम्**' है और फिर '**सोऽहम्**' की भावना रहती है।

नौ कन्याओंके जन्मके बाद कर्दम संन्यास लेनेके लिये तैयार हुए। उन्होंने सोचा कि एकान्तमें बैठकर मैं तप करूँ। देवहूतिने कहा—'नाथ! मैं भी त्याग करना चाहती हूँ, किंतु आपने तो वचन दिया था कि एक पुत्रके जन्मके बाद आप संन्यास लेंगे। पुत्रका जन्म तो अभीतक हो ही नहीं पाया है। फिर इन कन्याओंकी और मेरी देखभाल कौन करेगा? इन कन्याओंकी व्यवस्था करनेके बाद ही संन्यास लीजिये।'

कर्दम-देवहूतिने विकारका त्याग किया। उन्होंने कई वर्षोंतक परमात्माकी आराधना की, इसके बाद देवहूतिके गर्भमें साक्षात् नारायणने वास किया। नौ मासका समय समाप्त हुआ। आचार्यों, योगियों और साधुओंके आचार्य प्रकट होनेवाले थे। ब्रह्मादि देव कर्दम ऋषिके आश्रममें आये। ब्रह्माजीने कर्दम ऋषिसे कहा कि 'तुम्हारा गृहस्थाश्रम सफल हुआ। तुम अब जगत्के पिता बन गये हो। यह बालक जगत्को दिव्य ज्ञानका उपदेश करेगा।'

जीव भगवान्के लिये जब आतुर होता है, तब

भगवान्‌का अवतार होता है। आतुरताके कारण भगवान्‌के दर्शन होते हैं।

कर्दम और देवहूतिकी तपश्चर्या और आतुरतासे भगवान् कपिल-रूपसे उनके यहाँ पुत्ररूपमें आये।

योगीजन योगसे ब्रह्माके दर्शन कर सकते हैं, किंतु संसारी लोग शुद्ध भक्तिसे भगवान्‌को पुत्ररूपसे प्राप्त कर सकते हैं और भगवान्‌का लालन-पालन कर सकते हैं।

कपिल भगवान्‌के जन्म लेनेपर देवहूतिने कर्दमसे कहा—'अब गृहस्थाश्रमका त्याग कर सकते हैं।'

कर्दम कहते हैं—मुझे नौ कन्याओंकी चिन्ता है। इसपर ब्रह्माजीने कहा—'तुम क्यों चिन्ता करते हो! तुम्हारे घर तो स्वयं भगवान् पधारे हैं। तुम चिन्ता करनेके बदले प्रभुका चिन्तन करो।'

वल्लभाचार्यजीने कहा है कि **'चिन्ता कापि न कार्या।'** सेवा-स्मरण करते हुए जो तन्मय होते हैं, उनकी चिन्ता ठाकुरजी करते हैं।

ब्रह्मा नौ ऋषियोंको अपने साथ लाये थे। अतः महर्षि कर्दमने सभी ऋषियोंको एक-एक कन्या दे डाली। अत्रिको अनसूया, वसिष्ठको अरुन्धती आदि। उन्होंने सोचा कि अब अपने सिरसे सारा भार उतर गया। वे कपिलके पास आये और कहने लगे कि मुझे संन्यास लेना है।

संन्यासका अर्थ है परमात्माके दर्शनके लिये सभी सुखोंका त्याग।

'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।'

केवल ईश्वरके लिये जो जीये, वही संन्यासी है।

कपिलने कहा कि आपकी इच्छा ठीक ही है। संन्यास लेनेके बाद आप किसी प्रकारकी चिन्ता न करें। आप अपना जीवन ईश्वरको अर्पित कर दें।

मुक्ति दो प्रकारकी है—

(१) कैवल्य-मुक्ति—इसमें जीव ईश्वरमें लीन होता है और दोनों एक बन जाते हैं।

(२) भागवती-मुक्ति—इसमें भी जीव ईश्वरसे प्रेमसे एक तो होता है, किंतु थोड़ा-सा द्वैत रखकर नित्यलीला, नित्यसेवामें मग्न रहता है। कर्दम ऋषिने संन्यास ग्रहण कर लिया।

परमात्माके लिये सभी संसार-सुखोंका त्याग ही संन्यास है। त्यागके बिना संन्यास उजागर नहीं होता। संन्यासकी विधि देखनेसे भी वैराग्य होता है। संन्यासकी क्रियामें विरजा होम करना पड़ता है। देव, ब्राह्मण, सूर्य, अग्नि आदिकी साक्षीमें विरजा होम किया जाता है।

आदिनारायणका चिन्तन करते-करते कर्दम ऋषिको भागवती मुक्ति मिली और भगवान् कपिलके सांख्य-योगोपदेशसे माता देवहूतिका जीवन सफल हुआ तथा संसारको भक्ति-ज्ञानका उपदेश प्राप्त हुआ।

◆

गौमाताका अभिनन्दन

(श्रीजगदीशचन्द्रजी शर्मा, एम० ए०, बी० एड०)

गौमाताका अभिनन्दन है।
जीवन-पथमें उसे हमारा सादर श्रद्धासहित नमन है॥
हर गौमाता कामधेनु है, गौमाता है वही नन्दिनी,
वही जन्म-जन्मान्तरमें है सदा हमारे लिये वन्दिनी॥
गौमातासे जुड़े हुए हैं जीवनके संस्कार हमारे,
गौमाताने अनुकम्पा कर पापोंके अम्बार पखारे॥
गौमातामें कोटि-कोटि देवोंका रम्य निवास गहन है।
गौमाताका अभिनन्दन है॥

राम ते अधिक राम कर दासा

(श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री, रामायणी, साहित्यरत्न)

[गताङ्क पृ०-सं० ५९०से आगे]

मूलरूपमें भगवान्‌का अवतार ही साधुओं, भक्तोंके परित्राणके लिये होता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌को—

एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्।

—कहा गया है। जैसे भक्त भगवान्‌की भक्ति करते हैं, वैसे ही भगवान् भी भक्तोंकी भक्ति करते हैं। भगवद्भक्तोंको कष्ट देनेवाले दुष्टोंको तो भक्त स्वयं दण्ड देते ही नहीं, क्योंकि वे सम-चित्त होते हैं, उनका न कोई शत्रु होता है न मित्र। महात्मा श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।

भक्त पापोंका विनाश करते हैं, किंतु पापीका नहीं। पापीके विनाशके लिये प्रभुको ही धराधामपर आना पड़ता है। और भक्तोंकी रक्षामें जितनी कृपा प्रभुकी रहती है, उतनी ही कृपा दुष्टोंके नाशमें भी रहती है।

जैसे माता-पिता बालकपर समान स्नेह करते हैं, तथापि दोनोंके प्रेम-भावमें थोड़ा अन्तर होता है। माँ बच्चेका प्रिय एवं पिता बच्चेका हित करना चाहते हैं। जब बालक स्कूल जानेमें आलस्य करता है तो पिता उसे हठात् ही यहाँतक कि मार-पीटकर भी बालकके हितके लिये स्कूल भेजेगा। किंतु मारनेपर माँ स्वयं पिताको रोकती है कि रहने दो मारो मत और समझा-बुझाकर बालकको स्कूल भेजनेकी चेष्टा करती है। इसी प्रकार भगवान् पिताके समान और उदारमना संत माताके समान हैं। संत दुष्टोंको भी समझा-बुझाकर माताकी भाँति उनका सुधार एवं रक्षा करना चाहते हैं। इस कारण भगवान्‌की अपेक्षा भक्त अधिक कोमल होते हैं—

'संत हृदय नवनीत समाना।'
'संत उदय संतत सुखकारी।'
'कोमल चित दीनन्ह पर दाया॥'

भगवान् तो दुष्टोंके दमनके लिये कठोर बनते ही हैं।

वैसे तो भगवान्‌को भी कृपामात्रैकविग्रह कहा गया है—*'प्रभु मूरति कृपामई है'*, पर संतों तथा भक्तोंके हृदयको और अधिक कोमल कहा गया है। वे केवल अपने अनुग्रहसे ही काम लेते हैं और भगवान् शिष्योंके लिये सुकोमल तथा दुष्टोंके लिये कठोर होकर निग्रहानुग्रह दोनोंहीसे काम लेते हैं।

भक्तकी प्रतिज्ञा भगवान् स्वयं ही निभाते हैं—

प्रभु सत्य करी प्रह्लाद गिरा प्रगटे नर केहरि खंभ महा।

भीष्मजीने प्रतिज्ञा की कि आज मैं यदि भगवान् श्रीकृष्णको शस्त्र धारण न करा दूँ तो शन्तनु और गङ्गाका पुत्र नहीं—*'आज जौ हौं हरिहि न सस्त्र गहाऊँ।'*

और उनके युद्धसे परेशान होकर भगवान् श्रीकृष्णने चाबुक और सुदर्शनचक्र दोनों ग्रहण कर लिये। इस प्रकार महाभारत-युद्धमें कभी शस्त्र न ग्रहण करनेकी अपनी दृढ़ प्रतिज्ञाका परित्याग कर अपने भक्त भीष्मकी ही प्रतिज्ञाकी रक्षा की—

'निज पन तजि राखेउ पन मोरा।'

बालिके सामने भी अपनी प्रतिज्ञाको छोड़कर बालिको जिलानेके लिये तैयार हो गये—

'अचल करौं तनु राखहु प्राना।'

भक्तावलम्बसे प्रभुकी शोभा अत्यधिक बढ़ जाती है—

मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला। कनक तरुहि जनु भेंट तमाला॥

भक्तोंकी यहाँतक विशेषता एवं महत्ता कही गयी है कि भगवान् उनके ऋणीतक बननेको तैयार हो जाते हैं। भगवान् श्रीराम सीताका पता लगाकर लौटनेपर हनुमान्‌जीसे कहते हैं कि तुम्हारे उपकारोंसे मैं उऋण नहीं हो सकता—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥

भक्त बन्धनसे स्वयं मुक्त हो जाते हैं, किंतु लीला-नाट्यमें भक्त ही भगवान्‌को छुड़ाते हैं। हनुमान्‌जी मेघनादके पाशमें बँधे किंतु फिर छूट गये। भगवान् जब नागपाशमें मेघनादद्वारा बाँधे गये तो गरुडजीने ही उन्हें छुड़ाया—

खगपति सब धरि खाए माया नाग बरूथ।

भगवान्‌का रहस्य भक्तोंसे छिपा नहीं रहता। महात्मा सूरदासजी प्रभु श्रीकृष्णकी प्रत्येक झाँकीका वर्णन किया करते थे। एक बार उनकी परीक्षाके लिये श्रीरंगजीके पुजारीजीने जहाँ

ये नित्य ही दर्शन करनेको जाते थे, ठाकुरजीके श्रीविग्रहपरसे सभी वस्त्र हटा लिये और फिर सूरदासजीने उस झाँकीका भी इस प्रकार वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया। इन्होंने जो वर्णन किया सभी चकित हो गये। पद इस प्रकार है—

देखो री हरि नंगम नंगा।
जलसुत भूषन अंग बिराजत बसन हीन छबि उठत तरंगा॥
अंग अंग में अमित माधुरी निरखि लजति रति कोटि अनंगा।
किलकत दधिसुत मुख लै मन भरि सूर हँसत ब्रज-जुवति न संगा॥

वास्तवमें सत्यता यह है कि—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

भगवद्बलसे बली दासका महत्त्व जब प्रभु ही बढ़ाना चाहें तो फिर संसारमें उसे कौन रोक सकता है?

तभी शङ्कर भगवान् पार्वतीजीसे कहते हैं—देवि!

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

स्वयं प्रभु कहते हैं—**'विश्वेषु प्रियपात्रेषु न मे भक्तात्परः प्रियः॥'**

यह संक्षेपमें *'राम ते अधिक राम कर दासा'*—प्रसंगपर विवेचन किया गया। अब देखा जाय मानव-जीवनको इस प्रसंगसे क्या मिला? शङ्करजी स्वयं कहते हैं कि—

अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥

हमारे जीवनकी विडम्बना यही है कि नाशवान् संसार स्वप्नवत् है, अविनाशी भगवान् अपना है। संसार कभी पकड़ा नहीं जा सकता, परमात्मा कभी छोड़ा नहीं जा सकता। वह छूट नहीं सकता—**'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'** अतः उसके भजनेमें ही सबका स्वार्थ-परमार्थ, लोक-परलोक सभी सुधर सकता है, किंतु हमें उसपर विश्वास नहीं। संसारपर तो है ही। उदाहरणार्थ घरपर ताला बंदकर द्वारपाल और कुत्तेके भरोसेपर चले जाते हैं, क्योंकि हम उनपर विश्वास करते हैं। करोड़ो रुपयेवाली दूकानकी चाभी मुनीम-मैनेजरके हाथ छोड़ देते हैं, उनपर विश्वास है। ड्राइवरके हाथ लाखोंकी गाड़ी एवं स्वयं सपरिवार बैठकर आत्मसमर्पण कर देते हैं, उसपर विश्वास है। रस्सीको पकड़कर कुएँमें उतर जाते हैं, जान जोखिममें डाल देते हैं, उसपर हमें विश्वास है। डॉक्टरसे उपचार कराते हैं, हमारी प्रिय खाद्य वस्तुओंको खानेके लिये वह मना कर देता है, हम मान जाते हैं, उसपर विश्वास है। पत्नी-पुत्रपर विश्वास करके उन्हें सर्वस्व दे देते हैं, उनपर विश्वास है। किंतु क्या कहें, द्वारपाल, कुत्ता, मुनीम, मैनेजर, ड्राइवर, पुत्र-पुत्री, डॉक्टर, रस्सीपर हमें विश्वास है, भगवान्पर विश्वास नहीं है—**'किमाश्चर्यमतः परम्।'**

यदि हमें विश्वास उनपर होता तो फिर उन्हें छोड़कर हम संसारकी ओर क्यों भागते! अबतक हमें संसारने क्या दिया? सिवा रोग, शोक, दुःख, तृष्णा, अशान्ति, अनर्थ, पापके और क्या मिला? परमात्मा तो हमारे योगक्षेमका सम्पूर्ण दायित्व लिये बैठे हैं। तभी तो उनका स्वयंका कथन है—

मोर दास कहाइ नर आसा। करै तो कहहु कहा बिस्वासा॥

इसका भाव यह है कि एक ओर तो मनुष्य मेरा भक्त बनता है और दूसरी ओर वह संसारी जनोंकी भी आशा लगाये है, ऐसी स्थितिमें उसने मुझपर विश्वास कहाँ किया? क्योंकि यथार्थ स्थिति यह है कि भगवान् तो नित्य सत्य है और संसार तीनों कालमें असत्य है। इसीलिये सच्चा भक्त या संत या योगी उसे ही कहा गया है, जिसे संसारके समस्त विषयों और संसारी जनोंसे वैराग्य हो जाय। तभी पूर्ण ज्ञान उत्पन्न होता है और मोह-अज्ञानके दूर होनेपर भगवान्की सच्ची भक्ति प्राप्त होती है, जो जीवनकी वास्तविक तथा सर्वोपरि उपलब्धि है।

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥

* * *

वे मनुष्य धन्य हैं जो दयाशील हैं, क्योंकि परमपिताकी अपनी दयाके वे ही भागी हैं।—ईसा

जैसे वृक्षकी जड़को सींचनेसे उसकी सभी शाखाएँ और पत्ते आप-से-आप तृप्त हो जाते हैं, वैसे ही एक परमात्माकी भक्तिसे सारे देवी-देवता आप ही प्रसन्न हो जाते हैं।—निर्वाण-तन्त्र

* * *

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतोक्त प्रवृत्ति और आरम्भ

वर्णाश्रमाभ्यां नियतं हि कर्म कार्यं प्रवृत्तिः कथिता बुधैश्च ।
कर्माणि भोगाय नवानि चैव कार्याणि चारम्भ उदीरितो वै ॥

भगवान्‌ने रजोगुणकी वृद्धिके लक्षण बताते हुए 'प्रवृत्ति' और 'आरम्भ'—इन दोनोंका एक साथ प्रयोग किया है—**'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा'** (१४।१२)। यद्यपि स्थूलदृष्टिसे प्रवृत्ति और कर्मोंका आरम्भ—ये दोनों एक समान ही दीखते हैं, तथापि इन दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है। अपने-अपने वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदिमें रहते हुए प्राप्त परिस्थितिके अनुसार जो कर्तव्य सामने आ जाय, उसको सुचारुरूपसे साङ्गोपाङ्ग कर देना 'प्रवृत्ति' है; और भोग तथा संग्रहको बढ़ानेके उद्देश्यसे नये-नये कर्म प्रारम्भ करना 'आरम्भ' है। अतः प्रवृत्तिको तो निष्कामभावसे निर्लिप्ततापूर्वक करना चाहिये, उसका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि निष्कामभावपूर्वक प्रवृत्ति करना योगारूढ़ होनेमें कारण है (६।३); परंतु आरम्भका तो त्याग ही कर देना चाहिये; क्योंकि वह भोग और संग्रहकी आसक्ति बढ़ाकर पतन करनेवाला है।

गीता परिस्थितिका परिवर्तन करनेके लिये नहीं कहती, प्रत्युत उसका परिमार्जन करनेके लिये कहती है, जिससे मनुष्य किसी परिस्थितिमें फँसे भी नहीं और वह जिस परिस्थितिमें स्थित है, वही परिस्थिति उसके कल्याणका साधन बन जाय। उसको अपने कल्याणके लिये नये कर्मोंका आरम्भ न करना पड़े और वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिका परिवर्तन न करना पड़े। कारण कि परमात्मा सब वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति, घटना आदिमें पूर्णरूपसे व्याप्त हैं।

प्रवृत्ति (अपने कर्तव्यका पालन) तो सभी वर्ण-आश्रमोंमें होती है और होनी भी चाहिये; क्योंकि अपने-अपने कर्तव्यका पालन किये बिना सृष्टि-चक्रकी मर्यादा चलेगी ही नहीं और अपने कर्तव्यका त्याग करनेसे उद्धार नहीं होगा। अतः जो मनुष्य जिस-किसी वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिमें स्थित है, उसको निष्कामभावपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन जरूर करना चाहिये।

प्रवृत्ति (अपने कर्तव्यका पालन) तो गुणातीत मनुष्यके द्वारा भी होती है (१४।२२), पर उसके द्वारा भोग और संग्रहके उद्देश्यसे कर्मोंका आरम्भ नहीं होता। कहीं-कहीं गुणातीत मनुष्यके द्वारा भी नये-नये कर्मोंका आरम्भ देखनेमें आता है; परंतु उन कर्मोंके आरम्भमें उसके किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होते। भोग और संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्मोंका आरम्भ करनेवाले मनुष्य 'हमें तो परमात्मप्राप्ति ही करनी है'—ऐसा एक निश्चय कर ही नहीं सकते (२।४४)।

तात्पर्य है कि अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार निष्कामभावपूर्वक की गयी प्रवृत्ति बाधक नहीं है, प्रत्युत मुक्तिमें हेतु है। ऐसे ही अपने स्वार्थ, अभिमान, कामना, आसक्तिका त्याग करके केवल प्राणिमात्रके हितके लिये किये गये नये-नये कर्मोंका आरम्भ भी बाधक नहीं है। परंतु इन आरम्भोंमें साधकको यह विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि कर्मोंका आरम्भ करते हुए कहीं हृदयमें पदार्थों और क्रियाओंका महत्त्व अङ्कित न हो जाय। अगर हृदयमें पदार्थों और क्रियाओंका महत्त्व अङ्कित हो जायगा तो उन कर्मोंमें साधककी निर्लिप्तता नहीं रहेगी अर्थात् वह साधक अपने पास रुपये-पैसे भी न रखता हो, पदार्थोंका संग्रह भी न करता हो, तो भी उसके हृदयमें धन, पदार्थ और क्रियाओंका महत्त्व अङ्कित हो ही जायगा; तथा कार्य करते हुए और न करते हुए भी उन कार्योंका चिन्तन हो ही जायगा।

भगवान्‌ने कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तियोगी—तीनों ही साधकोंके लिये प्रवृत्ति-(कर्म-)से निर्लिप्त रहनेकी बात कही है। कर्मयोगी साधकमें फलासक्ति न होनेसे वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता—'कुर्वन्नपि न लिप्यते' (५।७)। ज्ञानयोगी साधक 'सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके द्वारा ही हो रहे हैं'—ऐसा देखता है और स्वयंको अकर्ता अनुभव करता है (१३।२९)। इसलिये वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। भक्तियोगी साधक सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देता है; अतः वह कर्म करता हुआ भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता।

भगवान्‌ने कर्मयोगमें कर्मोंके आरम्भको कामनाओं और

ये नित्य ही दर्शन करनेको जाते थे, ठाकुरजीके श्रीविग्रहपरसे सभी वस्त्र हटा लिये और फिर सूरदासजीने उस झाँकीका भी इस प्रकार वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया। इन्होंने जो वर्णन किया सभी चकित हो गये। पद इस प्रकार है—

देखो री हरि नंगम नंगा।
जलसुत भूषन अंग बिराजत बसन हीन छबि उठत तरंगा॥
अंग अंग में अमित माधुरी निरखि लजति रति कोटि अनंगा।
किलकत दधिसुत मुख लै मन भरि सूर हँसत ब्रज-जुवति न संगा॥

वास्तवमें सत्यता यह है कि—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

भगवद्बलसे बली दासका महत्त्व जब प्रभु ही बढ़ाना चाहें तो फिर संसारमें उसे कौन रोक सकता है?

तभी शङ्कर भगवान् पार्वतीजीसे कहते हैं—देवि!

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

स्वयं प्रभु कहते हैं—**'विश्वेषु प्रियपात्रेषु न मे भक्तात्परः प्रियः॥'**

यह संक्षेपमें *'राम ते अधिक राम कर दासा'*—प्रसंगपर विवेचन किया गया। अब देखा जाय मानव-जीवनको इस प्रसंगसे क्या मिला? शङ्करजी स्वयं कहते हैं कि—

अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥

हमारे जीवनकी विडम्बना यही है कि नाशवान् संसार स्वप्नवत् है, अविनाशी भगवान् अपना है। संसार कभी पकड़ा नहीं जा सकता, परमात्मा कभी छोड़ा नहीं जा सकता। वह छूट नहीं सकता—**'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'** अतः उसके भजनेमें ही सबका स्वार्थ-परमार्थ, लोक-परलोक सभी सुधर सकता है, किंतु हमें उसपर विश्वास नहीं। संसारपर तो है ही। उदाहरणार्थ घरपर ताला बंदकर द्वारपाल और कुत्तेके भरोसेपर चले जाते हैं, क्योंकि हम उनपर विश्वास करते हैं। करोड़ों रुपयेवाली दूकानकी चाभी मुनीम-मैनेजरके हाथ छोड़ देते हैं, उनपर विश्वास है। ड्राइवरके हाथ लाखोंकी गाड़ी एवं स्वयं सपरिवार बैठकर आत्मसमर्पण कर देते हैं, उसपर विश्वास है। रस्सीको पकड़कर कुएँमें उतर जाते हैं, जान जोखिममें डाल देते हैं, उसपर हमें विश्वास है। डॉक्टरसे उपचार कराते हैं, हमारी प्रिय खाद्य वस्तुओंको खानेके लिये वह मना कर देता है, हम मान जाते हैं, उसपर विश्वास है। पत्नी-पुत्रपर विश्वास करके उन्हें सर्वस्व दे देते हैं, उनपर विश्वास है। किंतु क्या कहें, द्वारपाल, कुत्ता, मुनीम, मैनेजर, ड्राइवर, पुत्र-पुत्री, डॉक्टर, रस्सीपर हमें विश्वास है, भगवान्पर विश्वास नहीं है—**'किमाश्चर्यमतः परम्।'**

यदि हमें विश्वास उनपर होता तो फिर उन्हें छोड़कर हम संसारकी ओर क्यों भागते! अबतक हमें संसारने क्या दिया? सिवा रोग, शोक, दुःख, तृष्णा, अशान्ति, अनर्थ, पापके और क्या मिला? परमात्मा तो हमारे योगक्षेमका सम्पूर्ण दायित्व लिये बैठे हैं। तभी तो उनका स्वयंका कथन है—

मोर दास कहाइ नर आसा। करै तो कहहु कहा बिस्वासा॥

इसका भाव यह है कि एक ओर तो मनुष्य मेरा भक्त बनता है और दूसरी ओर वह संसारी जनोंकी भी आशा लगाये है, ऐसी स्थितिमें उसने मुझपर विश्वास कहाँ किया? क्योंकि यथार्थ स्थिति यह है कि भगवान् तो नित्य सत्य है और संसार तीनों कालमें असत्य है। इसीलिये सच्चा भक्त या संत या योगी उसे ही कहा गया है, जिसे संसारके समस्त विषयों और संसारी जनोंसे वैराग्य हो जाय। तभी पूर्ण ज्ञान उत्पन्न होता है और मोह-अज्ञानके दूर होनेपर भगवान्की सच्ची भक्ति प्राप्त होती है, जो जीवनकी वास्तविक तथा सर्वोपरि उपलब्धि है।

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥

* * *

वे मनुष्य धन्य हैं जो दयाशील हैं, क्योंकि परमपिताकी अपनी दयाके वे ही भागी हैं।—ईसा

जैसे वृक्षकी जड़को सींचनेसे उसकी सभी शाखाएँ और पत्ते आप-से-आप तृप्त हो जाते हैं, वैसे ही एक परमात्माकी भक्तिसे सारे देवी-देवता आप ही प्रसन्न हो जाते हैं।—निर्वाण-तन्त्र

* * *

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतोक्त प्रवृत्ति और आरम्भ

वर्णाश्रमाभ्यां नियतं हि कर्म कार्यं प्रवृत्तिः कथिता बुधैश्च ।
कर्माणि भोगाय नवानि चैव कार्याणि चारम्भ उदीरितो वै ॥

भगवान्‌ने रजोगुणकी वृद्धिके लक्षण बताते हुए 'प्रवृत्ति' और 'आरम्भ'—इन दोनोंका एक साथ प्रयोग किया है—**'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा'** (१४।१२)। यद्यपि स्थूलदृष्टिसे प्रवृत्ति और कर्मोंका आरम्भ—ये दोनों एक समान ही दीखते हैं, तथापि इन दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है। अपने-अपने वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदिमें रहते हुए प्राप्त परिस्थितिके अनुसार जो कर्तव्य सामने आ जाय, उसको सुचारुरूपसे साङ्गोपाङ्ग कर देना 'प्रवृत्ति' है; और भोग तथा संग्रहको बढ़ानेके उद्देश्यसे नये-नये कर्म प्रारम्भ करना 'आरम्भ' है। अतः प्रवृत्तिको तो निष्कामभावसे निर्लिप्ततापूर्वक करना चाहिये, उसका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि निष्कामभावपूर्वक प्रवृत्ति करना योगारूढ़ होनेमें कारण है (६।३); परंतु आरम्भका तो त्याग ही कर देना चाहिये; क्योंकि वह भोग और संग्रहकी आसक्ति बढ़ाकर पतन करनेवाला है।

गीता परिस्थितिका परिवर्तन करनेके लिये नहीं कहती, प्रत्युत उसका परिमार्जन करनेके लिये कहती है, जिससे मनुष्य किसी परिस्थितिमें फँसे भी नहीं और वह जिस परिस्थितिमें स्थित है, वही परिस्थिति उसके कल्याणका साधन बन जाय। उसको अपने कल्याणके लिये नये कर्मोंका आरम्भ न करना पड़े और वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिका परिवर्तन न करना पड़े। कारण कि परमात्मा सब वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति, घटना आदिमें पूर्णरूपसे व्याप्त हैं।

प्रवृत्ति (अपने कर्तव्यका पालन) तो सभी वर्ण-आश्रमोंमें होती है और होनी भी चाहिये; क्योंकि अपने-अपने कर्तव्यका पालन किये बिना सृष्टि-चक्रकी मर्यादा चलेगी ही नहीं और अपने कर्तव्यका त्याग करनेसे उद्धार नहीं होगा। अतः जो मनुष्य जिस-किसी वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिमें स्थित है, उसको निष्कामभावपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन जरूर करना चाहिये।

प्रवृत्ति (अपने कर्तव्यका पालन) तो गुणातीत मनुष्यके द्वारा भी होती है (१४।२२), पर उसके द्वारा भोग और संग्रहके उद्देश्यसे कर्मोंका आरम्भ नहीं होता। कहीं-कहीं गुणातीत मनुष्यके द्वारा भी नये-नये कर्मोंका आरम्भ देखनेमें आता है; परंतु उन कर्मोंके आरम्भमें उसके किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होते। भोग और संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्मोंका आरम्भ करनेवाले मनुष्य 'हमें तो परमात्मप्राप्ति ही करनी है'—ऐसा एक निश्चय कर ही नहीं सकते (२।४४)।

तात्पर्य है कि अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार निष्कामभावपूर्वक की गयी प्रवृत्ति बाधक नहीं है, प्रत्युत मुक्तिमें हेतु है। ऐसे ही अपने स्वार्थ, अभिमान, कामना, आसक्तिका त्याग करके केवल प्राणिमात्रके हितके लिये किये गये नये-नये कर्मोंका आरम्भ भी बाधक नहीं है। परंतु इन आरम्भोंमें साधकको यह विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि कर्मोंका आरम्भ करते हुए कहीं हृदयमें पदार्थों और क्रियाओंका महत्त्व अङ्कित न हो जाय। अगर हृदयमें पदार्थों और क्रियाओंका महत्त्व अङ्कित हो जायगा तो उन कर्मोंमें साधककी निर्लिप्तता नहीं रहेगी अर्थात् वह साधक अपने पास रुपये-पैसे भी न रखता हो, पदार्थोंका संग्रह भी न करता हो, तो भी उसके हृदयमें धन, पदार्थ और क्रियाओंका महत्त्व अङ्कित हो ही जायगा; तथा कार्य करते हुए और न करते हुए भी उन कार्योंका चिन्तन हो ही जायगा।

भगवान्‌ने कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तियोगी—तीनों ही साधकोंके लिये प्रवृत्ति-(कर्म-)से निर्लिप्त रहनेकी बात कही है। कर्मयोगी साधकमें फलासक्ति न होनेसे वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता—**'कुर्वन्नपि न लिप्यते'** (५।७)। ज्ञानयोगी साधक 'सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके द्वारा ही हो रहे हैं'—ऐसा देखता है और स्वयंको अकर्ता अनुभव करता है (१३।२९)। इसलिये वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। भक्तियोगी साधक सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देता है; अतः वह कर्म करता हुआ भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता।

भगवान्‌ने कर्मयोगमें कर्मोंके आरम्भमें कामनाओं और

संकल्पोंका त्याग तो बताया है, पर कर्मोंके आरम्भका त्याग नहीं बताया; क्योंकि कर्मयोगमें निष्कामभावसे कर्म करना आवश्यक है। कर्मोंको किये बिना कर्मयोगकी सिद्धि ही नहीं हो सकती (६।३)। परंतु ज्ञानयोग और भक्तियोगमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्याग बताया है; जैसे—जो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी है, वह गुणातीत कहा जाता है (१४।२५); और जो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी है, वह भक्त मुझे प्रिय है (१२।१६)। कारण कि ज्ञानयोगी और भक्तियोगीकी सांसारिक कर्मोंसे उपरति रहती है।

दीपावली

(विद्याधुरीण पं० श्रीजौहरीलालजी शर्मा, सांख्य-योगाचार्य)

कार्तिक मासमें प्रातः-स्नान, अल्पभोजन, भगवद्भजन और दीपदानका विशेष माहात्म्य है। प्रातःस्नानके लिये विष्णुस्मृतिमें लिखा है—

तुलामकरमेषेषु प्रातःस्नानं विधीयते।
हविष्यं ब्रह्मचर्यं च महापातकनाशनम्॥

'कार्तिक, माघ और वैशाखके महीनोंमें प्रातःस्नान, हविष्यान्न—गेहूँ, जौ, चावल, तिल आदिका भोजन करने एवं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥

—स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय, क्रियानिर्वृत्ति—इन आठ प्रकारके मैथुन-त्यागरूप ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे मनुष्यके बड़े-बड़े पातक नष्ट हो जाते हैं। आयुर्वेदशास्त्रमें कार्तिकके आठ दिन **'यमदंष्ट्रा'** नामसे कहे गये हैं, इनमें स्वल्पाहार करनेवाला सुखी रहता है—**'यमदंष्ट्राः समाख्याताः स्वल्पाहारः स जीवति।'** इस महीनेमें मधुसूदनभगवान्‌का तुलसी, केतकी, कमल तथा चमेलीके पुष्पोंके साथ पूजन करनेसे भक्तकी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। दीपदानके विषयमें पुष्करपुराणमें लिखा है—

तुलायां तिलतैलेन सायंकाले समागते।
आकाशदीपं यो दद्यान्मासमेकं हरिं प्रति॥
महतीं श्रियमाप्नोति रूपसौभाग्यसम्पदम्॥

'जो मनुष्य कार्तिकके महीनेमें संध्याके समय भगवान् हरिहर, धर्म, भूमि, यमराज, प्रजापति तथा पितरोंके नामसे तिलके तेलका आकाशदीप जलाता है, वह अतुल लक्ष्मी, रूप, सौभाग्य एवं सम्पत्ति पाता है।' कार्तिक कृष्ण अमावास्या तो, जो दीपमालिकाके नामसे जगत्प्रसिद्ध है, इस महीनेका एक विशिष्ट उत्सव है। नारदजीके वचनानुसार इस उत्सवको द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, अमावास्या और प्रतिपदा—पाँच दिनतक लगातार मनाना चाहिये, जिसका क्रम इस प्रकार है—द्वादशीके दिन गोवत्सद्वादशीका उत्सव होता है। इसमें दूधवाली, बछड़ेसहित सुन्दर गौको स्नान कराकर झूल उढ़ावे, पुष्पमाला पहिनावे, सींग मँढ़ावे, चन्दन लगावे और ताम्रपात्रमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और तिलसहित जल डालकर इस मन्त्रसे गौके चरणोंमें अर्घ्य प्रदान करे—

क्षीरोदार्णवसम्भूते सुरासुरनमस्कृते।
सर्वदेवमये मातर्गृहाणार्घ्यं नमो नमः॥

'अमृतमन्थनके समय क्षीरसागरसे उत्पन्न हुई, देवताओं तथा असुरोंद्वारा नमस्कृत, सर्वदेवस्वरूपिणी माता! मेरे द्वारा दिये हुए इस अर्घ्यको स्वीकार करो। तुम्हें बार-बार नमस्कार है।'

अनन्तर गौको उड़दके बड़े खिलावे और इस प्रकार प्रार्थना करे—

सुरभि त्वं जगन्मातर्देवि विष्णुपदे स्थिता।
सर्वदेवमये ग्रासं मया दत्तमिमं ग्रस॥
ततः सर्वमये देवि सर्वदेवैरलङ्कृते।
मातर्ममाभिलषितं सफलं कुरु नन्दिनि॥

'हे कामधेनो! हे जगदम्बे! हे स्वर्गमें रहनेवाली देवि! हे सर्वदेवमयि! मेरे द्वारा अर्पित इस ग्रासका भक्षण करो। हे सर्वरूपिणी देवि! हे समस्त देवताओंके द्वारा अलङ्कृत माता नन्दिनी! मेरा मनोरथ पूर्ण करो।'

इसके उपरान्त रात्रिके समय विधिपूर्वक देवता, ब्राह्मण, गौ, घोड़े आदि पशु एवं ज्येष्ठ और श्रेष्ठ—बूढ़े-बड़े लोगों तथा दादी, माता, बूआ, मौसी आदि पूज्य स्त्रियोंका भलीभाँति

आदर-मानसहित नीराजन करे—आरती उतारे। दूसरे दिन अर्थात् कार्तिक कृष्ण, १३ को धनतेरस अथवा धन्वन्तरि-त्रयोदशी कहते हैं। इस दिन भगवान् धन्वन्तरिजीने दुखी जनोंके रोग-निवारणार्थ जन्म लेकर आयुर्वेदका उद्धार किया था। इसलिये उस दिन भगवान् धन्वन्तरिजीका जन्म-महोत्सव भलीभाँति मनाना चाहिये और संध्या-समय घरसे बाहर यमराजके नामसे निम्नलिखित मन्त्रका उच्चारण करके यमके लिये दीपदान करना चाहिये।

मृत्युना पाशदण्डाभ्यां कालेन श्यामया सह।
त्रयोदश्यां दीपदानात् सूर्यजः प्रीयतां मम॥

'त्रयोदशीके दिन दीपदानसे पाश और दण्ड लिये हुए मृत्यु-देवता, कालके अभिमानी देवता तथा देवी श्यामाके सहित भगवान् यम मुझपर प्रसन्न हों।'

इसके दूसरे दिन अर्थात् कार्तिक कृष्ण १४ को नरक-चतुर्दशीका उत्सव मनाया जाता है। इस दिन सूर्योदयसे पहले चन्द्रोदयके समय सुगन्धित तिलका तेल शरीरमें लगाकर ओंगा सिरपर घुमाते हुए ठंडे जलसे स्नान करना चाहिये, ऐसा करनेसे नरकका भय नहीं रहता। इस दिन तेलमें लक्ष्मीका और जलमें गङ्गाका निवास रहता है। साथ ही यम, धर्मराज आदि १४ नामोंसे तर्पण भी करना चाहिये। फिर प्रदोषके समय स्कन्दपुराणके वचनानुसार धर्मराजकी प्रीतिके निमित्त—

ततः प्रदोषसमये दीपान् दद्यान्मनोरमान्।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां भवनेषु मठेषु च॥

—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, भगवती, गणेश आदि देवताओंके मन्दिरोंमें तथा संन्यासी-महात्माओंके निवास-स्थानोंमें सुन्दर दीपोंका दान करना चाहिये। इसी तरह नरकके उद्देश्यसे एक चौमुखा दीपक पापोंकी निवृत्तिके लिये निम्नलिखित मन्त्र पढ़कर जलाना चाहिये। मन्त्र इस प्रकार है—

दत्तो दीपश्चतुर्दश्यां नरकप्रीतये मया।
चतुर्वर्तिसमायुक्तः सर्वपापापनुत्तये॥

'आज चतुर्दशीके दिन नरकासुरकी प्रीतिके लिये तथा समस्त पापोंके विनाशके लिये यह चार बत्तियोंका चौमुखा दीपक मेरे द्वारा अर्पित किया गया।'

अगले दिन कार्तिक कृष्ण ३०को दीपावलीका प्रसिद्ध महोत्सव मनाया जाता है। इसमें सर्वत्र दीपोंद्वारा देवताओं आदिका नीराजन किया जाता है। इसीलिये यह दीपावली, दीवाली, दीपमाला, दीपमालिका आदि नामोंसे विख्यात है। इस दिन भी चतुर्दशीकी तरह अरुणोदयकालमें मङ्गलस्नान करना चाहिये और संध्या, जप, हवन, स्वाध्याय, पितृतर्पण, देवपूजन आदि नित्य-कर्मसे निवृत्त हो हनुमत्पूजन एवं पितरोंकी तृप्तिके निमित्त श्राद्ध करना चाहिये और प्रदोषकालमें, पहलेहीसे लिपे-पुते मकानोंको पुष्पमाला, पताका, बंदनवार, आकाशदीपक एवं दीपवृक्ष आदिसे सजाकर, सुन्दर आसन बिछाकर, चौकी आदिपर श्रीनारायणसहित भगवती लक्ष्मीकी रत्नमयी, 'धातुमयी, पाषाणमयी, काष्ठमयी, लेप्या, लेख्या, मृण्मयी अथवा सिकतामयी (बालूसे निर्मित) मूर्तिका प्रधानरूपसे तथा गणेश, शिव, पार्वती, ब्रह्मा, सरस्वती, गङ्गा, हनुमान् आदि अन्य देवताओंका भी स्थापन करे। स्वयं भी स्वच्छ वस्त्र-आभूषण धारणकर घृत और तेलके अनेक दीपक जलावे और स्वस्तिवाचन कर वैदिक या तान्त्रिक मन्त्रोंसे विधिपूर्वक मनोनिग्रहके साथ स्थापित देवताओंका पूजन करे। पूजाविधि न जाननेवाले '**लक्ष्म्यै नमः**' इसी मन्त्रसे पूजन करें। इसके पश्चात् भगवती लक्ष्मीकी प्रसन्नताके लिये गोपाल-सहस्रनाम, लक्ष्मीस्तोत्र एवं '**हिरण्यवर्णां हरिणीम्॰**' इस वैदिक श्रीसूक्तका पाठ और हवन करें। इसी प्रकार अर्धरात्रिपर्यन्त पूजा करते रहें। अर्धरात्रिके समय भगवती लक्ष्मी प्रत्येक गृहमें आकर भक्तोंको वर देती और वहाँ निवास करती हैं। फिर चौथे पहरमें स्त्रियाँ सूप बजाकर घरमेंसे 'जाओ दारिद्र्य, आओ लक्ष्मी' कहती हुई अलक्ष्मी अर्थात् दरिद्रताको निकालें। पाँचवें दिन कार्तिक शुक्ला प्रतिपदाको गोक्रीडामें गौओंको अच्छी तरह सजाकर, पूजा कर, भक्ष्यादि दे यों प्रार्थना करें—

लक्ष्मीर्या लोकपालानां धेनुरूपेण संस्थिता।
घृतं वहति यज्ञार्थे मम पापं व्यपोहतु॥

'धेनुरूपसे स्थित जो साक्षात् लोकपालोंकी लक्ष्मी है तथा जो यज्ञके लिये घी देती है, वह गौमाता मेरे पापोंका नाश करे।' और भगवान्का पूजन कर अनेक प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य आदि पदार्थोंका भोग लगाकर अन्नकूट नामका उत्सव करे एवं रात्रिके समय बुभुक्षितोंको विविध

दानादि देकर, गन्धाक्षत-पुष्पादिसे पूजा कर, राजा बलिको प्रसन्न करे। पूजनका मन्त्र यह है—

बलिराज नमस्तुभ्यं दैत्यदानववन्दित ।
इन्द्रशत्रोऽमराराते विष्णुसांनिध्यदो भव ॥

'हे दैत्यों एवं दानवोंद्वारा वन्दित, इन्द्रशत्रु, देवताओंका विरोध करनेवाले राजा बलि! तुम्हें नमस्कार है। अपने ही समान तुम मुझे भी भगवान् विष्णुका सांनिध्य (उनके समीप निवास) प्रदान करो।' ऐसा करनेसे विष्णु भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसी रात्रिमें गोबरका सुन्दर गोवर्धन-पर्वत बना, दीपदान कर, उसमें श्रीभगवान्का षोडशोपचार अथवा पञ्चोपचार (गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य) से पूजन कर इस प्रकार प्रार्थना करे—

गोवर्धनधराधार गोकुलत्राणकारण ।
बहुबाहुकृतच्छाय गवां कोटिप्रदो भव ॥

'हे गोवर्धन पर्वतको उठानेवाले! हे गोकुलको उबारनेवाले तथा अनेक भुजाओंसे छाया करनेवाले प्रभो! हमें करोड़ों गायें प्रदान कीजिये।' यों पाँच दिनका यह दीपमालिकोत्सव सम्पन्न होता है। यहाँ प्रसङ्गसे यमद्वितीया—भैयादोजका भी कुछ वर्णन कर देना उचित जँचता है।

यह तिथि प्रतिपद्युक्त मध्याह्नमें मानी जाती है।

पूर्वकालमें यमुनाजीने अपने भाई यमराजको इस दिन अपने घर बुलाकर प्रीति और आदरके साथ भोजन कराया था। तभीसे यह तिथि यमद्वितीया नामसे प्रसिद्ध हो गयी है *। इस दिन पुरुषोंको अपने घर भोजन न कर प्रेमपूर्वक बहिनके हाथका बना हुआ भोजन करना चाहिये। उस दिन यदि यमुनास्नान मिल जाय तो सोनेमें सुगन्धका योग हो जाता है। बहिन भाईको भोजन करानेसे पहले इस मन्त्रका उच्चारण करे—

एह्येहि मार्तण्डज पाशहस्त
यमान्तकालोकधरामरेश ।
भ्रातृद्वितीयाकृतदेवपूजां
गृहाण चार्घ्यं भगवन् नमस्ते ॥
भ्रातस्तवानुजाताहं भुङ्क्ष्व भक्तमिदं शुभम्।
प्रीतये यमराजस्य यमुनायां विशेषतः ॥

'हे सूर्यपुत्र! हे पाश धारण करनेवाले! हे यम! हे काल! हे प्रकाशको धारण करनेवाले देवताओंके स्वामी! भ्रातृद्वितीयाको की हुई मेरी देवपूजा तथा अर्घ्यदान स्वीकार करें। हे भगवन्! आपको मेरा नमस्कार है। हे भाई! हे कल्याणरूप! मैं तुम्हारी छोटी बहिन हूँ, यमराजकी प्रसन्नताके लिये विशेषकर यमुनातटपर तुम मेरेद्वारा अर्पित इस अन्नको स्वीकार करो।' भोजन करके भाई भी बहिनोंका यथाशक्ति उत्तमोत्तम वस्त्र, अलङ्कार, भोजन-सामग्री आदि देकर उचित सम्मान करे। सगी बहिन न हो तो मौसी, बुआ अथवा मामाकी लड़की या अन्य रिश्तेकी बहिनके हाथका भोजन करे। इस प्रकार भोजन करानेसे भाईकी उम्र बढ़ती है एवं उसको धन, धान्य और सुख-सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है तथा बहिनको भी पुत्रप्राप्ति आदि सब सुखोंका लाभ होता है, पतिकी आयुवृद्धि होती है।

हिंदूमात्रका परम कर्तव्य है कि श्रद्धा और भक्तिसे इस धार्मिक उत्सवको मनावें। उत्सव ही किसी जाति या राष्ट्रकी सौभाग्यलक्ष्मीका सूचक है। प्राचीन कालमें जब यह त्योहार प्रेम और उत्साहसे मनाया जाता था, तब भारतवर्ष उन्नतिके शिखरपर आसीन था। भगवती लक्ष्मी पूजासे प्रसन्न हो यहाँपर निरन्तर निवास करती थीं। इन्द्रदेव समयपर वर्षा करते थे। रत्नगर्भा वसुन्धरा अनेक रत्न, सुवर्णादि धातु एवं जौ, चावल, गेहूँ आदि विविध धान्य और ओषधियाँ उत्पन्न करती थी। गोमाताएँ हृष्ट-पुष्ट हो दूध, दही, घृतकी नदियाँ बहाती थीं। ब्राह्मणादि चारों वर्ण निज-निज धर्मका पालन करते हुए तथा संगठनके साथ प्रेमसे रहते हुए चौदह विद्याओं एवं चौंसठ कलाओंमें निपुणता प्राप्त कर, ब्रह्मचिन्तनमें तत्पर रह इस लोकमें अभ्युदय और परलोकमें निःश्रेयसकी प्राप्ति करते थे। ऐहिक और पारलौकिक निःश्रेयसकी प्राप्ति करना ही मनुष्यका परम ध्येय है।

* * *

---

* कार्तिके शुक्लपक्षस्य द्वितीयायां युधिष्ठिर। यमो यमुनया पूर्वं भोजितः स्वगृहेऽर्चितः ॥

देवताओंकी माता अदिति

वेदोंमें देवताओंकी माताके रूपमें देवमाता अदितिका स्थान सर्वोच्च है। मूर्त-स्वरूपवाली देवियोंमें उनकी समानता करनेवाली अन्य कोई देवी नहीं है, वे निर्द्वन्द्व एवं निर्विरोध-रूपसे विश्वकी सर्वोच्च शक्तिशालिनी, सर्वोपरि सुन्दरी देवी हैं। ऋग्वेदमें उन्हें पुत्रदा, अनर्वा, अतुलनीय आदि विशेषणोंसे विभूषित किया गया है। देवमाता अदितिको सर्वाधिक वैभवशाली एवं विस्तृत प्रासादोंकी सम्राज्ञी भी कहा गया है। वे अत्यन्त भव्य, दीप्तिमती, अद्वितीय सुन्दरी होनेके साथ-साथ सम्पूर्ण प्राणियोंकी सहायिका एवं हितैषिणी भी हैं (१।१३६।१)। देवमाता अदिति देवी मित्र, वरुण, अर्यमा, पूषा आदि द्वादश आदित्योंकी तथा इन्द्र, उपेन्द्र आदि विशिष्ट देवताओंकी भी जननी कही जाती हैं। इसलिये उन्हें सभी देवताओं एवं राजा-महाराजाओंकी माता भी कहा गया है। अदिति देवी द्यौ एवं पृथ्वीकी भी माता हैं। याज्ञिकोंद्वारा उनकी प्रातः, मध्याह्न एवं संध्या—इन तीनों कालोंमें भव्य स्तुतियाँ की जाती हैं।

ऋग्वेद (८।९०।१३) में अदितिको रुद्रोंकी भी माता कहे जानेकी बात आती है। उन्हें 'पृथ्वी' या 'गौ' रूपमें भी दिखाया गया है (८।९०।१५)।

शुक्ल यजुर्वेद (२१।५) तथा अथर्ववेद (७।६।२) में अदितिदेवीको श्रद्धालु भक्तोंकी माता, ऋत्‌की पत्नी एवं अपार शक्तिशालिनी कहकर स्तुति की गयी है। इसीके अनुसार ये अविनाशिनी, द्यावा-पृथ्वीमें व्याप्त, सबकी संरक्षिका तथा अत्यन्त चातुर्य एवं बुद्धिमत्तासे सबका मार्गदर्शन करनेवाली हैं।

इन सभी तथ्योंसे देवमाता अदितिकी विश्वमातृत्व-शक्तिके रूपमें अभिव्यक्ति या मातृत्वकी मूर्ति माना जाना सिद्ध होता है। लौकिक कामनाओंके निमित्त भी उनकी आराधना एवं उपासना वेदविहित है। इनकी उपासनासे वन्ध्या स्त्री एवं पुत्रहीन पुरुषोंको शीघ्र संतान-प्राप्ति होती है।

यजुर्वेद (अ० २५, मन्त्र २३) में भगवती अदितिको ही द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जगत्‌की माता, जगत्‌का पिता, देवता, असुर, मनुष्य एवं विश्वकी समस्त वस्तुजाति—प्राणी-पदार्थके रूपमें सर्वत्र व्याप्त कहकर स्तुति की गयी है। ब्रह्मासे लेकर स्तम्बरूप लघु तृणतक सभी प्राणियोंके रूपमें माता अदितिकी अभिव्यक्ति सर्वथा आश्चर्यकी वस्तु है।

निरुक्त (१।१६।२) में यास्क, स्कन्दस्वामी एवं आचार्य दुर्गके अनुसार अदिति अदीना, सर्वसमृद्धिशालिनी देवी हैं। निरुक्त (२।१३।१) के अनुसार 'अदिति' शब्द वाणीका वाचक है। निरुक्त-सम्प्रदायानुसार अदीनता आदि गुणोंसे युक्त लक्ष्मी, पृथ्वी, गौ आदिके भी द्युतिशालिनी, समृद्धिशालिनी देवी अदिति हो सकती हैं। अध्यात्मवादियोंके अनुसार प्रकृति ही अदिति हैं।

बृहद्देवता (अध्याय १, प्रकरण २२) में निरुक्त-निघण्टुप्रोक्त अन्तरिक्ष या मध्यस्थानके स्वामी इन्द्रसे सम्बद्ध देव-समूहोंके वर्णनमें अदितिको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होनेका उल्लेख है। इन्द्रके आश्रित देवताओंमें पर्जन्य, रुद्र, वरुण, वायु, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, वास्तोष्पति, क्षेत्रपति, सुनीति एवं अदिति—ये मुख्य देव-देवियाँ निर्दिष्ट हैं। इसके साथ ही सीता, लाक्षा, गौ, गौरी, इन्द्राणी आदि भी इन्हींकी कोटिमें परिगणित हैं। ऐसा बृहद्देवताकार आचार्य शौनकका मत है।

रामायण, महाभारत तथा पुराणोंमें देवमाता अदितिके अत्यन्त विचित्र चरित्र प्राप्त होते हैं। इतिहास-पुराणों विशेषकर विष्णुपुराण (१।१५।१२६), ब्रह्माण्डपुराण (२।३३।१७, ३।३।५६, १।१७) आदिके अनुसार ये दक्ष प्रजापतिकी पुत्री कही गयी हैं। उन्होंने इनका विवाह मरीचिके पुत्र कश्यपजीसे किया। इनके गर्भसे तैंतीस देवताओंकी उत्पत्ति बतलायी गयी है।

अदितिके गर्भसे आदित्यका प्रादुर्भाव

महाभारतके शान्तिपर्वके ३४२वें अध्यायमें भगवान् सूर्यके अदितिके गर्भसे उत्पन्न होनेकी विचित्र कथा प्राप्त होती है। उसमें कहा गया है कि अदितिके गर्भसे एक दिव्य अण्डा उत्पन्न हुआ, किंतु वह बहुत दिनोंतक वैसा ही ज्यों-का-त्यों पड़ा रहा। अदितिको यह भान होने लगा कि यह अण्डा व्यर्थ है और इसमें रहनेवाला भीतरका शिशु मर चुका है। बारह वर्षतक प्रतीक्षा करनेके पश्चात् उन्होंने उसे मरा हुआ समझकर फोड़कर फेंकना चाहा, किंतु उससे सूर्य प्रकट हुए और अण्डेको फोड़नेसे उत्पन्न होनेके कारण उनका नाम मार्तण्ड पड़ा।

मार्कण्डेयपुराणके ११५वें अध्यायमें यह कथा कुछ भिन्न-रूपसे आयी है। उसमें अदितिको महर्षि कश्यपकी तेरह पत्नियोंमें सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। अदितिके सभी पुत्र देवता थे। एक बार दानवोंने उन्हें पराजित कर स्वर्गपर अधिकार जमा लिया। दानव-दैत्य कश्यपकी दूसरी पत्नी दनु और दितिके पुत्र थे। दैत्य-दानवोंद्वारा अपने पुत्रोंको पराजित तथा राज्याधिकारसे च्युत और सुख-सम्पत्तिविहीन इधर-उधर निराश्रित घूमते देखकर देवताओंके दुःखसे दुःखी अदिति अत्यन्त शोकग्रस्त हो गयीं। उन्होंने विश्वके उत्पादक, प्रकाशक, रात्रि-दिनके निर्माता आकाशस्थित सूर्यकी आराधना प्रारम्भ कर दी। एक दिन भगवान् सूर्य आकाशमें उनके सामने आकर प्रकट हो गये। उस तेजःसम्पन्न दिव्य ज्योतिःपुञ्जको देखकर वे भयभीत हो गयीं। उन्होंने कहा—'भगवन्! मुझपर कृपा करें, जिससे मैं आपके रूपको देख सकूँ।' अदितिकी प्रार्थनापर भगवान् सूर्य उस तेजसे बाहर निकलकर देवरूपमें उनके सामने खड़े हो गये। अदितिदेवी उनके पैरोंपर गिर पड़ीं। भगवान् सूर्यने कहा कि 'देवि! तुम्हारी जो भी इच्छा हो, वर माँग लो।' देवीने कहा—दानव-दैत्योंने मेरे पुत्रोंको परास्तकर उनका राज्य-वैभव और यज्ञभाग अपहृत कर लिया है। आप उन्हें प्राप्त करनेके लिये अपने अंशसे मेरे गर्भद्वारा देवताओंके बन्धुरूपमें प्रकट होकर उनके शत्रुओंका नाश करें और मेरे पुत्र पुनः यज्ञभागको प्राप्तकर स्वर्ग और त्रिलोकीके स्वामी बन जायँ।' इसपर भगवान् सूर्यने कहा—'मैं अपने सहस्र अंशोंसहित तुम्हारे गर्भसे उत्पन्न होकर देव-शत्रुओंका संहार करूँगा।' भगवान् सूर्यकी उक्ति सुनकर अदिति तपस्यासे निवृत्त हो गयीं और सूर्यकी सुषुम्ना नामवाली किरण जिसमें सहस्रों किरणोंका समुदाय निहित रहता है, देवमाता अदितिके गर्भमें प्रविष्ट हुई। जब अदितिको इसका भान हुआ कि 'सूर्य मेरे गर्भमें हैं, तब वे कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतोंका पालन करने लगीं और पवित्र भावोंसे उस गर्भको धारण किये रहीं। इस प्रकार अनेक वर्ष बीत गये।

कुछ समय बाद भगवान् सूर्य उस अण्डाकार-गर्भसे प्रकट हुए। उनके शरीरकी कान्ति कमलपत्रके समान अंदरसे श्याम किंतु बाहरसे अपार तेजपूर्ण थी, जिससे दसों दिशाएँ प्रकाशित और चमत्कृत हो रही थीं, फिर मेघतुल्य गम्भीर वाणीसे महर्षि कश्यपको सम्बोधित करती हुई सहसा आकाशसे यह वाणी प्रादुर्भूत हुई कि 'महर्षे! आपका यह पुत्र मार्तण्ड नामसे विख्यात होगा और अत्यन्त शक्तिशाली होकर सूर्यके अधिकारका ही पालन करेगा तथा देवताओंके यज्ञभागका अपहरण करनेवाले दैत्य-दानवों और असुरोंका संहार करके उनकी समृद्धि और यज्ञभागको भी वापस करेगा।'

इस आकाशवाणीको सुनकर महर्षि कश्यप, देवमाता अदिति और सभी देवगण बहुत प्रसन्न हुए। दैत्य तथा दानव हतोत्साह एवं बलहीन हो गये और उनके तेजसे सभी दैत्य-दानव जलकर भस्म हो गये। अब तो देवताओंके हर्षकी सीमा न रही और देवमाता अदिति भी सर्वथा संतुष्ट तथा कृतकृत्य हो गयीं। सभी देवगण भगवान् सूर्यके साथ अदितिकी स्तुति करने लगे। देवताओंको यज्ञभाग पुनः प्राप्त हो गये और उनकी सारी समृद्धि पुनः लौट आयी। इधर भगवान् सूर्य भी आकाशमें स्थित होकर अपनी मर्यादाका पालन करने लगे।

इस तरह अदितिके पुत्रोंमें जैसे सूर्य महाप्रकाशके पुञ्ज, प्रातः, मध्याह्न, सायं, रात्रि आदिके निर्माता, ऊष्मा, प्रकाश, वृष्टि, वृक्ष, शस्य आदिकी सृष्टि करनेवाले, फल एवं ओषधियोंको पकानेवाले, स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके प्राणरूप दिन, रात, मास, ऋतु, संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, युग, मन्वन्तर आदि महाकालचक्रके कारण हैं, वैसे ही अदितिके दूसरे पुत्र इन्द्र भी देवताओंके राजा बल-वृत्र आदि दैत्योंके संहारक, वर्षा एवं मेघोंके स्वामी-रूपमें प्रसिद्ध हैं। विष्णु, वरुण, अर्यमा, भग, पूषा, उपेन्द्र आदि भी उनके पुत्र हैं, जो दिव्य शक्तिसम्पन्न हैं। इसलिये देवमाता अदिति इन्द्र और विष्णुकी माता होनेके कारण सर्वत्र प्रथम पूज्य हुई हैं और वेदोंमें इन्हें द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, पृथ्वीस्वरूपा और सम्पूर्ण लोकोंकी माता, महालक्ष्मी, प्रकाशमयी देवी, सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त, सम्पूर्ण विश्वकी निर्मात्री, जगद्धात्री, सम्पूर्ण देवमयी कहा गया है। यहाँतक कि विश्वमें जो कुछ भी प्राणी-पदार्थ वस्तुजात दृष्टिगोचर होता है वह भी वही हैं। तात्पर्य यह कि इस सम्पूर्ण जगत्‌की आत्मा भी भगवती अदिति ही हैं।

(क्रमशः)

* * *

अमृत-बिन्दु

सांसारिक सुखकी इच्छाका त्याग कभी-न-कभी तो करना ही पड़ेगा, फिर देरी क्यों ?

भगवान्‌को याद रखना और सेवा करना—इन दो बातोंसे ही मनुष्यता सिद्ध होती है।

परमार्थ नहीं बिगड़ा है, प्रत्युत व्यवहार बिगड़ा है; अतः व्यवहारको ठीक करना है। व्यवहार ठीक होगा स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंकी सेवा करनेसे।

~~जहाँतक बने, दूसरोंकी आशापूर्तिका उद्योग करो, पर दूसरोंसे आशा मत रखो~~।

दूसरोंके हितका भाव रखनेवाला जहाँ भी रहेगा, वहीं भगवान्‌को प्राप्त कर लेगा।

नामजपमें प्रगति होनेकी पहचान यह है कि नामजप छूटे नहीं।

ठगनेमें दोष है, ठगे जानेमें दोष नहीं है।

जैसी परिस्थिति आये, उसीमें साधन करना है। अनुकूलता देखोगे तो साधन नहीं होगा।

~~जिसका स्वभाव सुधर जायगा, उसके लिये दुनिया सुधर जायगी~~।

~~संसारसे सम्बन्ध जोड़नेका नाम 'भोग' है और सम्बन्ध तोड़नेका नाम 'योग'~~ है।

भगवान्‌के सम्मुख होनेके लिये संसारसे विमुख होना है और संसारसे विमुख होनेके लिये निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करनी है।

हमसे अलग वही होगा, जो सदासे ही अलग है और मिलेगा वही, जो सदासे ही मिला हुआ है।

हमें अपने लिये कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि स्वरूपमें अभाव नहीं है और ~~शरीरको जो चाहिये, वह प्रारब्धके अनुसार पहलेसे निश्चित है, फिर चिन्ता किस बातकी~~ ?

~~भगवान्‌के सिवाय कोई मेरा नहीं है—यह असली भक्ति है~~।

~~लेकर दान देनेकी अपेक्षा न लेना ही बढ़िया है~~।

भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध स्वतःस्वाभाविक है। इस सम्बन्धके लिये किसी बल, योग्यता, दूसरेकी सहायता आदिकी जरूरत नहीं है।

~~दूसरेकी प्रसन्नतासे मिली हुई वस्तु दूधके समान है, माँगकर ली हुई वस्तु पानीके समान है और दूसरेका दिल दुखाकर ली हुई वस्तु रक्तके समान है~~।

नामजपमें रुचि नामजप करनेसे ही होती है।

केवल सेवा करनेके लिये ही दूसरोंसे सम्बन्ध रखो। लेनेके लिये सम्बन्ध रखोगे तो दुःख पाना पड़ेगा।

विचार करो, जिससे आप सुख चाहते हैं, क्या वह सर्वथा सुखी है ? क्या वह दुःखी नहीं है ? दुःखी व्यक्ति आपको सुखी कैसे बना देगा ?

~~पुत्र और शिष्यको अपनेसे श्रेष्ठ बनानेका विधान तो है, पर अपना गुलाम बनानेका विधान नहीं~~ है।

सेवाके लिये वस्तुकी कामना करना गलती है। जो वस्तु मिली हुई है, उसीसे सेवा करनेका अधिकार है।

किसी भी अवस्थामें राजी होना भोग है। भोगसे व्यक्तित्व नहीं मिटता। अतः साधकको किसी भी अवस्थामें राजी नहीं होना चाहिये।

भगवान् हठसे नहीं मिलते, प्रत्युत सच्ची लगनसे मिलते हैं।

~~भोगी व्यक्ति रोगी होता है, दुःखी होता है और दुर्गतिमें जाता~~ है।

कामना छूटनेसे जो सुख होता है, वह सुख कामनाकी पूर्तिसे कभी नहीं होता।

* * *

पढ़ो, समझो और करो

(१)

स्वप्नमें मन्त्र-जपका आदेश और कार्यकी सिद्धि

मैं लगभग सन् १९६०से ही श्रावणमासमें प्रायः रुद्राभिषेक करता चला आ रहा हूँ। मेरी एकमात्र पुत्री साधना उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुकी थी और मैं उसके विवाहके लिये चिन्तित था। मुझे लगा कि इतनी उच्च शिक्षा-प्राप्त कन्याके विवाहमें अधिक कष्ट नहीं होगा, किंतु बात उलटी ही हुई। उसके योग्य शिक्षित वरका प्राप्त होना और फिर हमारे कुलोचित-संस्कारके अनुरूप परिवारका प्राप्त होना तथा तदनुकूल सभी प्रकारके व्ययके लिये द्रव्यकी व्यवस्था करना—इन सभीने मिलकर मुझे कठिन चिन्तामें डाल दिया।

मैं इसी चिन्तामें रात-दिन डूब रहा था कि एक दिन ब्राह्ममुहूर्तमें मुझे एक स्वप्न हुआ—मेरे एक शुभचिन्तक मित्र, जो गौर वर्ण, श्वेत-परिधान और कंधेपर यज्ञोपवीत धारण किये हैं, मुझसे कह रहे हैं—'रमाकान्त ! दो लाख शिवमन्त्रका जप करो।' बस, स्वप्न टूट गया और मैं जाग गया। मुझे तत्काल श्रीरामचरितमानसका यह दोहा स्मरण हो आया—'*सुंदर गौर सुबिप्रबर अस उपदेसेउ मोहि ॥*'

इसके बाद स्नान कर अपने कतिपय हितैषियोंको स्वप्न बताकर मन्त्र पूछा। सबने भिन्न-भिन्न मन्त्र बतलाये। मेरे सामने समयका अभाव था, क्योंकि वकालतका व्यवसाय, कन्याके अनुरूप वर ढूँढ़नेके लिये दौड़-धूप तथा श्रीमद्भागवतके कथावाचन आदिमें मुझे निरन्तर व्यस्त रहना पड़ता था। इस प्रकार व्यस्त होनेपर भी किसी प्रकार मैंने भगवान् शिवको प्रणाम कर '**ॐ नमः शिवाय**' मन्त्रका चलते-फिरते जप करना प्रारम्भ कर दिया, संख्या भर स्मरण रखता गया।

आश्चर्यकी बात हुई, ज्यों ही एक लाख जप पूरा हुआ, उस समय मैं अपने निवास-स्थलसे २५ किलोमीटर दूर एक ग्राममें विश्राम कर रहा था। उसी समय एक मेरे परिजन वहाँ पहुँचे और उन्होंने मुझे सूचना दी कि एक सुयोग्य इंजीनियर वरके परिवारवालोंने साधनाको देखकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की है और मुझे उन दोनोंके विवाह-सम्बन्धके लिये आपके पास भेजा है। वे लोग कल ही आपसे प्रत्यक्ष मिलकर इस सम्बन्धमें सारी बातोंको निश्चित करनेके लिये तैयार हैं। इसपर मेरे आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा, मैं उस वरके साथ साधनाके विवाहकी कल्पना भी नहीं कर पा रहा था, प्रस्ताव रखनेका तो साहस ही कहाँसे होता ? क्योंकि उसके लिये बड़े-बड़े सांसद एवं सम्पन्न प्रतिष्ठित महानुभाव दौड़-धूप कर रहे थे, इसे मैंने भगवान् शिवकी कृपा और मन्त्रकी महिमा मानकर शीघ्र प्रस्ताव किया और वह स्वीकृत हुआ। मन्त्र-जप चलता रहा। कुछ ही दिनोंमें विवाह सानन्द सम्पन्न हुआ, उस बीच न मालूम कैसे-कैसे अप्रत्याशित स्रोतोंसे द्रव्यराशि भी प्राप्त हुई। मुझे यही लगा कि भगवान् शङ्करने ही अपने मित्र धनाध्यक्ष कुबेरको मेरी सहायताके लिये आदेश प्रदान किया है। इस समय वर-वधू सुखी हैं, परिवारमें साधना पुत्रीके समान स्नेह पा रही है। यह सब भगवान् आशुतोषकी महती अनुकम्पा है।

'सिव समान दाता नहीं बिपति-निवारन-हार।'

—रमाकान्त मिश्र, शास्त्री

(२)

पशुपतिनाथकी कृपा

भारतमें मध्यप्रदेश-राज्यके मन्दसौर नगरके बाहर शिवना नदीके तटपर एक विशाल मन्दिर है, जिसमें आठ फुट लम्बी तथा तीन फुट चौड़ी पशुपतिनाथ महादेवकी एक मूर्ति है, उसमें आठ मुख हैं। यह प्राचीन मूर्ति शिवना नदीसे ही प्राप्त हुई थी। इसपर धोबी कपड़े धोता था। महादेवजीने धोबीको स्वप्नमें अपने परिचयका आभास कराया। फिर उन्हें नदीमेंसे निकालकर उनके लिये मन्दिर बनवाया गया और उसीमें विधि-विधानपूर्वक उनकी स्थापना की गयी।

बात १३ जुलाई सन् १९८७ की है। मंदसौर जिलेमें सर्वत्र पानीके लिये त्राहि-त्राहि मची हुई थी। एक-दो बार पानी बरसा था, लेकिन नाममात्रका ही। किसानोंने किसी प्रकार बुआई कर ली, परंतु इसके बाद २०-२५ दिन पानी बरसा ही नहीं। किसानलोग पानीकी आशामें आसमानकी ओर टकटकी लगाये देखते रह गये। बीजके प्रायः पूर्णतया नष्ट होनेकी स्थिति आ गयी। लोग नहाने-धोनेका काम हैंडपम्पसे कर रहे

थे। समयका कोई ध्यान नहीं, जब अवसर मिलता, रात हो या दिन, पानी भर लेते। हैंडपम्प निरन्तर चालू रहता। छोटे और बड़े सभी पानीके लिये भाग-दौड़ करते रहते। कुछ लोग कुएँसे पानी भर लेते।

शिवना नदीका पानी पूरी तरह सूख गया था। मंदसौर शहरके बाहर बाँध बनाया गया था, वहीं कुछ दूरीपर थोड़ा पानी दीख रहा था, वह भी कुछ ही दिनके लिये था। १३ जुलाईको नगरपालिकाद्वारा सूचना दी गयी कि तीन दिनके लिये ही पानी नदीमें बच पाया है, उसके समाप्त होनेके पश्चात् जो एक समय थोड़ा पानी मिल रहा है, वह भी बंद हो जायगा।

ऐसी स्थितिमें भक्तजनोंने भगवान् पशुपतिनाथकी आराधना करनेकी बात सोची। १३ जुलाईको पिपलिया तथा मंदसौरके कुछ भक्तगण कंधेपर काँवरमें ताँबेके लोटोंमें जल भरकर उसे हारसे सजाकर पशुपतिनाथकी पूजाके लिये पैदल यात्रापर निकल पड़े, भक्तोंकी शोभायात्रा प्रमुख मार्गोंसे निकली। वे **'ॐ नमः शिवाय'**—इस पञ्चाक्षर मन्त्रका जप करते हुए पशुपतिनाथ पहुँचे और बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे पशुपतिनाथ महादेवपर जल चढ़ाया तथा वहाँ मन्दिरमें बैठकर **'ॐ नमः शिवाय'** का जप भी करने लगे। इसी बीच पशुपतिनाथकी कृपासे आकाशमें मेघ उमड़ आये और पर्याप्त समयतक सुवृष्टि होती रही। यह भगवान् पशुपतिनाथकी ही अनुकम्पा थी। किसानों और नगर-निवासियोंमें हर्षकी लहर दौड़ गयी और वे सभी भगवान् पशुपतिनाथका गुणगान करने लगे। सच्चे हृदयसे की गयी भगवदाराधना कभी निष्फल नहीं होती, प्रत्युत अवश्यमेव सफल होती है। भगवान् आशुतोषके विषयमें यह प्रसिद्ध ही है—

इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। लहहिं न कोटि जोग जप साधे॥
बरदायक प्रनतारति भंजन। कृपासिंधु सेवक मनरंजन॥

—प्रेमकुमार कटारिया

(३)

वृद्धाकी आश्चर्यजनक ईमानदारी

अभी कुछ ही दिन पहलेकी बात है, मुझे दिल्लीसे कोटा आना था। अतः मैं ठीक ९ बजे सायं नयी दिल्ली रेलवे स्टेशन पहुँचा। आरक्षण-चार्ट देखकर अपनी बोगीमें घुसा। वह टू-टीयर कम्पार्टमेंट था। मेरी शायिका ऊपरकी थी। अतः अपनी शायिकापर बिस्तर तथा सामान रखनेके बाद, जैसे ही मैं अपनी शायिकापर चढ़ा, मेरी दृष्टि अपने नीचेवाली शायिकापर पड़ी, जहाँ एक कृशकाय वृद्धा तीन वर्षके बालकको गोदमें लिये बैठी थी। मैले और फटे कपड़ोंमें वह किसी भिखारिनसे कम नहीं लग रही थी। मुझे आश्चर्य हुआ कि एक टू-टीयर कम्पार्टमेंटमें यह भिखारिन कैसे यात्रा कर रही है? इसे तो जनरल कम्पार्टमेंटमें यात्रा करनी चाहिये थी। मुझे उसे देखकर घृणा तो हो रही थी फिर भी उस भिखारिन बुढ़ियाके सांनिध्यमें यात्रा करनी पड़ी। मैंने ऐंठते हुए उस बुढ़ियासे कहा—'ऐ बुढ़िया! यह टू-टीयरका डिब्बा है। इसमें यात्रा करनेके लिये आरक्षण कराना होता है।' उस समय वह अपने बालकको खाना खिला रही थी। मैंने क्या कहा, मानो उसने सुना ही नहीं। खाना खिलानेके बाद उसने बालकको सुलाया और तब मेरी ओर मुख करके धीरेसे बोली—'हाँ बाबूजी मालूम है। इसमें यात्रा करनेके लिये आरक्षण कराना होता है।' उसने आरक्षण शब्दका इतना अच्छा उच्चारण किया कि एक बार तो मैं आश्चर्यमें पड़ गया कि क्या वह वास्तवमें अपढ़ बुढ़िया है? खैर, बात आयी-गयी हो गयी। मैंने अपने सामानपर फिर एक दृष्टि डाली और अपने जूते भी उठाकर अपने बिस्तरके नीचे दबा लिये, कहीं बुढ़िया रातको इन्हें गायब न कर दे। फिर मुझे नींद आ गयी।

प्रातः मेरी आँख पाँच बजे ही खुल गयी। गाड़ी ठीक सात बजे कोटा स्टेशन पहुँचती थी। अतः मेरी इच्छा हुई कि चाय पीकर और दैनिक कार्यों—शौचादिसे निवृत्त होकर बिस्तर आदि बाँध लिया जाय। तभी मेरा हाथ अपने पैन्टकी जेबपर गया तो मैंने देखा, पर्स गायब था। मैं झटसे उछलकर नीचे आकर खड़ा हो गया और बिस्तरपर तथा चारों ओर पर्स देखने लगा, यह सोचकर कि कहीं पर्स रातको सोते समय जेबसे निकलकर बिस्तरपर गिर गया हो। पर पर्स कहीं नहीं मिला। मैं एक प्रकारसे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। पूस मासके कटकटाती ठंडमें भी मेरे माथेपर पसीनेकी बूँदें आ गयीं। तभी चायवाला आया, बोला—'बाबूजी गरमागरम चाय पीजिये। सब ठंड गायब हो जायगी।' पर मुझे तो उस समय सिवाय पर्सके कुछ नहीं सूझ रहा था। चायवालेपर ध्यान न देकर मैं

नीचेकी बर्थके नीचे गर्दन डालकर पर्स खोजने लगा। तभी किसीने प्यारसे मेरा कंधा स्पर्श किया। मैंने गर्दन घुमाकर देखा तो वही बुढ़िया थी। बुढ़िया बड़े प्यारसे बोली—'आओ मेरे पास बैठो और चाय पियो। मालूम होता है किसी कष्टमें हो ? ईश्वरपर विश्वास रखो। सब ठीक होगा।' मैं बुढ़ियाके पास न जाने कैसे बैठ गया। उसकी आवाजमें एक दिव्य आकर्षण तथा अपनापन था। न जाने क्यों मुझे ऐसा लगने लगा कि जैसे मुझे कोई परेशानी ही न हो। मैंने बुढ़ियाको बड़े आदरसे सम्बोधित करते हुए कहा—'माँ ! मेरा पर्स खो गया है····मेरी बात पूरी भी न हो पायी थी कि बुढ़ियाने अपनी पोटलीसे पर्स निकालते हुए दिखाया और पूछा—'यह तो नहीं है तुम्हारा पर्स।' पर्स देखते ही मेरी सारी चिन्ता समाप्त हो गयी। इतनी खुशी हुई कि कुछ कहते नहीं बन रहा था। थोड़ी देर बाद पर्स लेते हुए मैंने बुढ़ियासे कहा—'माँ ! मालूम है इसमें कितने रुपये हैं ?'

'मैंने देखे नहीं' बुढ़ियाने बड़े विरक्त-भावसे कहा। 'ठीक पाँच हजारके नये नोट हैं।' इनाममें आप जो चाहें सो ले लें।' मैंने पर्स खोलते हुए कहा।

नहीं बेटा ! मुझे रुपया नहीं चाहिये। रुपया तो मेरे पास बहुत है। देखो न यह बालक मेरा पोता है। इसके माँ-बाप एक भीषण सड़क-दुर्घटनामें चल बसे। भगवान्की कृपासे यह बालक बच गया। अब तो यही मेरा खजाना है। जानते हो इसका बाप रेलवे स्टेशन-मास्टर था। मेरी इच्छा है कि 'यह और भी बड़ा रेलवेका अफसर बने' बुढ़िया यह कहते-कहते भावुक हो गयी। शायद बेटेकी याद ताजी हो गयी थी। मैंने देखा उसकी आँखोंमें आँसू भर आये थे। मैंने उसके आँसू पोंछ दिये, पर मैं अपने आँसू न रोक सका। तभी मेरा स्टेशन आ गया और मैं उस बुढ़िया माँको करबद्ध नतमस्तक प्रणाम कर गाड़ीसे उतर गया। धन्य है उसकी निःस्पृहता और ईमानदारी।

—श्रीनरेन्द्रजी वार्ष्णेय

मनन करने योग्य

[निर्मल मन जन सो मोहि पावा]

एक कथावाचक पण्डितजी नदीके किनारे प्रतिदिन धार्मिक प्रवचन किया करते थे। पण्डितजी बड़े विद्वान् और प्रायः सभी शास्त्रोंके ज्ञाता थे। अच्छे कथावाचक और प्रवचनकर्ता तो वे थे ही, उनके प्रवचनोंकी कीर्ति दूर-दूरतकके गाँवोंमें फैल चुकी थी। उनका प्रवचन सुननेके लिये आस-पासके स्थानोंसे अनेक श्रद्धालु भक्त कथामें प्रतिदिन एकत्र होते थे।

वहीं नदी-पारके गाँवसे दो अपढ़ ग्वालिनें भी उनकी कथा सुनने आया करती थीं। वे दोनों निर्मल-चित्त, सरल-हृदय और भोली-भाली थीं। छल-छिद्रसे कोसों दूर—निष्कपट। शास्त्रोंके प्रति उनके मनमें अगाध श्रद्धा थी एवं अटूट विश्वास था। इस विश्वासने उन्हें निर्भय बना दिया था। वे ग्वालिनें अपने गाँवसे प्रतिदिन नावके द्वारा नदी पार करके इस ओर आया-जाया करती थीं। नावपर बैठनेका किराया उन्हें प्रतिदिन केवटको देना पड़ता था।

एक दिन कथामें उन्होंने पण्डितजीके मुखसे सुना कि 'नारायणका नाम लेनेसे भवसागरसे पार हो जाते हैं।' ग्वालिनें भोली-भाली तो थीं ही। वे भला इसका गूढ़ अर्थ क्या समझतीं ? उन्होंने तो पण्डितजीके कथनोंका सीधा-सादा अर्थ ग्रहण कर लिया और उन वचनोंपर पूर्ण विश्वास कर आचरण करनेका निश्चय कर लिया। भोली-भाली ग्वालिनोंके मनपर इसका सही प्रभाव पड़ा। कथाके बाद घर लौटते समय उन दोनोंने विचार किया कि जब 'नारायणका नाम लेनेसे ही भवसागर पार हो जाते हैं, तो नावपर हम क्यों बैठें !' उन्होंने तत्काल पैदल चल पड़नेका निश्चय किया। नारायणका नाम लिया, एकने दूसरेका हाथ पकड़ा और नदीमें उतर पड़ीं तथा नारायणका नाम लेते-लेते खुशी-खुशी, धीरे-धीरे उस पार पहुँच गयीं। उस समय नदीमें उन्हें स्वल्प जल ही प्रतीत हुआ। उनकी खुशीकी सीमा नहीं थी। इस प्रकार वे प्रतिदिन कथा-श्रवण करतीं और कथाकी समाप्तिपर पैदल चलकर केवल नारायणका नाम लेकर नदी पार कर लेतीं। उनकी केवटको दी जानेवाली नदीकी उतराई प्रतिदिन बचने लगी। उसे वे प्रतिदिन अलगसे बचाने लगीं। जब यह राशि कुछ अच्छी इकट्ठी हो गयी, तब उन भोली-भाली दोनों ग्वालिनोंने

आपसमें निश्चय किया कि एक दिन पण्डितजीको अपने घरपर निमन्त्रित किया जाय।

उन्होंने एक दिन पण्डितजीसे अपने गाँव पधारने तथा अपनी झोंपड़ीको उनके चरणोंसे पवित्र करनेका निवेदन किया। पण्डितजीने उनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। कथा समाप्त हुई और पण्डितजी उनके गाँवको चलनेके लिये नदीके किनारे आ पहुँचे तथा नावको लानेके लिये कहने लगे। दोनों ग्वालिनें जो पास ही खड़ी थीं, बड़े आश्चर्यमें पड़ गयीं। उन्हें समझमें नहीं आ रहा था कि पण्डितजी नाव लानेके लिये क्यों कह रहे हैं? जबकिं वे कथामें स्वयं कहा करते हैं कि 'नारायण'का नाम लेनेसे ही पार हो जाते हैं। ग्वालिनोंने पण्डितजीसे उत्सुकताभरे स्वरमें पूछा कि वे नाव लानेका आग्रह क्यों कर रहे हैं? तो पण्डितजीने कहा कि नदीमें पानी है और बिना नावके नदी पार करनेमें डूबनेका भय है। पण्डितजी बिना नावके नदी पार करनेमें भयभीत थे, जबकि दोनों ग्वालिनोंके मनमें नारायणके नामकी शक्तिके प्रति सुदृढ़ आस्था थी। वे दोनों पैदल ही नदी पार जानेके लिये अत्यन्त उत्सुक थीं। अतः उन दोनोंने पण्डितजीके हाथ पकड़ लिये तथा 'नारायण-नारायण' कहते हुए वे नदीमें उतर पड़ीं और भगवान्‌का नाम स्मरण करते हुए धीर-धीरे दूसरे पार जा पहुँचीं।

पण्डितजीके मनमें नदीके बीचमें तो बड़ी व्याकुलता हो रही थी, किंतु जब वे नदीके उस पार सकुशल पहुँच गये और दोनों ग्वालिनोंको जब बिलकुल सहजरूपसे प्रसन्न-मुद्रामें देखा तो उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। उन्हें कुछ समझमें नहीं आ रहा था। ग्वालिनें उन्हें अपनी कुटियामें ले गयीं, उनका यथोचित आदर-सत्कार किया, श्रद्धापूर्वक भोजन कराया और अन्तमें नदी-उतराईकी बची सारी राशि उन्हें अर्पित कर दी, जो उन्होंने पण्डितजीकी कथा सुननेके बाद पैदल नदी पार करके बचायी थीं। जब पण्डितजीने इसका रहस्य जानना चाहा तो उन्होंने सारा वृत्तान्त पण्डितजीको कह सुनाया। उस समय पण्डितजी अवाक् थे।

पण्डितजीको तब लगा कि नारायणके नामका मर्म तो उन भोली-भाली ग्वालिनोंने ही समझा है, वे तो केवल प्रवचन ही करते रहे। गहरी नदी तो उन ग्वालिनोंने ही पार की है, उन्होंने तो बस नावकी ही प्रतीक्षा की।

ऐसी बातोंमें तर्कप्रवण व्यक्तियोंको आश्चर्य एवं अविश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि भगवन्नाममें साक्षात् भगवान्‌के तुल्य ही शक्ति होती है। भगवान् कृष्णको जब कारागारसे लेकर वसुदेवजी वर्षा-ऋतुमें नन्दजीके घरपर रखनेके लिये जा रहे थे तो अगाध जलवाली यमुना भी अत्यन्त अल्प जलवाली सुगमतासे पार करने योग्य हो गयी थीं—

मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुजा
गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला ।
भयानकावर्तशताकुला नदी
मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३ । ५०)

—उन दिनों बार-बार वर्षा होती रहती थी, इससे यमुनाजी बहुत बढ़ गयी थीं। उनका प्रवाह गहरा और तेज हो गया था। तरल तरङ्गोंके कारण जलपर फेन-ही-फेन हो रहा था। सैकड़ों भयानक भँवर पड़ रहे थे। जैसे सीतापति भगवान् श्रीरामजीको समुद्रने मार्ग दे दिया था, वैसे ही यमुनाजीने भगवान्‌को मार्ग दे दिया।

आचार्य कुलशेखरने भी अपने मुकुन्दमाला-स्तोत्रमें बड़े रम्य शब्दोंमें भगवद्भक्ति एवं उनके नाम-माहात्म्यके इस प्रकारके प्रभावको व्यक्त करते हुए कहा है—

भवजलधिमगाधं दुस्तरं निस्तरेयं
कथमहमिति चेतो मा स्म गाः कातरत्वम् ।
सरसिजदृशि देवे तावकी भक्तिरेका
नरकभिदि निषण्णा तारयिष्यत्यवश्यम् ॥

(मुकुन्दमाला १७)

इसका भाव यह है कि हे चित्त! अगाध भवसागरको तुम कैसे पार करोगे? इस चिन्तामें कातर मत बनो। नरकभेत्ता कमलनयन भगवान् विष्णुके चरणोंमें की गयी तुम्हारी थोड़ी भी भक्ति इस समुद्रको बड़ी सुगमतापूर्वक अवश्य ही पार करा देगी। —डॉ श्रीरामकृष्णजी सर्राफ

* * *

रत्न-पिटारी

कलिकाल बड़ा भीषण है, इसमें केवल भगवान्के नामका ही सहारा है। मन श्वेत वस्त्र है, इसे जिस रंगमें डुबाओगे वही चढ़ जायगा। विश्वास रखो, भगवान् दयालु हैं। उन्हें पुकारो, वे अवश्य सुनेंगे। भगवान्के लिये वैसे ही रोओ, जैसे बालक माताके लिये रोता है। संसारमें ईश्वर ही केवल सत्य है और सभी असत्य हैं।

जो ईश्वरका चरणकमल प्राप्त कर लेता है, वह संसारसे नहीं डरता। भक्तका हृदय भगवान्की बैठक है।

सर्वदा सत्य बोलना चाहिये। सत्य ही कलिकालकी तपस्या है। तुम जहाँ हो वहींसे प्रभुको पुकारो।

जिसका जैसा भाव होता है, उसको वैसा ही फल मिलता है। तुम संसारके सब काम करो, परंतु मनको प्रतिपल ईश्वरकी ओर रखो। साधु-संग करनेसे जीवका नशा उतर जाता है।

व्याकुल होकर भगवान्के लिये रोनेसे ही भगवान् मिलते हैं।

पर-निन्दा और पर-चर्चा कभी न करो।

विश्वास तारता है और अहङ्कार डुबाता है।

मुँहमें राम बगलमें छुरी मत रखो।

प्रेमसे हरि-नाम गाओ, इससे तरोगे, तरोगे, संसारसे तर जाओगे।

कलियुगमें भगवान्के नामसे बढ़कर कुछ भी नहीं है।

भगवान् सर्वत्र हैं, परंतु जो भक्त नहीं हैं, उन्हें दिखलायी नहीं देते। उठो ! श्रीकृष्णके चरणोंका वन्दन करो।

अपनी स्त्रीके सिवा अन्य स्त्रीसे कोई सम्बन्ध न रखो।

अभिमानको छोड़कर भगवान्की शरण लो।

भगवान्का नाम लेनेसे पाप भस्म हो जाते हैं।

संतोंके चरणोंको वन्दन करनेसे काम-क्रोध नष्ट हो जाते हैं।

यह सब नाशवान् है। गोपालका स्मरण करो, वही हित है।

संसारके सब भाई-बन्धु स्वार्थके साथी हैं। अपना सच्चा साथी तो भगवान् ही है।

भगवान्का भजन ही जीवनका सुफल है।

'राम-कृष्ण-हरि' कहते चलो। वैकुण्ठका यही रास्ता है।

भावसे ही भगवान् मिलते हैं।

छोटे-बड़े सबके भीतर नारायणका निवास है।

और कहीं मत देखो, श्रीहरिके चरण पकड़े रहो, उनके नामका आश्रय लिये रहो।

इस युगमें श्रीराम-नाम ही सब कुछ है।

पराया धन और परायी स्त्रीकी ओर जहाँ दृष्टि गयी कि तुम नष्ट-भ्रष्ट हो जाओगे।

पर-स्त्रीसे कभी बात न करो, उससे कभी भी आँख न मिलाओ।

सदाचारसे रहो और भगवान्का भजन करो।

पर-नारीको माताके समान समझो। परायेका धन विष समझो।

भगवान्को चाहते हो तो भगवान्को भजो।

सारा प्रपञ्च छोड़कर श्रीहरिको ढूँढ़नेमें लगो।

उस बड़प्पनमें आग लगे जिसमें भगवद्भक्ति नहीं।

शरीर न बुरा है न अच्छा, इसे जल्दी हरि-भजनमें लगाओ।

स्त्रीके अधीन जिसका जीवन होता है, उस अधमको देखनेसे भी असगुन होता है।

उठते-बैठते भगवान्को पुकारो।

कोई कैसा भी हो, यदि हरि-नाम लेनेवाला है तो वह धन्य है, उसकी माता धन्य है।

नर-जन्मकी सार्थकता भगवान्के मिलनेमें ही है।

जिसका मन पवित्र नहीं, उसका कोई काम पवित्र नहीं होता।

मृत्यु आकर तुम्हें जगाये, इसके पहले ही तुम जाग जाओ।

जो पासमें धन रहनेपर भी अपने भाइयोंकी दीन-अवस्थापर तरस नहीं खाता और उनकी सहायता नहीं करता, उसके हृदयमें प्रभुका प्रेम कैसे धँस सकता है ?—महात्मा ईसा

श्रीगीता-जयन्ती

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।

(गीता ६ । ३०-३१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता । जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है ।'

आजके इस अत्यन्त संकीर्ण स्वार्थपूर्ण जगत्में दूसरेके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझनेकी शिक्षा देनेके साथ कर्तव्य-कर्मपर आरूढ़ करानेवाला और कहीं भी आसक्ति-ममता न रखकर केवल भगवत्सेवाके लिये ही यज्ञमय जीवन-यापन करनेकी सत्-शिक्षा देनेवाला सार्वभौम ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता ही है । इसका विश्वमें जितना वास्तविक रूपमें अधिक प्रचार होगा, उतना ही वह सच्चे सुख-शान्तिकी ओर आगे बढ़ सकेगा ।

इस वर्ष मार्गशीर्ष शुक्ला ११ बुधवार, दिनाङ्क २८ नवम्बर १९९०ई० को श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व-दिवस है। इस पर्वपर जनतामें गीता-प्रचारके साथ ही श्रीगीताके अध्ययन—गीताकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेकी स्थायी योजना बननी चाहिये । आजके किंकर्तव्यविमूढ़ मोहग्रस्त मानवके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है । इस पर्वके उपलक्ष्यमें श्रीगीतामाता तथा गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णका शुभाशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य और यथासम्भव देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य होने चाहिये—

(१) *गीता-ग्रन्थ-पूजन ।*
(२) *गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन ।*
(३) *गीताका यथासाध्य व्यक्तिगत और सामूहिक पारायण ।*
(४) *गीतातत्त्वको समझने-समझानेके हेतु गीता-प्रचारार्थ एवं समस्त विश्वको दिव्य ज्ञानचक्षु देकर सबको निष्कामभावसे कर्तव्य-परायण बनानेकी महती शिक्षाके लिये इस परम पुण्य दिवसका स्मृतिमहोत्सव मनाना तथा उसके संदर्भमें सभाएँ, प्रवचन, व्याख्यान आदिका आयोजन एवं भगवन्नाम-संकीर्तन आदि करना-कराना ।*
(५) *महाविद्यालयों और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण आदि ।*
(६) *प्रत्येक मन्दिर, देवस्थान, धर्मस्थानमें गीता-कथा तथा अपने-अपने इष्ट भगवान्का विशेषरूपसे पूजन और आरती करना ।*
(७) *जहाँ किसी प्रकारकी अड़चन न हो वहाँ श्रीगीताजीकी शोभायात्रा (जुलूस) निकालना ।*
(८) *सम्मान्य लेखक और कवि महोदयोंद्वारा गीता-सम्बन्धी लेखों और सुन्दर कविताओंके द्वारा गीता-प्रचार करने और करानेका संकल्प लेना, तदर्थ प्रेरणा देना और—*
(९) *देश, काल, पात्र (परिस्थिति)के अनुसार गीता-सम्बन्धी अन्य कार्यक्रम अनुष्ठित होना चाहिये ।*

—सम्पादक

* * *

‘कल्याण’ के चालू वर्ष (सौर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, वि॰ संवत् २०४७) का विशेषाङ्क

‘देवताङ्क’

(इच्छुक सज्जन ग्राहक बनें एवं इष्ट-मित्रोंको भी बनायें)

‘कल्याण’के ६४वें वर्ष (वि॰ सं॰ २०४७) के विशेषाङ्क—‘देवताङ्क’की अब कुछ सीमित प्रतियाँ ही शेष रह गयी हैं। अतः इच्छुक सज्जनोंको चाहिये कि वे अविलम्ब वार्षिक शुल्क ४४.०० (चौवालीस रुपये) मनीआर्डर अथवा बैंक-ड्राफ्टद्वारा भेजकर इसे शीघ्र प्राप्त कर लें अन्यथा ‘कल्याण’के पिछले विशेषाङ्कोंकी तरह इन शेष प्रतियोंके शीघ्र समाप्त हो जानेपर उन्हें निराश होना पड़ सकता है।

इस विशेषाङ्कमें देव-संस्कृति और देवता-विषयक महत्त्वपूर्ण तात्त्विक सामग्रीका प्रचुर मात्रामें समायोजन किया गया है। मुख्य रूपसे देवताओंके उद्भव, तात्त्विक स्वरूप, देवतत्त्व-मीमांसा, पञ्चदेवोपासना, त्रिदेव एवं त्रिशक्ति-रहस्यके साथ ही देवता-सम्बन्धी दार्शनिक एवं पौराणिक अवधारणाएँ एवं देवताओंके विभिन्न स्वरूप-विग्रहोंके दर्शन आदिका इसमें विशद वर्णन है। इसके अतिरिक्त आत्मकल्याणका मुख्य साधन—देवोपासना तथा देवोपासनाका परम उद्देश्य—भगवत्प्राप्ति-जैसे ज्ञानवर्धक, गम्भीर और परमोपयोगी विषयोंका भी इसमें विवेचन किया गया है। देवचरित्र-सम्बन्धी अनेक रोचक कथाओं एवं वैदिक तथा पौराणिक सरस आख्यानोंको भी इसमें प्रस्तुत किया गया है।

पृष्ठ-संख्या ४०८, बहुरंगे चित्र ९, सादे चित्र ९२, रेखाचित्र ६, सुन्दर आकर्षक बहुरंगे आवरणसे युक्त यह अङ्क अपनी उपादेयता एवं गुणवत्ताके कारण सर्वथा संग्रहणीय तथा नित्य पठनीय है। इसकी लोकप्रियता और माँग इसीसे स्वयं सिद्ध होती है कि इसके कुल १,९०,००० प्रतियोंके संस्करणमेंसे अब कुछ प्रतियाँ ही शेष बची हैं।

अतएव इस विशेषाङ्कके इच्छुक जो सज्जन अबतक ग्राहक न बने हों वे कृपया अब शीघ्र ही स्वयं ग्राहक बनें एवं अपने इष्ट-मित्र, प्रेमी जनोंको भी अविलम्ब ग्राहक बननेके लिये प्रेरित करें।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’, पो॰ गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५

परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी उपयोगी पुस्तकें

आनन्दका स्वरूप—इस पुस्तकमें लेखकद्वारा समय-समयपर साधकोंके लिखे हुए ६५ पत्रोंका संग्रह है। इनमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंमें उत्पन्न शङ्काओंका निराकरण किया गया है। आकार २०"×३०" सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २६०, भगवान् श्रीकृष्णके सुन्दर चित्रमय इस पुस्तकका मूल्य २.५० (दो रुपये पचास पैसे), डाकखर्च अतिरिक्त।

भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति—इस पुस्तकमें लेखकके ५० महत्त्वपूर्ण लेखोंका संग्रह है। इसमें भगवत्प्राप्तिके सुगम साधनोंपर प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक अपने ढंगकी बहुत उपयोगी एवं संग्रहणीय है। आकार २०"×३०", सोलहपेजी, सुन्दर रंगीन आकर्षक कवरवाली पुस्तकका मूल्य ४.०० (चार रुपये), डाकखर्च अतिरिक्त।

पद-रत्नाकर—श्रद्धेय श्रीभाईजीद्वारा रचित पदोंका यह अनुपम संग्रह है। यह रचना उनके अन्तर्हृदयमें विराजित श्रीराधामाधवका चिद्विलास है। इसमें वन्दना एवं प्रार्थना, श्रीराधा-माधवकी स्वरूप-माधुरी, उनकी विभिन्न लीलाओंका विशद वर्णन, प्रेमतत्त्व, श्रीराधा-कृष्ण-जन्म-महोत्सवके पदोंके साथ ही श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्णके विभिन्न स्वरूपोंका गुणगान तथा व्यावहारिक समस्याओंके सरल समाधानके पदोंने संग्रहकी उपयोगिता और भी बढ़ा दी है। श्रीराधा-माधवके परस्पर संवाद तथा श्रीभाईजीकी स्वयं देखी हुई लीलाओंका भी वर्णन है, जिसका संकेत उन्होंने स्वयं पुस्तकके निवेदनमें किया है। कुल पद १५,५७५, पृ॰-सं॰ १०२४, मूल्य १४.०० (चौदह रुपये), डाकखर्च अतिरिक्त।

लेखकके भगवच्चर्चा एवं लोक-परलोक-सुधारके सभी भाग उपलब्ध हैं। अन्य भी बहुत-सी पुस्तकें उपलब्ध हैं, सूची-पत्रमें देखी जा सकती हैं।

व्यवस्थापक— गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

वर्ष ६४ संख्या ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक, वि० सं० २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, नवम्बर १९९० ई०

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-कृष्णभक्तिमें लीन मीराका विषपान	६४९
२-कल्याण (शिव)	६५०
३-शीघ्र भगवत्प्राप्ति कैसे हो ? (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	६५१
४-सोद्देश्य मौन-धारण (श्रीशिवानन्दजी)	६५४
५-श्रीश्रीनामामृतलहरी (महात्मा श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी)	६५५
६-भगवदनुराग (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	६५७
७-भगवान् श्रीरामके अवतार-हेतु (मानसमराल पं० श्रीजगेशनारायणजी शर्मा)	६६०
८-श्रीरामजन्मभूमि हमारी महान् विरासत है [ब्रह्मलीन श्रीदेवराहाबाबाजी महाराजसे लिया गया अन्तिम साक्षात्कार, भेंटकर्ता—श्रीशिवकुमारजी गोयल]	६६३
९-साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	६६५
१०-गीता-सुधातरङ्गिणी (एक सत्संगी भाई)	६६८
११-भजनका अधिकारी [श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेशसे उद्धृत]	६६९
१२-स्त्रीकी शिक्षा (श्रीरामनाथजी)	६७१
१३-भक्तकी भावना [कविता] (श्रीजगदीशप्रसादजी गुप्त 'जगदीश')	६७३
१४-भक्त-परिवार [भक्त-गाथा]	६७४
१५-उपनिषद्-वाणी	६७६
१६-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	६७७
१७-देवताओंकी माता अदिति	६७९
१८-अमृत-बिन्दु	६८२
१९-पढ़ो, समझो और करो	६८३
२०-मनन करने योग्य	६८५
२१-पतनमें उत्थानका भ्रम (सम्पादक)	६८७

चित्र-सूची

१-क्रीडामग्न बाल-मुकुन्द	(इकरंगा)	आवरण-पृष्ठ
२-कृष्ण-ध्यानमें निमग्न मीराका विषपान	(रंगीन)	मुख-पृष्ठ

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें २.०० रु०
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराद् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
(डाक-व्ययसहित)
भारतमें ४४.०० रु
विदेशमें ६ पौंड
अथवा १० डाल

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

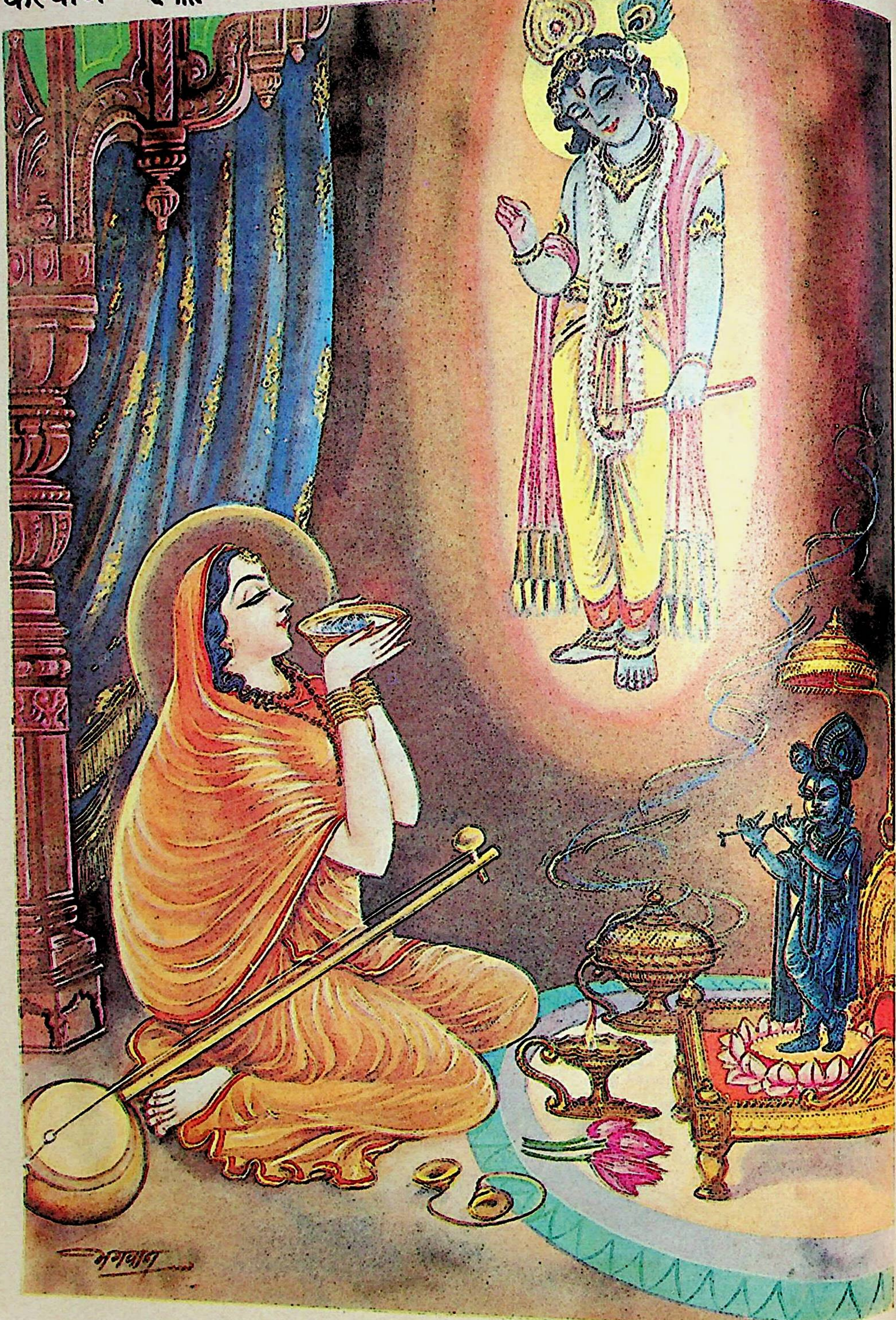

कृष्ण-ध्यानमें निमग्न मीराका विष-पान

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

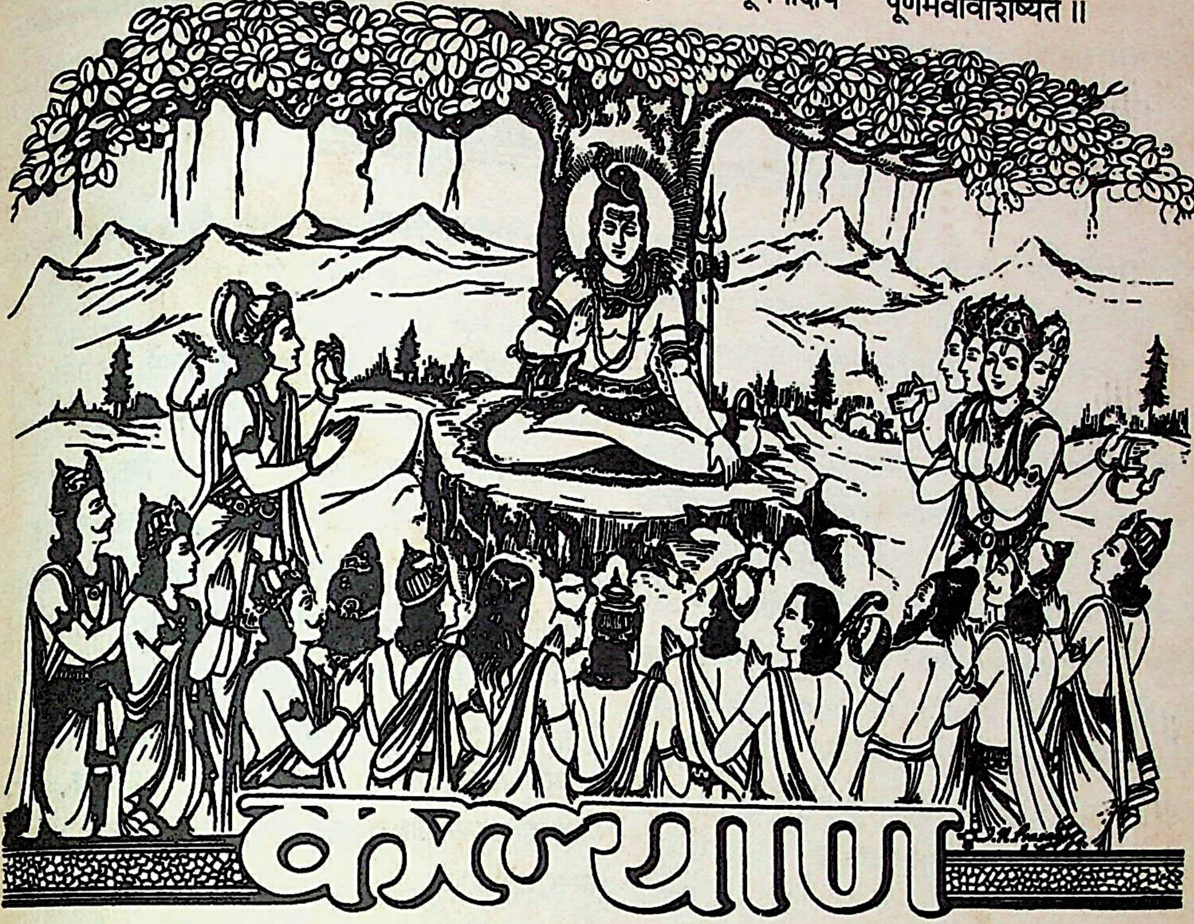

कल्याण

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

वर्ष ६४ गोरखपुर, सौर कार्तिक, वि॰सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, नवम्बर १९९० ई॰ संख्या ८ पूर्ण संख्या ७६५

कृष्ण-भक्तिमें लीन मीराका विषपान

मैं गोबिंद गुण गाणा ॥
राजा रूठै नगरी राखै रूठ्याँ कहँ जाणा ।
राणै भेज्या जहर पियाला इमरित कर पी जाणा ॥
डबिया में भेज्या काळ भुजंगम साळिगराम कर जाणा ।
मीराँ तो अब प्रेम दिवाँनी साँवळिया बर पाणा ॥

—मीरा बाई

कल्याण

याद रखो, एक दिन मृत्यु अवश्य होगी और कब होगी, इसका तुम्हें कुछ भी पता नहीं; अभी होश-हवास-दुरुस्त बैठे हो, शायद अगले ही मिनट तुम्हारी मृत्युका काल हो। उस समय तुम्हारे सारे काम ज्यों-के-त्यों धरे रह जायँगे। अभी कामसे तुम्हें पलभरको फुरसत नहीं मिलती, उस समय अपने आप ही सदाके लिये फुरसत मिल जायगी। अभी तुम शरीरके आरामके लिये बड़े सुन्दर महलोंमें मुलायम गद्दोंपर सोते-बैठते हो, उस समय निर्जन वनमें, सियार, कुत्ते और गीधोंसे घिरे हुए डरावने मरघटमें खुली जमीनपर तुम्हारा यह सोने-सा शरीर जलकर खाक हो जायगा। सारे अरमान मन-के-मनमें रह जायँगे, सारी शेखी चूर हो जायगी, सारी हेकड़ी काफूर हो जायगी, तुम्हारी मदभरी, गर्वभरी और रिसभरी आँखें सदाके लिये मुँद जायँगी।

× × ×

कैसे निश्चिन्त-से होकर भोगोंमें भटक रहे हो ? चेतो, शीघ्र चेतो, फिर पछतानेसे कुछ भी नहीं होगा; इस शरीरसे छूटकर जब तुम परलोकमें जाओगे और वहाँ तुम्हारे यहाँके कमाये हुए कर्मोंका भीषण फल सामने आयेगा, तब काँप उठोगे। यहाँके मौज-मजोंमें जिस सुखका अनुभव करते हो, वहाँ उस एक-एक मौजके बदलेमें जो भयानक दण्ड मिलेगा, उसे सुनकर मूर्च्छित होने लगोगे। परंतु बाध्य होकर मौजका बदला भोगना ही पड़ेगा। इससे अभी चेत जाओ। शरीर, मन, वचनसे किसी जीवका अहित न करो, किसीके जीको मत दुखाओ, सबका भला चाहो, भला करो, अपना अहित करके भी दूसरोंका हित करो, निश्चय रखो, तुम्हारा अहित कभी नहीं होगा। धोखेसे अभी तुम्हें दीखनेवाला अपना अहित परम हितके रूपमें परिणत हो जायगा। सबको परमात्माका स्वरूप समझकर सबकी अहैतुकी सेवा करो, परम कृपालु परमात्माका मन, वाणी और शरीरसे भजन करो, मनसे उनका ध्यान करो, वाणीसे उनका गुणगान करो और शरीरसे—सर्वत्र सबमें उन्हें विराजित देखकर सबकी आदर, प्रेम और उछाहके साथ सेवा करो।

× × ×

विषयोंसे मनको हटाकर भगवान्में लगाते रहो, विषयोंको विष समझो और भगवान्को दिव्य अमृत। भगवान्के लिये भगवत्पूजाके भावसे विषयोंका ग्रहण करना दूषित नहीं है, परंतु कभी भोग-बुद्धिसे विषयोंको न चाहो, न भोगो, न उनमें प्रीति करो, श्रीभगवान्को प्राप्त करनेकी जितनी साधनाएँ हैं, सबमें वैराग्य और भजन प्रधान है। जिसके हृदयमें वैराग्य है, वह बड़े-से-बड़ा त्याग सहज ही कर सकता है। त्यागसे सारे सद्‌गुण आप-ही-आप आ जाते हैं। परंतु वैराग्यके साथ भजनकी आवश्यकता है। संसारके भोगोंसे हटाये हुए मनको साथ-ही-साथ भगवान्में लगानेका भी प्रयत्न करना चाहिये।

× × ×

जीवन बहुत थोड़ा है, यदि तुम्हारा यह विश्वास हो गया है (और नहीं हुआ है तो महात्मा और संतोंकी वाणी तथा उनकी जीवनीका अध्ययन करके करना चाहिये) कि भगवत्प्राप्ति ही इस मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य है तो आजसे—अभीसे ही उसकी प्राप्तिके लिये प्रणबद्ध होकर दृढ़ताके साथ लग जाना चाहिये। संसारका कोई भी प्रलोभन तुम्हारे मार्गमें बाधा न दे सके, ऐसी शक्ति प्राप्त करनेके लिये सर्वशक्तिमान् परमात्मासे प्रार्थना करनी चाहिये। याद रखो—तुम उसी सर्वशक्तिमान्के सनातन अंश हो, तुममें वह शक्ति है, उसे भूले हुए हो, भगवत्कृपासे—प्रार्थनाके बलसे तुम उस शक्तिको जान जाओगे और जानते ही तुम उस शक्तिवाले बन जाओगे। उस शक्तिकी जागृतिकी पहली कसौटी है विषयोंपर अनास्था और सर्वशक्तिमान् परमात्मापर अटल विश्वास। इस स्थितिके प्राप्त होनेपर तुम्हें कोई भी प्रलोभन नहीं रोक सकेगा। तुम विश्वविजयी होकर विश्वात्माको प्राप्त करोगे। —**'शिव'**

शीघ्र भगवत्प्राप्ति कैसे हो ?

[गीताभवन-स्वर्गाश्रममें दिये गये प्रवचनके आधारपर]

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक भाईने मुझसे पूछा कि भगवान्‌की प्राप्ति एक क्षणमें कैसे हो ? इसका यदि कोई उपाय हो तो बतलाइये। मैंने कहा—आप लोगोंको अपने पूरे जीवनमें यदि भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय तो उससे मैं अपनेको धन्य समझता हूँ और जिनको भगवान् मिल जायँ वह तो धन्य है ही। क्योंकि जिसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय तो यह समझना चाहिये कि उसे ईश्वरकी कृपासे सब कुछ मिल गया। भगवान्‌की प्राप्ति तो उसे होती है जो पात्र होता है। परंतु हमलोग उस प्रकारके पात्र हैं नहीं। परमात्माकी प्राप्ति करनी बड़ी अच्छी बात है। अच्छे विषयको जाननेमें विलम्ब नहीं करना चाहिये।

'परमात्मा है' यदि यह विश्वास दृढ़ हो जाय तो परमात्मा उससे छिप नहीं सकते। किसी भी वस्तुका ज्ञान एक क्षणमें हो जाता है और जब ज्ञान हो जाता है, तब अज्ञानका नाश हो ही जाता है। भगवान्‌की अप्राप्तिमें अज्ञान ही कारण है, इसीलिये इतना विलम्ब हो रहा है। इस विषयमें एक कथा आती है—राजा जनक बहुत-से हुए हैं, उनमेंसे एक जनककी कथा इस प्रकार है। वह साधु ब्राह्मणोंको बुलाया करते, उनकी सेवा तथा सत्कार करते, उन्हें भोजन कराते और कहते कि 'आप यदि ज्ञानी-महात्मा हैं तो मुझे उपदेश कीजिये, परंतु ऐसा उपदेश दीजिये कि जिससे जितनी देरमें घोड़ेके एक पाँवड़ेमें मैं अपना पाँव रखूँ और दूसरे पाँवड़ेपर पाँव रखनेतक मुझे ज्ञान हो जाय।' उन्हें ज्ञान देनेके लिये बहुत-से बड़े-बड़े ज्ञानी महात्मा आते, परंतु ज्ञान नहीं दे पाते, फलस्वरूप राजा उन्हें बंदी बना लिया करते। ऐसे सैकड़ों बंदी बना लिये गये।

एक मुनि थे कहोड़, वे भी राजाको ज्ञान देने गये और ज्ञान न दे सके तो उन्हें भी बंदी बनना पड़ा। कहोड़का एक पुत्र था अष्टावक्र। उसका अष्टावक्र नाम पड़नेकी कथामें यह बताया गया है कि जब वह माताके गर्भमें था तभी उसको चारों वेदोंका शुद्ध ज्ञान था। एक दिन उसके पिता कहोड़ मुनि वेदका पाठ कर रहे थे। पाठमें अशुद्धियाँ आ रही थीं। माताके गर्भस्थ शिशुने माताके मुखसे बार-बार कहा कि आपका यह पाठ अशुद्ध है, यह पाठ अशुद्ध है। कहोड़को क्रोध आ गया, बोले कि अरे, गर्भमें पड़ा हुआ ही यह मुझको उपदेश दे रहा है, निकलेगा तो न मालूम हमारी क्या फजीहत करेगा; क्रोधाविष्ट थे ही, उन्होंने गर्भके ऊपर लात मारी। कच्चा गर्भ था, उसके हाथ-पैर आदि सब टेढ़े हो गये—हाथ टेढ़े, पैर टेढ़े, मुँह टेढ़ा, सब टेढ़े। एक प्रकारसे वह निराले ढंगका ही जनमा। उसके अङ्ग आठ जगहसे टेढ़े थे। इस कारण उसका नाम अष्टावक्र हुआ।

अष्टावक्रके पिता कहोड़ जिस समय राजा जनकको ज्ञान न दे सकनेके कारण जनकके यहाँ बंदी बने थे, उस समयमें अष्टावक्रकी अवस्थाका ही उद्दालक मुनिका पुत्र उसका मामा था, जिसका नाम था श्वेतकेतु। मामा-भांजा दोनों साथ-साथ खेलते। जैसे श्वेतकेतु अपनी माताको माता और पिताको पिता कहा करता, उसी प्रकार अष्टावक्र भी अपने नानाको पिता और नानीको माता कहा करते, कारण कि मामा जैसा कहता, वह भी वैसा ही कहता। बच्चोंमें इस प्रकारसे देखा-देखीकी आदत पड़ ही जाती है। वे दोनों आपसमें नित्य खेला करते। अपने राजपूतानेमें एक खेल है, गेंदसे राज्य गिरानेका। वे दोनों ऐसा ही खेल खेल रहे थे। अष्टावक्रने गेंद मारा और गेंद लक्ष्यपर गिर गया, विजयी हो गया, उसने कहा मेरी जीत हो गयी। उसके मामाको क्रोध आ गया, बोला कि तू तो यहाँ विजयके आनन्दमें मग्न है, पर तेरा बाप बंदी बनकर जेलमें है। यह बात उसके लग गयी और माँके पास आकर कहा कि 'माँ! मेरे पिता कौन हैं? वह बोली—ये हैं ना। उसने कहा—ना, ये तो तेरे पिता हैं, मेरे पिता कहाँ हैं?' माँ रोने लगी और बोली—'बेटा! तू तो ऐसी घड़ीमें पैदा हुआ कि तेरे जननेके बाद ही तेरे पिता राजा जनकके यहाँ कैदमें पड़ गये।' यह सुनकर उसने कहा—'माँ! मैं उस जनकके पास जाऊँगा और उसको परास्त करूँगा।' माँने बहुत मना किया, परंतु उस बालकको धुन चढ़ गयी। जोश आ गया और साथमें जो उसका मामा श्वेतकेतु था, वह भी उसके साथ गया। जब वे दोनों राजा जनकके यहाँ दरबारमें प्रवेश करने लगे तो ड्योढ़ीदारने रोका और कहा कि तुम सब कहाँ जाते हो? वे

बोले कि हम राज्यसभामें जाते हैं। ड्योढ़ीदारोंने बतलाया कि यहाँ विद्वानोंकी—पण्डितोंकी सभा है, बालकोंकी नहीं। वे बोले—क्या अवस्थामें जो बालक है वह वहाँ नहीं जा सकता या ज्ञान और बुद्धिमें जो बालक है वह वहाँ नहीं जा सकता ? यदि अवस्थामें बालक वहाँ नहीं जा सकता तो हम नहीं जा सकते और यदि मूर्ख बालक नहीं जा सकता तो हम सब जा सकते हैं, हमारा अधिकार है। तुम हमसे शास्त्रार्थ करो, यदि मैं शास्त्रार्थमें तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दे दूँ तो हमें जाने देना। उन्होंने देखा कि ये वास्तवमें अवस्थामें बालक तो हैं, पर वैसे ये पण्डितोंके भी दाँत खट्टे करनेवाले हैं। ड्योढ़ीदारने उनको छोड़ दिया और सभामें जाकर दोनों खड़े हो गये। अष्टावक्रको देखकर लोग हँसने लगे। लोगोंको हँसते देख अष्टावक्र भी हँसने लगा। राजाने पूछा—'तुम क्यों हँस रहे हो।' अष्टावक्रने कहा कि 'तुम सब क्यों हँसते हो ?' सभासद् बोले कि 'हम तुम्हारा शरीर देखकर हँस रहे हैं।' वह बोला—'मैं इसलिये हँस रहा हूँ कि मैंने समझा था कि यहाँ पण्डितोंकी सभा है, परंतु यहाँ तो सब चमार-ही-चमार बैठे हैं। यदि यह बात मुझको पहले मालूम होती कि यहाँ चमारोंकी सभा है तो मैं नहीं आता। मैं तो पण्डितोंकी सभा समझकर यहाँ आ गया। पण्डित जो होते हैं, वे गुण और विद्या देखते हैं तथा जो चमार होते हैं वे हड्डी या चमड़ेकी परीक्षा करते हैं। यहाँके पण्डित हड्डी और चामसे बने मेरे शरीरको देखकर हँस रहे हैं, यह देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है।' यह सुनकर सब चुप हो गये। अष्टावक्रने फिर कहा कि 'मैंने सुना है कि आपके यहाँ ऐसी पद्धति है कि यदि कोई पण्डित यहाँ आकर ज्ञानका उपदेश करे और अपने ज्ञानसे संतुष्ट कर दे तो आप उसको संतुष्ट करते हैं और जो संतुष्ट नहीं कर सकता, उसको आप बंदी बना लेते हैं। उपदेश इतनी जल्दी करना पड़ता है कि घोड़ेके एक पाँवड़ेमें एक पाँव रखते ही दूसरा पाँव ज्यों ही दूसरेमें रखे इतने समयमें ही जो अपने ज्ञानसे संतुष्ट कर दे वही ज्ञानी माना जाता है।' राजा जनकने कहा—'हाँ, यह बात सही है, यही नियम है।' वे बोले कि 'मैं तुझे ज्ञान देने आया हूँ।' राजाने कहा—'बहुत ठीक है। परंतु आप यह बात समझ लीजिये कि घोड़ेके एक पाँवड़ेमें एक पाँव रखते ही तत्काल दूसरेमें रखनेतकके अंदरमें ही ज्ञान देना पड़ता है।' अष्टावक्र बोले—'इतनी देरमें तो मैं तीन बार ज्ञान दे सकता हूँ।' राजा बोले—'बहुत ठीक है।' घोड़ा मँगाया गया। अष्टावक्र सामने खड़े हुए, राजा घोड़ेके एक पाँवड़ेमें एक पाँव रखकर दूसरा ज्यों ही दूसरेपर रखना चाहते थे, त्यों ही अष्टावक्रने कहा—'मन मुट्ठीमें पकड़ो।' राजा बोले—'अरे भई ! मन मुट्ठीमें कैसे पकड़ा जायगा। मन ऐसी वस्तु नहीं है कि उसको मुट्ठीमें पकड़ ले। आप मन मुट्ठीमें पकड़नेका तात्पर्य बतलाइये।' अष्टावक्र बोले—'तात्पर्य यह है कि जबतक मैं दूसरी आज्ञा न दूँ, तबतक तुम्हारा मन तुम्हारी मुट्ठीमें ही रहे। अपनी मुट्ठीमें तुम ऐसा ध्यान लगाओ कि मन एकदम मुट्ठीमें ही रहे, इधर-उधर न जाय।' राजाने कहा—'यह होना तो कठिन है।' अष्टावक्र बोले—'इतने समयमें ज्ञान होना भी कठिन है। फिर बोले कि उपदेश पात्रको दिया जाता है, यदि तुम उपदेश प्राप्त करनेके पात्र हो तो इतने लम्बे समयकी क्या आवश्यकता है, अतः तुम पात्र तो हो नहीं और बंदी बनाते हो ब्राह्मणोंको, ऋषियोंको। तुम्हारे यहाँ तो अभी तैयारी ही नहीं है, कहते हो कि मुझे ज्ञान दो। कोई हाथमें चलनी लेकर आवे और कहे कि इसमें दूध डाल दो, तो चलनीमें तो दूध ठहरेगा ही नहीं, वह निकल जायगा। दूध ठहरनेके लिये तो पात्र होना चाहिये, दूध तो पात्रमें ठहरता है। तुम पात्र तो हो नहीं, उलटे दोष देते हो ब्राह्मणोंको। यह तुम्हारा अन्याय है।' राजाने कहा—'तो क्या करना चाहिये ?' अष्टावक्रने कहा—'पहले तुम पात्र बनो, फिर पात्र बननेके बाद प्रश्न करो। तब यदि हम तुम्हें इतने समयमें ज्ञान नहीं दे सकेंगे तो तुम मुझे बंदी बना लेना।' राजाने सोचा, बात तो ठीक है। बोले—'महाराज ! आप ही मुझे पात्र बनाइये।' अष्टावक्र बोले—'पात्र बननेमें तो समय लगेगा, पात्र बननेके बाद देरीका काम नहीं है।' राजाने कहा—'महाराज ! आपकी क्या आज्ञा है।' वे बोले—'प्रथम तो तुमने जिन निरपराधी ब्राह्मणोंको कैद कर रखा है, उनको छोड़ दो। फिर पात्र बननेका प्रयत्न करो। तब तुम्हें ज्ञान बतलायेंगे। एक क्षणका काम है, मिनटका काम है।' राजाने वैसा ही किया जैसा अष्टावक्रजीने कहा। अष्टावक्रने राजा जनकको जिस ज्ञानका उपदेश दिया, उसका नाम है—'अष्टावक्र-गीता'। इसमें यह बतलाया गया है कि यदि हम भगवत्प्राप्तिके पात्र बन जायँ तो

परमात्माकी प्राप्तिमें कोई विलम्ब नहीं है। जैसे बिजली ठीक हो जाय फिर तो स्विच दबानेके साथ ही बल्ब जल जायगा, एक मिनटका भी विलम्ब नहीं होगा। जो विलम्ब है वह बिजलीके ठीक होनेमें ही है, अपनी तैयारी करो। तैयारी होनेके बादमें ज्ञान तो एक क्षणमात्रमें हो सकता है। उसमें विलम्ब नहीं हो सकता। यह बात तो मैंने आपलोगोंको समझानेके लिये एक कथाके रूपमें कही।

बात यह थी कि एक क्षणमें भगवान् कैसे मिलें। तो मैं कहता हूँ कि यदि हमलोग पात्र हो सकेंगे तो भगवान् मिल जायँगे। पात्र बननेकी चेष्टा करनी चाहिये। भगवत्प्राप्तिके पात्र बननेका उपाय है 'परमात्माको सब जगह देखना।' अगर हमारी सब जगह भगवद्बुद्धि हो जाय तो परमात्माकी प्राप्ति तुरंत हो सकती है। परंतु ऐसी बुद्धिवाला महात्मा संसारमें मिलना बहुत दुर्लभ है, क्योंकि अनेकों जन्म लेनेके बाद किसी ज्ञानी महात्मामें 'वासुदेवः सर्वम्' की बुद्धि होती है। भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७।१९)

इससे पहले यह समझना चाहिये कि संसारमें जो कुछ भी है वह सब भगवान्‌का है, तभी भगवत्प्राप्ति होगी। इस सिद्धान्तके अनुसार सर्वत्र भगवद्बुद्धि रखनेवाले कुत्तेमें भी भगवद्बुद्धि हो जाती है। यद्यपि कुत्तेमें भगवद्बुद्धि होनी कठिन है, क्योंकि वह एक तो स्वयं अपवित्र है और अपवित्र वस्तुका भक्षण करता है तथा उसमें अपवित्र वस्तु ही भरी हुई है, तथापि वह परमात्मा है, उसके लिये भी हमारी भगवद्बुद्धि होनी चाहिये, किंतु जो साक्षात् परमात्मा है और जो भगवत्प्राप्त पुरुष है तथा जो जिज्ञासु है—परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधनहेतु तत्पर है—उनमें भी आप उनके छिद्र देखते रहते हैं, उनमें दोष-बुद्धि रखते हैं, तो आपका इतनी जल्दी कल्याण कैसे होगा? भगवान् तो कहते हैं कि सबमें भगवद्बुद्धि करो, पर आप ऐसा न भगवान्‌में करते हैं और न महात्माओंमें तथा न जिज्ञासुओंमें। भगवद्बुद्धि तो सबमें करनी चाहिये। यदि ऐसा न हो सके तो इनमें तो अवश्य करनी ही चाहिये—जो साक्षात् भगवान् हैं उनमें और महात्मा पुरुषमें तथा उच्चकोटिके साधक जो हैं, उनमें। उन लोगोंमें भी आपलोगोंकी जो बुद्धि है वह उच्चकोटिकी नहीं है। भगवद्बुद्धि नहीं है। उनके गुणोंकी ओर भी आप ख्याल नहीं करते। दिनभर उनके अवगुणोंकी ही चर्चा करते रहते हैं। भला बतलाओ तो भगवान्‌की प्राप्ति कैसे होगी। यह बड़ी मुश्किलकी बात है।

हाँ, तो मैंने जिस साधकसे यह बात कही कि अमुक मनुष्य कहता है कि हमको भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हुई और हमलोग भी ऐसा मानते हैं कि नहीं हुई। इनमें कुछ अवगुण हैं। इनको कभी-कभी झुँझलाहट आ जाती है, जिससे इनमें क्रोधका, लोभका कुछ दोष घट जाता है तो हम टीका-टिप्पणी करते हैं। मान लो, जैसे मैं कहूँ कि आये हुए आदमीकी खातिर करनेवाले ये जो सज्जन हैं उनमें हम दोष-बुद्धि करते हैं, ऐसी स्थितिमें यदि किसी भी भाईमें अवगुण हैं तो हमें उसके अवगुणोंकी तरफ नहीं देखना चाहिये, उसके गुणोंकी तरफ देखना चाहिये। जब ऐसा हो सकेगा तभी हम लाभ उठा सकेंगे। हम यदि अवगुण ही देखते रह जायँगे तो हमारे हृदयमें अवगुण-ही-अवगुण इकट्ठे हो जायँगे। हमारे घरमें मैला इकट्ठा हो जायगा। हमारे घर पहलेसे ही बहुत मैला इकट्ठा हो रहा है और गाँवका मैला और इकट्ठा कर लेंगे तो उद्धार होना तो दूर रहा, पतनकी तरफ ही जायँगे। एक व्यक्तिने मुझसे शिकायत की कि ये जो कमरा देते हैं इनसे अमुकको दिक्कत है। बात उनकी एकदम सही है, कोई फर्क नहीं। मैंने कहा—बात ऐसी है कि यदि यह काम तेरे जिम्मे लगा दिया जाय तो मुझे निश्चय है कि इनसे अधिक दोष तुममें आयेंगे और यदि विश्वास न हो तो आजसे यह काम अपने जिम्मे ले लो। उनसे बढ़िया करके दिखलाओ। दोष निकालना तो आसान बात है, क्योंकि क्रियामें दोष तो हम श्रीराम और श्रीकृष्णमें भी कर सकते हैं। वास्तवमें वे लोग मेरी सम्मतिके अनुकूल लोगोंको जगह देते हैं, व्यवहार कहीं बिगड़ जाता है तो वे भी नहीं चाहते और मैं भी नहीं चाहता हूँ और भगवान् तो चाहेगा ही क्यों? पर कहीं-कहीं ऐसी बात घट जाती है। आनेवाला सोचता है कि सेठजी तो भले आदमी हैं, परंतु यह ही चोर है। ऐसी स्थितिमें कठिनता आ जाती है और दूसरा कोई उसके स्थानमें हो तो उसके लिये भी कठिनाई होगी। मेरे मनमें तो यह भाव रहता है कि भगवान् जैसे राजी रहें, वैसे

मैं सबको राजी रखूँ और उनका यह भाव रहता है कि जिससे मैं राजी रहूँ वैसा करूँ। तो उनमें जो दोष लगाये उसे मैं समझूँ कि मेरे ऊपर ही लग गया। वह चाहे मेरे ऊपर दोष लगाये और चाहे भगवान्‌पर लगाये। मेरा तो यह कहना है कि दोष-बुद्धि किसीमें भी नहीं करनी चाहिये और गुण-बुद्धि करनी चाहिये। यदि किसीको समझाना हो तो उसके गुणकी अधिक प्रशंसा करें और अवगुण कम बतायें। पहले उसके गुण बतलायें कि आप कैसी सेवा कर रहे हैं, सत्संग छोड़कर आप काम करते हैं। आप दिन भर खट रहे हैं। जितने भी आपको गुण दीखें सब कह डालो। फिर तो वह स्वयं ही पूछेगा कि भइया क्या कह रहे हो हमारेमें कोई त्रुटि हो तो उसे बतलाओ। तब कहे—त्रुटिको मैं क्या समझूँ, पर आप पूछ रहे हैं तो मैं बताता हूँ। आपने जो अमुक काम किया, इसमें मुझे यह गलती मालूम हुई। यदि ऐसा न करके इसे इस प्रकार करते तो और भी सुगम होता। तो वे भी इस बातको स्वीकार करते कि ठीक है, यह बात उस समय मेरे हृदयमें नहीं आयी, आगेसे ऐसे ही करूँगा और वह शिक्षा भी उसके लगेगी, सोचेगा कि यह मेरा अपना है। तो बात यह है कि यदि किसीको शिक्षा देनी हो तो पहले उसके गुण कहने चाहिये, फिर यदि वह पूछे तो उसकी कमियाँ-त्रुटियाँ जो उसमें दीखें नम्रतापूर्वक प्रेमसे कहनी चाहिये। ऐसा करनेसे उसपर असर भी होगा और उसका सुधार भी होगा। (क्रमशः)

* * *

सोद्देश्य मौन-धारण

(श्रीशिवानन्दजी)

आध्यात्मिक साधकको अपनी परिस्थिति एवं सामर्थ्यके अनुसार यदा-कदा अल्प अवधितक (कुछ घंटे अथवा पूरा एक दिन) एकान्तमें स्वाध्याय, चिन्तन, जप एवं ध्यानद्वारा शुद्ध चेतनाके संस्पर्श तथा आत्मिक ऊर्जाके जागरणके लिये मौन धारण करना चाहिये। सोद्देश्य मौन-धारण आन्तरिक शक्ति और शान्तिके विकासमें अत्यधिक सहायक होता है। मौनद्वारा भौतिक विषयोंकी वासना, तृष्णा, भय, चिन्ता, उद्वेग और उत्तेजनशीलताका शमन होनेसे शान्तचित्त रहनेका अभ्यास हो जाता है। मनुष्य निर्वैर होकर प्रेमकी अद्भुत महिमा एवं प्रभावको भी जान लेता है। शुद्ध चेतनाका संस्पर्श अथवा चेतनास्तरका ऊपर उठना ही मानवकी समस्त विपन्नताके निदानका तथा समस्त अभ्युदयका अमोघ उपाय है।

मौनके अन्तर्गत ध्यानकी साधनामें विशेष प्रगति होती है तथा कभी-कभी साधक ध्यानावस्थामें सुरदुर्लभ अनिर्वचनीय आनन्दकी अनुभूतिका सौभाग्य प्राप्त कर लेता है। आन्तरिक विकास होनेपर अपनी अन्तर्निहित असीम क्षमता एवं अनन्त सम्भावनाओंका बोध होनेपर नये रास्ते स्वयं खुल जाते हैं, मनका भटकाव समाप्त हो जाता है, दिशा मिल जाती है, कष्टोंकी निवृत्ति हो जाती है तथा आनन्दकी प्रस्थापना हो जाती है। जीवनका लक्ष्य और उसकी प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त एवं स्पष्ट होनेपर तदनुसार आचरण करना हमारा प्रथम कर्तव्य है।

मौन-धारण प्रारम्भमें तो कष्टदायी प्रतीत होता है, किंतु धैर्यपूर्वक अभ्यास होनेपर मनुष्यको अपने भीतर आनन्दका अक्षय भण्डार सरलतासे हाथ आ जाता है। मौनके सोद्देश्य होनेपर मन इतना सात्त्विक और प्रशान्त हो जाता है कि मनमें बोलनेकी अथवा निरर्थक कुछ करनेकी इच्छा ही नहीं रहती तथा वह धीरे-धीरे परमावस्थाकी ओर बढ़ने लगता है। आत्म-संयम, आत्म-नियन्त्रण, आत्मचिन्तन और आत्म-कल्याणके लिये सोद्देश्य मौन धारण करना उत्तम साधन है। मौनके अभ्याससे वाणीका संयम सीखकर मनुष्य योगके प्रथम द्वार 'वाङ्निरोध' पर पहुँच जाता है तथा अल्प एवं मधुर वाणीका महत्त्व जान लेता है। सोद्देश्य मौन-धारण व्यक्तित्व-विकासमें भी उपयोगी है।

* * *

श्रीश्रीनामामृतलहरी

(महात्मा श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी)

'जो प्राणी, वासुदेवसे अतिरिक्त परम मङ्गल कुछ नहीं है, वासुदेवकी अपेक्षा परम पवित्र और कुछ नहीं है तथा वासुदेवसे श्रेष्ठ देवता और कोई नहीं है'—ऐसी सुनिश्चित दृढ़ आस्था रखकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उन वासुदेवको प्रणाम करता रहता है, उसे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश—इन पाँचों क्लेशोंकी प्राप्ति नहीं होती। प्रणाम करनेमात्रसे पाँचों क्लेश दूर हो जाते हैं।'

न वासुदेवात् परमस्ति मङ्गलं
न वासुदेवात् परमस्ति पावनम्।
न वासुदेवात् परमस्ति दैवतं
तं वासुदेवं प्रणमन् न सीदति॥

(अनुस्मृति १०१)

भगवान्ने कहा है—'नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तः श्रद्धयान्वितः'—श्रद्धासम्पन्न मेरा जो भक्त 'नमः' इस शब्दका उच्चारणमात्र करता है, हे नारद! वह यदि चाण्डाल भी होता है तो भी उसे अक्षय लोककी प्राप्ति होती है। मुखसे 'नमः' कहनेपर ही जब मनुष्यको अक्षय लोक मिल जाता है, तब प्रणाम करनेपर अविद्यादि क्लेशोंके दूर हो जानेमें क्या आश्चर्य है? और—

येऽहर्निशं जगद्धातुर्वासुदेवस्य कीर्तनम्।
कुर्वन्ति तान् नरव्याघ्र न कलिर्बाधते क्वचित्॥

(विष्णुधर्मोत्तर)

'जो लोग दिन-रात जगत्के निर्माणकर्ता, रक्षणकर्ता, धारणकर्ता वासुदेवका नाम-कीर्तन करते हैं, हे नरश्रेष्ठ! कलि उन लोगोंपर कोई उपद्रव नहीं कर सकता—कोई पीड़ा नहीं दे सकता।'

वासुदेवका नाम-कीर्तन समस्त कल्याणकारी कर्मोंका कल्याणकारक है, आयुवर्धक है और भोग या मोक्ष—जो जिसको चाहता है, उसको वही प्रदान करता है।

बहुतोंको यह भ्रम होता है कि 'भगवान् वासुदेवका आश्रय लेनेपर मनुष्य दरिद्र हो जाता है?'

दरिद्र कौन होता है—जो भोग नहीं चाहता। जिन्होंने इस जन्ममें या पूर्वजन्ममें कभी भोगकी प्रार्थना की है, वे तो भोग पाते ही हैं। मनु, राजा पृथु, ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष, मान्धाता, जनक, युधिष्ठिर—इनके समान भक्त कौन हैं? ये भगवान्की सेवा करके राजा हो गये। लक्ष्मी जिनकी गृहिणी हैं, उनकी सेवा करके मनुष्य दरिद्र क्यों होगा? हाँ, जो यह कहते हैं कि 'हमें कुछ नहीं चाहिये, हम तो केवल तुम्हींको चाहते हैं—तब भगवान् अगत्या उन्हें अपने आपको दे देते हैं। कल्पवृक्षसे जो जिस वस्तुको चाहता है, वह उसीको पाता है। जो गाछ चाहता है, वह गाछ पाकर इतना बड़ा धनवान् हो जाता है कि उसका माप करनेकी शक्ति किसीमें नहीं रह जाती, इसलिये लोग उसे निर्धन कहते हैं। हरि-हरि-हरि करता है—गाछके नीचे पड़ा है—खानेको नहीं पाता, पहननेको कपड़ा नहीं है—उसको लोग महा-धनवान् और राजा कैसे कहेंगे?

हरि-हरि! नहीं सुना है—साधुओंको लोग 'महाराज' कहते हैं? मनुष्य धन चाहता है आनन्दके लिये, अर्थके द्वारा अनन्त दुःखमिश्रित खण्डानन्दका भोग प्राप्त होता है। और जो परमार्थ-लाभ करता है, वह असीम अपरिमित परमानन्द-सागरमें डूबा रहता है, उसके आनन्दको दूसरा क्या समझेगा? वह जैसा मुक्त प्राणसे हँसता है, उस प्रकार हँसनेकी शक्ति वित्तनाशके भयसे सशङ्कित राजा-महाराजामें भी नहीं है।

भगवान्ने ही तो कहा है—

'यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।'

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसके धनको शनैः-शनैः हर लेता हूँ।' ठीक ही तो है। राजा बननेकी प्रार्थना करके, राजा बनकर जब उसकी ज्वालासे त्राहि-त्राहिकी पुकार मचाता है, तभी तो भगवान् अनुग्रह करके धन हरण करते हैं और जो ऐश्वर्यमदमें अन्धे हो जाते हैं, उनपर कृपा करनेके लिये धन छीन लेते हैं। लक्ष्मी जिनकी चरणसेविका है, उसके दास निर्धन नहीं हो सकते। कोई पार्थिव धन पाकर—भगवान्के उद्देश्यसे दान, यज्ञ, लोक-सेवा, परोपकारमें लगाते हैं। कोई अपार्थिव धनके अधिकारी होकर तप्त जीवसमूहको उस धनसे धनी बनाते हैं। जो जिस वस्तुको चाहता है, उसे वही देते हैं। कोई कहता है—

मुक्ति न दीजै मोहिं प्रभु ! कीजै कृपा उदार ।
जनम जनम पद-कमल-रति, सेवाको अधिकार ॥

—उसको भगवान् यही देते हैं और जो निर्वाण चाहते हैं, उनको नाम लेनेपर निर्वाण मिलता है, क्योंकि भगवान्ने कहा है—'नारायण-अच्युत-अनन्त-वासुदेव' मेरे इन सब नामोंका कीर्तन करनेसे **'याति मल्लयतां स हि'**—वह मुझमें निश्चय लयको प्राप्त होता है—महाकाशमें घटाकाशकी भाँति सदाके लिये सम्मिलित हो जाता है।

वासुदेवेति मनुज उच्चार्य भवभीतितः ।
तन्मुक्तिपदमाप्नोति विष्णोरेव न संशयः ॥

(अङ्गिरसपुराण)

'जो मनुष्य भवभयसे भीत होकर 'वासुदेव' इस नामका उच्चारण करता है, वह जन्म-मरणके बन्धनसे छूटकर विष्णुके परमपदको प्राप्त करता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।'

वासुदेवका अर्थ क्या है ?

वासु सर्वनिवासश्च विश्वानि यस्य लोमसु ।
स च देवः परं ब्रह्म वासुदेव इति स्मृतः ।

(ब्र० वै० पुराण)

'जो सबका निवासस्थान है एवं विश्व-समूह जिसके रोममें स्थित है, वह ज्योतिर्मय परम ब्रह्म वासुदेव है।'

सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥

(विष्णुपुराण १।२।१२)

'वह सर्वत्र है और सब उसीमें निवास करता है, इसलिये उसे वासुदेव कहा जाता है।'

भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत् ।
धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः ॥

'वह भूतोंके अंदर निवास करता है और समस्त भूत उसमें निवास करते हैं, वह जगत्का धारण-रक्षण और निर्माण करनेवाला है, विधानकर्ता है और निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ प्रभु है, इससे वासुदेव है।'

सर्वभूताधिवासं च यद्भूतेषु वसत्यधि,
सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः, तदस्म्यहं वासुदेवः ॥

(ब्रह्मबिन्दूपनिषद् २२)

'सब भूतोंका निवासस्थान, सब भूतोंका निवास और सबका अनुग्राहक होनेके कारण वह वासुदेव मैं हूँ, वह वासुदेव मैं हूँ।'

सब भूतोंमें जो निवास करता है और समस्त भूत जिसमें निवास करते हैं, वही वासुदेव है—यही बात सबने कही है हृदयकमलमें आत्मारूपसे वह है, यह तो समझमें आ गया, परंतु समस्त भूत उसमें किस प्रकार हैं ?

द्यौर्मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति
खं वै नाभिं चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ।
दिशः श्रोत्रे यस्य पादौ क्षितिं च
ध्यातव्योऽसौ सर्वभूतान्तरात्मा ॥

'द्युलोक जिसका मस्तक है, आकाश नाभि है, चन्द्र-सूर्य दोनों नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, पृथ्वी चरण हैं—हम उसके चरणोंमें ही हैं। हमारे ऊपर-नीचे, बायें-दाहिने, सामने-पीछे वही है, अतएव हमलोग उसके भीतर ही हैं। और भी उसका एक नाम है 'ब्रह्माण्डोदर।' सावरण चतुर्दश भुवन उसके छोटेसे उदरमें स्थित है, अतः भूतगण उसीमें निवास करते हैं।' यह धारणा करना यदि बहुत कठिन है तो **'वसुदेवस्यापत्यं पुमान् इति वासुदेवः'** वसुदेवके पुत्र वासुदेव, जिसके मुखमें हँसी तथा हाथमें वंशी है, ऐसी धारणा करना तो सरल है! अच्छा लगे तो उसीका चिन्तन करो, अथवा शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी नारायणका ध्यान करो।

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥

(विष्णुसहस्रनाम)

'वासुदेवमें परम आसक्त, वासुदेव-आश्रयी मानव सब पापोंसे विशुद्धचित्त होकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त करता है।'

नवघनश्यामसुन्दर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी वासुदेव या पीतवसन, मयूर-पिच्छको मस्तकपर धारण किये वंशी बजाते हुए कृष्णचन्द्रका चिन्तन करते-करते नामोच्चारण करो। यह भी न कर सको तो, केवल बोलो—वासुदेव-वासुदेव- वासुदेव!

जो दिन आज है वह कल नहीं रहेगा, चेतना है तो जल्दी चेत जा, देख, मौत तेरी घातमें घूम रही है।—कबीर

भगवदनुराग

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीरको शास्त्रकारोंने बहुत दुर्लभ बतलाया है, उनका कहना है कि इसी शरीरसे यथोचित उद्योग करनेपर जीवकी अनन्तकालकी सुख-कामना सर्वथा पूर्ण हो सकती है। भगवान्ने कृपा करके इस शरीरमें ऐसा विवेक दिया है, जिससे मनुष्य भले-बुरे और नित्य-अनित्यका विचार कर बुरे और अनित्यका त्याग तथा भले और नित्यका ग्रहण कर सकता है। विवेकके द्वारा वह अपनी अनादिकालकी कामनाको पहचानकर उसकी प्राप्तिके लिये चेष्टा कर सकता है और अन्तमें उसे पा सकता है। जो मनुष्य भगवान्के दिये हुए विवेकसे इस कार्यकी पूर्तिमें लगता है, वही मनुष्य कहलाने योग्य है। जो पशुओंकी भाँति केवल उदर-पूर्ति और भोग भोगनेमें ही लगा रहता है, उसको तो मनुष्याकार पशु ही समझना चाहिये। बात भी ठीक है। मनुष्यमें मनुष्योचित गुण होने ही चाहिये। जो रात-दिन जिस-किसी प्रकारसे पैसा कमाने और उससे शरीर सजाने तथा भोग-सामग्रियोंको जुटानेमें लगे रहते हैं, वे यथार्थ ही मनुष्यके कर्तव्यसे गिरे हुए हैं। जिस विवेकको भगवत्प्राप्तिके साधनमें लगाना चाहिये, उसी विवेकका प्रयोग यदि हाड़-मांसके शरीरको सजानेमें, फैशनमें, विलासिताका सामान इकट्ठा करनेमें और इन्द्रियोंको आरम्भमें सुखकर प्रतीत होनेवाली परंतु परिणाममें दुःखदायिनी भोग-सामग्रियोंके संग्रह करनेमें किया जाय तो इससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी? परंतु क्या कहा जाय, यहाँ तो आजकल चारों ओर यही हो रहा है। आज प्रायः सारा ही जगत् केवल भोग-सामग्रियोंके लिये ही जूझ रहा है। जिसके पास भोगके पदार्थ अधिक हों, वही बड़ा आदमी और बड़भागी माना जाता है, चाहे वह पदार्थ उसने कितने भी कुकर्मोंके द्वारा इकट्ठे किये हों और कर रहा हो। यही हालत राष्ट्रोंकी है।

फैशन तथा बाहरी दिखावेके भावने इतनी गहरी जड़ जमा ली है कि आज गृहत्यागी संन्यासियोंके गेरुआ वस्त्रोंमें, उनके दण्ड-कमण्डलुमें, उनकी चरणपादुकाओंमें, धर्माचार्योंके वेश-भूषा और रहन-सहनमें, सादगीका बाना धारण करनेवाले देशभक्तोंके खादीके कुर्तें, चद्दर और चप्पलोंमें और बनावटसे दूर रहनेके लिये निरन्तर वाणी और कलमसे उपदेश करनेवाले महानुभावोंकी वाणी और कलममें—सभीमें फैशन आ गया है। उनकी ऊपरकी सादगी दिलकी सादगीका सच्चा प्रतिबिम्ब नहीं है। किस प्रकार दूसरे हमें देखकर मुग्ध हों, कैसे कोई हमारी वाणी, कलम, पोशाक, चाल और चाहपर रीझे, हृदयको टटोलकर देखा जाय तो प्रायः अधिकांशके अंदर ऐसे ही भाव पाये जायँगे। यह सादगीमें छिपी विलासिता है। कर्मेन्द्रियोंको रोककर मनसे विषयोंकी चाह करनेको भगवान्ने मिथ्याचार बतलाया है। सच पूछा जाय तो आज जगत्में मिथ्याचारका प्रचार बढ़ रहा है। कपट बढ़ रहा है। भोगेच्छाका दमन नहीं, किंतु उसकी प्रबलता बढ़ रही है और उन्नतिके नामपर उसको बढ़ाया जा रहा है। सांसारिक भोगोंकी इच्छा जितनी ही अधिक बलवती होती है, जितना ही अधिक भोगपदार्थोंके संग्रहकी भावना बढ़ती है, उतना ही मनुष्य भगवान् और भगवद्भावोंसे दूर होता चला जाता है। हमारे आजके छात्रावास, आश्रम, विद्यालय और गुरुकुल-ऋषिकुलोंसे, प्राचीन त्यागमय संग्रहशून्य छात्रावास, ऋषियोंके आश्रम, विद्या-मन्दिर और गुरुकुल-ऋषिकुलोंका मिलान करके देखिये। आकाश-पातालका अन्तर पड़ गया है। त्यागका आदर्श भोगके आदर्शके रूपमें बदल गया है। जीवनका लक्ष्य भगवान् न रहकर जगत्के भोग-सुख-साम्राज्य, यथेच्छाचरणकी स्वतन्त्रता आदि रह गये हैं। आज मनुष्य कितना विवेकशून्य हो गया है, इसका पता मनीषियोंको इन सब बातोंपर विचार करनेसे अनायास ही लग सकता है।

यह स्थिति बड़ी ही भयावनी है। अभी पता नहीं लगता, परंतु जब इसका परिणाम सामने आयेगा, तब दुःखकी सीमा न रहेगी। उस परिणामके चित्रकी कल्पना आते ही हृदय काँप उठता है। पता नहीं, विवेकभ्रष्ट मनुष्य कब पुनः विवेकको प्राप्तकर भगवत्पथका पथिक होगा?

परंतु पूर्वपुण्य या साधु पुरुषोंके संगसे जिनके मनमें कुछ भी मानव-जीवनके उद्देश्य-सम्बन्धी विवेक जाग्रत् हैं, उन

लोगोंको तो सावधानीके साथ अपने जीवनका मार्ग स्थिर करके उसपर चलना आरम्भ कर ही देना चाहिये। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि चक्कीके पाटोंके बीच पड़े हुए दानोंमें जो दाने बीचकी कीलीके आसपास लगे रहते हैं, वे पिसनेसे बच जाते हैं। इस घोर कालमें भी—जो देखनेमें भ्रमसे प्रगतिका, उन्नतिका और अभ्युदयका-सा प्रतीत होता है—जो मनुष्य भगवान्की और धर्मकी परायणताको नहीं छोड़ेंगे, वे महान् बुरे परिणामसे अवश्य बच जायँगे।

सबसे पहले विवेकसे निर्णय करके जीवनका लक्ष्य—ध्येय स्थिर कर लेना चाहिये। वह ध्येय परमात्मा है, जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक जीवके दुःखोंका अन्त किसी प्रकार, किसी उपायसे भी नहीं हो सकता। तदनन्तर उस लक्ष्यके विरोधी सभी कार्योंसे मुँह मोड़ लक्ष्यके सम्मुख होकर चलना आरम्भ कर देना चाहिये। इसीका नाम वैराग्य और अभ्यास है। भगवद्विरोधी सांसारिक विषयोंमें—इस लोक और परलोकके सभी भोग-विषयोंमें अनुरागका सर्वथा त्याग और भगवत्के अनुकूल श्रवण, चिन्तन, सेवा, ध्यान आदि सद्वृत्तियों और कार्योंका ग्रहण करना चाहिये। यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि मनुष्य-शरीर इन्द्रियोंके तृप्त करनेकी झूठी झाँकी दिखानेवाले भोगोंके लिये नहीं है, झूठी झाँकी इसीलिये कि भोगोंसे कभी तृप्ति हो ही नहीं सकती, *'बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घी ते।'* यह शरीर है भगवान्को प्राप्त करनेके लिये, अतएव भगवत्प्राप्तिके मार्गमें—चाहे जितने कष्टोंका सामना करना पड़े, चाहे जैसी विपत्तियाँ आयें, इन्द्रियोंके समस्त सुखकर भोग नष्ट हो जायँ, उनका प्राप्त होना सर्वथा रुक जाय, सारे ऐश-आराम सपना हो जायँ, इन्द्रिया छटपटायें, जो कुछ भी हो, किसी बातकी भी परवा न करके आगे बढ़ते ही जाना चाहिये, सब कुछ खोकर भी उसे पानेकी चेष्टा करनी चाहिये। जो ममत्व-बुद्धिसे जगत्के इन सब पदार्थोंको बचानेकी चेष्टामें लगा रहता है, वह उस परमात्माको नहीं पा सकता, पर जो सबका मोह छोड़कर, मनसे सबका नाता तोड़कर विगतज्वर हो भगवत्प्रेमकी अग्निमें कूद पड़ता है, वह अपने सारे पाप-तापोंको उस धधकती हुई प्रेमाग्निमें भस्मकर परम अमृत—परमशान्तिको प्राप्त करता है।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि मनुष्य गृहस्थी छोड़ दे—कर्तव्य-कर्म छोड़ दे, यहाँ गृहस्थ या संन्यासीका सवाल नहीं है, प्रश्न है जगत्के त्यागका—जगत्के इस मायामय वर्तमान रूपके नष्ट कर देनेका—इस प्रपञ्चको जला देनेका। इसके स्थानमें भगवान्को बैठा दीजिये, जगत्की जगह श्रीहरिकी प्रतिष्ठा कीजिये, जगत्-पत्थरको खोकर हरि-हीरेको प्राप्त कीजिये और उसीकी इच्छासे, उसीकी सामग्रीसे और उसीके साधनसे उसके सब रूपोंमें उसीकी सेवा करते रहिये। फिर कुछ छोड़ने-ग्रहण करनेका सवाल ही नहीं रह जायगा।

यह भावुकता या कल्पना नहीं है, ऐसा किया जा सकता है—हो सकता है। जीवनका ध्येय निश्चित करके विरोधी भोग-पदार्थोंमें वैराग्य कीजिये, फिर आप ही जीवन हरिमय होने लगेगा। फिर हरि-प्रेमकी आगमें कूदनेमें भय नहीं होगा, प्रत्युत उत्साह होगा, जल्दी-से-जल्दी कूद पड़नेको मनमें तलमलाहट पैदा होगी और हम उसमें बिना आगा-पीछा सोचे कूद ही पड़ेंगे, क्योंकि वैराग्यके बादकी यही सीढ़ी है। वैराग्यके बाद भगवदनुराग ही रह जाता है। यह भगवदनुराग ही मनुष्यको भगवत्स्वरूपतक पहुँचानेका सर्वोत्तम साधन है। जिसके हृदयमें भगवदनुरागकी जितनी अधिक मात्रा होती है, वह बाह्य जगत्की निम्न-प्रकृतिसे ऊँचा उठकर उतना ही अधिक अन्तर्जगत्—अध्यात्म-जगत्की उच्च भूमिकामें प्रवेश करता है। तब उसे पता लगता है कि इस स्थितिके सामने बहिर्जगत्की ऊँची-से-ऊँची स्थिति भी तुच्छ और नगण्य है, परंतु यहीं उसकी दिव्य धाम-यात्राका मार्ग समाप्त नहीं होता, इससे अभी बहुत ही ऊँचे उठना है और क्रमशः ज्यों-ज्यों ऊँची भूमिकामें प्रवेश होगा, त्यों-ही-त्यों क्रमशः नीचेकी भूमिकाओंका आनन्द, सुख, ऐश्वर्य, शक्ति, मति, ज्ञान आदि सब निम्न श्रेणीके और तुच्छ प्रतीत होते रहेंगे, आखिरी मंजिल तै करनेपर परमात्माके स्वप्रकाशित नित्य विशुद्ध राज्यमें—उस दिव्य धाममें प्रवेश होगा, जहाँका वर्णन कोई कर नहीं सकता, जो इस जगत्की किसी भी वस्तुसे तुलना करके नहीं बतलाया जा सकता। यहाँके चन्द्र-सूर्य जहाँ प्रवेश नहीं कर पाते। इसीका इशारा भगवान्के इन वाक्योंमें है—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
(गीता ८। २०-२१)

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता १५।६)

(प्रलयके समय जिस अव्यक्तमें समस्त जगत् लय होता है और पुनः सृष्टि-कालमें जिस अव्यक्तसे उत्पन्न हो जाता है) उस अव्यक्तसे भी अति परे एक दूसरी सनातन सत्, चित्, आनन्दमय अव्यक्त सत्ता है, जो सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होती, इसीसे उसे अव्यक्त और अक्षर कहते हैं, उसीको परम गति कहते हैं, जिसको पाकर कोई लौटते नहीं, (उस स्थितिसे कभी नीचे नहीं उतरते) वह मेरा परम धाम है। उस स्वप्रकाशित परम सत्ताको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है और न चन्द्रमा और न अग्नि ही। उस परम पदको पाकर कोई वापस नहीं लौटते, वही मेरा परम धाम है।

श्रुति भी इशारा करती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(कठ० २।१५)

उस स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप सत्ताको सूर्य, चन्द्र, तारा और विद्युत्समूह प्रकाशित नहीं कर सकते। प्रत्युत उसीके प्रकाशसे सूर्य, चन्द्र प्रभृति प्रकाश पाते हैं; क्योंकि उसीके तेजसे यह समस्त जगत् प्रकाशित है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(गीता ८।२८)

योगी (भगवदनुरागी) पुरुष इस रहस्यको जानकर वेद, यज्ञ, तप और दान आदिसे जो पुण्य फल होता है, (इनके फलसे जिन उच्च भूमिकाओंमें स्थान मिलता है) उन सबको लाँघकर निश्चय ही सनातन परम धामको प्राप्त होता है।

क्षणभङ्गुर मनुष्य-देह इसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मिला है, इसीसे इसको दुर्लभ कहा है, ऐसे वरदानस्वरूप विवेकसम्पन्न मनुष्य-देहको प्राप्त करके यदि कोई उस विवेकको केवल शरीर सजाने और फैशन बनानेमें ही खर्च करे तो वह अत्यन्त ही दयनीय है। इस बातको स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य-देहसे जीव सन्मार्गमें चलनेपर जैसे उन्नतिके अत्युच्च शिखरपर चढ़ सकता है, वैसे ही कुमार्गमें पड़कर, विषयासक्त होकर, इन्द्रियोंका गुलाम बनकर यह अवनतिके गहरे गड्हेमें भी गिर सकता है, क्योंकि मनुष्य-जीवन कर्म-योनि है, इसी जीवनमें—

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

—की उक्ति चरितार्थ होती है। इस जीवनमें जीव पाप-पुण्य, बन्धन-मुक्तिका साधन कर सकता है। अपने विवेक और बलको चाहे जिस कार्यमें खर्चकर उसीके अनुरूप फलका भागी हो सकता है।

यह मनुष्य-विवेकके दुरुपयोगका ही फल है, जो मनुष्येतर प्राणियोंके लिये आज मनुष्य सबसे बड़ा घातक हो गया है। मनुष्यने अपने दैहिक सुखके लिये ही एक-एक इंच भूमिपर, जंगलके प्रत्येक पेड़पर अपना अधिकार कर लिया है, जिससे वन्य पशु-पक्षियोंकी बुरी गति हो रही है। रेल, मोटर, बड़ी-बड़ी मिलें, कारखाने, हवाईजहाज, बड़े-बड़े महल आदि मानवी सुखके सामानोंने इतर प्राणियोंके जीवनको विभीषिकामय और दुःखमय बना दिया है। इन विशाल दानवी कार्योंके प्रारम्भ, विस्तार और सञ्चालनमें कितनी जीवहिंसा होती है, इसका तो कोई हिसाब ही नहीं! चूल्हे-चक्कीमें होनेवाली प्राणिहिंसाके पापसे मुक्त होनेके लिये नित्य पञ्चमहायज्ञ करनेवाली आर्यजातिके महापुरुषोंने बड़ी-बड़ी मशीनोंकी चक्कियोंके जीव-घातक कार्योंसे बचनेका क्या उपाय सोचा है, कुछ पता नहीं। यही नहीं, आज मनुष्य-सुखके लिये विविध भाँतिसे जीवोंका संहार किया जा रहा है और उसको आवश्यक कार्य समझकर सभी ओरसे उत्साह प्रदान किया जाता है। रेशमके कारखाने, चमड़ेके कारखाने, जूतोंके कारखाने और विदेशी दवाइयोंके कारखाने आदिको देखने-सुननेसे इस बातका पता चल सकता है। मनुष्यने अपने विवेकका यहींतक दुरुपयोग नहीं किया, अपने ही जलनेके लिये उसने अपने अंदर भी दुःखकी आग सुलगा दी। विद्या-बुद्धिसे युक्त कहलानेवाले कुछ इने-गिने मनुष्योंने अपने व्यक्तिगत शारीरिक सुखके लिये बड़े-बड़े दानवी यन्त्र

और कारखानोंके द्वारा अगणित गरीबोंके मुँहका टुकड़ा छीनकर उन्हें तबाह करना शुरू कर दिया। परिणाममें आत्मकलहका जो युद्ध आज मनुष्य-जातिमें छिड़ गया है, उसका कितना भयानक फल होगा, इस बातको कौन बता सकता है? विवेकके दुरुपयोगसे उत्पन्न उच्छृङ्खलतासे आज सभी ओर अशान्ति हो रही है। परलोक और भगवान्‌को भूलकर प्रायः सभी मनुष्य आज अपने-अपने क्षुद्र सुखके लिये छटपटा रहे हैं और मोहान्ध होकर परिणामज्ञानसे शून्य-से हो दानवोचित साधनोंतकको अपना रहे हैं। क्या यही मनुष्य-जीवनका ध्येय है? बड़ी गलती की जा रही है। शीघ्र चेतना चाहिये। मानव-जीवनको पशु या असुर-जीवनमें परिणत न कर इसे देव या भागवत-जीवन बनाना चाहिये। हृदयमें ईश्वरका अधिष्ठान समझकर उसीकी प्रसन्नताके लिये उसकी आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये, पापकी प्रेरणा हृदयस्थ ईश्वरकी आज्ञा नहीं है। वह तो हमारे हृदयमें छिपे हुए काम, क्रोध, लोभ, अज्ञान प्रभृति असुरोंकी प्रेरणा है, जो भगवान्‌की विस्मृति कराकर हमें भयानक नरकाग्निमें जलानेके लिये हमारे अंदर डेरा डाले हुए हैं। इन असुरोंको पहचानकर इनसे बचना चाहिये। वैराग्यके शस्त्रसे इन्हें मारना चाहिये। वैराग्यका उदय—वास्तविक विरागकी उत्पत्ति तभी होगी, जब हमारे जीवनका ध्येय निश्चित हो जायगा, जब हमारी बुद्धि मोहके कलिलसे निकल जायगी, जब उसे सांसारिक उन्नति और सांसारिक सुखोंका वास्तविक स्वरूप दीख जायगा।

इसीके लिये सत्सङ्ग, सत्-शास्त्राध्ययन, यम-नियम आदिकी आवश्यकता है। मनुष्य-जीवन बहुत थोड़ा है, प्रतिक्षण हमारे जीवनका नाश हो रहा है, अनेक प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ सामने हैं, अतएव बहुत ही शीघ्र उस उपायमें लग जाना चाहिये, जिससे हम तुरंत ही अपने जीवनका ध्येय निश्चितकर उसको पानेके लिये गुरु और शास्त्रकथित मार्गपर आरूढ़ होकर चलना आरम्भ कर दें।

भगवत्कृपापर विश्वास करके जीवनको उनकी सेवामें लगा दीजिये, फिर देखिये उनकी कृपासे सारी कठिनाइयाँ आप ही दूर हो जाती हैं। **मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।**

* * *

भगवान् श्रीरामके अवतार-हेतु

(मानसमराल पं० श्रीजगेशनारायणजी शर्मा)

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके अवतारके विषयमें भारतीय साहित्यमें विस्तृत विवेचन किया गया है।

आदिकवि महर्षि वाल्मीकिने रामायणके पंद्रहवें सर्गमें राम-अवतारकी चर्चा की है। उनके अनुसार भगवान् विष्णुने ही रामके रूपमें अवतार धारण किया था। रावणके अत्याचारसे समस्त देव, गन्धर्व, मनुष्यादि जब भयभीत हो गये, तब सबने मिलकर भगवान्‌से प्रार्थना की कि आप महाराज दशरथके यहाँ पुत्रके रूपमें अवतार लेकर लोककण्टक रावणका उच्छेद कर त्रिलोकीका कण्टक दूर करें—

राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेर्विभो॥
धर्मज्ञस्य वदान्यस्य महर्षिसमतेजसः।
अस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च॥
विष्णो पुत्रत्वमागच्छ कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम्।
तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम्॥
अवध्यं दैवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम्।
(वा० रा० १।१५।१९—२२)

देवताओंकी स्तुति सुनकर भगवान् प्रकट हो गये। उन्होंने अभयत्व प्रदान करते हुए उनको आश्वासन दिया कि मैं आप लोगोंका दुःख दूर करनेके लिये मानव (राम)-रूपमें अवतार ग्रहण करूँगा तथा कुलसहित रावणका वध करूँगा—

भयं त्यजत भद्रं वो हितार्थं युधि रावणम्।
सपुत्रपौत्रं सामात्यं समन्त्रिज्ञातिबान्धवम्॥
हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम्।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च॥
(वा० रा० १।१५।२८-२९)

अध्यात्मरामायणमें पार्वतीजी भगवान् भूतभावन महादेवसे श्रीरामके अवतारके सम्बन्धमें जिज्ञासा करती हैं। उनकी जिज्ञासाके समाधानमें भगवान् शङ्कर रामावतारके विषयमें विस्तारसे चर्चा करते हैं। सर्वप्रथम वे पार्वतीजीको सुन्दर प्रश्न पूछनेके लिये धन्यवाद देते हैं। तदनन्तर सदाशिव

भगवान्‌के निर्गुण-सगुण विश्वव्यापी विग्रहका विस्तारसे वर्णन करते हैं। पुन रावणके अत्याचारसे पीड़ित भूमि और देवताओंका ब्रह्माजीके पास जाकर अपना दुःख प्रकट करनेकी कथा सुनाते हैं। ब्रह्माजी देखते हैं कि यह कार्य मेरी शक्तिसे परे है। फिर भगवान् शङ्करकी प्रेरणासे ब्रह्मादि सभी देव भगवान् नारायणकी स्तुति करके उनसे रावणका वध कर पृथ्वीका भार उतारनेका आग्रह करते हैं। देवताओंकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान् नारायण मनुष्यरूपमें अवतार ग्रहण करनेका आश्वासन देते हैं।

आनन्दरामायणके 'सारकाण्ड' में द्वितीय सर्गके अन्तर्गत भगवान् शिव भवानीको राम-कथा सुनाते हैं। पहले रावणके अत्याचारका वर्णन करते हैं। पृथ्वी रावणके अत्याचारसे संत्रस्त होकर देवताओंके साथ ब्रह्माजीके पास जाती है। ब्रह्मा सभीको साथ लेकर विष्णुलोकमें जाते हैं। वहाँ पृथ्वीने अपनी तथा धर्मकी रक्षाके लिये भगवान् नारायणसे प्रार्थना की। भगवान्‌ने कहा कि मैं आप सबका दुःख दूर करनेके लिये पृथ्वीपर अवतार ग्रहण करूँगा।

गीतामें अपने अवतारके हेतुका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कहा है कि जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब धर्मकी संस्थापनाके लिये, साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंके विनाशके लिये मैं अवतार ग्रहण करता हूँ—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(४।७-८)

श्रीमद्भागवत महापुराणके नवम स्कन्धमें भी रामचरित कुछ संक्षिप्त रूपमें वर्णित है। तदनुसार देवताओंकी प्रार्थनापर साक्षात् परब्रह्म श्रीहरि ही अपने अंशसे चार रूप धारण करके दशरथके पुत्र-रूपमें अवतरित होते हैं—

तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः।
अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः॥
(श्रीमद्भा० ९।१०।२)

गोस्वामी तुलसीदासविरचित 'श्रीरामचरितमानस'में श्रीरामकी अवतार-कथाको अत्यन्त रोचक रूपसे प्रस्तुत किया गया है। महर्षि भरद्वाज परम विवेकी तत्त्वज्ञ ऋषि याज्ञवल्क्यसे संशयनिवृत्ति-हेतु रामविषयक प्रश्न करते हैं—

राम कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही॥
एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥
नारि बिरहँ दुखु लहेउ अपारा। भयउ रोषु रन रावनु मारा॥
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्बग्य तुम्ह कहहु बिबेकु बिचारि॥
(मानस १।४६।६-८)

महर्षिने कहा कि एक बार त्रेतायुगमें भगवान् शिव और माता सती अगस्त्य मुनिके आश्रममें पधारे। अगस्त्य मुनिने उन्हें विस्तारके साथ राम-कथा सुनायी। भगवान् शङ्कर भी उसे बड़ी श्रद्धासे सुनते रहे। मुनिने रामभक्तिका स्वरूप पूछा! भगवान् शङ्करने भी उन्हें अधिकारी समझकर 'प्रपत्तिरहस्य' का प्रतिपादन किया। तत्पश्चात् मुनिसे विदा लेकर जब शिवदम्पति कैलास वापस लौट रहे थे कि मार्गमें एक अलौकिक घटना घटी। उसी समय भगवान्‌का अवतार हो चुका था। पिताकी आज्ञासे भगवान् राम दण्डक वनमें निवास कर रहे थे, तभी मूर्ख रावणने जानकीजीका हरण कर लिया। वे सीताके वियोगमें उसी मार्गसे विलाप करते हुए आ रहे थे, जिस मार्गसे शिव और सती कैलास जा रहे थे। अपने इष्टदेवको विरही पुरुषकी तरह नरलीला करते हुए देखकर शङ्करजी पुलकित हो उठे। उन्हें ऐसा लगा कि जिनकी कथा वे कुम्भज ऋषिके आश्रमसे सुनकर आ रहे हैं, उन प्रभुने साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया, किंतु प्रभुकी नरलीला पास जानेसे कहीं बिगड़ न जाय, अतः वे अपने इष्टदेवको दूरसे ही बार-बार प्रणाम करने लगे। शङ्करजीके आनन्द और उनकी भावदशाको देखकर सती चकित रह गयीं। उन्हें यह रहस्य समझमें नहीं आया कि आखिर सामान्य राजकुमारको शङ्करजी 'जय सच्चिदानन्द' कहकर प्रणाम क्यों कर रहे हैं? सतीके संदेहको गोस्वामीजीने बड़े ही रोचक, मनोवैज्ञानिक और तर्कसंगत शैलीमें प्रस्तुत किया है—

तिन्ह नृप सुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥
भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥
ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥

बिष्नु जो सुर हित नरतनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी।
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥
संभुगिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जान सबु कोई॥
अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदयँ प्रबोध प्रचारा॥

(मानस १।५०।७-८, १।५१।१-४)

भगवान् शङ्करने उन्हें बहुत समझाया, पर सतीको प्रबोध नहीं हुआ। तब उन्होंने कहा कि यदि तुम्हारे मनमें अत्यन्त संदेह है तो समीप जाकर परीक्षा ले लो कि ये राजकुमार हैं अथवा ब्रह्म? सती इससे सहमत हो गयीं। वे सीताका रूप धारण कर उसी मार्गपर खड़ी हो गयीं। किंतु जब रामने सतीको माता कहकर प्रणाम किया और पूछा कि भगवान् शङ्कर कहाँ हैं? आप अकेली वनमें क्यों विचरण कर रही हैं? तब भगवान्‌के गूढ़ वचनको सुनकर सती अत्यन्त भयभीत हो गयीं। वे चिन्तायुक्त हो दुःखी मनसे भगवान् शिवके पास चलीं—

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥
कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥
राम बचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति संकोचु।
सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदयँ बड़ सोचु॥

(मानस १।५३।७-८)

बीचमें भगवान् रामने अपनी मायाकी एक झलक सतीको दिखलायी, जिससे वे और अधिक भयभीत हो उठीं। समीप जानेपर भगवान् आशुतोषने पूछा कि किस प्रकार परीक्षा ली, तो वे साफ झूठ बोल गयीं। भगवान् शङ्करने ध्यानस्थ होकर सती-चरित्रको जान लिया और सीताजीका रूप धारण करनेके कारण उन्हें माता मानकर पत्नीत्वका सम्बन्ध छोड़ दिया। कुछ दिन बाद सतीने भी शिव-निन्दाको सुनकर दक्ष-यज्ञमें अपना शरीर त्याग दिया। पुनः अगले जन्ममें वे पार्वतीरूपसे कठोर तपस्या कर शङ्करजीकी अर्धाङ्गिनी बनीं। किंतु उनके मनमें राम-विषयक शङ्का ज्यों-की-त्यों बनी रही। एक बार कैलास-शिखरपर परम एकान्त शान्त और प्रसन्नमुद्रामें विराजमान भगवान् शङ्करके समक्ष पार्वतीने बहुत अनुनय-विनयके पश्चात् अपनी वही जिज्ञासा रखी—

राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई॥
जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरहँ मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥

(मानस १।१०८।४)

पार्वतीकी ब्रह्मविषयक जिज्ञासा सुनकर भगवान् आशुतोष आनन्दमग्न हो गये। पुलकित वाणीसे वे लोक-कल्याणकारी प्रश्नके लिये पार्वतीको धन्यवाद देने लगे। पार्वतीकी मूल जिज्ञासा दो है। एक तो निर्गुणब्रह्म सगुण क्यों बनता है तथा दूसरा यह कि रामके अवतार-ग्रहणका कारण क्या है—

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी॥
पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा। बालचरित पुनि कहहु उदारा॥

(मानस १।११०।४-५)

पार्वतीके प्रश्नको सुनकर पहले तो भगवान् निर्गुण-सगुण-तत्त्वकी विशद व्याख्या करते हैं, पुनः वे रामके अवतार-ग्रहणके कारणोंपर प्रकाश डालते हैं। वे पहले प्रभुके धर्म-रक्षार्थ अवतरणकी बात करते हैं। फिर निष्कर्षमें यह बतलाते हैं कि उनके अवतारका मुख्य प्रयोजन भक्तोंका उद्धार एवं लीलाचरित्रका निर्माण है, जिसके श्रवण-मनन एवं ज्ञानद्वारा भक्त संसार-सागरसे पार हो कृतार्थ हो जाते हैं।

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

(मानस १।१२१)

इसी प्रसंगमें वे जय-विजय, नारद-शाप और स्वायम्भुव मनुकी तपस्याकी कथाएँ भी पार्वतीजीको सुनाते हैं, जिनके विषयमें गोस्वामी तुलसीदासजी एवं अन्य रामायणियोंकी यही धारणा है कि स्वायम्भुव मनुको छोड़कर अन्य अवतार शेषशायी या वैकुण्ठाधिपति श्रीविष्णुके हैं। मनु-शतरूपाके लिये अवतरित-स्वरूप श्रीराम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही हैं। इन्हींका चरित्र काकभुशुण्डि, शिवजी, याज्ञवल्क्य एवं गोस्वामीजी भी रामचरितमानसके रूपमें प्रस्तुत करते हैं। गोस्वामीजीके मतसे यह निर्गुण-निराकार ब्रह्म भक्तोंकी तीव्र साधना एवं प्रेम-भक्तिके कारण किसी भी क्षण उनके सामने अवतरित या प्रकट हो सकता है—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
× × × ×
अगुन अलेप अमान एक रस। रामु सगुन भए भगत प्रेम बस॥

(मानस १।११६।२, २।२१९।६)

यही रामावतारका मुख्य हेतु है जो सम्पूर्ण रामचरितमानस, सभी उपनिषदों एवं गीता आदिमें भी बार-बार अभ्यासके द्वारा निरूपित है और वास्तविक योगी, ज्ञानी, भक्त, पण्डित और विद्वान् भी वही है जो ध्रुव, प्रह्लादकी तरह प्रेमादि साधनाओंके द्वारा तत्काल भगवान्‌को प्राप्त कर लेते हैं—

सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किए प्रगट प्रह्लादा॥
(मानस २।२६५।५)

गीताके प्रायः प्रत्येक श्लोकमें एक ही भाव अभिव्यञ्जित है। केवल भगवान् ही प्रकट हैं और तत्त्वतः प्राणिमात्रके अन्तर्बाह्य व्याप्त हैं, किंतु दीर्घकालके दुरभ्यासके कारण अध्यस्त मिथ्या-विश्व ही प्रतीत होता है और सत्-तत्त्व परमात्मा बुद्धिगम्य होनेपर भी प्रतीत नहीं होता। इस संदर्भमें यहाँ केवल एक श्लोक प्रस्तुत किया जाता है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

यही तत्त्व साधनाभ्याससे प्रत्यक्ष अवतरित हो जाता है।

श्रीरामजन्मभूमि हमारी महान् विरासत है

(ब्रह्मलीन श्रीदेवराहाबाबाजी महाराजसे लिया गया अन्तिम साक्षात्कार)

[योगिराज पूज्य श्रीदेवराहाबाबाजी महाराज पुरानी पीढ़ीके महान् सिद्ध संत थे। वे जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य महाराजके अनुयायी तथा पातञ्जल-योगके महान् विद्वान् संत थे। वेदों, उपनिषदों, गीता, रामायण, पुराणों तथा योगसाहित्यका उनका गहन अध्ययन था। भारत ही नहीं विदेशोंके भी करोड़ों श्रद्धालु बाबाके दर्शन-आशीर्वादके लिये लालायित रहा करते थे। बाबा वृन्दावनमें यमुना-तटपर स्थित मचानपर रहा करते थे। माह जूनमें योगिनी एकादशीके पावन दिन बाबाने योगका 'सिद्ध आसन' धारण किया और वे ब्रह्ममें विलीन हो गये। महाराजश्रीके ब्रह्मीभूत होनेके ठीक एक माह पूर्व अचला एकादशीके दिन स्वर्गीय भक्त श्रीरामशरणदासजी (पिलखुआ) जो बाबाके स्नेहपात्र थे, इनके सुपुत्र श्रीशिवकुमारजी गोयलसे बाबाकी भेंटवार्ता हुई, जिसमें उन्होंने गोरक्षा, श्रीरामजन्मभूमि, सनातनधर्म, देशमें बढ़ रही नास्तिकता, विश्वमें बढ़ रही अशान्ति आदि ज्वलन्त बातोंपर प्रश्न किया और बाबाने उनका जो उत्तर दिया, उसे यहाँ संक्षेपमें प्रस्तुत किया जा रहा है—सं०]

अतिभौतिकवाद अशान्तिकी जड़

प्रश्न—बाबा! आज पूरे संसारमें घोर अशान्तिका वातावरण है, चारों ओर हिंसा, आतङ्क, अशान्तिका बोलबाला है, इसका क्या कारण है?

उत्तर—अतिभौतिकवाद ही इन सबकी जड़ है। धर्मशास्त्रोंमें बताये मार्गपर चलकर, संतोष तथा सादगीका जीवन जीकर ही सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त की जा सकती है। आधुनिकतम सुख-साधनोंकी होड़ने मानवको दानव बना दिया है। इसी होड़के लिये मानव मानवका शोषण करता है, उसका गला काटनेमें भी नहीं हिचकिचाता। धर्ममार्गपर चलनेसे ही मानव सच्ची मानवताकी भावनासे प्रेरित रह सकता है।

धर्म मजहब नहीं है

प्रश्न—बाबा! आपके मतमें धर्म क्या है? आज तो नये-नये मत-मजहब बनते जा रहे हैं। धर्मके नामपर चारों ओर रक्तपात हो रहा है?

उत्तर—बच्चा! तुमने यह बहुत अच्छा प्रश्न किया है। **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'**—समग्र वेद धर्मका मूल है। वेदोंके माध्यमसे ईश्वरने धर्मका शाश्वत संदेश दिया है। वेदोंमें मानवमात्रके कल्याणका भाव निहित है। कहा गया है—**'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'**—धर्म समस्त विश्वका आधार है। भगवान् मनुने धर्मके दस लक्षण बताये हैं—'धीरज, सहनशीलता, मनपर नियन्त्रण, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियोंको अपने अधीन रखना, बुद्धि तथा विद्याको साथ रखना, सच बोलना और क्रोध न करना।'

ईश्वरपर दृढ़ आस्था हमें पापकर्मसे रोकती है। ईश्वर-विश्वास सद्विचारों, नैतिकता तथा सेवाकी प्रेरणा देता है। यह सब हमारे सनातन हिन्दूधर्मका तत्त्व है। धर्म और मत-मजहबोंकी तुलना करना अज्ञान है। मत-मजहबवाले लड़ते हैं, 'धर्म'पर विश्वास रखनेवाला कभी नहीं लड़ता।

अब तो कलियुग है। धर्म-विरोधी आचरण करनेवाले पाखंडी अपनेको भगवान्‌का 'अवतार' तक घोषित करने लगे हैं। ऐसे हिरण्यकशिपुओंसे धार्मिक जनोंको सावधान रहना चाहिये। धर्मशास्त्रोंके बताये मार्गका आचरण ही कल्याणका साधन है। गोपाल, गौ, गङ्गा, गीता, गायत्री—ये धर्मप्राण भारतके पाँच दिव्य साधन हैं। इनकी शरणमें जाकर कल्याणमें संदेह नहीं करना चाहिये।

गौमाताकी हत्या कलंक है

प्रश्न—बाबा ! अब तो धर्मप्राण भारतमें भी अशान्ति, हिंसा, आतङ्क व्याप्त होता जा रहा है और गोहत्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। भारतको पुनः जगद्गुरु-पद प्राप्त करनेके लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—'धर्मनिरपेक्षता'के नामपर धार्मिक मूल्योंकी अवहेलनाका ही यह कुपरिणाम है। 'धर्म'से नाक-भौं सिकोड़कर, धर्म-शिक्षाका पठन-पाठन रोककर हमने बहुत बड़ी भूल की है। इसीलिये युवा पीढ़ी भटक गयी है।

गौ माता धर्मका साक्षात् रूप है। गौ साक्षात् देवी है, जगत्-जननी है। स्वाधीन भारतमें भी गोमाताकी हत्या जारी रखकर हमने अपने धर्मप्राण-रूपको विकृत कर दिया है। गोहत्या बंद करके ही हम भारतके सच्चे स्वरूपको जीवित रख सकते हैं। धर्मकी शिक्षा देकर ही बच्चोंको उनके राष्ट्र और समाजके प्रति कर्तव्योंसे प्रेरित किया जा सकता है !

श्रीराममन्दिर अवश्य बनेगा

प्रश्न—श्रीरामजन्मभूमि-मन्दिरका प्रश्न आज बहुत चर्चित है, इस बारेमें आपका क्या मत है ?

उत्तर—साक्षात् ब्रह्म भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी जन्मस्थलीपर मन्दिर नहीं तो और क्या बनेगा ? भारतके प्राण श्रीराम हैं। बाबर-जैसा विदेशी लुटेरा तो इतिहासका कलंक ही माना जायगा। श्रीराम और बाबरकी तुलना करनेवाले अज्ञानी हैं।

श्रीराममन्दिर तो बनेगा ही, इसमें संदेह कैसा ! श्रीराममन्दिरका प्रश्न तो देशकी अस्मिताका प्रश्न है। अच्छे मुसलमान भी इस पुनीत काममें सहयोग देंगे। ईश्वरीय कार्य बाधाओंके बावजूद कभी नहीं रुका करते।

आशीर्वाद देना हमारा कर्तव्य है

प्रश्न—महाराजश्री ! अन्तिम प्रश्न करनेकी धृष्टता कर रहा हूँ। समाचारपत्रोंमें छपता रहता है कि आपने जिन नेताओंको आशीर्वाद दिया, उनमेंसे अनेक चुनाव हार गये, सत्तासे हटा दिये गये। इस बारेमें आपका क्या कहना है ?

उत्तर—बच्चा ! हमारा काम सभी आगन्तुकोंके कल्याणकी कामना करना है। फल तो प्रत्येकको अपने कर्मका भोगना पड़ता है।

जुआरी यदि हमसे आशीर्वाद लेगा तो हम कहेंगे 'तेरा कल्याण हो।' परंतु ध्यान रखो कि जुआरीका कल्याण हमेशा 'हारने'में होता है, जीतनेसे तो उसकी जुएकी लत और बढ़ेगी तथा सत्यानाश होगा। यदि नेतागण अपने धर्म-विरुद्ध आचरणको जारी रखते हुए यह आशा रखें कि हमारे आशीर्वादसे वे पापमुक्त हो जायँगे तो यह उनका मात्र भ्रम ही है। हमने अनेक नेताओंसे गोहत्या बंद करनेको कहा। किसीने भी अपना वचन नहीं निभाया। क्या वे गोहत्याके इस घोर पातकसे मुक्त हो जायँगे, केवल हमारे दर्शनोंसे ? धर्मशास्त्रोंके मात्र दर्शन नहीं, उनका पालन करना चाहिये। हमारी बातोंपर अमल करो तभी तो दर्शनोंकी सार्थकता है।

रामनाममें अपार शक्ति है

प्रश्न—बाबा ! चलती बार कोई संदेश दीजिये।

उत्तर—भगवान् श्रीरामके पावन नामके उच्चारणसे बड़ा संदेश और क्या होगा। जब भी अवसर मिले उठते-बैठते 'श्रीराम श्रीराम' का पावन नाम उचारो। श्रीरामके नाममें बड़ी अनूठी दुर्लभ शक्ति है। इससे शरीर, वाणीं, मन, मस्तिष्क सभी पवित्र होते हैं। कलियुगमें श्रीरामनामसे तथा श्रीकृष्ण नामसे बड़ा कोई मन्त्र नहीं है। इसे किसी भी अवस्थामें उठते-बैठते, सोते-चलंते, खाते-पीते जपा जा सकता है।

श्रीराम-नामका पावन उच्चारण करो तथा ईमानदारीका जीवन जियो। किसीका बुरा न चाहो, न निन्दा करो, न सुनो। प्राणिमात्रमें भगवान्‌के दर्शन करो, बस, मानव-जीवन सफल हो जायगा।

(भेंटकर्ता—श्रीशिवकुमारजी गोयल)

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित मनमाना घोर तप करते हैं और दम्भ, अहंकार, कामना, आसक्ति तथा शरीरादिके बलका अभिमान रखनेवाले हैं, वे शरीरमें स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित भगवान्‌को कष्ट देनेवाले हैं, उन अज्ञानियोंको आसुरी स्वभाववाला ही जानो।—श्रीमद्भगवद्गीता

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

जिससे क्रियाकी सिद्धि होती है, जो क्रियाको उत्पन्न करनेवाला है, उसको 'कारक' कहते हैं। कारक छः प्रकारके होते हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। इन छहों कारकोंकी आवश्यकता सांसारिक क्रियाओंकी सिद्धिमें ही है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कारकोंकी आवश्यकता नहीं है अर्थात् वहाँ कारक नहीं चलते। कारण कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति क्रियासे नहीं होती। तात्पर्य है कि सब कारक प्रकृतिमें हैं और प्रकृतिके कार्य हैं। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें कोई कारक नहीं है। कारकोंमें प्रकृतिजन्य पदार्थ और क्रियाका आश्रय लेना पड़ता है, जिससे अभ्यासकी सिद्धि होती है। अभ्याससे एक नयी अवस्थाका निर्माण होता है, तत्त्वका अनुभव नहीं होता; क्योंकि तत्त्वमें अवस्था नहीं है। तत्त्वका अनुभव तो विवेकके द्वारा होता है। यह विवेक प्राणिमात्रको स्वतः प्राप्त है। परंतु मनुष्यके सिवाय अन्य प्राणियोंमें जो विवेक है, उससे उनका शरीर-निर्वाह तो हो जाता है, पर तत्त्वज्ञान नहीं होता। कारण कि विवेकका उपयोग वे केवल शरीर-निर्वाहमें ही करते हैं। उससे आगे (शरीरसे अतीत तत्त्वमें) उनकी जिज्ञासा नहीं होती[१]। मनुष्य अपने विवेकका सदुपयोग करके, विवेकका आदर करके देवताओंसे भी ऊँचा उठ सकता है, भगवान्‌को भी अपने वशमें कर सकता है। परंतु भोगेच्छाके कारण अपने विवेकका दुरुपयोग करके, विवेकका अनादर करके पशुओंसे भी नीचा गिर सकता है और चौरासी लाख योनियों तथा नरकोंमें जा सकता है[२]! इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपने विवेकका आदर करे, विवेक-विरोधी कोई कार्य न करे।

प्राणिमात्रमें अपरा (जड) और परा (चेतन) दोनों प्रकृतियाँ हैं। 'अहम्' अपरा प्रकृति है[३] और 'जीव' परा प्रकृति है। अहम् और जीव अर्थात् जड और चेतनके सम्बन्धका ही नाम चिज्जडग्रन्थि है—

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
(मानस ७।११७।२)

जड-चेतनकी यह ग्रन्थि मिथ्या है, सत्य नहीं है, क्योंकि

---

[१] अन्य प्राणियोंमें यह विवेक स्थावरकी अपेक्षा जंगममें अधिक रहता है। जंगममें भी जलचरकी अपेक्षा थलचर प्राणियोंमें और थलचरकी अपेक्षा नभचर प्राणियोंमें अधिक विवेक रहता है। परंतु उनमें यह विवेक शरीर-निर्वाहतक ही सीमित रहता है, जिससे वे खाद्य-अखाद्य आदि पदार्थोंकी भिन्नताको जान लेते हैं। परंतु सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक उनमें जाग्रत् नहीं होता। कारण कि उनमें विवेकके योग्य बुद्धि नहीं है और अधिकार भी नहीं है। यह विवेक मनुष्यमें ही जाग्रत् होता है। कारण कि मनुष्यके सिवाय अन्य योनियाँ भोगप्रधान हैं। मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व देकर शरीरसे अतीत तत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है, जन्म-मरणके बन्धनसे छूट सकता है। अतः मनुष्यपर अपना उद्धार करनेकी विशेष जिम्मेवारी है।

[२] मनुष्य होकर भी अपने विवेकका आदर न करनेसे जैसा पतन होता है, वैसा पतन पशुका भी नहीं होता! झूठ, कपट, बेईमानी, धोखेबाजी, अन्याय, हिंसा आदि पाप मनुष्य ही करता है, पशु नहीं करते। पशु नये पाप नहीं करते, प्रत्युत पूर्वजन्ममें किये गये पापोंका ही फल भोगकर उन्नतिकी ओर जाते हैं, पर मनुष्य सुख-लोलुपताके कारण नये-नये पाप करके पतनकी ओर जाता है। अपने विवेकको वह नये-नये पापोंकी खोज करनेमें ही लगा देता है।. भोगासक्तिके कारण उसका विवेक इन्द्रियोंके भोगोंतक ही सीमित रहता है, उससे ऊँचा नहीं उठता—'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः' (गीता १६।११)। इस प्रकार पशु तो अपने कर्मोंका फल भोगकर मनुष्ययोनिकी तरफ आते हैं, पर मनुष्य नये-नये पाप करके पशुयोनिसे भी नीचे (नरकोंमें) चला जाता है! इसलिये ऐसे मनुष्यके संगको नरकवाससे भी बुरा कहा गया है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥ (मानस ५।४६।४)

कारण कि नरकोंमें तो पाप नष्ट होकर शुद्धि आती है, पर दुष्टोंके संगसे अशुद्धि आती है, पाप बनते हैं।

[३] गीतामें भगवान्‌ने अपरा प्रकृतिके आठ भेद बताये हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार (७।४-५)। इन सबमें बन्धनका मुख्य कारण 'अहंकार' ही है। पृथ्वी, जल, तेज आदिमें परस्पर बहुत तारतम्य होनेपर भी वे सब एक जातिके (अपरा) ही हैं। अतः जिस जातिकी पृथ्वी है, उसी जातिका अहंकार है अर्थात् अहंकार भी मिट्टीके ढेलेकी तरह जड़ है इस रहस्यकी ओर विशेष लक्ष्य करानेके लिये ही भगवान्‌ने 'इयम्' पदका प्रयोग किया है—'अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' (७।४)। यही बात भगवान्‌ने अहंकारको 'क्षेत्र' बताते हुए 'एतत्' पदसे कही है (१३।१)। जीव इस 'अहम्'के साथ एकता कर लेता है अर्थात् 'अहम्'को अपना स्वरूप मान लेता है, जिससे उसका आकर्षण जड़ताकी ओर हो जाता है और वह जड़ताके वशमें हो जाता है।

जड़ और चेतन एक-दूसरेसे सर्वथा विरुद्ध हैं। चेतन प्रकाशक है, जड़ प्रकाश्य है। चेतन अपरिवर्तनशील है, जड़ परिवर्तनशील है। चेतन कभी मिटता नहीं, जड़ कभी टिकता नहीं। दोनोंका स्वभाव अलग-अलग है। परंतु अलग-अलग स्वभाव होते हुए भी दोनोंका एक-दूसरेसे वैर-विरोध नहीं है। इतना ही नहीं, चेतन जड़का प्रकाशक है, सहायक है। असत्‌की सिद्धि भी सत्-रूप चेतनसे ही होती है। चेतन ही असत्‌को सत्ता देता है। हाँ, तत्त्वकी जिज्ञासाका असत् (जड़)से वैर है; क्योंकि जिज्ञासासे जड़के साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसलिये एक दृष्टिसे तत्त्वकी अपेक्षा तत्त्वकी जिज्ञासा श्रेष्ठ है। भोगेच्छा तो संसार (पदार्थ और क्रिया)से सम्बन्ध जोड़ती है, पर जिज्ञासा संसारसे सम्बन्ध तोड़ती है। भोगेच्छामें जड़ता (अहंकार)की मुख्यता रहती है और जिज्ञासामें चेतनकी मुख्यता रहती है। तात्पर्य है कि मनुष्य जड़-अंशकी प्रधानतासे संसारकी, भोगोंकी इच्छा करता है और चेतन-अंशकी प्रधानतासे अपने उद्धारकी, मुक्तिकी, परमात्मतत्त्वकी इच्छा (जिज्ञासा) करता है।

मनुष्य जबतक जड़-अंश (अहंता) की प्रधानतासे संसारके भोगोंमें लिप्त रहेगा, तबतक उसको कभी परमशान्ति, परम आनन्द नहीं मिलेगा। ब्रह्माका पद मिल जाय तो भी उसको परमशान्ति नहीं मिलेगी। परिवर्तनशील वस्तुसे अपरिवर्तनशीलको शान्ति कैसे मिल सकती है। असत्से सत्‌की पूर्ति कैसे हो सकती है? परंतु जब मनुष्य चेतनकी प्रधानताको लेकर (जड़ताका त्याग करते हुए) चलेगा, तब जड़-अंश (अहम्) मिट जायगा और शुद्ध चेतन रह जायगा। जड़-अंश मिटनेसे आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जायगा। आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर पूर्णता हो जायगी[१] अर्थात् वह कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जायगा। वास्तवमें पूर्णता तो स्वतःसिद्ध है। जड़के सम्बन्धसे ही पूर्णताका अनुभव नहीं होता। जड़के सम्बन्धका अत्यन्ताभाव होनेपर, जड़से सर्वथा असंग होनेपर स्वतः पूर्णताका अनुभव हो जाता है, जो पहलेसे ही है। परंतु केवल परमात्मतत्त्वकी, स्वरूपके बोधकी जिज्ञासा होनेसे, भगवान्‌के प्रेमकी, दर्शनकी अभिलाषा होनेसे ही यह होगा। तात्पर्य है कि जिज्ञासा होनेसे विवेक विशेषतासे जाग्रत् होगा, जिससे जड़तासे असंगता हो जायगी। असंगता होते ही जड़की निवृत्ति अर्थात् अहंकारका अभाव हो जायगा। अहंकारका अभाव होनेसे ममताका भी स्वतः अभाव हो जायगा[२] और अपने असंग स्वरूपका अनुभव हो जायगा। इसमें कोई कारक काम नहीं करेगा।

सब कारकोंमें 'कर्ता' मुख्य है। कर्तामें चेतनकी झलक आती है, अन्य कारकोंमें नहीं। वास्तवमें 'कर्ता' नाम चेतनका नहीं है। यह माना हुआ कर्ता है—**'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३।२७)। इसलिये गीतामें जहाँ भगवान्‌ने कर्ममात्रकी सिद्धिमें पाँच हेतु (अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव) बताये हैं, वहाँ शुद्ध आत्मा (अपने स्वरूप) को कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है कि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, वह दुर्मति है[३]। कारण कि स्वरूपमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही नहीं हैं—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३।३१)। जब स्वरूप कर्ता नहीं है तो फिर कर्ता कौन होता है? इसको भगवान्‌ने गीतामें कई प्रकारसे बताया है, जैसे—सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं अर्थात् प्रकृति कर्ता है (१३।२९); सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंके द्वारा होती हैं; गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अर्थात् गुण कर्ता हैं (३।२७-२८; १४।२३); गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं (१४।१९); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं अर्थात् इन्द्रियाँ कर्ता हैं (५।९)।

---

[१] जबतक आसक्तिका सर्वथा अभाव नहीं होता, तबतक ऊँची-से-ऊँची बातें कर सकते हैं, बढ़िया विवेचन कर सकते हैं, व्याख्यान दे सकते हैं, पुस्तकें लिख सकते हैं; परंतु परमशान्तिकी प्राप्ति नहीं कर सकते।

[२] जब चेतन जड़तासे सम्बन्ध जोड़ता है, तब उसमें 'मैं'-पन उत्पन्न होता है। शरीरमें मैं-पन और मेरापन (अहंता और ममता) दोनों होते हैं तथा अन्य पदार्थोंमें मेरा-पन होता है। परंतु पदार्थोंको लेकर अपनेमें अभिमान करनेसे मैं-पन भी साथमें मिल जाता है और दृढ़ हो जाता है; जैसे—मैं धनवान् हूँ आदि। [अपनेमें विद्या, बुद्धि, योग्यता आदिका आरोप करनेसे तो 'अभिमान' होता है और धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदिको लेकर अपनेमें बड़प्पनका आरोप करनेसे 'दर्प' (घमंड) होता है] जड-अंश हटनेसे मैं-पन और मेरा-पन नहीं रहते, स्वरूप रह जाता है। स्वरूपमें मैं-पन और मेरा-पन दोनों ही नहीं हैं।

[३] तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ (१८।१६)

तात्पर्य है कि कर्तृत्व प्रकृतिमें ही है, स्वरूपमें नहीं। इसीलिये तत्त्वज्ञ महापुरुष ‘मैं कुछ भी नहीं करता हूँ’ ऐसा अनुभव करता है—**‘नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्’** (गीता ५।८), **‘तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥’** (गीता ३।२८)। भगवान् भी कहते हैं कि जब मनुष्य गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता अर्थात् वह क्रियामात्रमें ऐसा अनुभव करता है कि गुणोंके सिवाय दूसरा कोई कर्ता नहीं है और अपनेको गुणोंसे बिलकुल असम्बद्ध अनुभव करता है[१] (जो वास्तवमें है), तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है[२]।

गीतामें भगवान्‌ने कर्तापनमें प्रकृतिको और भोक्तापनमें पुरुषको हेतु बताया है[३]। पुरुष (चेतन)को भोक्तापनमें हेतु क्यों बताया? सुख-दुःखका अनुभव अर्थात् भोग चेतनमें ही हो सकता है, जड़में नहीं। सुखी-दुःखी चेतन ही होता है। क्रिया तो जड़में होती है, पर क्रियाका फल (सुखी-दुःखी होना) पुरुषमें होता है। परंतु वास्तवमें प्रकृतिस्थ पुरुष ही सुख-दुःखका भोक्ता बनता है—**‘पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्’** (गीता १३।२१)। तात्पर्य है कि अहंकारका सम्बन्ध रहनेसे ही पुरुष सुख-दुःखका भोक्ता बनता है। यदि अहंकारका सम्बन्ध न रहे तो पुरुष सुख-दुःखका भोक्ता नहीं बनता अर्थात् वह सुखी-दुःखी न होकर अपने आनन्दस्वरूपमें स्थित रहता है—**‘समदुःखसुखः स्वस्थः’** (गीता १४।२४)। अतः भोक्तापन भी केवल माना हुआ है, वास्तवमें नहीं है। तात्पर्य है कि चेतनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व पहलेसे ही नहीं हैं, इसीलिये ये मिटते हैं[४]। यदि चेतनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व होते तो चेतनके रहते हुए वे कभी मिटते ही नहीं।

जब स्वरूपमें कर्तृत्व ही नहीं है, ‘कर्ता’-रूपी कारकके साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, तब इसका सम्बन्ध अन्य कारकोंके साथ कैसे होगा? अतः पहले साधकको सिद्धान्तसे यह निर्णय करना होगा कि मेरेमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व, अहंता-ममता नहीं हैं। यद्यपि यह निर्णय बुद्धि (करण) में दीखता है, तथापि ‘ये मेरेमें नहीं हैं’—यह अनुभव स्वयंको होता है। स्वयंका यह अनुभव करना करण-निरपेक्ष साधन है। तात्पर्य है कि पहले बुद्धिसे विचार होता है। विचारके बाद बुद्धिका निर्णय होता है कि मेरेमें कारकमात्रका अभाव है। परंतु इस अभावका अनुभव करनेवाला स्वयं है। स्वयंको होनेवाले इस अनुभवमें कोई कारक नहीं है, प्रत्युत करणसे सम्बन्ध-विच्छेद है।

जिस जगह क्रिया होती है, उसको अधिष्ठान (अधिकरण) कहते हैं। परंतु जहाँ स्वयं अधिष्ठान है, वहाँ क्रिया नहीं है अर्थात् स्वयं किसी भी क्रियाका अधिष्ठान नहीं है। स्वयंमें सबका आरोप होता है; क्योंकि आरोप होनेकी जगह तत्त्व ही है। तत्त्वके सिवाय आरोपित वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। इसलिये स्वयंको सबका अधिष्ठान, आश्रय, आधार, प्रकाशक कहा जाता है।

इस प्रकार स्वयंमें कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण आदि कोई भी कारक नहीं है[५]। अतः स्वरूपका बोध अथवा परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति जड़ताके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़ताके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है।

★

---

[१] स्वरूप (आत्मा) गुणोंसे सर्वथा रहित है—‘निर्गुणत्वात्’ (गीता १३।३१)। गुण प्रकाश्य हैं। आत्मा प्रकाशक है। गुण परिवर्तनशील हैं, आत्मा अपरिवर्तनशील है। गुण अनित्य हैं, आत्मा नित्य है।

[२] नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ (गीता १४।१९)।

[३] कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ (१३।२०)।

[४] यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ (गीता १२।१७)।

[५] कारकोंमें कर्ता, कर्म, करण और अधिकरण—ये चारों तो क्रियामें विकृत (परिणत) होते हैं, पर सम्प्रदान और अपादान क्रियामें विकृत नहीं होते, प्रत्युत क्रियामें सहायकमात्र होते हैं, इसलिये इनमें कर्मकर्तृप्रयोग नहीं होता। जैसे, ‘सुपात्रको दान दिया’—यह सम्प्रदान कारक है। दान देनेसे दान लेनेवालेमें कोई विकृति नहीं आती। यदि कोई लेनेवाला न हो तो दान सिद्ध नहीं होता, इसलिये दानमें सहायक होनेसे इसको कारक कहा गया है। ऐसे ही ‘गाँवसे आया’—यह अपादान कारक है। गाँवसे आनेपर गाँवमें कोई विकृति नहीं आती। परंतु आनेमें सहायक होनेसे इसको कारक कहा गया है।

कर्म चार प्रकारके होते हैं—उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और आप्य [कहीं-कहीं निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य—ये तीन प्रकार बताये गये हैं]। इनमेंसे ‘आप्य’ कर्ममें भी कोई विकृति नहीं आती; जैसे—‘मैंने धन प्राप्त किया’ तो धनमें कोई विकृति नहीं आयी।

गीता-सुधातरङ्गिणी

[साधक-संजीवनीके आधारपर]

तेरहवाँ अध्याय

दो॰—नमो देव बसुदेव सुत मर्दन चानुर कंस।
देवकि परमानंद प्रद जग गुरुबर जदुबंस॥ १॥
सुनि द्वादस अध्याय महुँ अगुन सगुन तव रूप।
तिन्हमहुँ सगुन उपासि कहुँ उत्तम बरनि अनूप॥ २॥
बहुरि बिबेक बिचार अब बरनहु करि बिस्तार।
जथा देह अभिमान यह छूटहिं सहज हमार॥ ३॥
सो॰—नमो कृष्न भगवान श्रीमुरलीधर तोत्र धर।
करहु बिस्व कल्यान कृपाबृष्टि करि सृष्टि पर॥ ४॥
चौ॰-बोलेउ कृष्नचंद्र भगवाना। सुनहु पार्थ मम सखा सुजाना॥
यह यह कर अस देत दिखाई। छन छन महुँ देखत बिनसाई॥
देह प्रपंच छेत्र कहलाई। सूछम कारन सब समुदाई॥
जो एहि मैं मेरा कहि मानइ। तिन्हकहुँ बुध छेत्रग्य बखानइ॥
सकल छेत्रमहुँ ब्यापक ओही। सोउ छेत्रग्य जानु तुम्ह मोही॥
दोउ कर भेद ग्यान सुनु भारत। मोरे मत सोइ ग्यान जथारथ॥
अब यह छेत्र कहउँ जो कैसा। उपजत जिन्ह बिकार जुत जैसा॥
पुनि छेत्रग्य प्रभाव जनावउँ। जो जस सुनु संछेप सुनावउँ॥
दो॰—ब्रह्मसूत्र अरु बेद रिचा रिषि मुनि करि बिस्तार।
जुगुति अनेक बखान करि बरनिसि बिबिध प्रकार॥ ५॥
पंचभूत इंद्रियन्ह दस बिसय पाँच लगि बीस।
प्रकृति बुद्धि अहँकार मन सहित तत्व चौबीस॥ ६॥
चौ॰-देह पिण्ड सुख दुख समुदाई। चेतन संग्यक प्रान कहाई॥
ईछा द्वेष धृतिहि एहि सारा। कहेउँ समास छेत्र सविकारा॥
भलपन कर अभिमान न आवा। कहि आचरहिं दंभ नहिं लावा॥
जेहिते दुख न पाइ कोउ प्रानी। छमा सरलता तन मन बानी॥
तत्वबोध लगि गुरुपहिं जाई। जो कछु कहहि करइ मन लाई॥
सुचि थिरता अरु मन बस होई। रहहिं तनिक संकल्प न कोई॥
इंद्रिन्ह बिषय ताहि बैरागा। तन महुँ अहंकार करि त्यागा॥
जनम मरन जठरापन रोगा। दुख अरु दोष लखहिं तस भोगा॥
सुत दारा गृहादि जस जोई। तहँ घुलि मिलि आसक्त न होई॥
इष्ट अनिष्ट जोग प्रतिकूला। तामहँ चित नित रह सम तूला॥
दो॰—अव्यभिचारिनि भगति दृढ़ मोमहुँ अनन्य जोग।
रहनि प्रकृति एकांत प्रिय प्रीति न दल संजोग॥ ७॥
बिनु चेतन कहुँ सृष्टि करि सत्ता नहीं सुतंत्र।
लखइ ब्रह्म सर्वत्र सम मनन करहि अस मंत्र॥ ८॥
बरनिसि साधन बीसि यह सकल कहावइँ ग्यान।
जे एहि तें बिपरीत लख ताहि कहहिं अग्यान॥ ९॥
चौ॰-ग्येय तत्व अब कहुँ समुझाई। जानहिं सोइ अमर पद पाई॥
ब्रह्म अनादि अनंत अपारा। सकइ न कोउ सत असत उचारा॥
जेहि भुज पद सर्वत्र उदारा। श्रवन नयन मुख सीस न पारा॥
ब्याप्त करत रहि थित सब माहीं। बहु ब्रह्माण्ड लोक अति ताहीं॥
सब इंद्रिन्ह ते रहित उदासी। सब इंद्रिन्ह कर बिषय प्रकासी॥
गुनातीत है सब गुन गहई। अनासक्त बिस्वंभर अहई॥
निकट दूरि प्रानिन्ह उर बाहर। सूछम अबिसय रूप चराचर॥
जो अबिभक्त सकल जग माहीं। सोउ बिभक्त इव थित दरसाहीं॥
उतपति पालन प्रलय करंता। सब जोतिन्ह कर जोति अनंता॥
छं॰—सब जोतियन्ह कर जोति सकल प्रकास ताहि प्रकास है।
अग्यान तम नहिं निकट तहँ सब हृदय ताहि निवास है॥
निज ग्यान ते नर लखत सहजहि सतत ग्यान सरूप है।
सोइ अवसि जाननिहार अविगत परम तत्व अनूप है॥
दो॰—छेत्र ग्यान अरु ग्येय कहुँ करि संछेप जनाइ।
जानइ जो मम भक्तजन मम अभिन्नता पाइ॥ १०॥
चौ॰-प्रकृति पुरुष अनादि लखु दोऊ। तिन्हकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ॥
प्रकृति रहइ नहिं एक समाना। उपजइ गुन बिकार तेहि नाना॥
कारज करन जनित कृति जोई। तिन्हमहँ हेतु प्रकृति जड़ होई॥
सुख दुख सकल भोग तिन्हमाहीं। बनिहहिं हेतु पुरुष अगवाहीं॥
थित जब पुरुष प्रकृति महँ होई। भोगहिं प्रकृति जनित गुन सोई॥
सोइ गुन सङ्ग जन्म कर कारन। बिनु समुझहिं नहिं होहिं निवारन॥
ऊँचरु नीच जोनिमहुँ जाई। पावइ कष्ट महा दुखदाई॥
पुरुष सरूप सुनहु जो जैसा। बरनउँ अब मैं ताहि बिसेषा॥
उपद्रष्टा अनुमंता भरता। भोगनिहार प्रसासन करता॥
दो॰—सोइहि पुरुष सरूप तें परमातमा कहाइ।
थित रहता एहि देहमहुँ सदा असङ्गहि थाइ॥ ११॥
जानि प्रकृति तिहुँ गुन सहित पुरुष भिन्न लखि सोइ।
करत सर्बहित कर्म पुनि जन्म कबहुँ नहिं होइ॥ १२॥

कोउ जोगी कोउ ध्यानरत कोउ बिबेक अपनाइ ।
एहि बिधि आपहिं आप महुँ आतम तत्व लखाइ ॥ १३ ॥
चौ०-जो एहि त्रिविध जोग नहिं जानइ । आयसु महापुरुष करि मानइ ॥
ताहि परायन रहहिं निसंका । भव तरिहहिं जस हनुमत लंका ॥
थावर जंगम जहँलगि प्रानी । उपजइ सृष्टि जहाँ जस खाँनी ॥
सोउ छेत्रग्य छेत्र संजोगा । उतपति होइहिं अंत बियोगा ॥
बिसमरूप सब जग महँ प्रानीं । तिन्हमहुँ सम ईस्वर थित जानी ॥
बिनसत महुँ थिर तत्व सँजोई । जोगवहिं सत्य असलमहुँ सोई ॥
जो सब थल व्यापक सम इस्वर । ताहि अभिन्न रूप लखि सो नर ॥
अस लखि करइ न आपनि हत्या । तातें पाइ परमगति नित्या ॥
जगमहँ क्रिया होत जसि सोई । लखि सब भाँति प्रकृतिमहुँ होई ॥
निज सरूप कहुँ देखहिं न्यारा । सोइ असल महुँ देखनि हारा ॥
पृथक भाव प्रानिन्ह कर ताही । लखइ प्रकृति जुत थित तिन्हमाहीं ॥
तिन्हते लखहिं सकल बिस्तारा । पाइ ब्रह्मकहुँ लगइ न बारा ॥
चेतन अगुन अनादि अरूपा । अबिनासी परमातम रूपा ॥
रहत देहमहँ तदपि न कर्ता । लिप्त न नभ जस ब्याप्त अकर्ता ॥
छं०—जस ब्याप्त नभ सर्वत्र सूछम लिप्त नहिं होइहि कहीं ।
तस ब्याप्त चेतन रहत सबमहुँ कबहुँ घुलि मिलिहहिं नहीं ॥
जिमि एक सविता भानु दिनकर अखिल बिस्व उजासि हैं ।
तिमि एक चेतन आतमा एहि सकल छेत्र प्रकासि हैं ॥
कोउ ग्यान नेत्रन्ह खोलि सहज बिलोकि समुझि परहिं अयं ।
छेत्रग्य छेत्र बिभाग करि अनुभव करहिं निजमहुँ स्वयं ॥
एहि कार्य कारन सहित प्रकृति समूह तें बिलगाइ हैं ।
सत चित परम आनंद घन परब्रह्म पद कहुँ पाइ हैं ॥
दो०—अस त्रयदस अध्याय कहुँ समुझहु सज्जनवृंद ।
जानि प्रकृति कारज बिलग पावहु परमानंद ॥ १४ ॥

(अनु०—एक सत्संगी भाई)

* * *

भजनका अधिकारी

प्र०-जो पुरुष पापोंमें प्रवृत्त है, क्या वह भजन-साधनमें लग सकता है ?

उ०-हम तो यही नहीं समझते कि पापी कौन है। साधारणतया तो जो पुरुष भगवान्‌से विमुख और अशास्त्रीय कर्मोंमें प्रवृत्त है, उसे ही पापी कहा जाता है। किंतु सम्भव है, उसमें पूर्वजन्मकी सञ्चित कोई ऐसी सामग्री हो जिससे उसकी प्रवृत्ति भगवान्‌की ओर हो जाय।

प्र०-गीताजीमें कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
(९ । ३०)

इससे तो मालूम होता है कि पापी मनुष्य भी भजन कर सकता है।

उ०-जो भगवान्‌का भजन करता है, उसे पापी कैसे कह सकते हैं ? किंतु कहीं-कहीं ऐसा भी देखा जाता है कि किसी-किसी पापात्माकी भी भजनमें प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसा भगवान्‌की कृपासे ही होता है, जैसे कि सूरदासजी। ऐसा कोई नियम नहीं है कि पापी भजनमें प्रवृत्त हो ही नहीं। इस विषयमें मैंने एक घटना स्वयं देखी है। एक बार तारकेश्वरमें एक बड़ा धनी पुरुष आया था। वह बड़ा ही दुर्व्यसनी था। एक दिन वह मद्यपान कर रहा था। उसी समय उधरसे एक महात्मा निकले। उसने उन्हें बुलाकर कहा—'आओ एक प्याला पी लो।' महात्माजीने कहा—'अरे ! अब तो तेरी मृत्यु थोड़ी ही रह गयी है। क्या अभी इस दुर्व्यसनसे तेरी तृप्ति नहीं हुई ?' इतना कहकर महात्माजी तो चले गये, किंतु उसका चित्त उसी समयसे बदलने लगा। उसने शराबकी सारी बोतलें फोड़ डालीं। बस, वह घर लौट आया और भजन-ध्यानमें लग गया। वह पंद्रह दिनोंके लिये खाद्य-सामग्री रख लेता और घरके भीतर बंद रहकर भजन-ध्यानमें लगा रहता। कुछ दिन बाद उसकी धर्मपत्नी भी इसी प्रकार भजनमें संलग्न रहने लगी। इस प्रकार महात्माजीके एक क्षणके संसर्गसे ही उसका जीवन सर्वथा बदल गया।

प्र०-पाप होता कैसे है ?

उ०-संसारके चिन्तनसे।

प्र०-पाप दूर कैसे हो ?

उ०-भगवान्‌के चिन्तनसे।

प्र०-महाराजजी ! जो भक्ति नहीं करता, किंतु जिसके आचरण शुद्ध हैं और जो देशकी सेवा भी करता है वह

कैसा है ?

उ०-क्या यह भक्ति नहीं है ?

प्र०-नहीं, वह तो देशकी सेवा ही करता है।

उ०-क्या संसार भगवत्स्वरूप नहीं है ?

प्र०-किंतु यदि वह ईश्वरको मानता ही न हो, केवल देश-सेवा ही करता हो ?

उ०-जो ईश्वरको नहीं मानता, उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता। प्रत्येक प्राणीको भगवत्स्वरूप समझो। अच्युतभाववर्जित जो भी कर्म करोगे वह निष्फल ही होगा। अच्युतभावके बिना तो ज्ञान भी निष्फल है। आज-कल लोग ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो जाते हैं। इसीसे ईश्वरको नहीं मानते। जब यह मद उतर जाता है तो झट ईश्वरमें विश्वास हो जाता है।

× × × ×

१-जो भगवन्नाम लेगा वह शुभ कर्म अवश्य करेगा। यदि उसके कोई पूर्वके पाप होंगे तो वे सब भी भगवत्कृपासे छूट जायँगे।

२-भगवान् कल्पवृक्ष हैं। जो जिस इच्छासे उनके पास जाता है, उसे वही मिलता है। जीवकी स्वाभाविक चाह है कि मैं सदा सुखी रहूँ। वह जितना ही अधर्मसे (मायासे) डरेगा, उतना ही भगवत्सुख बढ़ेगा।

३-चराचर जगत् भगवान्‌से भिन्न नहीं है—ऐसा जानकर जो भगवान्‌का स्मरण करता है, वह सुखी है।

४-मौनसे लाभ तो अभ्यासी पुरुषको ही हो सकता है। जो अभ्यासी नहीं है, उसे मौनसे कोई लाभ नहीं हो सकता, वह तो मौन रहकर मनोराज्य ही करेगा, जिससे तमोगुणकी वृद्धि होगी। इसी प्रकार एकान्तसे भी निर्वासनिक पुरुषको ही लाभ हो सकता है। सामान्य मनुष्य तो एकान्तमें रहकर मनोराज्य ही करते हैं। उन्हें उससे कोई लाभ नहीं होता।

५-मजदूर दिनभर काम करता है तो भी उसे केवल पचास पैसे रोज मिलते हैं और एक कलक्टर प्रतिदिन दो घंटे काम करनेपर ही ढाई हजार रुपया मासिक वेतन पाता है। बड़े लोग थोड़े समयमें ही बहुत ऊँचा काम कर लेते हैं। इसी प्रकार जो सच्चे साधक होते हैं, उन्हें पाँच मिनटमें ही जो भजनानन्द मिलता है वह दूसरोंको दिनभर लगे रहनेपर भी नहीं मिलता। वे उतने ही समयमें एकदम प्रेममें मस्त हो जाते हैं।

६-जिसकी भजनमें आसक्ति नहीं है, उसे एकान्तमें नहीं रहना चाहिये। उसे सत्सङ्ग करना चाहिये। यदि सत्सङ्ग न मिले तो शास्त्रका ही सङ्ग करे।

७-जो भजन करते हुए यह चाहता है कि मुझे ज्वर न हो, कष्ट न हो, उसे भगवान् चौदह जन्मोंमें भी नहीं मिल सकते। दुःखोंको सहन करते हुए भगवान्‌का स्मरण करते चलो—इसीका नाम मुक्ति है। भगवच्चिन्तनमें जो आनन्द है वह तो समाधिमें भी नहीं है। एक दिन श्रीजी भगवान्‌को पंखा झल रही थीं। उस समय उन्हें अकस्मात् समाधि हो गयी और पंखा हाथसे गिर गया। जब चेत हुआ तो श्रीजीने कहा—'हमें ऐसी समाधि नहीं चाहिये, जो हमें सेवासे वञ्चित रखे।' सचमुच सेवाके आगे समाधि क्या चीज है ?

८-जबतक विषयका राग न छूटे, तबतक बराबर भजन, साधन एवं स्वाध्यायमें लगा रहे। यदि वृत्ति भगवदाकार रहने लगे तथा भजनमें राग न रहे तो फिर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। जिसे इष्टदेवका साक्षात्कार हो जाता है उसे कभी किसी भी अवस्थामें इष्टकी विस्मृति नहीं होती। इसीका नाम निष्ठा है। ऐसे निष्ठावान् व्यक्तिकी मस्तीका क्या कहना ?

९-भक्त और अभक्त दोनों ही भोजन करते हैं। किंतु भक्त तो शरीर-रक्षाकी दृष्टिसे भोजन करता है और अभक्त स्वादके लिये खाता हैं, यही दोनोंमें अन्तर है।

१०-आचार-भ्रष्ट पुरुषको भक्तिका उदय नहीं होता।

११-असात्त्विक आहार, ग्राम्य-कथा और ग्राम्य-भावनाओंको त्यागनेसे भक्तिका उदय होता है।

[श्रीउड़िया बाबाजीके उपदेशसे उद्धृत]

मनुष्यके बन्ध और मोक्षका कारण मन है, विषयासक्त मनसे बन्धन होता है और विषयवृत्ति-रहित मनसे मुक्ति। अतएव मुक्तिकी चाह करनेवाले मनको सदा विषयोंसे रहित रखें। विषयसङ्गसे छूटा हुआ मन जब उन्मनीभावको प्राप्त होता है, तब परमपदकी प्राप्ति होती है।—उपनिषद्

स्त्रीकी शिक्षा

(श्रीरामनाथजी)

एक नयी स्त्री, जो घरमें आती है, बहुत सँभालकर रखने और बर्तनेकी चीज है। घरके, कुटुम्बके और समाजके अनुकूल उसे तैयार करनेका काम कुछ हँसी-खेल नहीं है, पर इसे पूरा किये बिना दाम्पत्य-जीवनमें सुख पानेकी आशा करना केवल नासमझी है। दाम्पत्य-जीवनके सुख और शान्तिके लिये स्त्रीका शिक्षण बहुत आवश्यक है। परंतु शिक्षासे मेरा अभिप्राय अक्षर-ज्ञान या किताबी शिक्षासे नहीं है। स्कूलों और कालेजोंमें लड़कियोंको जो शिक्षा दी जाती है, वह जिंदगीकी जरूरतोंकी तरफ बिना ध्यान दिये दी जाती है। आठ-दस साल या इससे भी ज्यादा समय हम शिक्षणमें खर्च करते हैं। पर कैसे अफसोसकी बात है कि आगे जीवनमें इस शिक्षाका बहुत कम उपयोग हो पाता है। हमारी जिंदगीका एक बहुत कीमती टुकड़ा यों ही बीत जाता है। हमारी मेहनत प्रायः व्यर्थ जाती है। इस तरहकी शिक्षा उस पूँजीनिवेश या रुपया लगानेकी तरह है जिसका अच्छा बदला मिलना तो दूर रहा, जो खुद ही डूब जाता है।

कन्या-पाठशालाओंमें और घरोंपर भी, आज लाखों लड़कियाँ पढ़ रही हैं। हर साल हजारों लड़कियाँ हाईस्कूलकी परीक्षामें सफल होकर निकलती हैं और जिनको ईश्वरने साधन दिये हैं, वे कालेजोंमें भी जाती हैं। पर उच्चशिक्षित लड़कियोंमेंसे कितनी ऐसी हैं, जिनका विवाहित जीवन सफल कहा जा सकता है, जिनके जीवनमें अतृप्ति नहीं है, अशान्ति नहीं है और जो अपनी पिछली जिंदगीपर सहानुभूतिकी नजर डाल सकती हैं, अपने वर्तमानसे संतुष्ट हैं और भविष्यकी तरफ आशापूर्ण दृष्टिसे देखती हैं ? जो कुछ देखनेमें आता है, वह ठीक इसका उलटा है। यह सच है कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ इससे इनकार करेंगी, शिक्षित समुदाय इसपर प्रश्नचिह्न लगायेगा, पर इसका कारण यह है कि आधुनिक शिक्षाने हमें आत्मवञ्चनाकी कलामें पारङ्गत कर दिया है। जब हम घुट-घुटकर मर रहे हों तब भी लोगोंसे यही कहना पसंद करते हैं कि कुछ नहीं हुआ है—हम मजेमें हैं। आबरू और इज्जतकी एक झूठी धारणा सत्यपर पर्देकी तरह पड़ी हुई है। फिर शिक्षित लड़कियाँ बोलना जानती हैं—अनेक प्रकारकी विचारधाराओंसे अपने मनके असली भावोंको और स्थितियोंको छिपा भी सकती हैं, छिपाती हैं।

यह नहीं कि जो शिक्षा उनको मिली है, वह तत्त्वतः बुरी है। उसमें अच्छाइयाँ हैं, उसमें कल्पनाशक्ति और बुद्धिके विकासकी सम्भावना है। जो चीज बुरी है, वह है उसका गलत प्रयोग। भावी जीवनके उपयोगका ख्याल किये बिना शिक्षाका प्रयोग करना नादानी है। और सबको एक ही साँचेकी शिक्षा देना भी ठीक नहीं। शिक्षित लड़कियाँ इसीलिये गृहजीवनमें अपनी विद्याका कुछ विशेष उपयोग नहीं कर पातीं, क्योंकि शिक्षा देते समय उनके भावी जीवनका कुछ विचार ही शिक्षकोंके मनमें अथवा पाठ्यक्रम बनानेवालोंके सामने नहीं होता।

इसलिये जब मैं यह कह रहा हूँ कि दाम्पत्य-जीवनके सुखके लिये स्त्रीकी शिक्षा बहुत जरूरी है, तब मैं अक्षरज्ञान या किताबी ज्ञानकी बात नहीं कर रहा हूँ। मेरा मतलब उस ट्रेनिंग अथवा तैयारीसे है, जो स्त्रीके लिये दाम्पत्य-जीवनमें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान समझने और उस स्थानकी जिम्मेदारी ठीक तौरपर निबाहनेके लिये जरूरी है।

सबसे पहली बात, जो स्त्रीको समझाने और उसके अंदर पैदा करनेकी जरूरत है वह यह है कि वह सहिष्णु हो, सहनशील हो। सपनोंके पंखोंपर उड़नेवाली नारी काव्यकी दुनियाकी भले ही रानी हो, दाम्पत्य-जीवनमें उसका महत्त्व कुछ भी नहीं है—उलटे वह उसके लिये एक अभिशाप है। जीवनमें दुःख-सुख लगे ही रहते हैं, जहाँ चार आदमी रहते हैं, वहाँ कभी-कभी कुछ खट-पट भी हो जाती है। कुटुम्बमें सभी तरहके लोग होते हैं। स्त्रीको इन सबसे बर्तना पड़ता है। इसके अलावा भी कभी माँदगी (अस्वस्थता) है, कभी कोई काम-परोजन है, कभी कुछ और सिलसिला है। किसीका आना लगा है, किसीका जाना। जन्म-मरण, शादी, त्योहार-व्रत—मतलब कुछ-न-कुछ लगा ही रहता है। नन्ही-सी जान, उसे चारों तरफ पिलना पड़ता है, सभी उसे खींचते हैं। सभीकी दिलजोई उसे करनी पड़ती है, सबकी बात सुननी पड़ती है। ऐसी लगातार मेहनत और चिन्ताकी जिंदगीमें केवल भावनाओंके बलपर कोई स्त्री ज्यादा दिन नहीं ठहर सकती। भावुक नारीको ऐसी जिंदगीमें

रोना-ही-रोना आता है। उसे अपने उषा-से सुनहले बचपनके दिन याद आते हैं, उसे माँका दुलार और पिताका स्नेह याद आता है। उसे अपनी सहेलियोंकी चुहलबाजियाँ और ठिठोलियाँ याद आती हैं और फिर वह सोचती है—कैसे-कैसे अरमान लेकर मैं आयी थी। मुझे कहना चाहिये कि ऐसी स्त्री ब्याह करके कभी सुखी नहीं हो सकती। सुखी वह स्त्री हो सकती है जो अपने भूतकालको—अपने बीते जमानेको भूल जाती है और कल्पनाओंको छोड़कर जो कुछ उसके सामने है उसीके सहारे, सचाईके साथ अपनी गृहस्थीका निर्माण करनेमें लग जाती है। जो था या जो हो सकता था, इसकी कल्पनाको समझदार स्त्री दूर कर देती है। जो नहीं है, उसपर दुखी होनेकी जगह जो है उसे लेकर, उसका संस्कार और विकास करके एक सुखी और तृप्त जीवनकी रचना करनेमें तत्पर नारी विवाहित जीवनकी देवी है।

स्त्रीको सहिष्णुताकी, सहनशीलताकी शिक्षा देना माता-पिताका भी और उससे ज्यादा पतिका पहला कर्तव्य है। विवाहित जीवनमें संतोष और क्षमाकी वृत्ति वह कवच है, जिसपर विपदाओंके अनेक प्रहार विफल हो जाते हैं। दूसरी बात नारीमें उदार हृदयताका विकास करना है। परिस्थिति, वातावरण, संस्कार और घरके प्राणियोंतक ही सहानुभूतिके संकुचित हो जानेके कारण उदार माताओंका समाजसे लोप होता जा रहा है। प्रायः नारी अनुदार और संकुचित हो जाती है। उसकी संकुचितताको दूरकर उसके अंदर उदार हृदय पैदा करना पतिका काम है। केवल जबानी उपदेश देनेसे यह नहीं होगा। जबतक पति स्वयं अपने आचरणसे इस प्रकारकी शिक्षा न देगा, तबतक उसका कुछ विशेष फल न होगा। पतिको समझना चाहिये कि गृह स्वयं एक छोटा समाज है। नारी इस समाजकी रानी है। यद्यपि उसका हृदय पतिमें केन्द्रित है, पर उसे देखना सबकी तरफ है। पतिके प्रेम और उसके प्रति श्रद्धासे वह बल ग्रहण करती है, वही उसका कवच है। परंतु वह केवल रमणी नहीं है, वह बेटी है, वह पत्नी है, वह माता है, वह बहन है। उसे केन्द्रके चारों ओर फैले हुए अनेक बिन्दुओंका पोषण करना है। सास और ससुर उससे सेवा चाहते हैं—वे चाहते हैं, लक्ष्मी-सी एक बहू आकर उनके घरके सब अभावोंको पूरा कर दे। बहूको अपनी विनय, अपनी सरलता और अपने प्रेमसे उनके हृदयके उस खाली स्थानको भर देना है, जो उनकी अपनी लड़कियोंके ससुराल चले जानेसे पैदा हो गया है। उसे ऐसा बनना है कि देवरानियाँ उसे पाकर समझें कि उनकी बड़ी बहन आ गयी है। ननदें फूल-सी खिल उठें। पति आश्वस्त होकर प्रभुको धन्यवाद दे कि उसके पुण्यका फल उदय हुआ है और बच्चे उसे पाकर अपना सब कुछ भूल जायँ। मतलब उसे सबकी जरूरतोंकी आगाही रखनी है और सबको संतुष्ट और सुखी करनेका यत्न करना है। एक साथ उसे कई तरहकी सेवाएँ देनी पड़ती हैं और यही उसकी जिंदगीकी सबसे कठिन परीक्षा ली जाती है।

प्रफुल्लताको भी यों हम सहनशीलता और उदार-हृदयताके अंदर ही शामिल कर सकते हैं। पर असलमें यह चीज गृहस्थजीवनकी सफलताके लिये सबसे जरूरी है। दुःख-सुख जो आ पड़े, उसे हँसते हुए सहन करना सफल जीवनकी कुंजी है। इस ज्वारमें सब मैल बह जाती है और वर्षाकी दोपहरीमें बादलोंको फाड़कर निकल पड़नेवाले सूर्य-प्रकाशकी तरह दुर्दिन बीत जाते हैं और सौभाग्य हँस उठता है। यदि सचाई और ईमानदारीसे अभ्यास कराया जाय तो इस गुणको प्राप्त कर लेना कुछ बहुत कठिन भी नहीं है। अभ्याससे यह सुलभ है।

स्त्रियोंका जीवन एक प्रकारका ज्वार-भाटा है। कभी उसमें तूफान आता है, वे लहरोंपर नाचती फिरती हैं, भावनाओंकी दुनियामें उड़ती हैं और फिर क्षणभर बाद भावनाकी ये लहरें उन्हें सूखी रेतके निकट छोड़ जाती हैं। इसलिये स्त्रीको यह भी बताना चाहिये कि जीवन कठोर कर्मक्षेत्र है। इसमें पग-पगपर युद्ध करना है, काँटोंके रास्तेपर चलना है। धीरज सबसे बड़ा मित्र है और उस समय भी सहायता करता है, जब अपने सब लोग उसे छोड़ देते हैं। इसीलिये जीवनमें आवश्यक गम्भीरता और धीरजकी वृति भी होनी चाहिये।

सबसे बड़ी बात नारीके लिये यह है कि उसे अपने मातृत्वके गौरवका बोध हो, वह समझे कि वह माँ है, वह समाजकी माता है। इसलिये स्वभावतः उसे कष्ट भी अपनी पद-मर्यादाके अनुकूल ही सहन करना है। कोई ऐसी सामान्य नारी नहीं है, जिसका हृदय 'माँ' की पुकारपर उमड़ता नहीं।

यह एक शब्द—एक सम्बोधन उसके अंदर युग-युगसे संचित हो रही भावराशिको उभाड़ देता है। हृदयकी गहराईसे वह उस शब्दका उत्तर देना चाहती है। जो नारी अपने इस गौरवको समझती है, वह कुटुम्बका कोई भी काम करते समय कठिनाइयों और बोझके कारण अधीर नहीं होती। क्योंकि वह माँ है—उसको तो देना-ही-देना है। उसको तो तिल-तिल करके अपनेको खपाना ही है। उसे तो अपने रक्त-मांससे संतति और समाजकी रचना करनी है। उसका दान कभी समाप्त नहीं होता। वह समाजकी चिरजाग्रत् यज्ञवेदिका है।

ऐसी स्त्री कामोंकी भीड़में नाक-भौं नहीं सिकोड़ती। उसे हर काममें एक स्वाद आता है। हर काममें वह निजत्वका बोध करती है। हँसते-हँसते वह दिनोंका काम घंटोंमें पूरा कर लेती है। उसके लिये पहाड़-से दिन फूल हो जाते हैं।

इसके विरुद्ध जो स्त्रियाँ अपने आन्तरिक गौरवका अनुभव नहीं करतीं, वे सदा अपने कष्टोंका रोना रोती हैं। उनके दुखड़ेका रजिस्टर कभी बंद नहीं होता। जब पति एक गिलास ठंडा पानी माँगता है, तब वह बड़े आलस्य और कष्टका भाव जनाती हुई उठती है, जल्दी करनेको कहनेपर कहती है 'तुम तो हथेलीपर सरसो उगाना चाहते हो—कुछ मेरे अंदर बिजली तो है नहीं कि झट् पहुँच गयी।' बच्चे आकर मान करते हैं—घेरते हैं, गलेमें हाथ डालते हैं या चारों ओर किलकारियाँ मारते हैं, तो वह कहती है—'बाप रे बाप! आसमान सिरपर उठा लिया।' वह हर कामको दासी—मजदूरनीकी तरह करती है। किसी कामको करते समय उसके हृदयमें उत्साह या प्रसन्नता नहीं होती—स्फूर्ति नहीं होती। अगर वह अपनेको गृहलक्ष्मी और माता समझती तो सचमुच उसके शरीरमें बिजली कौंधती होती। प्रेम वह रसायन है जो जीवनको कभी न मरनेवाली शक्तिसे भर देता है। उसीके सहारे जीवनकी कठिनाइयाँ बात-की-बातमें पार हो जाती हैं। मन, प्राण, शरीर—सब उस जीवनी-शक्तिसे पूर्ण रहते हैं, जो कामोंके बीच अपूर्व उल्लासका अनुभव करती है।

यदि नारीके हृदयमें धर्मका भाव है, श्रद्धा है, पतिके प्रति सच्चा प्रेम है तो वह प्रत्येक कामको दिल लगाकर और ईमानदारीसे करती है। सेवामें ही उसका प्रेम बढ़ता और व्यक्त होता है। उसीमें उसका संस्कार होता है और उसीको पाकर वह तृप्ति-बोध करती है।

इसलिये प्रत्येक पतिका धर्म है कि वह सच्चे गृहस्थ-जीवनके निर्माणके लिये स्त्रीको उचित शिक्षा दे और स्वयं तदनुकूल आचरण करके उसके साथ-साथ उसे प्रति-पगपर आश्वस्त करते हुए, उसे सदैव अपने प्रेम और विश्वासकी छायामें रखते हुए चले। इससे गृहस्थजीवन स्वर्ग बन जायगा और प्राणोंमें अमृतका झरना बहने लगेगा।

भक्तकी भावना

(१)

रावरे दरस बिनु बावरे भये हैं, केती,
भाव रेख हिय भौन भीतर दुराये हैं।
रहि ना सकीं सो जल-मोतिनकी माल बनी,
नैनन सों पाये प्रेम थाल मैं सजाये हैं॥
बेर-बेर टेरत अबेर भई नाये सीस,
ऐसी कौन चूक ईस छमत भुलाये हैं।
प्रानपति प्यारे प्रभु कृपया पधारो, परे,
पाँवरे पलक पथ लोचन बिछाये हैं॥

(२)

लाख अभिलाखन मैं एक ही गही है आजु,
निबलके बल टूटै केवल न प्रेम डोर।
जीवन निसामें सपने ही सुधि आये नाथ,
आनँद विभोर जब होत तब होत भोर॥
मोर पच्छ धारे हौ तो मोर पच्छ धारौ नाथ,
नन्दके किसोर क्यों न करत कृपाकी कोर।
बिपति बचै न अब चैन है न एक छन,
नेह भरे नैन नेकु कीजिये हमारी ओर॥

—जगदीशप्रसाद गुप्त 'जगदीश'

भक्त-गाथा —

भक्त-परिवार

भक्त लाखाजी जातिके गौड़ ब्राह्मण थे। राजपूतानेके एक छोटे-से गाँवमें उनका घर था। लाखाजी विशेष पढ़े तो नहीं थे, परंतु विष्णुसहस्रनाम और गीता उन्हें कण्ठस्थ थे तथा भगवान्में उनका अटूट विश्वास था। खेतीका काम करते थे। इनकी स्त्री खेमाबाई बड़ी साध्वी और पतिव्रता थी। घरका सारा काम तो करती ही, खेतीके काममें पतिकी पूरी सहायता करती थी और पतिकी सेवा किये बिना तो उसका नित्यका व्रत ही पूरा नहीं होता था। वह नित्य प्रातःकाल स्नान करके पतिके दाहिने चरणके अँगूठेको धोकर पीती। लाखाजीको संकोच होता, वे रोकते भी, परंतु खेमाबाईके आग्रहके सामने उनकी कुछ भी न चलती। उनके दो संतानें थीं—एक पुत्र दूसरी कन्या। पुत्रका नाम था देवा और कन्याका गंगाबाई। पुत्रके विवाहकी तो जल्दी नहीं थी, परंतु धर्मभीरु ब्राह्मणको कन्याके विवाहकी बड़ी चिन्ता थी। चेष्टा करते-करते समीपके ही एक गाँवमें योग्य वर मिल गया। वरके पिता संतोषी ब्राह्मण थे। सम्बन्ध हो गया और समयपर लाखाजीने बड़े चावसे अपनी कन्या गंगाबाईका विवाह करके उसे ससुराल भेज दिया। इस समय गंगाबाईकी उम्र बारह वर्षकी थी। देवा उम्रमें बड़ा था, परंतु उसका विवाह कन्याके विवाहके दो साल पीछे किया गया। बहू घरमें आयी। बहूका नाम था लिछमी। वह स्वभावमें साक्षात् लक्ष्मी ही थी। इस प्रकार लाखाजी सब तरहसे सुखी थे। लाखाजीका नियम था—रोज सबेरे गीताजीका एक पूरा पाठ करना और रातको सोनेसे पहले-पहले विष्णुसहस्रनामके पचास पाठ कर लेना। उनके मुखसे पाठ होता रहता और हाथोंसे काम! यह नियम, जब वे दस वर्षके थे, तभीसे पिताने दिलाया था, जो जीवनभर अखण्ड-रूपसे चला। इसी नियमने उनको भगवद्विश्वासरूपी परम निधि प्रदान की।

दिन सदा एक-से नहीं रहते। न मालूम प्रारब्धके किस संयोगसे कैसे दिन बदल जाते हैं। लाखाजीके जामाताको साँप काट गया और विधिके विधानवश पचीस वर्षकी युवावस्थामें वह अपनी बाईस वर्षकी पत्नी और माता-पिताको छोड़कर चल बसा। जब लाखाजीको यह समाचार मिला, तब उन्होंने बड़े धीरजके साथ अपनी स्त्री खेमाबाई और पुत्र तथा पुत्रवधूको अपने पास बुलाकर कहा—'देखो, संसारकी दृष्टिसे हमलोगोंके लिये यह बड़े ही दुःखकी बात हुई है। दुःख इस बातका इतना नहीं है कि जवाँई मर गये! जीवन-मरण सब प्रारब्धाधीन है, इसे कोई टाल नहीं सकता। दुःख तो इस बातका है कि गंगाबाईका जीवन दुःखरूप हो गया। यदि हमलोग अपने व्यवहार-बर्तावसे गंगाबाईका दुःख मिटा सकें तो हमारा सारा दुःख दूर हो जाय। उसके दुःख दूर होनेका उपाय यह है कि उसको हम यहाँ ले आयें और हमलोग स्वयं विषय-भोगोंका त्याग करके उसे श्रीभगवान्की सेवामें लगानेका प्रयत्न करें। भोगोंकी प्राप्तिसे दुःखोंका नाश नहीं होता, न भोगोंके नाशमें ही वस्तुतः दुःख है। दुःखके कारण तो हमारे मनके मनोरथ हैं। एक भी भोग न रहे, अति आवश्यक चीजोंका भी अभाव हो, परंतु मन यदि अभावका अनुभव न करके सदा संतुष्ट रहे, उसमें मनोरथ न उठें तो कोई भी दुःख नहीं रहेगा। इसी प्रकार भोगोंकी प्रचुर प्राप्ति होनेपर भी जबतक किसी वस्तुके अभावका अनुभव होता है और उसको प्राप्त करनेकी कामना रहती है, तबतक दुःख नहीं मिट सकते। यदि हमलोग चेष्टा करके गंगाबाईके मनसे उसके पतिके अभावको भुला दे सकें और उसकी सदा भावरूप परमपति भगवान्के चरणोंमें आसक्ति उत्पन्न कर सकें तो वह सुखी हो सकती है। यद्यपि यहाँके सारे सम्बन्ध इस शरीरको लेकर ही हैं, तथापि जबतक सम्बन्ध हैं, तबतक हमलोगोंको परस्पर ऐसा बर्ताव करना चाहिये, जिससे हमारे मन भोगोंसे हटकर भगवान्में लगें और हमें परम कल्याणरूप श्रीभगवान्की प्राप्ति हो। हित करनेवाले सच्चे माता-पिता, पुत्र-भाई, स्त्री-स्वामी वही हैं, जो अपनी संतानको, माता-पिताको, भाई-बहनोंको, स्वामीको और पत्नीको अनन्त क्लेशरूप जगज्जालसे छुड़ाकर अचिन्त्य आनन्दस्वरूप भगवान्के पथपर चढ़ा देते हैं। हमलोगोंको भी यही चाहिये कि हम शोक छोड़कर नित्य शोकरूप संसार-सागरसे गंगाबाईको पार लगानेका प्रयत्न करें।'

लाखाजीकी स्त्री, उनके पुत्र देवा तथा पुत्रवधू सभीका लाखाजीके वचनोंपर पूरा विश्वास था। वे सब प्रकारसे उनके

अनुगत थे। अतः लाखाजीके इन वचनोंका उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने कहा—'आप गंगाबाईको यहाँ ले आइये, हमलोग आपकी आज्ञानुसार भोगोंका त्याग करके उसे भगवान्‌के मार्गपर ही लगायेंगे। इसमें हमारा-उसका सभीका परम कल्याण होगा।'

लाखाजी समधीके घर गये और वहाँका दृश्य देखकर चकित रह गये। उन्होंने देखा—गंगाबाई अपने सास-ससुरको संसारकी क्षणभङ्गुरता और मिथ्या सम्बन्धका रहस्य समझाकर उन्हें सान्त्वना दे रही है और वे उसकी बात मानकर रोना छोड़कर भगवान्‌के नामका कीर्तन कर रहे हैं। अपनी पुत्रीकी यह स्थिति देखकर लाखाजीको दुःखमें सुख हो गया। उन्हें मानो जहरसे अमृत मिल गया। वे समधीसे मिले, उन्हें देखकर शोक-सागर उमड़ा, परंतु गंगाबाईके उपदेशोंकी स्मृति आते ही तुरंत शान्त हो गया। समधीने लाखाजीसे कहा—'लाखाजी! आप धन्य हैं जो आपके घर ऐसी साध्वी कन्या उत्पन्न हुई। आप जानते हैं—युवा पुत्रकी मृत्युका शोक कितना भयानक होता है, स्त्रीके लिये तो पतिका वियोग सर्वथा असह्य है, परंतु धन्य है आपकी पुत्रीको, जिसने विवेकके द्वारा स्वयं तो पतिवियोगका दुःख सह ही लिया, हमलोगोंको भी ऐसा उपदेश दिया कि हमारा दारुण पुत्र-शोक दूर हो गया। हम समझ गये—जगत्‌के ये सारे सम्बन्ध आरोपित हैं। जैसे किसी खेलमें अलग-अलग स्वाँग धरकर लोग आते हैं और अपना-अपना खेल पूरा करके चले जाते हैं, वैसे ही इस संसाररूपी खेलमें हमलोग आते हैं, सम्बन्ध जोड़ते हैं और खेल पूरा होते ही चले जाते हैं। यहाँ कोई किसीका पुत्र या पिता नहीं है। एकमात्र परमात्मा ही सबके परम पिता हैं। हम सबको उन्हींकी आराधना करनी चाहिये। आप आ गये हैं—अपनी इस साध्वी कन्याको आप अपने घर ले जाइये। हम दोनों स्त्री-पुरुष पुष्करराज जाकर भगवद्भजनमें ही शेष जीवन बिताना चाहते हैं। आपकी पुत्री हमारे साथ जानेका आग्रह करती है, परंतु हमारे मनमें भगवान् ऐसी ही प्रेरणा करते हैं कि वह आपके ही पास रहे। हाँ, इतना हम जरूर चाहते हैं कि वह अपनी भावनासे हमारा कल्याण करती रहे। आप जाइये, हमलोग आपके बड़े ही कृतज्ञ हैं, क्योंकि आपकी पुत्रीने ही हमारी आँखें खोली हैं और हमें वैराग्य-विवेकका परम धन देकर भगवान्‌की अव्यभिचारिणी भक्ति प्रदान की है।'

लाखाजी समधीके वचन सुनकर अचरजमें डूब गये। उन्हें अपना विवेक-वैराग्य इनके सामने फीका जान पड़ने लगा। वे जामाताकी मृत्युके शोकको भूल गये और अपनी पुत्री तथा समधी-समधिनको जैसी स्थिति प्राप्त कराना चाहते थे, उससे भी कहीं अधिक उनकी ऊँची स्थिति देखकर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने समधी-समधिनको हर्षके साथ पुष्करराज भेज दिया। उनके निर्वाहके लिये घरमें जो कुछ था, सब बेचकर नगद रुपये उन्हें दे दिये और गंगाबाईको साथ लेकर घरकी ओर प्रस्थान किया।

गंगाबाईको प्रसन्नचित्त देखकर लाखाजीने पूछा—'बेटी! तेरी ऐसी अनोखी हालत देखकर मैं अचरजमें डूब रहा हूँ। मैं तरह-तरहके विचार करता आया था कि तुझे कैसे समझाकर धीरज बँधाऊँगा, परंतु तेरी स्थिति देखकर तो मैं चकित हो गया। बता बेटी! तुझे ऐसा ज्ञान कहाँसे और कैसे प्राप्त हुआ?' गंगाबाईने कहा—'पिताजी! यह सारा आपकी भक्ति तथा भजनका प्रताप है। आप जो रोज पूरी गीता और विष्णुसहस्रनामके पचास पाठ करते हैं, उन्हींके प्रतापसे भगवान्‌ने मुझको विश्वास प्रदान किया और अपनी कृपाके दर्शन कराये। आपकी कृपासे भैया और मैं—हम दोनोंने भी विष्णुसहस्रनाम कण्ठस्थ कर लिया था। यहाँ आकर मैं जहाँतक मुझसे बनता, निरन्तर मन-ही-मन विष्णुसहस्रनामके पाठ किया करती। आपके जामाताकी मृत्युके तीन दिन पहले भगवान्‌ने मुझको स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'बेटी! तेरे पतिकी आयु पूरी हो चुकी है, वह मेरा भक्त है। तेरे साथ कोई पूर्वसम्बन्धका संयोग शेष था, इसीसे उसने जन्म लिया था। अब इसे तीन दिन बाद साँप डँसेगा, उस समय तू इसे मेरा सहस्रनाम और गीता सुनाती रहना। ऐसा करनेसे इसका कल्याण हो जायगा और यह मेरे धामको प्राप्त होगा। मैं तुझे वरदान देता हूँ तुझे शोक नहीं होगा। तुझे सच्चा वैराग्य और ज्ञान प्राप्त होगा। तेरे उपदेशसे तेरे सास-ससुर भी कल्याण-पथके पथिक होकर अन्तमें मुझको प्राप्त करेंगे और तू जीवनभर मेरी भक्ति करती हुई अपने पिता-माता तथा भाई-भौजाईके सहित मेरे परमधामको प्राप्त होगी।'

पिताजी! इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। मैं

जाग पड़ी। मानो उसी समयसे मुझे ज्ञानका परम प्रकाश मिल गया। मैं सारे शोक-मोहसे छूटकर पतिके कल्याणमें लग गयी। मैंने व्रत धारण किया और रातों-रात जागकर पतिदेवताको गीता और सहस्रनाम सुनाती रही। तीसरे दिन पतिदेव स्नान करके तुलसीजीमें जल दे रहे थे। मैं उनके पास खड़ी सहस्रनामका पाठ कर रही थी, वे भी श्रीभगवान्‌का नाम ले रहे थे। इसी समय अचानक एक कालसर्पने आकर उनके पैरको डँस लिया और देखते-ही-देखते उनका ब्रह्माण्ड फटा तथा उनके प्राणपखेरू उड़ गये। अन्तिम श्वासमें मैंने सुना—उनके मुखसे 'हे नारायण' नाम निकला और उनके कानमें विष्णुसहस्रनामके **'माधवो भक्तवत्सलः'** नामोंने प्रवेश किया। उनकी आँखें खुल गयीं, मैंने देखा श्रीभगवान् चतुर्भुज-रूपमें उनकी आँखोंके सामने विराजित हैं। पिताजी! पतिदेवकी इस मृत्युने मेरे मनमें भगवद्विश्वासका समुद्र लहरा दिया, अब मैं तो उसीमें डूब रही हूँ। आप मेरी सहायता कीजिये, जिससे मैं सदा इसीमें डूबी रहूँ। आपलोग मेरा साथ तो देंगे ही।

लाखाजी पुण्यमयी गंगाकी पुण्यपूर्ण वाणी सुनकर गद्गद हो गये, उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसू बह चले। पिता-पुत्री घर आये। माता और भाई-भौजाईसे मिलकर गंगाबाईने उलटी उन्हें सान्त्वना दी। लाखाजी और खेमाबाई तो उसी दिनसे विरक्त-से होकर समस्त दिन-रात भगवद्भजनमें बिताने लगे। घरकी सारी सँभाल गंगाबाई करने लगी। भाई-भौजाई प्रत्येक काम उसकी आज्ञा लेकर करते। वह घरकी मालकिन थी और थी भाई-भौजाईको परमार्थपथमें राह दिखाकर—विघ्नोंसे बचाकर ले जानेवाली चतुर पथ-प्रदर्शिका। भाई देवाजी और भाभी लिछमी दोनों गंगाबाईकी आज्ञाके अनुसार पिता-माताकी सेवा करते, गंगाबाईकी सेवा करते और सब समय भगवान्‌का स्मरण करते हुए भगवत्सेवाके भावसे ही घरका सारा काम करते। उन्होंने भोगोंका त्याग कर दिया था और वे पूर्णरूपसे सादा-सीधा संयमपूर्ण जीवन बिताते थे। उनका घर संतोंका पावन आश्रम बन गया था। दैवी सम्पदाके गुण सबमें स्वभावसिद्ध हो गये थे। घरमें दोनों समय भगवान् बालकृष्णकी पूजा होती थी और उन्हें भोग लगाकर सब लोग प्रसाद पाते थे। इस प्रकार सबका जीवन पवित्र हो गया। लगभग पचीस वर्ष बाद लाखाजी और खेमाबाईने एक ही दिन श्रीभगवान्‌का नाम जपते हुए भगवान्‌की मूर्तिके सामने ही शरीर त्याग दिये। देवाजीने उनका शास्त्रोक्त रीतिसे अन्त्येष्टि-संस्कार तथा श्राद्ध किया। पुत्र, पुत्रवधू और कन्याने उनके लिये तीन हजार विष्णुसहस्रनामके पाठ किये।

माता-पिताकी मृत्युके बाद बहन, भाई-भौजाई—तीनों भगवान्‌के भजनमें लग गये। भाई-भौजाईके विशेष अनुरोध करनेपर एक दिन गंगाबाईने भगवान्‌से प्रकट होकर दर्शन देनेकी प्रार्थना की। भगवान्‌ने प्रार्थना सुनी और प्रत्यक्ष प्रकट होकर तीनों भक्तोंको अपने दिव्य रूपके दर्शन कराये। वे तीनों भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये और भगवत्सेवामें ही अपना शेष जीवन लगाकर अन्तमें भगवान्‌के परमधामको चले गये।

◆

उपनिषद्-वाणी

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

समस्त प्राणियोंमें स्थित एक देव है; वह सर्वव्यापक, समस्त भूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, समस्त प्राणियोंमें बसा हुआ, सबका साक्षी, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला, शुद्ध और निर्गुण है।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

जो नित्योंमें नित्य, चेतनोंमें चेतन और अकेला ही बहुतोंको भोग प्रदान करता है, सांख्ययोगद्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारण देवको जानकर पुरुष समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। (श्वेताश्वतरोपनिषद्)

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें त्यागका स्वरूप

बाह्यव्यक्तिपदार्थानां न त्यागस्त्याग उच्यते।
कामादीनां परित्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

त्यागके विषयमें प्रायः लोगोंकी ऐसी धारणा बनी हुई है कि जो घर-परिवार, स्त्री-पुत्र, माता-पिता आदिको छोड़कर साधु-संन्यासी हो जाते हैं, वे त्यागी हैं। परंतु वास्तवमें यह त्याग नहीं है; क्योंकि जबतक अन्तःकरणमें सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिमें राग है, प्रियता है, उनका महत्त्व है, तबतक बाहरसे घर-परिवार, गृहस्थको छोड़नेपर भी त्याग नहीं होता। अगर बाहरसे घर-परिवार छोड़नेमात्रसे त्याग हो जाता तो फिर सब मरनेवालोंका कल्याण हो जाना चाहिये; क्योंकि वे अपने घर-परिवारको और खास अपने कहलानेवाले शरीरको भी छोड़ देते हैं! परंतु उनका कल्याण नहीं होता; क्योंकि उन्होंने सांसारिक राग, आसक्ति, ममता आदिका त्याग नहीं किया, प्रत्युत इनके रहते हुए उनको मरना पड़ा।

जो चीज अपनी नहीं होती, उसका भी त्याग नहीं होता और जो अपना स्वरूप है, उसका भी त्याग नहीं होता; जैसे—अग्नि अपनी दाहिका और प्रकाशिका शक्तिका त्याग नहीं कर सकती; क्योंकि दाहिका और प्रकाशिका शक्ति अग्निका स्वरूप है। फिर त्याग किसका होता है? जो चीज अपनी नहीं है, उसको अपना मान लिया—इस झूठी मान्यताका, बेईमानीका ही त्याग होता है। जिसके साथ अपना सम्बन्ध कभी था नहीं, अभी है नहीं, आगे होगा नहीं और कभी हो सकता भी नहीं तथा बिना त्याग किये ही जिसका प्रतिक्षण हमारेसे सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है, उसके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करना ही वास्तविक त्याग है। तात्पर्य है कि वस्तु आदिका अभाव नहीं करना है, प्रत्युत उन वस्तुओंसे जो सम्बन्ध मान रखा है, उनमें जो आसक्ति, ममता कर रखी है, उसका त्याग करना है। यह त्याग ही वास्तविक त्याग है, जिससे तत्काल शान्ति मिलती है,—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (१२। १२)।

त्यागके विषयमें मुख्य बात है कि संसारमें केवल संसारके लिये ही रहना है, अपने लिये नहीं। सात्त्विक त्यागका स्वरूप बताते हुए भगवान् कहते हैं कि केवल कर्तव्यमात्र करना है, पर उसमें आसक्ति, ममता, फलेच्छा न हो। आसक्ति आदि न होनेसे शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है (१८। ९)। कर्तव्यका पालन करनेमें कष्ट होता है, परिश्रम होता है, आराम नहीं मिलता—ऐसा समझकर अर्थात् शारीरिक कष्टके भयसे कर्तव्यका त्याग किया जाय तो वह राजस त्याग होता है। राजस त्यागसे शान्ति नहीं मिलती (१८। ८)। मोहके कारण, बिना विचार किये कर्तव्यका, क्रियाओंका, पदार्थोंका त्याग किया जाय तो वह तामस त्याग होता है (१८। ७)। तामस त्याग मनुष्यको प्रमाद और आलस्यमें लगाता है, जिससे उसकी अधोगति होती है।

साधक वही होता है, जो त्यागी होता है अर्थात् जो संसारको देता-ही-देता है, लेता है ही नहीं। वह लेता है, तो भी देता है और देता है, तो भी देता है अर्थात् वह अन्न-जल, वस्त्र आदि लेता है तो दुनियाके हितके लिये ही लेता है और अन्न-जल आदि देता है तो दुनियाके हितके लिये ही देता है। ऐसे ही वह चुपचाप बैठा रहता है, कुछ भी नहीं करता, तो भी वह देता है; क्योंकि उसके जीनेमात्रसे, दर्शनमात्रसे दुनियाका स्वतः हित होता है। उसका शरीर न रहनेके बाद भी उसके भावोंसे उसके आचरणोंको पढ़ने-सुनने-स्मरण करनेसे और उसके रहनेके स्थानसे दुनियाका हित होता है। तात्पर्य है कि वह **'सर्वभूतहिते रताः'** (५। २५; १२। ४) होता है, उसका जीवन त्यागमय होता है; अतः वह लेता कुछ नहीं और सब कुछ देता है।

गीतामें सांख्ययोगको 'संन्यास' और कर्मयोगको 'त्याग' नामसे भी कहा गया है (१८। १)। जिसकी धरोहर है, उसको दे देनेका नाम 'संन्यास' है। शरीर और संसार प्रकृतिकी धरोहर है; अतः उनको प्रकृतिको दे देना अर्थात् उनसे अपना सम्बन्ध नहीं रखना 'संन्यास' है। जो अपना नहीं है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर देनेका नाम 'त्याग' है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिमें ममताका, अपनेपनका सम्बन्ध न रखना 'त्याग' है; क्योंकि वे सभी संसारके हैं, अपने नहीं। उन मन, बुद्धि आदिमें ममता-आसक्ति न रखकर केवल संसारके लिये ही कर्म करना चाहिये, अपने लिये नहीं। अपने लिये,

अपने व्यक्तिगत स्वार्थके लिये कर्म करनेसे मनुष्य बँधता है—'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' (३ । ९); और केवल यज्ञके लिये, दूसरोंके लिये, संसारके लिये कर्म करनेसे मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं—'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते' (४ । २३) ।

कर्मोंका आरम्भ न करनेसे भी सिद्धि नहीं मिलती और कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेमात्रसे भी सिद्धि नहीं मिलती (३ । ४) । कर्मोंका आरम्भ न करनेसे सिद्धि नहीं होती; क्योंकि कर्मोंका आरम्भ किये बिना कर्मयोगकी सिद्धि नहीं होती। जो योगपर आरूढ़ होना चाहता है, अपनेमें समताको लाना चाहता है, उसके लिये निष्कामभावसे कर्म करना कारण है (६ । ३) । तात्पर्य है कि कर्म किये बिना मनुष्य योगपर आरूढ़ नहीं होता, क्योंकि कर्म करनेसे ही कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धि, फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहनेका अनुभव होता है।

कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेमात्रसे भी सिद्धि नहीं होती; क्योंकि जबतक कर्तृत्व-अभिमान (करनेका भाव) रहता है, तबतक सांख्ययोगकी सिद्धि नहीं होती। कर्तृत्व-अभिमानका त्याग करनेसे ही सिद्धि होती है; क्योंकि वास्तवमें 'करना' प्रकृतिमें ही है, अपनेमें नहीं (१३ । ३१) । तात्पर्य है कि सांख्ययोगी कर्तृत्व-अभिमानका त्याग कर दे, तो फिर कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेपर भी उसके साधनकी सिद्धि हो जाती है। परंतु कर्मयोगमें तो कर्तव्य-कर्म करनेसे सिद्धि होती है।

जिनसे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है, ऐसे कर्म 'अकुशल' कहलाते हैं। कर्मयोगी अकुशल कर्मोंका त्याग तो करता है, पर द्वेषपूर्वक नहीं। इसमें देखा जाय तो त्याज्य वस्तु इतनी बन्धनकारक नहीं है, जितना द्वेष बन्धनकारक है। ऐसे ही कर्मयोगी कुशल कर्मोंको तो करता है, पर रागपूर्वक नहीं। इसमें भी देखा जाय तो कुशल कर्मोंको करनेसे जितना लाभ होता है, उससे अधिक दोष रागपूर्वक कर्म करनेसे होता है। इस तरह कर्म करना ही वास्तवमें त्याग है (१८ । १०) ।

जो कर्मफलका आश्रय न लेकर, कर्मफलकी आसक्ति-कामना न रखकर, कर्मफलके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़कर कर्तव्य-कर्म करता है, वही वास्तवमें त्यागी है। केवल अग्निका त्याग करनेवाला या कर्मोंको छोड़नेवाला त्यागी नहीं है (६ । १) । अपने संकल्पको छोड़े बिना, अपने मनकी बात छोड़े बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं हो सकता (६ । २) । जो कर्म एवं कर्मफलकी आसक्तिका त्याग कर देता है, वह कर्मोंमें अच्छी तरह प्रवृत्त होनेपर भी वास्तवमें कुछ नहीं करता (४ । २०) । जो कर्म करते हुए भी निर्लिप्त (कामना, ममता, आसक्तिसे रहित) रहता है और निर्लिप्त रहते हुए ही कर्म करता है, वही योगी है, बुद्धिमान् है और सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला (कृतकृत्य) है (४ । १८) । तात्पर्य है कि कर्मयोगी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं करता, प्रत्युत कर्म और कर्मफलकी कामना, ममता, आसक्तिका त्याग करता है। भक्तियोगी भी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं करता, प्रत्युत कर्म और कर्मफलको भगवान्‌के अर्पण करता है अर्थात् उनमें कामना, ममता, आसक्तिका त्याग करता है (३ । ३०; १२ । ६; १८ । ५७) ।

भक्तमें कुछ भी लेनेकी इच्छा कभी होती ही नहीं। उसमें मुक्तिकी भी इच्छा नहीं होती; क्योंकि उसमें बन्धन है ही नहीं। जहाँ जड़, असत् वस्तुओंको स्वीकार करते हैं, वहीं बन्धन होता है। भक्त असत्‌को कभी स्वीकार करता ही नहीं। वह भगवान्‌से भी कुछ लेता नहीं, प्रत्युत भगवान्‌को भी देता-ही-देता है। उसमें 'मैं प्रभुसे भी कुछ नहीं चाहता, मुक्ति भी नहीं चाहता'—ऐसा अभिमान भी नहीं होता। जैसे भगवान् किसीसे कुछ भी नहीं लेते, केवल देते-ही-देते हैं, फिर भी उनमें कोई कमी नहीं आती, ऐसे ही उस त्यागी भक्तमें भी कोई कमी नहीं आती। भक्त अपने लिये भगवान्‌को भी नहीं चाहता। वह तो स्वयं भगवान्‌के समर्पित होना चाहता है, अपना अलग अस्तित्व नहीं रखना चाहता।

अद्वैत सिद्धान्तमें तो साधक ब्रह्मरूप हो जाता है, पर भक्त ब्रह्मरूपसे भी विलक्षण हो जाता है; जिसमें भगवान् भी भक्तके भक्त बन जाते हैं, जबकि भक्त नहीं चाहता कि भगवान् मेरे भक्त बनें। ऐसे भक्तोंके बिना भगवान्‌का मन नहीं लगता। भगवान्‌को भी ऐसे भक्तोंकी गरज होती है, चाहना होती है। जैसे, हनुमान्‌जी भगवान्‌से कुछ भी नहीं चाहते; न रहनेके लिये स्थान चाहते हैं, न भोजन चाहते हैं, न कपड़ा चाहते हैं, न सहायता चाहते हैं, न मान चाहते हैं, पर भगवान्‌का काम करनेके लिये वे सदा आतुर रहते हैं—'राम

काज करिबे को आतुर।' अतः भगवान् रामजी, सीताजी, लक्ष्मणजी, भरतजी, अयोध्यावासी आदि सब-के-सब हनुमान्‌जीके ऋणी हो जाते हैं! हनुमान्‌जी त्यागके कारण इतने ऊँचे हो गये कि जहाँ रामजीका मन्दिर होता है, वहाँ हनुमान्‌जीका मन्दिर होता ही है, पर जहाँ रामजीका मन्दिर नहीं होता वहाँ भी स्वतन्त्ररूपसे हनुमान्‌जीका मन्दिर होता है अर्थात् हनुमान्‌जीके बिना रामजीके मन्दिर नहीं हैं, पर रामजीके बिना हनुमान्‌जीके मन्दिर हैं!

त्यागी भक्तोंको भगवान् अपने माता-पिता, भाई-बन्धु, कुटुम्बी बना लेते हैं और उनके अधीन हो जाते हैं। भक्तसे प्रेम पानेके लिये भगवान् भी लालायित रहते हैं। व्रजकी गोपियोंमें ऐसा ही प्रेम था। वे अपने लिये कुछ नहीं चाहती थीं, केवल भगवान्‌को ही सुख देना चाहती थीं। उनका अपना कोई अलग व्यक्तित्व नहीं था। उन्होंने भगवान्‌में ही अपने व्यक्तित्वकी आहुति दे दी थी।

ब्रह्म तो एकरस है। वह न किसीको रस देता है और न रस लेता है। परंतु भक्त तो भगवान्‌को भी रस देता है और देता ही रहता है; उसका देना समाप्त होता ही नहीं। जैसे समुद्रमें मिलनेपर भी गङ्गाजीका प्रवाह समुद्रमें बहता ही रहता है, भले ही उस प्रवाहका भान न हो, ऐसे ही भक्तका देनेका प्रवाह चलता ही रहता है।

* * *

देवताओंकी माता अदिति

[गताङ्क पृ०-सं० ६४२ से आगे]

देवावतारोंमें अदितिका योगदान

कई बार देवासुर-संग्राममें देवता हारकर विपन्न हो गये। उन दिनों इन्होंने अपने पुत्रोंके लिये अनेक जप-तपके द्वारा उनको संकटमुक्त करनेका सफल प्रयास किया। उदाहरणके लिये भगवान् वामन, विष्णुकी कथा, वाल्मीकिरामायण, महाभारत, विष्णुपुराण एवं भागवतमें अलग-अलग किंतु अत्यन्त रोचक ढंगसे वर्णित हुई है। यहाँ संक्षेपमें थोड़ा-थोड़ा सबका भाव लिखा जा रहा है—

वाल्मीकिरामायण बालकाण्डके २९ वें अध्यायमें सोनभद्र-तटवर्ती वामनपुर या सिद्धाश्रमका परिचय देते हुए विश्वामित्रजीने राम एवं लक्ष्मणसे कहा है कि यहाँ भगवान् विष्णुने बहुत वर्षोंतक भीषण तपस्या की। इसका सिद्धाश्रम नाम इसलिये पड़ा कि भगवान् विष्णुको यहीं सिद्धि प्राप्त हुई थी। बहुत पहले विरोचनके पुत्र राजा बलिने इन्द्र, आदित्य, मरुद्गण आदि सभी देवताओंको परास्त करके उनका राज्य अपने अधिकारमें कर लिया था। तीनों लोकोंको जीतकर बलिने एक महान् यज्ञका आयोजन किया। उन्हीं दिनों इन्द्र, अग्नि आदि सभी देवगण सिद्धाश्रममें पहुँचकर तपस्यामें निरत भगवान् विष्णुसे प्रार्थना करते हुए कहने लगे—'विश्वव्यापी परमेश्वर! हमलोग अपना अधिकार खोकर घोर दुर्दशाग्रस्त हो रहे हैं। बलिने हमारा सारा राज्य, धन-ऐश्वर्यादिका अपहरण कर हमें निराश्रित कर दिया है। इस समय वे एक उत्तम यज्ञका अनुष्ठान कर रहे हैं। उनका यह यज्ञ जबतक पूर्ण न हो, उसके पूर्व ही आप हमलोगोंका कार्य सिद्ध कर दें। इस समय जो भी याचक कहींसे आकर उनके यहाँ जो याचना करता है, वे उसे तत्काल पूर्ण करते हैं। अतः भगवन्! आप हम सभी देवताओंके हितके लिये योगमायाका आश्रय लेकर वामन-रूपमें वहाँ जायँ तथा हमारा कल्याण करें।'

इधर देवताओंकी यह चर्चा चल ही रही थी कि अग्निके समान तेजस्वी महर्षि कश्यप अपनी पत्नी अदितिके साथ वहाँ आ पहुँचे। उसी दिन अदितिदेवीके साथ एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक प्रचलित रहनेवाला उनका महान् व्रत समाप्त हो गया था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने भगवान् विष्णुकी स्तुति की। भगवान् श्रीहरिने अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे कहा—'आपका कल्याण हो! आप जो भी चाहें, मैं वह वर देनेके लिये प्रस्तुत हूँ।' इसपर कश्यपजीने कहा—'इन सभी देवताओं, इनकी माता अदिति और मेरी भी आपसे यही प्रार्थना है कि आप मेरे और अदितिके पुत्र-रूपमें उत्पन्न हों। दैत्य-निषूदन आप इन्द्रके छोटे भाईके रूपमें अवतीर्ण हों तथा शोक एवं क्लेशमें डूबे हुए इन देवताओंकी सहायता करें।'

भगवान्ने 'एवमस्तु' कहा और कुछ समय बाद भगवान् वामन-रूपसे अदितिके गर्भसे उत्पन्न हो बलिके यज्ञमें पहुँच गये। वे सम्पूर्ण विश्वकी हिताकाङ्क्षासे त्रिलोकीका राज्य बलिके अधिकारसे लेकर देवताओंको पुनः प्राप्त कराना चाहते थे। अतः वहाँ जाकर उन्होंने बलिसे केवल तीन पग भूमिकी याचना की। उनकी स्वीकृति पाते ही उन्होंने तीन पगोंसे तीनों लोकोंको आक्रान्त कर दिया और बलिका निग्रह कर त्रिलोकीको इन्द्रके अधीन कर दिया। तभीसे भगवान् वामन उपेन्द्र कहलाये।*

वामनपुराणमें तो यह कथा बहुत ही विस्तारसे वर्णित है। भागवतमें यह कहा गया है कि देवताओंसे पराजित होकर बलि बड़ी श्रद्धासे अपने आचार्य शुक्र तथा ब्राह्मणोंकी सेवामें लग गये। उन लोगोंने विश्वजित् आदि यज्ञोंका आश्रय लेकर बलिको तीनों लोकोंका स्वामी बना दिया एवं महाभिषेक-पद्धतिसे त्रिलोकीके राज्यसिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया। यहाँतक कि पितामह ब्रह्माने भी प्रसन्न होकर दिव्य रथ, अश्व, ध्वज, धनुष, तूणीर, कवच आदि अष्टरत्न बलिको प्रदान कर दिये।

तत्पश्चात् बलिने आक्रमण करके अमरावती, सुखावती आदि सभी देवपुरियोंपर अपना अधिकार कर लिया। इन्द्रने बृहस्पतिके पास जाकर सारी बातें बतायीं और उन्होंने भी अवसरकी प्रतीक्षामें उन्हें देवपुरी छोड़कर कहीं अन्यत्र आश्रय ग्रहण कर लेनेकी बात कही। इधर आचार्य शुक्रने बलिसे अनेक विश्वजित् नामक यज्ञ कराये, जिससे बलिका पराक्रम एवं उनकी कीर्ति चतुर्दिक् फैल गयी।

इधर अपने पुत्रोंके स्वर्गसे च्युत होकर नष्टप्राय हो जानेपर और स्वर्गके दैत्योंद्वारा आक्रान्त हो जानेपर देवमाता अदितिके कष्टकी कोई सीमा ही नहीं रही। वे एक आश्रम बनाकर व्रतचर्यामें लग गयीं। एक दिन समाधिसे विरत होनेपर महर्षि कश्यपजी उनके आश्रममें पधारे। वहाँ अदितिके निवासको निरुत्सव, निरानन्द देखकर तथा उन्हें अत्यन्त उद्विग्न और दीनमुखी देखकर कुशल-प्रश्न पूछते हुए वे कहने लगे—'क्या तुमने समयसे हवन-पूजन, अतिथि-सेवा आदिका कार्य नहीं किया? तुम्हारे पुत्रोंकी स्थिति तो ठीक है?' अदितिने कहा—'आपकी कृपासे मेरी कामनाएँ भी यथासमय पूरी हो ही जायँगी, किंतु हमारे पुत्रोंकी समृद्धिको उनके शत्रुओंने अपहृत कर लिया है, आप उनकी रक्षाका उपाय करें।'

इसपर कश्यपजीने कहा—'देवि! तुम भगवान् जनार्दनकी आराधना करो।' कश्यपजीके कथनानुसार अदितिने वैसा ही किया। यथासमय भगवान् अदितिके गर्भसे वामन-रूपमें प्रकट हुए। देवताओंने उनकी स्तुति की। यज्ञोपवीत आदि संस्कार करते हुए उन्हें मौञ्जी, मेखला आदि प्रदान की। वे भगवान् वामन वहाँसे चलकर राजा बलिके यज्ञमें पहुँच गये। बलिने उनका दिव्य स्वागत करते हुए उनसे कुछ माँगनेकी प्रार्थना की। वामनने केवल तीन पग भूमिकी याचना की। इसपर बलिने कहा—'आप अवस्थामें भी कम हैं और बुद्धिमें भी। हे विप्रकुमार! आप बुद्धिसे सर्वथा शून्य हैं। जो मुझ-जैसे महान् दाताके पास आकर तीन पग पृथ्वीकी याचना करता है, मनुष्योंमें उससे बढ़कर बुद्धिहीन और कौन होगा?'

भगवान् वामनने कहा—'असंतोषका कोई अन्त नहीं है। असंतोषीके लिये ससागरा सप्तद्वीपा वसुन्धरा भी अल्प ही है। तृष्णाका कोई ओर-छोर नहीं है। तपस्वी ब्राह्मणके लिये तीन पग भूमिमें उठना-बैठना और सोना सब कुछ हो जायगा।' इसपर बलिने संकल्पका जल छोड़ दिया। फिर क्या

---

* वेदोंमें तीन पगसे त्रिलोकीको आक्रान्त करनेकी घटनाका बार-बार सादर, साश्चर्य उल्लेख हुआ है—

'इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पा ँ्सुरे स्वाहा॥ (यजुर्वेद ५। १५)

तथा—

'प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥'(यजुर्वेद ५। २०)

एवं

'त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥' (यजुर्वेद ३४। ४३)

इसी कारण भगवान् विष्णुका अनुगुण नाम 'त्रिविक्रम' इतिहास-पुराणोंमें विशेष प्रसिद्ध है।

था ? भगवान् वामनने जो पैर ऊपर उठाया वह पर्वतोंको लाँघता हुआ सभी स्वर्गीय पक्षियों एवं तारामण्डलोंको पार करता हुआ ऊपर बढ़ता ही गया। उनका कटिभाग मरुत्-लोक, नाभि नभोमण्डल एवं सातों समुद्र उनकी कुक्षियोंमें प्रविष्ट हो गये। चन्द्रमा उनके मनके निवास-स्थलपर और द्यौ लोक उनके सिरमें स्थित हो गया। वायुदेवता उनकी नासिकामें प्रविष्ट हो गये और सूर्यदेव उनके नेत्रोंमें दीखने लगे। इस प्रकार एक पैरमें भूलोक, दूसरेमें अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग आ गये एवं तीसरे पगके लिये कोई स्थान ही नहीं रहा। तत्पश्चात् भगवान् वामनने बलिको सत्यवादी कहा तथा उसे बाँधकर पातालमें भेज दिया और दैत्योंद्वारा अपहृत राज्यको अपने बड़े भाई महेन्द्रको सौंप दिया। इस प्रकार देवमाता अदितिकी चेष्टासे इन्द्र आदिका साम्राज्य पुनः वापस आया। सभी देवता ऐश्वर्य-लक्ष्मीको प्राप्त करके आनन्दमग्न हो गये। उन सभीने भगवान् विष्णुके यशका मुक्तकण्ठसे गान किया।

पुराणोंमें जहाँ कहीं भगवान्के राम-कृष्ण आदि अवतारोंकी कथाका उपक्रम हुआ है, वहाँ उनके माता-पिताको कश्यप एवं अदितिका अवतार कहा गया है—

कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता ॥

तथा—

कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरीं प्रगट नरभूपा ॥*

अदितिके कुण्डलोंकी कथा

महाभारत, सभापर्व ३८ तथा उद्योगपर्व ४८में भौमासुरके द्वारा इनके कुण्डलोंका अपहरण कर लिये जानेकी घटनाका उल्लेख मिलता है। देवमाता अदितिके कुण्डल बहुत ही दिव्य एवं बहुमूल्य थे। उनके कुण्डलोंकी प्रसिद्धि इतनी अधिक थी कि नरकासुर या भौमासुरने बलपूर्वक इन्द्रपर आक्रमण कर इन्द्रका छत्र अपहृत कर लिया था और अदितिके उन कुण्डलोंको भी छिनवा लिया था। बहुत दिनतक इन्द्र इस भारी व्यथाको सहते रहे और वे कुछ भी नहीं कर सके। भौमासुर वर्तमान आसामके पूर्वीभागमें प्राग्ज्योतिषपुर नामके एक दिव्य नगरका निर्माण कर और उसमें एक अभेद्य दुर्ग बनाकर उसमें निवास करता था। यह उसका दुर्ग इतना दुर्गम तथा सुरक्षित था कि किसी प्रकार कोई भी शत्रु वहाँ नहीं पहुँच सकता था। किसी भी तरह उसपर विजय प्राप्त करना सम्भव नहीं था, देवता उसके नामसे घबड़ाते थे।

जब देवराज इन्द्रने भगवान् कृष्णके अवतारकी बात सुनी, उनका पराक्रम देखा और उनकी वैष्णवी शक्तिपर विश्वास हो गया, तब उन्होंने अपना सारा क्लेश भगवान् कृष्णसे निवेदित किया और अपनी माताके कुण्डलोंके अपहरणकी घटनाका भी उल्लेख किया। भगवान्ने उन्हें आश्वासन दिया और तुरंत सत्यभामाको लेकर गरुडपर आरूढ़ होकर आकाशमार्गसे प्राग्ज्योतिषपुरको चल पड़े और दुर्गके उच्चतम प्राकारोंको गदासे ध्वस्त कर उसके भीतर प्रवेश कर गये। वहाँ उन्होंने अपने चक्रके द्वारा मुर दैत्यके पाँचों सिरोंको काटकर उसे निष्प्राण कर दिया और वह पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसकी मृत्युकी बात सुनकर उसके सातों पुत्र भौमासुरके संकेतपर सेनापतियोंसहित कृष्णसे लड़नेके लिये दौड़ पड़े। भगवान् कृष्णने उनके अस्त्र-जालोंको अपने बाणोंसे तिल-जैसे टुकड़े-टुकड़े काटकर उनको धूलमें मिला दिया और इन सातों मुरपुत्रों, सेनापतियों और अन्य वीरोंको भी मार डाला। यह सब देखकर पृथ्वीदेवीका दुर्जेय पुत्र भौमासुर (नरकासुर) विष्णुवाहन गरुडकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा। भगवान् श्रीकृष्णने अपने विचित्र तीक्ष्ण बाणोंसे उसके हाथी, घोड़े, रथसहित सारी सेनाको छिन्न-भिन्न कर डाला तथा गरुडने भी अपने पंखोंसे भौमासुरकी सारी सेनाको उड़ा डाला। भौमासुर शूल लेकर कृष्णपर जैसे ही प्रहार करना चाहता था, इसके पूर्व ही भगवान्ने अपने चक्रके तीक्ष्ण धारसे नरकासुरके सिरको काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया। जब कुण्डल और किरीटसे मण्डित उसका सिर पृथ्वीपर गिरा तो दैत्योंमें हाहाकार मच गया और आकाशमें स्थित देवताओं तथा ऋषियोंने साधु-साधुकी ध्वनि करते हुए कृष्णपर अपार पुष्पोंकी वृष्टि की और इधर पृथ्वीदेवी तत्काल तप्तसुवर्ण तथा रत्नजटित

---

* तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्। उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः ॥
तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम्। जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति ॥
(श्रीमद्भा० १०। ३। ४२-४३)

भास्वर-कुण्डल, वैजयन्ती माला और वरुणके श्वेतच्छत्रके साथ कृष्णके पास आकर उपस्थित हो गयी और हाथ जोड़कर विनम्रभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गद्‌गद-वाणीसे उनकी स्तुति करने लगी।

पृथ्वीकी प्रार्थनासे भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने अभयदान देकर भौमासुरके अत्यन्त समृद्धिशाली दिव्य भवनोंमें प्रवेश किया। वहाँ सोलह हजार राजकन्याओंको जो भौमासुरके द्वारा अपहृत कर लायी गयी थीं, उनका उद्धार किया। कन्याओंने सत्-प्रारब्धके द्वारा प्राप्य श्रेष्ठ पतिके रूपमें मनसे भगवान्‌का वरण कर लिया तथा विधातासे अपने भावोंका अनुमोदन करनेकी प्रार्थना की। समर्थशाली भगवान्ने भी उनके हृदयके भावोंका आदर करते हुए सभी अलङ्कारोंसे अलङ्कृत कर हाथी, घोड़े, रथ और महान् कोषसहित पालकी आदिसे उन्हें द्वारका भेज दिया और पुनः सत्यभामाको गरुडपर लेकर उन दिव्य कुण्डलों, छत्र और वैजयन्तीमालासहित वे अमरावतीमें इन्द्रके भवनमें उपस्थित हुए। इन्द्रने उनका भव्य स्वागत किया और इन्द्राणीने सत्यभामाकी विशेष रूपसे अर्चा-प्रतिष्ठा की। उन्होंने दिव्य कुण्डलोंको अदिति माताको प्रदान कर दिया। इस प्रकार अदितिके विश्व-प्रसिद्ध दिव्य कुण्डल उन्हें प्राप्त हो गये और इन्द्रकी चिन्ता भी दूर हो गयी। [समाप्त]

अमृत-बिन्दु

भगवान्‌में अनन्यप्रेमका नाम राधातत्त्व है। जबतक संसारमें आकर्षण रहता है, तबतक राधा-तत्त्व अनुभवमें नहीं आता।

सम्पूर्ण साधनोंकी सार बात है—संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करना और भगवान्‌से अपना सम्बन्ध पहचानना।

जिसमें अपने साधनका अभिमान नहीं है और जिसे अपने कल्याणका और कोई उपाय नहीं दीखता, वही भगवान्‌की शरणागतिका अधिकारी है।

अपनी बुद्धिका अभिमान ही शास्त्रोंकी, संतोंकी बातोंको अन्तःकरणमें टिकने नहीं देता।

भगवान्‌की बनायी हुई सृष्टि (संसार) कभी बाँधती नहीं, दुःख नहीं देती। जीवकी बनायी हुई सृष्टि (अहंता-ममता) ही बाँधती और दुःख देती है।

भगवान्‌से विमुख होते ही जीव अनाथ हो जाता है।

संसारकी आसक्तिका त्याग किये बिना भगवान्‌में प्रीति नहीं होती।

जबतक नाशवान्‌का सुख लेते रहेंगे, तबतक अविनाशी सुखकी प्राप्ति नहीं होगी।

भूलकी चिन्ता, पश्चात्ताप न करके आगेके लिये सावधान हो जाओ, जिससे फिर वैसी भूल न हो।

परमात्माकी उत्कट अभिलाषा चाहते हो तो संसारकी अभिलाषाको छोड़ो।

सुख निर्विकल्पतामें है, भोगोंमें नहीं।

गुरुमें मनुष्यबुद्धि करना और मनुष्यमें गुरुबुद्धि करना अपराध है। कारण कि गुरु तत्त्व है। शरीरका नाम गुरु नहीं है।

न्यायपूर्वक काम करनेवालेके चित्तमें शान्ति और अन्यायपूर्वक काम करनेवालेके चित्तमें अशान्ति रहती है।

जो हमारा स्वरूप नहीं है, उसका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) कर दिया जाय तो जो हमारा स्वरूप है, उसका बोध हो जायगा।

मनुष्यशरीर मिल गया, पर परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई तो यह बड़े शोक, दुःखकी बात है!

मनुष्य जबतक सांसारिक पदार्थोंका सम्बन्ध रखेगा और उनकी आवश्यकता समझेगा, तबतक वह कभी सुखी नहीं होगा।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कर्तव्य-पालन

निस्संदेह, कर्तव्य-पालनका पथ कठिनाइयोंसे तो भरा हैं ही, किसी-किसी प्रसङ्गमें तो आर्थिक दृष्टिसे भी भारी नुकसान उठाना पड़ता है। परंतु अपना उत्तरदायित्व पूर्ण करनेके बाद मनको जो शान्ति मिलती है, उसकी कल्पना तो केवल जिन्होंने कर्तव्य-पालनका ईमानदारीसे प्रयत्न किया होगा, उन्हींको हो सकती है। यहाँ कर्तव्य-पालनके सम्बन्धमें अत्यन्त सावधान लन्दनके एक केमिस्टकी बात करनेका लोभ नहीं रोका जा सकता।

एक दिन उस केमिस्टकी दूकानपर पेन नामक एक आदमी डॉक्टरसे नुस्खा लिखवाकर लाये। उसमें एक जहरी दवाका सौवाँ भाग मिलानेके लिये लिखा था। दूकानके कम्पाउण्डरने भूलसे उस दवाका दसवाँ भाग मिला दिया। श्रीपेन दवा लेकर चले गये।

थोड़ी ही देर बाद कम्पाउण्डरको अपनी भूलका ध्यान आया कि उसकी कैसी भयानक भूल हो गयी है। उस दवाकी एक खुराक लेनेके साथ ही रोगी स्वर्गका प्रवासी बन जायगा। उसने तुरंत केमिस्टको इसकी सूचना दी और केमिस्टने पुलिसको इत्तिला दी। पुलिस अधिकारीने कहा—'आप तुरंत फोन अथवा तारके द्वारा श्रीपेनको सूचित कर दीजिये कि वे दवा न लें।' परंतु केमिस्टके रजिस्टरमें श्रीपेनका पता नहीं लिखा गया था और नुस्खा लिखकर देनेवाले डॉक्टरको भी श्रीपेनका पता मालूम नहीं था। टेलीफोन डाइरेक्टरी देखनेपर दर्जनों श्रीपेन मिले। पुलिसकी सम्मतिके अनुसार प्रत्येक 'श्रीपेन'को एक-एक तार दिया गया—'श्रीपेन! उन गोलियोंको आप खानेके उपयोगमें न लीजियेगा।' इसके बाद संध्याको प्रकाशित होनेवाले तमाम समाचारपत्रोंमें पहले पृष्ठपर मोटे-मोटे अक्षरोंमें विज्ञप्ति छपायी गयी—'श्रीपेन! उन गोलियोंको आप खानेके उपयोगमें न लीजियेगा।' उसी दिन सिनेमागृहों और थियेटरोंमें भी स्टाइडोंके द्वारा यह प्रचार किया गया—'श्रीपेन! उन गोलियोंको खानेके उपयोगमें न लाइयेगा।' सारा लन्दन हैरान-परेशान हो गया और यह जाननेके लिये आतुर हो गया कि ये 'श्रीपेन' कौन हैं और ऐसी क्या गोलियाँ हैं, जिनको खानेके उपयोगमें न लेनेके लिये इतना कहा जा रहा है?

दूसरे दिन असली 'श्रीपेन' महाशयका पत्र उस केमिस्टको मिला। उसमें अत्यन्त कृतज्ञता प्रकट करनेके साथ ही लिखा था—'मैंने उन गोलियोंको खानेके उपयोगमें न लेनेकी विज्ञप्ति पढ़ी और उसके अनुसार मैंने गोलियोंका उपयोग नहीं किया है।' इस पत्रके मिलनेके बाद ही उस केमिस्टका जी ठिकाने आया।

दूसरी ओर, जब लन्दन शहरके लोगोंको पूरा विवरण जाननेको मिला, तब उनके मनमें उस केमिस्टके प्रति बहुत ही आदरकी भावना उत्पन्न हुई। परिणाम यह हुआ कि उस केमिस्टका व्यापार कई गुना बढ़ गया। ('प्रताप'से उद्धृत)

(२)

सच्चा न्यायाधीश

एक न्यायाधीश थे। वे सबका सच्चा न्याय करते। कहते कि 'न्यायका काम भगवान्‌का काम है, इसमें जरा भी पक्षपात नहीं किया जा सकता, जरा भी लापरवाही नहीं की जा सकती। दोनों पक्षोंकी बातोंको अच्छी तरह सुनना, फिर न्यायको तौलना। न्यायकी डंडी समतौल रहनी चाहिये। जरा भी ऊँची-नीची न होनी चाहिये।'

एक बार इनके पास एक मुकदमा आया। दो पैसेवालोंमें झगड़ा था। जीतनेवालेको लाखोंकी मिल्कियत मिलनेवाली थी।

इनमें एकके मनमें आया कि न्यायाधीशको राजी कर लूँ तो फैसला मेरे पक्षमें हो जाय। लाख रुपया लेकर एक रात्रिको वह न्यायाधीशके घर पहुँचा।

उसने जाकर कहा—आपके लिये यह भेंट लाया हूँ, साहेब! लाख रुपये हैं। आपकी अदालतमें वह मुकदमा चल रहा है न। उसका फैसला जरा मेरे पक्षमें कर दीजियेगा।

यह सुनते ही न्यायाधीशने कहा—न्यायको गंदा करने आये हैं आप? क्यों! ले जाइये ये रुपये। न्याय जैसे होता होगा, वैसे ही होगा।

पैसे देनेवालेको अपने पैसेका अभिमान था। फिर हाथमें आये हुए लाख रुपये कोई छोड़ दे, यह उसकी समझमें ही नहीं आ रहा था। इससे उसने कहा—'साहेब! कोई सौ-दो-सौ रुपये नहीं हैं, लाख रुपये हैं। ऐसा लाख रुपये देनेवाला दूसरा कोई नहीं मिलेगा।'

न्यायाधीशने तुरंत जवाब दे दिया—लाख रुपये देनेवाले तो आप-जैसे बहुतेरे मिल जायँगे, पर मेरे-जैसा 'ना' करनेवाला कोई नहीं मिलेगा। जाओ! उठा ले जाओ इस मैलको यहाँसे।

यह सुनकर वह भयभीत हो गया। एक भी अक्षर बिना बोले रुपये लेकर चुपचाप अपने रास्ते चला गया।

इन न्यायाधीशका नाम है—अंबालाल साकरलाल देसाई। ये गुजरात प्रान्तीय एक महान् भारतीय थे।

('पुस्तकालय'से उद्धृत)

(३)

विश्वासका फल

हमारे पिताजी (स्वर्गीय पंडित गोपालनन्दजी) हमें बराबर सीख दिया करते थे कि 'सुख-दुःख, शोक-चिन्ता, स्वस्थ-रुग्ण किसी भी अवस्थामें भगवान्‌को नहीं भूलना चाहिये; क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं। मैं उनकी सीखको अक्षरशः मानकर इसी विश्वासके साथ किसी भी कार्यको किया करता हूँ। ५ सितम्बर, १९८९ की बात है, जब मैं अपने निवास-स्थान मेहन्दीगंजसे पत्नी एवं बच्चोंके साथ कुछ स्टीलके बर्तन खरीदने कंकड़-बाग गया और वहाँ खरीददारी कर हम सभी घरकी ओर लौटे तथा गुलजारबाग स्टेशनके निकट टेम्पोसे उतरकर किराया देनेके लिये बैग ढूँढ़ने लगा तब वह मिला नहीं। कहीं रास्तेमें गिर गया। उस बैगमें मेरे कार्यालयकी चाभी, कुछ आवश्यक कागज तथा साढ़े चार सौ रुपये नकद थे, मैं अत्यन्त चिन्तित हो उठा कि अब क्या किया जाय। टेम्पो-चालक बड़ा भद्र था। उसने कहा—जाने दीजिये भाई साहब! आपके पास यदि किराया चुकानेके लिये पैसे नहीं हैं, तो कोई बात नहीं है। संयोगसे मेरे बच्चेके पास आठ-दस रुपये थे, उसीसे चार सवारीका किराया आठ रुपये चुका दिया। बादमें हमारे मित्र ललनजी साइकिल लेकर खोये हुए बैगको रास्तेमें ढूँढ़ते-खोजते एवं जगह-जगह पूछ-ताछ करते हुए उसी स्टीलकी दूकानतक गये, किंतु वहाँ कुछ पता न चलनेपर निराश वापस लौट आये और हम सभी निराश हो अपने घर लौट आये। दूसरे दिन मैंने खोये हुए बैगके विषयमें कई टेम्पो-चालकों एवं अपने इष्ट-मित्रोंसे भी यह बात बतायी, किंतु कुछ पता नहीं चला। तब सब ओरसे निराश होकर मुझे अपने आराध्य देवका स्मरण हो आया और मैं उनको प्रणाम कर कहने लगा—'प्रभो! मैं अत्यन्त गरीब हूँ। बड़ी मुश्किलसे मैंने यह धन-राशि जुटायी थी और इसीसे मुझे बच्चोंका भरण-पोषण भी करना था, पैसोंके अभावमें मैं क्या करूँ, किसी दूसरेसे माँगनेमें भी शर्म आती है। प्रभो! अब आपका ही सहारा है, मुझे इस विपत्तिसे छुटकारा दिलाइये।

भगवान्‌के सामने अपना निवेदन रख मैं आश्वस्त-सा हो गया और मनमें यह विश्वास होने लगा कि भगवान् तो परम दयालु हैं, वे सबपर अकारण दया करते हैं, मुझे भी किसी-न-किसी रूपसे अवश्य ही इस संकटसे शीघ्र मुक्त करेंगे।

घटनाको बीते चार ही दिन हुए थे कि हमारे पड़ोसी श्रीदासनारायण मेहताजी बड़े प्रातःकाल ही हमारे घरपर आये और चार दिन पहले घटी घटनाके बारेमें पूछने लगे। मैंने सारा वृत्तान्त उनको बता दिया। तब वे कहने लगे कि मेरे एक मित्र छोटी बाजारमें रहते हैं, उन्हें रास्तेमें एक बैग मिला है, आप वहाँ जाकर पता कर लें, सम्भवतः वह आपका ही बैग होगा। मैं प्रसन्न-मन होकर छोटी बाजार जाकर उनसे मिला, तब उन्होंने बैग दिखाते हुए जिज्ञासा की कि क्या यह आपका ही बैग है? मैंने स्वीकृतिपूर्वक सिर हिला दिया। तब उन्होंने भी प्रसन्न होकर वह बैग मुझे दे दिया। मैंने बैग ले लिया और उन्हें कुछ रुपया पुरस्कारस्वरूप देना चाहा, किंतु उन्होंने लेनेसे इनकार कर दिया। बैग लेकर मैं घर लौट आया। उस समय मैं मनमें बार-बार यही सोच रहा था कि वास्तवमें यदि भगवान्‌के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण हो जाय और व्यक्ति उनपर पूर्ण विश्वास कर ले तो वे उसका कल्याण निश्चित कर देते हैं। किसी-न-किसी रूपमें उपस्थित होकर उसकी मनःकामना पूर्ण कर ही देते हैं और यदि कोई निष्कामभावसे भजता हो तो वे स्वयंतकको उसे प्राप्त करा देते हैं। अतः सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण बना रहना चाहिये।

—रामानन्दजी मिश्र

मनन करने योग्य

राजी हैं हम उसीमें, जिसमें तेरी रजा है!

प्रसिद्ध संत और दार्शनिक एपिक्टेटस कहता था—

'प्रसन्नता प्राप्त करनेका, खुश रहनेका एक ही तरीका है और वह है उन चीजोंकी चिन्ता करना छोड़ देना, जो हमारे दायरेके बाहर हैं!'

कितना सत्य निहित है इस संतकी पावन वाणीमें!

मालिककी मर्जीको अपनी मर्जी बनाना, वह जैसी भी भली-बुरी स्थितिमें रख दे, उसीमें खुश रहना, विरले सौभाग्यवानोंके भाग्यमें होता है।

हम तो मनके अनुकूल होनेपर प्रसन्न होते हैं, मनके प्रतिकूल होते ही रोने लगते हैं। अनुकूल हो जानेपर अपनी पीठ ठोंकने लगते हैं। प्रतिकूल होनेपर मालिकको दोष देने-कोसने लगते हैं! यही तो हमारे दुःखोंका, हमारी चिन्ताओं और परेशानियोंका मूल कारण है।

नजीरने बड़े मार्मिक शब्दोंमें बताया है कि सच्चा मर्द वही है, जो हर हालतमें खुश रहता है—

गर यारकी मर्जी हुई सर जोड़के बैठे।
घर बार छुड़ाया तो वहीं छोड़के बैठे॥
मोड़ा उन्हें जिधर वहीं मुँह मोड़के बैठे।
गुदड़ी जो सिलाई तो वहीं ओढ़के बैठे॥
औ शाल उढ़ाई तो उसी शालमें खुश हैं।
पूरे हैं वही मर्द जो हर हालमें खुश हैं॥

घरमें हों या बाहर, गृहस्थ हों या संन्यासी, गुदड़ी ओढ़े हों या शाल—उन्हें हर बातमें खुशी रहती है।

गर खाट बिछानेको मिली खाटमें सोये।
दूकाँमें सुलाया तो वो जा हाटमें सोये॥
रस्तेमें कहा सो तो वह जा बाटमें सोये।
गर टाट बिछानेको दिया टाटमें सोये॥
औ खाल बिछा दी तो उसी खालमें खुश हैं।
पूरे हैं वही मर्द जो हर हालमें खुश हैं॥

उनके लिये खाट और पलंग, जंगल और मैदान, टाट और खाल—सब बराबर है। जो मिल जाय, जितना मिल जाय, जैसा मिल जाय, जहाँ मिल जाय—उन्हें खुशी ही होती है। जैसी भी स्थिति हो, जैसी भी हालत हो, उसीमें वे शुभ खोज लेते हैं। उसीमें वे मङ्गल ढूँढ़ लेते हैं। उसीमें वे प्रसन्न रहते हैं।

किसी बातकी शिकायत नहीं। किसीका शिकवा नहीं। भला और बुरा, सफलता और असफलता, शादी और गमी, सुख और दुःख—उनके लिये बराबर है, सब समान है।

जो हो, जैसा हो, अनुकूल हो, प्रतिकूल हो—सबका वे हँसते-हँसते स्वागत करते हैं।

कहते हैं कि एक राजाका मन्त्री, ऐसा ही हर हालमें खुश रहनेवाला था। उसका तकियाकलाम था—'भगवान् जो करते हैं सो अच्छा ही करते हैं!' एक दिन राजाकी अँगुली कट गयी। मन्त्रीको दिखाया। वह बोला—'भगवान् जो करते हैं सो अच्छा ही करते हैं।'

राजाके तो तन-बदनमें आग लग गयी। हैं, मेरी तो अँगुली कट गयी, खून बह रहा है और यह कहता है—'भगवान् जो करते हैं सो अच्छा ही करते हैं!' भला, इसमें क्या अच्छाई हो सकती है? गुस्सेमें भरकर आज्ञा दी—मन्त्रीको ले जाकर जेलमें डाल दो। मन्त्री मुसकराता हुआ चल दिया जेलको। उसकी जुबानपर एक ही वाक्य था—'भगवान् जो करते हैं सो अच्छा ही करते हैं।'

एक बार राजा शिकार खेलने गये। रास्ता भूल गये, अकेले पड़ गये, थककर घोड़ेको पेड़से बाँधकर जमीनपर पड़ रहे।

इतनेमें जंगलका राजा शेर घूमता-घामता उधर आ निकला। शेरको देखकर राजाके होश गुम हो गये! शेर पास आया। उन्हें फाड़ खानेकी तैयारीमें था कि उसकी नजर उनकी कटी अँगुलीपर पड़ गयी। मुँह बिचकाकर वह चल दिया। क्षत-विक्षत शिकारपर वनराज हाथ नहीं डालता। पास बँधे हुए घोड़ेको उसने फाड़ खाया। इसके बाद शानसे ऐंठता हुआ वह चल दिया।

महल लौटकर राजाने आज्ञा दी—जाओ, मन्त्रीको जेलसे निकाल लाओ। मन्त्रीके आनेपर उन्होंने कहा—मैं मान गया तुम्हारी बात। 'भगवान् जो करते हैं सो अच्छा ही करते हैं।' मेरी अँगुली कटी न रहती तो शेर जरूर ही मुझे

फाड़ खाता। पर यह तो बताओ कि तुम्हें जेलमें डलवाकर भगवान्ने क्या अच्छाई की ?

मन्त्री बोला—'सरकार! मैं जेलमें न पड़ा होता तो आप शिकारमें जरूर मुझे साथ ले जाते। मेरा तो कोई अङ्ग क्षत-विक्षत था नहीं। इसलिये शेर मुझे निश्चय ही फाड़ खाता। मेरा जेल जाना अच्छा ही हुआ, नहीं तो मेरी जानकी खैर नहीं थी। हम तत्काल भले ही उसका रहस्य न समझ पायें, परंतु इसमें संदेह नहीं कि 'भगवान् जो करते हैं सो अच्छा ही करते हैं!'

विश्वमें जो कुछ होता है मालिककी मर्जीसे ही होता है। भगवान् जो करते हैं, उसमें हमारा कल्याण छिपा रहता है। हम उसे समझ न सकें, यह बात दूसरी है।

पर मनुष्य है जो सफलताका श्रेय भगवान्को न देकर स्वयं ही लेना चाहता है और असफलताका दोष उनके मत्थे मढ़ देता है।

कहे 'दीन दरवेश' हुकमसे पान हलंदा।
करनहार करतार, करेगा क्या तू बंदा!

आप शायद कहें कि जब सब कुछ मालिककी मर्जीसे ही होता है, तब हमें कुछ करनेकी जरूरत ही क्या है।

दुरुस्त है आपका कहना। पर आप यह क्यों भूल जाते हैं कि हम बिना कुछ किये रह ही नहीं सकते। शरीर है, आँख, नाक, कान, मुँह आदि इन्द्रियाँ हैं। ये तो अपने धर्मका पालन करेंगी ही। न चाहते हुए भी इनसे कुछ-न-कुछ कर्म होता ही रहेगा। देखना-सुनना, उठना-बैठना, आना-जाना, चलना-फिरना, सोचना-विचारना—कुछ-न-कुछ कर्म तो होता ही रहेगा।

जबतक हम स्थितप्रज्ञ न हो जायँ, सुख-दुःख, शीत-उष्ण, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे अपनेको सर्वथा मुक्त न कर लें, तबतक कर्मोंके बन्धनसे हमारा छुटकारा हो नहीं सकता। जबतक कर्म होते रहेंगे, उनमें आसक्ति बनी रहेगी, उनका फल भी मिलता रहेगा।

यह आसक्ति ही सारे अनर्थोंकी जड़ है। हम आसक्ति रखकर ही सभी काम करते हैं। जैसे—पास होनेकी कामना रखकर हम परीक्षामें बैठते हैं। और इतना ही नहीं, पास भी होना चाहिये और अच्छे नम्बरोंसे पास होना चाहिये। फर्स्ट क्लास फर्स्ट रहे तो सबसे अच्छा। वह न हो तो कम-से-कम फर्स्ट क्लास तो रहे, 'मेरिट' तो मिले। वह भी न हो तो उत्तम सेकेंड क्लास तो हो। थर्ड क्लास तो किसी कामका नहीं।

अब अगर फेल हो गये तो हमारे दुःखका पार नहीं। इससे थर्ड क्लास मिल जाता तो हमें कुछ संतोष रहता।

हम रोज ही तो देखते हैं कि पासमें चार पैसे होते ही आदमी इठलाकर मूँछोंपर ताव देकर घूमने लगता है और थोड़ा-सा नुकसान होते ही छाती पीट-पीटकर रोने लगता है। बुद्धिमान् वह है, जो दोनों अवस्थाओंमें समान रहता है। शुभमें फूलता नहीं, अशुभमें रोने नहीं लगता।

जो व्यक्ति सुख-दुःख, हानि-लाभ, शुभ-अशुभ, शीत-उष्ण—सभीका एक ढंगसे स्वागत करता है, वही सबसे बुद्धिमान् है। उसके चेहरेपर सदैव आनन्द अठखेलियाँ करता रहता है। जीवनका सच्चा आनन्द प्राप्त करनेका सबसे सरल मार्ग यही है।

ऐसे व्यक्तिके लिये अभिशाप भी वरदान है, अमङ्गलमें भी मङ्गल है। आत्मीयोंके मरनेपर वह नरसीकी तरह हर्षसे नाचने लगता है—

भलुं थयुं भाँगी जंजाल, सुखे भजीशुं श्रीगोपाल।

मनोऽनुकूल पत्नी मिलनेपर एकनाथकी तरह कहता है—'धन्य हो प्रभो! इसकी सहायतासे मेरी साधना खूब चल सकेगी।' प्रतिकूल पत्नी पानेपर तुकारामकी तरह कहता है—'बड़ा दयालु है तू प्रभो! ऐसी पत्नी न होती तो मैं इस मायाजालमें बुरी तरह फँसे बिना न रहता!'

राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है।
याँ यों भी वाहवा है औ वों भी वाहवा है!

सोये हुए गाँवको जैसे बाढ़ बहा ले जाती है, वैसे ही पुत्र और पशुओंमें लिप्त हुए मनुष्यको मौत ले जाती है। जब मृत्यु पकड़ती है उस समय पिता, पुत्र, बन्धु या जातिवाले कोई भी रक्षा नहीं कर सकते। इस बातको जानकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शीलवान् बने और निर्वाणकी ओर ले जानेवाले मार्गको जल्द साफ करे। —धम्मपद

पतनमें उत्थानका भ्रम

जब बुद्धि तम (अज्ञानके अन्धकार)-से छा जाती है, तब वह अधर्मको धर्म बतलाती है और उसका उलटा निर्णय होता है। हानिमें लाभ, अवनतिमें उन्नति, पश्चाद्गतिमें अग्रगति, पतनमें उत्थान, कलह-युद्धमें जागृति, असंतोषमें सुख, विनाशमें विकास—इस प्रकार सभी बातोंमें उसका विपरीत निर्णय होता है। इस प्रकारकी बुद्धिवाले व्यक्तिके अथवा देश, समुदाय, संगठन या विश्वके कर्म भी तामसी ही होते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(गीता १८। ३२)

तामसी व्यक्ति परिणाम, हानि, हिंसा और अपनी क्षमताका विचार न करके अज्ञानमूलक मनमाने कर्म करके अधोगतिको चला जाता है—

'अधोगच्छन्ति तामसाः।'

जब मनुष्य-समाजका लक्ष्य भगवान् न होकर केवल भोग हो जाता है, तब उसकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती हैं और तब वह 'कर्तव्य' के स्थानपर 'अधिकार' तथा 'त्याग'के स्थानपर 'भोग' की प्रतिष्ठा करके केवल अर्थकामपरायण हो जाता है। फिर उसके सभी कार्य अनर्गल, अवैध, आसुरी-भावनासे सम्पन्न होते हैं। वह भगवान्, धर्म तथा परलोकको नहीं मानकर उच्छृङ्खल हो जाता है और अज्ञानयुक्त बुद्धिके द्वारा मनमाना सिद्धान्त निर्णीत करके उसीपर अपनेको तथा दुनियाको चलाना चाहता है। वह शास्त्रको नहीं मानता, देवता तथा ऋषियोंको नहीं मानता और भगवान्‌को मनुष्यके मस्तिष्ककी उपज बतलाकर धर्म तथा सदाचारका खण्डन करता और उसके विपरीत यथेच्छ आचरण करता है। इस प्रकारके भौतिक जीवनमें चारित्रिक पतन अवश्यम्भावी है। ऐसा भोगपरायण व्यक्ति भी नाम और दिखावेके लिये सत्कर्म करता है—अज्ञानसे विमोहित होकर कहता है—'मैं यज्ञ (देश या जनताकी सेवा) करूँगा, दान दूँगा, आनन्द प्राप्त करूँगा **'यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः'** और अपनेको सर्वश्रेष्ठ उन्नत प्रगतिपरायण माननेवाले धन-मान-अधिकारके मदसे मत्त ऐसे लोग भी मनमाने अवैध यज्ञादि (जन-सेवादि) कार्य करते दिखलायी देते हैं; पर वह सब उनका दम्भ ही होता है। चरित्रका विकास बाहरी दिखावे, परोपदेश, व्याख्यान या योजनाओंसे नहीं होता और न कानूनसे ही होता है। उपदेश, भाषण, योजना तथा कानूनके लिये भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर वह है तभी जब इनको सचमुच मानने और मनवानेवाले लोग हों। मिथ्याचारसे कोई लाभ नहीं होता। ये बातें पहले उपदेशकके जीवनमें उतरनी चाहिये, फिर आदर्श जीवनका अपने-आप ही दूसरोंपर प्रभाव पड़ेगा।

मनुष्यके जीवनमें जब धर्म तथा ईश्वरका यथार्थ-रूपमें स्थान रहता है, तब उसकी सारी क्रियाओंमें अपने-आप ही शुद्धि तथा सचाई आ जाती है। आज देशमें ईश्वर एवं धर्मका विरोध तथा सदाचारके नामपर दम्भ बढ़ रहा है। समस्त जगत्‌के प्राणियोंको विशुद्ध अध्यात्मका उज्ज्वलतम प्रकाश प्रदान करनेवाला जगद्गुरु भारत भी आज विमोहित और पदच्युत है। वह तो आज पश्चिमके कुछ देशोंकी नैतिक विशुद्धिसे भी नीचे गिर गया है। उसका अध्यात्म तथा उसका परमार्थ उसके साहित्यमें है, उसके मङ्गलमय इतिहासमें है, पर वह उसके जीवनमें नहीं रहा—यही सबसे बड़े दुःखकी बात है, परंतु इसका मूल कारण है—देश और राष्ट्रके कर्णधारोंमें भोगवादजनित मोहग्रस्त विपरीत बुद्धिका होना और इसीका परिणाम है—सेक्यूलर (धर्मनिरपेक्ष—दूसरे शब्दोंमें धर्महीन-राज्य)—केवल अर्थ-साधनी धर्मरहित शिक्षा, भगवान्, देवता, परलोक तथा शास्त्रोंपर अविश्वासकी प्रवृत्ति और तात्कालिक दीखनेवाले केवल भौतिक लाभकी योजना अर्थात् सिद्धान्त और संस्कृतिको ताकपर रखकर येन-केन प्रकारेण सत्ता प्राप्त करनेकी राजनीति एवं स्वार्थ साधनेकी लालसा इत्यादि।

अंग्रेजोंकी भी यह नीति थी कि वे देशमें वर्गविद्वेष और साम्प्रदायिक झगड़े जीवित रखना चाहते थे और इसी बलपर उन्होंने इस देशपर शासन किया और अन्तमें देशको खण्डित कर ही वे यहाँसे चले गये।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीने स्वराज्य मिलनेपर देशमें रामराज्यकी कल्पना की थी। रामके राज्यमें सम्पूर्ण प्रजा सुखी थी, वर्णाश्रमके अनुसार सबको अपने-अपने धर्मपालनकी स्वतन्त्रता थी, न्याययुक्त निर्णय होते थे। राजनीति स्वार्थपूर्ण

नहीं थी।

रावणके राज्यमें रामका नाम लेना भी एक महान् अपराध माना जाता था। भगवदाराधन, भजन-पूजनका निषेध था। ऋषि-मुनियोंको दण्ड देनेकी परम्परा थी। ये बातें अबतक हम इतिहास-पुराणोंमें पढ़ते आये हैं। कुछ बुद्धिजीवी इसपर विश्वास नहीं करते और इन कथाओंको काल्पनिक भी मानते हैं, पर आज अपने देशमें यह सब देखकर आश्चर्य होता है। विश्व-कल्याणार्थ साधन, भजन करनेवाले संत-महात्माओं और धर्माचार्योंको जेलकी सींखचोंमें बंद करने तथा उनपर लाठी-गोली बरसानेमें कोई संकोच नहीं होता, बल्कि शासन-तन्त्र गर्वका अनुभव करता है कि उसने यह सब करके बड़ी सफलता प्राप्त कर ली। पता नहीं इन सबके क्या परिणाम होंगे ?

काम, क्रोध, लोभ—जिनको भगवान्ने गीतामें नरकका त्रिविध द्वार बतलाया है—आज हमारे जीवनके नित्यसंगी बन गये हैं। मानो हमारी सारी जीवन-प्रवृत्तियाँ इन्हींके द्वारा परिचालित हैं; तभी तो जीवनमें सर्वत्र घोर अशान्ति छायी है। कहीं कभी किसी भी वर्गमें विशुद्ध शान्तिके शुभ दर्शन नहीं होते और तुर्रा यह कि इसीको आज हम प्रगति या उत्थान मान रहे हैं। इसीसे देशमें उच्छृङ्खलता, हिंसा एवं तामसी प्रवृत्तियोंका साम्राज्य हो रहा है

उन्नति तथा उत्थानका वास्तविक अर्थ है—चरित्रका उत्थान। मानस-उच्चता और तदनुरूप व्यवहार-बर्तावमें विशुद्धि—यही वास्तविक जीवन-संस्कार या संस्कृति है, जिससे हमारे अंदरके दुर्विचारों, दुर्गुणों तथा दोषोंका नाश होकर अन्तरके भावोंका सात्त्विक सुधार हो जाय, वासना, कामना आदि विशुद्ध हो जायँ, उनमेंसे भोगासक्ति, हिंसा, असत्य, उच्छृङ्खलता आदि दोष निकल जायँ, जीवन विशुद्ध संयमपूर्ण तथा पर-सुख-हितस्वरूप बन जाय और विचारोंके अनुसार आचार भी सत्य शिव सुन्दर हो जाय—तभी उसकी संस्कृतिका उदय समझना चाहिये। आज तो हमारी सारी संस्कृति समाजके हिताहितकी दृष्टिसे शून्य केवल कलाप्रदर्शक संगीत-वाद्य, अभिनय तथा नृत्य और उसके सहयोगी सहभोज पानेमें ही सीमित हो गयी है। देशमें अनाचार इसलिये बढ़ रहे हैं कि हमारी बुद्धि भोगवाद और भौतिकताको ही परम आदर्श मानकर सर्वथा तमसाच्छन्न हो रही है। इस अवस्थामें सच्चे भगवद्भाव, भगवद्विश्वास तथा हमारे ऋषि-मुनिसेवित जीवनके त्यागमय लक्ष्यकी ओर समाजका और सत्तामें लिप्त नेतृत्व-वर्गका ध्यान खींचनेकी आवश्यकता है और यह काम कोरे व्याख्यानोंसे तथा निरीह जनताके दमनसे नहीं होगा, यह होगा जीवनके पवित्र यथार्थ आचरणसे। ऐसे आचारवान् व्यक्तियोंका समाजमें निर्माण होना चाहिये जो स्वयं ऐसा आचरण करके आदर्श उपस्थित करें। ऐसे थोड़ेसे लोग भी महान् परिवर्तन कर देंगे और इस प्रकारका थोड़ा-सा सच्चा साधन भी महान् भयसे त्राण करानेवाला होगा—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

—सम्पादक

* * *

श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, प्राणिमात्रको किसी प्रकार भी पीड़ा न पहुँचाना, अपराध करनेवालेके प्रति भी क्षमाभाव, मन, वाणी, शरीरकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, भीतर और बाहरकी शुद्धि, चित्तकी स्थिरता, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरका वशमें होना, इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य, अहङ्कारका अभाव, प्रत्येक विषयमें जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिरूप दुःख-दोषोंको बार-बार देखना, पुत्र-स्त्री-धन आदिमें आसक्तिका अभाव, किसी सांसारिक वस्तुमें मेरापन न होना, लौकिक दृष्टिसे प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा समचित्त रहना, परमेश्वरमें अनन्यभावसे अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव, विषयी मनुष्यसमुदायमें मन न लगना, अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सर्वत्र देखना यह बीस लक्षणवाला ज्ञान है, जो इससे विपरीत है वह अज्ञान है।

—श्रीमद्भगवद्गीता

* * *

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका आत्मकल्याणकारी साहित्य

[सस्ती, शिक्षाप्रद, अमूल्य पुस्तकें]

धर्मसे लाभ और अधर्मसे हानि—

इस घोर कलिकालमें अधिकाधिक लोग आस्तिकता, धर्म-परायणता एवं परमात्म-तत्त्वकी ओर उत्तरोत्तर आकर्षित और अग्रसरित हों—इस विषयके सर्वाधिक महत्त्वका श्रीगोयन्दकाजीने प्रस्तुत पुस्तकके चौबीस लेखोंमें शास्त्रानुमोदित सिद्धान्तोंके आधारपर सरल भाषामें प्रतिपादन किया है। पृष्ठ-संख्या २५५, स्वच्छ, सुन्दर छपाईसे युक्त, रंगीन आकर्षक आवरण-पृष्ठ, मूल्य ३.५० (तीन रुपये पचास पैसे) मात्र, डाक-खर्च अतिरिक्त।

भक्ति-भक्त और भगवान्—

भगवान्की प्राप्ति या आत्मोद्धारके लिये भगवद्भक्ति, ज्ञान-वैराग्य, श्रद्धा-प्रेम, आत्म-चिन्तन, भगवद्विश्वास और नामोपासना आदिको शास्त्रोंने प्रमुख साधन माना है। इस पुस्तकमें लेखक महानुभावने इन्हीं शास्त्रोक्त विषयोंपर जनकल्याणार्थ विस्तृत प्रकाश डाला है। पृष्ठ-संख्या २९८, आकर्षक सुन्दर छपाईसे युक्त, सुन्दर बहुरंगे आवरण-पृष्ठसे सज्जित है। मूल्य ३.०० (तीन रुपये) मात्र, डाक-खर्च अतिरिक्त।

समता अमृत और विषमता विष—

प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीगोयन्दकाजीके अनुभवगम्य विचारोंपर आधारित आत्मबोधक और जीवनोपयोगी उन लेखोंका अमूल्य संग्रह है जो सर्वसाधारण तथा साधकोंके लिये अत्यन्त उपयोगी और नित्य मननीय है। पृष्ठ-संख्या २१५, स्वच्छ, सुन्दर छपाईसे युक्त, बहुरंगा आकर्षक आवरण-पृष्ठ, मूल्य ३.०० (तीन रुपये) मात्र, डाकखर्च अतिरिक्त।

ज्ञानयोगका तत्त्व—

इस पुस्तकके सत्ताईस लेखोंमें सत्सङ्ग, विवेक, वैराग्य, जीवात्मा तथा सच्चिदानन्दघन परमात्मा एवं मोक्षके विषयमें विशद वर्णन है। साथ ही ज्ञानयोग-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण गूढ़ विषयोंको भी सरल रूपमें समझानेकी चेष्टा की गयी है। इस प्रकार ज्ञानयोगके साधकोंके लिये इसमें उपादेय सामग्री है। पृष्ठ-संख्या ३८४, आकर्षक रंगीन आवरण- सहित, मूल्य २.५० (दो रुपये पचास पैसे) मात्र, डाक-खर्च अतिरिक्त।

भक्तियोगका तत्त्व—

इसके उन्तीस लेखोंमें भक्ति-विषयक परमोच्च भावोंका भलीभाँति निरूपण है। मनीषी लेखकने भक्तिके स्वरूप-महत्त्व तथा रहस्यका, भक्तोंके लक्षण, महिमा और गुण-प्रभावका एवं भक्तिके प्रमुख साधनों—नाम-जप, ध्यान, स्मरण, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदिका विशद वर्णन किया है। पृष्ठ-संख्या ४५६, सुन्दर आकर्षक रंगीन आवरण-सहित, मूल्य २.५० (दो रुपये पचास पैसे) मात्र, डाक-खर्च अतिरिक्त।

प्रेमयोगका तत्त्व—

इसमें प्रेमके वास्तविक स्वरूप और उसकी प्राप्तिके विविध साधनोंका विशद वर्णन तो है ही; साथ ही श्रद्धा, प्रेम, शरणागति, भगवत्प्रेम और भगवत्सुहृदयताका तत्त्व भी भलीभाँति समझाया गया है। प्रेम-मार्गी साधकों और जिज्ञासुओंके लिये इसमें साधनोपयोगी उत्तम दिशा-बोध है। पृष्ठ-संख्या ३८३, बहुरंगे आकर्षक आवरण-युक्त, मूल्य २.०० (दो रुपये) मात्र, डाक-खर्च अतिरिक्त।

कर्मयोगका तत्त्व—

यह पुस्तक गृहस्थोंके लिये विशेष उपादेय है; क्योंकि इसमें गृहस्थाश्रममें रहकर सांसारिक कर्तव्योंका निर्वाह करते हुए भी शीघ्रातिशीघ्र परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो सकती है—यह विशेष रूपसे बतलाया गया है। पृष्ठ-सं० ४२०, आकर्षक रंगीन पृष्ठावरण, मूल्य ३.०० (तीन रुपये) मात्र, डाक-खर्च अतिरिक्त।

परमार्थ-पत्रावली भाग-१—

इसमें परम श्रद्धेय श्रीगोयन्दकाजीके अध्यात्म तथा व्यवहारसम्बन्धी कुछ चुने हुए पत्रोत्तरोंका संग्रह है। परमार्थ तथा व्यवहार—दोनों ही दृष्टियोंसे इसका पठन-पाठन परम उपयोगी और प्रेरणादायी है। पृष्ठ-संख्या ११२, रंगीन आकर्षक आवरण, मूल्य १.०० (एक रुपया) मात्र, डाक-खर्च अतिरिक्त।

परमार्थ-पत्रावली भाग-२—

इसमें अध्यात्मविषयक अस्सी पत्रोंका संकलन है। जिज्ञासुओंमें परमार्थ-प्रेम, सत्संगविषयक अभिरुचि एवं भगवत्प्रेमकी आन्तरिक जिज्ञासा जगाने एवं उसकी पूर्तिमें इसका अध्ययन-मनन विशेष सहायक है। पृष्ठ-संख्या १७१, रंगीन आकर्षक आवरण-सहित, मूल्य १.०० (एक रुपया) मात्र, डाक-खर्च अतिरिक्त।

परमार्थ-पत्रावली भाग-३—

इस भागमें कर्तव्य-विचार, नाम-जप, वैराग्य और चेतावनी, भगवत्प्राप्तिका उपाय, शास्त्राभ्यासकी प्रेरणा, भगवत्कृपाका आश्रय तथा विद्यार्थियोंके लिये उपयोगी शिक्षाएँ इत्यादि विषयोंपर बहत्तर प्रेरक पत्र हैं। पृष्ठ-संख्या ११२, रंगीन चित्रावरण, मूल्य १.२५ (एक रुपया पचीस पैसे) मात्र, डाक-खर्च अतिरिक्त।

परमार्थ-पत्रावली भाग-४—

इस पत्र-संग्रहमें आध्यात्मिक एवं धार्मिक विषयोंके साथ व्यापार-सुधार तथा समाज-सुधार-सम्बन्धी दिशा-निर्देश भी है। कुल पत्र-संख्या एक्यानबे है, जिनमें भजन, ध्यान, सेवा, सत्सङ्ग, स्वाध्याय, संयम, सदाचार आदिके महत्त्व तथा दुर्गुण-दुराचारके त्याग और सद्गुण-सदाचारके सेवनपर विशेष बल दिया गया है। पृष्ठ-संख्या-२०३, आकर्षक रंगीन आवरण, मूल्य १.२५ (एक रुपया पचीस पैसे) मात्र, डाक-खर्च अतिरिक्त।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५

संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराजका महाप्रयाण

मिति मार्गशीर्ष कृष्ण ६, दिनाङ्क ८ नवम्बर १९९०को प्रातःकाल महान् संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज गुजरात-स्थित नदियाडमें भगवद्धाम पधार गये। वे गृहस्थ-जीवनमें रहते हुए एक महान् संत, भगवद्भक्त तथा ज्ञान-वैराग्य एवं त्यागकी प्रतिमूर्ति थे। श्रीमद्भागवत एवं रामायणकी कथाके माध्यमसे उन्होंने सनातन जगत्को आलोकित किया, साथ ही उनकी कथासे कथावाचकोंका मार्गदर्शन भी हुआ। इनकी कथाशैली इतनी अद्भुत थी कि साधारण अनपढ़से लेकर विशिष्ट विद्वान् साधक, संत और महात्मा सभीको.उनकी कथामें एक विशेष तृप्तिका अनुभव होता था। उनकी यह मान्यता थी कि भगवान्‌की कथा सुनकर जीवनमें बदलाव नहीं आये तो कथा-श्रवणसे क्या लाभ ? यही कारण था कि वे शास्त्रीय सिद्धान्तोंको पहले अपने आचरणमें उतारकर ही कथामें उपदेश करना उचित समझते थे। जिसके कारण श्रोताओंपर उनकी बातोंका विशेष प्रभाव पड़ा और बहुतोंके जीवनमें अत्यधिक सुधार भी हुआ।

'भजन करना' और 'दूसरोंको भोजन कराना'—इसीमें उनका विश्वास था, यही कारण है कि देशके विभिन्न भागोंमें उनके द्वारा स्थापित कई सौ अन्न-क्षेत्रके ट्रस्ट आज भी कार्य कर रहे हैं, जहाँ गरीब जनताको भोजन और अन्नदानकी व्यवस्था है। इस प्रकार लोकोपकारी जीवन संत श्रीडोंगरेजीको प्राप्त था। महाप्रयाणके चार दिन पूर्व उनकी इच्छानुसार उन्हें संन्यास ग्रहण करा दिया गया था। उनके अभावकी पूर्ति निकट भविष्यमें सम्भव नहीं प्रतीत होती।

'कल्याण'पर उनकी महती कृपा रही है, इन दिनों वे प्रायः कहा करते कि मैं केवल 'कल्याण'को ही पढ़ता हूँ, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं पढ़ता। इस अवसरपर हम 'गीताप्रेस' एवं 'कल्याण'-परिवारकी ओरसे दिवङ्गत आत्माके प्रति अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं।

—सम्पादक

कल्याण

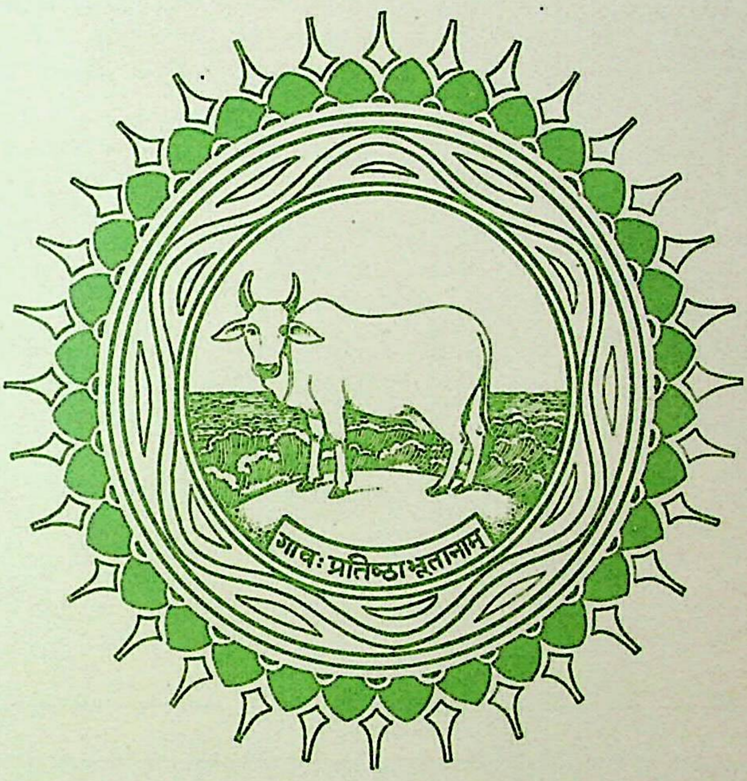
गावः प्रतिष्ठा भूतानाम्

नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च । नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः ॥
गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च । गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥

वर्ष ६४ संख्या ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, वि॰ सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, दिसम्बर १९९० ई॰

विषय — पृष्ठ-संख्या

१-भगवती शारदाका ध्यान …………………… ६८९
२-कल्याण (शिव) …………………… ६९०
३-शीघ्र भगवत्प्राप्ति कैसे हो ? (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) …………………… ६९१
४-साम्प्रित्रेता गरीयसी (श्रीबनवारीजी गुप्त 'शास्त्री') …… ६९५
५-अल्पमें सुख नहीं है (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) …………………… ६९७
६-गीतावलीमें विभीषण-शरणागति-प्रसंग (डॉ॰ श्रीविनोद्कुमारजी ओझा) …………………… ६९९
७-साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) …………………… ७०२
८-जीवनके लक्ष्यकी प्राप्ति (डॉ॰ श्रीपशुपतिनाथजी उपाध्याय) …………………… ७०५
९-देववाणीकी दिव्यता (डॉ॰ श्रीगोकुलप्रसादजी त्रिपाठी, एम्॰ए॰, पी-एच्॰डी॰) …………………… ७०७
१०-हृदयकी बात …………………… ७०९
११-सांसारिक भोगोंकी दुःखरूपता (कृष्णपादलीन संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज) …………………… ७१०

विषय — पृष्ठ-संख्या

१२-सुखी-दुःखी होनेमें मुख्य हेतु है तन्मयता (स्वामी श्रीशंकरानन्दजी महाराज) …………………… ७१२
१३-क्या अच्छा है ? …………………… ७१३
१४-विश्वहितके लिये हमारी सनातन प्रार्थना [अनु॰—श्रीमदालसा नारायण, प्रे॰—श्रीजयदयालजी डालमिया] ७१४
१५-श्रीत्रिभुवन पाण्डेय [भक्तगाथा] …………………… ७१५
१६-अब तो मनमें आओ राम ! [कविता] (श्रीअतुलकीर्तिजी व्यास) …………………… ७१६
१७-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) …………………… ७१७
१८-उपवाससे स्वास्थ्य-लाभ (वैद्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, आयुर्वेदाचार्य) …………………… ७१८
१९-उपनिषद्-वाणी …………………… ७१९
२०-परोपकारप्राणा पुण्यमयी गौ (सुश्री मंजुलता मिश्रा, एम्॰ए॰, एम्॰ फिल्॰) …………………… ७२०
२१-पढ़ो, समझो और करो …………………… ७२२
२२-मनन करने योग्य …………………… ७२५
२३-परमार्थ-साधनके आठ विघ्न …………………… ७२६

चित्र-सूची

१-गोमाता (इकरंगा) आवरण-पृष्ठ
२-श्रीश्रीसरस्वतीदेवी (रंगीन) मुख-पृष्ठ

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें २.०० रु॰
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
(डाक-व्ययसहित)
भारतमें ४४.०० रु॰
विदेशमें ६ पौंड
अथवा १० डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

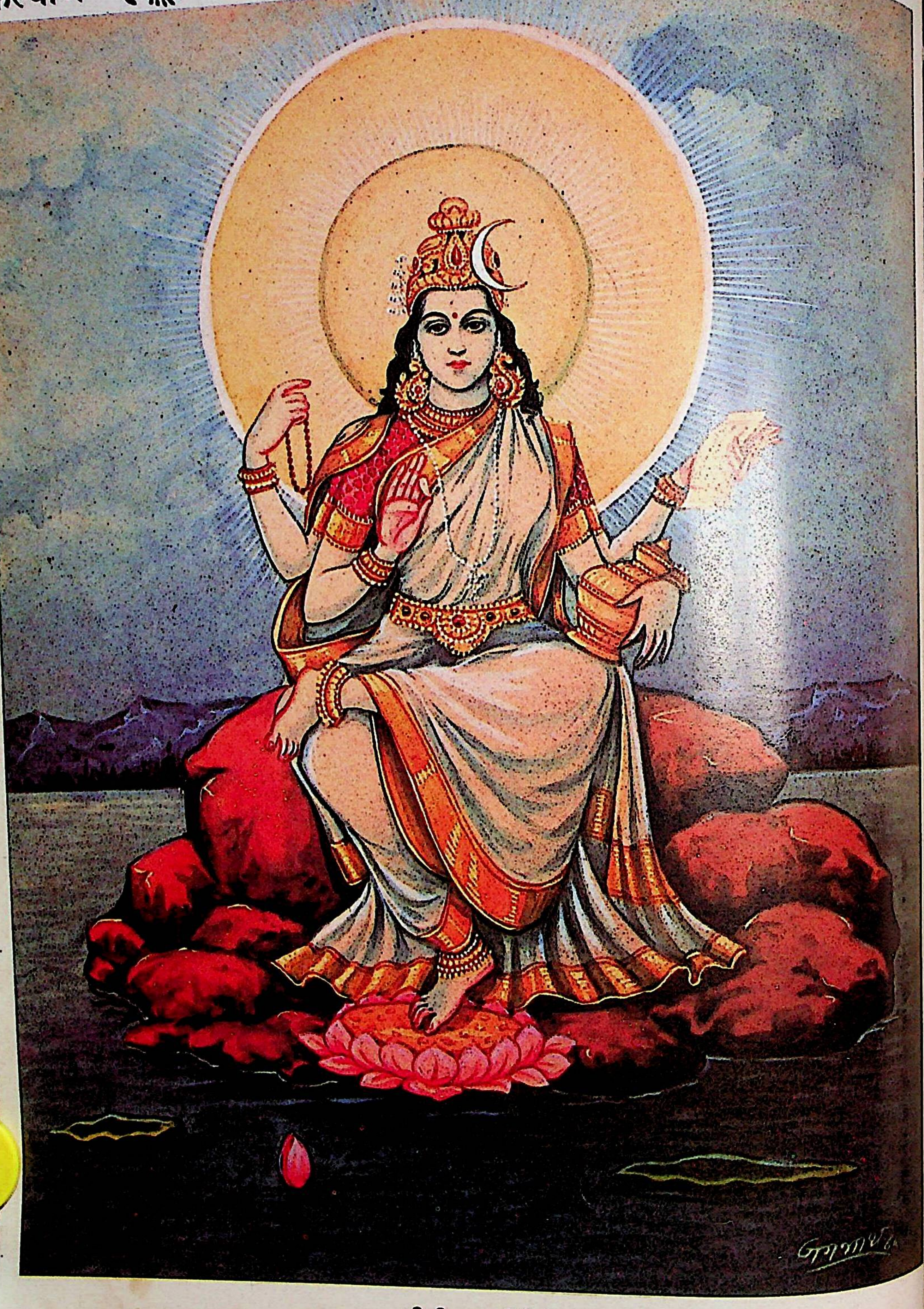

श्रीश्रीसरस्वती देवी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

वर्ष ६४ गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, वि॰सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, दिसम्बर १९९० ई॰
संख्या ९
पूर्ण संख्या ७६६

भगवती शारदाका ध्यान

पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोःपन्मध्यवक्षःस्थलां
भास्वन्मौलिनिबद्धचन्द्रशकलामापीनतुङ्गस्तनीम् ।
मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्याञ्च हस्ताम्बुजै-
र्बिभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये ॥

जिनका मुख, भुजाएँ, वक्षःस्थल, कटिभाग और पदतलतकका सम्पूर्ण शरीर वर्णमालाके पचास अक्षरोंमें विभक्त है, जिनका मुकुट-मण्डल प्रभापूर्ण चन्द्रकलासे उपनिबद्ध है, जो उन्नत एवं स्थूल उरोजोंसे सुशोभित हैं तथा अपने कर-कमलोंमें रुद्राक्षकी माला, पीयूषपूर्ण कलश, पुस्तक और ज्ञानमुद्रा धारण किये हुई हैं, उन शुभ्र वर्णवाली, तीन नेत्रोंसे युक्त वाणीकी अधिष्ठात्री भगवती शारदाकी हम शरण ग्रहण करते हैं।

कल्याण

याद रखो, विश्वके रूपमें साक्षात् भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं। जीवके रूपमें शिव ही विविध लीला कर रहे हैं। इसलिये तुम किसीसे घृणा न करो, किसीका कभी अनादर न करो, किसीका अहित मत चाहो। निश्चय समझो, यदि तुमने स्वार्थवश किसी जीवका अहित किया, किसीके हृदयमें चोट पहुँचायी तो वह चोट तुम्हारे भगवान्‌के ही हृदयमें लगेगी। तुम चाहे जितनी देर अलग बैठकर भगवान्‌को मनाते रहो, परंतु जबतक सर्वभूतोंमें स्थित भगवान्‌पर तुम स्वार्थवश चोट करते रहोगे, तबतक भगवान् तुम्हारी पूजा कभी स्वीकार नहीं कर सकते।

× × ×

सबका सम्मान करो, सबका हित चाहो, सबसे प्रेम करो, आत्माकी दृष्टिसे सब भेदोंको भुलाकर सबको नमस्कार करो। इसका यह अर्थ नहीं कि व्यवहारके आवश्यक भेदको भी मिटा दो। दुष्टबुद्धिवाले पुरुषको जीवन्मुक्त महात्मा मत समझो। मूर्खको विद्वान् समझकर उसकी बात सुनोगे तो गिर जाओगे। विद्वान्‌को मूर्ख मानकर उसकी बात नहीं सुनोगे तो ज्ञानसे वञ्चित रह जाओगे। पापसे घृणा करो, असंयमसे द्वेष करो, दुष्ट आचरणोंसे वैर करो, कुविचारोंका अपमान करो, नास्तिकताका विनाश करो, जिनमें ये दोष हों उनसे अलग रहो, परंतु उनसे आत्माकी दृष्टिसे घृणा न करो। स्वरूपमें अभेद और व्यवहारमें आवश्यक भेद रखो।

× × ×

किसीको नीच, पतित या पापी मत समझो, याद रखो, जिसे तुम नीच, पतित और पापी समझते हो, उसमें भी तुम्हारे वही भगवान् विराजित हैं जो महात्मा-ऋषियोंके हृदयमें हैं। सबको प्रेमदान करो, सबके प्रति सहानुभूति रखो। किसीकी निन्दा न करो। किसीकी निन्दा न सुनो। साधकको तो दूसरेकी निन्दा सहन ही नहीं होनी चाहिये। निन्दा सुननी हो तो अपनी सुनो और करनी आवश्यक समझो तो अपनी सच्ची निन्दा करो।

× × ×

निःस्वार्थ-भावसे सबके साथ प्रेम करो, अपने प्रेमबलसे दूसरोंके चरित्रको सुधारो, उन्हें ऊँचे उठाओ। तुम्हारे आचरण आदर्श होंगे तो तुम अपने स्वार्थहीन प्रेमके बलसे घिरे हुए भाईको ऊँचा उठा सकोगे। याद रखो, शुद्ध आचरणयुक्त निःस्वार्थ प्रेममें बड़ा बल होता है।

× × ×

भगवान् मङ्गलमय हैं, हमारे परम हितैषी हैं, सर्वज्ञ हैं, किसी बातमें कैसे हमारा हित होता है, इस बातको जानते हैं। अतएव उनके प्रत्येक विधानका स्वागत करो। खुशीसे सिर चढ़ाकर स्वीकार करो। उनके हाथके दिये जहरमें अमृतका अनुभव करो, उनके हाथकी तलवारमें शान्तिकी छबि देखो, उनके कोमल करस्पर्शसे महिमाको पाये हुए सुदर्शनमें चरम सुखके शुभ दर्शन करो और उनकी दी हुई मौतमें अमरत्वको प्राप्त करो। उनके प्रत्येक मङ्गलविधानमें उनको स्वयमेव अवतीर्ण देखो।

× × ×

डरो पापसे, अभिमानसे, ममतासे, कामनासे, शोकसे, क्रोधसे, लोभसे, सम्मानसे, बड़ाईसे, ख्यातिसे, पूजासे, नेतृत्वसे, गुरुपनेसे, महन्तीसे, पदवीसे, सभा-समितियोंसे स्वेच्छाचारसे, उच्छृङ्खलतासे, मनमाने आचरणोंसे, इन्द्रियोंकी गुलामीसे, विषयासक्तिसे, मौज-शौकसे, विलासितासे, वादविवादसे, परचर्चासे, परनिन्दासे, परधनसे, परस्त्रीसे; और इनसे यथासाध्य सदा बचे रहो।

× × ×

किसी कामके सफल होनेपर यह मत समझो कि यह तुम्हारी करनीसे हुआ है। तुम तो निमित्तमात्र हो। सफलतापर बड़ाई मिलनेपर खुशीसे फूल मत उठो। यह तो संसारका नियम ही है। सफलतापर सभी बधाई और बड़ाई देते हैं और असफलतापर धिक्कार एवं निन्दा। आज बड़ाईमें फूलोगे तो कल निन्दा सुनकर रोना पड़ेगा। सदा न किसीको सफलता मिलती है, न असफलता।

× × ×

अपनी समझसे कोई बुरा काम न करो, बुरी नीयत मत रखो, फल बुरा हो तो शोक न करो। इसी प्रकार अपनी समझसे अच्छा काम करो, अच्छी नीयत रखो, फल तो विधाताके हाथ है। तुम अपना काम करो। विधाताके विधानको पलटनेकी व्यर्थ चेष्टा मत करो। —शिव

शीघ्र भगवत्प्राप्ति कैसे हो ?

[गीताभवन-स्वर्गाश्रममें दिये गये प्रवचनके आधारपर]

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गताङ्क पृ० सं० ६५४ से आगे]

भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌के स्वरूप आदिके श्रवण-मननमें अपना चित्त, अपनी बुद्धि और इन्द्रियाँ लगा देनी चाहिये, साथ ही उत्तम कर्म भी करते रहना चाहिये, तीर्थोंमें आकर उत्तम आचरण करना चाहिये। जैसे—दान, तप, यज्ञ, दीन-दुःखियोंकी सेवा आदि। देवताओंका मन्दिरोंमें दर्शन करना चाहिये, उपवास करना चाहिये, व्रत करना चाहिये। ये सभी उत्तम-उत्तम कार्य हैं, यम-नियमोंका पालन करना चाहिये।

यम पाँच प्रकारके होते हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य और ५. परिग्रहका त्याग। अहिंसाका मतलब यह है कि किंचिन्मात्र भी कभी किसीको किसी निमित्तसे कष्ट नहीं पहुँचाना। किसीकी भी आत्माको कभी कष्ट नहीं पहुँचाना। मनसे, वाणीसे, शरीरसे किसी भी प्रकारसे कभी किसी भी जीवको किंचिन्मात्र भी कष्ट नहीं देना चाहिये। इसीका नाम अहिंसा है। इसी प्रकार सत्य वचन बोलनेका तात्पर्य है। जो बात जितनी सुनी, जितनी देखी या जितनी समझी हो उतनी-की-उतनी ही कह देना एवं वैसी-की-वैसी करना, न कम करना, न अधिक। यह ख्याल रखना चाहिये कि हमारे सत्यपालनमें किसीकी हिंसा न हो जाय। सत्य वचन बोलते हुए उसके हितकी बात और प्रिय बात कहनी चाहिये। कम बोलना चाहिये। अस्तेयका अर्थ है किसी प्रकारकी चोरी न करना। दूसरेका द्रव्य न तो ठगना चाहिये और न नजर छिपाकर लेना चाहिये और न डाँका डालना चाहिये और न जबरदस्ती करनी चाहिये। किसी भी प्रकारसे किसीका धन नहीं लेना चाहिये। जो साधु और ब्राह्मण हैं उनको आवश्यक चीज—अन्न, वस्त्र, पुस्तक यदि कोई दे तो वे ले सकते हैं। वह चोरी नहीं है, चोरी तो वह है जो किसीकी नजर बचाकर ले ले, किसीपर दबाव डालकर ले ले। फुसला कर ले ले, किसी दूसरेके हकका हरण कर ले। ऐसा कभी भी नहीं करना चाहिये, तीर्थोंमें तो करना ही नहीं चाहिये। सब प्रकारसे ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। किसी भी प्रकारसे अपने वीर्यका नुकसान नहीं करना चाहिये। पुरुषोंको स्त्रियोंसे, स्त्रियोंको पुरुषोंसे परहेज करना चाहिये। पुरुषोंको स्त्रियोंका न तो दर्शन करना चाहिये, न स्पर्श। न अश्लील बात करनी चाहिये, न एकान्त-वास और न रमण। किसी भी प्रकारसे सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। यदि बहुत जरूरी बात हो, भगवद्विषयकी बात हो तो माता तथा बहन समझकर बात की जा सकती है। परिग्रहका त्याग करना चाहिये। 'भविष्यके लिये किसी प्रकारके स्वादका, शौकीनीका, ऐशो-आरामका, भोग-विलासका संग्रह करना ठीक नहीं है।'—ऐसा विचार करके उसका त्याग कर देना चाहिये। केवल अपने शरीरके निर्वाहार्थ भगवान् कहते हैं—

> निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
> शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
>
> (गीता ४ । २१)

'जीत लिया है अन्तःकरण और शरीर जिसने तथा त्याग दी है सम्पूर्ण भोगोंकी सामग्री जिसने, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्मको करता हुआ पापको नहीं प्राप्त होता है।'

केवल शरीर-निर्वाहार्थ सत्कर्म करते हुए पुरुषको कभी पाप प्राप्त नहीं होता। शरीर-सुखके लिये भोग-दृष्टिका त्याग करना चाहिये। ऐश-आरामकी दृष्टिसे संसारके पदार्थोंका संग्रह करना परिग्रह कहलाता है। परिग्रहका त्याग करना संग्रहका त्याग करना है। इन पाँच प्रकारके यमका अच्छी तरह पालन करना चाहिये।

नियम पाँच हैं, उन नियमोंको तीर्थोंमें आकर धारण करना चाहिये। पहला है शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता)। बाहरी पवित्रता गङ्गाजल, मिट्टी एवं शौचाचार—सदाचारसे हो जाती है। सदाचारका मतलब यह है कि सभीके साथ उत्तम व्यवहार हो। सदाचार और पवित्र भोजन करना यह बाहरकी पवित्रता है; आहार, व्यवहार और स्नान आदिके द्वारा अपनेको शुद्ध रखना चाहिये। भीतरकी पवित्रता है—काम, क्रोध,

लोभ, राग-द्वेष आदि जो बहुतसे दोष-पाप भीतरमें इकट्ठे हो रहे हैं, उन सबका नाश करना। इसका नाम है शौच। दूसरा है संतोष। इच्छासे या परेच्छा अथवा ईश्वरेच्छासे जो कुछ प्राप्त हो जाय बस, उसीमें आनन्द माननेको संतोष कहते हैं। **'यदृच्छालाभसंतुष्टो॰'** (४।२२)। लड़का पैदा हुआ तो आनन्द, लड़का मर गया तो आनन्द। लाख रुपये चले गये तो आनन्द, लाख रुपये आ गये तो आनन्द, शरीरमें बीमारी आ गयी तो आनन्द, बीमारी चली गयी तो आनन्द। तात्पर्य यह कि हरि-इच्छासे जो कुछ भी आ करके मिल जाय बस उसीमें आनन्द मानना। इसका नाम है संतोष। तीसरा है तप। इसका मतलब है इन्द्रियोंको वशमें रखना, मन तथा बुद्धिको संयत करना। एकादशी तथा पूर्णिमाका व्रत करना। समय-समयसे उपवास करना भी तपके अन्तर्गत ही माना जाता है। भारी-से-भारी आपत्ति आनेपर भी अपने धर्मका त्याग न करना तप है। धर्मके पालन-रूप तपद्वारा मन, इन्द्रियों, वाणी तथा शरीरको शुद्ध बनाना होता है। जैसे सोनेको आगमें तपाया जाता है तो वह सोना शुद्ध हो जाता है, उसका खोट झर जाता है, सोना सोना ही रह जाता है। उसी प्रकार हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ और बुद्धि—ये सब दूषित हो रही हैं। इसलिये धर्म-पालन-तपके द्वारा इन्हें तपाकर सोना-जैसा बनाना है। धर्मके लिये कष्टका सहन करना तप है। गीता, रामायण, महाभारत-जैसे धार्मिक पुस्तकोंका प्रतिदिन घंटा आध घंटा स्वाध्याय करना—अध्ययन करना स्वाध्याय-जप कहा जाता है। ईश्वर-प्रणिधानका भाव है ईश्वरकी भक्ति। ईश्वरको हर समय याद रखना—भगवान्के स्वरूपको, भगवान्के नामको प्रतिक्षण ध्यानमें रखना। भगवान्का ध्यान करते समय भगवान्के गुणोंको और चरित्रोंको याद करना चाहिये। जब एकान्त समय मिले तब भगवान्के नामका गुप्त रूपसे मानसिक जप करे और उसे प्रकाशित न करे। नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे किया जानेवाला जप बहुत दामी है। इन बताये हुए तपकी बातोंको तीर्थोंमें आकर अवश्य करना चाहिये। पितरोंके उद्धारके लिये प्रत्येक तीर्थोंमें जाकर तर्पण एवं पिण्ड-दान करना चाहिये। बदरिकाश्रममें एक ब्रह्मकपाल तीर्थ है। कहा जाता है कि वहाँ पिण्ड-दान करनेसे पितरोंका उद्धार हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक तीर्थमें जाकर क्षौर-कर्म करवाना, पितरोंको जल देना, पिण्ड देना बहुत ही उत्तम बात है। अपनेसे बन सके तो प्रत्येक तीर्थमें जाकर यज्ञ करो। चाहे पाँच रुपया ही खर्च करो। दान अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये। जैसे कोई भूखा है तो उसको अन्न दिया जाय। यदि एक दम नंगा हो तो उसको वस्त्र दिया जाय, विद्यार्थियोंको गीता, रामायण आदि पुस्तक दिया जाय। बीमार व्यक्तिको दवा दी जाय। तात्पर्य यह कि जो जिसका पात्र हो उसको वह चीज दी जाय। दान सात्त्विक करना चाहिये। भगवान्ने गीतामें कहा है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

(गीता १७।२०)

'हे अर्जुन! दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भावसे जो दान देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर, प्रत्युपकार न करनेवालेके लिये दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।'

इसलिये 'देना ही कर्तव्य है' ऐसा समझकर दान दिया जाय—उसके बदलेमें किसी प्रकारकी कोई कामना नहीं करे। प्रत्युपकारकी कामना तो करें ही नहीं। जिससे अपना कोई प्रयोजन न हो उसे देश, काल, पात्रके अनुसार निष्कामभावसे दे तथा कर्तव्य समझ कर दे। उत्तम देश, उत्तम काल और उत्तम पात्रको इस प्रकार समझना चाहिये—यदि तीर्थस्थान है तो वह उत्तम देश है और तीर्थस्थानमें भी यदि ग्रहण है, अमावस्या है, व्यतीपात है तो ये उत्तम काल हैं, जिसको दान दिया जाय वह भी दान ग्रहण करनेका पात्र हो। जो जिस वस्तुका पात्र हो उसे वही दिया जाय। यहाँ एक प्रकारसे मैंने देश, काल, पात्रकी व्याख्या बतलायी है। दूसरे प्रकारकी व्याख्या इस प्रकार है—दान उस देशमें दिया जाय, जहाँ देनेवाला कोई नहीं है और वहाँ आवश्यकता है। जैसे बाढ़ आ गयी, भूकम्प आ गया, आग लग गयी और कोई विपत्ति घट गयी, वहाँ देनेवाला कोई नहीं है तो वह देश पात्र है। काल पात्र वह है जैसे किसी समय किसीको किसी वस्तुका अभाव हो गया, कोई चीज पैदा नहीं हुई और प्रजा भूखसे मर रही है तो वह समय एक प्रकारसे दान देनेका समय है। और पात्र वह है जो दुःखी है, भूखा है, अनाथ है, अभ्यागत है, लँगड़ा है, कोढ़ी है, विधवा स्त्रियाँ हैं, कमानेकी शक्ति नहीं है,

रोजगार करनेपर भी खानेभरको नहीं मिलता, उसको दान देना चाहिये, वह दान ग्रहण करनेका पात्र है। यह दूसरे प्रकारकी देश, काल, पात्रकी व्याख्या है।

तीर्थमें आ करके उत्तम-से-उत्तम कार्य करना चाहिये। बड़ोंके चरणोंमें नमस्कार करना चाहिये तथा उनकी सेवा एवं आज्ञाका पालन करना चाहिये। यदि पत्नी पतिको देवता मानकर उसकी पूजा करे, घरभरकी सेवा करे, नमस्कार करे, तो वह केवल पातिव्रतधर्मसे ही अपने पतिके साथ उत्तम गतिको प्राप्त होती है। ऐसे ही जो लड़के हैं वे माता-पिताको नारायणका स्वरूप समझकर उनकी सेवा करें, उनकी आज्ञाका पालन करें और उनके चरणोंमें नमस्कार करें तो सहजमें ही उनका उद्धार हो जाय। इसी प्रकारसे भगवान्‌की भक्ति की जाय। अपने गुरुकी, महात्माओंकी तन-मन और वाणीसे सेवा करे। यदि यह सेवा निष्कामभावसे करे तो कैसा भी पापी क्यों न हो उसका शीघ्र ही उद्धार हो जायगा।

यहाँतक मैंने एक बात तो कही यज्ञ, दान आदि कर्मोंकी तथा दूसरी बात कही भगवान्‌की भक्तिकी और तीसरी बात तपस्याकी। तात्पर्य यह कि मन और इन्द्रियोंका जो व्यापार है उसका संयम करना और कर्मोंका त्याग करना अर्थात् इनको अक्रिय बना करके कष्ट सहकर तपस्या करना। इस प्रकार कर्मोंके फलका त्याग तथा शरीरसे खूब कर्म करना कर्मानुष्ठानके ये दो भेद हो गये—निष्कामकर्म और उपासना।

उपासना भक्तिका नाम है। भाव यह कि ईश्वरकी भक्ति करना—ज्ञान और वैराग्यद्वारा भोगोंका त्याग करके परमात्माके स्वरूपका विवेक-बुद्धिसे ज्ञान प्राप्त करना। सभी नियम कल्याण करनेवाले हैं। दानकी अपेक्षा ईश्वरकी भक्ति ज्यादा उत्तम है। मानो एक भाईने दानमें सौ रुपये दिये और इस रुपयेका अन्न मँगा करके साधुओंको दान दे दिया, या वस्त्र मँगाकर दे दिया, जूता मँगाकर दे दिया अथवा बदरिकाश्रम जानेवाले भाइयोंको यह सब मँगाकर दे दिया और दूसरे भाईने सौ रुपयेका सामान मँगाया और उसे साधुओंकी कुटियोंमें जा-जा करके, खोज-खोज करके पात्र देख-देख करके दिया तथा शरीरसे मेहनत किया तो सौ रुपयेसे ज्यादा वह महत्तम है और इससे भी ज्यादा लाभ भगवान्‌की भक्ति करनेवाले या भजन करनेवालेको है। मानो एक आदमीने लाख रुपये दान कर दिये और एक आदमीने एक दिन भगवान्‌के भजन और ध्यानमें मन लगा दिया, एक दिनकी तो बात ही क्या, अगर एक घंटा भी मन लगाकर भजन-ध्यान कर ले तो उसके मुकाबले न हजार रुपया है, न लाख रुपया। कोई भाई आनेवाले भाईके लिये मकान बनवा दे, कमरा बनवा दे, उनके रहनेकी व्यवस्था करवा दे, समझो कि यह जो पुण्य है, धर्म है, लोगोंकी सेवा है, यह भी निष्काम भावसे करनेपर मुक्ति देनेवाली है। किंतु भगवान्‌के भजन-ध्यानके बराबर नहीं है। आप लोगोंसे कहा जाता है कि आपलोग जब यहाँ सत्सङ्गमें आयें तब पैसा अधिक खर्च न करें, क्योंकि जो पैसा अधिक खर्च करता है वह बार-बार सत्सङ्गमें नहीं आ सकता। कारण कि उसके घरवाले कहते हैं कि तीर्थोंमें गया और कितना पैसा खर्च कर आया—पाँच सौ रुपये खर्च कर आया। दूसरी बार जानेको कहा तो कहा कि भाई ! एक बार जानेमें कम-से-कम ५०० रुपयेका खर्च आयेगा। अपना रोजगार भी अच्छा नहीं चलता है, इसलिये घरमें ही बैठकर क्यों न भजन कर लो, तीर्थोंमें जाकर ही भजन क्यों करे, क्या नारायण वहीं बैठा है ? घूमनेके लिये जानेमें १० रु०, आनेमें १० रुपये और ३०रु० दो महीने रहकर खानेमें, इस प्रकार ५० रुपये लगेंगे। वे बोलेंगे ५० रुपये वहाँ लगेंगे तो कोई बात नहीं, यहाँ भी तो ५० रुपये लग जाते हैं। वे कहेंगे अच्छा प्रतिदिन शरीर वृद्ध होता जा रहा है, तीर्थमें जाना ही चाहिये। तीर्थमें जाना अच्छी बात है। फिर बोलेंगे कि हाँ, तुम तो बूढ़े हो गये और तेरे हाथोंसे खर्चा भी कम लगता है, इसलिये तुम सदा तीर्थमें ही रहा करो। तो इतना कहनेका निष्कर्ष यह है कि यहाँ आ करके ज्यादा खर्च नहीं करना चाहिये। यदि फिर अपनेको यहाँ आना है, आनेका मन करे तो अपनी शक्तिके अनुसार खर्च करना चाहिये। शक्तिसे बाहर खर्च नहीं करना चाहिये। मान लो किसी-किसी भाईके सिरपर ऋण है तो सिरके ऊपर ऋण रहते तीर्थ करोगे तो ऋण और बढ़ेगा। दूसरोंके पैसोंसे तीर्थ करना ठीक नहीं है। गम्भीरतासे विचार करके देखो, अपने घर पूँजी तो है नहीं, जितनी पूँजी है उतनी माँगतकी है और उसे खर्च करता है तो दूसरेका पैसा खर्च करता है। ऐसे आदमीको तीर्थ नहीं करना चाहिये। कोई-कोई आदमी तीर्थ करते हैं तो उस तीर्थमें

दूसरेका पैसा ले लेते हैं, उधार लेकर दान करते हैं तो दूसरोंके पैसेसे तीर्थ करना बहुत नीचे दर्जेकी बात है। यदि पूछो कि कोई ब्राह्मण हो, साधु हो और उनके पास पैसा न हो तो उनके लिये भी यह नीचे दर्जेकी बात है क्या ? तो उनके लिये दो बात है—बिना याचनाके यदि कोई दे दे अथवा उनको तीर्थ करवा दे तो उस ब्राह्मणके लिये, साधुके लिये वह अमृतके समान है और यदि वह माँग ले तो वह उसके लिये निन्दनीय है। माँगो सबके लिये, अपने लिये नहीं, परंतु यदि बिना माँगे कोई तीर्थ करवा दे तो वह उसके लिये पाप नहीं है, अमृतके समान है। इसी प्रकारसे वह दान भी अमृतके समान है जो बिना माँगे दे। माँगना वह है जैसे चंदा-चिट्ठा है। जैसे एक आदमीने चंदेमें सौ रुपया माँगा, कहा— तू तो लखपति हो, तुम्हें तो कम-से-कम ५०० रुपये देने चाहिये। उसने कहा—नहीं मेरी तो इतनी इच्छा है। उसने कहा—नहीं मैं भी बनियाका बेटा हूँ, पाँच सौ लेकर जाऊँगा। उसने कहा—नहीं दो सौ रुपये ले जा। आखिरमें तीन सौ रुपयेमें सौदा तय हुआ। तो यह जो दान है एक प्रकारसे तामसी दान है। देना तो पड़ता है, हमलोगोंको भी देना पड़ता है, पर है वह तामसी दान। कहावत है—

'नहीं माँगा तो दूध बरोबर और माँग लिया तो पाणी।
खेंचा-तानी रक्त बरोबर ये संतोंकी वाणी॥'

तो ऐसा लेना-देना लेनेवालेके लिये भी विषके समान है और देनेवालेके लिये भी विषके समान है। दोनोंके लिये निन्दनीय है। जैसे तीर्थमें आकर यदि कोई पुण्य करे तो उसका अनन्त होता है, उसी प्रकार यदि तीर्थोंमें आकर कोई पाप करे तो वह भी अनन्त हो जाता है। तीर्थोंमें ऐसी शक्ति है कि वह सबको अनन्त कर दे। कोई भाई तीर्थमें आकर यदि चोरी करे, व्यभिचार करे, झूठ बोले, मद्य पिये, जूआ खेले तो वह भी उसका अनन्त हो जाता है। जैसे गङ्गाका ध्यान करने, उसमें स्नान करने, उसका पान करने, दर्शन करनेसे सब पाप कट जाते हैं, उसी प्रकार गङ्गामें कोई पेशाब करे, टट्टी करे तो वह घोर नरकमें जाता है। किसी अन्य स्थानपर टट्टी जाय तो इतना पाप नहीं है, परंतु गङ्गामें कोई टट्टी जाय तो बहुत पापकी बात है। यहाँ आकर गङ्गासे बहुत दूर जा करके टट्टी-पेशाब करना चाहिये। गङ्गाके किनारे न दातुन करना चाहिये, न खखार फेंकना चाहिये और न धोती धोनी चाहिये और न फटकारनी चाहिये। धोतीका पानी किनारे आकर निचोड़ना चाहिये, पर यह ध्यान रखना चाहिये कि वह निचोड़ा पानी गङ्गामें न चला जाय।

गङ्गाजीमें स्नान करनेमें पहले गङ्गाजीका ध्यान करना चाहिये, दण्डवत् प्रणाम करना चाहिये, फिर पुष्प चढ़ाकर गङ्गाजीका पूजन करके स्नान करना चाहिये। क्योंकि गङ्गामें स्नान करनेका बहुत माहात्म्य है। इसी प्रकार गङ्गाजीमें टट्टी-पेशाब जाना बहुत बड़ा पाप है। जैसे किसी महात्मा पुरुषकी सेवा करना बहुत बड़ा पुण्य है पर उनका तिरस्कार करना बहुत बड़ा पाप है। जैसे तुलसीमें जल डालना बहुत बड़ा पुण्य है,पर उसमें पेशाब करना बहुत बड़ा पाप है। हरेक तरहसे आपको समझ लेना चाहिये कि तीर्थोंमें आ करके किसी भी प्रकारका पाप नहीं करना चाहिये। यदि पुण्य न हो तो पाप तो नहीं ही करे। भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि हे भगवान्! यदि हमसे कोई पुण्य न हो तो पाप भी न हो। आप मेरी रक्षा करें। इसी तरहसे तीर्थोंमें जाकर रहना चाहिये। इससे शीघ्र ही पराभक्ति-प्राप्तिपूर्वक भगवत्प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त हो जाता है और जगदीश्वर भगवान्‌के प्राप्त हो जाने तथा प्रसन्न हो जानेपर कुछ भी अलभ्य या प्राप्य शेष नहीं रह जाता अर्थात् सब कुछ प्राप्त हो जाता है। (समाप्त)

* * *

यह परमात्मा न चक्षुका विषय है न वाणीका है, न इन्द्रियोंका है और न कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तप या अग्निहोत्रादि कर्मोंका ही विषय है। जिसका अन्तःकरण ब्रह्मज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशित है, वही इस अविभक्त परमात्माका ध्यान करता हुआ उसे देखता है।—उपनिषद्

जिसने इन्द्रियोंके वशमें रहकर केवल कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही अपना जीवन बिता दिया है, वह अन्तमें प्राप्त होनेवाली महान् पीड़ासे नष्टबुद्धि होकर मृत्युको प्राप्त होता है।—श्रीमद्भागवत

* * *

साग्निस्त्रेता गरीयसी

(श्रीबनवारीजी गुप्त 'शास्त्री')

प्राचीन यज्ञिय परम्परामें श्रौत और स्मार्त—इन द्विविध यज्ञाग्नियोंका वर्णन आता है। इनमें श्रौत अग्नियाँ—'गार्हपत्य', दाक्षिणात्य, 'आहवनीय'—इन तीन नामोंसे प्रसिद्ध हैं, इन्हें 'वैतान' नामसे भी कहा जाता है। स्मार्त अग्नियाँ 'सभ्य', 'आवसथ्य' दो नामोंसे प्रसिद्ध हैं। स्मार्त अग्नियोंका नामान्तर 'गृह्याग्नि' है। दर्श, पौर्णमास, इष्टि आदि अनेक शास्त्रीय 'श्रौत याग' उपर्युक्त तीन अग्नियोंमें ही सम्पन्न होते हैं। अन्य नित्य-नैमित्तिक, पाक-यज्ञादिक 'गृह्याग्नियों' में सम्पन्न होते हैं। उक्त यज्ञिय अग्नियोंका विधिवत् आधान, धारण, पालन एवं रक्षण करनेवाले गृहस्थको 'आहिताग्नि' नामसे कहा जाता है। इन पाँचों अग्नियोंकी वेदियाँ पृथक्-पृथक् आकार-प्रकारकी होती हैं।

मनुने माताको ही तत्त्वतः दक्षिणाग्नि, पिताको गार्हपत्याग्नि और गुरुको वास्तविक आहवनीय अग्नि माना है और इन्हें ही परम उपास्य तथा परम कल्याणकारी इन तीन अग्नियोंका मूल रूप बताया है—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्निस्त्रेता गरीयसी॥

(मनु० २। २३१)

माता, पिता और गुरु—ये तीनों उपर्युक्त तीन अग्नियोंसे भी श्रेष्ठ माने गये हैं। अर्थात् इनके-जैसा विश्वका और कोई उपकार करनेवाला नहीं है।

कोई भी ब्रह्मचर्य या गृहस्थाश्रममें रहनेवाला धार्मिक व्यक्ति जो इन माता, पिता तथा गुरु—इन तीन अग्नियोंकी सेवा तथा उनके आज्ञापालनमें प्रमाद नहीं करता है, वह तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त कर लेता है और सूर्यके समान देदीप्यमान होता हुआ सर्वत्र यश आदिसे प्रकाशित होने लगता है।

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते॥

(मनु० २। २३२)

इतना ही नहीं, बल्कि ये तीनों पिता, माता और गुरु ही गृहस्थ तथा ब्रह्मचारियोंके लिये तीनों लोक, तीनों आश्रम और तीनों वेद (ऋग्, यजु, साम) हैं और ये तीनों ही त्रि-अग्निसे परिपूर्ण परम श्रेष्ठ भारतीय संस्कृतिके सर्वस्व हैं।

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥

(मनु० २। २३०)

पिता, माता, आचार्यकी सेवा ही परम तप है। इन तीनोंकी सेवा-शुश्रूषा, पूजा ही परम तप—सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इनकी अनुमतिके बिना पुत्र और शिष्यको अन्य धर्मका आचरण नहीं करना चाहिये। इन त्रि-देवोंकी सेवा ही परम तप और परम धर्म है।

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥

(मनु० २। २२९)

सभी कल्याणकामियोंको पिता, माता और आचार्यकी आज्ञाका पालन तन-मन-वचन-कर्मसे करना चाहिये और सदैव उनको संतुष्ट रखना चाहिये तथा उनके साथ सदा प्रिय, मधुर, शिष्ट आचरण और व्यवहार करना चाहिये, क्योंकि उनकी संतुष्टि और तृप्तिसे ही समस्त तप एवं धर्म सिद्ध हो जाते हैं।

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥

(मनु० २। २२८)

तीनों लोकोंका सुख और त्रिविध दुःखोंसे शान्ति-प्राप्तिके साधन भी त्रि-देव ही हैं। पुत्र एवं शिष्य माताकी भक्ति, सेवा, शुश्रूषा एवं पूजाद्वारा भू-लोक, पिताकी भक्ति, सेवा, शुश्रूषा, पूजाद्वारा द्युलोक (अन्तरिक्ष) तथा आचार्यकी सेवा, भक्ति, शुश्रूषा, पूजाद्वारा ब्रह्मलोकको प्राप्त कर आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक त्रिविध दुःखोंसे मुक्त होकर परम सिद्धि, परम शान्ति-पदको निश्चय प्राप्त कर लेते हैं।

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥

(मनु० २। २३३)

सृष्टिके प्रारम्भमें जैसे ब्रह्माने ऋषि-मुनियोंको वेद, वेदाङ्ग

आदि शास्त्रोंकी शिक्षा दी थी, वैसे ही आचार्य भी शिष्यको वेद, वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र, सदाचार आदिकी शिक्षा देते हैं, अतः आचार्य परमात्म-रूप ब्रह्म हैं। जैसे परमात्मा समस्त सृष्टिके जन्मदाता, पालन-पोषण-संरक्षण-कर्ता हैं, वैसे ही पिता भी पुत्रका जनक-पालक, पोषक और संरक्षक है। अतः हिरण्यगर्भ प्रजापति है। जैसे पृथिवी सम्पूर्ण भू और प्राणि-जगत्को अपने क्रोडमें धारण करती है, उसी प्रकार माता भी अपनी संततिको गर्भमें धारण कर, अनेक कष्ट सहन करती हुई लालन-पालन करती है, अतः माता संतति-धारणकर्त्री पृथ्वी हैं। उक्त त्रिमूर्तियाँ लोकोत्तर—त्रिदेव महान् विभूतियाँ हैं। सहोदर भाई साक्षात् अपना ही प्रतिबिम्ब है, वह सहोदर भाईके प्रत्येक परिस्थिति—सुख-दुःखमें सर्वस्व त्यागकर साथ रहता है और उसकी रक्षा करता है।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥

(मनु० २। २२६)

माता और पिता पुत्रको उत्पन्न कर सुयोग्य बनाते हैं, अतः सदा पूज्य हैं। आचार्य वेद, वेदाङ्ग, सत्-शास्त्र, ज्ञान-विज्ञानकी शिक्षा देकर सुयोग्य बनाते हैं, अतः आचार्य (गुरु) सर्वश्रेष्ठ हैं। माता, पिता और आचार्य (गुरु) के ऋणसे पुत्र, संतान, शिष्य सैकड़ों वर्षोंमें भी सेवाद्वारा उऋण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि जन्मसे लेकर जीवनपर्यन्त इनके पालन-पोषण-संरक्षण-शिक्षणका भार उन्हींपर है। मनु भगवान्ने कहा है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

समस्त धर्म—जप, तप, दान, पुण्य, यज्ञ आदि उसीके सुफल हैं, जिस पुत्र—संतान और शिष्यने इन त्रिदेवोंकी भक्ति, सेवा, शुश्रूषा और पूजा कर ली, आदर-सत्कार और शिष्टाचार-सद्व्यवहार कर लिया, उसीका जन्म सार्थक है। जिसने इनका निरादर-तिरस्कार किया, उसकी समस्त क्रियाएँ—जप, तप, दान, धर्म, पुण्य आदि सभी व्यर्थ और निष्फल हैं—

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥

'आत्मा वै जायते पुत्रः' स्वयं माता-पिताकी आत्मा ही पुत्ररूपमें जन्म लेती है, अतः उनकी आत्माको संतृप्त और संतुष्ट करना पुत्रका परम कर्तव्य है। जबतक ये त्रिदेव जीवित हैं, तबतक पुत्र—संतान और शिष्यको स्वेच्छासे अन्य धर्मका आचरण नहीं करना चाहिये, किंतु नित्यप्रति प्रिय-हित-साधनद्वारा उनकी सेवा-शुश्रूषा और पूजा करना ही परम कर्तव्य और साधन है।

इतिहास-पुराणोंमें आरुणि, उपमन्यु, वेद, उत्तङ्क, एकलव्य, जामदग्न्य राम (परशुराम), दाशरथि राम, श्रवणकुमार, भीष्म एवं पिप्पलाद आदि मातृ-पितृभक्त और गुरुकी उपासना करनेवाले व्यक्तियोंके ऐसे अद्भुत चरित्र वर्णित हुए हैं जो उनके द्वारा स्पष्ट आज्ञा दिये जानेपर नहीं, अपितु अपनी प्रज्ञाद्वारा उनके सूक्ष्मभावोंको परिलक्षितकर तन-मनसे उनकी सेवा करते तथा उनके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करनेको उद्यत रहते थे। भगवान् श्रीरामने तो अपनी माता कौसल्या तथा अपने पिता महाराज दशरथके प्राणप्रिय होनेपर तथा उनकी तनिक भी इच्छा न रहनेपर भी अपनी विमाता कैकेयीकी केवल मानसिक इच्छाको जानकर तृणके समान राज्य, कोष, इष्ट-मित्र सबका परित्याग कर दिया और चौदह वर्षके दुस्सह वनवासका कष्ट स्वीकार किया। इस प्रकार इन्होंने मनुद्वारा निर्दिष्ट फल अर्थात् यशके द्वारा तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त की और सूर्यके समान सर्वत्र प्रकाशित हुए। वास्तवमें इन्हीं सब आचार-विचारोंके कारण भारत जगद्गुरुके उच्च पदपर स्थित हुआ और प्रायः मन्वादिकी अन्य भी सभी बातें अनन्तकालतक अध्यात्मतत्त्वकी आधारशिलापर स्थित होनेके कारण प्रभावपूर्ण चमत्कार प्रकट करती हैं। ईश्वरीय ज्ञानसे सम्पन्न होनेके कारण सर्वत्र उनका सारा कथन दिव्य एवं परम कल्याणप्रद है। इसलिये वेदोंने भी—**'मनुर्वै यत्किञ्चिदवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः'** अर्थात् मनुके समस्त उपदेश 'ओषधियोंके भी परम औषध होनेसे तीनों लोकोंके लिये कल्याणकर हैं—यह कहकर अपनी अमिट छाप लगा दी है।

इसलिये समस्त मानव-जगत्के परम पिता भगवान् मनुके समस्त उपदेशोंका पालन करते हुए अपनी माता, पिता एवं गुरुजनोंके प्रति विशेष श्रद्धा रखते हुए भगवान् रामकी तरह उनके मनोभावोंको समझते हुए उनकी सच्ची सेवाद्वारा अपना जीवन सफल बनाना चाहिये।

अल्पमें सुख नहीं है

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'

(छा० ७।२३।१)

श्रुति कहती है 'अल्पमें सुख नहीं है, जो भूमा—महान् निरतिशय है, वही सुख है।' इसीलिये जीव चिरकालसे सुखकी खोजमें भटकता है, परंतु कहीं तृप्त नहीं होता। हो भी कैसे? उसने अभीतक अल्पमें ही चक्कर काटे हैं, पूर्णके दरवाजेपर पहुँचे तब न उसको सुखकी झाँकी नसीब हो, अबतक तो उसने जिस-जिस चीजको सुखका साधन समझकर अपनाया, वह अन्तमें दुःखदायी ही साबित हुई, इसीसे यह अशान्त हुआ जहाँ-तहाँ कराहता, कलपता, बिलखता दौड़ रहा है और बार-बार ठोकरें खा-खाकर गिरता और क्लेश सहता है।

यह बात नहीं कि जीव पूर्णके दरवाजेतक पहुँचनेका अधिकारी नहीं है। वह सच्चा अधिकारी है, परंतु उसने भ्रमसे पूर्णको भूलकर—अपूर्णको और अनित्यको पूर्ण और नित्य तथा असत् और दुःखमयको ही सत् और सुखरूप मान लिया है, इसीसे वह इन्हींमें प्रीतिकर इन्हींमें रमकर बार-बार मृत्युकी क्लेशकारिणी कराल मूर्तिको देख-देखकर काँपता और रोता है, तो भी इन्हें छोड़ना नहीं चाहता, यही उसका अज्ञान है, यही अविद्याका जाल है, जिसमें फँसकर उसने अपने स्वरूप और अधिकारको भुला ही दिया है।

इसी अविद्याके जालको काटनेकी आवश्यकता है। वेद-शास्त्र, संत-महात्मा इसीके लिये कठोर साधन करना बतलाते हैं, इसीके लिये साधक शास्त्र और संतोंका सङ्ग किया करते हैं। पर शास्त्र और संतोंके सङ्गको तभी सफल हुआ समझना चाहिये, जब यह अविद्याका जाल कट जाय, अज्ञानका अन्धकार नष्ट हो जाय। यह अज्ञान ही हमारा परम शत्रु है, जिसने हमें एक होते हुए भी अपने स्वरूप परमात्मासे विलग कर रखा है, मिथ्यामें सत्ता और मोह उत्पन्न कराके हमें संसृतिके प्रवाहमें डाल रखा है। जैसे अन्धकारका नाश प्रकाशसे होता है, अमावस्याकी घोर काली निशा अरुणोदयकी ललिमाको देखते ही सकुचाकर दुबक जाती है, अपनेको छिपाने लगती है और सूर्यका प्रकाश होते-होते सर्वथा नष्ट ही हो जाती है, वैसे ही यह अज्ञान-तम भी ज्ञानकी विमल और प्रखर ज्योतिसे ही नष्ट होता है। ज्ञानके बिना अज्ञानका नाश कभी सम्भव नहीं, इसीलिये मनुष्य-जीवनका सर्वप्रथम और सर्वोपरि कर्तव्य ज्ञानको—तत्त्व-ज्ञानको प्राप्त करना है, जिसके मिलते ही सारे दुःख-क्लेश सदाके लिये शान्त हो जाते हैं। यह ज्ञान ही भगवत्कृपासे प्रेमके रूपमें परिणत होकर बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, तनमें-मनमें, वाणीमें, बुद्धिमें, बैठनेमें-चलनेमें, सोनेमें-जागनेमें, दृष्टिमें-अदृष्टिमें केवल एक दिव्य सत्य चेतन आनन्द भर देता है। फिर सब ओर, सर्वदा सबमें एक दिव्य परमात्म-सत्ता ही छा जाती है, छायी तो वह अब भी है, परंतु अब अज्ञानावृत जीव उसे प्रत्यक्ष नहीं करता, उसका अनुभव नहीं करता, पर जब ज्ञानालोकसे अज्ञानान्धकार मिट जाता है, जब जीव और शिवकी एकता हो जाती है, तब फिर जो कुछ रह जाता है, बस वही पूर्ण **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** है। वह दिशा, काल, मान आदिमें सर्वत्र व्याप्त है। यही नहीं, दिशा, काल, मान आदि सब उसीमें कल्पित हैं, वह एक है, अनुपम है, अपरिमेय है, अनादि है, आदि है, अनन्त है, नित्य है, सत्य है, ज्ञान है, प्रेम है, परमानन्द है, परम रसरूप है, अटल है, असीम है, अज है, अकल है, अगम्य है, अनिर्देश्य है, अव्यक्त है, अनिर्वचनीय है। इसीलिये श्रुतियोंने **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**, **'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** आदि कहकर भी उसे 'नेति नेति' कहा है, क्योंकि किसी भी शब्दसे, किसी भी बुद्धि-वृत्तिसे उसको व्यक्त नहीं किया जा सकता, उसको बतलानेके लिये जितने नाम, भाव और उदाहरण हैं, वे सभी अपूर्ण हैं और वस्तुतः उसका स्वरूप प्रकाशित नहीं कर सकते, परंतु उसका कुछ बाहरी भाव, उसकी छाया समझमें आ जाय, इसीलिये **'शाखाचन्द्र-न्याय'** से इन शब्दोंकी कल्पना की गयी है। शब्द भी तो वही हैं, आरम्भमें वह शब्द ही बनकर सृष्टिका सूत्रपात करता है। इसलिये शब्दमेंसे होकर ही हम उसके स्वरूपतक पहुँच सकते हैं, इसीसे 'शब्द-ब्रह्म' की इतनी महिमा है।

उस चरम स्थितिकी प्राप्ति जिस तत्त्वज्ञानसे होती है, जो इस चरम स्थितिका पर्याय ही है, वह हमें कैसे मिल सकता

है ? इसके लिये अल्पसे वृत्ति हटाकर उसको अनन्त और असीममें लगाना होगा—मनमें महदाकाङ्क्षा उत्पन्न करनी पड़ेगी, यह महदाकाङ्क्षा ही वेदान्तकी 'मुमुक्षुता' है, बिना अनन्य मुमुक्षुत्वके मुक्ति नहीं मिलती, यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये।

जबतक हम प्राणाधार मनमोहनको सर्वोपरि सुख, प्रेम और कल्याणका अथाह असीम समुद्र मानकर उसको प्राप्त करनेकी एकमात्र इच्छापर लोक-परलोककी सारी सुखेच्छाओंको न्योछावर नहीं कर सकते, जबतक हम उस प्यारे-दुलारे साँवरेके प्यारे अरुणारे कदमोंपर इस लोक और परलोकका सारा सुख और ऐश्वर्य लुटा नहीं देते, जबतक हम उस प्राण-प्रियतमकी चरण-धूलि-लाभ करनेके लिये सबका मोह छोड़कर विरहकातर प्राणोंसे आँसुओंकी धारा बहाते हुए यमुना-कूलमें कदम्ब-वृक्षकी ओर पागल होकर नहीं दौड़ते, जबतक हमारे मनकी एक-एक वृत्ति—हमारी चित्त-सरिताकी एक-एक तरङ्ग उछलती-कूदती सर्वप्रकारके बन्धन-प्रतिबन्धनोंके पहाड़ों और पर्वतोंको पददलित करती, तोड़ती और लाँघती हुई उस असीम आनन्द-समुद्र श्याम-सुन्दरमें मिलकर एकत्वको प्राप्त करनेके लिये एकतारसे, एक चालसे, अनन्यभावसे और तीव्र गतिसे बहना शुरू नहीं करती, तबतक हमें वह मोहन कैसे मिल सकता है ? तबतक कैसे हम दावेके साथ कह सकते हैं कि हम पुकारते हैं पर वह बोलता नहीं ? हम बुलाते हैं पर वह आता नहीं ? हम चाहते हैं पर वह चाहता नहीं ? जिस दिन उसकी प्यारी चाह जगत्की और सारी चाहोंको खा बैठेगी, जिस दिन हमारे प्राण व्याकुलतासे उसे पुकार उठेंगे—उस दिन हमसे बोले बिना, मिले बिना, हमें हृदयसे लगाये बिना उससे नहीं रहा जायगा। सच बात तो यह है कि वह तो हमसे मिलना चाहता है परंतु हमें उसकी परवा नहीं है। उस प्यारे दिलदार मोहनकी माधुरी छबिके सामने जगत्की कौन-सी चीज है जो हमें अभिसारसे अटकाकर रख सकती है, उस रूपकी छटाका भान हो जानेपर तो तन-मन-धन और लोक-परलोक सब आप ही उसपर लुट पड़ता है, ऐसी कोई चीज ही नहीं रह जाती जो उसके चरण-रज-कणकी कीमतमें न दी जा सके, सब कुछ देकर भी वह मिल जाय तो भी उसे सस्तेमें ही मिला समझो—प्रियतमके दीदार-दीवाने कबीरजी पुकारते हैं—

इस तनका दिवला करौं बाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव॥

फिर उसे दूसरी चीज भाती ही नहीं, उसके मन और कोई बात समाती ही नहीं, उसके नेत्रोंमें और कोई छबि आती ही नहीं—

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर-छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि पथिक आप फिरि जाय॥

दूसरा कहता है—

तुझे देखें तो फिर औरोंको किन आँखोंसे हम देखें।
ये आँखें फूट जायें गर्चे इन आँखोंसे हम देखें॥

संत श्रीदादूजी महाराज ऐसे विरहीकी दशाका वर्णन करते हैं—

जिस घट इश्क अलाहका तिस घट लोहि न माँस।
दादू जियमें जक नहीं, सिसकै साँसों-साँस॥
दादू इश्क अलाहका जे प्रगटै मन आय।
तो तन-मन दिल अरवाहका सब परदा जलि जाय॥
जहँ विरहा तहँ और क्या जप-तप साधन योग।
दादू विरहा ले रहै, छाँड़ि सकल रस-भोग॥
दादू तड़फै पीड़ सों विरही जन तेरा।
सिसकै साँई कारणै मिलु साहेब मेरा॥
जिस घट विरहा रामका उस नींद न आवै।
दादू तड़फै विरहनी, उस पीड़ जगावै॥
विरह-वियोग न सहि सकौं मोपैं सह्यो न जाय।
कोइ कहौ मेरे पीवकौं दरस दिखावै आय॥
विरह-वियोग न सहि सकौं, निसदिन सालै मोहिं।
कोई कहौ मेरे पीवकौं कब मुख देखौं तोहिं॥
विरह-वियोग न सहि सकौं तन-मन धरै न धीर।
कोई कहौ मेरे पीकौं मेटै मेरी पीर॥

इस विरहकी दशामें जब प्राण-प्रिय तान-तानकर हृदयमें बाण मारता है, तब तो कुछ विचित्र ही अवस्था हो जाती है। अन्तमें होता यह है कि बाण मारनेवाला ही रह जाता है, जिसके बाण लगता है, उसकी अलग हस्ती ही मिट जाती है—इसी दृश्यकी चाहना करते हुए महात्मा दादू पुकारते हैं—

दादू मारै प्रेम सौं बेधै साध सुजाण।

मारणहारे कौं मिलै, दादू विरही-बाण ॥
मारणहारा रहि गया, जेहि लागे सो नाहिं।
कबहूँ सो दिन होयगो, यह मेरे मन माहिं ॥

विरह-बाण लगनेपर 'वह दिन' आते देर नहीं लगती, जब भक्त उस प्राणाधार विश्वाधार विश्वात्मा मुरलीमनोहरको जानकर, देखकर और उसके हृदयमें छिपकर कृतार्थ हो जाता है। बस, यह विरह-ताप—यह अनन्य प्रेम ही उस पूर्ण प्रियतमके मिलनेका सर्वोत्तम साधन है—स्वयं श्यामसुन्दर कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे परम तपस्वी अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा ही मैं तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, प्रत्यक्ष दर्शन दे सकता हूँ और भक्तका मुझमें प्रवेश हो सकता है।'

बस, यह प्रभु-मिलन ही पूर्णकी प्राप्ति है, यही सुखकी पराकाष्ठा है। अल्पको छोड़कर इसी महान्—पूर्णके लिये, पूर्ण प्रयत्न करना मनुष्यका परम धर्म है।

गीतावलीमें विभीषण-शरणागति-प्रसंग

(डॉ॰ श्रीविनोदकुमारजी ओझा)

भगवान् श्रीरामकी अभयप्रदायिनी भक्तवत्सलता असीम और अनन्त है। उनकी यह अहैतुकी कृपा और करुणा वैसे तो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके असंख्य जीवोंके लिये समान-रूपसे प्रवाहित होती रहती है, पर जो अनन्य-भावसे उनके ही हो चुके हैं, उनके प्रति इस कृपा और करुणाके तरङ्गायित वेगकी कल्पना कोई भी नहीं कर सकता। उनके लिये तो **'धैर्येण हिमवानिव'** और ***'हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा'***– जैसे धीरोदात्त नायक राम सहज ही अधीर हो उठते हैं और उनकी यह अधीरता ही अनन्य-शरणापन्न भावुक जनोंकी थाती है। यहींपर तो उनके ऐश्वर्यका अनन्त आकाश उनके माधुर्यकी एक बूँदपर न्योछावर हो जाता है।

शरणागतिके इस गूढ़ रहस्यकी चर्चाका सूत्रपात तो वैदिक साहित्यसे ही हो जाता है, परंतु रामकाव्य-परम्परामें इसकी सर्वप्रथम प्रामाणिक घोषणा आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अन्तर्गत विभीषण-शरणागति-प्रसंगमें स्वयं राघवेन्द्रके मुखारविन्दसे होती है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा॰ रा॰ युद्ध॰ १८। ३३)

अर्थात् एक बार भी शरणापन्न होकर 'मैं तुम्हारा हूँ'— इस प्रकार जो रक्षाकी प्रार्थना कर लेता है, उसे मैं सर्व प्राणियोंसे अभय-प्रदान कर देता हूँ, यह मेरा सदाके लिये व्रत है।'

शरणागतिके इस भगवद्वाक्यको समग्र आदिकाव्यकी प्राणशक्तिके रूपमें ग्रहण करके ही वाल्मीकीय रामायणको 'प्रपत्तिका वेद' कहा जाता है। इस सूत्रवाक्यका परवर्ती साहित्यमें अनेक रूपोंमें अनेक अवसरोंपर पात्र, देश और कालके अनुरूप विकास-विस्तार होता रहा। श्रीमद्भगवद्गीताके **'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत'** तथा **'मामेकं शरणं व्रज'**– जैसे भगवद्वाक्योंमें भी यह गूढ़ रहस्यमय संदेश गूँजता रहा।

भगवच्छरणागतिकी अनेक मार्मिक घटनाओं और अनुभूतियोंसे कवियों, संतों एवं महाकवियोंकी वाणी प्रत्येक देश-कालमें समृद्ध होती रही है। वस्तुतः हमारे जीवन और मरणका प्रत्येक क्षण उन्हीं अशरणशरणके स्निग्ध अमृतसे सरस होता रहता है, पर इनमें कुछ प्रसंगोंका अपना विशिष्ट इतिहास बन गया है। इसमें भी विभीषण-शरणागतिका प्रसंग सर्वाधिक मर्मस्पर्शी है। गोस्वामीजीके काव्यमें यह प्रसंग अनेक भावुक सहृदयोंका सर्वस्व रहा है। इस बहुचर्चित प्रसंगकी रसात्मकता आर्त-प्रपन्न-भक्त-हृदयकी भावना और प्रपन्नार्तिहर प्रभुके हृदयकी अनुकम्पाके अनेक मनोवैज्ञानिक स्तरोंका उद्घाटन करती है।

शरणागतिका मूल रहस्य है भगवान्‌के प्रति निश्छल-भावसे अपनी समग्र विवशताओं और दुर्बलताओंके साथ आत्मदान। अपनी अपूर्णता और प्रभुकी असीम पूर्णता, अपनी लघुता और प्रभुकी विराट्‌ताका अनुभव, अणु जीवको विभु परमदेवके प्रति समर्पित हो जानेको प्रेरित करता है। लंकाका

विभीषण रामकथाकी मनोवैज्ञानिक भावभूमिपर चिन्ताग्रस्त शरणापन्न जीवका ही प्रतिनिधि है, जो दुष्ट-संकल्प रावणसे तिरस्कृत होकर सत्य-संकल्प रामकी शरणमें आता है।

गोस्वामीजीकी गीतावलीमें विभीषणकी प्रस्थानकालीन मनःस्थितिके बड़े मार्मिक चित्र अङ्कित हैं। रावणके द्वारा अपमानित होनेपर जब विभीषण अपने सबसे बड़े भाई कुबेरसे परामर्श लेने अलकापुरी जाते हैं तो संयोगसे वहाँ भगवान् शङ्करसे भी उनकी भेंट हो जाती है और वे उन्हें भगवान् रामकी शरणमें जानेका सर्वोत्तम परामर्श देते हैं।

'रामकी सरन जाहि, सुदिनु न हेरै।'

वस्तुतः भगवान्‌की शरणमें जानेके लिये प्रत्येक क्षण मङ्गलमय है। जीव प्रभुकी शरणमें स्थायीरूपसे जानेकी स्थितिमें तभी होता है, जब उसे अन्यत्र कहीं ठौर नहीं रहता है और ठौर हो भी कैसे सकता है, क्योंकि जहाजके पक्षीकी भाँति उसके नित्य-संरक्षक तो प्रभु ही हैं, स्वयं विभीषणके शब्दोंमें—

'नाहिन मोहि और कतहूँ कछु, जैसे काग जहाजके।'

(गीता० ५। २९)

—इस अनुभूतिकी प्रथम अवस्थामें ही प्रभुकी शरणमें जानेके संकल्पमात्रसे ही जीवको एक विचित्र आह्लादकी प्रतीति होने लगती है। विभीषणकी इस प्रकारकी मनःस्थितिकी सुकुमार अभिव्यक्ति निम्नलिखित पंक्तियोंमें देखते ही बनती है—

महाराज रामपहँ जाउँगो।
सुख-स्वारथ परिहरि करिहौं सोइ, ज्यौं साहिबहि सुहाउँगो॥
सरनागत सुनि बेगि बोलि हैं, हौं निपटहि सकुचाउँगो।
राम गरीबनिवाज निवाजिहैं, जानिहैं, ठाकुर-ठाउँगो॥
धरिहैं नाथ हाथ माथे, एहितें केहि लाभ अघाउँगो।
सपनो-सो अपनो न कछू लखि, लघु लालच न लोभाउँगो॥

(गीता० ५। ३०)

प्रभुके अखण्ड वात्सल्यके प्रति अगाध आस्था और अपनी चेतनामें सम्बन्धानुभूतिकी प्रगाढ़ आत्मीयता शरणागति-पथकी ओर अग्रसर होना है।

विभीषणका सचिव भी राघवेन्द्रको उनकी शरणमें आनेका संदेश देता है कि ***'कृपासिंधु ! दसकंधबंधु लघु चरन-सरन आयो सही।'*** इसपर भगवान् प्रमुदित मनसे हनुमान्‌का मन टटोलते हैं और विभीषणके सम्बन्धमें अपना अनुमान व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मुझे तो विभीषणका भाव सौहार्दपूर्ण और आत्मीयतासे भरा हुआ शुद्धबुद्धियुक्त प्रतीत होता है—

'सुमति साधु सुचि सुहृद बिभीषन बूझि परत अनुमान सों॥'

(गीता० ५। ३३)

तब हनुमान्‌जी बड़ा चुटीला उत्तर देते हुए कहते हैं कि प्रभो ! आपके अद्भुत मनोभावोंको दूसरा कौन समझ सकता है, मैं सचमुच आपकी इन बातोंपर न्योछावर ही हो जाता हूँ—

'हौं बलि जाउँ और को जानै ?'

(गीता० ५। ३३)

सचमुच अन्तर्यामी प्रभुके सिवा जीवके स्वभावकी वास्तविक पहचान और किसे हो सकती है। साथ ही हनुमान् प्रभुकी असीम शक्तिमत्ताकी भी चुटकी ले लेते हैं—

तुलसी प्रभु कीबो जो भलो, सोइ बूझि सरासन-बानसों॥

(गीता० ५। ३३)

शक्तिमान् ही तो संरक्षण देनेकी सामर्थ्य रखता है। भगवान् रामको प्रणाम करते हुए विभीषणकी विभोरता प्रभुको भी विभोर कर देती है। वे बाँहें फैलाकर भेंटते हैं—

भयो बिदेह बिभीषन उत, इत प्रभु अपनपौ बिसारिकै।

× × ×

जो मूरति सपने न बिलोकत मुनि-महेस मन मारिकै।
तुलसी तेहि हौं लियो अंक भरि, कहत कछू न सँवारिकै॥

(गीता० ५। ३६)

प्रथम प्रणाममें ही अङ्कमें भरकर भेंटनेवाले श्रीरामके कारुण्य-सिन्धुत्वकी प्रत्येक तरङ्ग शरणापन्न जीवका सहज सुलभ सौभाग्य है। राम-प्रणामकी इस महिमापर गोस्वामीजीका भक्तहृदय विमुग्ध हो उठता है और वे कहते हैं कि गरीब-निवाज श्रीरघुनाथजीने गरीब विभीषणको राजा बना दिया। इससे बड़े-बड़े धनियोंका (अपनेको भक्तशिरोमणि समझनेवालोंका) मान-मर्दन हो गया। भगवान् रामको किया हुआ प्रणाम महामहिमाकी खान है, उससे सब प्रकारके मङ्गलरूप मणियोंका प्रादुर्भाव होता है। आज भी अभिमान

छोड़कर भगवान् श्रीरामकी शरण जानेसे इसी प्रकार भला हो सकता है। यह बात श्रीतुलसीदासजीने शङ्करको साक्षी कर भुजा उठा सौगन्ध खाकर कही है—

रंक-निवाज रंक राजा किए गए गरब गरि गरि गनी।
राम-प्रनाम महामहिमा-खनि, सकल-सुमंगलमनि-जनी॥
होय भलो ऐसे ही अजहुँ गये राम-सरन परिहरि मनी।
भुजा उठाइ, साखि संकर करि, कसम खाइ तुलसी भनी॥
(गीता० ५। ३९)

गोस्वामीजी सहसा अपनी व्यक्तिगत भाव-दशाकी अतीत और वर्तमान परिस्थितियोंकी तुलना करते हुए आराध्यके प्रति स्निग्ध तन्मयतासे कह उठते हैं—

हुतो ललात कृसगात खात खरि, मोद पाइ कोदो-कनै।
सो तुलसी चातक भयो जाचक राम स्यामसुंदर घनै॥
(गीता० ५। ४०)

एक ही प्रणामसे प्रसन्न हो जानेवाले भगवान् राघवेन्द्रकी शरणमें आनेवाले जीवके लिये चराचर मङ्गलमय हो उठता है—

गये राम सरन सबकौ भलो।
गनी-गरीब, बड़ो-छोटो, बुध-मूढ़, हीनबल-अतिबलो॥
पंगु-अंध, निरगुनी-निसंबल, जो न लहै जाचे जलो।
सो निबह्यो नीके, जो जनमि जग राम-राजमारग चलो॥
नाम-प्रताप-दिवाकर कर खर गरत तुहिन ज्यों कलिमलो।
सुतहित नाम लेत भवनिधि तरि गयो अजामिल सो खलो॥
प्रभुपद प्रेम प्रनाम-कामतरु सद्य बिभीषनको फलो।
तुलसी सुमिरत नाम सबनिको मंगलमय नभ-जल थलो॥
(गीता० ५। ४२)

इस मङ्गलमय स्थितिका सारा श्रेय जीवकी प्रपत्ति-भावनाको ही नहीं वरन् प्रभुके सहज अशरणशरण नित्य-वत्सल-स्वभावको भी है। स्वयं राघवेन्द्रके अमृत वचन हैं—

सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ।
सुनहु सखा कपिपति लंकापति, तुम्हसन कौन दुराउ॥
सब बिधि हीन-दीन, अति जड़ मति जाको कतहुँ न ठाउँ।
आयो सरन भजौं, न तजौं तिहि, यह जानत रिषिराउ॥

× × ×

नहि कोऊ प्रिय मोहि दास सम, कपट-प्रीति बहि जाउ॥
(गीता० ५। ४५)

तभी तो कृतार्थ जीव आत्मविभोर हो कह उठता है—

नाहिन भजिबे जोग बियो।
श्रीरघुबीर समान आन को पूरन-कृपा-हियो॥
कहहु, कौन सुर सिला तारि पुनि केवट मीत कियो?
कौने गीध अधमको पितु-ज्यों निज कर पिंड दियो?
कौन देव सबरीके फल करि भोजन सलिल पियो?
बालित्रास-बारिधि बूड़त कपि केहि गहि बाँह लियो?
भजन-प्रभाउ बिभीषन भाष्यौ, सुनि कपि-कटक जियो।
तुलसिदासको प्रभु कोसलपति सब प्रकार बरियो॥
(गीता० ५। ४६)

अर्थात् रघुनाथजीके सिवा और कोई भजने योग्य नहीं है। भला उनके समान और किसका हृदय कृपासे पूर्ण है? बतलाओ, और किस देवताने शिलाका उद्धार करके केवटको मित्र बनाया है और किसने महापतित गृध्रको पिताके समान अपने हाथोंसे पिण्ड दिया है। ऐसा कौन देवता है जिसने शबरीके फल खाकर जल पिया हो? और बालिके भयरूप समुद्रमें डूबते हुए सुग्रीवको भी किसने बाँह पकड़कर निकाला है? इस प्रकार जब विभीषणने भगवान्‌के भजनका प्रभाव कहा तो सारी वानरसेना सुनकर सजीव हो गयी। वास्तवमें तुलसीदासके प्रभु कोसलपति श्रीराम ही सब प्रकारसे बली (उत्कृष्ट) हैं।

◆

परलोकमें सहायताके लिये माता-पिता, पुत्र-स्त्री और सम्बन्धी कोई नहीं रहते। वहाँ एक धर्म ही काम आता है। मरे हुए शरीरको बन्धु-बान्धव काठ और मिट्टीके ढेलोंके समान पृथ्वीपर पटककर घर चले आते हैं। एक धर्म ही उसके साथ जाता है।—मनुस्मृति

जो आत्मनिष्ठ हैं तथा जो आत्माके सिवा और कुछ भी नहीं चाहते, वे विषयी मनुष्योंकी भाँति रमणीय वस्तुकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होते और दुःखरूप वस्तुकी प्राप्तिमें उद्विग्न नहीं होते।—योगवासिष्ठ

◆

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

एक बातपर आप विशेष ध्यान दें और उसको ठीक तरहसे समझ लें। गरमी पड़े तो आपपर गरमीका असर पड़ता है और सरदी पड़े तो सरदीका असर पड़ता है। असर पड़नेपर भी क्या आप यह मानते हो कि मेरेमें गरमी है या मेरेमें सरदी है? मेरेमें सरदी-गरमी नहीं है, प्रत्युत आगन्तुक सरदी-गरमीका असर पड़ता है। ऐसे ही आपपर राग-द्वेषका आगन्तुक असर पड़ता है; परंतु आप कहते हो कि मेरेमें राग-द्वेष है! यह बहुत बड़ी गलती है। भगवान् साफ कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
(गीता २। १४)

'हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रियोंके जो विषय हैं, वे तो शीत—अनुकूलता और उष्ण—प्रतिकूलताके द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं। वे आने-जानेवाले और अनित्य हैं। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! उनको तुम सहन करो।'

इस श्लोकमें भी भगवान्‌ने 'शीत' और 'उष्ण' शब्द दिये हैं। शीतका भी असर पड़ता है और उष्णका भी असर पड़ता है, पर आपमें शीत और उष्णता नहीं है। ये आने-जानेवाले और अनित्य हैं, पर आप ज्यों-के-त्यों रहनेवाले और नित्य हो—'**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः**' (गीता २। २४)। इस बातको आप गहरा उतरकर समझो। यह कोई तमाशा नहीं है। बहुत ही मार्मिक और तत्काल कल्याण करनेवाली बात है।

अगर आपमें राग है तो वह हरदम रहना चाहिये अर्थात् आप रहोगे तो राग रहेगा, आप नहीं रहोगे तो राग नहीं रहेगा। अगर आपमें द्वेष है तो आप रहोगे तो द्वेष रहेगा, आप नहीं रहोगे तो द्वेष नहीं रहेगा। आप तो रहते हो, पर राग-द्वेष आते-जाते हैं, तो फिर ये आपमें कहाँ हैं?

श्रोता—'**अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्**' भी तो गीता बोल रही है महाराजजी!

स्वामीजी—वह भी हो जायगा। अब विवाह हुआ तो छोरा-छोरी अभी कैसे हो जायँगे? पहले 'विवाह हो गया'—इस बातको मान तो लो, फिर छोरा-छोरी ही नहीं, पोता-पोती भी हो जायँगे! केवल तमाशेकी तरह मान लेनेकी बात मैं नहीं कहता हूँ। मैं जो बात कहता हूँ, उसका आप अनुभव करो। राग-द्वेष हमारेमें हरदम रहते हैं, यह आपने कैसे, किस आधारपर माना? बताओ। मैंने यह बताया कि शीत-उष्णका असर पड़ता है तो आपमें शीत-उष्ण रहते हैं क्या?

श्रोता—रहते तो नहीं हैं, लेकिन असर पड़ता है!

स्वामीजी—ठीक बात है कि असर पड़ता है, पर 'हमारेमें राग-द्वेष हैं' यह बात आप छोड़ दो तो निहाल हो जाओगे! बहुत लाभकी बात है। अगर चोर और डाकूको रहनेकी जगह मिल जाय तो क्या वे उसको छोड़ेंगे? ऐसे ही 'हमारेमें राग-द्वेष हैं'—ऐसा मानकर आप राग-द्वेषको रहनेकी जगह दे देते हो तो क्या वे आपको छोड़ेंगे? केवल पोथीकी बात नहीं है, आप सबके अनुभवकी बात है। क्या राग-द्वेष आपके साथ हरदम रहते हैं? बताओ।

श्रोता—नहीं रहते हैं।

स्वामीजी—तो फिर ये हमारेमें हैं—यह आपने किस आधारपर माना?

श्रोता—हमारेमें नहीं हैं, आते-जाते हैं।

स्वामीजी—कृपा करके इतनी बात आप मान लो तो मैं निहाल हो जाऊँ! इतनी बात आप स्वीकार कर लो कि ये आने-जानेवाले हैं। यही तो भगवान् कहते हैं—'**आगमापायिनोऽनित्याः।**' ये अनित्य हैं और आप नित्य हैं—'**नित्यः सर्वगतः।**' अगर ये आपमें हैं तो नित्य रहने चाहिये!

आप अनुकूलता-प्रतिकूलताको जितना अधिक महत्त्व दोगे, उतना ही उनका असर अधिक होगा। जितना कम महत्त्व दोगे, उतना ही असर कम होगा। उनके महत्त्वको तो आप छोड़ते नहीं और जो बात मैं कहता हूँ, उसको मानते नहीं!

श्रोता—आप कहते हैं कि भगवत्प्राप्ति तत्काल हो सकती है, लेकिन गीताने कहा है—'**कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।**'

स्वामीजी—अगर असली भूख लगे तो भोजनमें देरी नहीं लगती। प्यास अगर जोरसे लगे तो पानी पीनेमें देरी नहीं

लगती। ऐसे ही भगवत्प्राप्तिकी असली भूख लगे तो उसमें देरी नहीं लगती। देरी आपकी भूखमें है, भगवत्प्राप्तिमें थोड़े ही है!

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन नहीं है। अनित्य चीजको छोड़नेमें कठिनाई हो रही है। अनित्य चीजको छोड़ना कठिन होनेसे परमात्माकी प्राप्तिको कठिन मान लिया।

श्रोता—राग-द्वेषका आना-जाना बंद हो जाय—इसका भी कोई उपाय है?

स्वामीजी—यह हो जायगा। पहले विवाह हो जाय, फिर बेटा हो जायगा, पोता हो जायगा, पड़पोता हो जायगा; सब हो जायगा। अगर आप स्वीकार कर लो कि राग-द्वेष हमारेमें नहीं हैं तो इतनी भी देरी नहीं लगेगी। कारण कि बेटा-पोता तो पैदा होंगे; उसमें समय लगेगा। परंतु परमात्मा पैदा होनेवाले नहीं हैं, वे तो सदा मौजूद हैं। पैदा होनेवाले तो राग-द्वेष हैं। राग-द्वेषको आदर देनेसे ही परमात्माका अनुभव नहीं हो रहा है। इसलिये कम-से-कम यह बात तो मान लो कि ये हमारेमें नहीं हैं, आगन्तुक हैं।

श्रोता—बात तो ठीक है कि ये आगन्तुक हैं।

स्वामीजी—यों हाँ-में-हाँ नहीं मिलाना है। एकान्तमें बैठकर आप इसका अनुभव करो कि बात ठीक है, ये आते-जाते रहते हैं और मैं निरन्तर रहता हूँ।

श्रोता—ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है कि ये हमारेसे अलग हैं।

स्वामीजी—इस अनुभवका आदर करो, असरका आदर मत करो अन्नदाता! इतना कहना मेरा मान लो कि असरको महत्त्व मत दो, प्रत्युत इस बातको महत्त्व दो कि ये मेरेसे अलग हैं।

श्रोता—मार तो पड़ जाती है न महाराजजी?

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि पड़ने दो। बचपनमें पढ़ाई बहुत बुरी लगती थी, पर बैठे-बैठे पढ़ाई हो गयी कि नहीं? एक दिन वह था, जब पता नहीं लगता था कि दूसरा क्या कह रहा है, पर आज मैं आपको पढ़ानेको तैयार हूँ।

श्रोता—स्वामीजी! आपने बताया कि पदार्थ तो आने-जानेवाले हैं, लेकिन उनका सम्बन्ध स्वयंमें है!

स्वामीजी—सम्बन्ध माना है बाबा, है नहीं! मैंने कभी नहीं कहा कि सम्बन्ध स्वयंमें है। मैंने कहा है कि सम्बन्ध आपने माना है। जो माना है, उसको आप छोड़ो।

श्रोता—इन आने-जानेवाले पदार्थोंसे स्वयंका जोर अधिक होता है क्या?

स्वामीजी—आने-जानेवाले पदार्थोंका जोर नहीं है, आपकी मान्यताका जोर है। आपने मान लिया तो अब इसको ब्रह्माजी भी नहीं छुड़ा सकते। किसी संतकी, गुरुकी ताकत नहीं कि छुड़ा सके। आपने पकड़ लिया तो वे कैसे छुड़ा देंगे? आपकी मान्यताको ढीली करनेके लिये कहता हूँ कि ये आगन्तुक हैं, आप आगन्तुक नहीं हो; फिर ये आपके साथी कैसे हुए? इनको आप अपनेमें क्यों मानते हो? कृपा करके इनको अपनेमें मत मानो। क्या आपको दया नहीं आती? एक भिक्षुक आपसे बात कह रहा है, उसपर दया तो आनी चाहिये। आप गृहस्थोंसे कोई साधु टुकड़ा माँगता है तो उसको देते हो कि नहीं? ऐसे ही मेरेको भी टुकड़ा दे दो, इतनी बात मान लो कि राग-द्वेष हमारेमें नहीं हैं! इसमें शङ्का सम्भव ही नहीं है; क्योंकि दो और दो चार ही होते हैं। मैं यह चाहता हूँ कि आप इस बातके पीछे पड़ जाओ। तत्काल भगवत्प्राप्ति जिनको होती है, हो ही जाती है। आपकी ऐसी इच्छा ही कहाँ है? इस बातको समझनेके लिये इतना परिश्रम ही कहाँ है? मेरेको आप क्षमा कर देना, मेरेमें जितनी लगन है, उतनी लगन आपमें नहीं है, जबकि आपमें लगन ज्यादा होनी चाहिये। मैंने कल कहा, आज कहा और फिर कहनेको तैयार हूँ। मेरेसे रातमें पूछो, दिनमें पूछो, सुबहको पूछो, शामको पूछो; रात्रिमें मेरेको नींदसे उठाकर पूछो, मैं नाराज नहीं होऊँगा। मैं तो निहाल हो जाऊँगा। जैसे कोई बड़ा ग्राहक मिलनेसे दुकानदार राजी हो जाता है, उससे मैं कम राजी नहीं होता हूँ! अतः मेरेपर कृपा करो, स्वयंपर कृपा करो और नहीं समझमें आये तो पूछो।

श्रोता—राग-द्वेषके आनेसे निषिद्ध क्रिया हो जाती है!

स्वामीजी—राग-द्वेषका असर पड़नेसे, उसके वशीभूत होनेसे निषिद्ध क्रिया हो जाती है तो भले ही हो जाय, पर राग-द्वेष हमारेमें नहीं हैं—इसपर तो कायम रहो। भले ही निषिद्ध क्रिया हो, पर ये अपनेमें कैसे हुए? अपनेमें हैं ही नहीं।

श्रोता—जबतक क्रिया होगी, तबतक तो दुःखी होते रहेंगे!

स्वामीजी—भले ही दुःखी हो जाओ या सुखी हो जाओ, पर दुःखमें भी आप वही रहते हो, सुखमें भी आप वही रहते

हो। सुख-दुःख तो होते हैं, पर आप रहते हो। साफ और सीधी बात है। यह अन्वेषण है, निर्माण नहीं है। संसारका काम देरीसे होता है, उसमें समय लगता है, पर इसमें समय नहीं लगता। आज मैंने जो बात कही है, उसको समझनेमें क्या वर्ष लगता है? हाँ, आप मान लोगे कि समय लगेगा तो जरूर समय लगेगा; क्योंकि आप और हम भगवान्‌रूपी कल्पवृक्षके नीचे हैं। अगर आप मान लें कि ये राग-द्वेषादि मेरेमें हैं ही नहीं तो समय लगनेकी क्या बात है? कही और चट मानी! सीधी बात है। सत्संगमें आनेवाले भाई-बहनोंकी कई बातें मैंने सुनी हैं। जो पहले रोते थे, कुछ दिन सत्संगमें आनेके बाद उनका रोना बंद हो गया! तात्पर्य है कि सत्संगकी बातोंमें एक ताकत है। यह कोई तमाशा नहीं है। परंतु आप तो कमर कसकर तैयार हैं कि कुछ भी कहो, हम तो नहीं मानेंगे! अब बताओ, मैं क्या करूँ? आपको नहीं जँचती हो तो शङ्का करो। आप कहते हैं कि हमारेपर असर पड़ जाता है। इन्द्रियाँ और उनके विषयोंका सम्बन्ध होते ही असर पड़ता है। किसीके राग-द्वेष ज्यादा होते हैं, किसीके कम होते हैं। सबके अलग-अलग संस्कार हैं, अलग-अलग अभ्यास हैं। परंतु असर पड़नेपर भी 'राग-द्वेष हमारेमें हैं'—यह आपने किस आधारपर माना? इनको आप अपनेमें मानोगे तो कहनेवाला कितना ही जोर लगा ले, आपमें रत्तीमात्र भी फर्क नहीं पड़ेगा। चोर-डाकू तो जबर्दस्ती करते हैं, उनको आप निमन्त्रण दे दो तो फिर वे सवार हो ही जायँगे! ऐसे ही आपने राग-द्वेषको अपनेमें मान लिया, उनको निमन्त्रण दे दिया तो अब वे जायँगे नहीं।

श्रोता—मृत्युके बाद राग-द्वेषके संस्कार तो रह ही जाते हैं!

स्वामीजी—मृत्यु ही क्या , चौरासी लाख योनियाँ और नरक भोग लो तो भी राग-द्वेष मिटेंगे नहीं; क्योंकि इनको आपने अपनेमें मान लिया, अब आप मिटो तो ये मिटें! आप नित्य परमात्माके अंश हो, अतः आप जिसको पकड़ोगे, वह भी नित्य दीखने लग जायगा! आगमें ठीकरी रख दो, कंकड़ रख दो, लकड़ी रख दो, कोयला रख दो, सब चमकने लगेंगे। ऐसे ही आप जिसको अपनेमें मान लोगे, वह चमकने लग जायगा। राग-द्वेष नित्य नहीं हैं, पर आप नित्य हो; अतः आप राग-द्वेषको अपनेमें मान लोगे तो वे भी नित्य दीखने लग जायँगे।

श्रोता—महाराजजी! लोग कहते हैं कि सत्संगमें आते पचास-साठ वर्ष हो गये, पर राग-द्वेष मिटे नहीं!

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि सौ वर्ष हो गये, आपने राग-द्वेषको मिटाया ही नहीं! राग-द्वेषको पकड़कर सौ वर्ष सत्संग कर लो, फिर कहो कि राग-द्वेष तो रहते ही हैं! राग-द्वेषको मिटाओगे तो वे मिटेंगे। क्या बिना मिटाये ही मिट जायँगे? मेरी तो ऐसी धारणा है कि एक दिन भी ठीक तरहसे बात सुने तो उसमें फर्क पड़ जायगा!

श्रोता—फर्क पड़नेसे क्या होगा? सर्वथा मिटने चाहिये।

स्वामीजी—तो जबतक सर्वथा नहीं मिटें, तबतक पिण्ड मत छोड़ो, इनके पीछे पड़ जाओ। अनेक जन्मोंकी पड़ी हुई बातमें एक दिन सुननेसे भी फर्क पड़ता है तो अनेक जन्मोंकी बात सच्ची हुई या एक दिनकी बात सच्ची हुई?

श्रोता—जो मान रखा है, उसको न माननेमें किसीकी कोई जरूरत नहीं है क्या?

स्वामीजी—आपकी ही जरूरत है। आप पकड़े रहोगे तो मैं कह दूँ या ब्रह्माजी कह दें, कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। अपनी मानी हुई बातको दूसरा कैसे मिटा सकता है? आपने अपनेको गृहस्थी मान रखा है तो दूसरेके कहनेसे अपनेको गृहस्थी मानना कैसे छोड़ दोगे? मैं अपनेको साधु मानता हूँ, पर कोई उपदेश दे कि तुम साधु नहीं हो तो कैसे मान लूँगा मैं?

श्रोता—अभी जो आपने कहा, उसको माननेमात्रसे काम चल जायगा?

स्वामीजी—माननेके सिवाय और किससे काम चलेगा? यह मेरी स्त्री है—ऐसा माननेके सिवाय और कोई प्रमाण हो तो बताओ। सिर्फ माननेसे बेटा-पोता हो जायगा, सब कुछ हो जायगा।

एक सीखना होता है, एक अनुभव करना होता है। नया काम सीखनेमें देरी लगती है, पर जो पहलेसे ही है, उसका अनुभव करनेमें किस बातकी देरी? जैसा मैं कहता हूँ, उसको आप शङ्कारहित होकर मान लो तो पट दीखने लग जायगा,

अनुभव हो जायगा; क्योंकि बात है ही ऐसी। सेठजीने कहा था कि ज्ञानकी, तत्त्वकी बात कठिन है—यह मेरी समझमें नहीं आया; इसमें कठिनता किस बातकी ? कठिनताकी बात ही नहीं है। परंतु जब लोगोंपर आजमाइश की और देखा कि उनको ज्ञान हुआ नहीं, तब जबर्दस्ती माना कि कठिन है। आपने कठिन मान लिया तो अब आपकी मान्यताको कौन छुड़ा सकता है ? किसकी ताकत है कि छुड़ा दे ?

पंढरपुरमें चातुर्मास हुआ था। उसमें मैंने एक दिन कह दिया कि तत्त्वकी प्राप्ति तो बड़ी सरल बात है। इसको सुनकर कुछ लोग कहने लगे कि तुकारामजी महाराजने ऐसा-ऐसा कहा है, तत्त्वप्राप्तिमें तो कठिनता है। तब मैंने एक बात कही कि मैं मराठी जानता नहीं, महाराष्ट्रके संतोंकी वाणी मैंने पढ़ी नहीं; परंतु मेरी एक धारणा है कि ज्ञानेश्वरजी, तुकारामजी आदि संतोंको भगवत्प्राप्ति हुई थी, वे तत्त्वज्ञ पुरुष थे। तत्त्वज्ञ पुरुषके भीतर यह भाव रह सकता ही नहीं कि तत्त्वप्राप्ति कठिन है।

अतः उनकी वाणीमें 'तत्त्वकी प्राप्ति सुगमतासे होती है'—यह बात नहीं आये, ऐसा हो ही नहीं सकता ! उनकी वाणीमें यह बात जरूर आयेगी कि तत्त्वप्राप्ति सुगम है। इतनेमें एक आदमी बोल गया वाणी कि ऐसे सुगम लिखा है उसमें ! लिखे बिना रह सकते नहीं। जो वास्तविक बात है, उसको वे कैसे छोड़ देंगे ? तत्त्वको बनाना थोड़े ही है, वह तो ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। फिर उसकी प्राप्तिमें कठिनता किस बातकी ? राग-द्वेष हमारेमें हैं—यह मान्यता दृढ़ कर ली है, इसीलिये तत्त्वकी प्राप्ति कठिन दीखती है।

जीवनके लक्ष्यकी प्राप्ति

(डॉ॰ श्रीपशुपतिनाथजी उपाध्याय)

आजका मानव विभिन्न समस्याओंसे आक्रान्त है। इन समस्याओंकी जटिलताओंसे उलझनेके क्रममें वह अपने आपसे अनायास ही यह प्रश्न कर बैठता है कि जीवनका उद्देश्य क्या है—धन-संचय करना या ख्याति प्राप्त करना या केवल आनन्द उठाना। धन-संचय एवं ख्याति प्राप्त करना तो निश्चितरूपेण जीवनका लक्ष्य हो नहीं सकता; क्योंकि मरणोपरान्त यह यहीं छूट जाता है। सांसारिक समस्त भोग-वस्तुएँ नाशवान्, क्षणिक एवं दुःखमूलक हैं। सच पूछा जाय तो जीवनका उद्देश्य परमानन्दकी प्राप्ति है। इसके लिये जीवको ईश्वर-प्राप्तिकी ओर उन्मुख होना आवश्यक है। इसका सहज साधन है भगवन्नाम-जप।

भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं। आस्था एवं विश्वासकी कमीके कारण वे भले ही प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होते हों, परंतु उनके भक्तगण प्रभुके दर्शन करते हैं, उनसे बातें करते हैं और परम आनन्दकी प्राप्ति करते हैं। इसमें संदेह नहीं है।

अपने आपका अनन्तके साथ संयोग कराना ही परमानन्द है। आत्मा परमात्माका एक अंश है। जीव जबतक परमात्मासे अलग है, वह बन्धनों एवं सीमाओंसे युक्त नहीं है। जब वह अपने आपको परमात्मामें मिला देता है तो उसका अपना अस्तित्व समाप्त हो जाता है। क्योंकि जीव एवं परमात्मामें फिर अन्तर नहीं रह पाता, फलस्वरूप वह भी परमात्माकी भाँति बन्धनों एवं सीमाओंसे मुक्त हो जाता है। ऐसा होनेपर परमानन्दकी प्राप्ति होती है। इसे एक दृष्टान्तसे समझा जा सकता है। एक जल-बिन्दु असीम सिंधुका अंश है। यह बिन्दु किसी छोटे जलपात्रमें रखा जाय तो इसकी गति उस पात्रतक ही सीमित होगी। यदि एक बड़े जलपात्रमें रखा जाय तो इसकी गति उस बड़े पात्रकी सीमाओंतक होगी। नदीमें मिलनेपर यह स्वच्छन्द विचरण तो करेगा, परंतु नदीके किनारोंतक जानेके बाद उसे वहाँसे भी लौटना होगा। यदि कोई बिन्दु सिन्धुमें विलीन हो जाय तो उसके सारे बन्धन खण्डित हो जाते हैं और वह उस असीम जलराशिमें विलीन हो जाता है। इसी प्रकार प्रभुसे बिछुड़ा हुआ जीव जब परमात्मासे मिल जाता है तो उसमें एवं परमात्मामें कोई अन्तर नहीं रह जाता और वह स्व-स्वरूपावस्थितिको प्राप्त कर लेता है।

अब प्रश्न उठता है कि परमात्मा क्या है ? यह अनुभूत है कि दिन-रात, जन्म-मरण एवं मौसम-परिवर्तन आदि नियमित-रूपसे होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि सभी नियमितरूपेण गतिशील हैं। सारे विश्वका संचालन एक असीम शक्तिसे हो रहा है। इसके संचालक परमात्मा हैं। परमात्मा एवं उसकी शक्ति दोनों एक दूसरेसे

पृथक् नहीं हैं। एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। ऐसा विश्वके संचालन-हेतु उसकी शक्ति सर्वत्र व्याप्त है। परमात्मा भी सर्वत्र अपनी शक्तिके रूपमें व्याप्त है। विश्वका कोई भी भाग उससे अछूता नहीं है।

मानसमें कहा गया है—

जौं सब कें रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥
(रा० च० मा० ७। ७८। ५—८)

यह सत्य है कि आत्माको सुख-दुःख नहीं व्याप्त होता। वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं आनन्दस्वरूप है। यह विचारणीय है कि यदि जीव आत्मवत् ही सभी प्राणियोंको समझे तो यह विचार ईश्वर-प्राप्ति करानेवाला बन जाता है। ऐसा व्यक्ति यह समझता है कि परमात्मा सबमें व्याप्त है। उसे अपने एवं अन्य जीवोंमें कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। वह यह सोचता है कि उसकी आत्मा एवं अन्य सभी आत्माएँ एक ही परमात्माके अंश हैं। एक परमात्माके अंश होनेके कारण वह सभी जीवोंको भी अपना ही अंश मानता है, या वह स्वयंको ही सबमें व्याप्त मानने लगता है। ऐसे लोग ही महात्मा हैं। उन्हें जीवनका लक्ष्य मिल गया है। अब उनकी कुछ और प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षा नहीं होती। ऐसे लोग किसी अन्य जीवके दुःखको अपना ही दुःख समझते हैं।

परमात्माके अस्तित्वका आभास होते ही परमानन्दकी प्राप्तिके लिये जीवकी उत्कण्ठा जाग्रत् होना स्वाभाविक ही है। इसके लिये शास्त्रोंमें निर्दिष्ट बातोंका पालन अत्यावश्यक है। महात्मा श्रीतुलसीकृत श्रीरामचरितमानस सरल एवं सहज ही ग्राह्य ग्रन्थ है, जो सभी शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थोंका सारभूत है। उसमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है—

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
(रा० च० मा० ७। १०२[ख])

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥
त्रेताँ बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
(रा० च० मा० ७। १०३। १—४)

इन सभी तथा अन्य भी वचनोंका यही तात्पर्य है कि कलियुगमें भगवान्‌के नामका जप ही एक आधार है, जो भवबाधाओंसे मुक्ति दिलाकर भगवत्प्राप्ति भी करा देता है।

यह राम-नाम-जप इतना सुगम तथा सरल साधन है कि इसमें अन्य मन्त्रोंके समान किसी विशेष अनुष्ठानादिकी आवश्यकता भी नहीं होती, साथ ही श्रीरामनामका जप जैसे भी हो प्रत्येक स्थितिमें किया जा सकता है। जिस प्रकार बीजको खेतमें उलटा या सीधा किसी प्रकार बोनेसे पौधे निकलते ही हैं, उसी प्रकार राम-नामका जप प्रत्येक स्थितिमें मङ्गलकारी ही है। मानसमें कहा भी गया है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥
(रा० च० मा० १। २८। १)

भावसे नारद, प्रह्लाद, ध्रुव एवं हनुमान् आदि अनेक भक्तोंने भगवान्‌का नाम जपकर अक्षय लोककी प्राप्ति की थी—

नारद जानेउ नाम प्रतापू। जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू॥
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
(रा० च० मा० १। २६। ३—६)

आलस्यसे कुम्भकर्णने राम-नाम जपकर सुगति पायी। राम-रावण-युद्धके बीच जब रावणने कुम्भकर्णको जगाया तो उसने रावणसे कहा—

भल न कीन्ह तैं निसिचर नाहा। अब मोहि आइ जगाएहि काहा॥
अजहूँ तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना॥
(रा० च० मा० ६। ६३। १-२)

कुम्भकर्णके इस प्रकार समझानेके बाद भी रावणने उसकी एक न सुनी। उसने पुनः कहा—

कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक॥

× × ×

अब भरि अंक भेंटु मोहि भाई। लोचन सुफल करौं मैं जाई॥
स्याम गात सरसीरुह लोचन। देखौं जाइ ताप त्रय मोचन॥
(रा० च० मा० ६। ६३। ५ ७-८)

कुभावसे रावणने राम-नाम लेकर सुगति पायी। भगवान् रामका नाम एक बार लेनेसे भी रावणका उद्धार हो गया—

धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा। तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा॥

× × ×

गर्जेउ मरत घोर रव भारी। कहाँ रामु रन हतौं पचारी॥

(रा॰ च॰ मा॰ ६।७१।६,१०३।४)

वास्तवमें राम-नाम हर समय लेते रहना चाहिये। रामनामकी विलक्षण महिमा है, जिस प्रकार अनादि-अनन्तकालसे अन्धकाराच्छन्न भवनके महान्धकारको दीप-ज्योति क्षणभरमें निकाल फेंकती है, ठीक उसी प्रकार रामके नामका एक बार उच्चारण पातक-पुञ्जको अग्निसात् कर देता है। भगवन्नामोच्चारणकी अचिन्त्यशक्तिका शास्त्रोंमें पद-पदपर परिचय प्राप्त होता है। उनके प्रायः सभी नामोंकी अद्भुत महिमा है। गिरते-पड़ते, दौड़ते-भागते, लोभ-लालचमें भी भगवन्नाम अपने गुणका परित्याग न कर जीवका सर्वविध कल्याण करता है और प्राणी तब अपने परम लक्ष्यको प्राप्त करनेमें सफल हो जाता है और उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है।

लोग चाहे आर्त हों चाहे विषादयुक्त, चाहे हिम्मत हार चुके हों, चाहे भयभीत हों, चाहे घोर व्याधियोंसे घिरे हों, यदि वे 'नारायण' शब्दका संकीर्तनमात्र कर लेते हैं तो समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जाते हैं—

आर्ता विषण्णाः शिथिलाश्च भीता
घोरेषु च व्याधिषु वर्तमानाः।
संकीर्त्य नारायणशब्दमात्रं
विमुक्तदुःखाः सुखिनो भवन्ति॥

(श्रीकूरेश स्वामी)

देववाणीकी दिव्यता

(डॉ॰ श्रीगोकुलप्रसादजी त्रिपाठी, एम्॰ए॰, पी-एच्॰डी॰)

महर्षियोंने नामानुगुणयुक्तताके कारण ही सभी शुद्ध संस्कारोंसे समन्वित संस्कृत भाषाको 'देववाणी' कहा है—

'संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः' (दण्डी)

इसकी दिव्यता कस्तूरिकामोदकी तरह स्वतः प्रमाणित है। अपनी विपुल वाग्विभूति, अतुल श्री-समृद्धि और असीम ऊर्जाके कारण यदि उसे श्रीमद्भगवद्गीताकी शब्दावली भगवान् श्रीकृष्णकी वाणीमें **'मम तेजोंऽशसम्भवम्'** (१०।४१) कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। यह दिव्यताका लक्षण भी सुर-भारती निःसंदेह चरितार्थ करती है। वैज्ञानिक दृष्टिसे सूक्ष्म शक्तियाँ ही देवता हैं और देववाणीमें शब्द और अर्थकी शक्तियोंका जो अलौकिक एवं सूक्ष्मतम उत्कर्ष है, वह उसकी दिव्यताको निर्भ्रान्तरूपसे प्रमाणित करता है।

सम्पूर्ण विश्वके भाषाशास्त्रियोंने संस्कृत भाषाके स्वरूप, उसकी उत्पत्ति एवं विकास आदिके विषयोंपर गम्भीर विवेचन किया है। संस्कार-सम्पन्न वाणी ही संस्कृत है। देववाणीका तात्पर्य इसके वैज्ञानिक संस्कारमें है। अन्तर्हृदयस्थ ज्ञानस्वरूप आत्माके चिद्विवर्तसे समुत्थित होकर परा, पश्यन्ती और मध्यमाको लाँघकर कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, ओष्ठ्य आदि विभागोंमें वर्गीकृत होकर सूक्ष्म एवं विश्वव्याप्त स्थूलभावोंके पूर्ण प्रकाशनकी क्षमता होनेसे ही यह सत्य, दिव्य एवं अलौकिक है। विश्वकी अन्य भाषाएँ अन्यथा लिखित और अन्यथा उच्चरित होती हैं। इसलिये वे म्लेच्छ भाषा कही गयी हैं—यथा—आँग्ल आदि भाषाओंमें 'जी' से 'ग' एवं 'एच्' से हकार आदिकी अभिव्यक्ति होती है। परंतु संस्कृत भाषामें ऐसी स्थिति नहीं है। यह यथालिखित उच्चरित होती है। इस दृष्टिसे भी यह विश्वमें अद्वितीय है।

वस्तुतः अमरवाणी संस्कृतमें ऐसी नौ मुख्य विशेषताएँ हैं जो उसे अन्य भाषाओंसे उत्कृष्ट सिद्ध करती हैं—

१. विश्वका सर्वाधिक प्राचीन वैदिक संहिता-साहित्य सुर-भारती संस्कृतमें ही उपलब्ध होता है। परंतु वह आदिमता और अपरिष्कारसे परे अपौरुषेय माना जाता है। पाश्चात्त्य विद्वान् मेकडॉनलको उद्धृत करना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा। अपने 'संस्कृत-साहित्यका इतिहास' ग्रन्थमें पृष्ठ २९ पर वे लिखते हैं—'भारतीय साहित्यके प्रवेश-द्वारपर ही हमारा सामना एक ऐसे गीतिकाव्यसे होता है जो यद्यपि भारत-यूरोपीय-भाषा-परिवारकी किसी भी अन्य भाषाकी मानक साहित्यिक कृतियोंसे बहुत प्राचीन है तथापि विचारके परिष्कार और सौन्दर्य तथा भाषा एवं छन्दके कुशल प्रयोगमें पहलेसे

ही सुविशिष्ट है।'

२. प्राचीनतम और वरिष्ठतम होनेके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य अत्यन्त उत्कृष्ट भी है। सजगतापूर्ण परीक्षणसे भी ऋग्वेदके साहित्यिक महत्त्वमें कोई कमी नहीं आती। उसमें न केवल उत्कृष्ट काव्य ही उपलब्ध होता है, अपितु परवर्ती साहित्यिक प्रवृत्तियोंके मूल उत्सके रूपमें उसका महत्त्व और भी अधिक है। वेदोंके मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी अन्वीक्षणशीलता, कौतूहलभरी जिज्ञासा, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदोंके व्यवस्थापन, गम्भीर चिन्तन तथा विज्ञानमें विकसित हुईं एवं पुरातन लोकप्रिय साहित्य-परम्पराको उन्होंने अत्यन्त उच्च दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान की। फलतः वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, भारवि, माघ, बाण, भवभूति, हर्ष आदि संस्कृतके प्रमुख साहित्यकारोंकी अनमोल कृतियोंमें भाव और विचारका, प्रेरणा और कलाका चरमोत्कर्ष देववाणीके प्रत्येक अध्येताके चित्तको चमत्कृत किये बिना नहीं रहता।

३. संस्कृत-साहित्यमें विविधताका ऐसा विलक्षण वैभव है कि अनुशीलनकर्ताओंको उसमें रमणीयताके अभावकी अनुभूति नहीं होती। न केवल खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, महाकाव्य, रूपक, उपरूपक, कथा, आख्यायिका आदि साहित्यकी विविध विधाओंकी ही समृद्धि संस्कृतमें है, अपितु पुराण, इतिहास, वेद-वेदाङ्ग, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, स्मृति, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र (अलंकार), आयुर्वेद, गान्धर्व-वेद, शालिहोत्र, गजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र आदि ज्ञान-विज्ञान, विद्या और कलाओंसे सम्बन्धित ग्रन्थ तथा सुभाषित एवं स्तोत्र-ग्रन्थ भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, उपादेय एवं सुन्दर हैं।

४. भारतीय सभ्यता और संस्कृति विश्वकी प्राचीनतम सभ्यताओं और संस्कृतियोंमें अप्रतिम है। विश्वके विकासको उसने अत्यधिक प्रभावित किया है। संसारको जो कुछ और जितना उसने दिया है, उसे कम करके नहीं आँका जा सकता और इस महती देनमें देववाणीकी भूमिका एक सशक्त माध्यमके रूपमें रही है।

५. वर्णमाला और लिपिकी दृष्टिसे संस्कृत संसारकी सबसे अधिक वैज्ञानिक, व्यवस्थित, ध्वनिसंगत एवं कर्ण-मधुर भाषा है। विलियम जोन्सने एशियाटिक रिसर्चेज खण्ड १, पृष्ठ ४२२ पर लिखा है—'संस्कृत भाषाकी निर्माण-शैली अत्यन्त अद्भुत है। यह ग्रीकसे अधिक पूर्ण, लैटिनसे अधिक विपुल और दोनोंहीसे कहीं अधिक अत्युत्तम (विशिष्ट) रूपमें परिष्कृत, परिमार्जित एवं प्राञ्जल है।'

वर्ण-विन्यास और पद-विन्यासके कौशलद्वारा भावोंको मूर्त करनेकी कलाका जितना उत्कर्ष संस्कृतमें हुआ है, उतना संसारकी किसी अन्य भाषामें नहीं। मूल संस्कृतभाषाके प्रवाहमें जो आनन्द है, उसका भाव अन्य किसी भी लौकिक भाषाके अनुवादमें आना अशक्य है। प्रो० ए० बी० कीथने अपने 'संस्कृत-साहित्यका इतिहास' ग्रन्थकी भूमिकामें लिखा है—'संसारकी श्रेष्ठ कविताओंका समाहार केवल संस्कृत भाषामें ही है। सभ्य कहलानेवाले पाश्चात्य जगत्‌में उसकी व्यापक लोकप्रियताकी कदापि अपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि वह आवश्यक रूपसे (अपनी एक ऐसी सारभूत विशेषताके कारण) अननूद्य (अनुवाद न कर सकने योग्य) है।'

६. भाषा-शास्त्र या भाषाविज्ञानकी तो आधार-शिला ही भारत-यूरोपीय-भाषा-परिवारकी कल्पना है और इस कल्पनाका उदय देववाणीके अध्ययनसे ही हुआ है। तुलनात्मक-भाषा-विज्ञानके जन्मके लिये संसार देववाणीका ऋणी रहेगा।

७. विश्व-इतिहासके लिये भी देववाणीकी देन मौलिक और अनुपेक्षणीय है। न केवल ईरान-ईराकमें अपितु मैक्सिकोसे लेकर इण्डोनेशियातक प्राचीन कालमें भारतीय संस्कृतिके व्यापक प्रचार-प्रसारके जो प्रमाण आज मिलते हैं वे किसी-न-किसी रूपमें देववाणीके **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के माध्यमत्वको सिद्ध करते हैं। संस्कृतभाषाने विदेशोंमें भी भारतीय धर्म और संस्कृतिको पहुँचाया था। तिब्बत और चीनमें भी संस्कृत ग्रन्थोंके अनुवाद प्राप्त होते हैं। हिन्दचीन, जावा, सुमात्रा आदि देशोंमें भी संस्कृत भाषाके प्रचलनके प्रमाण प्राप्त होते हैं। संस्कृत सूत्र-ग्रन्थों, पुराणों और शिलालेखोंके अध्ययनके बिना न केवल भारतका अपितु विश्व-इतिहासका लेखन असम्भव है।

८. संस्कृत वाङ्मय भारतकी एक अनमोल सांस्कृतिक सम्पत्ति है, परंतु **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के प्रेरणास्रोतके रूपमें अखिल विश्वके लिये सभी दृष्टियोंसे उसका अत्यन्त महत्त्व है।

९. एक भाषाके रूपमें देववाणीका विश्व-भाषाओंमें अनुपम और उच्चतम स्थान है। जिस भाषामें एक लाख श्लोकोंका महाभारत, मानवताको अनुप्राणित करनेवाला महर्षि वाल्मीकिका अनुपम महाकाव्य रामायण, श्रीमद्भागवत-महापुराण, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता तथा रघुवंश, किरातार्जुनीय और शिशुपालवधकी महाकाव्य-त्रयी है, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' और 'उत्तररामचरित' जैसे नाटक हैं और **'मेघे माघे गतं वयः'** जैसी उक्तियोंके प्रेरक एक-एक ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका गहराईसे अध्ययन करनेके लिये मनुष्यका पूरा जीवन भी पर्याप्त नहीं, उसकी दिव्यतामें क्या संदेह है ?

देववाणीके वाग्वैभवका परिचय उसके विभिन्न रूपोंमें कालिदासकी व्यञ्जना, भवभूतिकी अभिधा, दण्डीके पदलालित्य, जयदेवके माधुर्य, भारविके अर्थगौरव, बाणके अनुपम गद्य और भर्तृहरिके शतक-त्रयमें मिलता है।

जहाँ दिव्यता होती है वहाँ चमत्कार भी अवश्य होते हैं। देववाणीकी रचनाओंमें चमत्कारोंकी कोई कमी नहीं है। सामान्य पाठकोंको चमत्कृत करनेवाली उक्तियोंमेंसे कुछका उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

१. एक ही वाक्य प्रश्नवाचक भी है और उत्तरवाचक भी है, जैसे—(प्रश्न) **'कं संजघान कृष्णः'** (उत्तर) **कंसं जघान कृष्णः'**। (प्रश्न) **'कं बलवन्तं न बाधते शीतः'** (उत्तर) **'कम्बलवन्तं न बाधते शीतः'** इत्यादि।

२. कई प्रश्नोंका एक भिन्न संदर्भवाले वाक्यद्वारा उत्तर जैसे—**'भोजनान्ते च किं पेयम् ? जयन्तः कस्य वै सुतः ? नृशरीरं कथं प्रोक्तम् ? तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्'** (**'तक्रम्'** प्रथम प्रश्नका, **'शक्रस्य'** द्वितीयका और **'दुर्लभम्'** तृतीय प्रश्नका उत्तर है।) इस प्रकारके असंख्य उदाहरण संस्कृत साहित्यमें पदे-पदे दृष्टिगत होते हैं।

आधुनिक युगमें सर्वप्रथम जर्मनवासियोंका ध्यान संस्कृत-भाषाकी ओर गया। कहा जाता है कि जर्मन भाषा यूरोपभरमें सर्वाधिक पिछड़ी मानी जाती थी। परंतु जब संस्कृत भाषाके व्याकरणके आधारपर उन्होंने अपनी भाषाको व्याकरणके नियमोंमें उपनिबद्ध एवं परिष्कृत किया, तब सब यूरोपके लोग चकित रह गये। तबसे संस्कृतका महत्त्व ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस, रूस, इटली और अमेरिकामें बढ़ गया। प्रायः ये सभी देश संस्कृतके प्राचीन ग्रन्थोंके प्रकाशनमें लग गये। कालान्तरमें जर्मनवासियोंने वैमानिकी-कलासे लेकर परमाणु बमतकके आविष्कारसे सम्पूर्ण विश्वको आश्चर्यमें डाल दिया। साधनाभावसे इस क्षेत्रमें भारतवासी पिछड़ गये हैं, परंतु जर्मनवासी अब भी संस्कृतके ऋणी हैं। जर्मनीको 'संस्कृत' की द्वितीय मातृभूमि भी कहा जाता है। सम्प्रति भारतवासियोंको भी संस्कृत-भाषाके इस दिव्य गौरवसे परिचित होने एवं इसे आत्मसात् करनेकी आवश्यकता है, क्योंकि विश्वका श्रेष्ठतम ज्ञान-विज्ञान देववाणीमें ही निहित है।

हृदयकी बात

प्रभो ! तुम्हारे और मेरे बीच पड़े हुए कुछ-कुछ उजले अन्धकारके इस पटलके कारण मुझे तुम्हारी वह सहस्रों सूर्योंके तेजसे भी अधिक तेजस्वी मुनि-मन-मोहिनी परम दिव्य छबि स्पष्ट नहीं दिखायी देती। इसीलिये ये प्राण व्याकुल हैं। नाथ ! यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि अन्धकारके पटलके इस ओर भी तुम्हारी ही निम्न (अपरा) प्रकृतिके इस राज्यमें, जहाँ मैं हूँ, तुम्हारी कृपा मेरे ऊपर बनी है। तुम्हारे प्रेमके प्रकाशसे ही तो वह सघन और अन्धकारका पटल कुछ-कुछ उजला-सा हो गया है। नहीं तो निम्न प्रकृतिके इस तमाच्छादित बीहड़ वनमें, जहाँ घोर हिंस्र पशु इधर-से-उधर और उधर-से-इधर घूम रहे हैं, मेरे लिये तुम्हारी ओर बढ़ना असम्भव हो जाता। पर मेरे सर्वस्व ! वह समय कब आयेगा जब कि तुम्हारे और मेरे बीचका यह अन्धकार पूर्णतया विलीन हो जायगा और तुम मेरे इतने निकट पहुँच जाओगे कि मैं परम आह्लादसे अपना मस्तक तुम्हारे चरणोंपर रख दूँगा और मिलनके इस अनिर्वचनीय आनन्दमें मुझे तन-मनकी भी सुधि नहीं रहेगी ? बस, फिर आगे क्या होगा सो तुम्हीं जानो !

प्रभो ! अपने इस प्रकारके दिव्य दर्शनसे कृतकृत्य करना तो पूर्णतया तुम्हारी ही इच्छापर निर्भर है। तुम जब चाहो तब मिलो। यह बिलकुल ही मेरे हाथकी बात नहीं है। नाथ ! मैं तो केवल जिस तरह तृषित चातक चोंच खोलकर मेघ-मण्डलकी ओर निहारता हुआ स्वाती-बिन्दुके लिये आशा लगाये बैठा रहता है, उसी तरहसे आशा लगाये बैठा हूँ !

भागवतीय प्रवचन— ३८

सांसारिक भोगोंकी दुःखरूपता

(कृष्णपादलीन संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

एक बार भगवान् कपिल बिन्दुसर-तीर्थमें एक आसनपर दिव्य एवं शान्त मुद्रामें आसीन थे, उसी समय उनकी माता देवहूति उनके पास आयीं और शरणागत होकर तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेके लिये प्रार्थना करने लगीं। भगवान् कपिलदेवने उन्हें जिस तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया, वह 'कपिल-गीता'के नामसे प्रसिद्ध हुआ। श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके अध्याय २५से अध्याय ३३ तक यह 'कपिल-गीता' वर्णित है। इसमें मुख्यरूपसे सांख्यशास्त्रका उपदेश है। तीन अध्यायोंमें पहले वेदान्तका ज्ञान है और अन्तमें भक्तिका वर्णन किया गया है, फिर उसके बाद संसार-चक्रका वर्णन है।

देवहूतिने सोचा कि ऋषियोंने मुझसे कहा था कि यह बालक माताका उद्धार करनेके लिये आया है, तो मैं कपिल भगवान्से प्रश्न पूछूँ, जिसका उत्तर वे अवश्य देंगे। देवहूतिने कपिल भगवान्के पास आकर कहा—भगवन्! यदि आपकी अनुमति हो तो मैं आपसे कुछ प्रश्न पूछना चाहती हूँ।

कपिलने कहा—माता! आप संकोच न करें, जो कुछ पूछना चाहती हैं, पूछें।

माता देवहूतिने आरम्भमें ही शरणागति स्वीकार कर ली थी। बिना ईश्वरका आश्रय लिये जीवका उद्धार नहीं हो सकता। गीतामें अर्जुनने भी पहले शरणागति स्वीकार की थी और भगवान्से कहा था—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

देवहूतिने कहा—प्रभो! जगत्में सच्चा सुख कहाँ है? जगत्में सच्चा आनन्द कहाँ है? नित्य आनन्द कहाँ है? जिसका नाश न हो सके, कृपाकर ऐसा आनन्द मुझे बतायें। अनेक बार इन्द्रियोंका लालन-पालन करनेपर भी मुझे शान्ति नहीं मिली है। समय बीतते जानेपर भान होता है कि विषयोंके आनन्दमें कोई सार नहीं है। इन्द्रियोंने जो कुछ माँगा, वह सभी मैंने दिया, फिर भी तृप्ति नहीं हुई।

इन्द्रियाँ प्रतिदिन नये-नये विषय माँगती हैं। जीवको रससुखकी ओर खींचती हैं। आँखें रूपसुखकी ओर और त्वचा स्पर्शसुखकी ओर खींचती है।

एक स्थानपर शंकरस्वामीने कहा है कि ये इन्द्रियाँ चोर हैं। इन्द्रियाँ तो चोरसे भी अधिक बुरी हैं। चोर तो जिसके घरमें, जिसके सहारे रहता है, वहाँ चोरी नहीं करता, जब कि इन्द्रियाँ तो अपने पतिके समान आत्माको ही धोखा देती हैं। देवहूति कहती है कि इन चोर-सी इन्द्रियोंसे मैं उकता गयी हूँ। मुझे बतायें कि जगत्में सच्चा सुख, सच्चा आनन्द कहाँ है और उसे पानेका साधन कौन-सा है।

कपिल भगवान्को आनन्द हुआ। वे बोले—माताजी! किसी जड़ वस्तुमें आनन्द नहीं रह सकता। आनन्द तो आत्माका स्वरूप है। अज्ञानवश जीव जड वस्तुमें आनन्द ढूँढ़ता है। जड वस्तुमें आनन्द रह नहीं सकता। संसारके विषय सुख तो देते हैं, किंतु आनन्द नहीं देते। जो सुख देगा, वही दुःख भी देगा, किंतु भगवान् हमेशा आनन्द ही देंगे। आनन्द परमात्माका स्वरूप है।

संसारका सुख खुजली (चमड़ीकी एक बीमारी) जैसा है जबतक आप खुजलाते रहते हैं, तबतक अच्छा लगता है। किंतु खुजलानेसे नाखूनमें रहे हुए जहरके कारण खुजलीका रोग बढ़ जाता है। सर्वोत्तम मिठाईका स्वाद भी गलेतक ही रहता है।

जगत्के पदार्थोंमें आनन्द नहीं है। उसका भासमात्र है। यह जगत् दुःखरूप है। गीताजीमें भी कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! क्षणभङ्गुर और सुखरहित इस जगत्को और मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके तू मेरा ही भजन कर।

आरम्भमें जड वस्तुमें सुखका-सा अनुभव होता है, किंतु वह सुख विषमय ही है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(गीता १८।३८)

विषयों और इन्द्रियोंके संयमसे जो सुख उत्पन्न होता है, वह आरम्भमें (भोगकालमें) तो अमृत-जैसा लगता है, किंतु

परिणामकी दृष्टिसे तो वह विष-समान ही है। इसी कारणसे इस सुखको राजस कहा गया है।

इन्द्रियोंकी सुखसे तृप्ति नहीं होती। विवेकरूपी धनका हरण करके इन्द्रियाँ जीवको संसाररूपी गर्तमें फेंक देती हैं। बाहरके विषयोंमें न तो आनन्द है और न तो सुख। आनन्द बाहर नहीं, अंदर है, आत्मामें है। आनन्द अविनाशी अन्तर्यामीका स्वरूप है। कपिल आगे कहते हैं—हे माता! यदि शरीरमें आनन्द होता तो उसमेंसे प्राणोंके निकल जानेके बाद भी लोग उसे सँजोकर अपने पास रखते।

विषय जड हैं। जड पदार्थमें आनन्द रह नहीं सकता। चैतन्यके स्पर्शके कारण ही जड पदार्थमें आनन्द-सा प्रतीत होता है।

दो शरीरोंके स्पर्शसे सुख नहीं मिलता, किंतु दो प्राणोंके एक होनेसे आनन्दका अनुभव होता है। यदि दो प्राणोंके इकट्ठे होनेपर सुख मिलता है तो जिसमें अनेक प्राण समाये हुए हैं, ऐसे परमात्माके मिलनेसे कितना अधिक आनन्द होता होगा!

बाहरके विषयोंमें आनन्द नहीं है। किंतु चित्तमें, मनमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़नेसे आनन्द-सा अनुभव होता है। इन्द्रियोंको मनचाहा पदार्थ मिलनेपर विषयोंमें वे तद्रूप हो जाती हैं, अतः कुछ समयके लिये चित्त एकाग्र व एकाकार होता है। उस समय चित्तमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे आनन्दका भास होता है। वह जगत्‌के विषयोंमें जबतक फँसा हुआ है, तबतक आनन्द नहीं मिल सकेगा। आनन्द आत्माका उसी प्रकार सहज स्वरूप है कि जिस प्रकार शीतलता जलका सहज स्वरूप है। आनन्द आत्मामें ही है।

आत्मा और परमात्माका मिलन ही परमानन्द है। भगवान्‌में मन फँसे और डूबने लगे तभी आनन्द मिलता है।

बार-बार अपने मनको समझाना चाहिये कि संसारके जड पदार्थोंमें सुख नहीं है। सोनेपर सब भूल जानेसे आनन्द मिलता है। सारे संसारको भूलनेके बाद ही गाढ़ी नींद आती है।

आत्मा तो नित्य, शुद्ध और आनन्दरूप है। सुख-दुःख तो मनके धर्म हैं। मनके निर्विषय होनेपर आनन्द मिलता है। दृश्यमेंसे दृष्टिको हटाकर द्रष्टामें स्थिर किया जाय तो आनन्द मिलेगा। आनन्द परमात्माका स्वरूप है।

कपिल कहते हैं—माताजी! यदि विषयोंमें ही आनन्द समाया हुआ हो तो सभीको सदा एक समान आनन्द मिलना चाहिये। तृप्त व्यक्तिके आगे यदि श्रीखण्ड भी रखा जायगा तो उसे पसंद नहीं आयगा। बीमार व्यक्तिके सामने मालपुए रखे जायँ तो भी वह नहीं खायेगा। अतः श्रीखण्डमें, मालपुओंमें अर्थात् विषयोंमें, जड पदार्थोंमें आनन्द नहीं है। यदि श्रीखण्डमें आनन्द समाया हुआ होता तो बीमारको भी उसे खानेसे आनन्द मिलना चाहिये था। किंतु उसे आनन्द नहीं मिलता, अतः आनन्द श्रीखण्डमें नहीं है। इसी प्रकार सभी विषयोंके बारेमें भी समझना चाहिये।

संसारके पदार्थोंमें आनन्द तो नहीं है, किंतु इन्द्रियोंको मनचाहे विषय, पदार्थ मिलनेपर वे अन्तर्मुख होती हैं। अन्तर्मुख हुए मनमें ईश्वरका प्रतिबिम्ब पड़ता है अतः आनन्द होता है। मनके अंदर आनेपर सुख मिलता है और बाहर जानेपर सुख उड़ जाता है। कल्पना करो कि एक सेठ श्रीखण्ड-पूरीका भोजन कर रहा है। इतनेमें कहींसे तार आता है कि उनका कारोबार डूब गया तो वही श्रीखण्ड उसे जहर-जैसा लगेगा और खानेको दिल ही नहीं होगा।

संसारके जड पदार्थोंमें आनन्द नहीं है। जब-जब आनन्द मिलता है, चेतन परमात्माके सम्बन्धके कारण ही मिलता है। परमात्माके साथ सम्बन्ध होनेपर ही आनन्द मिलेगा। जीव कपटी है, परमात्मा भोले हैं। जीव उपेक्षा करेगा तो भी परमात्मा उसके अपराधको क्षमा कर देंगे। आनन्द नारायणका स्वरूप ही है।

आनन्दका विरोधी शब्द नहीं मिलेगा। आनन्द यह ब्रह्मस्वरूप है। जीवात्मा भी आनन्द-रूप है। अज्ञानके कारण जीव आनन्दको ढूँढ़नेके लिये बाहर जाता है। बाहरका आनन्द लंबे समयतक टिक नहीं सकता।

आत्माके लिये कोई वास्तविक सुख-दुःख नहीं है। सुख-दुःख मनमें ही होते हैं। सुख-दुःख मनका धर्म है। जन्म-मरण शरीरका धर्म है। भूख और प्यास आत्माके धर्म हैं। मनमें सुख-दुःख होनेपर आत्मा कल्पना करती है कि मुझे दुःख होता है। मनपर हुए सुख-दुःखका आरोप अज्ञानसे आत्मा अपनेपर करती है। आत्मस्वरूपमें उपाधिके कारण सुख-दुःखका भास होता है। आत्मा स्फटिकमणि-जैसी श्वेत,

शुद्ध है। उसमें विषयोंका प्रतिबिम्ब पड़नेसे मनके कारण आत्मा मानती है कि उसे दुःख-सुख हुआ है। स्फटिकमणिके पीछे जिस रंगका फूल रखोगे वैसी ही वह दीखेगी। वह रंग स्फटिकका नहीं, फूलका ही है। स्फटिकमणि श्वेत है। उसके पीछे लाल गुलाबका फूल रखोगे तो वह लाल दीखेगी। गुलाबके संसर्गसे वह लाल भासित होती है।

जलमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ता है। जलकी गतिशीलताके कारण वह प्रतिबिम्ब भी हलचल करता है, कम्पित होता है। किंतु वास्तविक चन्द्रमापर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसी तरह देहादिके धर्म, स्वयंमें न होते हुए भी जीवात्मा उन्हें अपनेमें कल्पित कर लेता है। अन्यथा जीवात्मा तो निर्लेप है।

जीवात्मामें देखे जाते हुए देहादिके धर्म निष्काम भागवत-धर्मके अनुसरणसे, भगवान्‌की कृपासे और उसीसे प्राप्त भगवान्‌परक भक्तियोगसे धीरे-धीरे दूर हो जाते हैं। जो भक्तिनिष्ठ है वह समस्त लोकमें व्याप्त परमात्माको देख सकेगा। संसारके विषयोंसे सभी प्रकारसे हटा मन जब ईश्वरसे लीन होता है, तभी वह आनन्दरूप होता है।

◆

शङ्का-समाधान—

सुखी-दुःखी होनेमें मुख्य हेतु है तन्मयता

(स्वामी श्रीशंकरानन्दजी महाराज)

शङ्का—किसी विरक्त संतसे किसी गृहस्थने पूछा कि सभी प्राणी चाहते हैं कि हम सुखी ही रहें, दुःखी न हों, परंतु ऐसा हो नहीं पाता, इसका कारण क्या है? संतने कहा कि सुखी-दुःखी होनेमें मुख्य हेतु मनका तन्मय अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलतामें मनका तदाकार हो जाना ही है। संतके वचनका क्या तात्पर्य है, मैं समझ नहीं पाया। उनसे पूछनेका साहस न होनेके कारण आपसे पूछता हूँ, समाधान करनेकी कृपा करें। मैंने तो अन्य संतोंके मुखारविन्दसे तथा सद्ग्रन्थोंके अध्ययनसे यही जाना था कि स्वार्थकी पूर्ति-अपूर्तिसे ही मानव सुखी-दुःखी होता है। मेरा अनुभव भी इसीका समर्थन करता है।

समाधान—स्वार्थ, सम्बन्ध, परिचय, दया, दर्शन, श्रवण, सत्यताकी कल्पना तथा तन्मयता—इन कारणोंसे मानव सुखी-दुःखी होता है। इनमेंसे स्वार्थ आदि कारण मनकी तन्मयताद्वारा ही सुखी-दुःखी करनेमें हेतु होते हैं, साक्षात् हेतु नहीं होते, इसलिये ही संतने तन्मयताको हेतु कहा है। देखिये—

स्वार्थ—जब मैं घरमें रहता था, तब माताजीकी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंसे सुखी-दुःखी हो जाता था। इसी प्रकार मेरी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंसे माताजी सुखी-दुःखी हो जाती थीं। इसका कारण यह था कि माताजीको छोड़कर मेरा और कोई मुख्य आश्रय न था। इसी प्रकार माताजीके लिये मेरे सिवा और कोई मुख्य आश्रय न था। अतः स्वार्थके कारण दोनों सुखी-दुःखी होते थे। तन-धन-जन-मान-अपमान आदिकी प्राप्ति-अप्राप्तिसे भी मानव सुखी-दुःखी होता है। इन सबका समावेश स्वार्थमें ही हो जाता है। इसलिये अलगसे कथन नहीं किया।

सम्बन्ध—जब मैं घर छोड़कर साधु हो गया, तब माताजीका मुझसे और मेरा माताजीसे कोई स्वार्थ सिद्ध न होनेपर भी माताजीकी अनुकूलता-प्रतिकूलताको सुनकर मैं सुखी-दुःखी हो जाता। इसी प्रकार माताजी भी मेरी अनुकूलता-प्रतिकूलताको सुनकर सुखी-दुःखी हो जाती थीं। इससे स्पष्ट है कि स्वार्थके बिना सम्बन्ध भी सुखी-दुःखी होनेमें हेतु होता है। सम्बन्धके अन्तर्गत आसक्ति-ममता-मोह आ जाते हैं। अतः अलगसे विवेचन नहीं किया।

परिचय—एक पुराने परिचित व्यक्ति स्टेशनपर मिले। रुपये गिर जानेसे बड़े संकटमें थे, भूखे-प्यासे थे। उनके कष्टको देखकर मैं दुःखी हो गया। एक सज्जनको उनके गिरे रुपये मिल गये, उन्होंने ईमानदारीसे पूरे रुपये लाकर दे दिये। इससे मेरे परिचित व्यक्ति और मैं दोनों ही सुखी हो गये। इससे सिद्ध हो जाता है कि स्वार्थ और सम्बन्ध न होनेपर भी परिचय भी सुखी-दुःखी होनेमें हेतु होता है।

दया—एक सर्वथा अपरिचित व्यक्तिको और उसके साथ रहनेवाले एक कुत्तेको किसी दुष्टने बुरी तरह घायल कर

दिया। देखकर बड़ी दया आयी—दुःखी हो गया। स्वार्थ, सम्बन्ध तथा परिचय न होनेपर भी दयाके कारण दुःखी हुआ। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दया भी दुःखी होनेमें हेतु है। ऐसी दयाको भागवतमें परमात्माकी आराधना कहा गया है—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

(८।७।४४)

सामान्यजन अपने ही दुःखसे दुःखी होते हैं, परंतु प्रायः साधुजन दूसरे लोगोंके ताप (दुःख) से तपते (दुःखी) होते हैं। अखिलात्मा परमात्माकी यह परम उपासना ही है।

सत्यताकी कल्पना—एक व्यक्तिने आकर सुनाया कि गैया मैयाको एक दुष्ट लाठीसे मार रहा है। सुनकर मैं दुःखी हो गया। दूसरे व्यक्तिने आकर बताया कि पुलिसने दुष्टको पकड़ लिया, गायको मारसे बचा लिया। सुनकर मैं सुखी हो गया। तीसरे व्यक्तिने आकर बताया कि दोनों व्यक्तियोंके द्वारा बताया गया समाचार सत्य नहीं है। यह सुनकर सुख-दुःख दोनों ही समाप्त हो गये। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि घटनाकी सत्यताकी कल्पना भी सुखी-दुःखी होनेमें हेतु होती है।

तन्मयता—पहलेसे ही भलीभाँति जानता हूँ कि जो कहानी मैं पढ़ रहा हूँ, वह सत्य नहीं है, लेखककी कल्पना मात्र है। फिर भी जब पढ़ते समय तन्मय हो जाता हूँ तो सुखी-दुःखी हो जाता हूँ, इतना ही नहीं, हँसने-रोने लग जाता हूँ। इससे सुस्पष्ट हो जाता है कि स्वार्थ, सम्बन्ध, परिचय, सत्यताकी कल्पनाके बिना तन्मयतासे ही सुखी-दुःखी हुआ। अतः संतका तन्मयताको सुखी-दुःखी होनेमें मुख्य हेतु बताना संतका सर्वथा ठीक है। यही कारण है कि स्वार्थ आदि ऊपर बताये हेतुओंसे सुखी-दुःखी होनेवाले मानव चौबीस घंटे भी बराबर एक समान सुखी-दुःखी नहीं रह पाते, क्योंकि तन्मयता एक-सी नहीं रह पाती।

'तन्मयता ही सुखी-दुःखी होनेमें मुख्य हेतु है' इस रहस्यको जान लेनेसे एक बड़ा लाभ यह होता है कि किसी संत या साधकको कभी सुखी-दुःखी देखकर 'ये स्वार्थ या सम्बन्धके कारण ही सुखी-दुःखी हो रहे हैं' ऐसी दूषित धारणा नहीं बनती। एवं कभी तन्मयताके कारण स्वयं सुखी-दुःखी होनेपर 'मेरे हृदयमें अवश्य कुछ स्वार्थ छिपा होगा, नहीं तो सुखी-दुःखी हो ही नहीं सकता' ऐसी भ्रान्त धारणासे अपनेमें हीनताका भाव नहीं आता। वास्तविक बात यह है कि स्वार्थ आदि किस हेतुसे तन्मय होकर सुखी-दुःखी हो रहा हूँ, इस बातको ठीक-ठीक वही व्यक्ति जान सकता है, दूसरा नहीं। अतः उस हेतुको ही दूर करनेका प्रयास करना चाहिये।

उस हेतुको दूर करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि वह जीवनमें कितनी गहराईसे प्रविष्ट है। उसके अनुसार यथासम्भव प्रयास करनेपर ही समयपर सफलता मिलेगी। प्रायः स्वार्थ और बन्धुओंसे स्नेह-रूप अनुबन्ध (सम्बन्ध) जीवनमें गहराईसे प्रविष्ट होनेके कारण शीघ्र तन्मयता उत्पन्न करके सुखी-दुःखी कर देते हैं, इसलिये संत एवं सद्ग्रन्थ स्वार्थ और सम्बन्धको सुखी-दुःखी होनेमें हेतु कहते हैं और सभीको वैसा अनुभव होता है। गहराईमें प्रविष्ट होनेके कारण इनका त्याग साधारण साधकोंके लिये ही नहीं, अपितु मुनियोंके लिये भी कठिन होता है। ऐसा भागवतमें कहा गया है—

स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः॥

(१०।४७।५)

इसलिये शीघ्र सफलता न मिलनेपर निराश नहीं होना चाहिये, धैर्यपूर्वक प्रयास करते ही रहना चाहिये।

* * *

क्या अच्छा है ?

वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम्।
वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचिर्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनास्वादनसुखम्॥

चुप रहना अच्छा है पर मिथ्या वचन कहना अच्छा नहीं, पुरुषका नपुंसक हो जाना अच्छा है, परंतु पर-स्त्री-गमन अच्छा नहीं। प्राणोंका त्याग कर देना अच्छा है, परंतु चुगुलोंकी बातोंमें रुचि रखना अच्छा नहीं और भिक्षा माँगकर खा लेना अच्छा है, परंतु दूसरोंके धनके उपभोगका सुख अच्छा नहीं है।

* * *

विश्वहितके लिये हमारी सनातन प्रार्थना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(शुक्लयजुर्वेदीय शान्तिपाठ)

पूर्ण है यह, पूर्ण है वह पूर्णसे निष्पन्न होता पूर्ण है।
पूर्णमेंसे पूर्णको यदि लें निकाल शेष तब भी पूर्ण ही रहता सदा॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

ॐ सह नाववतु॥ सह नौ भुनक्तु॥ सह वीर्यं करवावहै॥ तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(कृष्णयजुर्वेदीय शान्तिपाठ)

हे परमात्मन्! है विनय हमारी हम गुरु-शिष्य रहें नित साथ।
रक्षित हों, परिपोषित हों, बल प्राप्त करें हम दोनों साथ॥
विद्याध्ययन हमारा हो तेजस्वी विजय प्रभावी हो।
पारस्परिक स्नेहसूत्र बन्धनयुत आत्म-प्रभावी हो॥
द्वेषभावसे मुक्त सदा हम रहें प्रभो हे परमात्मन्!
निवृत्त करो हम दोनोंको, बस त्रिविध तापसे मुक्त करो॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(सामवेदीय शान्तिपाठ)

हे परमात्मन्! हे दयानिधान! विनय सुनो हे श्रीभगवान्।
नेत्र, श्रोत्र, वाणी सकल अंग, प्राण, ओज आदि,
कर्मेन्द्रियाँ, प्राणेन्द्रियाँ, दैहिक, मानसिक अनादि॥
शक्तियाँ हों पुष्ट सभी शुभ संवर्धित होवें सारी,
दिनदूनी चौगुनी रातमें खिले सदा भवभयहारी।
उपनिषदोंमें वर्णित सर्वस्वरूप ब्रह्म स्वीकारूँ मैं,
जप, तप, साधन, ध्यान धरूँ वह कभी न अस्वीकारूँ मैं॥
मुख मोड़े न कभी मुझसे वह ब्रह्म, उसे अपनाऊँ मैं,
पिण्ड और ब्रह्माण्ड एक है, यही समझ अब पाऊँ मैं।
मैं हूँ ब्रह्म, ब्रह्म हूँ मैं, सम्बन्ध नित्य यह बँधा रहे,
उपनिषदोंमें जिन धर्मोंका विवरण, मुझमें सधा रहे॥
सब धर्मोंका लक्ष्य एक, परमात्म-ब्रह्ममें लीन रहें,
साधक हूँ मुझमें प्रतिभासित आलोकित लवलीन रहें।
मैं नित्य निरन्तर सजग रहूँ वे सधर्म मुझमें बने रहें,
आध्यात्मिक आदि, त्रिविध तापोंसे मन मेरा निवृत्त रहे॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः॥ स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(अथर्ववेदीय शान्तिपाठ)

हे देवगण! हैं आप सब वन्दन करें हम आपको,
विनती सुनो हे देवगण! हम याद करते आपको।
है भावना मनमें यही हम नमन-श्रवण सदा करें,
कल्याणकारी शुभ सुखद वचनामृतोंका पान करें॥
हम अग्निहोत्री हैं, हमारे नेत्र शुभ दर्शन करें,
सद्भावरूप स्वरूपका दर्शन सदा मङ्गल करें।
हर एक अवयव हो सुदृढ़ इस देहका, यह पुष्ट हो,
इससे स्तवन भगवान्‌का करना हमें, वे तुष्ट हों।
दीर्घायु हों, हम कार्यमें भगवान्‌के नित आ सकें,
जिनका सुयश सब ओर फैला, कृपा उनकी पा सकें।
देवाधिपति हैं इन्द्र वे, हैं बुद्धिराज बृहस्पति,
सर्वज्ञ, पूषा, सूर्यदेव अरिष्ट-निवारक खगपति॥
श्रीगरुड, दिव्य विभूतियाँ भगवान्‌की अनुभूतियाँ,
अनुकूल होवें ये सदा जीवन कलात्मक सूक्तियाँ।
कल्याणकारी हों हमें, पोषण हमारा ये करें,
इनकी कृपाके संग दुनियाका भला होता रहे॥
आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक त्रिविध ये,
इन सुप्त तापोंसे सदा हो शान्ति हों संतुलित ये॥

(अनु०—श्रीमदालसा नारायण)

[प्रेषक—श्रीजयदयालजी डालमिया]

◆

भक्त-गाथा—

श्रीत्रिभुवन पाण्डेय

काशीसे लगभग सोलह मील दक्षिण चन्द्रप्रभा नामक एक छोटी-सी पवित्र नदी बहती है। उसके तटपर पसही नामक एक छोटा-सा गाँव है। दो-ढाई सौ घर होंगे उस गाँवमें। श्रीत्रिभुवनजी पाण्डेयने उसी गाँवके पं० श्रीरमाकान्तजी पाण्डेयकी सौभाग्यवती पत्नी श्रीदुलारीदेवीकी कोखसे जन्म लिया था।

श्रीरमाकान्तजी अत्यन्त सरल एवं सात्त्विक पुरुष थे। गाँवके जमींदार थे, धन-धान्यसे सम्पन्न। आस-पास सर्वत्र उनकी प्रतिष्ठा थी। अत्यन्त प्यारके कारण वे श्रीत्रिभुवनको 'बच्चन' कहा करते थे। इनके प्यारका यह 'बच्चन' नाम ही आगे चलकर प्रसिद्ध हो गया। बच्चन पाण्डेयकी शिक्षा बहुत थोड़ी हो पायी, पर इनके जीवनपर बाल्यकालसे ही संतके जीवनका अद्भुत एवं प्रगाढ़ प्रभाव पड़ा था।

श्रीबच्चन पाण्डेयके चाचा श्रीयज्ञनारायणजी संत पुरुष थे। उन्होंने दो अन्य महात्माओंके साथ श्रीअवधधामसे पैदल श्रीरामेश्वरम्‌की यात्रा की थी। वे रामायणके मर्मज्ञ थे। भगवान् श्रीराम जिस मार्गसे जहाँ-जहाँ विश्राम करते हुए श्रीरामेश्वर पहुँचे थे, ये भी रामायणकी कथा कहते-सुनते उसी मार्गसे वहाँ-वहाँ विश्राम करते हुए वहाँ पहुँचे। कहते हैं, श्रीबद्रीविशालके दर्शनार्थ जाते समय उन्हें भगवान्‌के दर्शन हुए थे। श्रीतुलसीदासजीकृत समस्त ग्रन्थ उन्हें कण्ठस्थ थे। वे बच्चन पाण्डेयका बहुत लाड़ करते। उन्हें अङ्कमें ले गीतावलीके गीत और कवितावलीके कवित्त-सवैया मधुर कण्ठसे गा-गाकर सुनाया करते। इस कारण गीतावलीके कितने ही पद बच्चनजीको बाल्यकालमें ही कण्ठस्थ हो गये थे।

कुछ ही बड़े होनेपर गृहस्थीका भार इनके ऊपर आ गया। पिताजी चल बसे, पर भगवद्भक्त चाचाकी छाया उनपर बनी रही। नियमित रूपसे भगवच्चर्चा उन्हें सुननेके लिये मिला करती थी। प्रतिदिन स्नान एवं भगवान् तारकेश्वरका पूजन उनका आवश्यक कार्य था। पूजामें उनकी अद्भुत निष्ठा थी। श्रीतारकेश्वरजीकी पूजा किये बिना वे अन्न ग्रहण नहीं करते थे। (चन्द्रप्रभाके तटपर पक्का घाट एवं श्रीतारकेश्वरमहादेवका विशाल मन्दिर उनके चाचाके उत्साह एवं सहयोगसे ही बना।) बाबा तारकेश्वरकी श्रद्धा एवं प्रेमसे उनका हृदय प्लावित रहता।

बच्चन पाण्डेयका जीवन अत्यन्त सरल था। मिलनेवाले इनसे सदा प्रेम पाते और गद्गद वापस लौटते। पास-पड़ोस एवं गाँवके सारे झगड़े ये सुलझाते। कभी किसी भी पक्षको इनके न्यायके विपरीत एक शब्द भी कहनेका अवसर नहीं मिला और कटुता बढ़ नहीं पायी। गाँवमें किसीके घरमें तनिक भी कलह हुआ कि परिवारके लोग इनके पास पहुँच जाते। अपना आवश्यक कार्य छोड़कर भी जबतक ये परिवारमें प्रेम स्थापित नहीं करा लेते, तबतक अपना कोई कार्य भी नहीं करते। इसी कारण अनेक वृद्ध पुरुषोंके रहते भी ये गाँवके मुखिया बना दिये गये थे।

कुछ दिनों बाद इनके चाचाजी चल बसे। उस समय ये घबरा-से गये। इनके जीवनको सुखद बनानेका आधार अध्यात्म था और ये अध्यात्म-चर्चाएँ इन्हें अपने चाचाजीसे निरन्तर सुननेको मिलती रहतीं। भगवत्कथा-श्रवणमें आनन्दित होकर ये रोने लगते। चाचाके परलोकवासके बाद ये प्रायः बाबा तारकेश्वरके चरणोंमें बैठे रहते। मध्याह्नतक बिल्वपत्र एवं धतूरेका पुष्प लेकर उनकी पूजा करते एवं उनका जप करते। इस प्रकार कुछ ही दिनोंमें इनका मन शान्त होने लगा, पर इसी बीच इनकी माता दुलारीदेवीका शरीरान्त हो गया। इतना ही नहीं, इनकी एक लड़की और लड़का भी चल बसा। लड़का बस एक ही था, किंतु उस समय इनके मनपर जैसे कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ा। संसारकी असारतापर इनका दृढ़ विश्वास एवं मन धीरे-धीरे भगवान्‌के चरणोंमें अत्यधिक अनुरक्त होने लगा। ये अपने एकमात्र छोटे भाई राजनारायणको समय-समयपर संसारकी निस्सारता और भगवत्प्रेमकी बातें सुनाया करते। जीवका परम कल्याण जगदाधार स्वामीके चरणोंकी संनिधिमें ही है—वे बताया करते।

बहुत दिनों बाद उन्हें पुनः एक पुत्र उत्पन्न हुआ, पर उस समयतक तो उनका मन परिवारमें रहते हुए भी परिवारसे तटस्थ हो गया था। घरका सारा कार्य राजनारायण देखते।

बच्चन पाण्डेय भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करते रहते। हाँ, नाम-जपके साथ वे अपने खेत तथा बाग-बगीचा अवश्य हो आते। आवश्यकतानुसार कार्य-निर्देश भी कर देते, पर बाबा तारकेश्वरकी पूजा-अर्चाके प्रति उनका आकर्षण अत्यधिक बढ़ गया। उनके जीवनका मुख्य उद्देश्य भगवत्प्राप्ति हो गया था। फिर संसारका आकर्षण उन्हें किस प्रकार बाँध पाता। उनकी तन्मयता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और उन्हें संसार जैसे काटने दौड़ने लगा। प्रभुकी विशुद्ध प्रीतिकी प्राप्तिके बाद सचमुच जगत्‌में कहीं भी रसकी अनुभूति नहीं हो पाती।

अचानक वे बीमार पड़ गये। उनके छोटे भाई राजनारायणने उनके चिकित्साकी पूरी व्यवस्था की, पर कोई लाभ नहीं हुआ। वे अपना पार्थिव शरीर काशीमें छोड़ना चाहते थे, पर मोहके कारण परिवार उनके जीवनकी आशासे घरपर ही उनकी चिकित्सा करवा रहा था। वे धीरे-धीरे अच्छे होने लगे। कुछ ठीक होनेपर उन्होंने काशी चलनेके लिये आग्रह किया और बोले—'काशी चलनेपर ही मुझे वास्तविक लाभ हो सकेगा।' बड़े भाईकी आज्ञाका सदा सादर पालन करनेवाले राजनारायणने उनके काशी ले चलनेकी व्यवस्था कर दी। बच्चन पाण्डेयने अपने बड़े-छोटे सबके सामने हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना की एवं प्रेमपूर्वक विदा ली।

काशीपुरी एवं गङ्गा मैयाके दर्शनकर उनके तन, मन और प्राण सभी शीतल हो गये। उनकी प्रसन्नताकी सीमा नहीं थी। गङ्गातटपर हाथ जोड़े वे गङ्गाजीकी निर्मल धाराका दर्शन और भगवान्‌के नामका मन-ही-मन जप कर रहे थे। अचानक उनकी साँस रुक गयी। उनकी आकृतिपर अखण्ड शान्ति खेल रही थी।

राजनारायण ही नहीं, वहाँ उपस्थित सभी जन चकित होकर देखते रह गये। 'धन्य थे ये' बरबस लोगोंके मुँहसे निकल पड़ा।

वास्तवमें जिन्हें जगत्‌की ममता-आसक्ति नहीं जकड़ पाती और जिनका जीवन प्रभु-पद-पद्मोंका तनिक भी स्पर्श पा जाता है, उन्हींका जीवन धन्य है।

अब तो मनमें आओ राम !

(श्रीअतुल्यकीर्तिजी व्यास)

अब तो मनमें आओ राम।
अधरोंपर तेरा ही नाम॥
तुम बिन सूना मेरा मन, रहे रिक्त सावनमें घन,
तप्त धरा पर बरसे रस, हो शीतल संतृप्त सरस,
हो जायें पूरण सब काम।
अब तो मनमें आओ राम॥
तुम ही जीवनके आधार, तुम मेरे मनके आगार,
तुमको है जीवन अर्पण, बसो मेरे तुम मन दर्पण,
पा जाऊँ पूरण विश्राम।
अब तो मनमें आओ राम॥
तुम मेरे मनके अधिकारी, मैं हूँ तेरा स्नेह-भिखारी,
दो मुझको अपना उपहार, कर लो मेरा मन स्वीकार,
और नहीं कुछ तुमसे काम।
अब तो मनमें आओ राम॥
अधरोंपर तेरा ही नाम।
अब तो मनमें आओ राम॥

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें निर्द्वन्द्व होनेकी महत्ता

रागद्वेषादयो द्वन्द्वाः शत्रवः सन्ति देहिनाम्।
तन्मुक्ताः साधकाः शीघ्रं भवेयुः सममाश्रिताः ॥

सांसारिक कर्ममें संसारका सम्बन्ध रहता है और पारमार्थिक साधनमें संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख होना पड़ता है; अतः संसारका काम करें या पारमार्थिक साधन करें—यह द्वन्द्व है। इस द्वन्द्वके निवारणका उपाय यह है कि सांसारिक काम संसारके लिये न करके केवल भगवान्‌के लिये किया जाय। केवल भगवत्प्रीत्यर्थ करनेसे सब-का-सब काम-धन्धा, सब-की-सब क्रियाएँ साधन हो जाती हैं। गीतामें नवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने **'यत्करोषि'** (तू जो कुछ करता है), **'यदश्नासि'** (तू जो कुछ खाता-पीता है), **'यज्जुहोषि'** (तू जो कुछ यज्ञ आदि करता है), **'ददासि यत्'** (तू जो कुछ दान देता है) और **'यत्तपस्यसि'** (तू जो कुछ तप करता है)—ये पाँच क्रियाएँ दी हैं! इनमेंसे **'करोषि'** और **'अश्नासि'**—ये दो क्रियाएँ सांसारिक हैं तथा **'जुहोषि'**, **'ददासि'** और **'तपस्यसि'**—ये तीन क्रियाएँ शास्त्रीय हैं, पर इन पाँचों क्रियाओंका सम्बन्ध **'मदर्पणम्'**-(भगवदर्पण-)के साथ है। कारण कि पाँचों क्रियाओंके साथ **'यत्'** शब्द लगा हुआ है और अर्पण करनेके साथ **'तत्'** पद लगा हुआ है—**'तत्कुरुष्व मदर्पणम्'**। अतः ये पाँचों क्रियाएँ केवल भगवत्प्रीत्यर्थ करनी चाहिये। इनमें किञ्चिन्मात्र भी अपनापन नहीं रहना चाहिये।

अर्पण दो तरहसे होता है—(१) क्रिया करके भगवान्‌के अर्पण कर देना और (२) शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि सब भगवान्‌के ही हैं—ऐसा मान लेना। इन दोनोंमेंसे दूसरा अर्पण श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें सब कुछ भगवान्‌के ही समर्पित है। इस तरह अर्पण करनेवाले भक्तकी लौकिक और शास्त्रीय सभी क्रियाएँ पारमार्थिक हो जाती हैं, भगवत्प्रीत्यर्थ हो जाती हैं। फिर उसमें द्वन्द्व नहीं रहता।

अनुकूल परिस्थितिमें राजी और प्रतिकूल परिस्थितिमें नाराज होना भी द्वन्द्व है। इस द्वन्द्वसे व्यवहार बिगड़ता है, दुःख होता है और बन्धन दृढ़ होता है। परंतु जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें राजी-नाराज नहीं होता, इनमें सम रहता है, उसका व्यवहार ठीक तरहसे होता है, उसको दुःखै नहीं होता और उसका कर्मबन्धन कट जाता है (२। ३८)। जैसे, जो माँ अपने बच्चोंमें द्वन्द्व रखती है, पक्षपात या विषमता रखती है, वह माँ होते हुए भी बच्चोंको प्रसन्न नहीं रख सकती, जिससे कुटुम्बमें कलह होता है, अशान्ति रहती है, मनमुटाव रहता है। द्वन्द्व, पक्षपात न रहनेसे कलह मिट जाता है और कुटुम्बमें शान्ति रहती है।

द्वन्द्व, विषमता, पक्षपात—ये जन्म-मरणके, दुःखोंके मूल हैं। इनके सर्वथा मिटनेपर परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। अतः भगवान्‌ने द्वन्द्वोंमें सम रहनेको 'योग' कहा है (२। ४८)।

हम युद्ध करें या न करें, जीत हमारी होगी या उनकी (२। ६)—यह भी द्वन्द्व है; परंतु यह राग-द्वेषवाला द्वन्द्व नहीं है, प्रत्युत भविष्यकी चिन्तावाला द्वन्द्व है। इसी द्वन्द्वसे मोहित हुए अर्जुन भगवान्‌के शरण होकर उनसे अपना कर्तव्य पूछते हैं (२। ७)। उत्तरमें भगवान् कहते हैं—अगर तू युद्धमें मारा जायगा तो स्वर्गको प्राप्त होगा और युद्धमें जीत जायगा तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा (२। ३७)। अतः जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखमें सम होकर युद्ध कर, फिर तुझे पाप नहीं लगेगा (२। ३८)। कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, कर्मके फलमें नहीं (२। ४७)। तू सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर कर्म कर (२। ४८); क्योंकि समबुद्धिसे युक्त मनुष्य इस जीवित-अवस्थामें ही पाप-पुण्यसे रहित हो जाता है (२। ५०)।

ये हमारे श्रोता हैं और ये हमारे श्रोता नहीं हैं, ये हमारे अनुयायी हैं और ये हमारे अनुयायी नहीं हैं, ये हमारे शिष्य हैं और ये हमारे शिष्य नहीं हैं; अतः जो हमारे श्रोता, अनुयायी और शिष्य हैं, उनको तो हम साधनकी बात बतायेंगे और जो हमारे श्रोता आदि नहीं हैं, उनको हम साधनकी बात नहीं बतायेंगे—इस तरह वक्ताके भीतर द्वन्द्व, विषमता, पक्षपात रहेगा तो उसमें राग-द्वेष होंगे। जबतक राग-द्वेष होते हैं, तबतक कल्याण नहीं होता; क्योंकि कल्याणके मार्गमें राग और द्वेष—ये दोनों शत्रु हैं (३। ३४)।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योग-मार्गोंमें साधकके लिये निर्द्वन्द्व होना बहुत आवश्यक है। अतः

भगवान्‌ने गीतामें जगह-जगह निर्द्वन्द्व होनेके लिये विशेष जोर दिया है; जैसे निर्द्वन्द्व होनेपर साधक कर्म करता हुआ भी बँधता नहीं (४।२२), द्वन्द्वोंसे मनुष्य संसारमें बँध जाता है (७।२७); परंतु निर्द्वन्द्व होनेसे मनुष्य सुखपूर्वक संसारसे मुक्त हो जाता है (५।३); निर्द्वन्द्व होनेपर ही साधक दृढ़व्रती होकर भगवान्‌का भजन कर सकते हैं (७।२८)। तात्पर्य है कि साधककी साधना निर्द्वन्द्व होनेसे ही दृढ़ होती है। इसीलिये भगवान् अर्जुनको निर्द्वन्द्व होनेकी आज्ञा देते हैं (२।४५)।

उपवाससे स्वास्थ्य-लाभ

(वैद्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, आयुर्वेदाचार्य)

भारतीय सनातन संस्कृतिमें व्रतोपवासका विशिष्ट स्थान है। यह हिन्दू-संस्कृतिका एक अभिन्न अङ्ग है। मन्वादि धर्मशास्त्रोंमें मुख्यरूपसे मन तथा शरीरकी सर्वविध शुद्धिपूर्वक भगवत्प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये उपवासकी उपयोगिता निर्दिष्ट की गयी है और इसे सनातन धार्मिक जीवनका एक आवश्यक अङ्ग बतलाया गया है। इसी दृष्टिसे एकादशी आदिके उपवासोंका विधान है। कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, चान्द्रायणादि व्रतोंमें तो उपवास-कर्म प्रायश्चित्त-स्वरूप हो जाता है। वासिष्ठ धर्मशास्त्रमें उपवासको परिभाषित करते हुए कहा गया है—

उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह।
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः॥

—इसका भाव यह है कि उपवासमें सभी प्रकारके तामसी एवं राजसी इन्द्रिय-भोगोंसे विरति तथा सत्कर्मपूर्वक भगवद्भजन, ध्यानादि कर्म निर्दिष्ट रहते हैं। उपवासादिके अनुष्ठानसे सभी प्रकारके पाप-तापोंका उपशमन होता है और सत्कर्मरूप अनुष्ठानसे सद्गुणोंका संचय होता है। इस प्रकार उपवास एक पुण्यानुष्ठान है।

उपवासके दिन व्रतीको सात्त्विक एवं स्वल्प आहार-विहारका ही सेवन करना चाहिये। इससे न केवल शरीर स्वस्थ रहता है; अपितु मन भी दुर्विचारसे अलग होने लगता है। उपवासके द्वारा अनेक भीषणतम रोगोंके भी उपशमन, निदान एवं चिकित्सामें सहयोग प्राप्त होता है। आयुर्वेदादि चिकित्सा-पद्धतियोंमें ज्वरादि रोगोंको शान्त करनेके लिये प्रायः भोजन आदिका निषेध तथा पथ्यसेवनका विधान बताया गया है। इसलिये शरीरको स्वस्थ रखने तथा रोगोंके शमन करने-हेतु उपवासकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आयुर्वेद तथा प्राकृतिक चिकित्सामें उपवासपर विशेष बल दिया गया है। उपवास पाचनतन्त्रको शक्ति प्रदान करता है। पाचन-संस्थानकी स्वस्थता ही आरोग्यकी पहली शर्त है।

शरीर एक यन्त्रकी तरह अनवरत कार्य करता रहता है। भोजनको पचाकर मलभाग बाहर फेंकना तथा सार-भागसे प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गका पोषण करना इसका प्रमुख कार्य है। उपवास करनेसे पाचनक्रियामें भाग लेनेवाले अवयवों—आमाशय, आहार-नली, पित्ताशय, यकृत् तथा आँतोंको विश्राम मिलता है। अतिभोजनसे शरीरकी ऊर्जाका बहुत-सा भाग उसे पचानेमें ही व्यय हो जाता है, अतः विषाक्त द्रव्योंका पूरी तरहसे निराकरण नहीं हो पाता। यह अवस्था रोगोंको उत्पन्न करती है। बीमार होनेपर हमारी सारी शक्ति रोगकारक विष-द्रव्योंके निष्कासनमें लगी रहती है, फलतः भूख नहीं लगती। अतः रोगनिवारक सभी उपायोंमें उपवास प्राकृतिक सरल एवं श्रेष्ठ चिकित्सा है। पशु-पक्षी भी रोगग्रस्त होनेपर उपवास करते देखे जाते हैं। सभी प्राणियोंकी प्रथम चिकित्सा उपवास ही है।

उपवासके तीन उद्देश्य हैं—शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक लाभ। उपवाससे दमा, मोटापा, कब्ज, बवासीर, अपेंडिसाइटिस, संग्रहणी, गठिया तथा यकृत्‌के रोगोंमें बहुत लाभ होता है। प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ महर्षि चरकके अनुसार उल्टी, अतिसार, अजीर्ण, बुखार, शरीरका भारीपन, जी मिचलाना, अफारा, अरुचि आदि रोगोंमें उपवास परम औषध है। इससे शरीरमें रोग-प्रतिरोधक शक्ति एवं यौवनकी स्थिरता बनी रहती है। उपवाससे शरीर तथा मस्तिष्कके अवयव तरोताजा हो जाते हैं। पेट अन्नसे भरा होनेपर रक्तप्रवाह उदरकी तरफ अधिक होता है, जिससे मस्तिष्कको ऊर्जा कम मिलती है। व्रतसे शरीरके अनावश्यक भारका क्षय तथा भूखकी वृद्धि होती है। मानसिक दुर्बलता, अवसाद, चिन्ता आदि

व्याधियोंका उपवाससे निराकरण होता है। इससे नवीनता, स्फूर्ति एवं आत्मोन्नति होती है। डॉ० प्यूरिंगटनने आरोग्य, जीवनका आनन्द, सौन्दर्य, स्वतन्त्रता, शान्ति तथा शक्ति चाहनेवालोंको उपवास करनेकी सलाह दी है।

व्यक्तिकी शारीरिक क्षमता तथा रोगके अनुसार १से २१ दिनतक उपवास करनेका विधान है। सिरदर्द, उदरविकार, जुकाम, गलेकी सूजन आदि रोगोंमें ३-४ दिनके छोटे उपवाससे लाभ हो जाता है। गठिया, लीवरके रोग एवं कैंसर आदिमें लंबा उपवास किया जाता है। मांसाहारीको लंबा तथा शाकाहारीको छोटा उपवास अपेक्षित है। स्वस्थ व्यक्तिको जीवनशक्ति बढ़ाने एवं स्वास्थ्यकी रक्षाहेतु सप्ताहमें एक दिन उपवास करना पर्याप्त है। उपवाससे बहुत-सा विषाक्त द्रव्य शरीरके मांसतन्तुओंसे निकलकर रक्तमें मिल जाता है, अतः विषका प्रभाव नष्ट करने और इसे शरीरसे बाहर निकालनेके लिये प्राकृतिक लवणोंकी आवश्यकता होती है, जो फलाहारसे प्राप्त होते हैं। लंबा उपवास करनेवालोंको केला, सेव, टमाटर, खीरा, गाजर, मूली, पालक, पत्तागोभी, शहद एवं छाछका प्रयोग करना चाहिये। साप्ताहिक उपवासमें केवल पानी या नींबूका पानी पीना पर्याप्त है। उपवासके प्रारम्भिक दिनोंमें पेटमें वायु, अनिद्रा, मुँहका बेस्वाद होना, दुर्गन्धपूर्ण पसीना आना आदि लक्षण प्रकट होते हैं। धैर्यपूर्वक उपवास जारी रखनेपर इनका स्वतः ही शमन हो जाता है।

उपवास-कालमें बिस्तरपर न लेटकर चिन्तामुक्त रहते हुए हल्का कार्य करना चाहिये। धूपस्नान, मिट्टीस्नान, प्राणायाम, मौनधारण, दूबपर भ्रमण और स्नान उपवासके लाभको दुगुना कर देते हैं। बार-बार थोड़ा-थोड़ा पानी पीना भी लाभकारी है। अधिक ठंढा पेय, चाय, काफी तथा धूम्रपानका सेवन उपवासके लाभको नष्ट कर देता है। भूखे पेट रहकर चाँदनीका सेवन स्नायुतन्त्रको मजबूत बनाता है। लंबे उपवासको फलोंका रस या शहद लेकर खोलना चाहिये। कुछ दिनतक भारी भोजन करनेके बजाय फलाहारपर रहना उत्तम है।

भारतीय धार्मिक परम्परामें समय-समयपर विभिन्न व्रतोंका समावेश उत्तम स्वास्थ्यको लक्ष्यमें रखकर ही किया गया है। एकादशीके दिन मोटापा बढ़ानेवाले चावल आदि स्टार्चयुक्त पदार्थोंका निषेध तथा प्राणशक्ति बढ़ानेवाले फलाहारका निर्देश निश्चय ही प्रशंसनीय है।

भोजनके समान उपवासकी इच्छा होनेपर ही इसे करना चाहिये। उत्साह तथा प्रसन्नतापूर्वक किया गया उपवास अधिक लाभ करता है। भूख-प्यास सहन न करनेवालों, मुखशोष, चक्कर, न्यून रक्तचापसे ग्रस्त व्यक्तियों, बालक, गर्भिणी स्त्री तथा अतिवृद्धोंको यथाशक्ति ही उपवास करना चाहिये।

◆

उपनिषद्-वाणी

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

जो एक अद्वितीय स्वतन्त्र परमात्मा बहुत-से निष्क्रिय जीवोंके एक बीजको अनेक रूप कर देता है, अपने अन्तःकरणमें स्थित उस देवको जो मतिमान् देखते हैं, उन्हें ही नित्य सुख प्राप्त होता है, औरोंको नहीं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे प्रकाशित नहीं होते और न ये बिजलियाँ ही चमकती हैं, फिर यह अग्नि तो कैसे प्रकाशित हो सकता है? सब उसके प्रकाशित होनेसे ही प्रकाशित होता है, उसीके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै।
तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

जो सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसके लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है, अपनी बुद्धिको प्रकाशित करनेवाले उस देवकी मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ। (श्वेताश्वतरोपनिषद्)

◆

परोपकारप्राणा पुण्यमयी गौ

(सुश्री मंजुलता मिश्रा, एम्० ए०, एम्० फिल्०)

मनुष्योंके सर्वविध कल्याणके लिये वेदोंमें अनेक प्रकारके यज्ञानुष्ठान बताये गये हैं। अग्निरूपी मुखसे देवताओंको यज्ञकी आहुतियाँ प्राप्त होती हैं—**'अग्निमुखा हि देवा भवन्ति'** और गायसे देवताओंको समर्पण करने योग्य हवि प्राप्त होता है। इसी कारण गायको **'हविर्दुघा'** (हविको प्रदान करनेवाली) कहा जाता है। गौ ही यज्ञकी प्रतिष्ठा है और गौ ही यज्ञके फलोंका कारण है—**'गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः।'**

यज्ञकी वेदीको पवित्र एवं स्वच्छ करनेके लिये गोबरकी आवश्यकता होती है। यज्ञाग्निको जलाने तथा प्रज्वलित करने-हेतु गोबरके कंडे (उपले) की आवश्यकता होती है। यज्ञमें तिल, जौ, चावल आदि अन्नोंके मिश्रणसे हवन करनेका विधान है। इन विविध अन्नोंको उत्पन्न करनेके तथा उसके लिये गौकी संतान बैलोंकी आवश्यकता होती है। यज्ञमें गोमातासे प्राप्त दूध, दही, घी, गोमय, गोमूत्रसे बने पञ्चगव्य-प्राशनका महत्त्व सर्वविदित है, इसलिये यज्ञकी सर्वस्वभूता तथा कृषि आदिकी भी मूल आधारभूता गोमाता ही है।

लोक-पितामह ब्रह्मा, जग-पोषक विष्णु एवं भगवान् शङ्करद्वारा भी कामधेनुकी स्तुति की गयी है। यथा—

त्वं माता सर्वदेवानां त्वं च यज्ञस्य कारणम्।
त्वं तीर्थं सर्वतीर्थानां नमस्तेऽस्तु सदानघे॥

(स्कन्द० ब्रह्म० धर्मारण्य १०। १८)

अर्थात् 'हे अनघे! तुम समस्त देवोंकी जननी तथा यज्ञकी कारणरूपा और समस्त तीर्थोंकी महातीर्थ हो, तुमको सदैव नमस्कार है।'

अथर्ववेदमें गायके रोम-रोममें देवताओंका निवास बताया गया है। वेदोंने तो यहाँतक कहा है—**'एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्।'** यहाँपर गायके रूपको अखिल ब्रह्माण्डका रूप बताया गया है।

पूर्णावतार सर्वगुणसम्पन्न भगवान् श्रीकृष्णकी बाल-लीलाका सम्बन्ध तो गायके साथ अविच्छिन्न है। भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा इन्द्र-पूजनकी प्रथाको बंद कराकर गोवर्धन-पूजाका शुभारम्भ इसका प्रमाण है कि गोचर-भूमिकी कितनी उपादेयता है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं गो-चारण करके हमारे सम्मुख गो-सेवाका आदर्श रखा।

भगवान् श्रीकृष्णका नाम 'गोपाल' है। वन-वन घूमकर उन्हें चराना एवं गायोंकी सेवा करना उनके जीवनका विशेष कार्य है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

गावो ममाग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अपने दिव्य रूपोंका वर्णन करते हुए **'धेनूनामस्मि कामधुक्'** कहा है।

गो-सेवासे भगवत्प्राप्ति होती है। आस्तिक जनता-जनार्दनकी तो यहाँतक धारणा है कि यदि स्वप्नमें भी गो-दर्शन हो जाय तो वह महान् कल्याणकारी तथा व्याधिनाशक सिद्ध होता है। यात्रा तथा किसी भी शुभ कार्य आदिमें भी गायका दर्शन परम कल्याणकारक और परम सिद्धिकारक माना गया है। साथ ही किसी भी प्रकारके क्लेशमें सात्त्विकताकी मूर्ति गौमाताके ध्यान करनेपर भी विशिष्ट योगशक्तिके प्रभावसे उसके समस्त क्लेश अनायास दूर हो जाते हैं। गो-सेवासे लक्ष्मीकी प्राप्ति भी होती है। यथा—

गवां सेवा तु कर्तव्या गृहस्थैः पुण्यलिप्सुभिः।
गवां सेवापरो यस्तु तस्य श्रीर्वर्धतेऽचिरात्॥

गोमाता ही वह सच्ची लक्ष्मी है जिसकी सेवासे कल्याण-ही-कल्याण होता है

गोबर तथा गोमूत्रके उर्वरक (खाद) से अन्नरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति प्रत्यक्ष ही है। गो-सेवासे पुत्र आदिकी प्राप्ति होती है। ब्रह्मर्षि कुलगुरु श्रीवसिष्ठजीद्वारा महाराज दिलीपको सुरभिनन्दिनीकी सेवाका परामर्श प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप दिलीपके रघु-जैसे चक्रवर्ती सम्राट् पुत्र उत्पन्न हुए। महाराज द्युमत्सेनका पुत्र गोभक्त सत्यवान् हुआ। गायकी सेवासे उसकी अल्प आयु भी दीर्घ आयुके रूपमें परिणत हो गयी। राजा नहुषसे अपना मूल्य गायके बराबर स्वीकार करके महर्षि च्यवनने गायके महत्त्वको राज्य तथा संसारके सभी पदार्थोंसे अधिक बताया।

गोसेवाकी अद्भुत महिमा है। तीर्थस्नान, ब्राह्मण-भोजन, महादान, भगवत्सेवा, समस्त व्रतोपवास, समस्त तप, पृथ्वी-पर्यटन और सत्य-भाषणसे जो-जो पुण्य होता है, वह सब पुण्य केवल गो-सेवासे तुरंत प्राप्त होता है—

तीर्थस्नानेषु यत् पुण्यं यत् पुण्यं विप्रभोजने।
यत् पुण्यं च महादाने यत् पुण्यं हरिसेवने॥
सर्वव्रतोपवासेषु सर्वेष्वेव तपःसु च।
भूमिपर्यटने यत्तु सत्यवाक्येषु यद् भवेत्॥
तत् पुण्यं प्राप्यते सद्यः केवलं धेनुसेवया।

'एकोऽहं बहु स्याम्' की घोषणाके अनुसार भगवान्की सृष्टिके किसी भी जीवकी हिंसा उस जीवमें बसनेवाले स्वयं ईश्वरके प्रति हिंसा है। इस मूलाधारपर ही भारतीय सनातन धर्म जीवमात्रकी हिंसाका विरोध करता है। ऐसी दशामें—

'मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः।'

—सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख प्रदान करनेवाली गोमाताओंके वधकी तो कल्पना करना ही महापाप है। केवल इतना ही नहीं, गो-वध तो महापाप है ही, यहाँतक कि जिसके गृहमें गायको कष्ट मिलता है, उसे नरककी प्राप्ति होती है। यथा—

'यद्गृहे दुःखिता गावः स याति नरकं नरः।'

इसके अतिरिक्त व्यावहारिक एवं आर्थिक दृष्टिसे भी गायका अधिक महत्त्व है। शरीर एवं मस्तिष्क—दोनोंका उत्तम रूपसे पोषण करनेवाले आहारके कारण-रूपमें गाय सार्वभौमिक राष्ट्रिय आर्थिक व्यवस्थाका केन्द्रभूत है। गोमूत्र एवं गोबर वैज्ञानिक दृष्टिसे भी स्वच्छता और पवित्रता प्रदान करनेवाला है। वर्तमान समयमें भी ग्रामीण जनता अपने घरोंको गोबरसे लीपकर उसे पवित्र एवं स्वच्छ करती है।

प्राचीन कालमें ऋषिकुलों एवं गुरुकुलोंमें ब्रह्मचारियोंको गुरुसेवा करनेके अतिरिक्त उनकी गायोंकी सेवा भी करनी पड़ती थी। प्रत्येक ऋषिकुल एवं गुरुकुलकी अपनी गायें होती थीं, जिनकी सेवा वहाँके विद्यार्थी किया करते थे। इन्हीं गोरक्षा एवं पवित्र गोपालन-कार्य करनेके कारण उन-उन ऋषियोंके नामपर विभिन्न गोत्रोंका प्रचलन हुआ।

गो-जातिसे कृषिको उर्वरक बनानेवाली खादकी भी प्राप्ति होती है, जो वैज्ञानिक विधिसे तैयार किये गये उर्वरक (कृत्रिम खाद) की अपेक्षा अधिक उत्तम है। यह स्वयं अनुभव किया जा सकता है कि रासायनिक उर्वरककी तुलनामें गो-वंशकी खादसे जो अन्नोत्पादन होता है, वह अधिक सुस्वादु, पौष्टिक एवं सद्बुद्धि प्रदान करनेवाला होता है। शास्त्रोंने **'धनं च गोधनं धान्यं स्वर्णादयो वृथैव हि'** ऐसा कहकर गोवंशको अर्थशास्त्रका मुख्य आधार बताया गया है।

प्राचीन कालमें हमारा आर्यावर्त पूर्णतया गोभक्त था और सर्वत्र गो-पालन हुआ करता था तथा दूध-घीकी नदियाँ हमारे देशमें बहा करती थीं। भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका गौसे अविच्छिन्न सम्बन्ध है। हमारी संस्कृतिका स्वरूप गौसे पृथक् नहीं हो सकता। इसलिये गो-वध-निषेध-विषयक कानून बनाया जाना नितान्त अपेक्षित है। गायोंमें सभी देवता, ऋषि, मुनि एवं तीर्थोंका ध्रुव निवास है। गायोंका स्मरण, दर्शन एवं गोस्तोत्रोंका पाठ भी परम कल्याणकारी है। गाय ही सच्ची लक्ष्मी है। उसके रहनेसे सुदूरतकका वायुमण्डल सात्त्विक एवं हितकारी बन जाता है। गायोंमें लेशमात्र भी दोष-पाप और दुर्गुण नहीं होते, वे सदा ही सबका कल्याण चाहती हैं। गौओंपर ही समस्त प्राणिजगत् टिका हुआ है। इसीलिये शास्त्रोंमें पृथ्वीका स्वरूप गौका ही माना गया है और गो शब्दका मुख्य अर्थ पृथ्वी ही है। गौएँ सदा पुण्य-मूर्ति हैं। जिस यज्ञादि धर्मोंपर सारा संसार टिका है उसका सभी प्रकार मूल आधार गाय ही है। गाय जहाँ प्रसन्न रहती है, वहाँ किसी प्रकार दुःख-दुःस्वप्न, ईति-भीति टिक नहीं पाते—**'गोषु पाप्मा न विद्यते।'**

इसलिये गायें सभी प्रकार स्तुत्य, वन्द्य, पूज्य, स्मरणीय एवं पालनीय हैं। हम उन्हें अत्यन्त श्रद्धापूर्वक निरन्तर नमस्कार करते हैं।

नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥

श्रीरामके चरणोंकी पहचान हुए बिना मनुष्यके मनकी दौड़ नहीं मिटती, जो लोग केवल भेष बनाकर दर-दरपर अलख जगाते हैं, परंतु भगवान्के चरणोंमें प्रेम नहीं करते, उनका जन्म वृथा है।—रहीम

पढ़ो, समझो और करो

(१)

हककी रोटी

कुछ समय पहलेकी बात है, उस समय देशमें कपड़ेका राशनिंग था और कार्डसे कपड़ा मिल सकता था। जेतपुरमें ऐसी एक दूकानपर एक भाई कपड़ा बेचा करते थे। खेतीका काम प्रायः पूर्ण हो चुका था। मूँगफलीके दाम भी चढ़े हुए थे, अतः किसानोंको अच्छी रकम हाथ लगती थी। इस प्रकार मूँगफली बेचकर उसके रुपये लिये समीपवर्ती सरधारपुर गाँवके एक किसान भाई कुछ कार्ड लेकर कपड़ा खरीदने जेतपुर आये थे। कपड़ेवालेकी दूकानपर कुछ भीड़ थी। इसलिये किसान भाईने जेबसे कार्ड निकालकर दूकानदारको दिये और कहा कि 'मैं थोड़ी देरमें आता हूँ।'

दूकानदार भाईने उन कार्डोंको ज्यों-का-त्यों एक ओर रख दिया और आये हुए अन्य कार्डोंका कपड़ा दे चुकनेके बाद दूकानदारने इन कार्डोंको हाथमें उठाया। कार्ड खोलकर देखनेपर अंदर सौ-सौ रुपयेके चौदह नोट मिले। क्षणभरके लिये दूकानदार नोटोंकी ओर देखता रहा। फिर उन कार्डोंको ज्यों-का-त्यों समेटकर उसने गद्दीके नीचे रख दिया।

थोड़ी देर बाद वे किसान भाई आये। आवश्यक कपड़ा लिया। बिल बना। रुपये देनेके लिये उन भाईने जेबमें हाथ डाला और वे बिल्कुल सहम गये। उनके मुँहपर हवाइयाँ उड़ने लगीं।

दूकानदारने पूछा—'क्यों, अचानक क्या हो गया?'

कुछ नहीं, कुछ नहीं, मैं अभी आता हूँ, कहकर किसान भाई खड़े हो गये।

'पर क्या हो गया? बताइये तो सही। यों घड़ीभरमें ही कैसे घबरा गये?' दूकानदारने उनको पकड़कर बैठाते हुए कहा।

'मालूम होता है—जेबसे कहीं गिर गये हैं। मैं होटलमें चाय पीने गया था। वहाँ देख आऊँ।'

'कितने थे? और यों कैसे गिर गये?'

'भाई! थे तो सौ-सौके पूरे चौदह नोट। मूँगफली बेचकर उसके दाम लेकर सीधा ही कपड़ा खरीदने चला आया था।'

'याद कीजिये, कहीं घरपर ही तो नहीं छोड़ आये?'

'नहीं-नहीं, कार्ड और नोट दोनों इस जेबमें साथ ही रखे थे। कहीं पड़ गये लगता है। नसीबमें होंगे तो मिल जायँगे। परंतु शहरोंके आदमियोंकी तरह हम लोगोंमें होशियारी नहीं होती, इसीसे ऐसा हो जाता है।' यों कहकर वे पता लगानेके लिये होटलमें जानेको खड़े हो गये।

परंतु उसी समय दूकानदारने कार्ड खोलकर नोट दिखाये, पूरे चौदह नोट। किसान भाईके मुखपर मुसकान छा गयी—'हैं, इन कार्डोंमें ही ये नोट रह गये? यह तो आप इतने भले आदमी हैं, नहीं तो, ये नोट थोड़े ही वापस मिलते। मेरा तो जी ही उड़ गया था। भगवान् आपका भला करें।'

इसपर दूकानदार बोला—'भाई! चौदह नोट देखकर अवश्य ही मन ललचा जाता है, परंतु अनीतिसे आया हुआ या लिया हुआ बिना हकका पैसा ठहरता तो है ही नहीं, घरमें पैसा होता है तो वह उसको भी टानकर ले जाता है। नीतिसे मिली हुई हककी रोटी खानेसे जो सुख और संतोष मिलता है, वह इस तरहकी अनीतिकी रोटीसे नहीं मिल सकता।'

वे किसान भाई बिलके रुपये चुकाकर भारी उपकारसे दबे बार-बार कृतज्ञता प्रकट करते हुए कपड़ा लेकर चले गये। खोयी हुई वस्तु मिलनेपर जैसा आनन्द होता है, उसी आनन्दकी रेखा उनके मुखपर उमड़ रही थी। दूकानदारने भी यह देखकर अपने हृदयमें बड़े आनन्दका अनुभव किया।

(अखण्ड आनन्द)

(२)

इष्टदेवताके स्मरणका अद्भुत परिणाम

घटना सन् १९५६ की है। मैं अल्मोड़ाके डिग्रीकालेजमें शिक्षण-ट्रेनिंगका छात्र था। मेरी सैद्धान्तिक विषयोंकी परीक्षाएँ समाप्त हो चुकी थीं, केवल शिक्षण-विधि-सम्बन्धी परीक्षाएँ शेष थीं। अकस्मात् उन परीक्षाओंकी तिथि भी घोषित हो गयी। मेरे शिक्षणका विषय हिन्दी तथा अंग्रेजी था। हिन्दीके लिये तो सभी तैयारियाँ पूर्ण थीं, लेकिन अंग्रेजीके शिक्षण-हेतु अंग्रेजीके विभागाध्यक्षसे पाठका अनुमोदन कराना आवश्यक था। मेरे विभागाध्यक्ष मुझसे असंतुष्ट रहते थे, उसका कारण था, मेरे द्वारा पेंट-कोट-टाईका न पहनना। उनका कहना था कि अंग्रेजी पढ़ानेके लिये वेशभूषा भी अंग्रेजी होनी चाहिये।

मैं गरीब छात्र था। बड़ी मुश्किलसे ट्यूशन कर गुजारा करता था। ऐसेमें पेंट-कोट कहाँसे सिलवाता ? अपने पिताके पुराने कोटको रँगवाकर ही प्रयोगमें ला रहा था। पाजामें भी दो ही थे। बहुत ही आर्थिक तंगी थी।

मैं यथासमय अपने विभागाध्यक्षके पास पहुँचा। उन्होंने जान-बूझकर मुझे एक पाठ दिया—'दि लामाज आफ तिब्बत।' मैं सीधा-सादा छात्र था। प्रसन्न होकर कमरेमें लौटा। लेकिन शामको मेरे दूसरे प्रोफेसरने बताया कि मुझे उस पाठको पढ़ानेके लिये एक ऐसा चित्र तैयार कराना होगा, जिसमें भारतके नक्शेमें तिब्बत दर्शाते हुए उसमें एक लामाको चढ़ते हुए दिखाना होगा। तभी पाठनकी सार्थकता होगी। मैं एक चित्रकारके पास पहुँचा। उसने बताया कि यदि कल प्रातःकालतक ही चित्र चाहिये तो उसका पारिश्रमिक एक सौ पचास रुपये होंगे। उस समय पैसेके नामपर मेरे पास कुल एकतीस रुपये बचे थे। उसीसे भोजन आदिका भी कार्य सम्पन्न करना था। मैं बहुत ही दुःखी था।

अचानक सोचते-सोचते मेरे मस्तिष्कमें एक बात सूझी। मैंने सोचा यदि मैं स्वयं प्रोफेसर होता तो क्या दूसरा पाठ नहीं ले सकता ? मैंने अपने पड़ोसी एक कक्षा ८के छात्रसे उसकी अंग्रेजीकी पुस्तक ली, उसमेंसे एक पाठ 'दि रोज' चयन कर लिया, इसमें कोई विशेष पाठन-सामग्री मुझे प्रतीत नहीं हुई। मैंने अपने अंग्रेजीके विभागाध्यक्षसे बिना परामर्श किये ही वह पाठ प्रेसमें छपवानेके लिये दे दिया। छपनेके बाद मुझे आभास हुआ कि उसमें भी पाठन-सामग्रीकी आवश्यकता होगी। कारण उस पाठमें एक वाक्य ऐसा था जिसमें जहाँगीर नूरजहाँको गुलाबका फूल देते हुए वर्णित किया गया था। मैं धर्मसंकटमें पड़ गया। अब जहाँगीर और नूरजहाँका चित्र कहाँसे लाऊँ ? फिर जहाँगीरद्वारा नूरजहाँको गुलाबका फूल देते हुए कैसे दर्शाया जाय ? बाकी गुलाबके फूलका प्रबन्ध तो मैंने अपने एक सहपाठी मित्रसे प्राप्त कर लिया था। बहुत परेशानीमें था—रातभर नींद नहीं आयी। शनिवारका दिन था, अगले दिन पाठन करना था।

मैं बचपनसे ही भगवान् भैरवनाथका उपासक रहा हूँ। अल्मोड़ेमें लक्ष्मेश्वरके निकट एक भैरवनाथका मन्दिर है। उसे कुमाँउनी भाषामें 'खुटकुणिया भैरव' के नामसे पुकारा जाता है। मैं हर शनिवारको वहाँ सायंकाल धूपबत्ती लेकर पूजा करने जाता था। उस दिन सायं समय जब मैं अपने सहपाठी मित्रके साथ वहाँ पहुँचा तो पूजा करते समय अपनी परेशानीमें रो पड़ा। आँसूकी दो बूँदें मन्दिरमें पड़ीं। मैं आँसू पोछते हुए बाहर आया। ज्यों ही ऊपर सड़कपर पहुँचा तो क्या देखता हूँ कि एक ७-८ वर्षका बालक एक पुराने चित्रको लेकर जा रहा है। मेरे मित्रका ध्यान उस बालककी ओर गया। उन्होंने उस चित्रको देखकर चौंकते हुए कहा कि 'अरे देखो ! देखो ! तुम जैसा चित्र चाहते थे वह मिल गया है।' मैंने चार आने उस बालकको देकर चित्र ले लिया और लाला बाजारमें एक पुस्तक-विक्रेताके यहाँ उसे ठीक करवाकर अगले दिन पाठनमें उसका प्रयोग किया। भगवान् भैरवनाथकी कृपासे मेरा पाठन उस दिन सर्वोत्तम माना गया, फलस्वरूप मुझे प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई। ऐसी है भगवान् भैरवनाथकी कृपा। तबसे जब भी मुझे कोई कष्ट होता है, मैं सदा उनका स्मरण करता हूँ। वे मेरी रक्षा करते रहते हैं।

भगवान् अपनी योगमायासे विभिन्न रूप धारणकर अपने आराधक या उपासकका सब प्रकारसे कल्याण करते हैं, जिसे वह उन्हींकी कृपासे बादमें समझ पाता है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको सदा सर्वसहायक भगवान्का स्मरण करते रहना चाहिये।

—अम्बादत्त जोशी

(३)

लड़ाई नहीं, न्याय

कुछ वर्षों पहलेकी राजस्थानकी घटना है। हरीराम और चाँदमल दोनों सगे भाई थे। एक जमीनको लेकर आपसमें मतभेद हो गया। दोनोंने एक दिन आपसमें बात की—'भाई ! मामला आपसमें तो निपटता नहीं। इससे हमलोग कचहरीमें दरख्वास्त दे दें। अपनी-अपनी बात हाकिमको सुना दें, फिर वह जो फैसला दें, उसीको मान लें।' दोनोंकी राय एक हो गयी। कोर्टमें दरख्वास्त दे दी गयी। दोनोंने परस्पर सलाह करके एक-एक वकील कर लिया और अपनी-अपनी बात वकीलोंको समझा दी। दोनों भाइयोंमें बड़ा मेल था। घरमें साथ ही खाकर परस्पर घरेलू चर्चा करते दोनों साथ ही

कचहरीमें आते। दोपहरको खानेका सामान भी दोनों एक साथ लाते, साथ ही खाते। वकीलोंको भी अपनी-अपनी बात साथ ही समझाते। दोनों ही सच बोलते। उनके इस मामलेसे सभी चकित थे। द्वेष-लड़ाईकी तो कल्पना ही नहीं, केवल निपटारा कोर्टसे कराना चाहते थे। हाकिमने उनसे कहा—'आपलोगोंके बीचमें मैं क्या बोलूँ। जहाँ इतना प्रेम है।' उन्होंने कहा—'इसीलिये तो आपके पास निपटाने आये हैं।' हाकिम हैरान थे। आखिर हाकिमने उन दोनोंमेंसे छोटे भाईको पंच बनाना चाहा। अपने ही मामलेमें आप ही पंच। उन्होंने कहा—'हाकिमका हुकुम हमें स्वीकार है।' पंचने पंचकी हैसियतसे दोनोंकी बातें सुनीं और अपने विरुद्ध बड़े भाईके पक्षमें फैसला दे दिया। अजब मामला था।

—बिलासराय

(४)

श्रीरामरक्षास्तोत्रके पाठसे बालक जी उठा

घटना आजसे बीस वर्ष पुरानी है। अहमदाबाद जिलेके धुंधका तालुकामें वेजलका नामका एक छोटा-सा गाँव है। गाँवके मध्यमें भगवान् श्रीरामका एक मन्दिर है, जिसके पुजारी साधु दयारामजी दुधरेजिया हैं।

एक दिन दयारामजीकी बड़ी बेटी कमला जो दस सालकी थी, अपने तीन सालके छोटे भाईको गोदमें बैठाकर मन्दिरके बरामदेपर ले आयी और उसे वहीं खेलाने लग गयी। भैयाको दालानमें बैठाकर कमला अपनी सहेलियोंके साथ खेलने लगी और खेलमें संलग्न हो गयी, उसे भाईका ध्यान ही नहीं रहा। इधर उसका छोटा भाई धीरे-धीरे खिसकता हुआ दालानके किनारेपर आ गया और वह अबोध बालक चार फुट ऊँचे दालानपरसे नीचे गिर पड़ा तथा मूर्च्छित हो गया। उसे गहरी चोट लग गयी। गिरनेकी आवाजसे कमलाका ध्यान उधर गया। अपने भाईकी ओर देखा तो वह वहाँ नहीं दिखा, वह उसे ढूँढ़ती हुई द्रुतगतिसे दौड़कर नीचे पहुँची, पर अब वह वहाँ पहुँचकर कर भी क्या सकती थी। दुःखी हो रोने लगी। उसका भाई वहाँ मूर्च्छित अवस्थामें पड़ा कराह रहा था। अगल-बगलके लोग वहाँ इकट्ठे हो गये। बालककी वैसी अवस्था देखकर लोग यही अनुमान करने लगे कि अब इसकी रक्षा कर पाना किसी प्रकार सम्भव नहीं है। वे सभी कमलाको डाँटने लगे। वह बेचारी रुआँसी हो गयी। उसी समय दयारामजी जो मारुति-मन्दिरमें भोग लगाने गये थे, वहाँ पहुँचे और बच्चेको उठाकर घर ले आये, पहले तो वे भी कुछ निराश-से हो गये, किंतु फिर उन्हें सर्वरक्षाकारी रामरक्षास्तोत्रका ध्यान आ गया। उन्होंने बड़े विश्वासके साथ एक सौ ग्यारह बार पाठ करके एक ताबीज तैयार की और रघुनाथजीसे प्रार्थना की—'हे प्रभो ! यह बालक बिलकुल ठीक हो जाय', ऐसा कहकर उन्होंने ताबीज अपने बेटेके गलेमें बाँध दी। बालक एक दिन और एक रात मूर्च्छित पड़ा रहा और दूसरे दिन प्रातः पालनेमें देखा गया तो वह पूर्ण चैतन्यताको प्राप्त कर मन्द-मन्द मुस्कुराता हुआ खेल रहा था, मानो उसे कुछ हुआ ही न हो। वह पूर्ण स्वस्थ हो गया था। दयारामजीके घरमें आनन्द-ही-आनन्द छा गया। श्रीरामरक्षास्तोत्रका अद्भुत प्रभाव सबने देखा और सभी चकित हो गये।

भगवत्स्मरण और उनकी प्रार्थनाका अमोघ फल है—संकटकी घड़ीमें जब कोई दूसरा आश्रय नहीं होता और प्राणी दीनभावसे प्रार्थना करता है तो भगवान् उसे अवश्य सुनते हैं।

—साधु राधेश्याम दयारामजी दुधरेजिया

(५)

चूड़ीका मूल्य

सन् १९८२की बात है। मध्यप्रदेशमें जिला छतरपुरके उपनगर नौगाँवसे दक्षिणकी ओर प्रायः आधे किलोमीटरकी दूरीपर मोहन विश्वकर्मा नामका एक नवयुवक आटा-चक्की लगाये हुए था। उससे कुछ दूरीपर यू० पी०का गाँव धौर्रा बसा हुआ है, जिसकी जनसंख्या प्रायः साढ़े तीन या चार हजार होगी। इससे इस चक्कीपर दोनों जगहोंके यानी नौगाँव और धौर्राके निवासी आटा पिसाने आया करते थे। मकर-संक्रान्तिके समयकी बात है। इस चक्कीपर नौगाँवके होटलकी एक महिला गेहूँ पिसाने आयी और 'मैं तीन घंटे बाद आटा लेने आऊँगी' यह कहकर गेहूँ तौलकर चली गयी। जब मोहनने उसके गेहूँको चक्कीमें डालना चाहा तो उसे एक पीली-सी वस्तु दिखायी दी। बादमें उसे पता लगा कि यह तो सोनेकी चूड़ी है। उसे देखकर वह चौंक पड़ा और उसने उसे उठाकर अपने कोटकी जेबमें रख लिया, बादमें गेहूँ पीसकर

वह आटाका थैला तथा चूड़ी लेकर उसके पतेपर जा पहुँचा और उस महिलाको देने लगा। वह चौंक गयी और बोल उठी—'मोहन ! यह क्या है ?' मोहनने सारी स्थिति स्पष्ट कर दी। वह आश्चर्यमें पड़ गयी और कहने लगी—'अरे ! इस महान् अर्थपरायण लोभान्ध-युगमें तुम इतने निःस्पृह हो।' मोहनने कहा—'माताजी ! ऐसी बेईमानीका पैसा मैं नहीं चाहता।' तब उस महिलाने कहा—'मोहन ! तुम धन्य हो। ऐसे ही जितेन्द्रिय एवं निर्लोभी पुरुषोंके बलपर यह पृथ्वी टिकी है।'

—चन्द्रशेखर शर्मा

मनन करने योग्य

(तुला-दान)

भगवान् श्रीकृष्णका पुनीत जन्म-दिवस था। नीचे हर्षकी हरियाली और ऊपर उत्साहकी घटा छा रही थी। इस शुभ अवसरपर पट्टमहिषी सत्यभामाजीने श्रीकृष्णका तुलादान करानेका संकल्प किया। उनकी इच्छा हुई कि वे अपनी समस्त स्वर्ण-राशि एवं आभूषणोंके द्वारा ही अपने प्राणवल्लभ श्रीद्वारकाधीशका तोलन करें। देश-देशके मणि-रत्नों एवं स्वर्णाभूषणोंसे भरी अनेक मञ्जूषाएँ उनके पास थीं।

शुभ मुहूर्तमें महारानीने स्वयं श्रीकृष्णके नीलोज्ज्वल शरीरमें केसर-गर्भित अङ्गरागका लेपन किया, फिर पवित्र जलसे स्नान कराया। विल्लौर-विजडित प्राङ्गणमें रजत-तुला मँगायी गयी और श्रीकृष्ण एक पलड़ेपर इस प्रकार विराजमान हुए, जैसे सुयशकी पीठिकापर मूर्तिमान् तप सुशोभित हो। दूसरे पलड़ेपर सत्यभामाजी अपने आभूषणों और काञ्चन-उपकरणोंको रखने लगीं। धीरे-धीरे उनके सारे रत्न, आभूषण और स्वर्णराशि समाप्त हो गयी, मञ्जूषाएँ कृपणकी उदारताकी भाँति रिक्त हो गयीं, परंतु श्रीकृष्णका पलड़ा झुका ही रहा। सत्यभामाजी घबरा गयीं। जैसे जीवन-संग्राममें उनकी भयानक पराजय हो गयी हो। अनेक रानियाँ और दासियाँ यह सब देख रही थीं। श्रीकृष्ण मुसकरा रहे थे। उस मुसकानमें व्यङ्ग्यका रंग ही नहीं, स्नेहका प्रकाश भी था। निराश होकर सत्यभामाजी रुक्मिणीजीसे बोलीं—'जीजी ! अब क्या होगा ? मेरा तो गर्व चूर हो गया, मेरे पास तो अब कुछ नहीं रह गया। कोई युक्ति करो, सखी !'

रुक्मिणीजी सहानुभूति-शील होकर बोलीं—'मेरे गहने ले लो। पर मुझे विश्वास नहीं होता कि हमारे ये प्राणवल्लभ बहुमूल्य आभूषणों और स्वर्ण-मुद्राओंसे तुल जायँगे। अच्छा, सखी ! मैं एक उपाय करती हूँ।' रुक्मिणीजी भीतर गयीं और कुछ ही क्षणोंके पश्चात् हाथमें काँचका एक लघु पात्र और कागजका एक टुकड़ा लिये हुए लौट आयीं। पात्र और पत्रको उन्होंने पलड़ेपर रख दिया। सबने हर्ष और आश्चर्यसे देखा कि वह पलड़ा झुक गया और श्रीकृष्णका पलड़ा ऊपर उठ गया। इस प्रकार श्रीकृष्णजी तुल गये। सत्यभामाजीकी बात रह गयी। अहंकारने विनयके सम्मुख सिर झुकाया।

सत्यभामा रुक्मिणीको छातीसे लगाती हुई बोलीं—'जीजी ! तुमने यह कौन-सा त्रोटक कर दिया ? क्या उस काँचके पात्रमें कोई जादू था ? क्या इस कागजमें कोई मन्त्र लिखा था ?' श्रीकृष्णजीने कागज खोलकर पढ़ा। उसमें बस इतना ही लिखा था—'मैं तुम्हारी हूँ, तुम्हारी हूँ।' फिर हँसकर पूछा—'वैदर्भी ! इस शीशीमें तुमने क्या भर रखा है, जिसकी गुरुताके समक्ष मुझे हल्का होना पड़ा।'

रुक्मिणीजी सकुचाती हुई बोलीं—'इसमें मेरे कुछ आँसू भरे पड़े हैं।'

'आँसू ?' विस्मय-विस्फारित होकर सत्यभामाजी बोल उठीं।

रुक्मिणीजी उसी सरलतासे बोलीं—'हाँ सखी ! जब कभी प्रिय (माधव) के हेतु आँसू झर पड़ते थे तो मैं इन्हें प्रियका उपहार मान सँजो लेती थी····।'

'अच्छा, यह बात है ! मैं समझी। तुम धन्य हो जीजी।' सत्यभामाके मुखसे इतने ही शब्द निकले। उसने श्रीकृष्णके पावन पदारविन्दोंपर मस्तक रख दिया। इसी क्षण नगारे बज उठे, मेघ मन्द स्वरमें गरज उठे। रसके फुहारोंसे सब सिक्त हो उठे।

परमार्थ-साधनके आठ विघ्न

भगवत्प्राप्तिके साधकको या परमार्थ-पथके पथिकको एक-एक पैर सँभालकर रखना चाहिये। इस मार्गमें अनेकों विघ्न हैं। उनमेंसे आलस्य, विलासिता, प्रसिद्धि, मान-बड़ाई, गुरुपना, बाहरी दिखावा, पर-दोष-चिन्तन और सांसारिक कार्योंकी अत्यन्त अधिकता—ये आठ प्रधान हैं, इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

१-आलस्य—आलसी मनुष्यका जीवन तमोमय रहता है। वह किसी भी कामको प्रायः पूरा नहीं कर पाता। आज-कल करते-करते ही उसके जीवनके दिन पूरे हो जाते हैं। वह परमार्थकी बातें सुनता-सुनाता है, उसे अच्छी भी लगती हैं, परंतु आलस्य उसे साधनमें तत्पर नहीं होने देता। श्रद्धावान् पुरुष भी आलस्यके कारण उद्देश्य-सिद्धितक नहीं पहुँच पाता। इसीलिये श्रद्धाके साथ 'तत्परता' की आवश्यकता भगवान्ने गीतामें बतलायी है। आलस्यसे तत्परताका विरोध है, आलस्य सदा यही भावना उत्पन्न करता रहता है कि 'क्या है, पीछे कर लेंगे।' जब कभी उसके मनमें कुछ करनेकी भावना होती है, तभी आलस्य प्रमाद, जम्हाई, तन्द्रा आदिके रूपमें आकर उसे घेर लेता है, अतएव आलस्यको साधन-मार्गका एक बहुत बड़ा शत्रु मानकर जिस-किसी उपायसे भी उसका नाश करना चाहिये।

२-विलासिता—विलासी पुरुषको मौज-शौकके सामान जुटानेसे ही फुरसत नहीं मिलती, वह साधन कब करे? पहले सामान इकट्ठा करना, फिर उससे शरीरको सजाना, यही उसका प्रधान कार्य होता है। कभी साधु-महात्माका संग करता है तो उसकी क्षणभरको यह इच्छा होती है कि मैं भी भजन करूँ, परंतु विलासिता उसको ऐसा करने नहीं देती। भाँति-भाँतिके नये-नये फैशनके सामान संग्रह करना और उनका मूल्य चुकानेके लिये अन्याय और असत्यकी परवा न करते हुए धन कमानेके काममें लगे रहना—इन्हींमें उसका जीवन बीतता है। शौकीन मनुष्यके धनका अभाव तो प्रायः बना ही रहता है; क्योंकि वह आवश्यक-अनावश्यकका ध्यान छोड़कर जहाँ कहीं भी कोई शौककी बढ़िया चीज देखता है, उसीको खरीद लेता है या खरीदना चाहता है। न रुपयोंकी परवा करता है और न अन्य किसी प्रकारका परिणाम सोचता है। सुन्दर मकान, बढ़िया-बढ़िया बहुमूल्य महीन वस्त्र, सुन्दर भोजन, इत्र-फुलेल, कंघे, दर्पण, जूते, घड़ी, छड़ी, पाउडर आदिकी तो बात ही क्या है, खाने-पहनने, बिछाने, बैठने, चलने-फिरने, सूँघने, देखने और सुनने-सुनाने आदि सभी प्रकारके सामान उसे बढ़िया-से-बढ़िया और सुन्दर-से-सुन्दर चाहिये। वह रात-दिन इन्हींकी चिन्तामें लगा रहता है। वैराग्य तो उसके पास भी नहीं फटकने पाता। वह कभी-कभी भगवान्से प्रार्थना करता है कि 'हे भगवन्! मेरे मनमें आपके प्राप्त करनेकी इच्छा है, परंतु मैं शौकके सामान सदा बने रहें, मुझे नये-नये विलास-द्रव्योंकी प्राप्ति होती रहे और मैं इसी प्रकार विलासितामें डूबा हुआ ही आपको भी पा लूँ।' कहना नहीं होगा कि यह प्रार्थना भी उसकी क्षणभरके लिये ही होती है। ऐसे लोगोंको करोड़पतिसे कंगाल होते देखा जाता है और अर्थ-कष्टके साथ ही आदतसे प्रतिकूल स्थितिमें रहनेको बाध्य होनेका एक महान् कष्ट उन्हें विशेषरूपसे भोगना पड़ता है। जो मनुष्य भगवत्प्राप्ति तो चाहता है, परंतु वैराग्य नहीं चाहता और सादा जीवन बितानेमें संकोचका अनुभव करता है, वह भगवत्प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर नहीं हो सकता। अतः विलासिताके भावको मनमें आते ही उसे तुरंत निकाल देना चाहिये। यह भाव तरह-तरहकी युक्तियाँ पेश करके पहले कर्तव्य समझाकर आश्रय प्राप्त कर लेता है, फिर बढ़कर मनुष्यको तबाह कर डालता है, अतएव इससे विशेष सावधान रहना चाहिये। विलासी पुरुषोंका संग करना या उनके आस-पास रहना भी विलासितामें फँसानेवाला है। इसलिये विलासिताको परम शत्रु समझकर इसका सर्वथा नाश करके सभी बातोंमें सादगीका आचरण करना चाहिये। विलासितामें अनेक हानियाँ हैं, परंतु निम्नलिखित दस हानियाँ तो होती ही हैं, इस बातको याद रखना चाहिये।

१. धनका नाश, २. आरोग्यताका नाश, ३. आयुका नाश, ४. सादगीके सुखका नाश, ५. देशके स्वार्थका नाश, ६. धर्मका नाश, ७. सत्यका नाश, ८. वैराग्यका नाश, ९. भक्तिका नाश और १०. ज्ञानका नाश।

३-प्रसिद्धि—संसारमें ख्याति साधन-मार्गका

एक बड़ा विघ्न है। इसीसे संतोंने भगवत्प्रेमको वैसे ही गुप्त रखनेकी आज्ञा दी है जैसे भले घरकी स्त्री जारके अनुरागको छिपाकर रखती है। साधककी प्रसिद्धि होते ही चारों ओरसे लोग उसे घेर लेते हैं। साधनके लिये उसे समय मिलना कठिन हो जाता है। उसका अधिक समय सैकड़ों-हजारों आदमियोंसे बातचीत करने और पत्र-व्यवहारमें बीतने लगता है। जीवनकी अन्तर्मुखी वृत्ति बहिर्मुखी बनने लगती है। होते-होते उसका जीवन सर्वथा बहिर्मुख हो जाता है। वह बाहरके कामोंमें ही लग जाता है और क्रमशः गिरने लगता है। परंतु प्रसिद्धिमें प्रिय भाव उत्पन्न हो जानेके कारण उसे वह सदा बढ़ाना चाहता है और यों प्रतिदिन अधिकाधिक लोगोंसे परिचय प्राप्त कर लेता है। फिर उसका असली साधकका स्वरूप तो रहता नहीं, परंतु प्रसिद्धि कायम रखनेके लिये वह दम्भ आरम्भ कर देता है और वैसे ही रात-दिन जलता और नये-नये ढोंग उसी प्रकार रचा करता है, जैसे निर्धन मनुष्य धनी कहानेपर अपने उस झूठे दिखाऊ धनीपनको कायम रखनेके लिये अंदर-ही-अंदर जलता और जाल रचता रहता है। उसका जीवन कपट, दुःख और संतापका घर बन जाता है। ऐसी अवस्थामें साधनका तो स्मरण ही नहीं रहता। अतएव इस अवस्थाकी प्राप्ति न हो, इससे पहले ही बढ़ती हुई प्रसिद्धिको रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह बात याद रखनी चाहिये—जिनकी प्रसिद्धि नहीं हुई और भजन होता है, वे पूरे भाग्यवान् हैं। जितनी प्रसिद्धि है उससे ज्यादा भजन होता है तो भी अधिक डर नहीं है। जितना भजन होता है, उतनी ही प्रसिद्धि है तो गिरनेका भय है। जितना भजन होता है, उससे कहीं ज्यादा प्रसिद्धि हुई तो वह गिरने लगा और जहाँ कोई बिना भजनके ही भजनानन्दी कहलाता है,वहाँ तो उसका पतन हो ही चुका।

४-मान-बड़ाई—यह बड़ी मीठी छुरी है या विषभरा सोनेका घड़ा है। देखनेमें बहुत ही मनोहर लगता है, परंतु साधन-जीवनको नष्ट करते इसे देर नहीं लगती। संसारके बहुत बड़े-बड़े पुरुषोंके बहुत बड़े-बड़े कार्य मान-बड़ाईके मोलपर बिक जाते हैं। असली फल उत्पन्न करनेके पहले ही वे सब मान-बड़ाईके प्रवाहमें बह जाते हैं। मानकी अपेक्षा भी बड़ाई अधिक प्रिय मालूम होती है। बड़ाई पानेके लिये मनुष्य मानका त्याग कर देता है, लोग प्रशंसा करें, इसके लिये मान छोड़कर सबसे नीचे बैठते और मानपत्र आदिका त्याग करते लोग देखे जाते हैं। बड़ाई मीठी लगी कि साधन-पथसे पतन हुआ। आगे चलकर तो उसके सभी काम बड़ाईके लिये ही होते हैं। जबतक साधनसे बड़ाई होती है, तबतक वह साधकका भेष रखता है। जहाँ किसी कारणसे परमार्थ-साधनमें रहनेवाले मनुष्योंकी निन्दा होने लगती है, वहीं वह उसे छोड़कर जिस कार्यमें बड़ाई होती है उसीमें लग जाता है। क्योंकि अब उसे बड़ाईसे ही काम है, भगवान्से नहीं। अतएव मान-बड़ाईकी इच्छाका सर्वथा त्याग करना चाहिये। परंतु सावधान, यह वासना बहुत ही छिपी रह जाती है, सहजमें इसके अस्तित्वका पता नहीं लगता। मालूम होता है, हम बड़ाईके लिये काम नहीं कर रहे हैं, परंतु यदि निन्दा जरा भी अप्रिय लगती है और बड़ाई सुनते ही मनमें संतोष-सा प्रतीत होता है या आनन्दकी एक लहर-सी उठकर होंठोंपर हँसीकी रेखा-सी चमका देती है तो समझना चाहिये कि बड़ाईकी इच्छा अवश्य मनमें है। बहुत-से मनुष्य तो भोगोंतकका त्याग भी बड़ाई पानेके लिये ही करते हैं। यद्यपि न करनेवालोंकी अपेक्षा बड़ाईके लिये किया जानेवाला त्याग या धार्मिक सत्कार्य बहुत ही उत्तम है, परंतु परमार्थदृष्टिसे मान-बड़ाईकी इच्छा अत्यन्त हेय और निन्दनीय होनेके साथ ही साधनसे गिरानेवाली है।

५-गुरुभाव—साधन-अवस्थामें मनुष्यके लिये गुरुभावको प्राप्त हो जाना बहुत ही हानिकारक है। ऐसी अवस्थामें, जब वह स्वयं ही सिद्धावस्थाको प्राप्त नहीं होता, जब उसीका साधनपथ रुक जाता है, तब वह दूसरोंको तो कैसे पार पहुँचायेगा ? ऐसे ही कच्चे गुरुओंके सम्बन्धमें यह कहा जाता है, जैसे अन्धा अन्धोंकी लकड़ी पकड़कर अपने सहित सबको गड्ढेमें डाल देता है, वैसी ही दशा इनकी होती है। परमार्थपथमें गुरु बननेका अधिकार उसीको है जो सिद्धावस्थाको प्राप्त कर चुका है। जो स्वयं लक्ष्यतक नहीं पहुँचा है, वह यदि दूसरोंके पहुँचानेका ठेका लेने जाता है तो उसका परिणाम प्रायः बुरा ही होता है। शिष्योंमेंसे कोई सेवा करता है तो उसपर उसका मोह हो जाता है। कोई प्रतिकूल होता है तो उसपर क्रोध आता है। सेवकके विरोधीसे द्वेष होता

है। दलबंदी हो जाती है। जीवन बहिर्मुख होकर भाँति-भाँतिके झंझटोंमें लग जाता है। साधन छूट जाता है। उपदेश और दीक्षा देना ही जीवनका व्यापार बन जाता है। राग-द्वेष बढ़ते रहते हैं और अन्तमें वह सर्वथा गिर जाता है।

६-बाहरी दिखावा—साधनमें दिखावेकी भावना बहुत बुरी है। वस्त्र, भोजन और आश्रम आदि बातोंमें मनुष्य पहले तो संयमके भावसे कार्य करता है, परंतु पीछे उसमें प्रायः दिखावेका भाव आ जाता है। इसके अतिरिक्त 'ऐसा सुन्दर आश्रम बने, जिसे देखते ही लोगोंका मन मोहित हो जाय। भोजनमें इतनी सादगी हो कि देखते ही लोग आकर्षित हो जायँ। वस्त्र इस ढंगसे पहने जायँ कि लोगोंके मन उनको देखकर खिंच जायँ।' ऐसे भावोंसे भी ये कार्य होते हैं। यद्यपि यह दिखावटी भाव सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकारके चाल-चलन और वेष-भूषामें ही रह सकते हैं। बढ़िया कपड़े पहननेवालेमें स्वाभाविकता हो सकती है और मोटा खद्दर या गेरुआ अथवा बिगाड़कर कपड़े पहननेवालोंमें दिखावेका भाव रह सकता है। इसका सम्बन्ध ऊपरकी क्रियासे नहीं है, मनसे है। तथापि अधिकतर सुन्दर दिखानेकी भावना ही रहती है। लोकमें जो फैशन सुन्दर समझी जाती है, उसीका अनुकरण करनेकी चेष्टा प्रायः हुआ करती है। अंदर सचाई होनेपर भी दिखावेकी चेष्टा साधकको गिरा ही देती है। अतएव इससे सदा बचना चाहिये।

७-पर-दोष-चिन्तन—यह भी साधन-मार्गका एक भारी विघ्न है। जो मनुष्य दूसरेके दोषोंका चिन्तन करता है, वह भगवान्‌का चिन्तन नहीं कर सकता। उसके चित्तमें सदा द्वेषाग्नि जला करती है। उसकी जहाँ दृष्टि जाती है, वहीं उसे दोष दिखायी देते हैं। उसका सारा भजन-साधन छूट जाता है। अतएव साधकको अपने दोष देखने चाहिये तथा अपनी सच्ची निन्दा करनी चाहिये। जगत्‌की ओरसे उदासीन रहना ही उसके लिये श्रेयस्कर है।

८-सांसारिक कार्यकी अधिकता—मनुष्यको घरके, संसारके, आजीविकाके, यहाँतक कि परोपकारतकके कार्य उसी हदतक करने चाहिये, जिसमें विश्राम करने तथा दूसरी आवश्यक बातें सोचनेके लिये पर्याप्त समय मिल जाय। जो मनुष्य सुबहसे लेकर रातको सोनेतक काममें ही लगे रहते हैं, उनको जब विश्राम करनेकी ही फुरसत नहीं मिलती, तब घंटे-दो-घंटे स्वाध्याय करने अथवा मन लगाकर भगवच्चिन्तन करनेको तो अवकाश मिलना सम्भव ही कैसे हो सकता है। उनका सारा दिन हाय-हाय करते बीतता है, मुश्किलसे नहाने-खानेको समय मिलता है। वे उन्हीं कामोंकी चिन्ता करते-करते सो जाते हैं, जिससे स्वप्नमें भी उन्हें वैसी ही सृष्टिमें विचरण करना पड़ता है। असलमें तो सांसारिक पदार्थोंके अधिक संग्रह करनेकी इच्छा ही दूषित है। दानके तथा परोपकारके लिये भी धन संग्रह करनेवालोंके मानसिक दयनीय दुर्दशाके दृश्य प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, फिर भोगके लिये अर्थ संचय करनेवालोंके दुःख भोगनेमें तो आश्चर्य ही क्या है। परंतु धन संचय किया भी जाय तो इतना काम तो कभी नहीं बढ़ाना चाहिये, जिसकी सँभाल और देखभाल करनेमें ही जीवनका अमूल्य समय रोज दो घड़ी स्वस्थचित्तसे भगवद्भजन किये बिना ही बीत जाय। जिन बेचारोंके पेट पूरे नहीं भरते, उनके लिये तो कदाचित् दिन-रात मजदूरीमें लगे रहना और अधिक-से-अधिक कार्यका विस्तार करना क्षम्य भी हो सकता है, परंतु जो सीधे या प्रकारान्तरसे धनकी प्राप्तिके लिये ही कार्योंको बढ़ाते हैं, वे तो भूल ही करते हैं। निष्कामभावसे करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुष भी जब अधिक कार्योंमें व्यस्त हो जाते हैं, तब प्रायः निष्काम-भाव चला जाता है और कहीं-कहीं तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसमें बाध्य होकर सकामभावका आश्रय लेना पड़ता है। अतएव जहाँतक बने साधक पुरुषको सांसारिक कार्य उतने ही करने चाहिये जितनेमें गृहस्थीका खर्च सादगीसे चल जाय, प्रतिदिन नियमित रूपसे भजन-साधनको समय मिल सके, चित्त न अशान्त हो और न निकम्मेपनके कारण प्रमाद या आलस्यको ही अवसर मिले। कर्तव्यपालनकी तत्परता बनी रहे और मनुष्य-जीवनके मुख्य ध्येय 'भगवत्प्राप्ति' का कभी भूलकर भी विस्मरण न हो।

विघ्न और भी बहुत-से हैं, पर प्रधान-प्रधान विघ्नोंमें ये आठ बड़े प्रबल हैं। साधकको चाहिये कि वह दयामय सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके और उसीका आश्रय ग्रहण करके इन विघ्नोंका नाश कर दे।

◆

'कल्याण'के सम्मान्य ग्राहकों एवं प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

'कल्याण' के ६४वें वर्षका यह ९वाँ अङ्क आपकी सेवामें प्रस्तुत है। आगे १०वें, ११वें एवं १२वें अङ्कोंके प्रकाशित होनेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। आगामी ६५ वें वर्ष (विक्रम-संवत् २०४८)के विशेषाङ्कके रूपमें 'योगतत्त्वाङ्क' प्रकाशित करनेका निश्चय हुआ है। हमारे आध्यात्मिक जीवन तथा साधनाके क्षेत्रमें 'योग' को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। भारतीय सनातन संस्कृति तथा शास्त्रोंने योगको ईश्वर-प्राप्ति तथा भगवत्साक्षात्कारका मुख्य साधन माना है एवं उसके प्रति अपार श्रद्धा तथा आस्था व्यक्त करते हुए उसे भगवान्का अन्यतम स्वरूप भी बतलाया है। वस्तुतः योगाभ्यास और योग-साधना लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही दृष्टिसे लाभप्रद और कल्याणकारी है। अतः योगकी सर्वमान्य महत्ताके विचारसे एवं वर्तमानमें इसके प्रति विशिष्ट तथा सर्वसाधारण जनों—सभीके श्रद्धा तथा आकर्षणको देखते हुए इस साधनोपयोगी विषयका चयन आगामी विशेषाङ्कके लिये किया गया है।

इस अङ्कमें योगकी परिभाषा, महत्त्व, स्वरूप-तत्त्व एवं योग-साधनाके सभी अङ्ग-उपाङ्गोंका विवेचन रहेगा। साथ ही विविध प्रकारके योगों, योगशास्त्रों, योगासनों और प्राचीन कालसे अर्वाचीन समयतकके प्रायः सभी सुप्रसिद्ध योगसिद्ध महात्माओं और सत्पुरुषोंकी योगमय दिनचर्याओं, साधन-पद्धतियों एवं उपासना-प्रक्रियाओंपर भी रोचक भाषा-शैलीमें उपादेय सामग्री रहेगी। प्रसङ्गानुसार सुन्दर रंगीन, सादे तथा रेखा-चित्र भी रहेंगे। इस प्रकार 'कल्याण'की परम्परानुसार यह विशेषाङ्क भी अपने प्रतिपाद्य विषयका एक अन्यतम संग्रह होगा—ऐसी आशा है।

निरन्तर बढ़ती हुई महँगाई तथा मूल्य-वृद्धिके कारण इस वर्ष कागज, स्याही, मुद्रण-सामग्री, वेतन तथा छपाई आदिके खर्चोंमें अप्रत्याशित रूपसे वृद्धि हुई है एवं यह क्रम अभी भी जारी है। इसके अतिरिक्त डाकखर्च भी पर्याप्त बढ़ गया है। फलस्वरूप वर्तमानमें 'कल्याण'का लागत-व्यय अत्यधिक बढ़ गया है। संस्थाकी नीतिके अन्तर्गत यद्यपि हम 'कल्याण'के वार्षिक शुल्कमें किसी प्रकारकी वृद्धि करना नहीं चाहते, परंतु वर्तमान परिस्थितिमें निरन्तर बढ़ते हुए घाटेको दृष्टिगत रखते हुए हमें विवश होकर वार्षिक शुल्कमें ११.०० (ग्यारह रुपये)की वृद्धिका निर्णय न चाहते हुए भी लेना पड़ा। अतएव आगामी वर्ष (चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, संवत् २०४८, अप्रैल सन् १९९१)से 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क ४४.०० (चौवालीस रुपये)के स्थानपर ५५.०० (पचपन रुपये) मात्र, डाक-व्ययसहित निश्चित किया गया है। आशा है, 'कल्याण'-प्रेमी सभी महानुभाव परिस्थितिजन्य हमारी विवशताको ध्यानमें रखते हुए इसे कृपापूर्वक सहर्ष स्वीकार करेंगे। विदेशके लिये वार्षिक शुल्क ५ पौंड या ८ डालर है।

वार्षिक शुल्क सीधे मनीआर्डरद्वारा भेजने या 'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुरमें उपस्थित होकर जमा कराने अथवा गीताप्रेसकी (कलकत्ता, पटना, दिल्ली, कानपुर, वाराणसी, हरिद्वार, स्वर्गाश्रम—ऋषिकेश स्थित) निजी दुकानोंपर जमा करने अथवा अन्यान्य 'कल्याण'-वितरकों और पुस्तक-विक्रेताओंके यहाँ जमा करानेपर शुल्क-राशिमें कोई अन्तर नहीं होगा, अर्थात् प्रत्येक स्थितिमें समानरूपसे एक ही वार्षिक शुल्क ५५.०० (पचपन रुपये) मात्र ही सुनिश्चित है। परंतु वी॰ पी॰ पी॰ द्वारा अङ्क मँगानेपर ५.००(पाँच रुपये) वी॰ पी॰ पी॰ डाकखर्चके जोड़कर कुल ६०.००(साठ रुपये) मात्र देय होंगे। अतएव ५.००(पाँच रुपये)के इस अतिरिक्त अधिभारसे बचनेके लिये 'कल्याण'-प्रेमी सभी महानुभावोंसे हमारा विनम्र अनुरोध है कि वे वी॰ पी॰ पी॰की प्रतीक्षामें न रहकर 'कल्याण'के निमित्त अपना वार्षिक शुल्क कृपया अग्रिम मनीआर्डरद्वारा ही भेजें। वार्षिक शुल्क-राशि अग्रिम भेजनेवाले सज्जनोंको अङ्क भेजनेमें प्राथमिकता दी जायगी। अतः विशेषाङ्क शीघ्र सुरक्षित और निरापद प्राप्त करनेके लिये सभी सज्जनोंको शुल्क-राशि मनीआर्डर अथवा बैंक-ड्राफ्टद्वारा अग्रिम भेजना ही उचित और सुविधाजनक है।

ग्राहकोंके सुविधार्थ मनीआर्डर-फार्म इस अङ्कमें संलग्न है, अतः सभी ग्राहक सज्जन मनीआर्डर भेजते समय मनीआर्डर-कूपनपर अपना पूरा पता—नाम, ग्राम, मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि अपने डाकघरके पिनकोड नम्बरसहित सुस्पष्ट और सुवाच्य बड़े अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। पुराने ग्राहक हों तो अपनी ग्राहक-संख्या एवं नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखें। ऐसा करनेसे अङ्कोंका प्रेषण सही,

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, वि॰ सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, जनवरी १९९१ ई॰

विषय ...... पृष्ठ-संख्या

१-गोपी-प्रेम ७२९
२-कल्याण (शिव) ७३०
३-भगवद्भक्त महात्माका स्वरूप एवं प्रभाव (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ७३१
४-पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती [कविता] (श्रीशीलव्रतजी शर्मा 'शील') ७३४
५-निर्बलका बल (पूज्यपाद अनन्तश्री ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ७३५
६-सत्सङ्गके अमृत-कण ७३८
७-शरणागतिका स्वरूप (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके प्रवचनका एक अंश) ... ७३९
८-भक्तिकी महिमा (आचार्य डॉ॰ श्रीत्रिनाथजी शर्मा, एम्॰ए॰, पी-एच्॰डी॰) ७४३
९-विवेक-वाटिका ७४४
१०-साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ७४५
११-मन ही बन्धन और मोक्षका कारण है (श्रीकृष्णपादलीन संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज) ७४८
१२-दैवी सम्पदा या संतोंके गुण (श्रीशुकदेवबिहारीजी मीणा, एम्॰ए॰) ७५०
१३-सर्वोपरि निधि [कविता] (पं॰ श्रीवृन्दावनबिहारीजी मिश्र 'बिन्दु', भागवताचार्य) ७५२
१४-जीवनकी सार्थकता और आधुनिक मूल्य (आचार्य श्रीतुलसीजी) ७५३
१५-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ७५४
१६-भारतके सभ्य सुशिक्षित कहे जानेवाले लोगोंकी बीमार मानसिकता (श्री आर॰एस॰ रातिया) ७५६
१७-पाँच प्रकारके पुत्र ७५७
१८-साधनोपयोगी पत्र ७५९
१९-सुख-दुःखसे अतीतके जीवनकी खोज ७६१
२०-पढ़ो, समझो और करो ७६२
२१-मनन करने योग्य ७६५
२२-भजनमें एक बड़ी बाधा ७६७
२३-श्रीकृष्णनाम ७६८

चित्र-सूची

(इकरंगा)
१-वीणावादिनी भगवती शारदा ...... आवरण-पृष्ठ
(रंगीन)
२-ग्वालिनी प्रगट्यो पूरन नेह ...... मुख-पृष्ठ

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें २.०० रु॰
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
(डाक-व्ययसहित)
भारतमें ४४.०० रु॰
विदेशमें ६ पौंड
अथवा १० डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

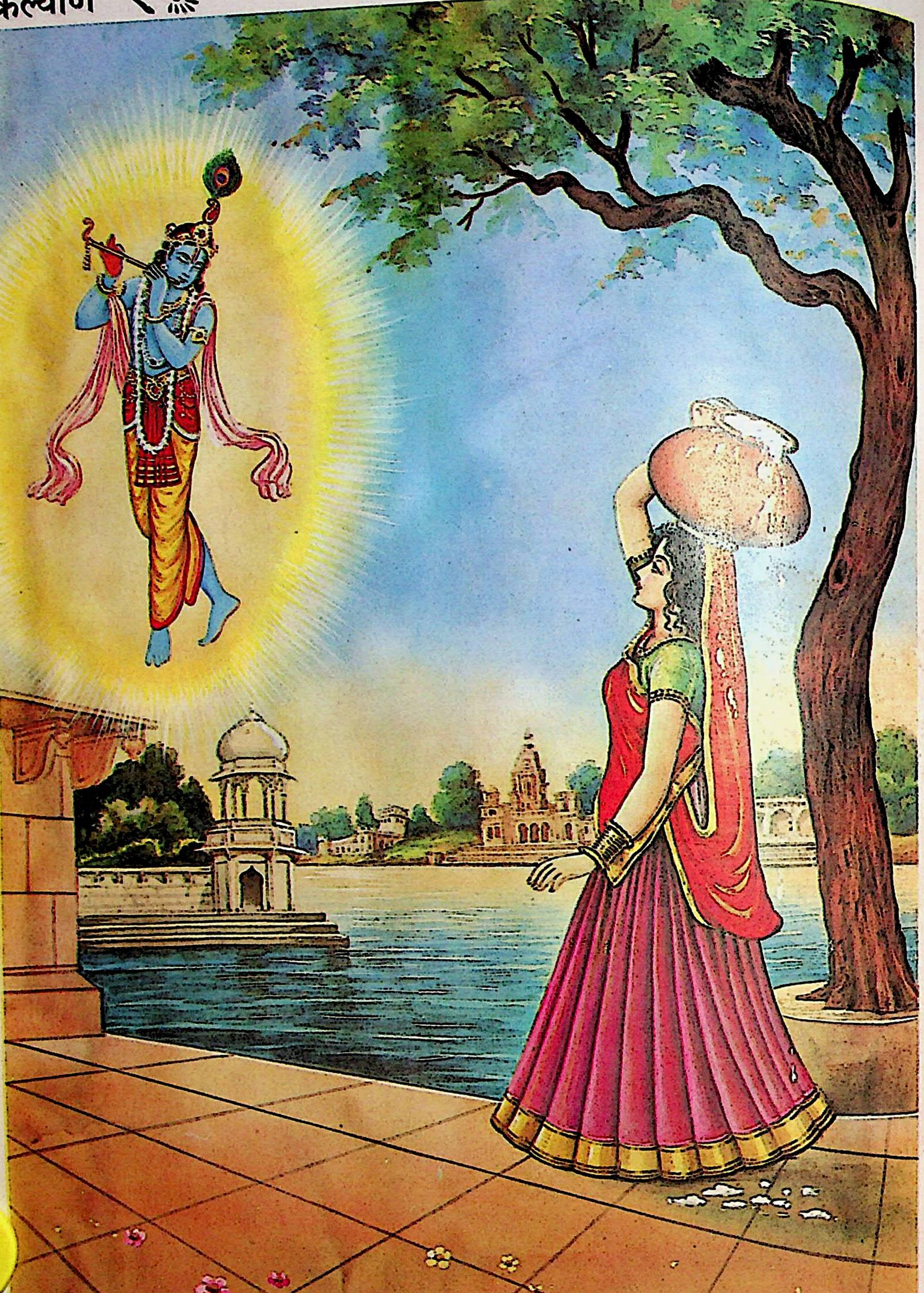

ग्वालिनी प्रगट्यो पूरन नेह

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

वर्ष ६४ गोरखपुर, सौर पौष, वि॰सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, जनवरी १९९१ ई॰ संख्या १० पूर्ण संख्या ७६७

गोपी-प्रेम

दधि बेचत ब्रज गलिन फिरै।
गोरस लेन बोलावत कोऊ, ताकी सुधि नेकहु न करै ॥
उनकी बात सुनत नहिं श्रवननि, कहति कहा ये घर न जरै।
दूध दह्यो ह्याँ लेत न कोऊ, प्रातहि ते सिर लिये ररै ॥
बोलि उठति पुनि लेहु गोपालहिं घर-घर लोक-लाज निदरै।
सूरश्यामको रूप महारस जाके बल काहू न डरै ॥

◆

कल्याण

किसी भी प्राणीको किसी प्रकारसे दुःख मत दो। दूसरेको दुखी करके सुखी होनेकी दुराशा छोड़ दो। दूसरेको दरिद्र बनाकर धनी बननेकी लालसा मत रखो। पता नहीं, तुम कब मर जाओगे। मरते ही तुम्हारा सारा मनोमहल ढह जायगा। यह मनुष्यका भ्रम है कि जो वह अधिक कालतक जीकर भोग भोगनेकी आशामें दूसरोंके भोगोंको लूटना या मारना चाहता है। मौतको सदा सिरपर सवार देखो और यह निश्चय समझो कि मौत आते ही तुम्हारा कहीं कुछ भी नहीं रहेगा।

मरनेके एक क्षण पहलेतक मनुष्य न मालूम कितने मनसूबे बाँधता है, घरमें उसका एक स्थान है, वह घरका एक मालिक या हिस्सेदार है, परंतु जहाँ मौत आयी कि उसके सारे मनसूबे ज्यों-के-त्यों रह जाते हैं, उसका घरमें कहीं भी स्थान नहीं रहता।

घरकी चीजोंको मेरी-मेरी कहते हो, जिन चीजोंको अपनी बनाना चाहते हो, उन सबसे तुम्हें जबरदस्ती अपना सम्बन्ध छोड़ देना पड़ेगा। अच्छी बात इसीमें है कि पहलेसे ही सावधान हो जाओ। और जिन वस्तुओंको आखिर छोड़ना ही है उनके लिये अन्याय, अधर्मका आश्रय लेना छोड़ दो। किसी वस्तुको अपनी मत समझो, किसी वस्तुका अहंकार न करो, किसी वस्तुकी कामना न करो, जगत्‌में बेपरवा रहो और मस्त हो जाओ। मस्तीकी मौत भी मौज ही होती है।

धन, नाम, कीर्ति, सम्मान कमानेकी चाह छोड़ दो। कमायी करो अच्छे आचरणोंकी, सद्‌गुणोंकी, वैराग्यकी, ज्ञानकी और भगवद्‌भक्तिकी। तुम्हारे पास बहुत धन है, परिवार भी बड़ा है, जगत्‌में तुम्हारा काफी अच्छा नाम है, लोग तुम्हारे पैर पूजते हैं, परंतु यदि तुम्हारा अन्तःकरण मलिन है, तुम्हारे आचरण अपवित्र हैं, तुम्हारा मन और शरीर क्षणभङ्गुर भोगोंमें आसक्त है, तुम भोगोंको ही नित्य, सत्य और सुखका साधन समझते हो और श्रीभगवान्‌के चरणोंमें तुम्हारा किञ्चित् भी प्रेम नहीं है तो निश्चय समझ लो, तुम्हारा मनुष्य-जीवन बिलकुल व्यर्थ है और तुम्हारे इस जीवनका फल आगे चलकर तुम्हारे लिये बहुत ही कष्टमय होगा।

सदा अन्तःकरणको पवित्र बनानेमें लगे रहो। अपने आचरणोंको शुद्ध करो। सबके प्रति प्रेम करो। सबका सत्कार और आदर करो। सबका हित करो, किसीका भी बुरा न चाहो। संसारके क्षणभङ्गुर भोगोंसे चित्तको हटाकर भगवान्‌में लगाओ। इस बातकी परवा छोड़ दो कि लोग तुम्हें क्या कहते हैं। लोग तो अपने-अपने मनकी कहेंगे। राग-द्वेषका चश्मा जैसा होगा वैसा ही कहेंगे। उनकी प्रशंसामें भूलो मत और उनकी निन्दासे घबराकर अपने लक्ष्यसे हटो मत। सब काम भगवान्‌की प्रीतिके लिये करो और इस बातका सदा ध्यान रखो कि जिस कार्यमें किसी भी प्राणीका अहित है, वह कार्य भगवान्‌की प्रीतिके लिये नहीं हो सकता।

भोगोंकी बातें न अधिक करो, न अधिक सुनो, उनमें जितनी जरूरत हो, उतना ही मन लगाओ और उतनी ही उनके बारेकी बात करो। शेष समय अपने मन और वाणीको भगवान्‌की ओर ही लगाये रखो। शरीरसे जो कुछ करो, सब भगवान्‌की सेवा समझकर करो। घरमें अपनेको मालिक मत समझो, वरं एक सेवक समझो और यथासाध्य ईमानदारीके साथ भगवत्सेवाके भावसे घरके काम करो। अपना व्यवहार दूसरेके घरमें कुछ समयके लिये टिके हुए अतिथिका-सा रखो। इस घरको अपना स्थायी घर, घरकी चीजोंको अपनी चीजें, घरके सेवकोंको अपने सेवक और घरकी सम्पत्तिको अपनी सम्पत्ति मत समझ बैठो। सावधान, तुम्हारे व्यवहारसे किसीके दिलपर चोट न पहुँचे।

चित्तकी धाराका प्रवाह एक भगवान्‌की ओर ही रहे, इस बातके लिये सदा यत्न करते रहो, जगत्‌की ओर कहीं मुड़े तो वह भी भगवान्‌की ओर जानेके सीधे रास्तेकी खोजमें ही! कहीं जरा-सी भी गड़बड़ी दीखे तो तुरंत प्रवाहको उस ओरसे वापस मोड़ लो। याद रखो—धन, जन, परिवार, शरीर, यश, सम्मान कुछ भी तुम्हारे साथ नहीं जायँगे। परलोकमें ये तुम्हारे काम नहीं आयेंगे, तुम्हें विपत्तिसे नहीं बचायेंगे। अतएव इनके लिये जीवनको मत गँवाओ। यदि भाग्यवश ये मिल गये तो सावधान रहो, कहीं तुमपर इनका नशा न चढ़ जाय—तुम कहीं भगवान्‌के मार्गसे हट न जाओ। इनसे चिपटो मत, मनको सदा इनसे अलग रखनेकी चेष्टा करो और हो सके तो इनका भी भगवत्प्रीतिमें ही उपयोग करो।

—'शिव'

भगवद्भक्त महात्माका स्वरूप एवं प्रभाव

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रवचनका एक अंश)

आपने कहा कि ऐसी बात कहिये जिससे हम लोग महात्मा पुरुषोंके वचनोंके अनुसार बन जायँ तो हम तो यह कह रहे हैं कि एक पीढ़ी और आगे बढ़ें, क्योंकि महात्मासे परमात्मा बड़े हैं, इसलिये परमात्माके वचनोंके अनुसार ही हो जायँ। गीता साक्षात् भगवान्‌का वचन है, श्वास है, हृदय है, इसलिये यह भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्ति है। अतः अपना जीवन गीतामय बनाना चाहिये। रही बात वक्ता और श्रोताकी। दोनोंमें ही अद्भुत शक्ति होती है। उन दोनोंके विषयमें—लौकिक विषयमें और अध्यात्मविषयमें भी शास्त्रोंमें एक कथा आती है। महाभारतमें लिखा है—तुलाधार नामका एक वैश्य था, उसके पास एक बार जाजलि ऋषि आये। उन्होंने समुद्रके किनारे बड़ी भारी तपस्या की थी। तपस्या-कालमें उनके मस्तकपर पक्षियोंने घोंसला बना लिया। उनको जब यह मालूम हो गया कि पक्षियोंने मेरे मस्तकपर घोंसला बना लिया है तो वे कुछ नहीं बोले, अचल रहे, ठूँठकी भाँति न हिले न डुले, शौचादिकी तो बात ही नहीं, न खाना न पीना और न सोना। वृक्षकी भाँति स्थिर ही रहे। पक्षियोंके बच्चोंने फिर जब अंडे दिये तो पहिलेके पक्षी उड़ गये। अब जो पक्षी पैदा हुए थे, उन पक्षियोंका जोड़ा बहुत समयतक उसमें रहा। रातको वे घोंसलेमें आ जाते, प्रातःकाल चूगा-पानीके लिये चले जाते। एक समयकी बात है—वे पक्षी उड़ गये और फिर एक महीनेतक लौटकर वापस नहीं आये। जाजलिने सोचा कि अब उन्होंने कहीं दूसरी जगह घोंसला बना लिया है, इसलिये इस बोझको हटा दो। सिरका बोझ उन्होंने हटा दिया। इसके बाद उनके मनमें अहंकार आ गया कि संसारमें मेरे समान क्या कोई तपस्या कर सकता है। उनके इस प्रकार अहंकार करनेपर आकाशवाणी हुई कि हे जाजलि! तुम इतना अभिमान मत करो। तुलाधार वैश्य जैसी तपस्या करता है, उसकी तपस्याके सामने तुम्हारी तपस्या कुछ भी नहीं है। जाजलिने सोचा कि अच्छा चलो, तुलाधार वैश्यके पास चलें, देखें कि तुलाधार वैश्य कौन है, तुलाधार वैश्यको पूछते-पूछते वे उसके पास आये और देखा कि वह दुकानपर बैठकर क्रय-विक्रय कर रहा है, सौदा बेच रहा है—नमक, तेल, चीनी, घी, आटा सभी खाद्य पदार्थ बेच रहा है, रस भी बेच रहा है, पर मदिरा और लाख आदि नहीं। यह देखकर जाजलिने सोचा—यहाँ आकाशवाणीके अनुरूप कोई बात तो नहीं दीख रही है या मुझे भ्रम तो नहीं हो रहा है—ऐसा सोचकर वे वापस जाने लगे। तब तुलाधार वैश्य उन्हें वापस जाते देखकर अपने आसनसे उठा और हाथ जोड़कर कहने लगा—महाराज! समुद्रके किनारे आपने जिस तुलाधारके विषयमें आकाशवाणी सुनी थी, वह तुलाधार वैश्य मैं ही हूँ। यह सुनकर उन्हें और भी आश्चर्य हुआ, यह भी इसको कैसे पता लगा। अपनी तपस्याकी बात तो मैं ही जानता हूँ, इसे कैसे मालूम? फिर बोले—अरे बनिया! जब तूँ रस बेचता है, क्रय-विक्रय करता है, तब तुम्हें इस प्रकारका ज्ञान कैसे हुआ? उसने कहा कि महाराज! मैं सत्य बोलता हूँ और सबके साथ सम व्यवहार करता हूँ। चाहे कोई बुद्धिमान् आ जाय या मूर्ख, बालक आ जाय अथवा युवा, कोई भी आ जाय उसके साथमें मेरा व्यवहार समान-भावसे होता है; इतना ही नहीं, सुख और दुःख, निन्दा तथा स्तुति, मान अथवा अपमान मेरे लिये समान हैं। गीतामें गुणातीतके और भक्तोंके लक्षणमें समताके जो लक्षण लिखे हैं, वे सब लक्षण उन्होंने अपनेमें बतलाये। इसी कारण उन्हें इस प्रकारका ज्ञान हो जाता था। उसका जो क्रय-विक्रय था वह त्यागपूर्वक था, संसारके कल्याणके लिये ही था, रुपयोंके लिये स्वार्थ-बुद्धिको लेकर नहीं था। जाजलिने कहा कि तुम बात बड़ी-बड़ी करते हो और कार्य तो तुम्हारा बहुत ही नीचा है। तुलाधार बोले कि महाराज! मेरे कार्यकी ओर आप देखते हैं? किंतु खेद है कि इस समय ब्राह्मण लोग अपने यज्ञका परित्याग करके क्षत्रियोचित यज्ञोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त हो रहे हैं। धन कमानेके प्रयत्नमें लगे हुए बहुत-से लोभी और नास्तिक पुरुषोंने वैदिक वचनोंका तात्पर्य न समझकर सत्यसे प्रतीत होनेवाले मिथ्या यज्ञोंका प्रचार कर दिया है, वे तो यज्ञमें पशु-हिंसात्मक करते हैं, जो वेद-विरुद्ध है। वेदोंमें पशु-हिंसा करना लिखा ही नहीं है, इन ब्राह्मणोंने ही इस प्रकारकी बात चलायी थी। उसके बाद तुलाधार आकाशमें उड़ते हुए उन पक्षियोंकी ओर इशारा कर बोले—हे

जाजले ! ये वे ही पक्षी हैं, जिन्होंने आपके मस्तकमें घोंसला बनाया था। आप इनको बुलाइये, जिससे ये आपके मस्तकमें अभी आकर बैठें। उन्होंने पक्षियोंको बुलानेका संकेत किया, तत्काल वे पक्षी आये और उनके सिरपर बैठ गये। और उन्होंने मनुष्यके समान स्पष्ट वाणीमें तुलाधारद्वारा उपदिष्ट धर्मोंका ही वर्णन किया। तब जाजलिने तुलाधारसे कहा—तुम्हारे वचनोंकी शक्तिको देखकर तुम्हारेमें मेरी श्रद्धा हुई, क्योंकि ये पक्षी भी तुम्हारी ही बात मान रहे हैं। इसके बाद उपदेश ग्रहण कर जाजलि वहाँसे चले गये। कहनेका अभिप्राय यह है—तुलाधार वैश्यकी यह एक अलौकिक शक्ति थी। एक प्रकारसे यह एक सांसारिक प्रभाव है। अध्यात्मविषयका प्रभाव तो उच्चकोटिका माना जाता है। क्योंकि उससे दूसरेका कल्याण हो जाता है। यह कहकर मैंने यह बतलाया कि महापुरुषोंकी शक्तिके प्रभाव— शाप दे देने, वरदान दे देने, आशीर्वाद दे देनेकी कथासे शास्त्र भरे हुए हैं। उपनिषद्, पुराण, इतिहास, महाभारत, वाल्मीकीय रामायण, भागवत आदिमें बहुत-से उदाहरण हैं। जो सत्यवादी होता है, उसकी वाणीमें भी यह शक्ति आ जाती है फिर जो साक्षात् भगवत्प्राप्त पुरुष है, उसकी तो फिर बात ही क्या है।

दूसरी शक्ति जो श्रोताके विषयमें है उसे कह रहा हूँ। जैसे पाण्डवोंकी माता कुन्तीने आदेश दिया कि तुम यह जो आज भिक्षा लाये हो उसका पाँचों भाई उपभोग करो, यानी काममें लाओ। भीमसेनने इसपर कहा कि माँ ! आजकी भिक्षामें एक स्त्री लाये हैं। माँने कहा कि तूने स्त्रीका नाम तो लिया नहीं। 'माँ ! भिक्षा लाये हैं' यही कहा । कुन्तीने फिर सोचा—बहुत मुश्किलकी बात हुई, जो मैंने कह दिया कि तुम पाँचों ही इसको काममें लाओ, अब यह बात सत्य कैसे होगी। हमारे इस वचनका सत्य होना बहुत ही कठिन है, इस बातको सत्य करना मेरे हाथकी बात नहीं है। इसे सत्य करना तो पाण्डवोंके हाथकी बात है। इसपर राजा युधिष्ठिरने कहा कि माँ ! इस आज्ञाका हमलोग पालन करेंगे और पाँचों मिल करके ही इसके साथ विवाह करेंगे। यह बात शास्त्रके भी विरुद्ध है तथा लोकके भी विरुद्ध है। परंतु महाराज युधिष्ठिरने माताके वचनोंका आदर किया, उनका पालन किया। इस प्रकारसे माताके वचनोंका, महात्माओंके वचनोंका जहाँतक जिस किसीने पालन किया, उस पालन करनेवालेकी शक्तिको श्रद्धा कहो या उसका प्रेम जो कुछ कहो।

ज़बालाके पुत्र सत्यकामने गुरुकी आज्ञाका पालन करके ब्रह्मकी प्राप्ति की। राजा द्रुपद शिवजीकी आज्ञा मानकर लड़कीको लड़का ही समझे और दूसरे राजाकी कन्याके साथ उसका विवाह कर दिया, उसमें सफलता ही हुई । धौम्यमुनिके शिष्य आरुणिने गुरुकी आज्ञाका पालन करके बिना पढ़े ही सारे शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया। ऐसे बहुतसे आज्ञा देनेवाले तथा पालन करनेवाले दोनोंके उदाहरण शास्त्रोंमें मिलते हैं। शास्त्रों और महात्माओंकी आज्ञाका पालन हमलोगोंको करना चाहिये, उसी प्रकार चलना चाहिये। हमारेमें यदि ऐसी शक्ति होती तो आज सैकड़ों-हजारों आदमी तैयार हो गये होते और भगवत्प्राप्त पुरुषोंके तुल्य हो जाते या भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती। परंतु हम जो कुछ कह रहे हैं वह प्रार्थनाके रूपमें कह रहे हैं, विनयके रूपमें कह रहे हैं, कुछ उपदेश-आदेशके रूपमें नहीं; गुरु-शिष्यके भावसे नहीं। न स्वामी-सेवकके भावसे कह रहे हैं, जो कुछ कह रहे हैं वह मित्र-भावसे ही कह रहे हैं। इस मित्र-भावसे कहनेका भी एक रहस्य है। वह रहस्य यह है कि हम स्वामीके रूपमें, गुरुके रूपमें नहीं कहते, क्योंकि ऐसा करना हम अपना अधिकार नहीं समझते हैं। कारण कि मैं वैश्य वर्णका गृहस्थाश्रमी व्यक्ति हूँ, दूसरी बात यह है कि हमारेमें वह अलौकिक शक्ति भी नहीं है जैसी कि वेदव्यासजी आदिमें थी। जिन्होंने संजयको दिव्य दृष्टि दी, जिससे उनकी इन्द्रियाँ और मन दिव्य हो गये; जिस प्रकार भगवान्‌ने अर्जुनको दी थी एवं १५ वर्ष बाद १८ अक्षौहिणी सेनाको भी उसी रूपमें प्रकट कर दिया। यदि हम भी ऐसे होते तो भगवान् हमको शक्ति दे करके संसारके कल्याणके लिये भेजते और हम अपनी शक्तिसे आपलोगोंको लाभ पहुँचा सकते। हमारा तो छोटे-बड़े सभीके लिये सम्मतिके रूपमें निवेदन है, यदि इसे आपलोग अपने काममें लें तो मैं आप सबका आभारी हूँ। आपकी हमारे ऊपर दया है

अब रहस्य यह बतलाना है कि यदि हम अधिकारी होते और सामर्थ्यवान् होते तथा उस अधिकारके अनुसार हम गुरु-शिष्यका सम्बन्ध करके लोगोंको शिक्षा या आदेश देते तो

यह नहीं कह सकते कि उसका क्या नतीजा होता, कुछ कहा नहीं जा सकता। किंतु यह बात तो है ही कि जो गुरुकी आज्ञाका पालन नहीं करता, उसका पतन हो जाता है। आपका और हमारा मित्रताका नाता है, इसलिये हमारी जो राय है, सम्मति है इसे आप काममें यदि नहीं लायें तो आप पापके भागी नहीं होंगे। यह बात तो हम जोरके साथ कह सकते हैं कि आपको इसमें पाप नहीं लगेगा और हम यदि गुरु होते और वह सम्बन्ध आपके साथ जोड़ते तथा आप हमारी आज्ञाका पालन नहीं करते तो आपका पतन होता और आज्ञाके पालन न करनेमें आपको कुछ भय भी होता। सम्भव है कि यदि वह हमारेमें शक्ति होती तो हमारी वह शक्ति बलपूर्वक आपलोगोंसे करवा भी लेती। जैसे राजाकी आज्ञा बलवान् होती है, राजाका हुक्म होता है और उसके अनुसार करना पड़ता है, उसमें हेर-फेर नहीं होता। यह तो उस वक्ताकी शक्तिपर निर्भर है कि कैसा वक्ता है, कैसी शक्ति है। किंतु यह बात साथ-साथमें है जैसे उसके साथमें लाभकी बात है ऐसे उसके साथमें अपने खतरेकी बात भी है। वह बात नहीं माननेसे खतरेकी बात है। यदि आपलोग हमारी बात काममें नहीं लायेंगे तो उस लाभसे वञ्चित रहेंगे, नया कोई नुकसान, नया कोई पाप नहीं लगेगा। आपको हम बाध्य नहीं कर सकते कि यह बात आपको काममें लानी पड़ेगी। आपकी मर्जी है, आप ला भी सकते हैं नहीं भी ला सकते हैं। लानेमें लाभ है और नहीं लानेमें कोई नुकसान नहीं। किंतु यदि इसको भी नुकसान मानें तो जरूर है, क्या? लाभसे वञ्चित रहना है। तो यह नुकसान तो जरूर है। आपसे कहा जाता है कि सत्य बोलना चाहिये और आप सत्य नहीं बोलेंगे तो सत्य बोलनेसे जो लाभ है, उससे तो वञ्चित ही रहेंगे। आपसे कहा जाय कि ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये और आप ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करेंगे तो ब्रह्मचर्यके पालनसे जो लाभ होता है, वह कैसे मिलेगा। तो जो शास्त्रकी बात है उसके पालनसे हमको लाभ प्रत्यक्ष होता ही है। इसलिये हमलोगोंको परम शास्त्र गीताको जो—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

—साक्षात् भगवान्के मुखपद्मसे निःसृत है, उसे अच्छी प्रकारसे पढ़ना चाहिये। उसका गायन भी अच्छी प्रकारसे करना चाहिये और उसका मनन भी अच्छी प्रकारसे करना चाहिये। शेष और शास्त्रोंके विस्तारकी क्या आवश्यकता है। इसमें और शास्त्रोंकी अवहेलना नहीं की गयी है। शास्त्रोंको महत्ता ही दी गयी है और उनसे भी बढ़कर गीताको अधिक महत्ता दी गयी है। तो इससे यह बात निकलती है कि शास्त्रोंकी आवश्यकता तो है, 'गीता सुगीता कर्तव्या' गीताको अच्छी प्रकारसे पढ़े तो फिर शास्त्रकी आवश्यकता नहीं? नहीं, शास्त्र निरर्थक नहीं है, शास्त्र हैं दामी चीज। पर आत्माके उद्धारके लिये गीताका भी अभ्यास कर लें, और विशेष आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह गीता स्वयं पद्मनाभ भगवान्के मुख-कमलसे निकली हुई है। पद्मनाभ यानी जिनकी नाभिके बीचमें कमल है ऐसे जो भगवान् विष्णु हैं उनकी नाभिसे कमल निकला हुआ है तो पद्मनाभ और मुख-पद्म इन दोनोंके बीचमें कमल शब्द आया है। गीता जो है वह भगवान्के मुखकमलसे निकली है और सारे शास्त्र जो हैं वे नाभि-कमलसे निकले हुए हैं। सारे शास्त्र कैसे निकले? सुनो—नाभिसे कमल पैदा हुआ, कमलसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई, ब्रह्माजीसे वेदोंका आविर्भाव हुआ, वेदोंके आधारसे इतिहास, पुराण, शास्त्र, दर्शनशास्त्र, उपनिषद्-श्रुतियाँ—ये सब जितने शास्त्र हैं इनका विस्तार हुआ। परंतु गीता तो ~~भगवान्के ही मुखसे निकली, नाभिसे~~ नहीं। वेदादि सीढ़ी-दर-सीढ़ी निकले हैं और गीता भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे उत्पन्न हुई है। अतः हम जो कुछ आपलोगोंकी सेवामें निवेदन करते हैं एक नम्बरमें तो अधिकांशतः गीताकी बात कहते हैं और दो नम्बरमें अन्य सब शास्त्रोंकी, दर्शनशास्त्र या उपनिषद् या रामायण अथवा महाभारत, भागवत आदि जितने अपने श्रुति-स्मृति, इतिहास और पुराण हैं उनकी। अतः जो भगवान्के वचन हैं, महापुरुषोंके वचन हैं उनको आपलोग काममें लायें तो आपलोगोंका कल्याण हो सकता है। ऐसा मेरा विश्वास है। और यदि मैं इसे काममें लाऊँगा तो मेरा कल्याण हो सकता है, इसमें कोई संदेहकी बात नहीं है। यह जो अपने लोगोंमें भगवच्चर्चा होती है, इस भगवच्चर्चा-रूप संगसे आपलोगोंको क्या लाभ होता है इसे तो आप ही समझ सकते हैं। मुझे तो लाभ होता है, यह बात प्रत्यक्ष ही समझमें आती है। मनुष्यको अपने आपका तो अनुभव रहता ही है।

'भगवान्की—राधिकाजीकी लीला देख रहा हूँ, मैं उसमें शामिल हूँ, भगवान्की रासक्रीडा जो है, उसमें मेरा प्रवेश है। उसके विषयमें तो मैं अपना अनुभव कह सकता हूँ'—ऐसा कहनेवाला जो है वह अपनेको एवं दुनियाको धोखा देनेवाला है, उसकी बातका कभी विश्वास नहीं करना। जब मैं ऐसा कहता हूँ कि मेरेको कभी ऐसी घटना भी प्राप्त हुई है या नहीं, तो भी मैं कुछ भी नहीं कहूँ। जिसका मैं खुद निषेध करूँ, दम्भी बतलाऊँ तो मैं क्या दम्भकी पंक्तिमें नहीं शामिल होऊँगा। जो कहता है कि मुझको अनुभव होता है, उसको मैं दम्भी समझता हूँ और नहीं कहनेवालोंमें कोई एक होता है।

एक श्रुति कहती है कि जो ऐसा कहता है कि मैंने ब्रह्मको समझ लिया वह नहीं समझा, जो कहता है कि मैंने ब्रह्मको नहीं समझा वह भी नहीं समझा। किंतु जो अपनेको ऐसा मानता है कि मैंने ब्रह्मको जान लिया, उसने कुछ भी नहीं जाना, वह तो बिलकुल गलत है। जो अपनेको 'नहीं' कहते हैं उन 'नहीं' कहनेवालोंमें कोई एक है—'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥' (केन० २। १०)। इस प्रकारसे हमारे वेदोंमें, श्रुतियोंमें सबमें यह बात बतलायी गयी है। तो जो 'नहीं' कहता है, उसे कभी भगवान् प्रत्यक्ष हो जाते हैं। जो डींग मारता है कि 'मुझे भगवान् मिल गये—मैं भगवान्का प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ, वहाँ मेरा प्रवेश है'—वहाँ तो सभी मामला गड़बड़ है। वास्तवमें यह भगवत्प्राप्ति है ही नहीं। जो ऐसा कहता है, उसकी परीक्षाकर मैं यह कह सकता हूँ कि इसे भगवत्प्राप्ति नहीं हुई है, परंतु जिसे वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति हुई है, उसके विषयमें मैं कुछ नहीं कह सकता। यह बतलाना कठिन है, क्योंकि यह जो विशेषता है, वह स्वसंवेद्य है परसंवेद्य नहीं। इसे वह स्वयं ही जानता है, दूसरा कोई नहीं जान सकता। प्रायः संसारमें जो लोग हैं, वे दूसरोंपर अपना प्रभाव डालनेके लिये ऐसी बातें बोलते हैं, उसे मोहित करनेकी चेष्टा करते हैं, ऐसा पुरुष सच्चा नहीं है। (क्रमशः)

◆

पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती

(श्रीशीलव्रतजी शर्मा 'शील')

(१)

चाह नहीं कहिं राज मिले पद, चाह नहीं धन सम्पद ख्याती।
चाह नहीं सुख स्वर्ग मिले अरु चाह नहीं भव मुक्ति सुहाती॥
चाहत ना मन कामिनि कञ्चन, चाह न व्यञ्जन भाँतिय भाँती।
'शील' यही बस देय प्रभो वर, पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती॥

(२)

पंथ बिपंथहु चक्र पड़ूँ नहिं, भेद न हो मन जातिय न्याती।
छूत अछूतन क्रूर घृणा तज, देह रहे मम नेह लगाती॥
शत्रु रहे नहिं छोर कहीं दिग, विश्व अखण्ड बने मम साथी।
'शील' यही बस देय प्रभो वर, पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती॥

(३)

देख कभी पर-द्रव्य द्रवूँ नहिं, कान सुने नहिं स्वारथ बाती।
ज्योति जले परमारथकी उर, जीभ रहे प्रभु कीरत गाती॥
दुष्कृत देखि सचेत रहे मन, सुकृत सर्व बने मम नाती।
'शील' यही बस देय प्रभो वर, पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती॥

(४)

नीर असीम बहे करुणा उर, दीनन देख पसीजत छाती।
देत रहूँ नित वंचितके हित, भाव बने यह जाग प्रभाती।
देश-हिते कर सर्व समर्पित, जीवन हो मम भारत-थाती।
'शील' यही बस देय प्रभो वर, पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती॥

(५)

को नहिं छीजत देह क्षुधा लिय, को नहिं वस्त्र बिना ठिठुराती।
दैहिक दैविक भौतिक संकट, को नहिं काय रहे अकुलाती॥
स्त्रोत बहे सुख सर्व धरा जग, नाव चले भव मोद लुटाती।
'शील' यही बस देय प्रभो वर, पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती।

◆

निर्बलका बल

(पूज्यपाद अनन्तश्री ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

हर एक श्रेणीके प्राणीको श्रीभगवान्‌का स्मरण एवं आराधन हर समय करना आवश्यक है। यही कारण है कि भगवान्‌के मङ्गलमय परमपवित्र चरित्रादिके श्रवण-मननके अधिकारी ज्ञानी-अज्ञानी, सिद्ध-साधक सभी हैं और सभीको उनके अनुरूप फल भी मिलता है। फिर वे उसे चाहें अथवा न चाहें। यद्यपि जो महापुरुष स्ववर्णाश्रम-धर्मानुसार भगवान्‌की आराधनाद्वारा निर्मलान्तःकरण होकर वेदान्तोंके श्रवण-मनन-निदिध्यासन एवं तत्त्वसाक्षात्कारसे कृतार्थ हो चुके हैं, उन्हें किसीकी भी अपेक्षा नहीं होती, न उन्हें कुछ करनेसे प्रयोजन है, न उनका किसीसे कुछ अर्थ ही है, बल्कि यदि उन्हें कुछ कर्तव्यबुद्धि हो तो उनकी तत्त्वज्ञतामें भी संदेह किया जाता है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

तथापि भगवान्‌के भजनमें उनकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है। अतएव भगवान्‌के आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी—इन चार भक्तोंमें ज्ञानीको सर्वश्रेष्ठ भक्त कहा है—'**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।**' अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रगण निर्ग्रन्थ होकर भी भगवान्‌में निष्काम भक्ति करते हैं, क्योंकि भगवान्‌में कोई अद्भुत आत्मागमचित्ताकर्षक लोकोत्तर गुण ही है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥

जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥

× × ×

आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

इतना ही नहीं, विशेषतः ऐसे ही तृष्णारहित महामुनीन्द्र भगवान्‌के गुणगानके अधिकारी माने गये हैं, क्योंकि जिसका मन निरन्तर भगवत्स्वरूपामृत-रसास्वादनमें लगा रहता है, वही उस रसका वितरण कर सकता है। जिस समय राजर्षि परीक्षित्‌ने ब्रह्माके वत्सहरण-सम्बन्धमें कुछ पूछा, उस समय ब्रह्मर्षि शुकदेवका मन प्रश्नद्वारा हृदयमें अभिव्यक्त भगवान्‌के स्वरूप-गुण-लीला-रसमें लीन हो गया। फिर बड़ी कठिनाईसे जब घण्टा, शंख-निनाद आदिसे वे सावधान किये गये तब कथा चली—

इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणिस्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः।
कृच्छ्रात्पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तम॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ४४)

वस्तुतः जैसे पात्रमें भरपूर भरा हुआ रस वायुके आघात या उफानसे बहिर्भूत होता है, वैसे ही भावुकके हृदयमें अनुभूयमान भगवदीय रस प्रेमोद्रेकसे उद्‌गीर्ण होकर कथा-सुधारूपमें व्यक्त होता है। अतः वे ही चरित्र-वर्णनके मुख्य अधिकारी होते हैं—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥

(श्रीमद्भा० १०। १। ४)

अर्थात् भगवान्‌का गुणानुवाद तृष्णाविरहित योगीन्द्रोंद्वारा गाया जाता है और वह भवरोगका सर्वश्रेष्ठ महौषध है। साथ ही श्रोत्र और मनको आनन्द देनेवाला है अर्थात् विमुक्त, मुमुक्षु और विषयी सभी भगवच्चरित्रसेवनके अधिकारी होते हैं—

'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥

अर्थात् भगवान्‌का चरित्र सुननेसे विमुक्तको भक्ति, मुमुक्षुको गति और विषयीको सम्पत्ति मिलती है। इसके साथ-ही-साथ श्रवण और मनको प्रसन्नता भी मिलती है—

बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥

पूर्णपरमात्मरति ब्रह्मनिष्ठका भगवद्‌भजन स्वाभाविक कर्म हो जाता है—'**अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः।**' अमानित्व, अदम्भित्व आदि गुणगण जैसे स्वभावसे ही ज्ञानीमें होते हैं, वैसे ही भगवद्‌भजन, भगवत्परायणता भी ज्ञानीमें स्वाभाविक होती है। इसके सिवा भगवत्कृपासे ही प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न परमात्मतत्त्वमें स्थिति होती है, अतः कृतघ्नता-निवृत्त्यर्थ भी ज्ञानी भगवान्‌को भजता है। सभी वेदान्ताचार्योंने कहा है—

यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
आदौ विद्याप्रसिद्ध्यर्थं कृतघ्नत्वापनुत्तये॥

अर्थात् ज्ञानीको यावज्जीवन वेदान्त, गुरु और ईश्वरकी वन्दना करते रहना चाहिये। प्रथम ब्रह्मविद्या-प्राप्तिके लिये इन सबका वन्दन करना चाहिये, पश्चात् कृतघ्नता दूर करनेके लिये। विवेकियोंने ज्ञानीके लिये अभेदभावसे ब्रह्मात्मनिष्ठा या भेदभावसे भगवद्भक्तिको समान ही कहा है। जैसे प्रेयसी प्रेमोद्रेकमें प्रियतमके वक्षःस्थलपर विहरण करे, अथवा सावधानीसे पादयुग्मकी परिचर्या करे, दोनों एक ही-से हैं। तथापि जैसे चित्त मिल जानेपर भी चतुर नायिका अपने प्रियतमको घूँघट-पटकी ओटसे ही देखती है, वैसे ही भेदभावके मिट जानेपर भी ज्ञानी भेदभावसे भगवान्‌को भजते हैं। पारमार्थिक तत्त्व जानकर, व्यावहारिक द्वैतको लेकर भगवान्‌की भक्ति मुक्तिसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ है और भक्त्यर्थ भावित द्वैत अद्वैतसे भी श्रेष्ठ होता है।

यह स्थिति लोकसंग्रहनिरपेक्ष पूर्ण परमात्मनिष्ठ विज्ञानीकी है। परंतु लोकसंग्रही ज्ञानीको तो लौकिक, वैदिक, धार्मिक, नैतिक अनेक प्रकारके कर्म करने पड़ते हैं और उनमें अनेक प्रकारकी विषम परिस्थितियोंका भी अनुभव करना पड़ता है। अनेक प्रकारके तापोंका भी योग उपस्थित होता है, अतः उन लोकसंग्रहियोंको यह परम आवश्यक होता है कि वे विनश्वर विषम प्रपञ्चके भीतर सम अविनश्वर परमात्मतत्त्वका स्मरण रखें। लोक-कल्याणार्थ या आत्मकल्याणार्थ कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण होनेपर सहस्रों दोषोंके सञ्चारकी सम्भावना होती है, इसलिये उन सबसे बचकर अव्याहत स्वरूपनिष्ठा बनाये रखनेके लिये निरन्तर श्रीभगवान्‌की स्मृति परमावश्यक है।

तीसरी कोटिके मुमुक्षु लोग हैं। ये दो श्रेणीके हैं, एक तो मोक्षकी आकाङ्क्षासे श्रीहरिके चरणपङ्कजमें समर्पण-बुद्धिसे स्वधर्मानुष्ठान करनेवाले एवं दूसरे शुद्धान्तःकरण हो जानेपर तीव्र विविदिषासे श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेवाले। इन दोनों ही श्रेणीके पुरुषोंको निरन्तर भगवत्स्मृति परमावश्यक है। नैष्कर्म्य-तत्त्वज्ञान भी बिना श्रीहरि-प्रेमके शोभित नहीं होता, फिर कर्म चाहे निष्काम ही क्यों न हो, भगवच्चरणपङ्कजमें बिना समर्पण किये वह शोभित नहीं होता—

'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।'
सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जल जानू॥
सो सब कर्म धर्म जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥'

जो कर्म भगवत्समर्पणके लिये अनुष्ठित होंगे, उन कर्मोंकी शुद्धिपर ध्यान रहेगा, बुद्धिमान् भगवान्‌को अशुद्ध कर्मोंका समर्पण न करेंगे। अतः यदि **'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥'**, **'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा॰'** इत्यादि भगवान् और भगवदीयोंके कथनानुसार सभी कर्मोंको भगवान्‌में समर्पण करनेका नियम बनाया जायगा, तो लौकिक-वैदिक सभी कर्मोंमें शुद्धि रहेगी और हर एक कर्मोंको करते समय भगवान्‌का स्मरण रखनेसे अन्तरात्माको त्रितापसे तप्त न होना पड़ेगा। भगवद्भक्ति, भगवत्स्मृतिकी महिमासे शीघ्र ही भगवान्‌का साक्षात्कार भी हो सकेगा—**'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।'** भगवत्प्रेमसे निर्मल एवं एकाग्र मनपर सहजहीमें परमात्मस्वरूपकी अभिव्यक्ति हो जाती है। प्रापञ्चिक व्यवहारमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक अनेक तापोंसे तप्त होना पड़ता है। परंतु जिनके हृदयमें भगवान्‌की पदनखमणिचन्द्रिकाकी आभा रहती है, उन्हें वे ताप उसी तरह नहीं तपा सकते, जैसे शारदी चान्द्रमसी ज्योत्स्नाके विकसित होनेपर सूर्य-ताप नहीं तपा सकता। जैसे साँपके विषसे परिश्रान्त होकर नकुल विश्रान्तिके लिये अरण्यमें जाकर विषघ्नी दिव्य महौषधियोंका सेवन करता है, वैसे ही संसार-विषसे व्याकुल होनेपर संसारियोंको भी सत्सङ्गमें जाकर भगवत्स्मृतिका सेवन करना चाहिये। कहा जाता है कि भगवान्‌का स्मरण-भजन और लौकिक कर्म दोनों साथ कैसे बन सकते हैं। परंतु भगवान् तो और कार्योंकी कौन कहे, सबसे विषम कर्म जो युद्ध है, उसको करते हुए भी भगवत्स्मृतिको आवश्यक बतलाते हैं। कृषि, व्यापार आदि सभी कर्मोंसे युद्ध कठिन है, उसमें अस्त्र-शस्त्रकी वर्षा होती है, उससे हर समय अपने मर्मोंको बचाना, परच्छिद्रान्वेषण करना, अस्त्र-शस्त्र चलाना, शस्त्र-अस्त्रोंके लगनेपर व्यथाओंको भी सहन करना पड़ता है। परंतु, भगवान्‌के मतसे उस समय भी परमात्मस्मरण रखना परमावश्यक है।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।

चौथी कोटिके वे पुरुष हैं जो निष्काम नहीं हैं, किंतु आर्त और अर्थार्थी होकर आर्तिनिवृत्ति एवं अर्थ-प्राप्तिके लिये विविध प्रकारके लौकिक कर्मोंमें प्रयत्नशील होते हैं। उन्हें भी

अपने प्रयत्नोंकी सफलताके लिये भगवान्‌का स्मरण-भजन करते रहना चाहिये, केवल अपने साधन-बलके गर्वमें भगवान्‌को नहीं भूलना चाहिये। अतएव यद्यपि अर्जुन बौद्धबल, बाहुबल, सैनिकबल, धन-बल आदिमें सम्पन्न थे, तो भी उन्हें भगवत्स्मरणकी आवश्यकता बतलायी गयी है। वस्तुतः जितना भी साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, शौर्य, वीर्य, ऐश्वर्य, अभ्युदय है, वह सभी धर्म और ईश्वराराधनका ही फल है। दरिद्रता, परतन्त्रता, आधि, व्याधि, शोक, संताप आदि अनर्थ धर्मकी उपेक्षा और ईश्वरविमुख होनेका फल है। महा-महा शूरवीर एवं ऐश्वर्यवानोंके चरित्रोंपर ध्यान देनेसे विदित होगा कि उन्होंने धर्म और ईश्वरके सेवनसे उच्चतम स्थिति प्राप्त की है। अतएव सुख एवं तत्साधनोंकी न्यूनाधिकतासे उसके हेतुभूत पुण्यकी न्यूनाधिकताकी कल्पना होती है, दुःख और दुःखसाधनोंके तारतम्यसे उसके हेतु पापके तारतम्यकी कल्पना होती है। इस जन्ममें भी धर्म और भगवान्‌का आश्रयण करके जो अभीष्ट फलसिद्धिके लिये प्रयत्नशील होते हैं, उन्हें बड़ी सुगमतासे सफलता मिलती है—**'मामाश्रित्य यतन्ति ये।'**

पाँचवीं कोटिके वे पुरुष हैं जो आर्त एवं अर्थार्थी तो हैं, परंतु आर्ति-निवृत्ति एवं अर्थप्राप्तिके लिये उनके पास कोई साधन नहीं है, उनके लिये भी एक भगवान्‌हीका सहारा रह जाता है—***'निर्बलके बल राम', 'हारे को हरि-नाम।'*** जब सर्वसाधन-सम्पन्नोंको भी साधनबलका दर्प छोड़कर श्रीभगवान्‌का सहारा लेना पड़ता है, तब साधनहीन किसकी शरण जायँ? निर्बल, निराश्रय पुरुष किसी आश्रयका अन्वेषण करता ही है, गिरते हुए पुरुषके हाथ, पैर स्वभावसे ही किसी आश्रयको पकड़नेके लिये प्रवृत्त होते हैं। बालक विपन्न एवं उपद्रुत होकर माता-पिता एवं बन्धुकी ओर दौड़ता है, प्रजा राजाकी ओर दौड़ती है, निर्बल बलवान्‌की ओर दौड़ता है। परंतु जहाँ इन किन्हींका वश या सहारा नहीं है, वहाँ सिवा पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् सर्वान्तरात्माके और किसका सहारा हो सकता है? वस्तुतः परमज्ञानी भगवत्परायण और इस साधनशून्य अर्थार्थी या आर्तकी स्थिति समान ही है, उसके भी सब कुछ भगवान् ही हैं और इसके भी सब कुछ भगवान् ही हैं। निरालम्ब निःसाधन आर्त एवं अर्थार्थी बड़े प्रेम और विश्वाससे भगवान्‌को पुकारता है और भगवान् उसकी जल्दी ही सुनते भी हैं। प्रतिज्ञा भी उनकी यह है, एक बार भी जो प्रपन्न होता है, उसे मैं अभय देता हूँ—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं हि मे॥

हतभाग्य प्राणीको भगवान्‌के इस व्रतपर विश्वास नहीं होता, किंतु साधारण राजाओं और उनकी झूठी प्रतिज्ञाओंपर विश्वास होता है। आर्तकी आर्ति मिटाकर भगवान् उसे परम अभय देते हैं, कृतार्थ कर देते हैं। अर्थार्थीको भी अर्थप्रदानके बाद निष्काम, जिज्ञासु एवं ज्ञानी बनाकर तार देते हैं। विभीषण पहले अवश्य अर्थार्थी था। परंतु, अन्तमें तो पूर्ण परमार्थी हो गया। भगवान्‌का दर्शन करके उसने कहा था—

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥
अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥

परंतु इन सब परिस्थितियोंसे भिन्न एक और भी छठी परिस्थिति उस प्राणीकी है जो कृतकृत्य भी नहीं, निष्काम और विरक्त भी नहीं, आर्त-अर्थार्थी होकर भी निराश्रय एवं साधनविहीन है और साथ ही भगवान्‌पर जिसे विश्वास भी नहीं है। परंतु यदि उसकी आन्तर भावना ऐसी हो कि भगवान्‌में हमारा विश्वास उत्पन्न हो और हम अपनी परिस्थितियोंको समझकर भगवान्‌को पुकारें कि 'हे नाथ! आप ही ऐसी कृपा करो, जिससे हम आपपर विश्वासकर आपको पुकारें और आपको न भूलें और मैं ब्रह्म (भगवान्) का निराकरण (उपेक्षण) न करूँ।'—**'माहं ब्रह्म निराकुर्याम्।'** वस्तुतः भगवान्‌की कृपासे ही प्राणी विश्वासपूर्वक भगवान्‌की शरण जाता है। श्रीअक्रूरजीने कहा है—'हे नाथ! आज मैं आपके श्रीचरणोंके शरण आया हूँ, यह भी आपकी कृपाका ही फल है। जब प्राणियोंकी सांसारिक विपत्तियाँ मिटनेको होती हैं, तभी सदुपासनासे आपके श्रीचरणोंमें उनकी प्रीति होती है—

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये।
पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात्॥

(श्रीमद्भा० १०।४०।२८)

सचमुच आज भारतकी यही अन्तिम दशा है। न वह कृतकृत्य है, न निष्काम एवं विरक्त। वह आर्त एवं अर्थार्थी होकर भी आश्रय एवं साधन-विहीन है। इतनेपर भी उसमें धर्म और भगवान्‌से विश्वास उठ चला है—

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पिआइअ बारुनी कहहु काह उपचार॥

जहाँ अर्जुन-ऐसे साधनसम्पन्न योद्धाके लिये भी '**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**' का आदेश था, वहाँ सर्वसाधनशून्य-दशामें भी भगवान्‌का स्मरण नहीं होता, इससे अधिक इसकी शोचनीय दशा और क्या हो सकती है? अस्तु, उसके हितैषियों और उसको चाहिये कि वह भगवान्‌को पुकारें और प्रार्थना करें कि 'हे नाथ! हम सबको आपमें विश्वास और भक्ति दो, जिससे कि हम आपको पुकारें। हम सबको धर्मग्लानि-अधर्माभ्युत्थान मिटाकर परमकल्याण-मूलभूत धर्ममें प्रीति दो, जिससे सब तरहके अनर्थ मिटकर भारत फिर अभ्युदय एवं निःश्रेयसका भागी हो।'

★

सत्सङ्गके अमृत-कण

भगवान्‌की और महापुरुषोंकी दया अपार है, वह माननेसे ही समझमें आती है। ईश्वरसे कोई जगह खाली नहीं है और महात्माओंकी संसारमें कमी नहीं है। कमी है तो हमारे माननेकी, वे तो प्राप्त ही हैं। न माननेसे वे प्राप्त भी अप्राप्त हैं। घरमें पारस पड़ा है, परंतु न माननेसे वह भी अप्राप्त ही है। भगवान्‌की दया और प्रेम अपार हैं। उन्हें न माननेसे ही वे अप्राप्त हो रहे हैं, मान लिये जायँ तो प्राप्त ही हैं। किसी दयालु पुरुषसे कहा जाय कि आप हमारे ऊपर दया करें तो इसका मतलब यह होगा कि वह दयालु नहीं है, हमारे साथ क्रूरताका बर्ताव कर रहा है। इस प्रकार वह दयालु पुरुष समझता है कि यह बेचारा भोला है, नहीं तो मुझसे यह कैसे कहता कि दया करो। भगवान् और महापुरुष दोनोंके लक्षणोंमें यह बात आती है कि वे सबके मित्र और सुहृद् होते हैं—

हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

'मैं सब भूतोंका सुहृद् हूँ—बस, केवल इतना जान भर लो।' जो इस बातको जान लेता है वह भी सब भूतोंमें ही तो है। अतः उसे भगवान् मेरे सुहृद् हैं, यह जानकर शान्ति मिल जाती है।

× × × ×

वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सब जगह प्रत्यक्ष मौजूद है, किंतु इस प्रकार प्रत्यक्ष होते हुए भी हमारे न माननेके कारण वह अप्राप्त है। सच्चिदानन्दघन परमात्माका कहीं कभी अभाव नहीं है। इस प्रकार न मानना ही अज्ञान है और इस अज्ञानको दूर करनेके लिये प्रयत्न करना ही परम पुरुषार्थ है। हमें इस अज्ञानको ही दूर करना है। इसके सिवा और किसी रूपमें हमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं करनी है। परमात्मा तो नित्य प्राप्त ही है। उस प्राप्त हुए परमात्माकी ही प्राप्ति करनी है, अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं करनी है। वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सबको प्राप्त है, यह दृढ़ निश्चय करना ही परमात्माको प्राप्त करना है। इस प्रकारका निश्चय हो जानेपर परमशान्ति और परमपदकी प्राप्ति सदाके लिये प्रत्यक्ष हो जाती है। यदि न हो, तो उसकी मान्यतामें कमी है।

इस प्रकारके तत्त्व-रहस्यको बतलानेवाले महात्मा भी संसारमें हैं। किंतु हैं लाखों-करोड़ोंमें कोई एक। जो हैं, उनका प्राप्त होना दुर्लभ है और प्राप्त होनेपर भी उनका पहचानना कठिन है। उनको जान लेनेपर तो परमानन्द और परमशान्तिकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिये कि उसके माननेमें ही कमी है।

◆

शरणागतिका स्वरूप

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके प्रवचनका एक अंश)

मैं आप लोगोंसे जो कुछ निवेदन करूँगा वह आपसकी बच्चोंकी-सी बातें हैं। ये कोई सिद्धान्तकी बातें नहीं हैं। इसलिये यदि इनमें कोई त्रुटि हो तो आप गुरुजन उसे ठीक कर लें। रात ग्यारह बजे आग लगी और पीछेकी पंद्रह कुटियाँ एक साथ जल गयीं। उस समय हममेंसे कुछ लोगोंने कहा था कि 'अच्छा हुआ भीतर कोई आदमी नहीं रहा'। इससे यह स्पष्ट होता है कि आग लगना तो अच्छा नहीं हुआ, कोई मनुष्य नहीं जला यही अच्छा हुआ।

गीताका जो तात्पर्य है उसके अनुसार हमें इस घटनाके विषयमें विचार करना है। साधकोंके लिये दो ही दृष्टियाँ हैं—एक ज्ञानीकी और दूसरी भक्तकी। ज्ञानीकी दृष्टिमें तो एक आनन्दको छोड़कर दूसरी वस्तु है ही नहीं, अतः वह चाहे आगके रूपमें हो और चाहे किसी और रूपमें, है आनन्द ही। भक्तकी दृष्टिमें सब भगवान्‌की लीला ही है। भगवान्‌की लीलामें कभी अमङ्गल हो ही नहीं सकता, भले ही वह लीला हमें अच्छी न दीख पड़े, परंतु मङ्गलमयका कोई भी विधान अमङ्गलमय नहीं हो सकता। भक्तोंके भी कई दर्जे होते हैं। एक भक्त थे नामदेव। उनकी कुटीमें आग लगी। आधी कुटी जल जानेपर जब आग शान्त होने लगी तो वे बोले—'भगवन्! यह क्या ? आप आधे ही घरमें पधारे।' ऐसा कहकर वे कुटीका बचा हुआ सामान भी उसमें डालने लगे। यह ठीक है कि सब भक्तोंका ऐसा ही भाव नहीं हो सकता, पर अन्य भाव होनेमें भी कोई दोष नहीं है।

जनकजी परम ज्ञानी थे। याज्ञवल्क्यजी वेदान्तचर्चा किया करते थे। उनका प्रवचन सुननेके लिये बहुत-से लोग आते थे, परंतु जबतक जनकजी नहीं आते थे, तबतक वे कथा आरम्भ नहीं करते थे। इससे अन्य श्रोताओंको कुछ असंतोष रहने लगा और वे ऐसा समझने लगे कि जनकजीके प्रति उनका कुछ मोह है। याज्ञवल्क्यजी योगी भी थे। उन्होंने एक लीला की। उन्होंने अपने योगबलसे नगरमें आग लगा दी, जब लोगोंको मालूम हुआ तो उन्हें यह चिन्ता हुई कि हमारे पड़ोसमें तो आग नहीं आ गयी है और वे तरह-तरहके बहानेसे कथामेंसे उठकर जाने लगे। धीरे-धीरे वह कथामण्डप बिलकुल खाली हो गया, बस याज्ञवल्क्यजी कथा सुना रहे थे और जनकजी सुन रहे थे। इतनेहीमें एक आदमी आया और उसने कहा—'महाराज! सारी मिथिलापुरी जल चुकी है और अब राजमहलोंमें भी आग लगनेवाली है।' इसी प्रकार एकके पीछे दूसरा और दूसरेके पीछे तीसरा कई आदमी सूचना देने आये, परंतु महाराज जनक सर्वथा निश्चलभावसे पूर्ववत् कथा-श्रवण करते रहे। याज्ञवल्क्यजीने कहा—'राजन्! महलमें आग लग गयी है।' जनकने कहा—'महल क्या, शरीर जल जाय तब भी मेरी क्या हानि है ? यह है ज्ञानीकी दृष्टि।'

अब तीसरी दृष्टि है कर्मकी। उस दृष्टिको लेकर यह विचार करना चाहिये कि आग लगी क्यों ? संसारमें जो कुछ होता है हमारे कर्मका फल है और यह सम्भव नहीं है कि कर्म पीछे हो और फल पहले मिले। प्रारब्धके तीन भेद हैं—परेच्छा, स्वेच्छा और अनिच्छा। किसी-किसी प्रारब्धका फल हमें किसीकी इच्छा न होनेपर भी भोगना पड़ता है। यदि इस प्रकार अनिच्छासे ही हमें अपने किसी कर्मका फल मिल गया तो अच्छा ही है, हमारा कर्म कट गया। किसी पापकर्मका कट जाना तो आनन्दकी ही बात है। इस प्रकार भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनों ही दृष्टियोंसे इस आग लगनेकी घटनामें अमङ्गलकी सम्भावना नहीं है।

एक साधकने मुझसे कहा था—'हमारे कृष्ण जल गये।' कृष्ण कभी नहीं जलते। मैं निराकार परमात्मा या ब्रह्मकी बात नहीं कहता। भगवान्‌का साकार विग्रह भी कर्मवश उत्पन्न नहीं होता, वह तो चिन्मय है। भगवान् भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये अपनी इच्छासे ही साकार शरीर धारण करते हैं। वे देह धारण करते हुए भी देहहीन हैं, आँखोंवाले होकर भी नेत्रहीन हैं, हाथ-पाँववाले दिखायी देनेपर भी कर-चरणादिशून्य भगवान्‌के विषयमें ऐसी ही विपरीत बातें कही जाती हैं। गोसाईं तुलसीदासजी कहते हैं—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।
आननरहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।

सारे नेत्र उन्हींके नेत्र हैं, सारे हाथ उन्हींके हाथ हैं, सारे

चरण उन्हींके चरण हैं और सारे मुख उन्हींके मुख हैं। उनका देह दिव्य और चिन्मय होता है। इसलिये इसमें कोई अमङ्गलकी बात नहीं है।

इसके सिवा एक दूसरी बात है। इस आगके द्वारा भगवान्ने यह शिक्षा दी है कि साधकको इस प्रकार अपना सर्वस्व स्वाहा कर देना होगा।

भगवान् कहते हैं—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

भगवान्ने सभी धर्मोंको त्याग करके अपनी शरणमें आनेके लिये कहा है।

यदि हमने कुछ भी अपने लिये बचाकर रख लिया तो सर्वस्व समर्पण नहीं होगा। बंगलामें एक कहावत है—

जे करे आमारी आश। तार करि सर्वनाश।

जबतक सर्वनाश नहीं होता, तबतक भगवान् नहीं मिलते। इसके लिये तो तन, मन, धन सभी भगवान्पर निछावर कर देना होगा। जबतक ऐसा भाव रहेगा कि 'यह शरीर मेरा है' तबतक भगवान् नहीं मिलेंगे।

भगवान्ने कहा है—

'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।'

मन और बुद्धि भी भगवान्को ही सौंप दो। जो बुद्धि मायासे आवृत रहती है, वह भगवान्को नहीं जान सकती। यदि सर्वथा भगवान्पर ही अवलम्बित रहा जायगा तो वे स्वयं ही अपना ज्ञान दे देंगे। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

भगवान् कहते हैं—बुद्धियोग तो मैं दे दूँगा। तुम केवल इतना करो कि मन भगवान्में ही लगा रहे, प्राण भगवान्में ही रहें, ऐसा निश्चय करो कि हम निरन्तर भजन करते रहेंगे। भगवान् कैसे हैं? यह बात तो भगवान् स्वयं समझा देंगे।

भगवान्के स्वरूपके विषयमें अनेकों मत हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे वे सभी ठीक हैं। गीतापर महापुरुषोंके जितने भाष्य हैं, वे सब यथार्थ ही हैं। गीता एक ग्रन्थ है, उसमें जिसके लिये जो बात उपयुक्त हो उसे ही वह ले ले। सारे चश्मे चश्मे ही हैं, परंतु उनमें जो जिसकी आँखपर लग जाय उसके लिये वही उपयोगी है। इसी प्रकार अधिकारी-भेदसे शास्त्र भी भिन्न-भिन्न रूपसे सबके लिये उपयोगी है। मनुष्य जब कोई रंगीन चश्मा लगा लेता है तो उसे वह पदार्थ उसी रंगका दिखायी देने लगता है। जिस चश्मेमें कोई रंग नहीं होता, उसीसे वस्तुका यथार्थ रूप देखा जा सकता है। जीवकी दृष्टि संकुचित है, उससे वस्तुका यथार्थ ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है। इसलिये अपनी बुद्धिको अलग रखकर सब प्रकार केवल भगवान्पर ही अवलम्बन करना चाहिये। भगवत्कृपासे कोई भी बात दुःसाध्य नहीं है। भगवान् कहते हैं—

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।'

बस, मेरा चिन्तन करते रहो, तर जाओगे। भगवान्की कृपामें जो बल है वह अन्य किसी भी साधनमें नहीं है। भगवान्का दर्शन होनेपर ध्रुव घबड़ा गया, वह यह नहीं समझ सका कि मैं किस प्रकार भगवान्की स्तुति करूँ? वह भक्त था, तपस्वी था, परंतु ज्ञानी नहीं था। भगवान् उसके भावको समझ गये। उन्होंने उसके कपोलसे अपने शङ्खका स्पर्श करा दिया। बस, उसका स्पर्श होते ही ध्रुवको ज्ञान हो गया। जो ज्ञान भगवान्की कृपासे हो उसमें क्या कमी रह सकती है? आत्मबल भी भगवान्का ही बल है, परंतु हम बहुत बार उसके नामपर शारीरिक बल और बुद्धिबलका ही आश्रय ले लेते हैं। अहंकार तो अनात्मा ही है, यह तो आसुरी प्रकृतिके पुरुषोंमें ही देखा जाता है—

'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।'

जो लोग आसुरी प्रकृतिके होते हैं, उन्हें ही अपने तुच्छ बलका अभिमान होता है, जिससे विमोहित होकर वे किसीको कुछ नहीं समझते और ऐसा मानते हैं कि—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥

ये सब आसुरी बल हैं, इन्हें छोड़कर हमें उस बलका आश्रय लेना चाहिये जो भगवान्का बल है। उस बलके प्राप्त होनेपर न जाने क्या हो जाय?

जब जनकजीके यहाँ धनुषयज्ञमें आये हुए सब राजालोग

हार गये और रावण तथा वाणासुर-जैसे योद्धा भी उसे प्रणाम करके चले गये तो जनकजीको बड़ा खेद हुआ। उनके मुखसे सहसा निकल पड़ा *'बीर बिहीन मही मैं जानी।'* जनकजीकी यह बात लक्ष्मणजीको अच्छी नहीं लगी। भला, जहाँ उनके इष्टदेव रघुकुलभूषण भगवान् राम विद्यमान हों वहाँ ऐसी निराशापूर्ण बात वे कैसे सुन सकते थे? वे जनकजीकी उक्तिसे रोषमें भरकर बहुत-सी बातें कह गये—

जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं।

'सुमेरु पहाड़को मूलीकी तरह तोड़ दूँ, ब्रह्माण्डको कच्चे घड़ेकी भाँति फोड़ डालूँ, धनुषको कमलनालकी तरह चढ़ा दूँ इत्यादि।' परंतु फिर उन्होंने सोचा यह तू क्या कह रहा है? तुझे किसका बल है? तब वे विवेक-दृष्टिसे बोले—

'तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।'

हे नाथ! इस धनुषको मैं बरसाती छत्रकके डंठलकी तरह तोड़ सकता हूँ। किसका बल पाकर तोड़ सकते हो? *'तव प्रताप बल'*—आपके प्रतापके भरोसे। जिस समय लक्ष्मणजीने कोपमें भरकर *'तव प्रताप बल नाथ'* ऐसा कहा—उस समय, *'डगमगानि महि दिग्गज डोले।'* पृथ्वी डगमगाने लगी और दिग्गज अपने स्थानोंसे विचलित हो गये; क्योंकि अब उन्होंने भगवान्के बलका आश्रय ले लिया था।

बहुत बार हमलोग अहंकार और मोहसे समझ लेते हैं कि हम यह कार्य कर लेंगे। परंतु यह हमारा मोह ही है, बिना भगवान्का बल प्राप्त किये हम कुछ भी नहीं कर सकते।

अर्जुनपर भगवान्का बड़ा स्नेह है। भगवान् कहते हैं—'मैं पुरुषोत्तम हूँ, पुरुष और प्रकृति— ये दोनों ही मेरी प्रकृति हैं।' ये दोनों ही भगवान्से अभिन्न हैं, परंतु अभिन्न होनेपर भी उनके कर्म भिन्न-भिन्न हैं। यह ज्ञान देकर वे पुरुषोत्तम कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥

(गीता १८।६३)

'अर्जुन! मैंने तुझे यह गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान बतला दिया, इसे अच्छी तरह विचारकर तुझे जो अच्छा लगे वह कर।' 'तुझे जो अच्छा लगे वह कर'— यह बात भगवान्ने गैर पुरुषोंकी-सी कह दी है। किंतु इसके पश्चात् वे पुनः कहते हैं—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

अर्थात् 'हे महाबाहो! मेरी एक बहुत अच्छी बात और सुन। तू मुझे अत्यन्त प्रिय है, इसलिये मैं तेरे हितकी बात कहता हूँ।' ऐसा कहकर भगवान् अपने ऊपर कहे हुए और आगे कहे जानेवाले शब्दोंमें अन्तर दिखलाते हैं। कोई भी भला आदमी अन्य पुरुषोंके सामने यह नहीं कहता कि 'मैं यह बहुत अच्छी बात कहता हूँ।' जहाँ अत्यन्त अन्तरङ्गता होती है वहाँ तो ऐसा नहीं कहा जाता। अर्जुनपर भगवान्का अत्यन्त स्नेह है। अर्जुनके लिये ही भगवान्ने खाण्डवदाह कराया। उसके पीछे जब उनके पास इन्द्र आये तो भगवान्ने उनसे यही माँगा कि अर्जुनके साथ मेरी सर्वदा मैत्री बनी रहे। जिस समय उत्तराके गर्भसे मरा हुआ बालक उत्पन्न हुआ, उस समय भगवान्ने यह शपथ करके कहा था कि 'यदि अर्जुनमें मेरी निष्कपट मैत्री रही हो तो यह बालक जी उठे।'

इस प्रकार अर्जुनके प्रति भगवान्के घनिष्ठ प्रेमके बहुत-से प्रमाण हैं। अतः यहाँ भी भगवान् उसे अपना अत्यन्त प्रेमी स्वीकार कर उसे **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'** इत्यादि श्लोकसे सर्वधर्मपरित्यागपूर्वक शरणागतिका ही उपदेश करते हैं। इस श्लोकके बहुत-से अर्थ हैं और वे सभी ठीक हैं। यदि कहा जाय कि इसमें इन्द्रियके धर्मोंका त्याग बतलाया गया है तो अर्जुन फिर भी इन्द्रियोंसे उनके विषय ग्रहण करता ही था। यदि कहो कि सर्वकर्म-संन्यासकी बात कही गयी है तो अर्जुनने वैसा भी किया नहीं। यदि कहो कि यह बात अर्जुनके लिये नहीं कही गयी, अपितु उन्हें लक्ष्य करके अन्य सब मुमुक्षुओंके लिये कही गयी थी तो भगवान् स्वयं ही ऐसा क्यों कह रहे हैं कि मैं तेरे अत्यन्त हितकी बात कहता हूँ।

अतः ऐसा कहकर भगवान्ने शरणागतिकी ही बात कही है। इसमें सारे धर्मोंको त्यागकर केवल वही धर्म रहता है जो भगवान् कहें। भगवान् कहते हैं—'तू सारे धर्मोंका आश्रय छोड़कर मेरे ही शरण हो जा, फिर तेरे सारे पाप-पुण्योंकी जिम्मेवारी मेरे ऊपर है।' शरणागति होनेपर तो कोई भी पाप

रहता नहीं, क्योंकि तब तो सारी क्रियाएँ भगवान्‌के लिये ही की जाती हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

जो सारे काम भगवान्‌के लिये ही करता है, भगवान्‌के लिये ही भोजन करता है, भगवान्‌के लिये ही हवन करता है और भगवान्‌के लिये ही दान और तप करता है, इस प्रकार जिसकी सारी चेष्टाएँ भगवदर्थ ही होती हैं, उसे कोई पाप कैसे लग सकता है? जब हम अपना घर किसी दूसरे व्यक्तिको दान कर देते हैं, उसकी मरम्मतका भार भी उसीपर आ जाता है। भाव रहना चाहिये सर्वार्पणका, सर्वार्पणमें कोई शर्त न रहे। भगवान् हमें मोक्ष दे दें, स्वर्ग दे दें, अमुक वस्तु दे दें—ऐसा कहना बहुत कुछ अपने लिये रखकर कहना होता है। वहाँ सर्वसमर्पण नहीं है। ये अहंकारकी बातें हैं। जहाँतक अहंकार है, वहाँतक सर्वस्व समर्पण नहीं है। इसमें यह कहनेकी भी गुंजाइश नहीं है कि हमने अर्पण किया। तब तो हम भगवान्‌के हो जाते हैं, भगवान्‌में हो जाते हैं और वही हो जाते हैं। जिस प्रकार पतिव्रता पत्नीपर पतिका पूर्ण अधिकार रहता है—पतिका गोत्र ही उसका भी गोत्र हो जाता है, उसी प्रकार शरणागत भक्तपर भगवान्‌का पूर्ण अधिकार हो जाता है—भगवान्‌का गोत्र ही उसका गोत्र है। इसीसे वैष्णव धर्मकी दीक्षा लेनेपर साधक अच्युतगोत्री हो जाता है। शरणागत भक्तका सर्वस्व भगवान्‌का ही है, उसमें कम-से-कम चार बातें अवश्य होनी चाहिये—

१-कुछ भी न चाहे—न कोई इच्छा करे, मुक्तिकी भी नहीं।
२-भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें आनन्द माने।
३-भगवान्‌के किसी विधानमें विरोध न समझे।
४-निरन्तर भगवत्स्मरण रहे।

भगवान् ही सब कुछ करते हैं, परंतु हम उसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर लिये रहते हैं। इसीलिये हमें अपने कर्तृत्वका अभिमान रहता है और हमें उसका फल भी भोगना पड़ता है। अतः हमें यह सोचनेका कोई हक नहीं है कि भगवान् ऐसा करें—वे ऐसा करते तो अच्छा होता। हमें वे जैसा करें उसीमें प्रसन्न रहना चाहिये। गीताका पर्यवसान प्रपत्तिमें ही है।

अर्जुन सदा श्रीकृष्णके साथ रहे, किंतु जब उन्होंने कहा **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** तो भगवान्‌ने उसका सारा मोह नष्ट कर दिया। और जब अन्तमें अर्जुनने कहा कि **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'** तो बस, गीता समाप्त हो गयी।

इस प्रकार हमें चाहिये कि यह जो आग लगी है, इससे भगवान्‌के प्रति सर्वस्व समर्पणका भाव जाग्रत् करें और उसमें जो चीजें जल गयी हैं, उनके लिये क्षोभ न करके उन्हें भगवान्‌को समर्पण हुई ही समझें। यदि हम मृत्युको निर्वाण मानें तो हमारा निर्वाण हो सकता है। इसी प्रकार यदि हम इसे भगवत्समर्पण मानेंगे तो यह सब भगवान्‌को ही समर्पण हो जायगा। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

अर्थात् 'जो पुरुष अन्तिम समयपर मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करके जाता है, वह मेरा चिन्तन करनेके कारण मेरे ही स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।' अतः हमें निश्चिन्त रहना चाहिये। भगवान्‌का स्मरण करते हुए जिस समय भी हमारी मृत्यु होगी हम भगवान्‌को ही प्राप्त होंगे।

★

जो सब भूतोंमें आत्माको देखता है और आत्माको सब भूतोंमें, वह किसीसे घृणा नहीं करता। जब मनुष्य यह जानता है कि समस्त भूत आत्मा ही हैं, और सबमें एकत्व देखता है फिर मोह और शोक कहाँ है?—उपनिषद्

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि विषय-कामनामें फँसा हुआ मन जब-जब परमात्माको छोड़कर अन्यत्र जाय तब-तब वहाँसे लौटाकर हृदयस्थित भगवान्‌में लगावे। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करनेसे साधकका चित्त थोड़े ही कालमें ईंधनरहित अग्निकी भाँति शान्त हो जाता है।—श्रीमद्भागवत

* * *

भक्तिकी महिमा

(आचार्य डॉ॰ श्रीत्रिनाथजी शर्मा, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰)

परमपदकी प्राप्तिके लिये प्रभुको छोड़कर अन्य सुगम मार्ग नहीं है। भगवती श्रुति कहती है—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

'भगवान्‌के तत्त्वको पूर्णतया जाने बिना भवसागरको पार करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है।'

जिस धर्मसे मानव-हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति भक्ति जगे वही धर्म श्रेष्ठ है। जीवात्मा अंश है एवं परमात्मा अंशी है। अंश अंशीसे पृथक् होकर दुःख-कष्टका अनुभव करता है। अंशीरूप परमात्मासे मिल जानेपर जीव कृतार्थ हो जाता है। नर नारायणके अंश हैं। नर नारायणमें जबतक न मिल जाय, तबतक उसे शान्ति न मिलेगी। ज्ञानी पुरुष ज्ञानसे अभेद सिद्ध करता है। वैष्णव संत प्रेमद्वारा अद्वैत सिद्ध करते हैं। प्रेमकी परिपूर्णता अद्वैतमें ही है। भक्त तथा भगवान् प्रेमसे एक होते हैं। गोपी और कृष्ण एक ही थे।

कर्म, भक्ति, ज्ञान—ये तीन मार्ग हैं। इनमें भक्तिमार्ग राजमार्ग है। इस मार्गपर चलनेसे सरलतासे प्रभु मिलते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति॥

उपनिषद्‌में कहा है—जीव और ईश्वर साथ-साथ बैठे हुए हैं। फिर भी जीव ईश्वरको पहचानता नहीं है। हृदयमें कोई वासना न रहनेपर भक्तिसे आनन्द मिलता है। सभी वस्तुओंको प्रभुको अर्पण करना ही भक्ति है। भोग भक्तिका बाधक है। संयम तथा सदाचार भक्तिके साधक हैं। ज्ञान, वैराग्यसहित भक्तिसे ईश्वर-साक्षात्कार होता है। ज्ञानमार्गमें इन्द्रियोंका निरोध अपेक्षित है। भक्तिमार्गमें इन्द्रियोंको प्रभुके मार्गमें ले जाना होता है। प्रभुके ज्ञानसे ज्ञाता और ज्ञेय एक ही होता है। प्रेमरहित ज्ञानकी शोभा नहीं है। ज्ञानका अनुभव भक्तिसे होता है। भक्तोंको अमरावती अच्छी नहीं लगती, काञ्चनमय सुमेरु पर्वत अच्छा नहीं लगता, बल्कि प्रभुके चरणारविन्द-भक्तिसे जो अनुपम सुख उन्हें मिलता है, वह अन्यत्र विरल है। कहा है—

आभाति शक्रनगरी न गरीयसी मे
प्रीतिं च सिञ्चति न काञ्चनकाञ्चनाद्रिः।
जाने परं हरशरण्यमरण्यमेव
यत्र त्वदङ्घ्रिनलिनार्चननिर्वृतिः स्यात्॥

(स्तुतिकुसुमा॰ ९।७)

भक्तका उत्प्रेक्षापूर्ण कथन है कि हे प्रभो! अपने प्रेमी भक्तोंको संसार-दावानलसे बचानेके लिये आपने किस शीतल वस्तुसे भक्तिका निर्माण किया। या तो आपने अमृतसे पूर्ण चन्द्रकलाको निष्पीडित कर उसकी शीतलमयी अमृतधारासे भक्तिका निर्माण किया या अपने सिरपर स्थित गङ्गाकी निर्मल धारासे किया अथवा अपने हाथमें स्थित अमृत-कलशके सुधाधारासे निर्माण किया—

किं निर्मिता मुकुटचन्द्रकलां निपीड्य
किं वा शिरःशरणनिर्झरिणीजलेन।
किं वा करस्थकलशामृतसम्प्लवेन
भक्तिस्त्वया प्रणयिनां भवतापशान्त्यै॥

(स्तुतिकुसुमा॰ ९।९)

भक्तिके बिना प्रभुका अनुग्रह नहीं होता है। अनुग्रहके बिना भक्तिभाव नहीं होता है। प्रभुके अनुग्रह तथा भक्तियोगका बीज तथा अङ्कुरके समान आपसमें कार्य-कारण-भाव है, अतएव कहा गया है—

नानुग्रहस्तव विना त्वयि भक्तियोगं
नानुग्रहं तव विना त्वयि भक्तियोगः।
बीजप्ररोहवदसावनयोर्न कस्य
भूत्यै परस्परनिमित्तनिमित्तिभावः॥

(स्तुतिकुसुमा॰ ९।४३)

यह शरीर हाड़-मांस तथा रुधिरका पिण्ड है। संसार अनित्य है। स्त्री-पुत्रादि ममताको छोड़कर वैराग्यरसिक होकर प्रभुकी भक्तिमें सदा आसक्त रहना चाहिये। क्योंकि कहा गया है—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।

पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥

परमेश्वरके प्रति परमानुरक्तिको भक्ति कहते हैं। जिसमें सुखोपलब्धि होती है, वह अपरा भक्ति है तथा जिसमें शान्ति होती है वह परा भक्ति है। भक्तिसिद्धान्तका सर्वस्व ईश्वर है। विषयभोग तथा आसक्तिका परित्याग करके निरन्तर भगवद्-भजनसे प्रभुके आनन्दरसात्मक स्वरूपका आविर्भाव होकर अन्तःकरणवृत्तिको भगवदाकार बना देता है और यही भक्ति है, रस है परमेश्वर। रसात्मिका वृत्ति है भक्ति।

नारदभक्तिदर्शनसे स्पष्ट होता है कि भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं होता। भगवान्‌की भक्तिमें सबकी समता कही गयी है। भक्तोंका यह विश्वास है कि भक्तिमें जो आनन्द है वह निर्वाणमें नहीं है।

भगवान् गीतामें कहते हैं कि यद्यपि मैं सबके लिये समान हूँ, तथापि जो मेरी विशेष श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक भक्ति करता है, मैं भी उसी प्रकार उसका कल्याण करता हूँ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।

भक्तिभावसे शरणागत होनेपर प्रभु रक्षा करते हैं और भक्ति प्राप्त होनेपर सर्वत्र प्रभुका दर्शन प्राप्त हो सकता है। अतएव भक्तिकी महिमामें कहा भी गया है—

भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम्॥

इसका भाव यह है कि भक्ति या आसक्ति भगवान् शङ्करके चरणोंमें हो न कि धन-सम्पत्तिमें, व्यसन शास्त्रोंमें हो स्त्री आदिमें नहीं। इच्छा निर्मल यशकी हो, चिरकालतक व्यर्थ जीवित रहनेकी नहीं। महान् पुरुषोंमें प्रायः ऐसा ही देखा जाता है।

विवेक-वाटिका

मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी माया बड़ी ही दुस्तर है। जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं।—भगवान् श्रीकृष्ण

जो त्रिलोकीके सम्पूर्ण वैभवके लिये भी आधे क्षणके लिये देवदुर्लभ भगवान्‌के चरणकमलोंके ध्यानको नहीं छोड़ता, वही मुख्य भक्त है।—श्रीमद्भागवत

जो मनुष्य स्त्री, पुत्र, धनादिमें आसक्त है, उसकी बुद्धि मोहजालमें फँसकर धर्मपथसे डिग जाती है। अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको उचित है कि वह हर तरहसे सर्वप्रथम काम-क्रोधके प्रबल वेगको रोके। ये काम-क्रोध कल्याणमार्गके सबसे बड़े डाकू हैं।—देवर्षि नारद

जो सब भूतप्राणियोंमें परमात्माको और परमात्मामें सब प्राणियोंको देखता है, वह समदर्शी और आत्मयज्ञ करनेवाला पुरुष स्वाराज्य (मोक्ष) को प्राप्त होता है।—मनु महाराज

भगवान्‌का आश्रय ही संसारासक्त लोगोंके लिये संसारचक्रका नाश करनेवाला है। इसीको विद्वान् लोग ब्रह्मनिर्वाण-सुख कहते हैं, अतएव तुम लोग अपने-अपने हृदयमें हृदीश्वर भगवान्‌का भजन करो।—भक्तराज प्रह्लाद

जो सर्वप्राणियोंके हितकारी हैं, किसीमें दोषारोपण नहीं करते, किसीसे डाह नहीं करते, इन्द्रियों और मनको वशमें रखते हैं, निःस्पृह हैं और शान्त हैं, वे ही उत्तम भक्त हैं।—बृहन्नारदीयपुराण

जिसको श्रीभगवान्‌की याद आते ही रोमाञ्च हो जाय, आनन्दके आँसू बहने लगें, शरीरका रंग बदल जाय और 'हे श्रीकृष्ण ! हे गोविन्द !! हे हरे !!!' मधुर स्वरसे इस प्रकार नामगान करता हुआ जो रात-दिन भगवान्‌में चित्त लगाये रखे, वही श्रेष्ठ भक्त है।—गर्गसंहिता

वास्तवमें यह सब तमाशा स्वप्नके सदृश है, इसमें कुछ भी सार नहीं है। तुम इस बातको बिना किसी शील-संकोचके ग्रहण कर लो कि संसारकी स्थिति निरन्तर परिवर्तनशील ही रहती है।—बुद्धदेव

सच्चा विरक्त उसीको कहना चाहिये जो मानके स्थानसे दूर रहता है। अपना नया सम्प्रदाय नहीं चलाता। जीविकाके लिये दीन होकर किसीकी खुशामद नहीं करता। स्त्रियोंके संगसे सदा दूर रहता है।—एकनाथ

साधकोंके प्रति—

[वर्णनातीतका वर्णन]

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[साधकको चाहिये कि वह एकान्तमें बैठकर शुद्ध वृत्तिसे इस लेखको पढ़े। केवल शब्दोंपर दृष्टि न रखकर अर्थ एवं तत्त्वकी तरफ दृष्टि रखते हुए पढ़े, पढ़कर विचार करे और विचार करके भीतरसे चुप हो जाय तो तत्त्वमें स्वतःसिद्ध स्थिरता जाग्रत् हो जायगी अर्थात् सहजावस्थाका अनुभव हो जायगा[1] और मनुष्यजीवन सफल हो जायगा।]

सत्-तत्त्व एक ही है। उस तत्त्वका वर्णन नहीं होता; क्योंकि वह मन (बुद्धि) और वाणीका विषय नहीं है—**'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** (तैत्तिरीय० २।९), ***'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥'*** (मानस १।३४१।७)। जहाँ वर्णन है, वहाँ तत्त्व नहीं है और जहाँ तत्त्व है, वहाँ वर्णन नहीं है। उस तत्त्वकी तरफ लक्ष्य नहीं है, इसलिये केवल उसका लक्ष्य करानेके लिये ही उसका वर्णन किया जाता है। परंतु जब उसका लक्ष्य न करके कोरा सीख लेते हैं, तब वर्णन-ही-वर्णन होता है, तत्त्व नहीं मिलता। उसका लक्ष्य रखकर वर्णन करनेसे वर्णन तो नहीं रहता, पर तत्त्व रह जाता है। तात्पर्य है कि उसका वर्णन करते-करते जब वाणी रुक जाती है, उसका चिन्तन करते-करते जब मन रुक जाता है, तब स्वतः वह तत्त्व रह जाता है और प्राप्त हो जाता है। वास्तवमें वह पहलेसे ही प्राप्त था, केवल अप्राप्तिका वहम मिट जाता है।

प्रकृतिजन्य कोई भी क्रिया, पदार्थ, वृत्ति, चिन्तन उस तत्त्वतक नहीं पहुँचता। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वतक प्रकृतिजन्य पदार्थ कैसे पहुँच सकता है? अतः तत्त्वका वर्णन नहीं होता, प्रत्युत प्राप्ति होती है। उसकी प्राप्ति भी अप्राप्तिकी अपेक्षासे कही जाती है अर्थात् उसको अप्राप्त माना है, इसलिये उसकी प्राप्ति कही जाती है। वास्तवमें वह तत्त्व स्वतः सबको नित्य-निरन्तर प्राप्त है। अप्राप्तिकी तो मान्यतामात्र है। असत्को सत् माननेसे, अप्राप्तको प्राप्त माननेसे ही वह तत्त्व अप्राप्तकी तरह दीखने लग गया। असत्को जितनी सत्ता देंगे अर्थात् महत्त्व देंगे, उतनी ही उसकी सत्ता दीखेगी और वह तत्त्व अप्राप्त दीखेगा। अप्राप्त दीखनेपर भी वह नित्यप्राप्त है अर्थात् न दीखनेपर भी तत्त्वमें कभी किंचिन्मात्र भी फर्क नहीं पड़ता। यह सिद्धान्त है कि प्राप्ति उसीकी होती है, जो सदासे प्राप्त है और निवृत्ति उसीकी होती है, जिसकी सदासे निवृत्ति है। तात्पर्य है कि मिलेगा वही, जो मिला हुआ है और बिछुड़ेगा वही, जो बिछुड़ा हुआ है। नया कुछ भी मिलनेवाला और बिछुड़नेवाला नहीं है। नया मिलेगा तो वह ठहरेगा नहीं, बिछुड़ ही जायगा।

जितने भी भेद हैं, सब-के-सब प्रकृति (असत्)में ही हैं। तत्त्वमें किंचिन्मात्र भी कोई भेद नहीं है। जब प्राकृत पदार्थोंकी सत्ता मानते हुए उनको महत्त्व देते हुए उस तत्त्वका वर्णन करते हैं, तब वह तत्त्व केवल बुद्धिका विषय हो जाता है और उसमें भेद दीखने लग जाता है[2]। सभी भेद सापेक्ष होते हैं। अपेक्षा छोड़ें तो कोई भेद नहीं रहता, एक निरपेक्ष तत्त्व रह जाता है। जैसे, दिनकी अपेक्षा रात है और रातकी अपेक्षा दिन है, पर सूर्यमें न दिन है, न रात है अर्थात् वहाँ नित्यप्रकाश है। समुद्रकी अपेक्षा तरंग है और तरंगकी अपेक्षा समुद्र है, पर जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न तरंग है[3]। ऐसे ही गुणोंकी अपेक्षासे उस तत्त्वको सगुण-निर्गुण और आकारकी

---

[1] १-उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा। कनिष्ठा शास्त्रचिन्ता च तीर्थयात्राऽधमाऽधमा॥

[2] २-शास्त्रोंमें तत्त्वका जो वर्णन आता है, वह हमारी दृष्टिसे है। हमने असत्की सत्ता मान रखी है, इसलिये शास्त्र हमारी दृष्टिके अनुसार हमारी भाषामें असत्की निवृत्ति और सत्-तत्त्वका वर्णन करते हैं। यही कारण है कि दृष्टिभेदसे दर्शन अनेक हैं। अनेक दर्शन होते हुए भी तत्त्व एक है। जबतक द्रष्टा, ज्ञाता, दार्शनिक और दर्शन हैं, तबतक तत्त्वके वर्णनमें भेद है। जबतक भेद है, तबतक तत्त्व नहीं है, क्योंकि तत्त्वमें भेद नहीं है। दूसरे शब्दोंमें, जबतक अहम् (जड़-चेतनकी ग्रन्थि) है, तबतक भेद है। अहम्के मिटनेपर कोई भेद नहीं रहता, केवल एक तत्त्व ('है') रह जाता है।

[3] ३- ईश्वर और जीवके विषयमें दो तरहका वर्णन है—पहला, ईश्वर समुद्र है और मैं उसकी तरंग हूँ अर्थात् तरंग समुद्रकी है; और दूसरा, मेरा स्वरूप समुद्र है और ईश्वर उसकी तरंग है अर्थात् समुद्र तरंगका है। इन दोनोंमें तरंग समुद्रकी है—यह कहना तो ठीक दीखता है, पर समुद्र

अपेक्षासे उस तत्त्वको साकार-निराकार कहते हैं। वास्तवमें तत्त्व न सगुण है, न निर्गुण है; न साकार है, न निराकार है।

वह एक ही तत्त्व प्रकाश्यकी अपेक्षासे 'प्रकाशक', आश्रितकी अपेक्षासे 'आश्रय' और आधेयकी अपेक्षासे 'आधार' कहा जाता है। प्रकाश्य, आश्रित और आधेय तो व्याप्य, विनाशी एवं अनेक हैं, पर प्रकाशक, आश्रय और आधार व्यापक, अविनाशी एवं एक है। प्रकाश्य, आश्रित और आधेय तो नहीं रहेंगे, पर प्रकाशक, आश्रय और आधार रह जायगा; किंतु प्रकाशक, आश्रय और आधार ये नाम नहीं रहेंगे, प्रत्युत एक तत्त्व रहेगा। तात्पर्य है कि तत्त्व न प्रकाश्य है, न प्रकाशक है; न आश्रित है, न आश्रय है; न आधेय है, न आधार है।

वह एक ही तत्त्व शरीरके सम्बन्धसे शरीरी, क्षेत्रके सम्बन्धसे क्षेत्री तथा क्षेत्रज्ञ, क्षरके सम्बन्धसे अक्षर, दृश्यके सम्बन्धसे द्रष्टा और साक्ष्यके सम्बन्धसे साक्षी कहलाता है। तात्पर्य है कि तत्त्व न शरीर है, न शरीरी है, न क्षेत्र है, न क्षेत्री तथा क्षेत्रज्ञ है; न क्षर है, न अक्षर है; न दृश्य है, न द्रष्टा है; न साक्ष्य है, न साक्षी है।

वह तत्त्व अनेककी अपेक्षासे एक है। जड़की अपेक्षासे वह चेतन है। असत्‌की अपेक्षासे वह सत् है। अभावकी अपेक्षासे वह भावरूप है। अनित्यकी अपेक्षासे वह नित्य है। उत्पन्न वस्तुकी अपेक्षासे वह अनुत्पन्न है। नाशवान्‌की अपेक्षासे वह अविनाशी है। असत्-जड़-दुःखरूप संसारकी अपेक्षासे वह सत्-चित्-आनन्दरूप है। प्राकृत पदार्थोंकी अपेक्षासे वह प्राप्त अथवा अप्राप्त है। कठिनताकी अपेक्षासे उसको सुगम कहते हैं, नहीं तो जो नित्यप्राप्त है, उसमें क्या कठिनता और क्या सुगमता ? तात्पर्य है कि तत्त्व न अनेक है, न एक है; न जड़ है, न चेतन है; न असत् है, न सत् है; न अभावरूप है, न भावरूप है; न अनित्य है, न नित्य है; न उत्पन्न है, न अनुत्पन्न है; न नाशवान् है, न अविनाशी है; न असत्-जड़-दुःखरूप है, न सत्-चित्-आनन्दरूप है; न प्राप्त है, न अप्राप्त है; न कठिन है, न सुगम है अर्थात् शब्दोंके द्वारा उस तत्त्वका वर्णन नहीं होता।

वह तत्त्व परतःसिद्धकी अपेक्षासे स्वतःसिद्ध है। अस्वाभाविककी अपेक्षासे वह स्वाभाविक है। अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकका आरोप कर लिया तो 'बन्धन' हो गया, स्वाभाविकमें अस्वाभाविकताका आरोप कर लिया तो 'संसार' हो गया और अस्वाभाविकताको अस्वीकार करके स्वाभाविकका अनुभव किया तो 'तत्त्व' हो गया और अतत्त्वसे मुक्ति हो गयी अर्थात् है ज्यों हो गया ! तत्त्व न परतःसिद्ध है, न स्वतःसिद्ध है, न स्वाभाविक है, न अस्वाभाविक है। परतःसिद्ध-स्वतःसिद्ध, स्वाभाविक-अस्वाभाविक तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है।

उस तत्त्वको 'है' कहते हैं। वास्तवमें वह 'नहीं' की अपेक्षासे 'है' नहीं है, प्रत्युत निरपेक्ष है। अगर हम 'नहीं'की सत्ता मानें तो फिर उसको 'नहीं' कहना बनता ही नहीं; क्योंकि 'नहीं' और सत्तामें परस्परविरोध है अर्थात् जो 'नहीं' है, उसकी सत्ता कैसे और जिसकी सत्ता है, वह 'नहीं' कैसे ? वास्तवमें 'नहीं' की सत्ता ही नहीं है। परंतु जब भूलसे 'नहीं' की सत्ता मान लेते हैं, तब उस भूलको मिटानेके लिये 'यह नहीं है, तत्त्व है' ऐसा कहते हैं। जब 'नहीं' की सत्ता ही नहीं है, तब तत्त्वको 'है' कहना भी बनता नहीं। तात्पर्य है कि 'नहीं'की अपेक्षासे ही तत्त्वको 'है' कहते हैं। वास्तवमें तत्त्व न 'नहीं' है और न 'है' है। गीतामें आया है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

'जो ज्ञेय है, उस तत्त्वका मैं अच्छी तरहसे वर्णन करूँगा, जिसको जानकर मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता है। वह तत्त्व अनादि और परब्रह्म है। उसको न सत् कहा जा सकता

तरंगका है—यह कहना ठीक नहीं दीखता; क्योंकि समुद्र अपेक्षाकृत नित्य है और तरंग अनित्य (क्षणभंगुर) है। अतः तरंग समुद्रकी होती है, समुद्र तरंगका नहीं होता। अगर अपनेको समुद्र और ईश्वरको तरंग मानें तो इस मान्यतासे अनर्थ होगा; क्योंकि ऐसा माननेसे अभिमान पैदा हो जायगा तथा अहम् (चिज्जडग्रन्थि अर्थात् बन्धन) तो नित्य रहेगा और ईश्वर अनित्य हो जायगा ! कारण कि जीवमें अनादिकालसे अहम् (व्यक्तित्व)का अभ्यास पड़ा हुआ है। अतः जहाँ स्वरूपको अहम् कहेंगे वहाँ वही अहम् आयेगा, जो अनादिकालसे है। उस अहम्‌के मिटनेसे ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त दोनों बातोंके सिवा तीसरी एक विलक्षण बात है कि जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न तरंग है अर्थात् वहाँ समुद्र और तरंगका भेद नहीं है। समुद्र और तरंग तो सापेक्ष हैं, पर जल-तत्त्व निरपेक्ष है।

है और न असत् कहा जा सकता है।'[1]

तात्पर्य है कि उस तत्त्वका आदि (आरम्भ) नहीं है। जो सदासे है, उसका आदि कैसे ? सब अपर हैं, वह पर है। वह न सत् है, न असत् है। आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्का भेद प्रकृतिके सम्बन्धसे है। वह तत्त्व तो आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्से विलक्षण है। इस प्रकार भगवान्ने ज्ञेय-तत्त्वका जो वर्णन किया है, वह वास्तवमें वर्णन नहीं है, प्रत्युत लक्षक (लक्ष्यकी तरफ दृष्टि करानेवाला) है। इसका तात्पर्य ज्ञेय-तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है, कोरा वर्णन करनेमें नहीं।

संतोंकी वाणीमें भी आया है कि न जाग्रत् है, न स्वप्न है; न सुषुप्ति है, न तुरीय है; न बन्धन है, न मोक्ष है आदि-आदि। कारण कि ये सब तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। निरपेक्ष भी वास्तवमें सापेक्षकी अपेक्षासे है। तत्त्व भी वास्तवमें अतत्त्वकी अपेक्षासे कहा जाता है; अतः उसको किस नामसे कहें ? उसका कोई नाम नहीं है अर्थात् वहाँ शब्दकी गति नहीं है। शब्दसे केवल उसका लक्ष्य होता है[2]।

तत्त्व न प्रत्यक्ष है, न अप्रत्यक्ष है; न परोक्ष है, न अपरोक्ष है; न छोटा है, न बड़ा है; न अंदर है, न बाहर है; न ऊपर है, न नीचे है; न नजदीक है, न दूर है; न भेद है, न अभेद है, न भेदाभेद है; न भिन्न है, न अभिन्न है, न भिन्नाभिन्न है। कारण कि ये सब तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। जैसे सूर्यमें न प्रकाश है, न अँधेरा है और न प्रकाश-अँधेरा दोनों हैं। कारण कि जहाँ प्रकाश है, वहाँ अँधेरा नहीं होता और जहाँ अँधेरा है, वहाँ प्रकाश नहीं होता, फिर प्रकाश-अँधेरा दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं ? ऐसे ही तत्त्वमें न ज्ञान है, न अज्ञान है और न ज्ञान-अज्ञान दोनों हैं। वहाँ न ज्ञाता है, न ज्ञान है, न ज्ञेय है; न प्रकाशक है, न प्रकाश है, न प्रकाश्य है; न द्रष्टा है, न दर्शन है, न दृश्य है; न ध्याता है, न ध्यान है, न ध्येय है। तात्पर्य है कि तत्त्वमें त्रिपुटीका सर्वथा अभाव है। कारण कि त्रिपुटी सापेक्ष है, पर तत्त्व निरपेक्ष है। वास्तवमें जहाँ स्थित होकर हम बोलते हैं, सुनते हैं, विचार करते हैं, वहीं सापेक्ष और निरपेक्षकी बात आती है; तत्त्व वास्तवमें न सापेक्ष है, न निरपेक्ष है।

वह तत्त्व वास्तवमें अनुभवरूप है। उसको गीताने 'स्मृति' कहा है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (१८।७३)। स्मृति भी विस्मृतिकी अपेक्षासे है; परंतु तत्त्वकी स्मृति विस्मृतिकी अपेक्षासे नहीं है, प्रत्युत अनुभवरूप है। कारण कि स्मृतिकी तो विस्मृति हो सकती है, पर अनुभवका अननुभव (विस्मृति) नहीं हो सकता। तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती, प्रत्युत विमुखता होती है। तात्पर्य है कि पहले ज्ञान था, फिर उसकी विस्मृति हो गयी—इस तरह तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती[3]। अगर ऐसी विस्मृति मानें तो स्मृति होनेके बाद फिर विस्मृति हो जायगी ! इसलिये गीतामें आया है—**'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्'** (४।३५) अर्थात् उसको जान लेनेके बाद फिर मोह नहीं होता। अभावरूप असत्को भावरूप मानकर महत्त्व देनेसे तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हट गयी—इसीको विस्मृति कहते हैं। वृत्तिका हटना और वृत्तिका लगना—यह भी साधककी दृष्टिसे है, तत्त्वकी दृष्टिसे नहीं। तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हटनेपर अथवा विमुखता होनेपर भी तत्त्व ज्यों-का-त्यों ही है। अभावरूप असत्को अभावरूप ही मान लें तो भावरूप तत्त्व स्वतः ज्यों-का-त्यों रह जायगा।

---

[1] गीतामें परमात्माका तीन प्रकारसे वर्णन आता है—(१) परमात्मा सत् भी है और असत् भी है—'सदसच्चाहम्' (९।१९), (२) परमात्मा सत् भी है, असत् भी है और सत्-असत्से पर भी है—'सदसत्तत्परं यत्' (११।३७), (३) परमात्मा न सत् है और न असत् है—'न सत्तन्नासदुच्यते' (१३।१२)। इसका तात्पर्य यही है कि वास्तवमें परमात्माका वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह मन, बुद्धि और शब्दसे अतीत है।

[2] यदि कहनेवाला अनुभवी और सुननेवाला सच्चा जिज्ञासु हो तो शब्दके द्वारा शब्दातीत, इन्द्रियातीत तत्त्वका भी ज्ञान हो जाता है—यह शब्दकी विलक्षण, अचिन्त्य शक्तिका प्रभाव है। परंतु ऐसा होना तभी सम्भव है, जब केवल शब्दोंपर दृष्टि न रखकर तत्त्वकी तरफ दृष्टि रखी जाय। अगर तत्त्वकी तरफ दृष्टि नहीं रहेगी तो सीखनामात्र होगा अर्थात् कोरा वर्णन होगा, तत्त्व नहीं मिलेगा।

[3] ज्ञान होनेपर नयापन कुछ नहीं दीखता अर्थात् पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया—ऐसा नहीं दीखता। ज्ञान होनेपर ऐसा अनुभव होता है कि ज्ञान तो सदासे ही था, केवल उधर मेरी दृष्टि नहीं थी। यदि पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया—ऐसा मानें तो ज्ञानमें सादिपना आ जायगा, जबकि ज्ञान सादि नहीं है, अनादि है। जो सादि होता है, वह सान्त होता है और जो अनादि होता है, वह अनन्त होता है।

भागवतीय प्रवचन—३९

मन ही बन्धन और मोक्षका कारण है

(श्रीकृष्णपादलीन संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

भगवान् कपिलने अपनी माता देवहूतिको अध्यात्म-योगका उपदेश देते हुए कहा—'माताजी ! इस जीवके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही माना गया है। विषयोंपर आसक्त होनेपर वह बन्धनका हेतु होता है और परमात्मामें अनुरक्त होनेपर वही मन मोक्षका कारण बन जाता है।

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥

(श्रीमद्भा० ३। २५। १५)

भगवान् मनुष्यका शरीर या घर नहीं देखते, बल्कि हृदय देखते हैं। मन विशाल हो तो भगवान् आते हैं। मनमें छिपी हुई अहंता-ममता, अपने-परायेकी भावना ही मनको दुःखी बनाती है। मनके ये सारे धर्म आत्मस्वरूपमें भासमान होनेके कारण आत्मा स्वयंको सुखी-दुःखी मानती है। परंतु वास्तवमें वह आनन्दरूप है।

मनके सुधरनेपर सब कुछ सुधरता है और मनके बिगड़नेपर सब कुछ बिगड़ता है। सुख-दुःखके दाता हैं अहंमन्यता और ममता। उन्हें छोड़ देनेपर ही आनन्दरूप मिलता है।

पाप करनेके लिये किसीको प्रेरणा देनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, किंतु पुण्य करनेके लिये प्रेरणा देनी पड़ती है, क्योंकि मन अधोगामी है।

मनुष्यका मन पानीकी भाँति गड्ढेकी ओर ही बहता है। जलकी तरह मन भी अधोगामी है। जलकी भाँति मनका स्वभाव भी ऊपर नहीं, नीचेकी ओर जानेका है। इस मनको ऊपर चढ़ाना है। इसे परमात्माके चरणोंतक ले जाना है। जैसे पानी यन्त्रके संयोगसे ऊपर चढ़ता है, उसी प्रकार मन्त्रके संयोगसे मन ऊपर चढ़ता है। मनको मन्त्रका संग दो। मन्त्रका संग होगा तो मन अधोगामी न बनकर ऊर्ध्वगामी बनेगा। जिसने अपने मनको सुधारा है, वह दूसरोंको भी सुधार सकेगा। मनको सुधारनेका और कोई साधन नहीं है। मन शब्दके अक्षरोंको उलट दोगे तो शब्द बनेगा नम। 'नम' और 'नाम' ही मनको सुधारेंगे।

मनको स्थिर करनेके लिये नाम-जपकी आवश्यकता है। जपसे मनकी मलिनता और चञ्चलता दूर होती है। अतः किसी भी मन्त्रका जप करो। सांसारिक विषयोंके संगसे बिगड़ा हुआ मन ईश्वरका ध्यान करनेसे सुधरता है। भगवान्का निर्गुण स्वरूप सूक्ष्म होनेके कारण दिखायी नहीं देता और भगवान्का जो तेजोमय सगुण स्वरूप है, वह भी नहीं दीखता। इस कारणसे साधारण जीवोंके लिये तो भगवान्का नामस्वरूप, मन्त्रस्वरूप ही इष्ट है। भगवान् स्वयंको चाहे छिपा लें, किंतु अपने नामको छिपा नहीं सकते। नामस्वरूप प्रकट है, अतः परमात्माके किसी भी नामस्वरूपका दृढ़ मनसे आश्रय ले लो।

भगवद्ध्यानपूर्वक तप एवं नाम-मन्त्र-जप करनेसे मनकी शुद्धि होती है। लौकिक वासनासे मन बिगड़ता है और अलौकिक वासनाके जागनेपर वह सुधरता है। वासनाका नाश वासनासे ही करना पड़ता है। असद्-वासनाका विनाश सद्-वासनासे होगा।

जब मनुष्य सोचेगा कि मुझे जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त होना है, मुझे गोलोकधाममें जाना है, मुझे किसी माताके गर्भमें नहीं जाना है, मुझे इसी जन्ममें परमात्माके दर्शन करने हैं, तब ऐसी भावना रखनेसे मन सुधरेगा। जैसे काँटा काँटेसे निकलता है, उसी प्रकार वासना ही वासनाको निकाल बाहर करती है। चलचित्र देखनेकी वासना दूर करनी है तो परीक्षामें पहला नम्बर आनेकी वासना रखो। ऐसी वासनासे अध्ययनमें रुचि पैदा होगी और अध्ययनकी रुचिसे चलचित्र देखनेकी वासना छूट जायगी।

किसी राजाके पास एक बकरा था। राजाने एक बार घोषणा की कि इस बकरेको जंगलमें चराकर जो उसे तृप्त करके लायेगा उसे मैं आधा राज्य दूँगा। किंतु बकरेका पेट पूरा भरा है या नहीं इसकी परीक्षा मैं स्वयं करूँगा।

इस घोषणाको सुनकर एक मनुष्यने राजाके पास आकर कहा कि बकरा चराना कोई बड़ी बात नहीं है। वह बकरेको लेकर जंगलमें गया। वहाँ सारा दिन उसने कोमल हरी-हरी घास बकरेको खिलायी। सायंकाल होनेपर उसने सोचा कि

अब तो बकरेका पेट भर गया होगा, क्योंकि सारा दिन उसे चराता फिरता रहा हूँ। बकरेके साथ वह राजाके पास आया। राजाने थोड़ी-सी हरी-हरी घास बकरेके आगे रखी। लोभवश बकरा उसे खाने लगा। इसपर राजाने उस मनुष्यसे कहा कि तुमने इसे पेटभर खिलाया ही नहीं है अन्यथा यह घास क्यों खाने लग जाता!

इसी प्रकार बहुतोंने बकरेका पेट भरनेका प्रयत्न किया, परंतु ज्यों ही दरबारमें उसके सामने घास डाली जाती तो वह खाने लग जाता।

एक सत्संगीने सोचा कि राजाकी इस घोषणामें कोई रहस्य है, कोई तत्त्व है। मैं युक्तिसे काम लूँगा। वह बकरेको चरानेके लिये ले गया। जब भी बकरा घास खाने जाता तो वह उसे लकड़ीसे मार देता। सारे दिनमें कई बार ऐसा हुआ। अन्तमें बकरेने सोचा कि यदि मैं घास खानेका प्रयत्न करूँगा तो मार खानी पड़ेगी। इस डरसे उसने घास खाना छोड़ दिया।

शामको वह सत्संगी बकरेको लेकर राजदरबारमें लौटा। बकरेको घास बिलकुल नहीं खिलायी गयी थी, फिर भी उसने राजासे कहा कि मैंने इसे भरपेट खिलाया है, अब यह घास बिलकुल नहीं खायेगा। कर लीजिये परीक्षा।

राजाने बकरेके सामने घास डाली, लेकिन बकरेने खानेकी तो बात ही क्या, उसे देखा और सूँघातक नहीं। बकरेके मनमें यह बात बैठ गयी थी कि घास खाऊँगा तो मार पड़ेगी। अतः उसने घास नहीं खायी।

यह बकरा हमारा मन ही है। बकरेको घास चरानेके लिये ले जानेवाला जीवात्मा है। राजा परमात्मा है। ~~मनको मारो। मनपर अंकुश रखो। मन सुधरेगा तो जीवन सुधरेगा। मनको विवेकरूपी लकड़ीसे प्रतिदिन पीटो। जीव भोगसे तृप्त नहीं हो सकता। तृप्ति त्यागमें ही समायी हुई है। अहंता और ममतासे मन भरा हुआ है। मन जब कुछ माँगे तब उसे विवेकरूपी लकड़ीसे मारो, वह वशमें हो जायगा।~~

स्वामी रामदासने मनको बोध दिया है। दृढ़ वैराग्य, तीव्र भक्ति और यम-नियमादिके अभ्याससे चित्त वशमें होता है तथा स्थिर होता है और अन्तमें धीरे-धीरे प्रकृति भी अदृश्य होती जाती है। संसारसे वैराग्य उत्पन्न करनेका एक ही उपाय है—

'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।'

इस जगत्‌में सुखी होनेके दो ही मार्ग हैं—एक ज्ञानमार्ग और दूसरा भक्तिमार्ग।

ज्ञानमार्ग कहता है कि सब कुछ छोड़कर परमात्माके पीछे पड़ो। बिना वैराग्यके ज्ञान नहीं मिलता। ज्ञानमार्गमें वैराग्य मुख्य है। इससे सब कुछ छोड़ देना पड़ता है। ज्ञानी सब कुछ छोड़कर एक भगवान्‌को ही पकड़े रहता है। इस मार्गमें त्याग मुख्य है। इस मार्गके आचार्य शिवजी हैं। सर्वस्वका त्याग करना बड़ा कठिन काम है।

भक्तिमार्ग कहता है कि सर्वस्वका त्याग कठिन है। इसकी अपेक्षा तो बेहतर है कि 'सभीमें ईश्वर है' ऐसा मानकर सभीसे विवेकपूर्ण प्रेम करो। इस मार्गमें भगवद्भाव रखकर समर्पण करना है। भक्तिमार्गमें कुछ भी छोड़नेकी बात नहीं है।

भक्तिमार्गमें समर्पण मुख्य है। इस मार्गके आचार्य श्रीकृष्ण हैं। भगवान् श्रीकृष्ण हर किसीपर प्रेम रखते हैं। इस मार्गमें हर किसीके साथ प्रेम करना होता है। भगवान्-जैसा प्रेमी न तो कोई हुआ है और न कोई होगा।

एक बार भृगु ऋषि वैकुण्ठमें गये। भगवान् सो रहे थे। लक्ष्मीजी चरण-सेवा कर रही थीं। भृगुको लगा कि यह तो कोई विलासी लगता है, उसे बड़ा देव कौन कहे! ऋषि तो परीक्षा करने ही आये थे, अतः उन्होंने सोये हुए भगवान्‌की छातीपर लात मार दी।

भृगु ऋषिने लात मारी, किंतु उस लात मारनेवालेसे भी कन्हैया तो प्रेम ही करता है। भगवान्‌ने ऋषिसे कहा—'मेरी छाती तो बड़ी कठोर है और आपके चरण कोमल हैं। शायद आपके चरणोंमें चोट आयी होगी' इतना कहकर भगवान् ऋषिके चरण दबाने लगे। है कोई जगत्‌में ऐसा प्रेम करनेवाला दूसरा।

विष देनेवालेसे भी कन्हैया प्यार करता है। लक्ष्मीजीको बुरा लगा। वे बोलीं—ऐसी भी कहीं परीक्षा हो सकती है! परीक्षा करनेका यह ढंग अच्छा नहीं है। मैं ब्राह्मणोंके घर नहीं जाऊँगी। लक्ष्मीने ब्राह्मणोंको त्याग दिया।

ज्ञानी मानते हैं कि जबसे यह शारीरिक सम्बन्ध हुआ है, तबसे इसीसे दुःख हुआ है। अतः वे शरीरसे प्रेम नहीं करते।

प्रेम करना ही है तो सबसे प्रेम करो। किसीसे प्रेम नहीं करना हो तो कोई बात नहीं, किंतु अपने शरीरसे तो प्रेम करो

ही नहीं। एक परमात्मासे प्रेम करो, सभीसे प्रेम करो अथवा सभीका त्याग करो। यदि तुम सभीका त्याग नहीं कर सकते हो तो सभीमें ईश्वरभाव रखकर सभीसे प्रेम करो। सभीमेंसे ममताका त्याग करो अथवा सब कुछ ईश्वरको समर्पित करके सभी कर्मफलोंका त्याग करो।

सभीके प्रति ममता-मेरापन होना ही समर्पणमार्ग है। अमुकके प्रति ही ममताका होना स्वार्थमार्ग है। आज तो सभी स्वार्थमार्गी हैं।

पैसो मारो परमेश्वरने पत्नी मारी गुरु।
छैयां-छोकरां मारां शालिग्राम, पूजा कोनी करूँ ?

अर्थात् धन-सम्पत्ति मेरा परमेश्वर है, मेरी पत्नी मेरी गुरु है और मेरी संतान मेरे शालिग्राम हैं। अब मैं पूजा करूँगी भी तो किसकी !

जो संसारमें जाग्रत् नहीं होता वह कभी कन्हैयाको पा नहीं सकता। कंस काम और अभिमान है। वही सभीको कारागृहमें रखता है।

जाग्रत् कौन है ? जो मनसे विषयसुखका त्याग करके भगवान्‌के नामका जप करे वही जाग्रत् है।

जगत्‌में कौन जाग्रत् हुआ है ? तुलसीदासजी कहते हैं—

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥

जब सभी विषय-विलासोंके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाय, तब मानो कि वह जीव जागा है। कपिल कहते हैं—माताजी ! यह मन अनादिकालसे संसारमें भटकता आया है। सत्संगसे मन सुधरता है। वासनाका त्याग करनेसे मन सुधरता है। विवेकी पुरुष संग अथवा आसक्तिको आत्माका बंधन मानते हैं। किंतु संत-महात्माओंके प्रति जब आसक्ति या संग हो जाय तब मोक्षके द्वार खुल जाते हैं। अतः सत्संग करो।

सत्संगमें भगवान्‌की लीला-कथाओंका गान होता है। उसके श्रवण-मनन-चिन्तनसे भक्तिद्वारा लौकिक एवं पारलौकिक सुखोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है, मनोनिग्रह हो जाता है। इस प्रकार शब्दादि विषयोंका त्याग करनेसे, वैराग्ययुक्त ज्ञानसे, योगसे और मेरे प्रति की हुई सुदृढ़ भक्तिसे मनुष्य मुझ अपने अन्तरात्माको इस देहमें ही प्राप्त कर लेता है—

असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे॥
(श्रीमद्भा० ३।२५।२७)

दैवी सम्पदा या संतोंके गुण

(श्रीशुकदेवबिहारीजी मीणा, एम्० ए०)

सज्जन या संतके गुणोंको सद्‌गुण कहा जाता है। सद्‌गुण सत्संग या संतोंकी कृपासे ही प्राप्त होते हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें सत्संगको भगवान्‌के मिलनेसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। संत यदि चाहें तो भगवान्‌को शीघ्र प्राप्त करा सकते हैं। संतोंकी कृपासे सभी प्रकारकी सिद्धियाँ, गति, मुक्ति आदि निम्न प्राणियोंको भी सहजमें ही प्राप्त हो जाती हैं—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥
(रा० च० मा० १।३।४—६)

इसीलिये इतिहास-पुराणोंमें राजर्षि अम्बरीष आदि महापुरुषोंके आख्यानों तथा सभी गीताओं, उपनिषदों एवं रामायणोंमें भी सत्संगतिकी अपार महिमा गायी गयी है। तत्त्वतः संत और परमात्मा एक ही हैं*।

---

* रामचरितमानसके सर्वथा प्रारम्भमें, अरण्यकाण्डके अन्तमें नारद-राम-संवादमें, सुन्दरकाण्डके विभीषण-हनुमान्-संवादमें, उत्तरकाण्डमें भरत-राम-संवाद एवं काकभुशुण्डि-गरुड-संवादमें बार-बार संतोंके गुणोंका उल्लेख हुआ है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी स्थितप्रज्ञके लक्षण अध्याय २, श्लोक ५५ से ७२, अध्याय ९ तथा १२ में भक्तोंके लक्षण, अध्याय १३ में ज्ञानीके ज्ञानके रूपमें, अध्याय १४ में गुणातीत पुरुषके लक्षण और अध्याय १५ में दैवी सम्पत्तिके नामसे संतोंके गुणोंको ही निर्दिष्ट किया गया है। कल्याणकामीको इन सभीको तुलनात्मक-दृष्टिसे ध्यानसे पढ़कर धारण करने तथा इनके विपरीतके दुर्गुणों, आसुरी सम्पत्तियों एवं मानस-रोगोंको निकाल बाहर करनेका सर्वाधिक प्रयत्न करना चाहिये।

श्रेष्ठ महापुरुषों, संतों एवं राजनीतिज्ञोंमें सद्गुण पूर्णरूपसे व्याप्त रहते हैं। जो निरन्तर अति दैन्य-भावसे आत्मानुसंधान-पूर्वक दोष-दृष्टिसे इन्हें निकालनेका प्रयत्न करते हैं, वे ही इन्हें देख पाते हैं—

मानस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी॥
(रा० च० मा० ७। १२२। २-३)

यहाँ संक्षेपमें गीतोक्त दैवी सम्पत्तिकी चर्चा कर तुलनात्मकरूपसे कुछ रामचरितमानसकी चौपाइयाँ भी दी जायँगी। पाठकोंको पूर्वोक्त सभी महत्त्वपूर्ण स्थलोंको ध्यानसे देखना चाहिये। गीताके सोलहवें अध्यायमें कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
(१६। १)

अर्थात् पुण्य-बलसे और भगवान्‌के आश्रयसे निर्भय रहना 'अभय' गुण कहलाता है। सभी दोषों, पापोंसे मनको मुक्त रखना सत्त्वकी 'शुद्धि' कही जाती है। योगदर्शनके यम, नियम, भगवद्ध्यान आदि ही ज्ञानयोगकी व्यवस्थिति हैं। सम-विभाजन और दीन-दुखियोंकी यथासम्भव की जानेवाली सहायता 'दान' कहलाती है। काम, क्रोध, मोह और लोभसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंको विषयोंसे सर्वथा दूर रखना ही 'दम' है। भगवत्पूजा एवं अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण ही 'यज्ञ' है। सद्ग्रन्थोंका अध्ययन एवं भगवन्नाम आदिका जप ही 'स्वाध्याय' है। योग और विविध व्रतोंका अनुष्ठान ही 'तप' है। निश्छल-भावसे सबकी सेवा करना ही 'आर्जव' है। इसके अतिरिक्त—

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
(१६। २)

मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसीको भी कष्ट न पहुँचाना 'अहिंसा' है। मधुर, हितकारी और सच्ची बात कहना ही 'सत्य' है। किसी भी परिस्थितिमें, आवेशमें आकर किसीपर भी क्रुद्ध या कुपित न होना 'अक्रोध' है। कर्मोंमें कर्तापनके अभिमान एवं फलेच्छाका न होना ही 'त्याग' है। सदा भगवान्‌में मन लगाकर मनको चञ्चल न होने देना ही 'शान्ति' है। कभी किसीकी भी निन्दा न करना 'अपैशुन' है। इस लोक और परलोकके प्राणियोंके दुःखोंको सभी प्रकारसे दूर करनेका भाव ही 'दया' है। परधन, परस्त्री आदिकी ओर मनकी चञ्चलता-रूप प्रवृत्तिका न होना ही 'अलोलुपता'का गुण कहा गया है। विनय एवं नम्रताका ही नाम 'मार्दव' है। शील-संकोच एवं लज्जा आदिके भावको ही 'ह्री' कहा गया है। भगवच्चिन्तनसे अलग होकर मनका संसारमें एवं उसके विषयोंकी ओर न जाना ही 'अचपलता' है। श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है, जिसके प्रभावसे उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ एवं सात्त्विक कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त कर्मठता एवं समयोचित आवश्यक कल्याणकारी बात कहना भी 'तेज' ही है। अपराधीके अपराधोंको भूल जाना 'क्षमा' है। दुःखमें भी स्थिर रहना 'धृति' है। स्नान तथा शुद्ध वस्त्र आदिसे शरीरको एवं मार्जनादिद्वारा गृहको पवित्र रखना 'शौच' है। किसीके अपराधोंको भूलकर वैर-भाव न रखना ही 'अद्रोह' है

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
(१६। ३)

इसी प्रकार कल्याणकामी व्यक्तिको अभिमान आदि दुर्गुणोंसे सर्वथा मुक्त रहना चाहिये। ये ही दैवी सम्पत्तियोंके गुण हैं। इनसे मनुष्यको गति, मुक्ति एवं शान्तिकी प्राप्ति होती है।

इसके विपरीत नास्तिकता, अहंकार, काम, क्रोध आदि विनाशकारी दोष आसुरी सम्पदाके अन्तर्गत हैं। उनका कुफल जन्म-जन्मान्तरतक नरकोंकी प्राप्ति तथा भगवान् एवं संतोंसे सर्वथा दूर रहना होता है। यह सभी गीता एवं अन्य शास्त्रोंमें यथास्थान निर्दिष्ट है। यही भाव रामचरितमानसके नारद-राम-संवादमें भी सुस्पष्ट है। भगवान् नारदजीसे कहते हैं—हे मुने! सुनो, मैं संतोंके उन गुणोंको कहता हूँ। जिनके कारण मैं उनके वशमें रहता हूँ—

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह कें बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्यसार कबि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मदहीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना॥

गुनागार संसार दुख रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह॥
(रा० च० मा० ३।४५।६—९)

अर्थात् वे संत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन षड्विकारों (दोषों)को जीते हुए, पापरहित, कामनारहित, निश्चल (स्थिरबुद्धि), अकिंचन (सर्वत्यागी), बाहर-भीतरसे पवित्र, सुखके धाम, असीम, ज्ञानवान्, इच्छारहित, मिताहारी, सत्यनिष्ठ, कवि, विद्वान्, योगी, सावधान, दूसरोंको मान देनेवाले, अभिमानरहित, धैर्यवान्, धर्मके ज्ञान एवं आचरणमें अत्यन्त निपुण, गुणागार होते हैं तथा संसारके दुःखोंसे रहित, संदेहोंसे सर्वथा मुक्त होते हैं। मेरे चरणकमलोंको छोड़कर उन्हें न तो अपनी देह प्रिय होती है और न ही अपना घर। इसके अतिरिक्त वे—

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोबिंद बिप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
(रा० च० मा० ३।४६।१—४)

अपने कानोंसे अपने गुण सुननेमें सकुचाते हैं, दूसरोंके गुण सुननेसे विशेष हर्षित होते हैं। वे सम और शीतल स्वभाववाले होते हैं, न्यायका कभी परित्याग नहीं करते। वे सरल स्वभावसे युक्त होते हैं और सभीसे प्रेम करना उनका स्वभाव होता है। वे जप, तप, व्रत, दम, संयम और नियममें रत रहते हैं और गुरु, गोविन्द तथा ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम रखते हैं। उनमें श्रद्धा, क्षमा, मैत्री, दया, मुदिता रहती है और उनका मेरे चरणोंमें निष्कपट प्रेम होता है। श्रीभगवान् आगे कहते हैं—

बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥
(रा० च० मा० ३।४६।५—८)

अर्थात् उन सद्गुणसम्पन्न संतोंको वैराग्य, विवेक, विनय, विज्ञान और वेद-पुराणका यथार्थ ज्ञान रहता है। वे दम्भ, अभिमान और मद कभी नहीं करते और भूलकर भी कुमार्गपर पैर नहीं रखते। ऐसे सद्गुणसम्पन्न जन सदा मेरी लीलाओंको सुनते हैं और बिना कारण ही दूसरोंके हितमें लगे रहते हैं। हे मुने! सुनो, संतोंके जितने गुण हैं, उनको सरस्वती तथा वेद भी कह नहीं सकते।

इसी प्रकार आसुरी-सम्पत्तिवाले व्यक्तियोंके दोष भी विश्वके लिये विनाशकारी होते हैं। वे संतोंके ठीक विपरीत स्वभाववाले होते हैं। अतः उपर्युक्त सभी स्थलोंके मनोयोग-पूर्वक तुलनात्मक अध्ययनद्वारा सद्गुणोंका संग्रह एवं दुर्गुणोंके सर्वविध परित्यागका दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये।

सर्वोपरि निधि

(पं० श्रीवृन्दावनविहारीजी मिश्र 'बिन्दु', भागवताचार्य)

विश्व सब वारौं भूमि भारतके कण-कण पै,
भारत सब वारौं बरसाने-वृज खोरी पै।
वृजके परिहासन पै स्वर्गके विलास वारौं,
इन्द्र-पद वारौं 'बिन्दु' माखन कमोरी पै॥
वृन्दारक-वृन्द वारौं, एक व्रजवासी पै,
औ, व्रजवासी वारौं व्रज-गोपिनकी पौरी पै।
वृज-गोपी वारौं श्रीकृष्ण मनमोहन पै औ,
कृष्ण हू कौं वारौं वृषभानुकी किशोरी पै॥

चिन्तन—

जीवनकी सार्थकता और आधुनिक मूल्य

(आचार्य श्रीतुलसीजी)

~~जीवन एक प्रवाह है~~। ~~वह रुकता नहीं है, बहता रहता है। जो बहता है, वही प्रवाह होता है। जिसमें ठहराव है, गतिहीनता है, वह प्रवाह नहीं हो सकता~~। ~~प्रवाह स्वच्छताका प्रतीक है, जबकि ठहरावमें गंदगीकी सम्भावना बनी रहती है~~। प्रवाहमें जीवनी-शक्ति है, जबकि ठहरावमें अस्तित्वका लोप सम्भव है। ऐसी स्थितिमें प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवनको आगे ले जाना चाहेगा। सवाल एक ही है कि जीवन कैसा हो? भारतीय आस्थाके अनुसार जीवनका स्वरूप यह है—

शान्तं तुष्टं पवित्रं च सानन्दमिति तत्त्वतः।
जीवनं जीवनं प्राहुर्भारतीयसुसंस्कृतौ॥

भारतीय संस्कृतिमें उस जीवनको प्रशस्त जीवन माना गया है, जो शान्त हो, संतुष्ट हो, पवित्र हो और सानन्द हो। ~~शान्ति, संतुष्टि, पवित्रता और आनन्द जीवनकी महान् उपलब्धियाँ हैं~~। ~~इनका सम्बन्ध बाह्य पदार्थोंसे नहीं, व्यक्तिकी अपनी वृत्तियोंसे है~~। पदार्थोंका ढेर लग जाय तो भी वहाँ शान्तिका जन्म नहीं हो सकता। संतोषकी प्राप्ति भी पदार्थसे नहीं हो सकती। संसारकी सम्पूर्ण सुख-सुविधाएँ कदमोंमें आकर बिछ जायँ, फिर भी तोषका अनुभव नहीं होता। ~~लाभ लोभको बढ़ाता है, यह तीर्थंकरोंकी वाणी~~ है। ~~तीर्थंकरोंकी वाणी अनुभूत सत्यसे पूरित होती~~ है। उसमें किसी प्रकारके संदेहका अवकाश नहीं रहता।

तीसरा तत्त्व है पवित्रता। उसका पदार्थके साथ कोई रिश्ता ही नहीं है। पदार्थके साथ जितना गहरा अनुबन्ध होता है, पवित्रतापर उतना ही सघन आवरण आ जाता है। पवित्रता नहीं है तो आनन्द कहाँसे आयेगा? ~~आनन्दका निवास तो चित्तकी पवित्रतामें ही होता~~ है। ऐसी स्थितिमें सार्थक जीवन जीनेकी आकाङ्क्षा अधिक दूभर हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचनका अर्थ यह नहीं है कि पदार्थवादी युगमें कोई व्यक्ति सार्थक जीवन जी ही नहीं सकता। मेरे अभिमतसे असम्भव कुछ नहीं है। फिर भी मंजिलके अनुरूप रास्तेकी खोज बहुत आवश्यक है। सार्थक जीवन जीनेके भी कुछ उपाय हैं। उसी आस्थाके परिप्रेक्ष्यमें वे उपाय हैं—

संयमाज्जायते शान्तिस्तोषहेतुः स्वतन्त्रता।
हेतुशुद्ध्या पवित्रत्वं स्वस्थ आनन्दमर्हति॥

~~शान्तिका उत्स संयम~~ है। ~~जो लोग संयमसे जीते हैं, वे विशिष्ट शान्तिका अनुभव करते~~ हैं। स्वतन्त्रतासे संतोषकी प्राप्ति होती है। ~~सोनेके पिंजरेमें कैद पंछीको कितने ही मेवे-मिष्टान्न मिल जायँ, वह कभी संतुष्ट नहीं हो सकता~~। परतन्त्रता चाहे बाहरकी हो या भीतरकी, वहाँ आत्मतोष नहीं मिल सकता। ~~जीवनमें पवित्रता तबतक नहीं उतर सकती, जबतक साधन-शुद्धि न हो~~। धतूरेके बीजसे आमका वृक्ष नहीं उग सकता। ~~इसी प्रकार अशुद्ध साधनसे शुद्ध साध्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती~~। आनन्दका अनुभव उस व्यक्तिको होता है, जो स्वस्थ रहता है। स्वस्थ कौन? '~~स्वस्मिन् तिष्ठति इति स्वस्थः~~' ~~जो अपने-आपमें स्थित रहता है, पूरी तरहसे आत्मस्थ~~ है, ~~जिसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हैं, जो बाहर नहीं भटकता, वह स्वस्थ होता है~~।

~~इसी प्रकारका जीवन भारतीय संस्कृतिका जीवन~~ है। ऐसा जीवन कोई भी जी सकता है, बशर्ते कि वह इतना उदात्त जीवन जीना चाहे। जिसका जीवन प्रारम्भसे ही कुण्ठा और निराशाका शिकार हो, वह प्राप्त अवसरका भी लाभ नहीं उठा सकता। जिस व्यक्तिका चिन्तन प्रवाहपाती होता है, जो यह सोचता है कि सब लोग असंयमकी दिशामें बह रहे हैं, मैं अकेला ही संयमके रास्तेपर क्यों चलूँ? वह कोई ऊँचा काम नहीं कर सकता।

जो व्यक्ति अपने जीवनमें कभी निराश नहीं होता, कठिन-से-कठिन परिस्थितिको भी जो हँसता-हँसता पार कर लेता है, जिसकी गतिमें कभी अवरोध नहीं आता, जो अपने पुरुषार्थपर भरोसा रखता है, उसका प्रयोग करना जानता है और समयपर उचित प्रयोग करता भी है, वह जीवनको अर्थवान् बना लेता है। जीवनकी सार्थकता और व्यर्थता उसकी शैलीपर निर्भर है। जिस जीवन-शैलीमें संयम और सादगीका मूल्य है, अनुशासन और विनयका महत्त्व है, वह शैली सबके लिये हितावह हो सकती है।

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें अहंता-ममताका त्याग

अहंताममतात्यागः कथितो हरिणा स्वयम्।
कर्मयोगे ज्ञानयोगे भक्तियोगे समानतः॥

गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों ही मार्गोंमें अहंता-ममताके त्यागकी बात कही है; जैसे—कर्मयोगमें **'निर्ममो निरहंकारः'** (२।७१) पदोंसे, ज्ञानयोगमें **'अहंकारं····विमुच्य निर्ममः'** (१८।५३) पदोंसे और भक्तियोगमें **'निर्ममो निरहंकारः'** (१२।१३) पदोंसे साधकका अहंता-ममतासे रहित होना बताया गया है। परंतु तीनों योगमार्गोंमें अहंता-ममताका त्याग करनेके प्रकारमें अन्तर है; जैसे—

कर्मयोगमें पहले कामनाका त्याग होता है; क्योंकि कर्मयोगी आरम्भमें ही निष्कामभावसे कर्म करना शुरू कर देता है। जब कामनाका सर्वथा त्याग हो जाता है, तो फिर स्पृहा, ममता और अहंताका भी स्वतः त्याग हो जाता है। दूसरे अध्यायके इकहत्तरवें श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मयोगीमें पहले कामनाओंका त्याग बताया है, फिर स्पृहा, ममता और अहंताका त्याग बताया है।

ज्ञानयोगमें पहले अहंताका त्याग होता है। जब मूल अहंताका ही त्याग हो जाता है, तो फिर ममता, स्पृहा और कामनाका भी स्वाभाविक ही त्याग हो जाता है। अठारहवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञानयोगीमें पहले अहंताका त्याग बताया है, फिर लिप्तता-(फलेच्छा-)का त्याग बताया है।

भक्तियोगमें भगवान्‌की शरण होनेपर 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस तरह अहंता बदल जाती है, फिर भगवान्‌की कृपासे भक्तियोगी अहंता, ममता, स्पृहा और कामनासे रहित हो जाता है। अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि तू सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जा; मैं तुझे सम्पूर्ण पापों-(अहंता-ममता आदि दोषों-)से मुक्त कर दूँगा।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य अहंता-ममतासे रहित हो सकता है; क्योंकि अहंता-ममता इसके स्वरूप नहीं हैं। अगर अहंता-ममता इसके स्वरूप होते तो इनका कभी त्याग नहीं होता और भगवान् भी इनसे रहित होनेकी बात न कहते।

यह स्वयं (जीवात्मा) जब शरीरके साथ 'यह शरीर मैं हूँ' ऐसा अभिन्नताका सम्बन्ध मान लेता है, तब 'अहंता' पैदा हो जाती है और जब शरीरके साथ 'यह शरीर मेरा है' ऐसा भिन्नताका सम्बन्ध मान लेता है, तब 'ममता' पैदा हो जाती है। इस प्रकार अहंता और ममता—ये दोनों ही मान्यताएँ हैं, स्वरूप नहीं हैं—इस बातको विवेकपूर्वक दृढ़तासे मानकर साधक सुगमतापूर्वक इन दोनोंसे रहित हो सकता है।

साधकको शरीर आदिमें मानी हुई अहंता-ममताका ही त्याग करना है; क्योंकि वह उसका स्वरूप नहीं है। भगवान्‌ने स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा है कि 'यह पुरुष स्वयं अनादि और निर्गुण होनेसे परमात्मस्वरूप ही है, और यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है तथा न लिप्त होता है' (१३।३१)। परंतु यह अपनेमें 'मैं करता हूँ और मैं चाहता हूँ'—ऐसा मान लेता है। इन्हीं दोनों मान्यताओंका निषेध करते हुए भगवान्‌ने कहा है—'जिसका अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह अगर सम्पूर्ण प्राणियोंको मार दे, तो भी वह न मारता है और न लिप्त होता है' (१८।१७)। कारण कि वास्तवमें इसके स्वरूपमें कर्तृत्वाभिमान और लिप्तता है ही नहीं।

रामचरितमानसमें जहाँ लक्ष्मणजीने मायाका स्वरूप पूछा, वहाँ उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
(३।१५।१)

तात्पर्य है कि अहंता (मैं-पन) और ममता (मेरा-पन)—यह मायाका स्वरूप है, अपना स्वरूप नहीं। परंतु यह जीव इस मायाके वशमें हो गया है, बँध गया है। इस बन्धनसे ही मुक्त होना है। संतोंकी वाणीमें भी आया है—

मैं मेरेकी जेवरी, गल बँध्यो संसार।
दास कबीरा क्यों बँधे, जाके राम अधार॥

शरीर आदिमें अहंता-ममता करनेसे स्वयं पराधीन हो

जाता है और इसमें परिच्छिन्नता, मलिनता आ जाती है। अहंता-ममता छूटनेसे स्वतः ही स्वरूपका बोध हो जाता है। अहंता-ममताको छोड़नेसे पहले ही साधक यह दृढ़ विचार कर ले कि अहंता-ममता अपना स्वरूप नहीं है। त्याग उसीका होता है, जो अपना स्वरूप नहीं है। जो अपना स्वरूप होता है, उसका कभी त्याग नहीं होता।

व्यवहारमें भी देखनेमें आता है कि मनुष्य जितनी अहंता-ममता करता है, उतना ही वह संसारमें आदर नहीं पाता; और जितनी अहंता-ममता छोड़ता है, उतना ही वह संसारमें आदर पाता है, स्थान पाता है। साधकका भी यह अनुभव होता है कि वह साधनमें ज्यों-ज्यों ऊँचा बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों अहंता-ममता छूटती जाती है। अहंता-ममताके सर्वथा मिटनेपर साधक जीवन्मुक्त हो जाता है।

अहंता-ममतासे मनुष्य महान् अपवित्र हो जाता है और इनके छूटनेसे महान् पवित्र हो जाता है। जैसे, कोई अहंता-ममतावाला सामान्य व्यक्ति मर जाता है तो लोग उसके कपड़े आदिको छूना भी नहीं चाहते। परंतु जिसकी अहंता-ममता मिट गयी है, ऐसे संत महापुरुषका शरीर छूटनेपर लोग उसके कपड़े आदि वस्तुओंको आदरसहित रखना चाहते हैं; क्योंकि अहंता-ममता न रहनेसे उनकी वस्तुएँ महान् पवित्र हो जाती हैं। केवल पवित्र ही नहीं होतीं, प्रत्युत औरोंको भी पवित्र करनेवाली हो जाती हैं। दूसरी बात जहाँ अहंता-ममतावाले सामान्य मनुष्योंकी दाह-क्रिया की जाती है, वहाँपर यदि भजन-ध्यान किया जाय तो विक्षेप होगा, भय लगेगा, भजन नहीं बनेगा। परंतु जहाँ अहंता-ममतासे रहित संत-महापुरुषोंकी दाह-क्रिया की जाती है, वहाँ बैठकर यदि भजन-ध्यान किया जाय तो मन ठीक लगेगा, भजन-ध्यानमें मदद मिलेगी, शान्ति मिलेगी, पवित्रता आयेगी।

अहंता-ममतासे रहित संत-महापुरुषोंको याद करनेसे घर पवित्र हो जाता है—**'येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः'** (श्रीमद्भा० १।१९।३३)। परंतु अहंता-ममतावाले मनुष्योंको याद करनेसे मलिनता आती है, जिससे अहंता-ममताको छोड़ना कठिन मालूम देता है।

जिनमें अहंता-ममता नहीं है, उनमें भगवान् विशेषतासे प्रकट हो जाते हैं। उनके शरीरका स्पर्श करनेवाली वायुसे, उनके वचनोंसे, उनके सम्पर्कमें आनेसे जीवमात्रमें पवित्रता आ जाती है। परंतु उस पवित्रताको स्वीकार नहीं करनेसे अर्थात् उनमें दोषारोपण करनेसे उस पवित्रताके आनेमें आड़ लग जाती है।

अपना जो होनापन (सत्ता) है, वह निरपेक्ष है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन मैं-पन (अहंता) में ही होता है, जैसे—मैं विद्वान् हूँ; मैं मूर्ख हूँ; मैं ब्राह्मण हूँ; मैं क्षत्रिय हूँ; मैं वैश्य हूँ; मैं शूद्र हूँ; मैं देवता हूँ; मैं राक्षस हूँ आदि रूपसे मैं-पनमें ही परिवर्तन हुआ है, 'हूँ' (सत्ता)में परिवर्तन नहीं हुआ है। मैं-पन तो बदलता रहा, पर 'हूँ' सबमें एक ही रहा। किसी-न-किसी वर्ण, आश्रम, योग्यता आदिके साथ सम्बन्ध जुड़नेसे 'मैं' होता है; अतः 'मैं' सापेक्ष है और सत्ता स्वतः रहती है; अतः सत्ता निरपेक्ष है।

मैं सुखी हूँ; मैं दुःखी हूँ; मैं धनी हूँ; मैं निर्धन हूँ; मैं रोगी हूँ; मैं नीरोग हूँ—यह सब तो पुराने कर्मोंके कारण है, पर अपनी सत्ता ('हूँ') किसी कारणसे नहीं है। अपनी सत्ता किसी कर्मका फल नहीं है; किसी वर्ण, आश्रम, योग्यता आदिका फल नहीं है। 'मैं' का त्याग करनेपर 'हूँ' नहीं रहता, प्रत्युत 'है' ही रहता है; क्योंकि 'मैं'के कारण ही 'हूँ' है।

सुख-दुःख स्वयंमें नहीं है, प्रत्युत 'मैं' में ही है। 'मैं'के साथ मिलनेसे, अहंतामें स्थित होनेसे, प्रकृतिमें स्थित होनेसे ही यह स्वयं 'मैं सुखी हूँ' अथवा 'मैं दुःखी हूँ'—ऐसा मान लेता है। परंतु जब यह 'मैं'का त्याग कर देता है, 'स्व'में स्थित हो जाता है, तब यह सुखी-दुःखी नहीं होता, सुख-दुःखमें सम हो जाता है—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (१४।२४)।

जो मिटनेवाला होता है, वह बदलनेवाला होता है और जो मिटनेवाला नहीं होता, वह बदलनेवाला नहीं होता। जैसे, सुषुप्तिमें मैं-पनका भान नहीं होता, पर अपनी सत्ताका भान होता है कि 'मैं बड़े सुखसे सोया'। तात्पर्य है कि सभी अवस्थाओं, परिस्थितियों आदिमें अपनी सत्ताका अखण्ड अनुभव होता है, पर मैं-पनका अखण्ड अनुभव नहीं होता।

कोई कहे कि ज्ञान (मुक्ति) होनेपर आसुरी-सम्पत्तिवाला अहम् (१६।१३-१५) ही मिटता है, सर्वथा अहम् नहीं मिटता, प्रत्युत सूक्ष्मरूपसे अहम् रहता है, तो उसका यह कहना ठीक नहीं है। कारण कि अहम्की उत्पत्ति अविद्यासे

होती है और ज्ञान होनेपर अविद्याका नाश हो जाता है। जब अविद्या नहीं रहेगी, तब अविद्यासे होनेवाला अहम् कैसे रहेगा ? जिस ज्ञानसे अविद्या न मिटे, वह ज्ञान कैसा ? वह तो सीखा हुआ शास्त्रज्ञान है, वास्तविक ज्ञान (बोध) नहीं। दूसरी बात, अगर सर्वथा अहम् नहीं मिटेगा तो जैसे बीजसे वृक्ष पैदा हो जाता है, ऐसे ही सूक्ष्म अहम् भी प्राकृत पदार्थ, व्यक्ति आदिका सङ्ग पाकर महान् हो जायगा, आसुरी-सम्पत्तिवाला हो जायगा।

अहम् भोगेच्छा और मोक्षेच्छापर टिका रहता है। भोगेच्छा मिटनेपर मोक्षेच्छाकी पूर्ति हो जाती है अर्थात् चिन्मयताकी प्राप्ति हो जाती है, जिसमें अहम् था नहीं, है नहीं और होगा नहीं।

भारतके सभ्य सुशिक्षित कहे जानेवाले लोगोंकी बीमार मानसिकता

[जन्मोत्सवकी भ्रान्त धारणा]

(श्री आर॰ एस॰ रातिया)

वेदादि शास्त्रोंमें मनुष्यके सुसंस्कृत होने तथा उसके सर्वाभ्युदयके लिये यज्ञोपवीतादि षोडश संस्कारोंकी आवश्यकता बतलायी गयी है। व्यक्तिके जन्मदिनपर अनुष्ठित जन्मोत्सव-संस्कार भी इन्हीं संस्कारोंके समान एक माङ्गलिक कृत्य है। प्रत्येक वर्ष या संवत्सरमें जन्ममासकी जन्मतिथिको होनेवाला उत्सव जन्मोत्सव, वर्धापन या अब्दपूर्तिकृत्यके नामसे प्रसिद्ध है। इसका मुख्य उद्देश्य है—आयुष्यकी वृद्धि, सुख-शान्ति तथा सद्बुद्धिकी प्राप्ति। यह एक माङ्गलिक महोत्सव है। इस दिन क्या करना चाहिये, इसकी एक विशिष्ट प्रक्रिया संस्कारादि पद्धतियोंमें निर्दिष्ट है। संक्षेपमें यहाँ कुछ निदर्शन किया जाता है—जिस व्यक्तिका जिस तिथिको जन्म-दिवस हो उसे[1] प्रातःकाल गन्धादि माङ्गलिक द्रव्योंसे सुवासित तथा अभिमन्त्रित जलसे स्नान कर नवीन शुद्ध वस्त्रोंको पहनकर आसनपर बैठकर संध्यादि कृत्योंको करना चाहिये। अनन्तर माता-पिता एवं गुरुजनोंको प्रणामकर संकल्पपूर्वक गणपति-गौरी आदिका स्मरण करना चाहिये। फिर प्रधान पूजामें किसी श्वेत वस्त्रमें दही तथा अक्षतोंको मिलाकर दध्यक्षत-पुञ्जोंमें उत्तरवृद्धिसे कुलदेवता, माता-पिता तथा चिरजीवी मार्कण्डेय, व्यास, बलि, परशुराम, कृपाचार्य, हनुमान्, विभीषण एवं प्रह्लादके साथ-साथ षष्ठी आदि देवताओंका यथासाध्य आवाहन-स्थापनपूर्वक पूजन करना चाहिये। इन सभी देवताओं तथा महर्षियोंसे दीर्घ आयु तथा सत्कर्ममें प्रवृत्तिकी प्रार्थना की जाती है। महर्षि मार्कण्डेय कल्प-कल्पान्तजीवी हैं, अतः विशेषरूपसे उनकी पूजा की जाती है, उनकी प्रार्थनाका मन्त्र इस प्रकार है—

आयुःप्रद महाभाग सोमवंश समुद्भव।
महातपो मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय नमोऽस्तु ते॥
मार्कण्डेय महाभाग सप्तकल्पान्तजीवन।
आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थमस्माकं वरदो भव॥
चिरजीवी यथा त्वं भो भविष्यामि तथा मुने।
रूपवान् वित्तवाँश्चैव श्रिया युक्तश्च सर्वदा॥
चिरजीवी यथा त्वं तु मुनीनां प्रवर द्विज।
कुरुष्व मुनिशार्दूल तथा मां चिरजीविनम्॥

पूजन आदिके अनन्तर मार्कण्डेयजीको निवेदित तिल एवं ~~गुडमिश्रित दूधका पान करना चाहिये। अनन्तर ब्राह्मणादिके पूजनपूर्वक उन्हें भोजन-दक्षिणा आदिसे संतुष्ट कर स्वयं भी भोजन करना चाहिये। बिल्व, गुग्गुल, सिद्धार्थ, दूर्वा तथा गोरोचन~~—इन पाँच आयुष्य-द्रव्योंसे युक्त पोटलिका भी ~~प्रतिष्ठितकर दाहिने हाथमें बाँधनेका विधान है।~~

अन्तमें ब्राह्मण एवं कुटुम्ब—परिवारके सभी बड़े-बूढ़े तथा गुरुजनोंको तृप्त कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिये। इस दिन माङ्गलिक दीपक जलाये जाते हैं तथा पुष्पादिसे घरको सुसज्जित कर आनन्द मनाया जाता है। सायंकालमें घरमें तथा मन्दिरोंमें घीके दीपक जलाकर रखे जाते हैं। कुछ लोग रात्रिमें भजन-कीर्तनादिका आयोजन भी सुविधानुसार करते हैं। मन्दिरमें श्रद्धा एवं विनयपूर्वक पत्र-पुष्प भगवान्‌को

---

[1] यज्ञोपवीतसे पूर्व पिता आदि पुत्रके उद्देश्यसे इस कृत्यको सम्पन्न करते हैं तथा यज्ञोपवीत हो जानेपर स्वयं या ब्राह्मणद्वारा करवाना चाहिये, ऐसी व्यवस्था बतलायी गयी है।

अर्पण कर जीवनमें खुशियोंकी याचना की जाती है। घरके सभी बड़े-बूढ़े स्त्री-पुरुषोंके पैर छूकर उनका स्नेह और आशिष् लेते हैं। यह भारतीय सनातन संस्कृतिकी सुदीर्घ परम्परा है।

यह बड़े आश्चर्यका विषय है कि इस उपर्युक्त सनातन संस्कारका रहस्य न समझने एवं विधिकी अज्ञानताके कारण उसकी उपेक्षा कर देनेसे वर्तमान कालमें ठीक इसके विपरीत जन्मदिन मनानेकी एक दूसरी ही परम्परा चल पड़ी है। आजकल आयोजन सायंकाल या रात्रिमें किया जाता है। बालक जितने वर्षका हो जाता है, उतनी ही मोमबत्तियाँ जलायी जाती हैं, बीचमें बड़ा-सा केक बनवाकर रखते हैं। जब निमन्त्रित सब लोग—इष्ट-मित्र आ जाते हैं, तब वह बालक उन दीपों (मोमबत्तियों) को फूँक मारकर बुझा देता है। (भारतीय संस्कृतिमें दीपको फूँक मारकर बुझाना अपशकुन माना जाता है।) फिर बालक केक काटता है, जिसपर सामान्यतया उसका नाम भी लिखा होता है। इस प्रकार चिराग गुल होते हैं और नामके टुकड़े-टुकड़े। तब सब लोग एक स्वरसे ताली बजाते हुए बार-बार कहते हैं—'हैपी बर्थडे टू यू'।

जन्मदिन मनानेके इस तरीकेमें पाश्चात्य संस्कृतिकी झलक ही मिलती है—जिसमें आनन्दके अवसरपर दीप जलाकर बालकसे फूँक मारकर बुझवा दिये जाते हैं। जबकि दीप हमेशा प्रज्वलित रहने चाहिये। जैसा कि आम खुशीके अवसर आनेपर 'घीके दीपक जलाये जा रहे हैं' यह उक्ति सुननेमें आती है। इस तरीकेमें बुजुर्गोंके आशीर्वाद एवं चरणस्पर्श कर स्नेह प्राप्त करनेका कहीं कोई विधान नहीं है। यह हमारी बीमार मानसिकताका द्योतक है। लोग बीमार मानसिकतासे छुटकारा पायें—स्वस्थ मानसिकता अपनायें। जन्मदिनके खुशीके अवसरपर माङ्गलिक एवं रक्षा-दीप अवश्य जलायें, परंतु उन्हें फूँक मारकर न बुझायें और जलते रहने दें। यह भारतीय संस्कृति है। हमें चाहिये कि हम अपने आचार, विचार एवं परम्पराके अनुसार ही अपने कर्तव्यकर्मों और धार्मिक कृत्योंका अनुपालन करें।

पाँच प्रकारके पुत्र

१-न्यासानुबन्धी—किसीको बहुत ईमानदार और अपना सुहृद् समझकर कोई अपने रुपये-पैसे, गहने, जमीन अथवा दूसरी वस्तुएँ धरोहरके रूपमें उसके पास रखता है। परंतु कुछ दिनों बाद रखनेवाला जब वापस माँगता है, तब उसे वह वस्तु नहीं मिलती। जिसके यहाँ रखी गयी थी, वह बेईमानीसे उसे हड़प जाता है और रखकर जानेवालेको अँगूठा दिखा देता है। वह न्यासापहारक—धरोहर हजम करनेवाला कहलाता है। उसे इस पापके फलस्वरूप नरकादिकी प्राप्ति तो ~~होती ही है, धरोहर वापस न पानेवाला आसक्तिवश धरोहरका धन वसूल करनेके लिये उसके यहाँ जन्म लेता है और उसे दुःख दे-देकर मर जाता है~~।

वह बहुत सुन्दर, गुणवान् और अच्छे-अच्छे लक्षणोंसे युक्त होता है। दिनों-दिन बड़ी भक्ति दिखलाता है, बहुत प्यारा बोलता है, मधुर स्वभावका होता है, बोलनेमें बहुत चतुर और स्नेह बढ़ानेवाला होता है। इस प्रकारकी संतानको पाकर माँ-बाप प्रसन्न हो जाते हैं। परंतु वह स्नेह दिखला-दिखलाकर खेलकी सामग्रियों, अच्छे-अच्छे कपड़ों-गहनों, बीमारीके बहाने चिकित्सा और ओषधियों आदिके द्वारा अपनी धरोहर वसूल करता रहता है और दारुण दुःख देकर छोटी ही उम्रमें मर जाता है। पिता जब 'हाय-हाय' करके रोता है, तब वह मानो यों कहकर हँसता है कि 'इसने पूर्वजन्ममें मेरा रखा हुआ धन हड़प लिया था, इससे मुझे बड़े-बड़े दुःख उठाकर मरना पड़ा था। आज मैं अपना वही धन लेकर जा रहा हूँ। कौन मेरा पिता है, मैं किसका पुत्र हूँ। अब यह पिशाचकी भाँति रोता और भटकता रहेगा।' इस प्रकार कहकर वह बार-बार हँसता है। और जबतक अपनी धरोहर मिल नहीं जाती—वासना, आसक्ति और प्रतिहिंसाकी वृत्तिसे बार-बार पुत्रके रूपमें जन्म ले-लेकर उसे दुःख दे-देकर मरता है—

'दुःखं दत्त्वा प्रयात्येवं भूत्वा भूत्वा पुनः पुनः।'

२-ऋणानुबन्धी—जो मनुष्य किसीसे कर्ज लेकर बेईमानी कर जाता है और चुकानेमें समर्थ होनेपर भी उसे चुकाता नहीं, ऋण देनेवाला अगले जन्मोंमें उसके यहाँ संतान

होकर जन्म लेता है। वह जन्मसे ही निष्ठुर और निर्दयी होता है। सदा कड़ुआ बोलता है, घरमें अच्छी-अच्छी चीजें छीन-छीनकर खा जाता है। रोकनेपर खीझकर गालियाँ बकता है, माँ-बापकी निन्दा करता है, हृदयमें बड़ी करुणा उत्पन्न करनेवाले और डरा देनेवाले कठोर वचन बोलता है। जूआ खेलता है, चोरी करता है, लूट-लूटकर खाता है, लड़कपनसे ही मौज-शौक, बीमारी, सगाई, विवाह आदिमें खूब खर्च करवाता है। वह कहता है सब कुछ 'मेरा' ही है। पिता-माताको बोलने भी नहीं देता। बोलते हैं तो लातों-घूसों तथा लाठी-डंडोंसे उनकी खबर लेता है। पिता मर जाता है तब माताको इसी प्रकार दुःख देता है। श्राद्ध-दान आदि सत्कर्म कभी नहीं करता और इस प्रकार अपना ऋण वसूल करता है। संसारमें ऐसे भी पुत्र पैदा होते हैं—

'एवंविधाश्च वै पुत्राः प्रभवन्ति महीतले।'

३-वैरानुबन्धी—~~पूर्वजन्ममें वैरभावसे किसीको दुःख पहुँचाया हो तो वह अपना बदला चुकानेके लिये इस जन्ममें पुत्र होकर पैदा होता है।~~ वह लड़कपनसे ही माँ-बापके साथ वैरीका-सा आचरण करता है। खेल-ही-खेलमें पिता-माताको बुरी तरह मारकर हँसता हुआ भाग जाता है। यों बार-बार मारता है, नित्य-निरन्तर गुस्सेमें भरा हुआ उन्हें जली-कटी सुना-सुनाकर जलाता रहता है। सुखकी नींद कभी नहीं सोने देता। जबतक वे जीते हैं, तबतक दुःख-ही-दुःख देता है, प्रत्यक्ष वैरीका-सा बर्ताव करता है और अन्तमें वह दुष्टात्मा अपने पिता-माताको मारकर अपना बदला चुकाकर चला जाता है—

पितरं मारयित्वा च मातरं च ततः पुनः।
प्रयात्येवं स दुष्टात्मा पूर्ववैरानुभावतः॥

४-उपकारानुबन्धी—जिसका पूर्वजन्ममें सकामभावसे ~~उपकार किया हो, जिसे सुख पहुँचाया हो, वह सुख देनेके लिये पुत्ररूपमें जन्म लेता है। ऐसा पुत्र बड़ा ही सुशील, प्रिय और सुखदायी होता~~ है। वह जन्मसे लेकर दीर्घकालतक माँ-बापको सुख देता है, उनका प्रिय कार्य करता है। भक्ति और स्नेह-भरे वचनों तथा कार्योंसे संतुष्ट करता है। उनकी सेवा करता है। उन्हें अच्छे-अच्छे भोजन कराता है और दान-पुण्य करवाता है। माता-पिताके मरनेपर दुःखी होकर स्नेहवश रोता है तथा श्राद्ध-पिण्ड-दानादि सब क्रियाओंको श्रद्धापूर्वक करता है और अपना सारा जीवन उनकी कीर्ति-विस्तारमें लगाता है। वह पुत्र होकर इस प्रकार माता-पिताके संतोषार्थ ही सब कुछ करता है—

'पुत्रो भूत्वा महाप्राज्ञ अनेन विधिना किल।'

५-उदासीन—जो किसी प्रकारका भला-बुरा बदला चुकानेके लिये जन्म नहीं लेता, वह उदासीन पुत्र कहलाता है। वह न कुछ देता है न लेता है, न किसीपर क्रोधित होता है और न तो संतोष प्रकाश करता है। उसकी सभी क्रियाएँ उदासीनकी तरह होती हैं। उसका सारा जीवन उदासीनभावमें ही बीतता है—

'उदासीनेन भावेन सदैव परिवर्तते।'

जैसे पूर्वजन्मोंका बदला चुकानेके लिये ये पुत्र होते हैं, वैसे ही अन्य सम्बन्धी आदि भी होते हैं—

~~यथा पुत्रस्तथा भार्या पिता माताथ बान्धवाः~~ ॥
~~भृत्याश्चान्ये समाख्याताः पशवस्तुरगास्तथा~~ ।
~~गजा महिष्यो दासाश्च~~ .... ॥

पुत्रकी तरह पत्नी, पिता-माता, बन्धु-बान्धव, नौकर, गौ, घोड़े, हाथी, भैंस और दास आदि भी पूर्वजन्मके अच्छे-बुरे कर्मोंका फल देने और बदला चुकानेके लिये होते हैं।[1]

* * *

भगवान्‌के प्रेमीकी यही पहचान है कि वह भगवान्‌के दर्शनके लिये अत्यन्त व्याकुल रहता है। बहुत भूखा आदमी जैसे रोटीके लिये चिन्तित रहता है, उससे भी सहस्रगुणा अधिक चिन्ता भक्तको भगवान्‌के लिये रहती है। जैसे भूखेका चेहरा छिपा नहीं रहता, वैसे ही विरही भक्तका भी छिपा नहीं रहता।—एक अरण्यवासी महात्मा

* * *

---

[1] १-श्रीसोमशर्मा और उनकी धर्मपत्नी सुमनाका संवाद। (पद्मपुराण, भूमिखण्ड, अध्याय ११। १२)

साधनोपयोगी पत्र

(१)

भगवान्का विधान

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपके कुछ महीनोंपूर्व आये हुए पत्रका उत्तर आज दिया जा रहा है। कार्यकी अधिकताके कारण अबतक इधर ध्यान न दिया जा सका, कृपया क्षमा करेंगे।

आप पूछते हैं—'देशमें मँहगाई और हिंसा फैल रही है, साथ ही मनुष्य भी नरहत्याका ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। वे पशुसे भी आगे बढ़ गये हैं। हिंसक-से-हिंसक पशु भी ऐसी खून-खराबी नहीं कर सकते, इसमें भगवान्का कहाँतक हाथ है?....।'

इसमें संदेह नहीं कि संसारमें जो कुछ हो रहा है वह भगवान्की इच्छासे ही होता है, उनकी इच्छाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। साथ ही यह भी सत्य है कि भगवान् परम दयालु हैं, वे सम्पूर्ण जगत्का कल्याण ही चाहते हैं, वे कभी ऐसी इच्छा नहीं कर सकते कि जगत्में प्राणी कष्ट भोगें, उनकी निर्दयतापूर्वक हत्या होती रहे।

ये बातें ऊपरसे देखनेपर परस्पर विरुद्ध-सी प्रतीत होती हैं, किंतु हैं दोनों ही सत्य। इस रहस्यको समझना आवश्यक है। भगवान्में स्वतः कोई इच्छा नहीं होती। वे स्वरूपतः पूर्णकाम और कृतकृत्य हैं। जिसे कुछ पाना या करना शेष हो वही इच्छा करता है, अथवा उसीके मनमें इच्छा या कामनाका उदय होता है। भगवान्के लिये तो **'नानवाप्तमवाप्तव्यम्'** है, उन्हें न कोई वस्तु अप्राप्त है और न पानेयोग्य है, फिर उनमें इच्छा कैसे रहे ? ऐसे इच्छारहित भगवान्में इच्छा पैदा करते हैं, हमारे अपने कर्म। हमारे द्वारा जो नाना प्रकारके कर्म होते रहते हैं, उनमें शुभ और अशुभ सभी तरहकी क्रियाएँ होती हैं। शुभ कर्मोंका फल सुख और अशुभ कर्मोंका फल दुःख है। जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा फल मिले—यह भगवान्का ही बनाया हुआ नियम है। अशुभका दण्ड इसलिये है कि हम अशुभसे दूर रहें। शुभका पुरस्कार इसलिये है कि हम शुभकर्म ही करें। दण्ड देनेमें भगवान्का न तो जीवके प्रति कोई द्वेष है और न पुरस्कार देनेमें किसी जीवके प्रति उनका राग ही है। वे तो कर्मफलोंकी व्यवस्थामात्र कर देते हैं। इसलिये उनमें निर्दयता और विषमताका दोष नहीं दिया जा सकता।

जब अधिक जीवोंके बुरे प्रारब्ध-कर्म एक साथ फल देनेको उन्मुख हो जाते हैं तब अकाल, मँहगाई तथा पारस्परिक संघर्ष और हिंसा आदिके द्वारा उन्हें कष्ट भोगना पड़ता है। आप कहेंगे, इसमें भगवान्की दया कहाँ रही। वे तो न्यायाधीशकी भाँति फैसलामात्र सुना देते हैं। नहीं—ऐसी बात नहीं है। भगवान्का प्रत्येक कार्य दयासे भरा रहता है। ये भाँति-भाँतिके कर्म जीवको अपने पाशमें बाँधकर भगवान्से पृथक् किये हुए हैं। भगवान् उन कर्मोंके फल भुगताकर यह चाहते हैं कि ये इनके बन्धनसे छूट जायँ। ये मुझसे पृथक् हो अस्वस्थ या अपदस्थ हो गये हैं, पुनः इन्हें अपने स्वास्थ्य अथवा पदकी प्राप्ति हो—यही उन दयामय प्रभुकी इच्छा है।

जैसे डॉक्टर बहुत-से रोगियोंको बेहोश करके उनके घावोंको छुरेसे चीरता है, उनके सड़े-गले मांस और रक्तको निकालता है, आवश्यकता होनेपर हड्डियों तथा किसी अङ्ग तकको काट डालता है, उसी प्रकार भगवान् भी करते हैं। डॉक्टरके उस ऑपरेशनको एक छोटा बालक निर्दयताका ही काम कह सकता है, किंतु समझदार यह जानते हैं कि डॉक्टरका सारा प्रयत्न रोगीको जीवनदान देनेके ही लिये है। इसी प्रकार जब जगत्में सामूहिक संहारकी लीला देखनेमें आती है तो साधारण मनुष्य भगवान्को निष्ठुर, निर्दय तथा और भी न जाने क्या-क्या कहने लगते हैं, किंतु ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि भगवान्का प्रत्येक कार्य जगत्के कल्याणके लिये ही हो रहा है। उसमें जो कष्ट या दुःखकी प्राप्ति कुछ कालके लिये होती है, वह हमारे अपने ही कर्मोंका अपथ्य-सेवनमें बढ़ाये हुए रोगों या घावोंका ही कटु परिणाम है। भगवान् तो उससे भी छुड़ानेके लिये ही यत्नशील हैं।

इतना होनेपर भी जो मानव स्वयं असुर बनकर दूसरे नर-नारियोंका रक्त बहा रहे हैं, उन्हें इसका कठोर दण्ड भोगना पड़ेगा। जो लोग इस अत्याचारके शिकार हो रहे हैं, उनको तो किसी पूर्व-कर्मका भोग मिलता है, परंतु जो धर्म और ईश्वरको भूलकर, विवेक और विचारको खोकर तुच्छ स्वार्थके लिये या

काम, क्रोध, द्वेष, वैर और हिंसावृत्तिके वशमें होकर प्राणियोंके जीवनको संकटमें डाल रहे हैं, वे गीताकी वाणीमें 'असुर-स्वभाव' वाले हैं। उन्हें भगवान्‌का कठोर दण्ड अवश्य मिलता है।

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

कष्टके लिये क्षमा करें। शेष भगवत्कृपा।

(२)

भविष्यके लिये शुभ विचार कीजिये

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी पारिवारिक स्थितिसे आपको असंतोष है, पिताजीके व्यवहारसे आपको क्षोभ होता है और आप आवेशमें आकर गृह-त्यागका और कभी-कभी देह-त्यागका विचार करते हैं, सो मेरी समझसे आपको ऐसा विचार भूलकर भी नहीं करना चाहिये। संसारमें ऐसा कोई भी नहीं है जिसके मनकी ही सब बातें होती हों। भगवान्‌का मङ्गल-विधान मानकर प्रतिकूलतामें अनुकूलताका अनुभव करनेसे ही चित्तमें शान्ति हो सकती है। जहाँ आप भगवान्‌के मङ्गल-विधानमें विश्वास करने लगेंगे, वहीं लौकिक परिस्थिति भी बदलने लगेगी। प्रतिकूल भी अनुकूल होने लगेंगे। पर वे न भी होंगे, तो भी आपका क्षोभ तो मिट ही जायगा। भावी जीवनको संकटमय न देखकर सुखमय देखनेका संकल्प कीजिये। जो मनुष्य रात-दिन दुःख, क्लेश, संकट और असफलताका चिन्तन करता है, वह क्रमशः दुखी, क्लेशित, संकटापन्न और असफल ही होता है। मनुष्यकी अपनी जैसी दृढ़ भावना होगी, वैसी ही परिस्थितिका निर्माण होगा और अन्तमें वह वैसा ही बन जायगा। आपके भगवान् सर्वसमर्थ हैं, आपके परम सुहृद् हैं, उनकी कृपापर विश्वास करके भविष्यको अत्यन्त उज्ज्वल तथा सुखमय देखनेका अभ्यास कीजिये। ध्रुव, प्रह्लाद, भरत आदिके इतिहासको याद कीजिये। भगवान्‌की कृपासे क्या नहीं हो सकता और उनकी कृपा आपपर अपार है। इस बातपर विश्वास कीजिये। भगवान्‌ने अपनेको स्वयं समस्त प्राणियोंका सुहृद् बतलाया है। आप घबराइये नहीं। मनमें जो देहत्याग आदिके असत् विचार आते हैं, इनको निकालकर मनमें बार-बार ऐसे विचार लाइये कि आप सर्वशक्तिमान् सर्वलोकमहेश्वर अकारण-प्रेमी भगवान्‌के परम प्यारे हैं। उनकी कृपा-सुधाधारा निरन्तर आपपर बरस रही है। आप उनके लाड़ले पुत्र हैं। उनकी कृपासे आपकी सारी विपदाएँ, सारी अड़चनें स्वतः ही दूर हो जायँगी। उनकी घोषणा है—'तुम मुझमें चित्त लगा दो, मेरी कृपासे सारी कठिनाइयोंसे तर जाओगे।' आपकी प्रत्येक स्थितिसे वे परिचित हैं और सदा आपके कल्याण-साधनमें लगे हैं। उनकी कृपाशक्तिके सामने आपपर विपत्ति डालनेवाली कोई भी शक्ति कुछ भी नहीं कर सकेगी। आपकी वे सब प्रकारसे वैसे ही रक्षा करेंगे, जैसे स्नेहमयी माता बच्चेकी रक्षा करती है। आप किसी प्रकार भी निराश, उदास और विषादग्रस्त मत होइये। भविष्यको संकटापन्न और अन्धकारमय देखनेका अर्थ है—भगवान्‌की कृपापर विश्वास न करना। आप जप-कीर्तन तथा भजन करते हैं सो बड़ी अच्छी बात है, पर जप-कीर्तन और भजनका प्राण तो भगवान्‌पर विश्वास है। विश्वासहीन भजन निष्प्राण होता है। घरवाले यदि आपके भजन-कीर्तनसे अप्रसन्न हैं तो मन-ही-मन भजन कीजिये। मन-ही-मन करनेको कोई भी नहीं रोक सकता। शेष भगवत्कृपा।

(३)

भगवद्भक्तिसे हानि नहीं होती

प्रिय बहिन! आपका पत्र मिला। आप लड़कपनसे ही यथाशक्ति पूजा-पाठ तथा जप करती हैं। आपके दो पुत्र चले गये। अब तीसरा बच्चा हुआ है। पर आपकी माताजी कहती हैं कि 'इस पूजा-पाठके कारण ही पहले बच्चे मर गये थे। तुम्हारे पूजा-पाठसे इस बच्चेका भी अनिष्ट हो जायगा।' सो यह उनका भ्रम है। भलेका फल कभी बुरा नहीं हो सकता। भगवान्‌की भक्ति, भगवान्‌के नाम-जप तथा अपने घरमें भगवान्‌की पूजा करनेका सभीको अधिकार है। स्त्री हो या पुरुष—यह सभीके लिये मङ्गलकारी कार्य है। भगवान्‌की भक्तिसे पुत्रोंके मरनेका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। हानि-लाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण सब प्रारब्धके फल हैं। भगवद्भक्तिसे तो सकामभाव होनेपर ये प्रारब्धके विधान उलटे टल सकते हैं। न टलें तो भी अमङ्गल तो होता ही नहीं। मनुष्य-जीवनकी सफलता ही भगवान्‌की भक्तिमें है। आपको

बड़ी नम्रता, विनय तथा सेवा करके माताजीको यह बात समझानी चाहिये। विवाद-झगड़ा कभी नहीं करना चाहिये।

फिर भी यदि माताजीको इससे बहुत ही दुःख होता हो तो आप धीरे-धीरे अपने भक्तिके भावको मनके अंदर ले जाइये। मनसे आप भगवान्‌को याद करेंगी, उनकी मानसिक पूजा करेंगी तो उससे कोई आपको रोक नहीं सकता। न किसीको पता ही लग सकता है। फिर किसीकी अप्रसन्नताका कोई प्रश्न ही नहीं रह जायगा। और वास्तवमें जितना महत्त्व मानसिक भावोंका है, उतना बाहरी पूजाका है भी नहीं। पर इसका यह अर्थ नहीं मानना चाहिये कि मैं बाहरी पूजाका निषेध करता हूँ। बाहरी पूजा भी अवश्य करनी चाहिये, परंतु भीतरीके साथ-साथ। और जहाँ-कहीं उससे कोई उपद्रव खड़ा होता हो, (चाहे वह किसीकी भूलसे हो) वहाँ तो ज्यादा अभ्यास भीतरीका ही करना चाहिये।

अन्तमें आपकी माताजीसे भी मेरी प्रार्थना है कि वे इस बहमको छोड़ दें। भगवान्‌की भक्ति और पूजा स्त्री-पुरुष सभी कर सकते हैं और भगवान्‌की भक्ति-पूजासे लोक-परलोकमें कल्याण ही होता है। उसको रोकना, भक्ति करनेवालेका विरोध करना पाप है और उससे परिणाममें दुःख होता है। घरवालोंका तो यह परम धर्म होना चाहिये कि वे समझाकर, विनय करके, सेवा करके सभी घरवालोंको भगवान्‌की भक्तिके मार्गमें लगायें। वही सच्चा घरका मित्र, बन्धु और हितैषी है जो अपने घरवालों, मित्रों और बन्धुओंको भगवान्‌की ओर लगाता है—

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥

शेष भगवत्कृपा !

सुख-दुःखसे अतीतके जीवनकी खोज

साधक प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगसे परिस्थितियोंसे परेके जीवनमें प्रवेश कर सकता है। उस जीवनमें किसी प्रकारकी विषमता, अभाव, भय या जडता नहीं है। उस जीवनकी प्राप्ति प्रत्येक परिस्थितिके सदुपयोगसे हो सकती है। इस दृष्टिसे प्रत्येक परिस्थिति साधनमात्र है, साध्य नहीं। साधनबुद्धिसे प्रत्येक परिस्थिति आदरणीय है। इस दृष्टिसे अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही समान हैं। जिस प्रकार यात्री दायें-बायें दोनों ही पैरोंसे चलकर अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचता है, उसी प्रकार साधक अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियोंके सदुपयोगसे अपने अभीष्ट लक्ष्यतक पहुँचता है।

सुख-दुःख अपने-आप आने-जानेवाली वस्तुएँ हैं। उनमें आबद्ध होना चित्तको अशुद्ध करना है। सुखमें उदारता और दुःखमें त्याग अपना लेनेपर सुख-दुःखका बन्धन स्वतः टूट जाता है। भोगी रुचिका नाश भोगकी वास्तविकता जान लेनेपर स्वतः हो जाता है। योगकी लालसा भोगकी रुचिका अन्त करनेमें समर्थ है। प्रतिकूलता जीवनमें केवल योगकी लालसाको प्रबल बनानेके लिये आती है। योगकी लालसा भोगकी रुचिको खाकर योगसे अभिन्न कर देती है।

सुखके आदि और अन्तमें दुःख है। ~~यदि उस दुःखका प्रभाव इतना हो जाय कि सुखकी लोलुपता मिट जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुख-दुःखसे अतीतके जीवनमें प्रवेश हो सकता है~~। सुखकी आसक्ति और दुःखके भयने ही चित्तको अशुद्ध कर दिया है। चित्त शुद्ध करनेके लिये यह अनिवार्य है कि दुःखके महत्त्वको अपना लिया जाय। इससे सुखकी दासता स्वतः मिट जायगी।

~~दुःखका भय और सुखकी दासता सुख-दुःखका सदुपयोग नहीं होने देते~~। अतः दुःखके भय तथा सुखकी दासताका अन्त करना अनिवार्य है। ~~सुखसे अतीतके जीवनकी जिज्ञासा भी सुखके रागको खा लेती~~ है। सुख-दुःखसे अतीतके जीवनका विश्वास भी सुख-दुःखसे सम्बन्ध-विच्छेद करानेमें समर्थ है। उपर्युक्त तीनों बातोंमेंसे जिस साधकको जो सुगम हो उसे वही अपना लेना चाहिये। किसी एकके भी अपना लेनेसे सफलता हो सकती है।

★

पढ़ो, समझो और करो

(१)

बुराईके बदले भलाई—हृदय-परिवर्तन

कुछ वर्षों पहलेकी बात है। बाबू रामानन्दके बगलमें ही एक सोनारका घर था। सोनार बहुत अच्छा आदमी था, उसकी पत्नी भी साध्वी थी, पर पता नहीं क्यों, बाबू रामानन्दको सोनारके प्रति द्वेष हो गया था। वे चाहे जिससे उसकी निन्दा करते। कोई भी गहना बनवाने आते तो रामानन्द उसकी बेईमानी-चोरी बताकर उसमेंसे कइयोंको लौटा देते। पर वास्तवमें सोनार बड़ा ही ईमानदार था। इससे उसकी बहुत अच्छी साख थी। रामानन्दके विपरीत प्रयत्नपर भी उसको बहुत काम मिलता। उसकी लड़कीका व्याह था। पड़ोसीकी सहायता करना तो दूर रहा, रामानन्दने अपने दुष्ट स्वभाववश विवाहमें भी कई तरहके विघ्न डाले। बरातियोंका अपमान कराया। उन्हें भड़काया भी। विवाह किसी तरह हो गया। पर सोनारने न कुछ बुरा माना, न रामानन्दका प्रतिकार किया और रामानन्दके साथ व्यवहारमें भी कहीं रूक्षता-कटुता नहीं आने दी। वह वैसे ही विनम्र तथा निश्चल बना रहा। एक दिन रामानन्दने कुछ दे-लेकर गुंडेके द्वारा राह चलते सोनारको गालियाँ दिलवायीं और उसे मरवाया। उसके घर तथा दूकानपर एक दिन गंदा कूड़ा गिरवा दिया। इस तरह अपनी ओरसे रामानन्दने सोनारको नुकसान तथा कष्ट पहुँचानेमें कोई कसर उठा नहीं रखी। पर सोनार सहज ही शान्त रहा।

एक रात्रिकी बात थी, रामानन्द कहीं बाहर गया हुआ था। घरमें उसकी स्त्री तथा बालक अकेले थे। चोरोंने सुअवसर देखकर रामानन्दके घरमें सेंध लगायी। वह धनी था। हजारों रुपये नकद उसके घरमें रहते और गिरवी रखा हुआ तथा अपना हजारों रुपयेका गहना भी उसके घरमें था। ठीक उसी समय सोनारकी पत्नी जग गयी। उसने पतिको जगाया। तबतक सेंध लगाकर एक चोर अंदर घुस गया था। दो बाहर खड़े थे। उजियाली सुनसान रात थी। माल भी बाहर निकाल लिया था। नक़द रुपये तथा बहुत-सा गहना था। वे भागना ही चाहते थे। सोनारने जाकर चोरोंको ललकारा। चोर वहींके जान-पहचानके थे। सोनार उन्हें पहचानता था। उन्होंने सोनारसे कहा—'तुमको तो हमारी सहायता करनी चाहिये। तुम्हें कितना रुलाता तथा कष्ट देता रहता है वह नीच रामानन्द। आज वह घर नहीं है, हमलोग सब मालमत्ता ले जायँगे तो उसका मिजाज ठंडा हो जायगा तथा वह सीधा हो जायगा। तुम्हारे लिये तो यह खुशीकी बात है।' सोनारने कहा—'भाई! ऐसा नहीं हो सकता। हमलोगोंका आपसमें पुस्तैनी भाईचारेका सम्बन्ध है। क्या हुआ, जो भूलसे हमें वह कुछ कह-सुन लेता है, आखिर है तो हमारा पीढ़ियोंका पड़ोसी भाई ही। जबतक मेरे शरीरमें प्राण हैं, मैं अपने देखते-जानते भाई रामानन्दका तनिक-सा भी नुकसान नहीं होने दूँगा।' चोरोंने छूरा निकालकर कहा—'बड़े धर्म पालनेवाले आये हो, हट जाओ यहाँसे, नहीं तो अभी काम तमाम हो जायगा।'

सोनारकी स्त्री इसी बीचमें उठकर कुछ ही दूरपर एक धनी सज्जन हरचन्द्ररायका घर था, उसमें रातको पहरा लगा करता था, वहाँ पहुँच गयी और पहरेदारसे प्रार्थना करके तुरंत थानेमें खबर करवा दी। मुहल्लेमें और लोग भी जग गये। सोनारकी स्त्रीके उद्योगसे यह सब हो गया। थानेसे पुलिसके सिपाही चले और मुहल्लेके लोग भी। इधर चोर छूरा मारनेको तैयार हुए ही थे कि सिपाही तथा और लोग समीप आ गये। चोर माल लेकर भागे। सोनारके रोकनेपर एक चोरने सोनारको छूरा मारा, पर वह भाग रहा था। सोनारने बायाँ हाथ सामने किया तो उसकी हथेलीपर कुछ चोट लगी। इतनेमें पुलिस तथा और लोग आ गये। तीनों चोर मालके साथ रँगे हाथों पकड़ लिये गये। रामानन्दकी स्त्री यह सब देख रही थी। मुहल्लेके लोग सोनारका यह पवित्र भाव तथा महान् कार्य देखकर दंग रह गये। सब उसकी प्रशंसा करने लगे। सभी जानते थे कि रामानन्द वर्षोंसे निर्दोष सोनारको बेहद सता रहा था। उन्होंने उसकी स्त्रीसे कहा—'देखो, अपने पतिकी काली करतूतपर विचार करो और इस सोनारका भला काम देखो। छूरा कहीं भी लग सकता था और इसकी जान जा सकती थी। पर इसने तुम लोगोंको अपनी जान देकर भी बचाना चाहा और दोनों स्त्री-पुरुषने मिलकर आखिर बचा ही लिया।' रामानन्दकी पत्नी रो रही थी, अपने काले कारनामोंको याद

करके और सोनार-दम्पतिका अनोखा त्याग तथा प्रेम देखकर। पश्चात्तापके आँसुओंने उसका सारा कलुष धो दिया।

दूसरे दिन रामानन्द लौटा। पत्नीने सारा हाल बतलाया। मुहल्लेके लोगोंने तथा पुलिसने भी बतलाया। रामानन्दका हृदय पलट गया। उसके हृदयका सारा विष सोनार-सोनारीके विलक्षण स्नेहामृतसे नष्ट हो गया। वह जाकर सोनार-सोनारीके चरणोंमें पड़ गया। उनसे रो-रोकर क्षमा माँगी, पर उनके मनमें तो कोई द्वेष था ही नहीं। उन्होंने रामानन्दको सरल हृदयसे सान्त्वना दी। रामानन्द तो उनका चरणसेवक बन गया। परस्पर प्रेमका प्रवाह बह चला।

—हरिप्रसाद शर्मा

(२)

सत्प्रेरणासे संकट टला

घटना लगभग छः वर्ष पूर्वकी है। सितम्बरका महीना था। हमें अपने भानजेके विवाहमें सम्मिलित होने उज्जैन जाना था। उज्जैन जानेके लिये नागदा जंक्शनपर गाड़ी बदलनी पड़ती है, अतः हमने देहरादून एक्सप्रेसमें नागदाका आरक्षण कराया था।

दिल्ली जंक्शनपर रात ९ बजे हम गाड़ीमें चढ़े तथा नीचेकी दो बर्थ जो हमारे लिये आरक्षित थी, उसपर सामान रखकर बैठ गये। तभी सम्पन्न परिवारके प्रतीत होनेवाले एक वृद्ध दम्पति सामानके साथ आये और हमारी सीटपर बैठ गये। कुछ देर बाद कंडक्टर आया और उसने उन्हें अपनी सीटपर बैठनेको कहा। वृद्ध पुरुषने कंडक्टरसे कहा—'भाई साहब! मेरी पत्नीको गठियाका रोग है, अतः उसे ऊपर चढ़नेमें तकलीफ होगी, यदि हो सके तो नीचेकी एक बर्थ दे दें।'

'कोई बात नहीं। मेरी नीचेकी बर्थ है, इसपर ये आराम करें, मैं ऊपरकी सीटपर चला जाता हूँ'—मैंने कहा। उस व्यक्तिने कृतार्थ-भावसे धन्यवाद दिया और नीचेकी बर्थपर अपना बिस्तर बिछा लिया।

धीरे-धीरे गाड़ी चलने लगी। ठंडी हवा चल रही थी और कुछ देर बाद हम सब सो गये।

प्रातः लगभग छः बजे आँख खुली। सवाई-माधोपुर स्टेशनपर गाड़ीमें भीड़ होने लगी। दैनिक यात्री चढ़ने लगे। आरक्षित डिब्बा साधारण डिब्बेसे भी अधिक भर गया। बैठनेतकको स्थान मिलना मुश्किल हो गया। मैं नीचेकी सीटपर उतर आया। वे सज्जन तो पहलेसे बैठे हुए थे। थोड़ी देर बाद वे हाथ-मुँह धोने शौचालय गये। भीड़के कारण जानेमें असुविधा थी। वापस आये तो चेहरा मुरझाया-सा था। धीरेसे उन्होंने अपनी पत्नीसे कहा—'गजब हो गया, इस भीड़में तो मेरी जेब कट गयी। सारे पैसे और टिकट भी उसीमें थे, अब क्या होगा।'

साथ बैठे दूसरे यात्रियोंने कहा—'कितने रुपये थे, यहाँ तो रोज यही होता है। पैसोंको सावधानीसे रखना चाहिये था।'

'रुपये तो पाँच हजार थे, उसकी मुझे चिन्ता नहीं, किंतु टिकट खो जानेसे परेशानी है। यदि पकड़ा गया तो अपमान होगा, जुर्माना भरनेको भी पैसे नहीं हैं, जैसी प्रभुकी इच्छा।'

'आप चिन्ता न करें, मैं टिकट-चेकरको समझा दूँगा, आपको जाना कहाँ है'—मैंने उत्सुकतासे पूछा।

'रतलाम'—संक्षिप्त-सा उत्तर देकर वे उदास-मनसे खिड़कीके बाहर देखने लगे। उनकी पत्नी भी काफी दुःखित थीं। उस असहाय दम्पतिके मुखमण्डलके लक्षणोंसे उनके आन्तरिक भावों एवं पीड़ाको मैं समझ गया।

कोटा स्टेशनपर सारी भीड़ उतर गयी, डिब्बा फिर खाली हो गया। लगभग दो बजे नागदा आया और मैं पत्नीके साथ उतरा। उज्जैन जानेवाली गाड़ी एक घंटे लेट थी। प्लेटफार्मपर पत्नीको सामानके पास छोड़कर मैं उज्जैनका टिकट लेने खिड़कीपर गया।

दो टिकट उज्जैनके लेते समय सहसा मेरे मस्तिष्कमें उस असहाय वृद्ध दम्पतिका विचार आया और मैंने उनके लिये भी नागदासे रतलामके दो टिकट खरीद लिये। जैसे ही मैं प्लेटफार्मपर पहुँचा, गाड़ी चलने लगी थी। मैंने दौड़कर टिकट उनको दे दिये। इससे पहले कि वे कुछ कहते, गाड़ीने रफ्तार पकड़ ली।

कुछ समय बाद हमलोग उज्जैन पहुँचे। उज्जैनमें भानजेके विवाहके पश्चात् हमें वापस आना था। सोमवारका दिन था, अतः प्रातः स्नान करके श्रीमहाकालेश्वरके दर्शन करने पत्नीके साथ गये। दर्शन करके हम मन्दिरके प्राङ्गणमें आये तो देखा कि वह वृद्ध दम्पति भी हाथमें पूजाका थाल लिये

दर्शनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे हमें देखते ही बड़ी उत्सुकतासे मेरे पास आकर बोले—'भाई साहब! कृपया थोड़ी देर रुकिये, आपसे बात करनी है। अभी हम दर्शन करके आते हैं, जाइयेगा नहीं।'

उनके आग्रहके कारण हम रुक गये। दर्शन करनेके उपरान्त वे आये और बोले—'भाई साहब! उस दिन आपने हमारी लाज रख ली। रतलाम स्टेशनपर मजिस्ट्रेट चेकिंग हुई, बिना टिकटवाले अनेक यात्रियोंको भारी जुर्माना देना पड़ा तथा जो न दे पाये उनको कारावास जाना पड़ा। भगवान् आपका भला करेगा। यदि आप मेरी मदद न किये होते तो शायद आज हम दोनों कारावासमें होते।'

बात करते-करते हम मन्दिरके प्राङ्गणके बाहर आये। पास खड़ी कारमें बैठनेका आग्रह कर वे बोले—'चलिये, आपको घर छोड़ आते हैं।' उत्सुकतावश मैंने पूछा—'आप रतलाममें क्या करते हैं और उज्जैन आना कैसे हुआ।'

उन्होंने कहा—'भाई! भगवान्की दयासे मेरी तेलकी मिल है और कपड़ेकी आढ़तका भी व्यापार है। उस समय जेब कटनेपर मन-ही-मन महाकालेश्वरका स्मरण किया और याचना की थी कि 'हे प्रभो! संकटकी इस घड़ीमें मेरी रक्षा करो।' भगवान् महाकालेश्वरके अनुग्रहने मुझे उस विपत्तिसे उबारा था। यदि उस समय भगवान् आपको परोपकारकी प्रेरणा न देते तो हम घोर संकटमें पड़ जाते। मैं आपका बहुत ही कृतज्ञ हूँ। ऐसा कहते हुए उन्होंने टिकटके रुपये ले लेनेका आग्रह किया। मैं लेना नहीं चाहता था, किंतु उनके बार-बार आग्रहपर मैंने टिकटके मूल्यके बराबर रुपये लेकर शेष उन्हें लौटा दिये। वे दम्पति प्रसन्न-मनसे भगवान्के अनुग्रहका स्मरण करते हुए वापस रतलाम चले गये और हमलोग भी कुछ दिनों बाद उज्जैनसे अपने घर लौट आये।

वास्तवमें भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि मनुष्य विश्वासपूर्वक उनका स्वल्प भी स्मरण-चिन्तन एवं ध्यान करता है तो वे कभी साक्षात् प्रकट होकर या कभी अप्रत्यक्ष-रूपसे किसीके मन-बुद्धिमें सत्प्रेरणा प्रकट कर उस व्यक्तिको संकटोंसे मुक्ति दिला देते हैं। यही निष्ठा दृढ़तर होती हुई भगवत्प्राप्तितक भी पहुँचा देती है। अतः नित्य-निरन्तर प्रभुका स्मरण ही इस भव-बाधासे मुक्ति प्रदान करनेका अमोघ उपाय है।

—डॉ॰ श्रीपांडुरंग नारायणजी

(३)

छोटे भाईकी सीख

हमारे बाप-दादाका व्यापार था—व्याजपर रकम उधार देना। पिताजीके मरनेके बाद मेरे बड़े भाईने इस व्यापारको सँभाल लिया। हमारा संयुक्त कुटुम्ब था। एक दिन मैं बाहरसे घर लौटा तो मैंने देखा कि एक गरीब-सा आदमी बड़े भाई साहबसे प्रार्थना करता हुआ पुराना हिसाब चुकता करनेके लिये कह रहा है। खातेमें बाकी निकलते हुए पूरे रुपये लिये बिना बड़े भाई हिसाब चुकता करनेके लिये तैयार नहीं थे। इस आदमीने मूलमें पाँच सौ रुपये व्याजपर उधार लिये थे। व्याजसमेत कुल लगभग एक हजार रुपये भर देनेपर भी अभी सात सौ रुपये उसके नाम बाकी पड़ रहे थे। मुझे यह आदमी सच्ची नीयतका और बिलकुल गरीब स्थितिका लगा। वह दो सौ रुपये लाया था और इसीमें खाता चुकता करनेके लिये गिड़गिड़ा रहा था। बड़े भाई साहब एक पाई भी कम लेनेको तैयार नहीं थे। उनके सामने मेरा कुछ बोलना उचित नहीं लगता था। पर इस परिस्थितिने मेरे मनमें बड़ी हलचल मचा दी थी।

भोजनका समय होनेपर बड़े भाई उठे और उसको यह कहते गये कि 'पूरे पैसे देने पड़ेंगे, नहीं तो रुपये वसूल करनेके लिये दावा किया जायगा।'

वह गरीब ग्रामीण जमीनकी ओर देखता बैठा रहा। मैं भी उसके सामने जडवत् बैठा था। कुछ देर बाद मैंने उस आदमीको आँसू पोंछते देखा। सचमुच वह रो रहा था। मेरे दिलपर मानो हथौड़ेकी चोट लग रही हो, ऐसा लगा। एक ओर बड़े भाई साहबका डर था, दूसरी ओर इस गरीबके प्रति दयाका भाव था। क्या किया जाय? समय कम था। मैंने निर्णय कर लिया। पासकी अलमारीसे मैंने चुपचाप बही निकालकर उसका खाता देखा तो पता लगा कि असली रकमके अतिरिक्त बहुत अच्छी व्याज पेटे जमा थी। उसके लाये हुए दो सौ रुपयेमेंसे केवल सौ ही रुपये लेकर मैंने उसके देखते-देखते खाता चुकता करके उसे रसीद दे दी और जानेके लिये कह दिया। वह खुशी-खुशी चला गया।

मेरे इस प्रकारके व्यवहारसे भाई साहब पहले तो अत्यन्त रुष्ट होकर मुझे बहुत फटकारने लगे, किंतु मेरे द्वारा बार-बार समझाये जानेपर उनका क्रोध शान्त हो गया और वे स्वयंकी गलती मानते हुए अपनी धन चूसनेकी प्रवृत्तिपर बार-बार पश्चात्ताप करने लगे। धीरे-धीरे उन्होंने ईमानदारीका व्रत ले लिया और फिर हमलोगोंका सर्वविध अभ्युदय होता गया, उचित कर्तव्य-पालनसे सुख, संतोषका वातावरण छा गया।

—के० एच० व्यास

(४)

'विश्वास' अमोघ औषध बन गया

मैं पाँचवीं कक्षाका विद्यार्थी हूँ। मेरी उम्र दस वर्षकी है। गत दो वर्षसे मेरे चेहरे, हाथों तथा पैरोंपर बहुत-से मस्से हो गये थे। मैंने एलोपैथिक, आयुर्वेदिक तथा होम्योपैथिक दवाओंका उपयोग किया, पर कोई खास फरक नहीं हुआ।

एक दिन मेरे पड़ोसकी ताईजीने मुझे बतलाया कि 'तुम भगवान् शङ्करको जल अर्पण कर उस जलको मस्सोंपर लगाओ तथा भगवान् शङ्करका सोलह सोमवारतक व्रत करो।' मैंने उनके बतलाये अनुष्ठानके अनुसार नियमपूर्वक भगवान् शङ्करकी आराधना की। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि जहाँ औषधसे कोई विशेष लाभ न हो सका, वहाँ उपर्युक्त व्रतोंके पूर्ण होनेके कुछ समय बाद ही शरीरसे प्रायः सभी मस्से गायब हो गये और मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया। इस घटनासे मेरे मनमें भगवान्के प्रति एक आस्था जाग्रत् हुई। मैंने एक भाईको यह घटना सुनायी और उनसे इसका रहस्य जाननेकी जिज्ञासा की। उस भाईने बताया कि वास्तवमें भगवान् असीम ऐश्वर्य एवं शक्तिसम्पन्न हैं। सर्वज्ञ होनेसे वे त्रिकाल एवं कालातीत सभी बातोंके अधिज्ञाता हैं। वे कर्तुम्, अकर्तुम् तथा अन्यथाकर्तुं सर्वथा सर्वसमर्थ हैं। उनकी भक्तिपूर्वक अर्चना-उपासना अमोघ औषध बनकर उपासकके सभी क्लेशोंको सर्वथा दूर कर देती है। ऐसे चमत्कारसे उपासककी आस्था बलवती होने लगती है और वह अधिक निष्ठावान् होकर उपासना करने लगता है। फलतः वह सभी मनोरथोंको प्राप्त करता हुआ निष्काम उपासनाद्वारा स्व-स्वरूपको भी प्राप्त कर लेता है। —गोविन्दा सोमानी

मनन करने योग्य

[आत्मदर्शनसे परमात्मदर्शन]

मनुष्यमें सद्गुण और दुर्गुण दोनों होते हैं, मनुष्यको दुर्गुणोंका बोध प्रायः मित्रोंके निर्देश और शत्रुओंकी निन्दासे होता है। मनुष्य अपनी त्रुटियों, कमज़ोरियों और पापोंको जितना स्वयं जान सकता है, उतना अन्य कोई प्राणी नहीं जान सकता। अपने हृदयको टटोलनेसे ही मनुष्य यह जान पाता है कि मैं क्या हूँ, मुझे क्या बनना चाहिये, जिससे इस जगत्में मैं सुख और आनन्दसे रह सकूँ और परलोकका सुधार कर सकूँ।

अपने हृदयको टटोलते हुए हमें यह देखना चाहिये कि हम परमात्मा और जगत्के सामने अपना सिर ऊँचा करके चल सकते हैं या नहीं ? हम बुद्धिमान् और भले हैं या नहीं ? हमें परमात्मा और अन्तरात्माका आशीर्वाद एवं संसारके मनुष्योंका आदर और विश्वास प्राप्त है या नहीं ?

रातको सोते समय अपने दिनभरके कार्योंपर हमें दृष्टि डालनी चाहिये और यदि दिनमें हमसे कोई बुरा काम हो गया हो तो उसपर पश्चात्ताप करके आगे उस कामको न करनेकी प्रतिज्ञा करनी चाहिये। जीवन-सुधारका यह सुपरीक्षित उत्तम साधन है, इसे आत्मनिरीक्षण कहते हैं। जब हम प्रातःकाल उठकर जीवनके कामोंमें लगें तो यह ध्यान रखें कि रात्रिको आत्मनिरीक्षण करते समय हमें अपने दिनभरके किसी कार्य या व्यवहारपर दुखी होनेका अवसर उपस्थित न हो।

अपना सुधार करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको अपनेपर अत्यधिक विश्वास नहीं करना चाहिये। जीवनमें गुणोंका धारण करना तो अच्छा है, परंतु उनपर अभिमान करना अच्छा नहीं है। अपने गुणोंसे परिचित रहनेसे मनुष्यमें आत्मविश्वास उत्पन्न होता है जो जीवनकी सफलताके लिये महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। गुणोंपर अभिमान करनेसे मनुष्यके अपेक्षित सुधारमें बाधा उपस्थित होती है। दूसरोंकी विशेषताओंके प्रति उदार और अपनी विशेषताओंके प्रति अनुदार रहनेसे मनुष्य अपना बहुत कुछ सुधार करनेमें समर्थ हो जाता है।

मनुष्यको अपने वास्तविक स्वरूपका बोध कर्तव्य-पालनसे होता है, केवल मात्र मनन और विचार करनेसे नहीं। कर्तव्य-पालनमें निरत व्यक्तिकी उपयोगिता और विशेषताएँ दूसरे व्यक्ति ही ठीक-ठीक जान पाते हैं, दूसरोंकी दृष्टिमें उसका जितना मूल्य होता है, उसे वह व्यक्ति स्वयं नहीं जान पाता, अपनी उपयोगिताका यह अज्ञान मनुष्यको अधिकाधिक विनम्र और योग्य बना देता है।

अपनी त्रुटियोंको जाननेवाले कर्तव्यपरायण बुद्धिमान् व्यक्ति किसी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यको सहसा ही हाथमें लेते हुए डरते हैं। जब सुलेमानको न्यायाधीशका पद अर्पण किया गया तो उन्होंने डरते-डरते उस पदको ग्रहण किया। न्यूटन-जैसे महान् विज्ञानवेत्ता और गणितज्ञ कहा करते थे कि 'मैं ज्ञानके असीम समुद्रमें मोतियोंकी खोजके लिये गोते लगाता हूँ, परंतु मुझे कतिपय कंकड़ ही हाथ लग पाते हैं।' न्यूटनकी यह विनम्रता और अपनी उपयोगिताके प्रति यह उपरामता ही थी जिसने न्यूटनको अपने जीवन-ध्येयमें निरत रहकर चमका दिया था।

मनुष्यके गुणों और बुद्धिकी पहुँचकी सीमा होती है। वह न तो निर्भ्रान्त होता है और न सर्वज्ञ। बुद्धिमान् व्यक्ति अपने विकासके लिये दूसरेकी विशेषताओंको सामने रखते और धीरे-धीरे परमात्माको, जो परमादर्श होता है, अपना आदर्श बनाकर उसतक पहुँचनेका प्रयास करते हैं। परमात्मातक पहुँचनेमें समर्थ होनेके लिये मनुष्यको अपना और परमात्माका ज्ञान उपलब्ध करना होता है। जिसने अपनेको जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। आत्मज्ञानकी प्राप्ति मनुष्यको जानमें या अनजानमें परमात्माकी ओर प्रेरित करती और परमात्माके ज्ञानसे आत्मज्ञानमें परिपक्वता आकर मनुष्य दिव्य आलोकसे प्रकाशित हो उठता है। इस आत्मज्ञानका अर्थ है—अपने प्रति सच्चा बनना। जो व्यक्ति अपने प्रति सच्चा नहीं होता, वह दूसरोंके प्रति क्यों सच्चा बन सकता है? अपने ज्ञानसे जहाँ मनुष्यका अपना लाभ होता और उसे अपने गुणोंका ज्ञान होता है, वहाँ मनुष्य अपने और दूसरोंके प्रति न्याय करनेमें समर्थ हो जाता है। वस्तुतः मनुष्यमें दूसरोंके भावोंको समझने और उनका आदर करनेकी वास्तविक योग्यता भी इस आत्मज्ञानसे आती है। जब हम दूसरोंकी त्रुटियोंकी चर्चा करने लगें तो हमें यह सोचना चाहिये कि वे त्रुटियाँ हममें हैं या नहीं? अपने दोषोंको और त्रुटियोंको जाननेके लिये हमें दूसरोंके दोषों और त्रुटियोंको आइना बनाना चाहिये।

अबसे हजारों वर्ष पूर्व यूनानियोंकी घोर विलासितामें यूनानके सांस्कृतिक ह्रासके बीजका वपन हुआ था। यूनानके निवासीजन भौतिक सुख और भौतिक चमकसे प्रभावित होकर शरीरके उपासक और इन्द्रियोंके दास बनकर चारित्रिक पतनकी ओर अग्रसर हो रहे थे। तब एक दिव्यात्मा महात्मा सुकरातके रूपमें अवतरित हुई। महात्मा सुकरात दिनमें चिराग लेकर एथेन्स (यूनानकी राजधानी) की सड़कोंपर घूमने लगे। लोगोंने उन्हें पागल कहा, उनकी हँसी उड़ायी। जब एक व्यक्तिने इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा—'एथेन्सके निवासी अपनेको भूल गये हैं। आँखें होते हुए भी वे अंधे बन गये हैं। उनके हृदयकी आँखें ज्योतिहीन हो गयी हैं। वे दिनमें भी अंधकारमें टटोल रहे हैं। इसीलिये उन्हें प्रकाशकी आवश्यकता है।'

'तू अपने आपको जान' सुकरातका यह महान् संदेश था। इस संदेशका प्रसार और प्रचार करनेका मूल्य उन्हें अपने प्राणोंके द्वारा चुकाना पड़ा। स्वार्थ और भोग—अज्ञान और अन्धकारमें विलीन प्रजा उनके इस संदेशका मूल्य उनके जीवनकालमें न समझ सकी। समय आया, जब उनका यह संदेश यूनानकी तीन देववाणियोंमें प्रतिष्ठित होकर डेलफीके मन्दिर-द्वारपर स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित हुआ।

आजकी भोगप्रधान संस्कृतिमें जीवन-संघर्ष और शक्ति-संचयके कारण मानवका जीवन-ध्येय पेट और पैसा बना हुआ है। मनुष्यका आत्म-अज्ञान बड़ा दुःखद और शोकपूर्ण बन गया है, जिसके कारण जीवनमें और जगत्‌में अशान्ति व्याप्त हो रही है। इसके निवारणके लिये सच्चे आत्म-दर्शनसे परमात्म-दर्शनकी ओर उन्मुख होनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये।

◆

लोग भला कहें या बुरा, उनकी बातोंकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। संसारके यश और निन्दाकी कोई परवा न करके ईश्वरके मार्गपर चलना चाहिये।—रामकृष्ण परमहंस

◆

भजनमें एक बड़ी बाधा

यद्यपि भगवान्पर विश्वास करके उनके अनन्य शरण हो जानेपर मनुष्यके सारे दोष अपने-आप समूल नष्ट हो जाते हैं और उसके समस्त योगक्षेमका वहन भगवान् स्वयं करते हैं, परंतु ऐसी स्थिति बहुत सहज नहीं है। सच्चे साधनके फलसे नित्य भगवत्कृपाका अनुभव होनेपर ही भगवान्में पूर्ण और अलौकिक विश्वास पैदा होता है और तभी मनुष्य अपने समस्त बल, लोक-परलोक और भोग-मोक्ष सब प्रभुके चरणोंपर अर्पण करके उनके अनन्य शरण होता है। क्षणविश्वासी या अल्पविश्वासी साधारण लोग इस अवस्थासे बहुत दूर रहते हैं। वे भगवान्के गुण और माहात्म्यको सुनकर कभी-कभी विश्वासकी ओर कुछ झुकते हैं, परंतु पर्याप्त आगे बढ़नेसे पहले ही कई प्रकारकी बाधाएँ प्राप्त कर रुक जाते हैं। इन बाधाओंमें कुछ तो पूर्वकर्मोंके प्रतिबन्धक होते हैं और कुछ वर्तमान कालके संग, स्थिति आदिके कारण उत्पन्न हुई रुकावटें होती हैं। ये बाधाएँ अनेक हैं, परंतु इस समय साधारणतः उनमेंसे धनकी चिन्ता एक प्रधान बाधा है। धनकी चिन्ताका कारण उदरपूर्ति या परिवार-पालन ही कहा जाता है, परंतु वास्तवमें मूल कारण दूसरा है—वह है हमारी कामभोग-परायणता। विषयोंके उपभोगको ही परम पुरुषार्थ और परम आनन्द माननेवाले मनुष्योंकी चिन्ताएँ मृत्युकालतक भी दूर नहीं होतीं। क्योंकि ऐसे लोग अपनी स्थितिके अनुकूल साधारण सादा जीवन बिताना भूल जाते हैं। फलस्वरूप उन्हें रात-दिन धनकी इतनी चिन्ता करनी पड़ती है कि उसके सामने भगवान् और धर्मका चिन्तन या विचार तुच्छ, अनावश्यक और कभी-कभी त्याज्य हो जाता है और वे सब कुछ भूल काम-क्रोधपरायण होकर अन्यायपूर्वक धनसंग्रहके कार्यमें लग जाते हैं। यों करते-करते ही उनके जीवनके दिन पूरे हो जाते हैं। बहुमूल्य मनुष्य-जीवन पाप-ताप बटोरनेमें ही व्यर्थ बीत जाता है। यह इतनी बड़ी हानि होती है, जिसकी बड़ी कठिनतासे भी पूर्ति नहीं होती और समय हाथसे निकल जानेपर पीछे बेहद पछताना पड़ता है।

मनुष्य यदि चाहे तो प्रारब्ध या सञ्चित-जनित प्रतिबन्धकोंको भी दूर कर सकता है। पर वर्तमान कालके संग और स्थितिसे उपजी हुई बाधाओंको तो मिटानेमें कोई संदेह ही नहीं है। यदि वह संगको बदल डाले और हृदयमें कुछ बल सञ्चय करके कुसंग और दुर्बलतावश होनेवाले प्रमाद और अकर्तव्य कार्योंको छोड़ दे तो ये बाधाएँ सहज ही दूर हो सकती हैं। वास्तवमें हमें अपने और परिवारके लिये साधारणतः अन्न-वस्त्र-संग्रह करनेमें उतनी कठिनता नहीं है। कठिनता तो यह है कि हमने अपनी आवश्यकताएँ बहुत अधिक बढ़ा ली हैं और उनकी किसी-न-किसी प्रकार पूर्ति करनेमें ही कर्तव्यकी इतिश्री समझ रखी है। यदि हम ध्यान देकर देखें तो व्यक्तिगत और समाजगत ऐसे हजारों अवसर हैं, जिनमें हम बहुत धन खर्च किया करते हैं, परंतु जहाँ बिना खर्च किये ही काम मजेमें चल सकता है, ऐसे अवसरोंपर खर्च करनेकी आवश्यकता हमने उत्पन्न कर ली है, वस्तुतः है नहीं। खाने-पहनने तथा गृहस्थीके दूसरे-दूसरे कार्योंके लिये हम ऐसी बहुत-सी चीजें खरीदते हैं, जिनके न खरीदनेसे हमें अपने जीवन-यापनमें कोई रुकावट नहीं होती। उदाहरणके लिये मनुष्यका दो कपड़ोंमें काम चल सकता है, पर वह चार-पाँच पहनता है, खानेमें मिठाई अथवा बहुत तरहकी तरकारी, अचार आदिके बिना कोई अड़चन नहीं होती, परंतु इनमें बहुत व्यय किया जाता है। छोटे साफ मकानमें रहा जा सकता है, परंतु दिखावेके लिये बड़ी-बड़ी इमारतें बनवायी जाती हैं। शाल-दुशाले, इत्र-फुलेल, साबुन, क्रीम, फरनीचर आदि हजारों प्रकारके शौकके सामानमें पानीकी तरह पैसा बरबाद किया जाता है। यह तो व्यक्तिगत बात हुई। समाजमें ब्याह-शादी, कर्णछेदन, जनेऊ, मरण आदिपर खर्च इतनी बुरी तरह किया जाता है कि जिसका दुःख पीढ़ियोंतक भोगना पड़ता है। सैकड़ों अच्छे-अच्छे घराने इस व्यय-भारसे दबकर नष्ट हो गये और होते जा रहे हैं। इधर वर्षोंसे खर्च घटानेकी तथा रीतियोंमें सुधारकी बात चल रही है और अनेक प्रकारके परिवर्तन भी हुए हैं, परंतु खर्चकी रकम घटनेके बदले बढ़ी है। खर्चके तरीके बदले हैं, खर्च नहीं घटा। बल्कि पहले जो कुछ खर्च किया जाता था, वह प्रायः ऐसी चीजोंमें खर्च होता था जो चीजें बुरे समयपर काम आती थीं और उनकी लागतसे कुछ कम कीमत चाहे जब बेंचकर वसूल की जा सकती थी, परंतु अब तो जो कुछ खर्च होता है, वह प्रायः स्वाहा ही हो

जाता है। फैशनने सबको तबाह कर दिया है। इस सारे अनर्थका कारण हमारी कामभोग-परायणताकी वृद्धि है और इसके छूटनेका असली उपाय विषय-वैराग्यपूर्वक ईश्वर-परायणता ही है। उस ईश्वरपरायणतामें भजनकी आवश्यकता है और भजन होनेमें यह धनकी 'हाय-हाय' बाधक हो रही है। अतएव अपना, समाजका और देशका लौकिक, पारलौकिक हित चाहनेवाले प्रत्येक मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह खर्च घटाये, जीवनमें सब ओर सादगीका व्यवहार करे, व्यक्तिगत और समाजगत धनकी फजूलखर्चीको दृढ़ता और बलके साथ नासमझीसे होनेवाली बदनामीको सहकर भी रोके। विवाह-शादीमें तो जो अनर्थ हो रहा है, सो बड़ा ही रोमाञ्चकारी है। खर्चकी भयानकताके कारण लड़कियोंका ब्याह नहीं होने पाता और अच्छे-अच्छे परिवार इसके लिये दुःखी हो रहे हैं। इसीके कारण प्रायः लड़के-लड़कियोंमें जन्मकालसे ही भेद-दृष्टि हो जाती है। जिसके कई लड़कियाँ हैं उसका तो जीवन ही दुःखमय बन रहा है। ऐसी स्थितिमें प्रत्येक हृदयवान् गृहस्थको इस विषयपर विचार करके कर्तव्य स्थिर करना चाहिये। कन्याके माता-पिता क्या करें उन्हें तो किसी प्रकार खेत-जमीन, घर-द्वार बन्धक रखकर वरके माता-पिताको राजी करना ही पड़ता है। परंतु वह हृदयका रक्त दिया जाता है, दहेज नहीं। जो घर सम्पन्न हैं और परमार्थके मार्गपर आगे बढ़ना चाहते हैं, वे अपनी व्यक्तिगत और समाजगत आवश्यकताओंको तुरंत कम कर दें और अपने लड़कोंका विवाह ढूँढ़-ढूँढ़कर बिना दहेज लिये गरीब माता-पिताकी सुयोग्य कन्याओंसे करनेकी प्रतिज्ञा करें। धर्मप्रेमी अविवाहित युवक भी प्रण करें कि वे अपना विवाह बिना दहेज लिये ही करेंगे। मेरा विश्वास है कि ऐसा करनेसे उन्हें परमार्थ-मार्गमें बड़ा लाभ होगा।

वस्तुतः धन अत्यन्त ही तुच्छ पदार्थ है, प्रेमघन परमात्मारूपी धनकी तुलनामें तो यह रखा ही नहीं जा सकता। सूर्य और जुगुनूकी उपमा भी इसके लिये पर्याप्त नहीं है। इसलिये इस विषयमें वृत्तियोंके अधिक लगानेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि आज इस जड-युगमें चारों ओर धनकी पूजा हो रही है और लोग धन-चिन्तामें पड़े हुए ईश्वरको भूल रहे हैं। धन कम खर्च करनेकी इस प्रार्थनासे यह नहीं समझना चाहिये कि इसमें धनका महत्त्व बतलाया गया है, वरं यह समझना चाहिये कि धन अत्यन्त तुच्छ पदार्थ है, व्यर्थ खर्चकर और उसके उपार्जनमें समय लगाकर उसका महत्त्व बढ़ाना उचित नहीं। हम अपनी आवश्यकताओंको जितना कम करेंगे, उतना ही धनका महत्त्व घटेगा और उतना ही शीघ्र हम पाप-तापसे छूटकर परमात्माकी ओर अग्रसर हो सकेंगे। आवश्यकता ही धनकी लालसा उत्पन्न कर हमें दरवाजे-दरवाजेपर भटकाती और भगवान्से विमुख करती है। जिस दिन इस धनकी चाह मिट जायगी, उस दिन हम बादशाह बन जायँगे।

चाह गई चिन्ता गई मनुआ बेपरवाह।
जिसको कछू न चाहिये सो जग शाहनशाह॥

श्रीकृष्णनाम

आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसामाचण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मोक्षश्रियः।
नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः॥

(श्रीलक्ष्मीधर)

यह श्रीकृष्णनामात्मक महामन्त्र ऐसा विचित्र शक्तिशाली और सुलभ है कि जिह्वाके स्पर्शमात्रसे फलीभूत हो जाता है, यह आत्माराम आप्तकाम विशुद्धचित्त महापुरुषोंको भी अपनी ओर आकर्षित कर लेनेमें सर्वश्रेष्ठ वशीकरण है; यज्ञ, योग, तप, दानादिद्वारा भी नष्ट न होनेवाले बड़े-बड़े महापातकोंको भगानेमें एक विचित्र उच्चाटन-मन्त्र है, सर्व देश-कालादिमें कीर्तनीय होनेके कारण सुलभ भी इतना है कि गूँगे मनुष्यके सिवा चण्डालतक सभी इसका कीर्तन कर सकते हैं, कीर्तन करनेकी इच्छा मात्रसे ही यह अपनी अहैतुक कृपासे वशमें हो जाता है और दुर्लभ मोक्षलक्ष्मी तो इसके पीछे-पीछे लगी डोलती है तथा दूसरे मन्त्रोंकी भाँति इसके लिये गुरुद्वारा दीक्षा, सदाचार और पुरश्चरण आदिकी भी अपेक्षा नहीं है।

चालू वर्षका विशेषाङ्क—'देवताङ्क' अभी प्राप्य है

'कल्याण'-प्रेमी पाठकों एवं समस्त इच्छुक सज्जनोंके सूचनार्थ निवेदन है कि 'कल्याण'के वर्तमान ६४वें वर्ष (सौर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, वि॰सं॰ २०४७) का विशेषाङ्क—'देवताङ्क' अभी प्राप्य है जो बहुत सीमित संख्यामें ही बचा है। अतः इच्छुक सज्जनोंको चाहिये कि वे वार्षिक शुल्क ४४.०० (चौवालीस रुपये) अजिल्द अथवा ४८.०० (अड़तालीस रुपये) सजिल्द विशेषाङ्कके लिये मनीआर्डर अथवा बैंकड्राफ्टद्वारा अविलम्ब भेजकर इसे शीघ्र प्राप्त कर लें, अन्यथा पिछले विशेषाङ्कोंकी तरह इसके भी समाप्त हो जानेपर उन्हें निराश होना पड़ सकता है।

इस अङ्कमें देव-संस्कृति और देवता-विषयक महत्त्वपूर्ण तात्त्विक सामग्रीका प्रचुर मात्रामें समायोजन किया गया है। मुख्य रूपसे इसमें देवताओंके उद्भव, तात्त्विक स्वरूप, देवतत्त्व-मीमांसा, पञ्चदेवोपासना, त्रिदेव एवं त्रिशक्ति-रहस्यके प्रस्तुतीकरणके साथ ही देवता-सम्बन्धी दार्शनिक एवं पौराणिक अवधारणाएँ आदि विषयोंका विशद वर्णन है। इसके अतिरिक्त देव-चरित्र-सम्बन्धी अनेक रोचक कथाओं एवं वैदिक तथा पौराणिक सरस आख्यानोंका भी इसमें सुरुचिपूर्ण समावेश किया गया है।

पृष्ठ-संख्या ४०८, बहुरंगे चित्र ९, सादे चित्र ९२, रेखा-चित्र ६, सुन्दर आकर्षक बहुरंगे आवरणसे युक्त यह विशेषाङ्क अपनी उपादेयता एवं गुणवत्ताके कारण सर्वथा संग्रहणीय तथा नित्य पठनीय और मननीय है।

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनिये

जो सज्जन 'कल्याण'का आजीवन ग्राहक बनना चाहें, वे ५००.०० (पाँच सौ रुपये) मात्र अजिल्द अथवा ६००.०० (छः सौ रुपये) मात्र सजिल्द विशेषाङ्कके लिये (आजीवन-शुल्क) भेजकर जीवन-पर्यन्त 'कल्याण' प्राप्त कर सकते हैं। विदेशके लिये आजीवन-शुल्क क्रमशः १०००.०० (एक हजार रुपये-भारतीय मुद्रा) अजिल्दका तथा १२००.०० (एक हजार दो सौ रुपये-भारतीय मुद्रा) मात्र सजिल्दका है। किसी भी परिस्थितिमें उत्तराधिकारीको (नाम बदलकर) आजीवन-ग्राहक नहीं बनाया जा सकता। आजीवन-ग्राहक नियमतः व्यक्तिगत नामसे ही बनाये जाते हैं, किसी व्यावसायिक प्रतिष्ठान या फर्मके नामसे नहीं बनाये जाते।

'कल्याण'के पूर्ववर्ती विशेषाङ्कोंमें एकमात्र उपलब्ध 'मत्स्यपुराणाङ्क' (पूर्वार्ध) सानुवाद

'कल्याण'के ५८वें वर्ष (सन् १९८४ ई०)में प्रकाशित इस विशेषाङ्ककी बहुत थोड़ी प्रतियाँ ही अब शेष बची हैं, अतः इच्छुक सज्जनोंको मँगानेमें शीघ्रता करनी चाहिये। इस अङ्कमें साधनों, उपदेशों और उच्चकोटिके आदर्श चरित्रोंका वर्णन है, जिनके अध्ययन, अनुशीलन और धारणसे मनुष्य अपने वास्तविक अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त कर सकता है। मत्स्यावतारकी मुख्य कथाके अतिरिक्त इसमें महाराज मनु एवं मत्स्यभगवान्‌का बड़ा ही रोचक उपदेशात्मक संवाद है और सृष्टिकी उत्पत्ति, पृथ्वी-दोहन, सूर्यवंश, पितृवंश-वर्णन, चन्द्रवंशके राजाओंकी कथा, श्रीकृष्ण-चरित्र, ययाति-चरित्र एवं उनके पुत्रोंका वर्णन है। साथ ही इसमें विविध श्राद्धों, व्रतों, दान, ग्रहशान्ति एवं विभिन्न तीर्थोंके माहात्म्यसहित तीर्थराज प्रयागकी महिमा और त्रिपुरवध तथा तारक-वधकी भी कथा विस्तारसे कही गयी है। पृष्ठ-संख्या ४६८, रंगीन चित्रोंसे सज्जित इस अङ्कका मूल्य डाकखर्च-सहित २४.०० (चौबीस रुपये) मात्र है।

आवश्यक निवेदन

'कल्याण-कार्यालय' तथा 'गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभाग' दोनों अलग-अलग विभाग हैं। दोनोंकी अलग तथा स्वतन्त्र व्यवस्था है। अतः इन विभागोंसे सम्बन्धित पत्राचार या धनादेश (मनीआर्डर) आदि सम्बन्धित विभागोंके अलग-अलग पतोंसे ही किया जाना चाहिये। दोनों विभागोंके लिये कोई धनराशि या आदेश सम्मिलित रूपसे किसी एक ही विभागके पतेसे कदापि न भेजे जायँ। कार्यकी सुचारुरूपेण व्यवस्था और शीघ्र सम्पन्नता-हेतु 'कल्याण'-विषयक पत्राचार या धनराशि-प्रेषण सीधे 'कल्याण-कार्यालय'के पतेपर और पुस्तकोंसे सम्बन्धित पत्र-व्यवहार अथवा धनादेश 'गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभाग' के पतेपर अलग-अलग किया जाना चाहिये।

इधरमें 'कल्याण'का २२वें वर्षका विशेषाङ्क—'नारी-अङ्क' पुस्तकाकारमें पुनर्मुद्रित होनेपर उसका विक्रय 'गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभाग' द्वारा किया जा रहा है। अतः तदर्थ मूल्य-राशि 'कल्याण-कार्यालय'के पतेपर न भेजकर सीधे 'पुस्तक-विक्रय-विभाग'को ही भेजनी चाहिये। ऐसा करके कार्यकी सम्पन्नतामें अनावश्यक विलम्ब, असुविधा और त्रुटिकी सम्भावनासे आप स्वयं बचते हुए संस्थागत इन (सम्बन्धित) विभागोंको भी उस अनपेक्षित स्थितिसे बचानेमें सहयोगी हो सकते हैं।

'कल्याण'के ग्राहकोंसे एक आवश्यक निवेदन

'कल्याण'के गत भाद्रपद वि०-सं० २०४७ (सितम्बर, सन् १९९०) के छठे अङ्कमें आवरण-पृष्ठ-संख्या ४ पर इस आशयकी सूचना दी गयी थी कि 'कल्याण'के आगामी किसी अङ्कसे समस्त ग्राहकोंके पते प्रदेश-क्रमसे आवंटित करके रैपरपर कम्प्यूटरद्वारा प्रदत्त नयी ग्राहक-संख्या अङ्कित की जायगी। तदनुसार गत नवम्बर सन् १९९० (अङ्क-संख्या ८) से यह योजना कार्यान्वित हो चुकी है। अतः समस्त ग्राहक महानुभावोंसे निवेदन है कि वर्तमानमें 'कल्याण'के रैपरपर पतेके साथ लिखी हुई अपनी इस नयी आवंटित ग्राहक-संख्याको कृपया सावधानीपूर्वक नोट कर लें। भविष्यमें समस्त प्रकारके पत्राचारोंमें सभी ग्राहक महानुभाव इसी नयी ग्राहक-संख्याका ही सदैव प्रयोग करेंगे—ऐसी आशा की जाती है।

जयपुर-केन्द्रके 'कल्याण'-ग्राहकोंको आवश्यक सूचना

जयपुर तथा उसके निकटस्थ क्षेत्रोंके 'कल्याण'-ग्राहकोंके सुविधार्थ विशेषाङ्कसहित पूरे वर्ष 'कल्याण'के अङ्क प्राप्त करनेकी व्यवस्था है। जयपुर-केन्द्रपर विशेषाङ्क पहुँचनेके बाद शीघ्र ही उन सभी ग्राहक महानुभावोंको वितरण आरम्भ कर दिया जाता है, जिनके द्वारा 'कल्याण'के निमित्त वार्षिक शुल्क-राशि जयपुर-केन्द्रपर अग्रिम जमा कर दी जाती है। अतः जयपुर- केन्द्रके सभी 'कल्याण'-ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे आगामी ६५वें वर्ष (विक्रम-संवत् २०४८) के विशेषाङ्क—'योगतत्त्वाङ्क'के लिये अपना वार्षिक शुल्क ५५.०० (पचपन रुपये) मात्र जयपुर-स्थित निम्नाङ्कित केन्द्रपर यथाशीघ्र अग्रिम जमा करके तदर्थ रसीद कृपया अवश्य प्राप्त कर लें। ग्राहकोंके सुविधार्थ इस अङ्कमें मनीआर्डर-फार्म भी संलग्न कर दिया गया है। 'कल्याण'का आजीवन-शुल्क ५००.०० (पाँच सौ रुपये) मात्र अजिल्द तथा ६००.०० (छः सौ रुपये) मात्र सजिल्दका है।

जिन ग्राहक सज्जनोंद्वारा वार्षिक शुल्क वहाँ समयपर अग्रिम जमा नहीं कराया जाता, उनको विशेषाङ्कका वितरण विलम्बसे ही हो पाता है। जयपुर-केन्द्रके ग्राहकोंको वी०पी०पी० से विशेषाङ्क भेजनेकी व्यवस्था नहीं है।

सामान्यतः साधारण मासिक अङ्कोंका प्रेषण सीधे 'कल्याण'-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर'से ही किया जाता है, पर जो ग्राहक सज्जन अपने साधारण अङ्क वर्षभर जयपुर-केन्द्रपर ही जाकर लेना चाहते हैं, उन्हें इसकी पूर्व-सूचना वार्षिक शुल्क-राशि जमा कराते समय ही रसीदमें वहाँ अङ्कित करवा देनी चाहिये। बार-बार परिवर्तन करके अङ्क भिजवानेमें कठिनाई है।

'गीताप्रेस, गोरखपुर'से प्रकाशित अंग्रेजी मासिक **'कल्याण-कल्पतरु'** (KALYANA-KALPATARU) के ग्राहक भी इस केन्द्रसे बन सकते हैं। इसका वर्ष अक्टूबरसे नवम्बरतक चलता है। वार्षिक शुल्क ३०.०० (तीस रुपये) मात्र है। इस वर्ष विशेषाङ्क-**'शिव नम्बर'** (Vol.×××vi-1,SIVA-NUMBER) प्रकाशित हुआ है।

जयपुर-केन्द्रसे थोक वितरण-व्यवस्थाके अन्तर्गत पुस्तक-विक्रेता भी 'कल्याण'-विशेषाङ्क एवं गीताप्रेसकी पुस्तकें अपने सुविधार्थ मँगवा सकते हैं। जयपुर-स्थित हमारे अधिकृत केन्द्रका पता इस प्रकार है—

गीताप्रेस-पुस्तक-प्रचार-केन्द्र (रजि०)
बुलियन विल्डिंगके अंदर, हल्दियोंके रास्तेमें पहले चौराहेपर, जौहरी बाजार, पो०-जयपुर-३०२००३, (राजस्थान)

एक अत्यावश्यक सूचना

गत दिसम्बरमें (दिनाङ्क २१-१२-९० को) कलकत्तामें सत्सङ्ग-समितिके तत्त्वावधानमें आयोजित (परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके) सत्सङ्गके बृहत् पंडालमें दैवेच्छावश अकस्मात् आग लग जानेसे अप्रत्याशित दुर्घटना हो गयी। फलस्वरूप पंडाल-स्थित पुस्तक-स्टाल पूरा-पूरा जलकर भस्म हो गया। जिसमें सभी कागज-पत्रोंसहित वहाँसे बननेवाले 'कल्याण' के ग्राहकोंकी सभी रसीदें भी जलकर नष्ट हो गयीं; उनका अब कोई रिकार्ड वहाँ नहीं रह गया है।

अतः उस समय कलकत्तामें—सत्सङ्ग-पंडालमें ग्राहक बननेवाले सभी प्रेमी सज्जनोंसे विनम्र अनुरोध है कि वे वहाँसे प्राप्त अपनी रसीदोंकी प्रतिलिपि, फोटो कॉपी कराकर आवश्यक कार्यवाही-हेतु 'कल्याण'-कार्यालय, पो०-गीताप्रेस, गोरखपुर'के पतेपर अविलम्ब भेजनेकी कृपा करें, जिससे अग्रिम कार्य-सम्पन्नतामें वे सहायक हो सकें।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो०-गीताप्रेस, गोरखपुर २७३००५

——::×::——

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

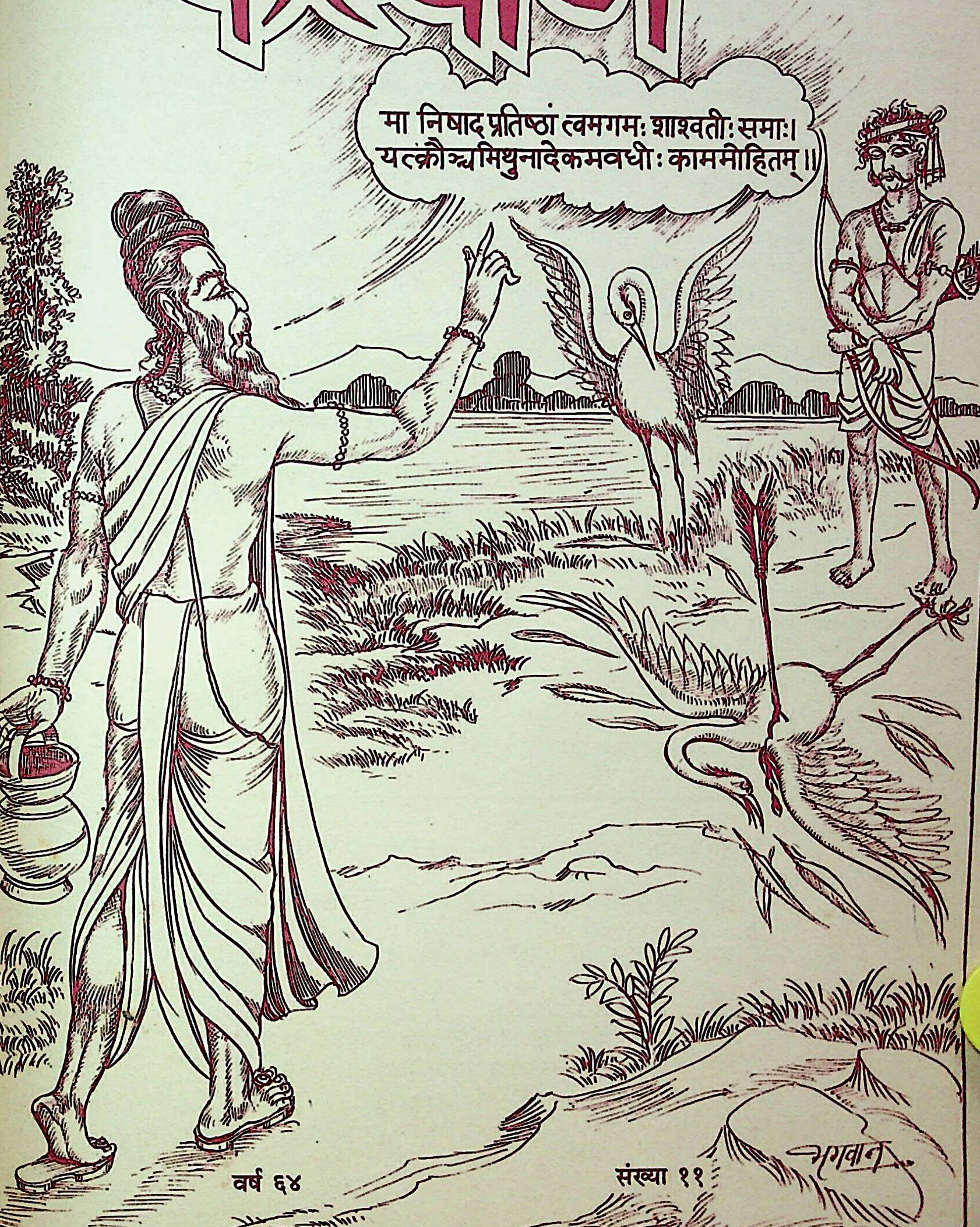
मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥
भगवान

वर्ष ६४ संख्या ११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर माघ, वि० सं० २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, फरवरी १९९१ ई०

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-श्रीरामदर्शनसे मयूरोंका आनन्द-नृत्य	७६९
२-कल्याण (शिव)	७७०
३-भगवद्भक्त महात्माका स्वरूप एवं प्रभाव (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रवचनका एक अंश)	७७१
४-कुछ आध्यात्मिक अनुभव (स्वामी श्रीशान्तयोगानन्दजी)	७७२
५-भगवान्‌के आश्वासनपर विश्वास करो (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	७७४
६-श्रीगङ्गा-माहात्म्य [कविता]	७७५
७-राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार (डॉ० श्रीरामसनेहीलालजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)	७७६
८-साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	७७८
९-भक्ति दुर्लभ है या सुलभ ? (श्रीभँवरलालजी परिहार)	७८०
१०-उद्‌बोधन [कविता] (पं० श्रीवृन्दावनविहारीजी मिश्र, 'बिन्दु', भागवताचार्य)	७८२
११-गीता-सुधातरङ्गिणी (अनु०—एक जिज्ञासु)	७८३
१२-मोहि कपट छल छिद्र न भावा (श्रीराजेन्द्रजी राय)	७८४
१३-भक्त-वाणी	७८५
१४-सात्त्विक जीवन कैसे बने ? (स्वामी श्रीशंकरानन्दजी महाराज)	७८६
१५-रोगनिवारक महौषधि—विष्णुप्रिया तुलसी (डॉ० श्रीउपेन्द्रराय जे० सांडेसरा) [प्रे०—श्रीजयदयालजी डालमिया]	७८८
१६-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	७९१
१७-धर्म-पथ	७९३
१८-श्रीतुलसीदासजीका शकुन-विचार (गोस्वामी श्रीरामबालकजी, साहित्यरत्न, शिक्षाविशारद, साहित्यालंकार)	७९४
१९-प्रेममें प्रसन्नता [कहानी]	७९७
२०-साधनोपयोगी पत्र	८००
२१-प्रेम	८०२
२२-पढ़ो, समझो और करो	८०३
२३-मनन करने योग्य	८०५
२४-सदाचार	८०७
२५-माँका उपदेश	८०८

चित्र-सूची

१-क्रौञ्च-वधसे संतप्त महर्षि वाल्मीकिका हृदयोद्गार	(इकरंगा)	आवरण-पृष्ठ
२-श्रीरामदर्शनसे मयूरोंका आनन्द-नृत्य	(रंगीन)	मुख-पृष्ठ

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें २.०० रु०
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
(डाक-व्ययसहित)
भारतमें ४४.००रु०
विदेशमें ६ पौंड
अथवा १० डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

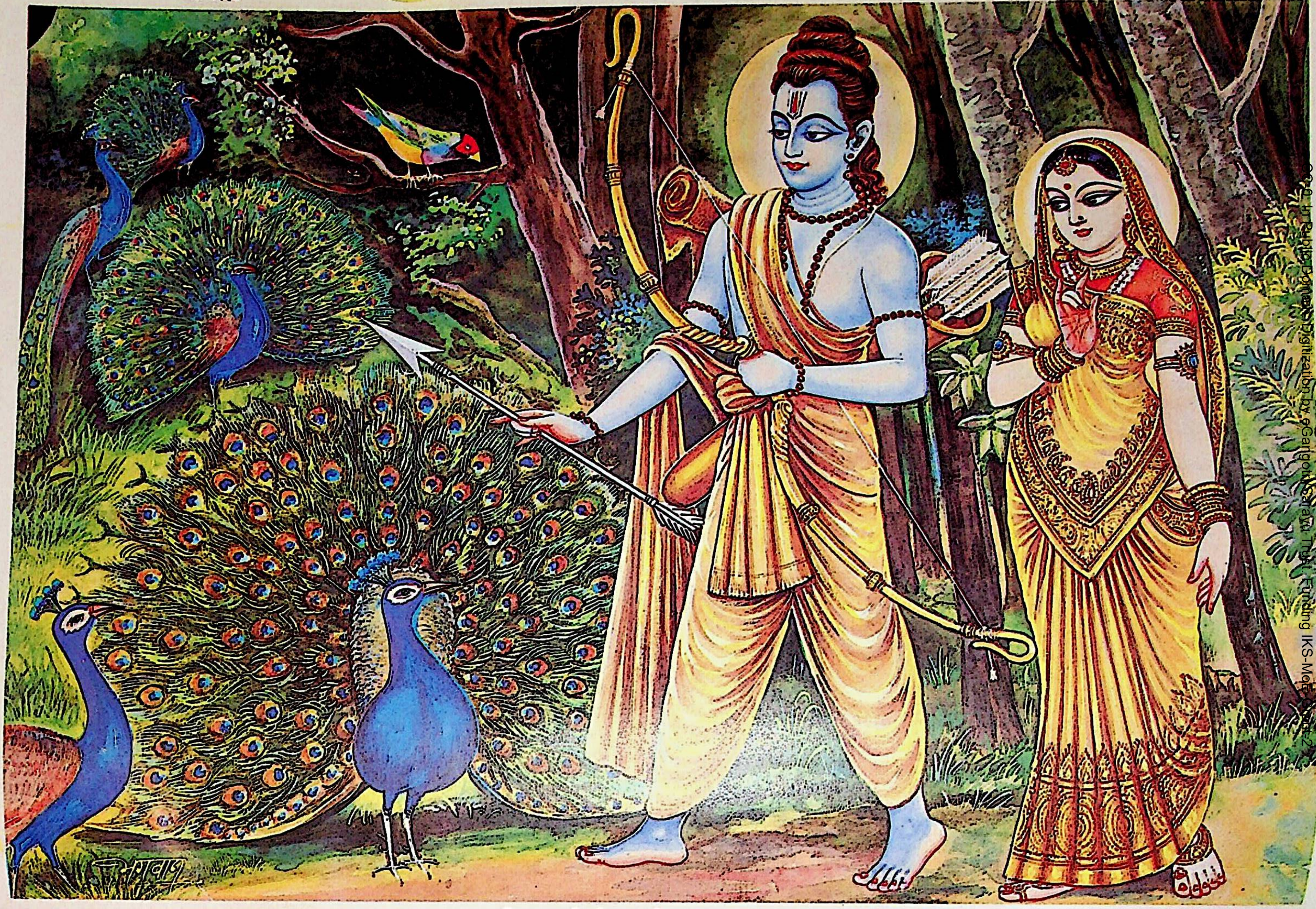

श्रीरामदर्शनसे मयूरोंका आनन्द-नृत्य

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

वर्ष ६४ } गोरखपुर, सौर माघ, वि॰सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, फरवरी १९९१ ई॰ { संख्या ११
पूर्ण संख्या ७६८

श्रीरामदर्शनसे मयूरोंका आनन्द-नृत्य

देखे राम पथिक नाचत मुदित मोर ।
मानत मनहु सतड़ित ललित घन, धनु सुरधनु, गरजनि टँकोर ॥
कँपै कलाप बर बरहि फिरावत, गावत कल कोकिल-किसोर ।
जहँ जहँ प्रभु बिचरत, तहँ तहँ सुख, दंडकबन कौतुक न थोर ॥
सघन छाँह-तम रुचिर रजनि भ्रम, बदन-चंद चितवत चकोर ।
तुलसी मुनि खग-मृगनि सराहत, भए हैं सुकृत सब इन्हकी ओर ॥

कल्याण

मनुष्य किसी एक वस्तुका अभाव समझकर उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, वह प्राप्त हो भी जाती है और नहीं भी। प्राप्त हो जाती है तो क्षणभरके लिये दूसरी वस्तुके अभावका अनुभव न होनेतक मनमें हर्ष होता है, नहीं प्राप्त होती, तो शोक रहता है। प्राप्त होकर नष्ट हो जाती है तो शोक और भी बढ़ जाता है और चाहकी चिन्ता-चिता तो निरन्तर चित्तमें धधकती ही रहती है।

किसी एक वस्तुके अभावको मिटानेके लिये जो उपाय किये जाते हैं, उनके करनेमें भी बीच-बीचमें ग्रहोंकी महादशामें अन्तर्दशाकी भाँति नये-नये अभाव पैदा होते रहते हैं, जिनकी पूर्ति-अपूर्तिका हर्ष-शोक भी चलता ही रहता है। दुःख किसी हालतमें भी नहीं मिटता और जबतक अभावोंकी उत्पत्ति होती रहेगी, मिटेगा भी नहीं।

यही मनुष्यकी मूर्खता है कि वह एक-एक अभावकी पूर्ति करनेमें लगा रहता है और नये-नये अभावोंको उत्पन्न करता रहता है, जिससे उसके हृदयकी आग किसी भी हालतमें कभी बुझती ही नहीं। जलते-जलते ही—हाय-हाय करते-करते ही जीवन बीत जाता है।

यदि वह ऐसी स्थितिको प्राप्त कर ले, जिसमें कभी किसी अभावका अनुभव ही न हो, किसी अभावको पूर्ण करनेकी कभी चाह ही न हो तो सारा बखेड़ा अपने-आप मिट जायगा। ***'चाह गयी, चिन्ता गयी, मनुवाँ बेपरवाह।'*** इसीलिये प्रह्लादने भगवान्से यह वर माँगा था कि मेरे मनमें कभी माँगनेकी इच्छा ही न उत्पन्न हो।

अभावोंकी पूर्ति करके कोई भी अभावोंको सर्वथा पूर्ण नहीं कर सकता, क्योंकि अभावोंकी पूर्तिके साथ-ही-साथ रक्तबीजके रक्त-बिन्दुओंसे बने असुरोंकी भाँति, नये-नये अभावोंकी सृष्टिका क्रम कभी बंद नहीं होता। ***'बुझै न काम-अगिन तुलसी कहुँ बिषय-भोग बहु घीते।'*** इसलिये अभावकी उत्पत्तिका स्रोत ही बंद कर देना चाहिये। कामना उत्पन्न ही न होगी तो आगेके सारे प्रपञ्च और पाप आप ही नष्ट हो जायँगे।

अतएव अभावकी पूर्तिके पचड़ेमें न पड़कर अभावका ही अभाव कर देना चाहिये। सारे अभावोंका अभाव होता है उस वस्तुको पानेसे जो नित्य है, पूर्ण है, एकरस है, सर्वगत है, अचल है, सनातन है, ज्ञानस्वरूप है, सबका आदि, मध्य और अन्त है, सर्वगुणाधार है और सर्वैश्वर्यमय है। ऐसी वस्तु एक भगवान् है। महामहिम भगवान्के महत्त्वको जान लेनेपर तो कोई ऐसा नहीं होगा जो भगवान्के सिवा और किसी ओर नजर भी डाले। हम भगवान्को न जाननेके कारण ही उस समस्त अभावोंके बीजका बीज नाश कर देनेवाले, नित्य परमसुहृद्, परमधनसे वञ्चित होकर नाना प्रकारके दुःख भोग रहे हैं।

शास्त्र, संत, महात्मा और भक्तोंकी वाणीका अनुशीलन और अनुसरण कर भगवान्पर विश्वास करो, भगवान्के महत्त्वको समझो और भगवान्के प्रेमको पानेके लिये भगवान्की शरण हो जाओ।

काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, हिंसा, मत्सर, अभिमान, ममत्व आदि दोष बड़े ही प्रबल हैं, इन सबका समूल नाश करनेका प्रयत्न करना चाहिये। सत्संग या साधनाके प्रभावसे कभी-कभी मनुष्योंको अपनेमें इन दोषोंका अभाव-सा दीखता है और वह अपनेको पूर्ण मान लेता है, परंतु इनका सर्वथा नष्ट हो जाना कठिन है। दोष दब जाते हैं, परंतु संस्काररूपसे मनमें छिपे रहते हैं, जो अनुकूल परिस्थिति और उत्तेजक कारण उपस्थित होनेपर जाग उठते हैं। यही कारण है कि सर्वथा निर्दोष समझे जानेवाले पुरुषोंमें भी कभी-कभी इन दोषोंका प्रकाश देखा जाता है।

अतएव अभिमानसे अपनेको बचाते हुए बड़ी ही सावधानीसे, भगवान्के बलका आश्रय लेकर इन दोषोंको समूल नष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिये। काम-क्रोधादिकी जागृतिका सबल कारण उपस्थित होनेपर भी जब इनकी जागृति न हो, तब समझना चाहिये कि इनका नाश हो रहा है। संस्काररूपसे भी न रह जायँ, इसके लिये बार-बार आत्मपरीक्षा करके देखना चाहिये। —'शिव'

भगवद्भक्त महात्माका स्वरूप एवं प्रभाव

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रवचनका एक अंश)

[गताङ्क पृ० सं० ७३४ से आगे]

वास्तवमें दुनियामें अधिकांश लोग मान-बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठाके किंकर हैं। लाखों-करोड़ोंमें कोई एक ऐसा महापुरुष है जो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको विष्ठाके समान समझता है। जो संसारसे विरक्त है, ऐश्वर्यको धूलके समान समझता है ऐसा हजारों-लाखोंमें कोई एक विरक्त पुरुष होता है और उन विरक्त पुरुषोंमें परमात्माको तत्त्वसे जाननेवाला कोई एक होता है जो भगवत्प्राप्त पुरुष होता है। विरक्तोंकी व्याख्या की जा सकती है, पर भगवत्प्राप्त पुरुषोंकी व्याख्या **'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'** इस नामसे भगवान्ने की है, गीताके बारहवें अध्यायमें तेरहसे उन्नीस श्लोकतक उस व्याख्याको पढ़ करके भी मनुष्य उसको पहचान नहीं सकता, इसलिये यह बात आती है कि उसे पहचानना बहुत ही कठिन है। अब बात यह आती है कि ऐसा पुरुष कैसे मिले, हमारेमें तो पहचाननेकी सामर्थ्य नहीं, चाह है मिलनेके लिये। आपके हृदयमें भी मिलनेकी इच्छा तीव्र होनी चाहिये, फिर आपको घर बैठे मिल सकते हैं। मिलनेकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये, फिर पुरुषकी तो बात ही क्या ? भगवान् मिल सकते हैं, बस मिलनेकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये, खूब जिज्ञासा होनी चाहिये। दूसरी बात है,ऐसे पुरुष भगवान्की कृपासे मिलते हैं, भगवान्की कृपासे।

बोले, कि कृपा तो है ही। कृपा है तो सही पर मानता कौन है और कृपा माननेसे फल देती है, बिना माने फल नहीं देती। कृपा ही नहीं, भगवान् भी स्वयं अपने प्रकट हो जायँ और हम उनको भगवान् नहीं मानें तो भगवान्के दर्शनका जो लाभ है वह नहीं होगा। जैसे भगवान् श्रीकृष्णजी प्रकट थे। दुर्योधन उन्हें भगवान् नहीं मानता था, इसलिये दुर्योधनको वह लाभ नहीं हुआ, जो अर्जुनको हुआ। हर एक बात माननेपर निर्भर है। प्रत्येक स्थितिमें विकार नहीं होना चाहिये, ऐसी निर्विकार अवस्था होनी चाहिये—ऐसा बनना चाहिये, पर 'यह हो' ऐसा नहीं हो रहा है, यह खटपट तो सबके हृदयमें है ही। अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेष, अनुकूलमें हर्ष और प्रतिकूलमें शोक होना—यह तो विकार है, हर्ष-शोक, राग-द्वेष ये होते ही रहते हैं। इन विकारोंसे रहित होनेकी एक कसौटी है। मान लो कोई क्रिया हो रही है, उसमें एक भाव—एक भगवद्भाव यदि हो तो फिर नाना भेद हो नहीं सकता। ये जो नाना भेद हैं ये ही हमारे लिये बाधक हैं। जो एकता है, वही समता है और जो समता है वही भगवान्का स्वरूप है। आप चाहे एकीभाव कहें चाहे समता कहें, चाहे भगवान्का स्वरूप कहें, गम्भीरतासे विचार करके देखनेपर एक ही चीज है। हमलोगोंकी दृष्टिमें यह जो एकत्व-भाव आता है, समता आती है तो वह असली भगवान्का प्रतिबिम्ब है, इनका आभास होता है, किंतु उनसे अलग नहीं होता। चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब चन्द्रमासे अलग नहीं होता, सूर्यका प्रतिबिम्ब सूर्यसे अलग नहीं होता, सूर्यके साथमें छिप जाता है ।

महात्मा पुरुषोंके अनुकूल बननेकी बात शुरूमें कही थी। महात्माओंके अनुकूल बनना तो बहुत ही सहज है। महात्मा पुरुषोंका मिलना ही कठिन है, वे बड़े भाग्यसे मिलते हैं, या यों कहिये कि भगवान्की कृपासे ही मिलते हैं और मिलनेके बादमें उनको पहचानना कठिन हो जाता है। यदि भगवान्की कृपासे पहचाननेमें बात आ गयी तो फिर भगवान्की प्राप्तिमें कोई विलम्ब नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि महात्माको जो महात्मा समझ लेता है, फिर तो एक प्रकारसे उसमें महात्माका भाव हो जाता है। जैसे गीताके बारहवें अध्यायमें तेरहवें श्लोकसे लेकर अध्यायकी समाप्तिमें उन्नीसवें श्लोकतक। तेरहवें तथा चौदहवेंमें तो भगवान् कहते हैं—

> **अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।**
> **निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥**
> **संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।**
> **मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥**

'ऐसा मेरा भक्त मुझको प्यारा है' तो उस महात्माके हृदयका भाव है यह। यह अपनेमें जितना जाग्रत् होगा उतना ही महात्मा होगा—इसका यह भाव है। **'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'** सारे भूतोंमें द्वेष-भावसे रहित । सबमें हेतुरहित मित्रता, सबके ऊपर हेतुरहित दया, हृदयमें ममताका अभाव, अहंकारका अभाव और क्षमा, दूसरेके अपराधका बदला न

चाहना क्षमा है। सुख-दुःखमें सम रहना और जो कुछ प्रारब्धवश प्राप्त हो जाय उसमें ईश्वरका विधान समझकर मग्न रहना। हर समय संतुष्ट रहना और बुद्धिको स्थिर रखना।

जिसने अपने मनको जीत लिया है तथा अपनी बुद्धिको भगवान्‌को अर्पण कर दिया है उसके लिये भगवान् कहते हैं—'**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।**' मन और बुद्धिको मुझमें अर्पण करनेवाला मेरा भक्त मुझको प्यारा है। यह भाव यदि अपने हृदयमें जाग्रत् हो जाय तो समझना चाहिये कि हम महात्माको समझे हैं। समझनेसे ही वह महात्मा बन जाता है। वह जितना जानता है, उतना ही उस भाववाला बन सकता है। साधारण जाननेसे उसमें साधारण गुण आते हैं, विशेष जाननेसे विशेष गुण। जाननेपर उसमें अलौकिक श्रद्धा पैदा होती है, विश्वास होता है। विश्वास और श्रद्धाका यह प्रभाव है, उसमें प्रविष्ट होकर अङ्कित हो जाती है। इसी तरह वह उसमें श्रद्धा होनेसे अङ्कित हो जाती है। कमीके कारणसे ही कमी है। श्रद्धा और अपना विश्वास जितना होता है, उतना ही वह बातको पकड़ता है और धारण करता है। वह बात उसमें उसी प्रकारसे घटने लग जाती है। जैसे फोनोग्राफमें जैसी आवाज भरी जाती है वैसी ही वह आवाज उसमेंसे निकलती है और जैसे फोटो लेनेवाले कैमरेमें जैसा दृश्य होता है वैसा ही दृश्य वह पकड़ता है, इसी प्रकार जो महात्मा पुरुष है, उसके जो आचरण हैं, वे उसके हृदयमें छप जाते हैं। मतलब यह कि जब महात्माके आचरणको वह देखता है तो वह उसके हृदयमें अङ्कित हो जाता है, उसके बाद उसके आचरण भी वैसे ही होने लग जाते हैं, जैसे महात्माके आचरण होते हैं। तदनन्तर महात्माके संकेतके अनुसार ही वह चेष्टा भी करने लग जाता है, उसको कुछ कहना नहीं पड़ता। महात्माके संकेतके माफिक ही चेष्टा अपने-आप ही होने लग जाती है, क्योंकि महात्मामें विशेष निष्ठा हो जाती है, विश्वास हो तो उसी प्रकारसे ही वे बातें जम जाती हैं। और उसी प्रकारसे वह उसका अनुकरण भी करने लग जाता है तथा उसकी बातका वह इतना आदर करता है कि वह अपने प्राणोंका भी उतना आदर नहीं करता, इस प्रकारसे वह बढ़ता-बढ़ता आगे जाकर स्वयं महात्मा हो जाता है।

कुछ आध्यात्मिक अनुभव

(स्वामी श्रीशान्तयोगानन्दजी)

१-मन जिस समय विषयकी ओर झुके, उससे प्रश्न करो—'क्या विषय न भोगनेसे मेरा नाश हो जायगा या कोई मेरा भारी नुकसान हो जायगा?' ऐसा प्रश्न करनेसे यह बुद्धि अवश्यमेव जाग्रत् होगी कि 'नहीं, विषयके सेवन न करनेपर भी मैं ज्यों-का-त्यों बना रहूँगा और मेरी कुछ भी हानि न होगी, उलटे इससे मुझे लाभ होगा। शरीर स्वस्थ रहनेसे दैनिक कर्तव्योंको मैं भलीभाँति निबाह सकूँगा और आरोग्यताका भी आनन्द मुझे मिल सकेगा।' ऐसी भावनाओंमें लगा हुआ मन सम्भवतः बहुत हदतक विषयवासनापर विजय प्राप्त कर सकता है।

२-यदि किसी मनुष्यसे कोई दुष्कर्म हो जाय और वह किसी प्रकार लोगोंमें प्रकट हो जाय, तो उसे झूठ-सच करके छिपानेकी चेष्टा कभी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि दुष्कर्मके छिपानेमें जो प्रयत्न किया जाता है यदि वह सफल हो गया तो इससे पाप-कर्ममें और भी साहस मिलता है। और पाप-कर्ममें बाधा नहीं आनेसे मनुष्य महापापी बन जाता है। फिर तो वह छिपाया हुआ दुष्कर्म रुईके भीतर छिपाये हुए अग्निके समान मनुष्यका सर्वनाश कर उसे परम अधोगतिको पहुँचा देता है।

३-दुष्कर्मकी ओर जब मन जाने लगे तो मनुष्यको उस अवस्थाका चिन्तन करना चाहिये जिस अवस्थामें निन्दित कर्म प्रकट हो जाता है। फिर तो वह महान् लज्जामें डूब जायगा और बहुत सम्भव है कि वह उस दुष्कर्मसे बच जाय। इस प्रकारका निरन्तर अभ्यास करनेसे मनुष्य अनेकों दुष्कर्मोंके फलस्वरूप असंख्य नरकोंसे इसी जन्ममें बच सकता है।

४-आत्मचिन्तन करनेवाले पुरुषको जब धनका लोभ सताये, तब उसे अपने पड़ोसके उस पुरुषकी अवस्थापर विचार करना चाहिये जो धनका लोभी है। सावधानीसे विचारनेपर जान पड़ेगा कि वह धनलोलुप सदा बेचैन रहता है और धनप्राप्तिके लिये बहुत-सी बुरी-बुरी योजनाएँ बनाता है। ऐसे दुर्दशाग्रस्त पुरुषके जीवनकी भलीभाँति आलोचना करनेसे

मनुष्य निस्संदेह अपनी रक्षा कर सकता है।

५-आत्मोन्नतिके लिये घर-द्वार छोड़कर वनमें जानेकी आवश्यकता नहीं। यद्यपि वनमें मुमुक्षु सांसारिक चेष्टाओंसे रक्षित रहता है, यह सच है, तथापि सांसारिक पुरुषोंके बीचमें रहनेसे भी उसे कम सुविधा नहीं होती। उनकी अवस्था, चेष्टा तथा उसके परिणाम आदिकी निरन्तर आलोचना करनेसे मुमुक्षुको संसारमें रहते हुए भी इससे दृढ़ वैराग्यकी उपलब्धि होती है और वह मोक्ष-मार्गपर अग्रसर होता है।

६-अच्छे पुरुष यदि बुरे लोगोंके दुष्कर्मोंके प्रति घृणा करें तो यह ठीक भी है, परंतु बुरे भी अच्छे पुरुषोंके सत्कर्मोंके प्रति डाह करते हैं और उनका अपमान करनेसे नहीं बाज आते। इसलिये भले पुरुषको बुरे पुरुषके साथका मानसिक सम्बन्ध भी तोड़ डालना चाहिये और धन्य मानना चाहिये कि बुरा पुरुष भलेसे डाह करता है, क्योंकि इस डाहके कारण उससे असङ्ग प्राप्त होता है, जो अमूल्य और आत्मोन्नतिमें सहायक होता है। कहा भी है कि बुरे पुरुषके सङ्गसे नरक भी अच्छा होता है।

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

७-जीवोंके शुभकर्म भविष्यमें शुभकर्म- परायण करनेवाली वृत्तियोंको उत्पन्न करते हैं और अशुभ कर्म दूषित वृत्तियोंके जन्मदाता होते हैं। इसलिये आत्मकल्याणकी अभिलाषा करनेवाले पुरुषको सदा शुभ-वृत्तिमें रहनेका उद्योग करना चाहिये, नहीं तो आनेवाले परमार्थ-युद्धमें बड़ी भारी बाधाएँ उत्पन्न होंगी।

८-कुछ लोग इस बातपर ही संतुष्ट रहते हैं कि उनके वर्तमान जीवन-व्यवहार निष्कलङ्क हैं, वे किसीसे छल नहीं करते और सदा सत्यमें निवास करते हैं, इसलिये भगवद्भजन आदिमें समय लगानेकी कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकारके संतोषमें एक बड़ी भूल होती है। भगवद्भजन नहीं करनेसे भविष्यमें जो जीवका परम कल्याण होनेवाला है, उससे मनुष्य वञ्चित हो जाता है। मनुष्यको जानना चाहिये कि इस जन्ममें जो उसकी सत्प्रवृत्ति हो रही है वह पूर्वजन्मोंके सत्कर्मोंका प्रभाव है, उस प्रभावके नष्ट होनेपर पुनः आसुरी वृत्तियोंका उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाता है। अतः प्रत्येक मनुष्यके लिये चाहे वह दिव्य वृत्तियोंसे पूर्ण क्यों न हो, निरन्तर भगवद्भजन करना बहुत ही जरूरी है।

९-बहुत-से ऐसे मनुष्य भी होते हैं जिनके जीवनका पूर्वभाग विषयभोग आदिमें व्यतीत होता है और पीछे उन्हें अपने कियेपर पछतावा होता है तथा वे अपने शेष जीवनको भगवद्भजनमें लगानेके लिये लालायित रहते हैं, परंतु लज्जावश ऐसा नहीं करते। वे सोचते हैं कि यदि मैं भगवद्भजनमें लगा तो लोग ***'सौ सौ चूहे खाकर बिल्ली चली हज्जको'***—इत्यादि बातें सुना-सुनाकर मेरी खिल्ली उड़ायेंगे। इस प्रकारके मनुष्य बड़ी मूर्खता करते हैं। परमार्थके कर्मोंमें लज्जा करना महा दूषित है, इस प्रकारकी लज्जामें पड़कर मनुष्य मानव-जीवनको व्यर्थ खो देता है और अपने पूर्व किये हुए दुष्कर्मोंके फलस्वरूप अधोगतिको प्राप्त होता है।

१०-संसारमें ऐसे पुरुष भी मिलते हैं, जिनका समस्त जीवन विषयोंके सेवनमें ही व्यतीत हो जाता है। उन्हें वृद्धावस्थामें भगवत्पथपर लाना बहुत ही दुष्कर है। परंतु उनके हृदयोंमें भी (भगवान्‌के सर्वव्यापी होनेके कारण) भगवान्‌के प्रति श्रद्धा-स्तुति जरूर मौजूद रहती है। ऐसे पुरुष पूर्व-कुसंस्कारोंके महावेगमें पड़नेके कारण ही इस प्रकारका गर्हित जीवन व्यतीत करते हैं, अतएव वे दयाके पात्र हैं। इनसे कहना चाहिये कि यदि वे वृद्धावस्थामें भी भगवत्पथपर आरूढ़ हो जायँ तो उनकी आसुरी योनिकी आयु, जो उनके दुष्कर्मोंके परिणाममें प्राप्त हुई है, कम हो जायगी और दुष्कर्मोंके फलको भोगनेके बाद शीघ्र ही देवयोनिकी प्राप्ति होगी। और यदि वह भगवत्पथपर आरूढ़ नहीं होंगे तो उन्हें देवयोनि प्राप्त करनेका अवकाश नहीं रहेगा और वे प्रलयतक कूकर-शूकर आदि आसुरी योनियोंमें ही भ्रमण करते रहेंगे।

* * *

भगवान्‌की कथामें श्रद्धा करे, भगवान्‌की प्रतिमाकी पूजा करे, भगवान्‌का स्मरण करे, भगवान्‌के ही चरणकमलोंमें सिर झुकावे, भगवान्‌को ही संसारमें सबसे बड़ा साथी माने, भगवान्‌का ही सेवक बने और भगवान्‌के ही चरणकमलोंमें सम्पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण कर दे। जो पुरुष इस प्रकार भगवान्‌की भक्ति करते हैं, वे इस असार संसारके बन्धनसे मुक्त होकर परमपद पाते हैं।—देवर्षि नारद

* * *

भगवान्‌के आश्वासनपर विश्वास करो

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३०-३१)

—इन दो श्लोकोंमें दयामय भगवान् श्रीकृष्णने पापग्रस्त निराश जीवोंको बड़ा ही आश्वासन दिया है। कोई किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, उसका अबतकका जीवन किसी भी प्रकारसे क्यों न बीता हो, वह कितने ही बड़े-से-बड़े दुराचारमें प्रवृत्त क्यों न रहा हो, यदि वह इस समय अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय कर ले कि जितना जीवन अब बाकी बचा है, वह सब-का-सब—पूरा-का-पूरा—केवल भगवान्‌के लिये ही लगाया जायगा तो इस निश्चयके साथ ही वह तत्काल धर्मात्मा बन जाता है। **'क्षिप्रं'** शब्द इसी बातको प्रकट करता है। तदनन्तर वह उस परम शान्तिको—शाश्वत परम धामको प्राप्त हो जाता है; जिसको पाकर फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इसी सिद्धान्तको और भी दृढ़ करनेके लिये भगवान् प्रतिज्ञापूर्वक यह घोषणा करते हैं कि 'हे अर्जुन ! इस बातको सत्य समझ कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता।' भक्तवत्सल भगवान् शेष जीवनके भगवदर्थ बिताने और अनन्य-भावसे भजन करनेका निश्चय करनेवालेको अपना भक्त—निज जन—समझ लेते हैं। उसने पहले क्या किया था—इस बातकी ओर भगवान् कुछ भी ध्यान नहीं देते। वे देखते हैं केवल उसकी वर्तमान स्थितिको। इस बातको समझकर अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह अपने वर्तमान जीवनको श्रीहरिके चरणोंमें समर्पण करनेकी चेष्टा करे।

भविष्य तो वर्तमानका फल है और वर्तमान जीवन अनन्यभावसे श्रीहरि-चरणाश्रित हो जानेपर भूतकालके सभी पाप-कर्म जल जाते हैं। मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उसका सञ्चित बनता है। सञ्चितसे स्फुरणा होती है। जो नया कर्म किया जाता है, उसीकी स्फुरणा अधिक और पुरानेकी कम होती है। गोदाममें माल भरा होता है और नया-नया माल भरता जाता है, निकालनेके समय हालका भरा हुआ ऊपरका माल पहले निकलता है और बहुत समय पूर्वका भरा हुआ नीचेका माल पीछे निकलता है, वैसे ही नये कर्मोंके संकल्प अधिक आते हैं। यही सबका अनुभव है कि जिन कर्मोंमें हम दिन-रात लगे रहते हैं, प्रायः उन्हींके संकल्प अधिक आते रहते हैं—पूर्वके कर्मोंको हम धीरे-धीरे भूलते जाते हैं। नवीन सञ्चितकी स्फुरणा ज्यादा होगी, बार-बार जैसी स्फुरणा होगी वैसा ही कर्म होगा और वही कर्म फिर सञ्चित बनकर नयी स्फुरणाओंका हेतु बनेगा एवं उन्हीं स्फुरणाओंसे फिर वैसे ही कर्म होंगे। तात्पर्य यह कि अच्छे कर्मोंसे अच्छा सञ्चित, अच्छे सञ्चितसे अच्छी स्फुरणा और अच्छी स्फुरणासे फिर अच्छे कर्म होते हैं। इस प्रकार शुभके चक्रमें पड़ा हुआ जीवन क्रमशः अत्यन्त शुद्ध बन जायगा एवं अशुभ सञ्चितको अपना कार्य (अशुभ संकल्पोंकी उत्पत्ति) करनेका अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकेगा। पुराने अशुभ सञ्चित नये शुभके नीचे दब जाते हैं और यह (शुभ) बढ़कर जब भगवान्‌की पराभक्ति-रूपमें परिणत हो जाता है तो उन पहलेके समस्त शुभाशुभ सञ्चितमें आग लग जाती है, जिससे वे तमाम जलकर नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।

यही मुक्तावस्था है, इसीलिये ***'गयी सो गयी, अब राख रहीको'***—इस लोकोक्तिके अनुसार भगवान्‌की उपर्युक्त आश्वासनवाणीका अनुसरण करते हुए महापुरुषगण जीवोंको वर्तमान जीवनके वर्तमान सुधारका उपदेश करते हैं।

कोई यह समझे कि मैं तो बड़ा पापी हूँ, मेरा उद्धार कैसे हो सकता है, मेरे भजन करनेसे क्या होगा ? तो उसका यह समझना निरा भ्रम ही है। किसी पर्वत-कन्दराका अन्तरतम-प्रदेश लाखों वर्षोंसे चाहे जितने घने अन्धकारसे आवृत क्यों न हो, सूर्यभगवान्‌का प्रकाश वहाँ पहुँचनेपर वह अँधेरा क्या यह कहकर वहाँ स्थिर रह सकता है कि मैं अनन्त वर्षोंसे यहाँ डेरा डाले बैठा हूँ, इसलिये कुछ समय पीछे हटूँगा ? ठीक इसी प्रकार जीवके अशेष पाप-पुञ्ज भगवान्‌के सम्मुख होते ही जलकर भस्म हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

जब जीव निष्कपट होकर अनन्यभावसे अपने-आपको भगवच्चरणोंमें समर्पितकर सरल हृदयसे पुकार उठता है कि 'हे प्रभो ! मैंने आजतक दुनियाके भोगोंकी सेवा की, विषयोंका गुलाम रहा, धनिकोंकी चापलूसी की, अबसे—इसी क्षणसे मैं आपके प्रणत-पापहारी पुण्यचरणकमलोंका आश्रित बनता हूँ—मुझे शरण दीजिये !' बस तभी—तत्काल ही पतितपावन नाथ उसे अपना लेते हैं। जहाँ भगवान्‌ने जिसको अपना लिया वहाँ फिर उसमें नाम-मात्रको भी कोई पाप नहीं रह जाता। रावणका भाई विभीषण राक्षस था। भगवान्‌के सामने आते ही वह निष्पाप हो गया—परम भक्त बन गया। जीवका भूतकाल कैसा ही रहा हो, यदि उसका वर्तमान सुधर जाय, वह दृढ़ निश्चय कर ले कि आगेका समय केवल भगवद्भक्तिमें ही बीतेगा, तो वह अशरण-शरण स्वतः ही अपना अभय हाथ फैलाकर उसे ऊपर उठा लेते हैं और अपनी स्नेह-शान्तिमयी गोदमें बिठा लेते हैं। ऐसा न होता तो जीवका उद्धार कभी होता ही नहीं। जीव समस्त पापोंके फलोंको भोगकर कभी उन्हें निःशेष नहीं कर सकता। भगवान् बड़े दयालु हैं। इसलिये उन्होंने यह नियम बना दिया है कि चाहे कोई कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो मेरे सम्मुख आते ही धर्मात्मा बन जायगा। बात भी सर्वथा ठीक ही है। भला प्रज्वलित अग्निमें पड़ा हुआ कूड़ा-कर्कट क्या कभी बिना जले रह सकता है ?

खेद तो इस बातका है कि भगवान्‌के इस दयापूर्ण विधानको जानता हुआ भी यह अज्ञानी जीव अपनी कामाग्निको विषयभोगरूपी घृतकी आहुतियोंसे पूर्णकर सुखी होना चाहता है। पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजीने विषयभोग-परायण जीवोंको लक्ष्य करके कैसी सुन्दर चेतावनी दी है—

अब नाथहिं अनुराग जाग जड़ त्याग दुराशा जीते।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय-भोग बहु घीते ॥

मनुष्य चाहता है कि मैं बहुत-से विषयोंको प्राप्त करके सुखी बन जाऊँ, पर यह हो ही नहीं सकता। ज्यों-ज्यों मनचाहे विषयोंकी प्राप्ति होती है, त्यों-ही-त्यों उसकी लिप्सा बढ़ती चली जाती है। घीसे आग बुझती नहीं, बढ़ती है। भोगोंसे तृप्ति नहीं, ताप होता है; शान्ति नहीं, अशान्ति होती है। इसीलिये गोस्वामीजी चेतावनी दे रहे हैं कि 'इस भ्रमको छोड़ दो। यह तो दुराशामात्र है। इसे छोड़कर अमृतोपम भगवत्प्रेमको प्राप्त करो। यदि तुम विषयोंको न भी छोड़ना चाहोगे तो ये अन्तमें जबरदस्ती छूटेंगे। इससे अच्छा है कि पहलेसे ही तुम इनकी आसक्ति छोड़कर भगवच्चरण-कमलोंके अनुरागी भ्रमर बन जाओ।'— (क्रमशः)

श्रीगङ्गा-माहात्म्य

देवनदी कहँ जो जन जान किए मनसा, कुल कोटि उधारे।
देखि चले झगरैं सुरनारि, सुरेस बनाइ बिमान सँवारे ॥
पूजाको साजु बिरंचि रचैं तुलसी, जे महातम जाननिहारे।
ओककी नीव परी हरिलोक बिलोकत गंग ! तरंग तिहारे ॥

ब्रह्मु जो ब्यापकु बेद कहैं, गम नाहिं गिरा गुन-ग्यान-गुनीको।
जो करता, भरता, हरता, सुर-साहेबु, साहेबु, दीन-दुनीको ॥
सोइ भयो द्रवरूप सही, जो है नाथु बिरंचि महेस मुनी को।
मानि प्रतीति सदा तुलसी जलु काहे न सेवत देवधुनीको ॥

बारि तिहारो निहारि मुरारि भएँ परसें पद पापु लहौंगो।
ईसु ह्वै सीस धरौं पै डरौं, प्रभुकी समतौं बड़े दोष दहौंगो ॥
बरु बारहिं बार सरीर धरौं, रघुबीरको ह्वै तव तीर रहौंगो।
भागीरथी ! बिनवौं कर जोरि, बहोरि न खोरि लगै सो कहौंगो ॥

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार

(डॉ॰ श्रीरामसनेहीलालजी शर्मा, एम्॰ए॰, पी-एच्॰डी॰)

भारतकी समस्त जीवन-चेतना, संस्कृतिकी उदात्त और महान् परम्पराओंके समुच्चय, उदात्त जीवनकी उर्वरा धरापर उगे हुए कल्पवृक्ष, असत्से संघर्ष करके उसे पराजित करनेवाली जीवनी-शक्ति, दुर्दान्त दानवी शक्तियोंको ललकारने और पराजित करनेवाली विजिगीषु-भावनाका तथा अखिल धर्मनिष्ठाका नाम है राम। राम मात्र एक नाम ही नहीं है, यह समस्त धर्म, इतिहास, आस्था, संस्कृति, जीवन-दर्शन, जिजीविषा, सत्य और कर्मनिष्ठाका समुचित रूप है। संसारमें जहाँ जो कुछ श्रेष्ठ है यह नाम उसे इङ्गित करता है। यह भक्तोंका सत्य, ज्ञानका आधार-स्तम्भ और कर्मकी प्रेरणा है।

इतिहासके कितने ही आलोकित और तिमिराच्छादित युग गुजर गये। सदियाँ और सहस्राब्दियाँ व्यतीत हो गयीं, परंतु राम-नामकी अखण्ड परम्परा आज भी जीवित है। भारत अमर है, क्योंकि भारतवासियोंके अन्तरमें बैठा हुआ राम अमर है। मूलभूत तथ्य जो अनेक सभ्यताओं और जातियोंके उत्थान-पतनके बीच भी हमें जीवित रखे है, वह है राम। रामके नामका उलटा जाप करके वाल्मीकि ब्रह्म-ऋषि तथा राम-राम कहते-कहते तुलसी लोकनायक हो गये। आजका हिन्दूधर्म तुलसीका धर्म है और राम उनका इष्टदेव। तुलसीके आदर्शोंपर समाजमें सहिष्णुता, मर्यादा, धैर्य, संगठन, शौर्य और आशाका बीज उगा, तुलसीके झंडेके नीचे शिवाजीने दक्षिणमें मराठा राज्य स्थापित किया तथा राजसिंहने मुगलोंको ध्वस्त किया। तुलसीके रामका बल पाकर राठौरोंने तीस वर्ष मुगलोंसे लोहा लिया। इन्हीं तुलसीके रामके आसरे छत्रसालने केवल पाँच सवारों और पचीस पैदलोंकी सेना लेकर विशाल राज्य स्थापित किया। रामाश्रय होकर ही पेशवाओंने मुगल-साम्राज्यको ध्वस्त कर अनेक शताब्दियोंसे खोये हुए हिन्दू-साम्राज्यकी फिरसे स्थापना की। ये तुलसीके हिन्दू संगठनके महान् परिणाम थे कि प्रायः दो ही शताब्दियोंके भीतर हिन्दू-साम्राज्य भारतमें स्थापित हो गया।

तुलसी भगवान् श्रीरामके अनन्य भक्त हैं। वे जानते हैं कि रामका नाम लेकर अगाध और अगम्य भवसागरको किस प्रकार पार किया जा सकता है। भगवान् राम अज्ञानके अन्धकारको विनष्ट करनेवाली ज्ञानज्योति हैं। राम-नामका जप स्वयं भगवान् शिव करते हैं, अतः राम-नामकी महिमा अनन्त है। यह नाम हाथकी वह ताली है, जिससे मनके संशयरूपी पक्षी तुरंत उड़ जाते हैं। राम निर्गुण और सगुणके बीच श्रेष्ठ साक्षी हैं। यह नाम उन दोनोंके बीच मध्यस्थताका काम करता है। यदि इसे दुखीजन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक रटते हैं तो उनके संकट दूर हो जाते हैं, इसीलिये तुलसी राम-नाम-रूपी मणि-दीपको शरीररूपी भवनके मुखरूपी द्वारकी जीभरूपी देहरीपर रखनेका परामर्श देते हैं। जिस प्रकार देहरीपर रखा हुआ दीप घरके अंदर भी प्रकाश करता है और घरके बाहर भी, उसी प्रकार जीभरूपी देहरीपर रखा हुआ राम-नाम अन्तरको भी आलोकित करता है और बाह्य जगत्को भी।

तुलसीने उत्तरकाण्डमें भक्तिको मणि कहा है, क्योंकि ज्ञानका दीप जलानेके लिये बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता है। जैसे—सात्त्विक श्रद्धारूपी गाय जब शुभ आचरणरूपी हरे तृण खाती है और भावरूपी बछड़ा उसका दूध पीता है तथा इस गायको वैराग्यरूपी नोई लगाकर अपने अधिकारमें किया हुआ निर्मल मनरूपी अहीर विश्वासरूपी पात्रमें दुहता है। फिर निष्कामनाकी आगपर उस दूधको गर्म किया जाता है तब संतोषरूपी वायु और क्षमा उसे शीतल करती है और धैर्यरूपी जामन देकर उसे जमाया जाता है तब मुदिता विचाररूपी मथानीसे उसे मथती है। इस मन्थनमें इन्द्रिय-दमन आधार और सत्यसे युक्त वाणी रस्सी होती है, तब जो मक्खन निकलता है उसे योगरूपी अग्निपर जलाकर विज्ञानरूपिणी बुद्धिसे ज्ञानरूपी निर्मित घीको चित्तरूपी दीपकमें डालकर समतारूपी दीवटपर रखकर तुरीयावस्थारूपी कपाससे बत्ती बनाकर ज्ञानरूपी दीपको जलाती है—

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई॥
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥
नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥

× × ×

जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।

बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ॥
तब बिग्यानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ॥
तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि॥
एहि बिधि लेसै दीप तेज रासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब॥

—इतने अधिक परिश्रम और धैर्यके साथ जलाया हुआ दीप भी विषयोंकी प्रचण्ड आँधीमें बुझ सकता है। लोभ, इन्द्रिय-भोग और विषय इस दीपको बुझा सकते हैं, क्योंकि—

इंद्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी॥

—यह इसलिये कहा गया है कि ज्ञानका मार्ग कृपाणकी धारा है, परंतु रामभक्ति चिन्तामणि है। यह जिसके हृदयमें निवास करती है, उसकी सारी इच्छाओंको वह पूर्ण कर देती है। काम इत्यादि उसके निकट नहीं जा सकते, इससे जीवको मानसिक रोग नहीं व्यापते। उसके निकट न मोह जाता है न लोभरूपी आँधी उसे मिटा सकती है, प्रत्युत यह अन्तरके अन्धकारको मिटा देती है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, कलुष और अज्ञान हृदय एवं बुद्धिको तिमिराच्छादित रखते हैं, परंतु जब राम-नामरूपी मणि-दीप जीभरूपी देहरीपर रख लिया जायगा तो वह अपने तीव्र आलोकसे इस अन्धकारको दूर कर देगा, सारे पाप नष्ट हो जायँगे, कलुष विलीन हो जायँगे—यह स्वयं प्रभु रामका आश्वासन है। वे स्पष्ट कहते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

स्पष्ट है कि राम-नामका स्मरण और रामका सांनिध्य जीवके अन्तरको ही नहीं प्रत्युत बाह्य आचरणको भी आलोकित—प्रकाशित करता है। तुलसीदासजी कहते हैं—राम-नामके बिना वाणीकी शोभा नहीं होती—

राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥

तथा—

ऐसेहि हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न जीवन केर कलेसा॥

वस्तुतः जीव ईश्वरका अंश है, परम पवित्र और निर्मल है, परंतु जब वह संसारमें आता है, तब मायासे आच्छादित हो जाता है। माया उसे इस प्रकार मलयुक्त कर देती है जिस प्रकार आकाशसे बिलकुल निर्मल जल जब भूमिपर आता है, तब भूमिपर गिरते ही उसमें मिट्टी घुलकर उसे गँदला कर देती है। माया क्या है? संसारमें जो कुछ भी इन्द्रियग्राह्य और जहाँतक मनकी गति है वह सब माया है।

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

इस मायाके जालसे मुक्त होनेका एकमात्र साधन भक्ति है। इस भक्तिके नौ प्रकार कहे गये हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(७।५।२३)

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरण-सेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देना'—यह नौ प्रकारकी भक्ति है।

तुलसीने भी भक्तिके इन नौ प्रकारोंको स्वीकार किया है। परंतु उन्होंने इनमें कुछ भिन्नता की है। रामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम शबरीको भक्तिके ये नौ प्रकार समझाते हुए कहते हैं—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

शास्त्रोंमें भक्तिके अनेक प्रकार होते हुए भी तुलसीने राम-नाम-जपपर जोर देते हुए कहा है कि यदि अन्तर और बाह्य प्रकाश चाहते हो तो राम-नामका निरन्तर अपनी जिह्वासे जप करते रहो—

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

भगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७।७)

—'हे धनंजय! मेरेसे बढ़कर इस जगत्का दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण नहीं है। जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण जगत् मेरेमें ही ओतप्रोत है।'

तात्पर्य है कि जैसे सूतकी मणियाँ हैं, सूतका ही धागा है, सब सूत-ही-सूत है, ऐसे ही संसारमें मैं-ही-मैं हूँ अर्थात् मेरे सिवा कुछ नहीं है। अतः भगवान्की दृष्टिसे भी संसार भगवत्स्वरूप है और महात्माओंकी दृष्टिसे भी संसार भगवत्स्वरूप है—'**वासुदेवः सर्वमिति**' (गीता ७।१९)। फिर यह संसार कहाँ है? भगवान् कहते हैं कि जो अपरा प्रकृति है, उससे एक विलक्षण मेरी परा प्रकृति है, जिसको जीव कहते हैं। उस जीवने जगत्को धारण कर रखा है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५)। अतः जगत्से सम्बन्ध-विच्छेद करनेका दायित्व जीवपर ही है। जीवका धारण किया हुआ जगत् ही इसके दुःखका हेतु है। अब इसको समझानेके लिये एक बात कहता हूँ, आप ध्यान दें।

शास्त्रोंमें आया है कि सृष्टि दो तरहकी है। एक भगवान्की रची हुई सृष्टि है और एक जीवकी रची हुई सृष्टि है। भगवान्की रची हुई सृष्टि कभी किसीको दुःख नहीं देती। उसने कभी दुःख दिया नहीं, कभी दुःख देगी नहीं और कभी दुःख दे सकती भी नहीं। भगवान्की रची हुई सृष्टि अगर जीवको दुःख देगी तो जीव दुःखसे कभी छूट सकेगा ही नहीं। तो फिर दुःख कौन देता है? जीवकी बनायी हुई सृष्टि ही दुःख देती है। जीवकी बनायी हुई सृष्टि क्या है? यह मेरी माँ है, मेरा बाप है, मेरी स्त्री है, मेरा बेटा है, मेरा भाई है, मेरी भौजाई है, ये हमारे पक्षके हैं, ये दूसरोंके पक्षके हैं; ये हमारी जातिके हैं, ये हमारी जातिके नहीं हैं—यह जो भेद बनाया हुआ है, यह जीवकी रची हुई सृष्टि है। शरीर भगवान्का रचा हुआ है और उसके साथ सम्बन्ध जीवका रचा हुआ है। यह सम्बन्ध जीवकी सृष्टि है, जो दुःख देती है। जीव जिनके साथ अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ता, उनसे दुःख नहीं होता। राग और द्वेष ही जीवके शत्रु हैं—'**तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ**' (गीता ३।३४)। जीव राग और द्वेष कर लेता है, मेरा और तेरा कर लेता है, यही वास्तवमें जीवको दुःख देता है। यह मेरा और तेरा, ठीक और बेठीक, अनुकूल और प्रतिकूल, ये हमारे हैं और ये तुम्हारे हैं—यह दशा जीवने धारण की है और इसीसे इसको दुःख पाना पड़ता है।

ईश्वरके रचित तो स्त्री-पुरुषोंके शरीर हैं। सबके शरीर ईश्वरकी प्रकृतिसे बने हुए हैं। इनके मालिक तो हैं परमात्मा और धातु चीज है प्रकृति। अतः यह सृष्टि न दुःख देनेवाली है और न सुख देनेवाली है। अगर देखा जाय तो यह सृष्टि इसके व्यवहारको सिद्ध करती है, इसकी मदद करती है। दुःख तो वहीं होता है, जहाँ मेरा-तेरा पैदा कर लेते हैं और यह मनुष्यका बनाया हुआ है—'**ययेदं धार्यते जगत्।**' जीव जगत्को धारण करता है, इसीसे सुख होता है, दुःख होता है, बन्धन होता है, चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति होती है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥**' (गीता १३।२१)। सत्त्व, रज, तम—तीनों गुण तो बेचारे पड़े रहते हैं, कोई बाधा नहीं देते। परंतु इनका सङ्ग करनेसे जीव ऊर्ध्वगति, मध्यगति अथवा अधोगतिमें जाता है अर्थात् सत्त्वगुणका सङ्ग करनेसे ऊर्ध्वगतिको, रजोगुणका सङ्ग करनेसे मध्यगतिको और तमोगुणका सङ्ग करनेसे अधोगतिको जाता है। गुणोंका संग यह स्वयं करता है। अपरा प्रकृति किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं करती। सम्बन्ध न प्रकृति करती है, न गुण करते हैं, न इन्द्रियाँ करती हैं, न मन करता है, न बुद्धि करती है। यह स्वयं ही सम्बन्ध करता है, इसीलिये सुखी-दुःखी हो रहा है, जन्म-मरणमें जा रहा है। जीव स्वतन्त्र है; क्योंकि यह परा (श्रेष्ठ) प्रकृति है। वह तो बेचारी अपरा प्रकृति है। वह कुछ नहीं करती। उससे सम्बन्ध जोड़कर उसका सदुपयोग-दुरुपयोग करके, ऊँच-नीच योनियोंमें जाते हैं, भटकते हैं। यह '**ययेदं धार्यते जगत्**' का अर्थ हुआ।

अपनेको सुख-दुःख किसका होता है? हमारा कोई

सम्बन्धी है, प्रेमी है, वह मर जाता है तो दुःख होता है और जी जाता है, अच्छा हो जाता है तो सुख होता है। यह मेरापन और तेरापन मनुष्यका बनाया हुआ है। यदि मनुष्य निर्मम और निरहंकार हो जाय, न प्रकृतिके साथ ममता रखे, न अहंता रखे तो दुःख मिट जायगा और शान्ति प्राप्त हो जायगी—'**निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥**' (गीता २।७१)। यह कर्मयोगकी दृष्टिसे है। ज्ञानयोगकी दृष्टिसे निर्मम-निरहंकार होनेपर ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जायगा—'**अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥**' (गीता १८।५३)। भक्तियोगकी दृष्टिसे निर्मम-निरहंकार होनेपर सुख-दुःखमें सम हो जायगा, क्षमावान् हो जायगा और भगवान्‌का प्यारा हो जायगा—'**निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी**' (गीता १२।१३)। इस तरह कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंसे मनुष्य निर्मम और निरहंकार हो जाता है।

यह ममता और अहंता हमारी बनायी हुई है। यह जीवकृत सृष्टि है। जीवकृत सृष्टि ही जीवको दुःख देती है, बाँधती है। जीव स्वयं ही सृष्टि बनाकर बँधता है। जैसे रेशमका कीड़ा रेशम बनाकर उसमें बँध जाता है, उसमें ही फँसकर मर जाता है, इसी तरहसे जीवने अपना जाल बुन लिया, राग और द्वेष कर लिया। इसीसे यह फँसा हुआ है, बँधा हुआ है। इसीने जगत्‌को धारण कर रखा है। जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कारणरूपसे देखें तो प्रकृति है और मालिकरूपसे देखें तो परमात्मा है। बाँधनेवाला जगत् तो जीवने ही बना रखा है। यदि यह निर्मम और निरहंकार हो जाय तो निहाल हो जाय ! भगवान्‌ने बड़ी कृपा करके दो बात कह दी कि तुम '**निर्ममो निरहंकारः**' हो जाओ, केवल अपनी बनायी हुई अहंता और ममताको मिटा लो तो ज्ञान हो जायगा, पूर्णता हो जायगी। यह अहंता-ममता आपकी बनायी हुई है। पहले जन्ममें और जगह ममता थी, इस जन्ममें और जगह ममता है। इस शरीरमें रहते हुए भी आप मकान बदल देते हो, सम्बन्ध बदल देते हो, दुकान बदल देते हो, अपना बना लेते हो और फँस जाते हो। अतः आपने ही इसको जगत्-रूपसे धारण कर रखा है। परमात्माकी दृष्टिमें यह जगत् नहीं है। महात्माकी दृष्टिमें भी यह जगत् नहीं है। अगर अहंता-ममता छोड़ दो तो जगत् नहीं रहेगा, दुःख मिट जायगा।

श्रोता—स्वयंमें कर्तापनका भाव आ जाता है !

स्वामीजी—हाँ, उसको आप ही स्वयंमें लाते हैं। यह मेरा है, यह तेरा है; यह मेरे अनुकूल है, यह मेरे प्रतिकूल है; यह हमारे पक्षका है, यह दूसरे पक्षका है; यह हमारे सम्प्रदायका है, यह दूसरे सम्प्रदायका है—यह अपना खुदका ही बनाया हुआ है। इसलिये इसका त्याग करनेका दायित्व जीवपर है। अगर यह परमात्माका बनाया हुआ होता तो इसके त्यागका दायित्व परमात्मापर होता।

परमात्माकी बनायी सृष्टिमें उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि जो कुछ होता है, वह आपमें बिलकुल दखल नहीं देता। वस्तुएँ आपके व्यवहारमें काम आती हैं, आपपर कोई बन्धन नहीं करतीं, आपको परवश नहीं करतीं, परतन्त्र नहीं करतीं। आप खुद ही उनमें अहंता-ममता करके फँस जाते हैं। अतः '**ययेदं धार्यते जगत्**' का तात्पर्य है कि बन्धन आपका ही बनाया हुआ है।

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे जीव मोहित हो जाता है—'**त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्**' (गीता ७।१३)। सात्त्विकी, राजसी और तामसी वृत्तियोंसे मोहित होकर जीव उनमें फँस जाता है। परंतु न सात्त्विकी वृत्ति हरदम रहती है, न राजसी वृत्ति हरदम रहती है और न तामसी वृत्ति हरदम रहती है। गुणोंका तो नाशवान् स्वभाव है, उनका नाश होता ही रहता है। आप कितना ही अच्छा मानो, मन्दा मानो; भला मानो, बुरा मानो, कैसा ही मानो, वे गुण तो नष्ट होते ही हैं। उनमें परिवर्तन तो होता ही रहता है। आप ही सम्बन्ध जोड़ करके उनको पकड़ लेते हो। परा, श्रेष्ठ प्रकृति होते हुए भी आपने अपरा प्रकृतिको धारण कर रखा है, जन्म-मरणको धारण कर रखा है, महान् दुःखको धारण कर रखा है। आप छोड़ दो तो छूट जायगा। प्रत्यक्ष उदाहरण है कि आपकी कन्या बड़ी हो जाती है तो चिन्ता होने लगती है और जब घर-वर अच्छा मिल जाता है तथा आप कन्यादान कर देते हो तो आपकी वह चिन्ता मिट जाती है। कन्या वही है, आप वही हो, सृष्टि वही है, पर आपको चिन्ता नहीं है। कारण कि जबतक 'मेरी है' तबतक चिन्ता है और अब, 'मेरी नहीं है'

तो अब चिन्ता नहीं है। तात्पर्य है कि अपनी अहंता और ममतासे ही दुःख होता है।

अहंताको लेकर 'मैं साधु हूँ, मैं ऐसा हूँ, मेरेको ऐसा कह दिया, मेरेको ऐसा कर दिया'—यह आफत किसने पैदा की है ? हम ऐसे-ऐसे हैं, हम पढ़े-लिखे हैं; हम कौन हैं, समझते हो आप ? यह आफत आपने ही बनायी है। आपने ही अपमान पकड़ लिया, मान पकड़ लिया, महिमा पकड़ ली, निन्दा पकड़ ली, अनुकूलता पकड़ ली, प्रतिकूलता पकड़ ली। यह आपकी ही पकड़ी हुई है। आप न पकड़ो तो कोई दुःख देनेवाला है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। अपनी सृष्टि बनाकर आप ही फँस गये। आपने ही जगत्को धारण कर लिया, नहीं तो भगवान् कहते हैं कि सब कुछ मेरेसे ही व्याप्त है—**'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'** (गीता ९।४), **'येन सर्वमिदं ततम्'** (गीता ८।२२; १८।४६)। ये बातें याद कर लेने मात्रकी नहीं हैं। याद करोगे तो जैसे मैं व्याख्यान देता हूँ वैसे आप भी दे दोगे, पर उससे कल्याण नहीं होगा। ये बातें मूलमें समझनी हैं कि हमें इसमें फँसना नहीं है, मैं-मेरा नहीं करना है। ***'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥'*** (मानस ३।१५।१)। मैं और मेरा, तू और तेरा, यह और इसका, वह और उसका—यही बन्धन है, जो जीवका बनाया हुआ है। इसको वह छोड़ दे तो निहाल हो जाय।

जबतक मैं और मेरेपनको धारण किये रहोगे, तबतक दुःख नहीं मिटेगा। यह मैं-मेरापन ही खास बन्धन है।

मैं मेरे की जेवरी, गल बँध्यो संसार।
दास कबीरा क्यों बँधे, जाके राम अधार॥

सब बन्धनोंकी एक ही चाबी है—मैं-मेरेका त्याग। मैं-मेरेको त्याग दो तो बन्धन है ही नहीं।

श्रोता—पहले ममताका त्याग होगा या अहंताका ?

स्वामीजी—आपकी मरजी आये सो कर लो। ममताका सर्वथा त्याग कर दो तो अहंताका त्याग हो जायगा और अहंताका सर्वथा त्याग कर दो तो ममताका त्याग हो जायगा। जो आपको सुगम पड़े, वह कर लो। एकका त्याग करो तो दूसरेका त्याग अपने-आप हो जायगा। अहंताके साथ ममता और ममताके साथ अहंता रहती है। ममताका त्याग करो तो अहंता सर्वथा चली जायगी और अहम् ही छोड़ दो तो ममता कहाँ टिकेगी ? आप करके देख लो।

भक्ति दुर्लभ है या सुलभ ?

(श्रीभँवरलालजी परिहार)

श्रीभगवान्के चरण-कमलोंमें परम विशुद्ध अनन्य प्रेम होना ही भक्ति है। शास्त्रोंमें इस भक्तिको सर्वश्रेष्ठ एवं परम दुर्लभ बतलाया गया है। परम भक्त श्रीबिल्वमंगल कहते हैं—

क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते कृष्णभावरसभाविता मतिः।
तत्र मूल्यमपि लौल्यमेकलं जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते॥

'कृष्णभक्ति-रूप-रससे तर-बतर बुद्धि जहाँ कहीं भी मिले, खरीद लो, अत्यधिक उत्कण्ठा ही उसका मूल्य है। अन्यथा करोड़ों जन्मोंके पुण्यसे भी उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।'

श्रीनारदपाञ्चरात्रमें कहा गया है—

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा॥

ज्ञानके द्वारा मुक्ति सहज ही प्राप्त हो सकती है। यज्ञ आदि पुण्योंसे भोगोंकी प्राप्ति भी सुलभ है, किंतु इस हरिभक्तिका तो हजारों अनुष्ठानोंसे प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। श्रीमद्भागवतमें भी श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्॥
(५।६।१८)

'भगवान् मुकुन्द अपना भजन करनेवालोंको मुक्ति तो देते हैं, किंतु जो भक्तियोग है उसे सहजमें नहीं देते।'

इसी प्रकार भगवान् श्रीरामने प्रसन्न होकर काकभुशुण्डिजीसे सम्पूर्ण ऋद्धि-सिद्धि, मोक्ष-ज्ञान-विज्ञान तथा मुनिदुर्लभ समस्त गुणोंको माँगनेके लिये कहा; किंतु भक्तिकी बाततक नहीं की। इसपर परम चतुर श्रीकाकभुशुण्डिजीने विचार किया—

प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही ॥
भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे ॥
(मानस ७।८४।४-५)

अतः काकभुसुण्डिजीने अनन्य भक्तिका ही वरदान माँगा। श्रीभगवान् यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हो गये और बोले—

सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी ॥

श्रीगोस्वामीजी महाराजने ऐसे भक्तको परम दुर्लभ बताया है—

सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया ॥
(मानस ७।५४।७)

गीताने भी ऐसे अनन्य भक्तको स्पष्टरूपसे परम दुर्लभ बताया है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(७।१९)

इन समस्त दुर्लभतासूचक प्रकरणोंपर विचार करनेसे साधकका हृदय एक बार तो कम्पित-सा हो जाता है, क्योंकि जब भक्ति उतनी दुर्लभ है, तब उसकी प्राप्तिकी आशा ही कहाँ रही ? क्या इस एक ही जन्ममें ऐसी परम दुर्लभ भक्तिको प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाना अशक्य है ?

किंतु वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। भक्तिको दुर्लभ बतानेमें शास्त्रकारोंका तात्पर्य भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करनेमें ही है। ज्ञान, योग तथा तपसे मुक्ति मिल सकती है; किंतु श्रीभगवान्‌का साक्षात् दर्शन तो भक्तिसे ही सम्भव है। दूसरा कोई भी साधन भगवद्दर्शन करानेमें समर्थ नहीं है। स्वयं श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गीता ११।५३-५४)

'जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है—इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ। परंतु हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

सम्पूर्ण योगी, कर्मी, ज्ञानी एवं तपस्वियोंसे भक्त अत्यन्त श्रेष्ठ है। इस बातका निर्णय स्वयं भगवान्‌ने ही गीतामें स्पष्टरूपसे दिया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(६।४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है।'

जब अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक स्वयं भगवान् ही भक्तको मिल जाते हैं, तब फिर शेष ही क्या रहा ? भगवान् एक बार मिलकर फिर कभी बिछुड़ते नहीं। अतः भक्तको भगवान्‌का सांनिध्य निरन्तर प्राप्त रहता है। भक्तके ऐसे श्रेष्ठ सौभाग्यकी तुलना अन्य किसी भी स्थितिसे सम्भव नहीं है।

यह सर्वोत्तम भगवद्भक्ति कलियुगमें सुगमतासे प्राप्त हो सकती है। साधक विहित व्यापार-धंधा आदि करते हुए भी भगवद्दर्शनकी साधना कर सकता है। इस साधनाका स्वरूप है एकमात्र भगवद्भजन।

जो साधक लोक-परलोकके समस्त सुखोंको अत्यन्त तुच्छ—घृणित मानकर हृदयसे उनका त्याग कर देता है तथा सभी जगहसे अपनी आसक्ति-ममता हटाकर एकमात्र श्रीभगवान्‌को ही अपना सर्वस्व समझकर रात-दिन उनका भजन करता रहता है, उसको निश्चय ही श्रीभगवान् अपने दर्शन प्रदान कर कृतार्थ कर देते हैं। भक्तिके साधन बताते हुए श्रीनारदजीने कहा है—**'अव्यावृतभजनात्'** (भक्तिसूत्र) अर्थात् अखण्ड भजनसे भक्तिका साधन सम्पन्न हो जाता है। श्रीभगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(८।१४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

भजनसे तात्पर्य भगवान्‌के नाम-जपसे है। नाम-जपमें

निम्नलिखित बातें होनी चाहिये—

१-नाम-जप निरन्तर होना चाहिये। शयनकालके प्रायः छः घंटे छोड़कर शेष अठारह घंटे नाम-जप होता रहे—ऐसी चेष्टा रखनी चाहिये। एकमात्र भगवद्दर्शनका ही लक्ष्य रखनेपर ऐसा होना सर्वथा सम्भव है। साधनामें कुछ आगे बढ़नेपर तो नाम-जप छोड़ना सहन नहीं होगा। किसीसे बात करना भी अच्छा नहीं लगेगा। चलते-फिरते, खाते-पीते, काम-धंधा करते हुए ही मन-ही-मन नाम-जपका निरन्तर अभ्यास किया जा सकता है। यह इस साधनकी महान् सुलभता है।

२-नाम-जपकी साधनाका प्रचार नहीं करना चाहिये।

३-भगवत्प्राप्तिके अतिरिक्त समस्त लौकिक कामनाओंको छोड़ देना चाहिये।

४-नाम-जपके साथ श्रीभगवान्‌के ध्यानकी भी चेष्टा रखनी चाहिये, किंतु प्रारम्भमें ध्यान न हो तो कोई भी आपत्ति नहीं। नाम-जपके प्रतापसे आगे चलकर स्वतः ही ध्यान होने लगेगा।

५-झूठ-कपट, छल, दम्भ, पाखंड आदि निषिद्ध एवं पापकर्मोंसे सर्वथा दूर रहना चाहिये। परचर्चा एवं परनिन्दा इस साधनमें महान् विघ्न हैं।

६-विषयासक्तिका त्याग सम्पूर्ण रूपसे करना चाहिये। स्त्री एवं धन-सम्बन्धी साहित्य न पढ़े, न सुने, न ऐसे पुरुषोंका संग ही करे।

७-जिनका भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम नहीं है, उन पुरुषोंका संग दुःसंग है। इस दुःसंगका तत्काल त्याग करना चाहिये।

साधक जैसे-जैसे नाम-जपकी साधनामें आगे बढ़ेगा, उसको स्वतः ही परम शान्ति अनुभव होने लगेगी। किंतु वह कहीं अटके नहीं, आगे ही बढ़ता रहे। इस अवस्थामें वह जहाँ भी भावना करेगा, वहीं—आकाशमें खुली आँखोंके सामने भगवान्‌की मनोहर मूर्तिकी प्रतीति होना सम्भव है। उसको अनुभव होगा कि मानो भगवान् निरन्तर उसके साथ हैं। ऐसा होने लगे तब समझ लेना चाहिये कि साधक नाम-जपकी साधनामें प्रविष्ट हो गया है।

साधक 'साधन' को ही 'साध्य' बना ले। वह किसी भी अन्य साधनकी अपेक्षा वा उपेक्षा न करे। बस, निरन्तर नाम-जप करता रहे। यह साधन उसको निश्चय ही परम दुर्लभ अवस्थामें पहुँचा देगा, जो किसी भी अन्य साधनद्वारा सहज ही प्राप्त करना अशक्य है। श्रीवेदव्यासजी महाराजके ये वचन स्मरण रखने चाहिये—

'जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात् सिद्धिः कलौ युगे।'

'जपात्सिद्धिः'—इस पदको तीन बार कहनेका क्या प्रयोजन है? इसका भाव यह है कि यह नामजपका साधन निःसंदेह सिद्धिप्रदायक है। जब वेदव्यासजी महाराज-जैसे लोकोत्तर महापुरुष यह बात कहते हैं, तब संदेहके लिये स्थान ही कहाँ रह जाता है। आवश्यकता है पूर्ण आस्था एवं दृढ़ संकल्प की। श्रुतिका उद्घोष है—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।'

* * *

उद्‌बोधन

(पं॰ श्रीवृन्दावनविहारीजी मिश्र, 'बिन्दु' भागवताचार्य)

आयकैं न शीतल जल जमुना कौ पान कियौ,
सेवाकुँज लतापुँज भेंटी न सिहायकै।
चायकैं न धाये श्रीनिधि-वनराज-कुंजनमें,
कीन्हीं न झाँकी बाँकी बाँकेकी जायकै॥
जाय कै न बैठे सत्संग हरि-भक्तनके,
प्रेमके न 'बिन्दु' गिरै नैनसों चुचायकै।
भायकै न सेये जो श्रीराधावल्लभलालजू,
तौ कहा कियौ तैंने यह नर-तनु पायकै॥

गीता-सुधातरङ्गिणी

[साधक-संजीवनीके आधारपर]

चौदहवाँ अध्याय

दो०—नमो देव बसुदेव सुत मर्दन चानुर कंस।
देवकि परमानंद प्रद जग गुरुबर जदु बंस ॥ १ ॥
नाथ छेत्र छेत्रग्य कर दीन्ह भेद समुझाइ।
ग्यान दृष्टि तें लखइ नर परम ईस कहुँ पाइ ॥ २ ॥
को बिचित्र अस ग्यान कहु महिमा तासु जनाइ।
पावउँ मैं कस भाँति अब बरनहु सहज उपाइ ॥ ३ ॥
सो०—नमो कृष्न भगवान श्री मुरलीधर तोत्र धर।
करउ बिस्व कल्यान कृपा वृष्टि करि सृष्टि पर ॥ ४ ॥
चौ०-बरनत कृष्नचंद्र भगवाना। सुनहु पार्थ मम सखा सुजाना ॥
पुनि अब कहउँ ग्यान उत्तम पर। जो तिहुँ लोक ग्यान ते ऊपर ॥
जानत जाहि परम सिधि पाई। मुक्त भये सब मुनि समुदाई ॥
आश्रित होइ ताहि अनुसरई। सहधर्मता प्राप्त मम करई ॥
महा सर्ग महुँ उपज न सोई। महा प्रलय महुँ व्यथित न होई ॥
अरजुन मूल प्रकृति लखु मेरी। उतपति जोनि जीव सब केरी ॥
जहँ लगि सकल जगत महँ प्रानी। बिबिध रूप आकृति जस खानी ॥
मूल प्रकृति तिन्ह सब करि माता। बीज थापि मैं पिता कहाता ॥
सो०—प्रकृति जनित गुन तीन सत रज तम मिलि देह महुँ।
बाँधइ करि आधीन अज अबिनासी जीव कहुँ ॥ ५ ॥
तिन्ह महुँ सत गुन एह अमल अनामय जोति मय।
बाँधइ जीवहि देह सुखासक्ति अरु ग्यान सँग ॥ ६ ॥
चौ०-रजगुन राग रूप लखु ताता। तृसना संग दोष उपजाता ॥
बाँधइ जीव कर्म आसक्ति। सुख संग्रह जुत बाढ़ि प्रवृत्ति ॥
जानहु तात तमोगुन सोई। जेहि उतपति अग्यान ते होई ॥
मोहहिं सकल जीव गन ताहीं। बाँधत आलस निद्रा माहीं ॥
सत्व लगावहिं सुख महुँ एही। करत बिजय निज बस करि देही ॥
रजगुन बिजय करहिं जब आई। बिबिध कर्म लगि मन ललचाई ॥
तमगुन जब जेहि ऊपर छावा। ढकइ ग्यान परमाद लगावा ॥
रज तम दाबि सत्वगुन बढ़हीं। दाबि सत्व तम रजगुन चढ़हीं ॥
तमगुन बढ़ि सत रजहि दबाई। बाढ़हिं एक उभय घटिजाई ॥
सो०—सकल द्वारमहुँ जासु तन इंद्रिय अरु बुद्धि मन।
उपजहिं ग्यान प्रकासु बाढ़इ सतगुन जानु तब ॥ ७ ॥
नव आरंभ प्रवृत्ति ईछा लोभ असांति उर।
होहिं रागजुत वृत्ति बाढ़इ रजगुन जानु तब ॥ ८ ॥
लुप्त बिबेक बिचार आलस नींद प्रमाद उर।
छायउ मोह अपार बाढ़इ तमगुन जानु तब ॥ ९ ॥
चौ०-सतगुन बढ़त छाँड़ि तन जाई। निरमल पुण्यलोक कहुँ पाई ॥
रजगुन बढ़त देह तजि जावा। मानुष जोनि जन्म वह पावा ॥
तमगुन बढ़त छाँड़ि यह देही। जनम मूढ़ जोनी महुँ लेही ॥
सतजुत कर्म बिमल फल जासू। राजस कर्म दुखद फल तासू ॥
तामस कर्महि फल अग्याना। अधम जोनि भोगहिं बिधि नाना ॥
सत तें उपजइ ग्यान बिचारा। रज तें उपजइ लोभ अपारा ॥
तमगुन तें उपजइ अग्याना। अरु परमाद मोह बिधि नाना ॥
जे थित रहइ सत्वगुन माहीं। ते नर ऊँचि लोक महुँ जाहीं ॥
रजगुन मांहि रहइ जे थीरा। मर्त्यलोक महँ धरइ सरीरा ॥
जे तामस गुन महँ थित होई। अधम गतिन्ह महँ जाइहिं सोई ॥
दो०—जौं बिबेकि नर लखहिं अस करता अपर न कोइ।
प्रकृति जनित गुन तीनि तजि होहिं न सकहिं न होइ ॥ १० ॥
हौं अतीत तिहुँ गुनन्ह तें अस निज महुँ दरसाइ।
सोइ सहज नित सांत सम मम सरूप कहुँ पाइ ॥ ११ ॥
करइ तीनि गुन अतिक्रमन जो सब तन उपजाइ।
जरा जन्म देहान्त ते छूटि अमरता थाइ ॥ १२ ॥
चौ०-अरजुन कहहिं नाथ मधुसूदन। गुनातीत नरकर केहि लच्छन ॥
कस आचरन ताहि प्रभु होई। कस गुन पार करन सकि सोई ॥
बोलेउ कृष्नचंद्र भगवाना। सुनउ पार्थ मम सखा सुजाना ॥
एहि गुन तीनि ताहि करि वृत्ति। जानहु मोह प्रकास प्रवृत्ति ॥
होत प्रवृत्त द्वेष नहिं ताहीं। निवृत होत ईछा उर नाहीं ॥
उदासीनवत लखि जगमाहीं। गुन बिचलित करि सकहिं न ताहीं ॥
बरतत गुनहिं गुनन्ह महुँ जानी। ताहि संग संबंध न मानी ॥
अस लखि थित सरूप महुँ होई। क्रिया रहित चिंतन नहिं कोई ॥
दो०—सुनहु आचरन होत कस गुनातीत कर तात।
समता धीरज अटल थिति सुरति करहिं निज ग्यात ॥ १३ ॥
सो०—सुख दुख ताहि समान मृतिका पाहन स्वर्न मनि।

प्रिय अप्रिय सम ग्यान तुल्य ताहि निंदा स्तुति ॥ १४ ॥
तुल्य मान अपमान तुल्य मित्र अरि पच्छमहुँ ।
लोभ काम जिय ठान करहिं न नव आरंभ कछु ॥ १५ ॥
दो०— भगतिजोग तें भजहिं मम रहित दोष व्यभिचार ।
पात्र ब्रह्म निरबान कर होहिं त्रिगुन करि पार ॥ १६ ॥
हौं अबिनासी अमृत नित सुख एकांतिक बास ।
ब्रह्म सनातन धर्म सह मोमहँ सतत निवास ॥ १७ ॥
अगुन सगुन जनि भेद लखु छाड़हु मिथ्या भ्रम्म ।
ब्रह्म कहउ वा कृष्न कहु कृष्न कहउ वा ब्रह्म ॥ १८ ॥

[अनु०—एक जिज्ञासु]

मोहि कपट छल छिद्र न भावा

(श्रीराजेन्द्रजी राय)

रामजीको सरलता एवं निश्छलताका गुण बहुत पसंद है। जो जैसा है वह वैसा ही अपने-आपको उनके सामने समर्पण कर दे तो वे उसका सर्वविध कल्याण कर देते हैं और उसे अपना बना लेते हैं। भक्त हो या पापी, उनके सामने जाते ही सब छल-कपट और छद्म भूल जाता है। उसे अपने असली रूपमें आना ही पड़ता है और जहाँ प्राणी अपना असली रूप उनके सामने लाया, रामजी प्रसन्न होकर उसे अपनी भक्ति दे देते हैं, जन्म-जन्मके बन्धन काट देते हैं। ऐसा क्यों न हो—वे राम तो अपनी अन्तरात्मा ही हैं। उनसे कोई दुराव कैसे करेगा। चाहे कोई सबके सामने मुखौटा चढ़ाये रहे, अन्तरात्माके सामने यह असम्भव है। यदि कोई अन्तरात्माके सामने भी अपना दिखावेवाला स्वाँग करेगा तो अन्तरात्मा उसे क्षमा नहीं करेगा, उसे धिक्कारेगा। प्राणीको अन्तरात्माके सामने असत्यका आवरण उतारना ही पड़ता है और वह अवश्य ही पापीसे धर्मात्मा बन जाता है। क्योंकि उनका यह उद्घोष है कि एक बार भी यदि कोई 'मैं आपकी शरण हूँ'—ऐसा कहकर मेरे प्रपन्न हो जाता है तो उसे मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरी प्रतिज्ञा है। यथा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
(वा० रा० ६ । १८ । ३४)

और—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
(गीता ९ ।३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

इसी प्रकार—

जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरें सनमुख आव कि सोई।

रामचरितमानसमें ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं, जब कोई भगवान्‌के सामने छद्म-भेष बनाकर गया तो उनके सामने पहुँचनेपर उसका भेष टिक न सका। उदाहरण-रूपमें—ऋष्यमूक पर्वतकी ओर राम-लक्ष्मणको बढ़ते देखकर सुग्रीवने हनुमान्‌जीको गुप्तचरके रूपमें उनके पास भेजा और कहा—

धरि बटु रूप देखु तैं जाई। कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई॥

हनुमान्‌जी विप्र-रूप बनाकर उनके पास पहुँचे—

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ।

परंतु परम भक्तको अपने स्वामीके सामने भेष बदलकर जानेकी क्या आवश्यकता ? जैसे ही उन्होंने उन्हें पहचाना वैसे ही वे प्रेमसे गद्‌गद हो गये। बातचीतके प्रकरणमें हनुमान्‌ने कहा—

मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं॥

भगवान्‌का परिचय पानेपर भक्त हनुमान्‌का हृदय ग्लानिसे भर गया। वे चरण-कमलपर गिर पड़े और अपने वास्तविक रूपमें आ गये। भगवान् श्रीरामने उन्हें उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया।

अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥
तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥

विभीषणकी गतिविधियोंपर दृष्टि रखनेके लिये रावणने शुक और सारणको गुप्तचरके रूपमें राम-सेनामें भेजा। किंतु वहाँ उन्होंने श्रीरामकी शरणागतवत्सलता तथा अपार उदारताको देखा, भगवान् शङ्करने जो विभूति रावणके कई बार शिरश्छेद प्रदान करनेपर प्रदान की थी वह सारी विश्वकी विभूति

भगवान्ने शरणागत विभीषणको दे दी और मनमें अत्यन्त संकोच भी हुआ कि मैंने तो इसे कुछ भी नहीं दिया—

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥

इस दृश्यको देखकर वहाँके सभी परिकर भक्तिरस-धारासे सराबोर हो रहे थे। भला तब वे दोनों राक्षस भी उस प्रवाहसे कैसे बचते। वे भूल गये कि हम दोनों रावणके गुप्तचर हैं और विशिष्ट कार्यसे आये हैं। वे शत्रुओंके बीच बैठे थे, लेकिन रामजीके सामने थे, उनके कृपा-कटाक्षके प्रभावको प्रत्यक्ष देख रहे थे। फिर दुराव कैसे रहता ? भूल गये अपना कपट-वेष, वह जाने कहाँ तिरोहित हो गया और तब—

प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥

जब मारीच विवश होकर सीता-हरणके सूत्रपातके लिये कपट-मृग बननेको तैयार हो गया, तब उसके मनमें एक संतोष था—

मम पाछें धर धावत धरें सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ धन्य न मो सम आन॥

इस प्रकार ध्यान करता हुआ मारीच भागने लगा। सभी वेद तो जिसे नेति-नेति कहकर उनका गुणगान करते हैं तथा भगवान् शिव भी योगीश्वर होकर उनका हृदयमें ठीक-ठीक ध्यान करनेमें असमर्थ रहते हैं, वे भगवान् श्रीराम भी लीला करनेके लिये माया-मृगके पीछे दौड़ने लगे—

निगम नेति सिव ध्यान न पावा। मायामृग पाछें सो धावा।

और अन्तमें भगवान्का स्मरण करते हुए मारीचने अपना शरीर प्रकट किया—

प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि रामु समेत सनेहा॥

कहते हैं कि पापी-से-पापी भी मरते समय भगवान्को याद करता है। कम-से-कम मनकी बात तो उस समय जिह्वापर आ ही जाती है। मृत्युके समय छल-कपट कैसा ? मारीच तो फिर भक्त था।

पापका दण्ड भुगत लेनेसे प्राण शुद्ध हो जाता है। क्रोधी और मुनि-द्रोहीको दण्ड मिल चुका था—

बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥

इसलिये वह शुद्ध होकर परम भक्त बन गया और उसका उद्धार हो गया—

अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥

मानसमें विभिन्न रामायणोंमें तथा अन्य भक्तचरितोंमें ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ शुद्ध भक्ति उत्पन्न होते ही साधकमें पूर्णरूपसे निश्छलताके साथ-साथ पूर्ण साधुता भी प्रकट हो जाती है। निर्मल मन होते ही उसे सर्वत्र भगवान्का ही दर्शन होने लगता है—

'नरक स्वर्ग अपबर्ग समाना।'

'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥'

किंतु भगवान्को कपट पसंद नहीं है। यह कपट ही उनकी प्राप्तिमें सर्वाधिक व्यवधान या अन्तराय है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

'मोहि कपट छल छिद्र न भावा।'

इसलिये साधकको किसीके साथ भी कभी भी किसी प्रकारका कपट नहीं करना चाहिये। सबके हृदय-गुहामें निवास करनेवाले सर्वव्यापी, सर्वान्तरात्मा भगवान् सब कुछ देखते रहते हैं।

भक्त-वाणी

त्वन्मन्त्रजाप्यहमनन्तगुणाप्रमेय सीतापते शिवविरिञ्चिसमाश्रिताङ्घ्रे।
संसारसिन्धुतरणामलपोतपाद रामाभिराम सततं तव दासदासः॥

(अध्यात्मरा० ३।२।२७)

(श्रीसुतीक्ष्णजी कहते हैं—)'हे अनन्तगुण अप्रमेय सीतापते! मैं आपका ही मन्त्र जपता हूँ। हे अभिराम राम! आपके चरण संसार-सागरसे पार करनेके लिये सुदृढ़ जहाजरूप हैं, शिव और ब्रह्मा सर्वदा उनकी सेवा करते हैं। हे नाथ! मैं सर्वदा आपके दासोंका दास बना रहूँ।'

शङ्का-समाधान—

सात्त्विक जीवन कैसे बने ?

(स्वामी श्रीशंकरानन्दजी महाराज)

शङ्का—मैं चालीस वर्षसे भजन-ध्यान-सत्संग-स्वाध्यायमें लगा रहता हूँ। साधु हो जानेके कारण पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, व्यावसायिक आदि समस्याओं तथा चिन्ताओंसे रहित हूँ। प्रारब्धानुसार प्रभुकृपासे जीवन-निर्वाहके लिये वस्त्र-भोजन-ओषधि आदिकी प्राप्ति अनायास हो जानेके कारण मैं जीवन-यापनकी चिन्तासे भी मुक्त हूँ। ऐसा होनेपर भी मैं अभीतक भीतर और बाहरसे पूर्ण सात्त्विक जीवन नहीं बना सका। इससे कभी-कभी निराशा तथा अश्रद्धाका भाव भी उदय होता है। आपसे सविनय प्रार्थना है कि शास्त्र-प्रमाणके आधारपर विस्तारसे यह बतानेकी कृपा करें कि सात्त्विक जीवन कैसे बने ?

समाधान—धर्मशास्त्ररूप मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंका निर्माण जीवनको सात्त्विक बनानेवाले साधनोंका प्रधान रूपसे विवेचन करनेके लिये ही किया गया है। उन साधनोंको विस्तारसे जाननेके लिये तो उन ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना चाहिये। तथापि कुछ मुख्य-मुख्य उपायोंका संक्षेपसे शास्त्र-प्रमाणपूर्वक विवेचन लिखा जा रहा है। इनके ध्यानपूर्वक पठन-मनन तथा यथासम्भव आचरण करनेपर निराशा तथा अश्रद्धा समाप्त हो सकती है।

१-सात्त्विक भावना—जब गर्भमें संतान होती है, तब उस कालमें माता जैसे भावोंसे भावित रहती है, जैसा विचार करती है, जैसा देखती-सुनती, पढ़ती, खाती-पीती है, उन सबका प्रभाव संतानपर पड़ता है। अतः गर्भवती माताको अपने विचार, श्रवण, दर्शन, पठन, खान-पान आदिमें पूर्ण सात्त्विकता रखनी चाहिये। देवर्षि नारदद्वारा उपदिष्ट सात्त्विक ज्ञानका माताद्वारा गर्भकालमें श्रवण-मनन-विचार करनेके कारण ही प्रह्लादको बाल्यावस्थामें तत्त्वज्ञान हो गया था। ऐसा भागवतके सातवें स्कन्धके सातवें अध्यायमें स्वयं प्रह्लादजीने दैत्य बालकोंके पूछनेपर बताया है।

२-सात्त्विक शिक्षा-दीक्षा—संतान उत्पन्न होनेके बाद माता-पिता तथा परिवारके सभी लोगोंको संतानके सामने सात्त्विक भाव-विचारयुक्त बातें तथा चेष्टाएँ करनी चाहिये। यह नहीं समझना चाहिये कि यह अभी अबोध है, इसलिये कुछ भी नहीं ग्रहण कर सकेगा। बालकमें कितनी अच्छी ग्रहण-शक्ति होती है, इसे इसीसे समझ लेना चाहिये कि किसी भाषाका माध्यम न होनेपर भी केवल शब्दोंको सुन-सुनकर ही २-३ वर्षमें संतान मातृभाषा बोलने-समझने लग जाता है। बाल्यावस्थामें कोई विरोधी भाव-विचार-संस्कार न होनेसे जो संस्कार डाले जाते हैं, उनका गहरा प्रभाव पड़ता है, इसलिये संतानमें सात्त्विक संस्कार ही पड़े, इसकी पूर्ण चेष्टा करनी चाहिये।

३-सात्त्विक खान-पान—**'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'** (छान्दोग्योपनिषद् ७।२६।२)—इस श्रुति-मन्त्रमें कहा गया है कि आहार शुद्ध होनेपर अन्तःकरण शुद्ध होता है। श्रीशंकराचार्यने 'आहार' शब्दका 'श्रवणादि इन्द्रियोंद्वारा जिसका आहरण—ग्रहण किया जाय, उसे आहार कहते हैं'—ऐसा अर्थ करके सभी इन्द्रियोंके द्वारा सात्त्विक विषय-सेवन करनेपर ही अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, ऐसा प्रतिपादन किया है। सो सर्वथा ठीक ही है, क्योंकि मुखसे सात्त्विक भोजन करनेवाले यदि आँखोंसे गंदे चित्रयुक्त सिनेमा और टेलीविजन देखें, कानोंसे गंदे शब्द सुनें, त्वचासे निषिद्ध पर नर-नारीका स्पर्श करें, तो उनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकता।

'आहार' शब्दका अर्थ भोजन भी किया गया है। उसका कारण यह है कि उसी छान्दोग्योपनिषद्‌में 'अन्नके सूक्ष्म अंशसे मन बनता है', ऐसा कहा गया है—**'योऽणिष्ठस्तन्मनः'** (६।५।१)। इसीलिये वहीं अति स्पष्ट शब्दोंमें यह भी कह दिया गया है कि 'हे सोम्य ! मन अन्नमय ही है—**'अन्नमयं हि सोम्य मनः'** (छा० ६।५।४)। इसी श्रुतिके आधारपर लोक-व्यवहारमें भी कहा जाता है 'जैसा खाय अन्न, वैसा बने मन।' अतः सात्त्विक जीवन बनानेके लिये सात्त्विक भोजन ही करना चाहिये। इसके लिये नीचे लिखी बातें ध्यान रखने योग्य हैं।

न्यायपूर्वक कमाईका धन हो। इसके लिये मनुस्मृतिमें कहा गया है कि सभी पवित्रताओंमें धनकी पवित्रता

मुख्य है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥

(मनु० ५।१०६)

अर्थात् सब शुद्धियोंमें धनकी शुद्धि (न्यायोपार्जित धन) ही श्रेष्ठ शुद्धि कही गयी है, जो धनमें शुद्ध है अर्थात् जिसने अन्यायसे किसीका धन नहीं लिया है, वही शुद्ध है, जो केवल मिट्टी-जल आदिसे शुद्ध है, परंतु धनसे शुद्ध नहीं है—जिसने अन्यायसे किसीका धन ले लिया है, वह शुद्ध नहीं है।

विष्ठा (मल) आदि अपवित्र खादसे उत्पन्न किया गया अन्न-शाक न हो। प्याज-लहसुन-मांस-मदिरा आदि राजस-तामस पदार्थ न हो। मल-मूत्रके परमाणुओंसे रहित पवित्र स्थानमें भोजन बनाया तथा खाया जाय। बनाने, परोसने और खानेवालोंका सात्त्विक भाव हो तथा भोजनपात्र भी शुद्ध एवं पवित्र हों।

मनको अत्यधिक प्रभावित करनेवाले अन्नको सात्त्विक बनानेवाली ऊपर लिखी बातोंका पालन किये बिना, सात्त्विक जीवन बनानेकी आशा करना, वैसी ही दुराशा है, जैसे त्याग और सुपथ्य-सेवनके बिना स्वस्थ होनेकी आशा करना। खेदका विषय है कि इस बातपर ध्यान वर्तमान कालके साधक नहीं देते।

४-सात्त्विक वातावरण—एक-सा खान-पान करनेवाले दो व्यक्तियोंमें एक व्यक्ति ऐसे वातावरणमें रहता है, जहाँ अश्लील शब्द छाये रहते हैं। अश्लील चित्र सब ओर देखनेमें आते हैं। जुआरी, शराबी, घूसखोरी करनेवाले व्यभिचारी लोग रहते हैं। ऐसे व्यक्तिका जीवन सात्त्विक नहीं बन पाता। इससे सिद्ध हो जाता है कि वातावरणका प्रभाव भी मानवपर विशेषरूपसे पड़ता है। इसलिये जहाँ सात्त्विक शब्द, चित्र, व्यक्ति हों, उस वातावरणमें रहना उत्तम है।

५-सात्त्विक सङ्ग—एक-से वातावरणमें रहनेवाले दो मानवोंमेंसे एक मानव कामसे समय बचनेपर जुआरी, शराबी, व्यभिचारी लोगोंका सङ्ग एक घंटा करता है। दूसरा एक घंटा संतोंका सङ्ग करता है। इनमें पहला सात्त्विक नहीं बन सकता, दूसरा ही बनेगा, इसीलिये शास्त्रोंमें कहा गया है—

'दुःसङ्ग सर्वथा त्याज्यः।'

६-जन्मान्तरीय सात्त्विक संस्कार—एक ही माता-पितासे एक साथ उत्पन्न, एक-सी शिक्षा-दीक्षा-प्राप्त, एक समान खान-पान करनेवाले, एक समान वातावरणमें रहनेवाले, एक-जैसा सङ्ग करनेवाले, दो व्यक्तियोंके समान जीवन नहीं बनते, इतना ही नहीं, किंतु सर्वथा विपरीत जीवन भी देखने, सुनने, पढ़नेमें आते हैं। जैसे रावण और विभीषणके जीवन। ऐसे स्थलोंमें दृष्ट कारण न बताया जा सकनेके कारण फलबलसे अदृष्ट कारणरूप जन्मान्तरीय संस्कारको स्वीकार करना ही पड़ता है। गीतामें कहा गया है कि—'जीव वहाँ (अगले जन्ममें) पूर्वजन्मकी बुद्धिके संयोगको प्राप्त कर लेता है—

'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।'

(६।४३)

यह जन्मान्तरीय संस्कार सबसे अधिक प्रबल होता है। यह न चाहते हुए भी मनुष्यको खींच ले जाता है, ऐसा गीतामें कहा गया है—

'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।'

(६।४४)

इस प्रकार शास्त्र-प्रमाणके आधारपर सात्त्विक जीवन बनानेके कुछ मुख्य-मुख्य उपायोंको यथामति लिखा गया है। इनपर आपको अवश्य ध्यान देना चाहिये।

वास्तवमें सम्पूर्ण सत्त्वराशि तथा सात्त्विक पदार्थोंके मूलस्रोत विशुद्ध सत्त्वगुणसे सिद्ध होनेवाले श्रीहरि ही हैं। वह सत्त्व भी लौकिक एवं प्राकृतिक सत्त्व गुण नहीं, किंतु वे श्रीहरि तो लोकोत्तर अचिन्त्यसत्त्वकी राशि हैं, उनके संनिधानसे ही देवमन्दिर, नदी, पुलिन, वन, पर्वत, गुफा आदिमें तथा भक्तों, संतों एवं योगियोंके हृदयमें सत्त्वका उद्रेक होता है। इसीलिये सभी शास्त्रोंमें सत्त्वशुद्धिके लिये उन्हींके नामका जप, स्वरूपका ध्यान तथा उन्हींके चरित्रोंका श्रवण, मनन सर्वाधिक श्रेष्ठ उपाय बताया गया है। अतः कल्याणेप्सु साधकको सर्वात्मना सर्वाधिक उन्हींका अवलम्बन करना चाहिये, तभी शुद्ध सात्त्विक पवित्र जीवन बन पायेगा।

◆

रोगनिवारक महौषधि—विष्णुप्रिया तुलसी

(डॉ० श्रीउपेन्द्रराय जे० सांडेसरा)

भक्तों एवं उपासकोंके लिये जितने आराध्य एवं श्रद्धेय भगवान् विष्णु हैं उतनी ही भगवती तुलसी भी श्रद्धेया, पूज्या एवं वन्दनीया हैं। वे भी श्रीदेवीके समान भगवान्‌की अनादिकालसे नित्य-सहचरी रही हैं। वे भगवान्‌के नित्यधाम—गोलोकमें उनके साथ देवीरूपमें स्थित रहती हैं। इनके कई नाम हैं, किंतु वृन्दा इनका दूसरा प्रमुख नाम रहा है और जब इन्होंने गोपीभावसे शरीरका परित्याग कर दिया तो ये पुण्य एवं पवित्र तुलसीवृक्षके रूपमें परिवर्तित हो गयीं। वैकुण्ठमें श्रीहरि तुलसीके आभूषण धारण करते हैं और उसकी सुगन्धका आदर करते हैं।

भगवान् विष्णुद्वारा विशेषरूपसे अङ्गीकृत विष्णुप्रिया तुलसी धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्त्वकी और आदरणीय तो हैं ही, साथ-ही-साथ ओषधिके रूपमें भी वह उतनी ही महत्त्वकी आदरणीय और प्रभावशाली हैं। तुलसीका रस उत्तम है, इसलिये ये 'सुरसा' तथा गाँव-गाँवमें सरलतासे प्राप्त होनेके कारण 'ग्राम्या' और 'सुलभा' कही जाती हैं। इसमें बहुत मञ्जरियाँ होती हैं, अतः इस 'बहुमञ्जरी'के दर्शनसे राक्षस-जैसी व्याधियाँ या राक्षस-जैसे भयंकर पाप भी दूर हो जाते हैं, इसलिये यह 'अपेतराक्षसी' और पेटके दर्द, गठिया आदिका दर्द नाश करनेके कारण 'शूलघ्नी' नामसे अभिहित है।

तुलसी तीखी, कड़वी, थोड़ी-सी कसैली, सुगन्धित और रुचि बढ़ानेवाली है। आयुर्वेदमें इसे वात-कफ-नाशिनी, विषघ्नी तथा रक्त-विकार, कोढ़, चर्मरोग, मूत्रकृच्छ्रादि व्याधियोंसे छुटकारा दिलानेवाली माना गया है। विविध शारीरिक एवं मानसिक रोगोंके उपचारमें तुलसीका अद्भुत चमत्कार देखा जाता है। यहाँ विविध रोगोंके उपचारमें तुलसीके प्रयोगका अपने अनुभवके आधारपर संक्षेपमें वर्णन किया जा रहा है।

उपचारकी पद्धति

तुलसीके पत्ते—रोगीकी प्रकृति, व्याधि और सबलता-निर्बलता तथा ऋतुके अनुसार पचीससे लेकर सौतक पत्ते लिये जायँ, जैसे शीतकालमें ज्यादा और ग्रीष्मकालमें कम। विभिन्न आयुके बच्चोंके लिये पाँचसे लेकर पचीसतक पत्तोंको बारीक पीसा जाय। पत्तोंका रस भी लिया जा सकता है। इसकी मात्रा रोगीकी प्रकृतिके अनुसार आधे तोलेसे लेकर एक तोलेतक हो सकती है। मञ्जरी लेनी हो तो एक ग्रामतक साथमें ले सकते हैं। मञ्जरी शक्तिप्रद और मूत्र साफ करनेवाली है। पत्तोंको छायामें सुखाकर उसका चूर्ण बनाया हुआ हो तो वह भी चल सकता है। यह चूर्ण ताजे हरे पत्तोंकी अपेक्षा कम गुणकारी होता है।

साधारणतया तुलसी दो प्रकारकी होती है। एक काले पत्तोंकी जिसे 'श्यामा' या 'कृष्णा' तुलसी कहते हैं और दूसरी हरे पत्तेकी जिसे 'श्वेता' या 'रामा' कहते हैं। अंग्रेजीमें श्वेताको White Basil और श्यामाको Purple stalked Basil कहते हैं। इन दोनों प्रकारकी तुलसीके गुण प्रायः समान हैं।

अनुपान—मीठा दही प्रकृति और सबलता-निर्बलताके अनुसार पचास ग्रामसे लेकर तीन सौ ग्रामतक अनुपानके रूपमें लिया जा सकता है।

कदाचित् किसीको मीठा दही अनुकूल न हो या न मिले तो उपयुक्त मात्रामें शुद्ध मधु या शुद्ध गुड़ भी लिया जा सकता है। दूधके साथ किसी भी हालतमें नहीं लेना चाहिये। छोटे बच्चे दहीमें लेनेके लिये तैयार न हों तो उसमें थोड़ा-सा शुद्ध मधु मिलाकर देना चाहिये।

औषध लेनेका समय—प्रातःकाल दतवन-मञ्जन आदि करनेके बाद कुछ भी खाने-पीनेके पहले यह दवा ली जाय, लेकिन असह्य दर्दकी अवस्थामें दिनमें दो या तीन बार भी ली जा सकती है। रोगकी उग्र अवस्थामें जबतक उग्रताका शमन न हो जाय, तबतक प्रति दो घंटेके अन्तरसे दवा ली जानी चाहिये।

असाध्य और कष्टप्रद रोगोंके लिये यह दवा दिनमें दो या तीन बार लेना हितकारी है। तथापि सबसे अधिक लाभ प्रातःकाल खाली पेट दवा लेनेसे ही होता है।

तुलसीकी उपर्युक्त उपचार-विधिसे निम्नलिखित व्याधियाँ पूर्ण रूपसे ठीक हो गयीं अथवा बहुत कुछ कम होकर कष्टसे छुटकारा भी मिला है—

१-गठिया (आर्थ्राइटिस), ओस्टियो, आर्थ्राइटिस और

स्नायुओंका दर्द।

२-साइनसके कारण वर्षोंसे होनेवाली तीव्र सर्दी-जुकामकी शिकायतवालेका शल्यकर्म (ऑपरेशन) करनेकी तैयारी थी, उसपर तुलसीका उपचार किया गया। पंद्रह दिनमें आराम हो जानेसे शल्यकर्मकी आवश्यकता नहीं रही।

३-गुर्देकी बीमारी या गुर्देका काम मंद हो जानेसे जो सूजन हो जाती है या पेशाब बहुत कम हो जाता है, इससे शरीरमें बहुत दर्द रहता है, ये सब व्याधियाँ तुलसीके प्रयोगसे दूर हो जाती हैं, सूजन उतर जाती है और पेशाबकी मात्रा ठीक हो जाती है। इसमें नमकका उपयोग बिलकुल बंद करना या अतिमर्यादित करना आवश्यक है। एक रोगीके गुर्देकी पथरी छः महीनोंके उपचारके बाद चूरा होकर निकल गयी। इसमें दहीके बजाय शुद्ध मधुका उपयोग किया गया था। रोगीको दही अनुकूल नहीं आ रहा था।

४-ल्यूकोडर्मा या सफेद दाग या कोढ़के कुछ मरीज रोग-मुक्त हुए हैं। कुछके दाग कम होते गये और चमड़ी सामान्य होती गयी।

५-ब्लड कोलेस्टेरोल या खूनमें चर्बीका चढ़ना—इस रोगमें कोलेस्टेरोलकी मात्रा बहुत जल्दी कम होकर सामान्य हो जाती है।

६-मन्दाग्नि, बद्धकोष्ठ, गैस-विकार दूर हो जाते हैं। वजन कम हो तो पाचनशक्ति ठीक हो जानेसे बढ़ता है।

७-अम्लता (एसिडिटी) मिट जाती है।

८-पेचिस, कोलाइटिस आदि जल्दीसे ठीक हो जाता है।

९-प्रोस्टैटकी तकलीफमें काफी लाभ होता है। वृद्धावस्थाकी दुर्बलता दूर होती है और शक्ति बढ़ती है।

१०-एलर्जिक जुकाम जन्मसे होनेपर भी ठीक हो जाता है।

११-एक आदमी मोटरसे दुर्घटनाग्रस्त हो गया था, जिससे कई सालोंतक वह बायें नाकसे श्वास नहीं ले सकता था अर्थात् बायीं नाक बिलकुल बंद हो गयी थी। वह ठंडे पानीसे नहीं नहा सकता था, पंखा या एयरकंडीशनका प्रयोग नहीं कर सकता था। इसके कारण सब ऋतुओंमें अस्वस्थ रहता था। तुलसीका चार महीनोंतक सेवन करनेसे उसकी बायीं नाक खुल गयी और श्वास लिया जाने लगा। वह गरमीमें ठंडे पानीसे स्नान करने लगा। पंखा और एयरकंडीशनरका व्यवहार किया गया, उसका कुछ बुरा असर नहीं हुआ। दुर्घटनाके कारण पहले नींद नहीं आती थी, जो आने लगी। वह ठीक हो गया।

१२-एक बच्चा जन्मसे मानसिक रूपमें मन्द(Mentally Retarded) था। सोलह सालका हुआ, तब तुलसीका प्रयोग किया गया। दो महीने बाद युवकमें पचीस प्रतिशत सुधार हुआ। अब वह कुछ अंशोंमें बुद्धिमत्तापूर्ण वार्तालाप करने लगा है।

१३-तुलसी सरदर्दके लिये अक्सीर दवा है। इसके प्रयोगसे एक रोगीके पंद्रह सालका पुराना दर्द ठीक हो गया।

१४-बच्चोंके कुछ रोगोंमें—विशेषरूपसे जुकाम, नजला, उलटी-टट्टियाँ और कफके लिये—अक्सीर है। दाँत आसानीसे निकलते हैं और तकलीफ नहीं होती।

१५-एक युवकको पाँच सालसे नियमित रूपसे हर महीने एकाध सप्ताहके लिये बुखार आता था। तीन महीनेके प्रयोगके बाद बुखार आना बंद हो गया।

१६-हृदयरोग और इसके कारण होनेवाली दुर्बलता आदिमें तुलसीके प्रयोगसे आश्चर्यजनक सुधार दिखायी देता है। हृदय रोगके बाद पहाड़ी स्थानोंपर जानेकी मनाही किये हुए मरीज पहाड़ी स्थानोंपर आरामसे रह सकते हैं। उच्च रक्तचाप और निम्न रक्तचापके मरीजका चाप सामान्य हो जाता है और हृदयकी दुर्बलतामें सुधार होता है।

१७-साधारण जुकाम और बुखारमें दिनमें दो-दो या तीन-तीन घंटेके बाद सोंठ, कालीमिर्च, तुलसी और गुड़का काढ़ा बनाकर चूल्हेसे उतारकर उसमें आधा नींबू निचोड़कर पीना चाहिये। काढ़ा पीनेके बाद गरम कंबल ओढ़कर सोनेसे शीघ्र आराम होता है। काढ़ेमें दूधका प्रयोग न किया जाय। यह काढ़ा मलेरियाके लिये भी लाभदायक है।

१८-शरीरकी झुर्रियाँ ठीक हो जाती हैं। हाथ फटे और बिवाइयाँ फटी हुई कितनी भी पुरानी हों, प्रायः ठीक हो जाती हैं। तुलसीको नींबूके रसमें मिलाकर लगानेसे खाज और दाद ठीक हो जाता है, खुश्की ठीक होती है। कपालके फोड़े-फुंसी भी ठीक होते हैं।

१९-घाव जल्दी भर जाता है और टूटी हुई हड्डियाँ

जल्दी जुड़ जाती हैं।

२०-एनीमिया मिटकर खूनमें रक्तकण जल्दी बढ़ने लगते हैं।

२१-कैंसरके रोगमें भी तुलसीके यथाविधि सेवनसे लाभ होता है। इंट्रा ट्रैकियल कैंसरसे पीड़ित एक साठ सालके रोगीपर शल्यकर्म और कोबाल्ट बम्बसे उपचार किये गये, लेकिन वह ठीक नहीं हो पाया। उसका रोग असाध्य घोषित कर दिया गया और उसके फेफड़ेमें टी॰ बी॰ के लक्षण दीखने लगे तथा लीवर भी खराब दीखने लगा। पाँच सप्ताह तुलसीके इलाजसे वह एक मील चलनेके योग्य हो गया।

२२-एक साठ वर्षीय महिलाके योनि (बेजाइनल) कैंसरकी चिकित्सा रेडियम और कोबाल्ट बम्बद्वारा की जानेपर भी असाध्य प्रमाणित हुई। तुलसीकी दस दिनकी चिकित्सासे रक्तस्राव बहुत कम हो गया और पीड़ा भी सह्य-जैसी हो गयी। पचास दिनोंकी चिकित्साके बाद पीड़ा पूर्णरूपसे चली गयी, रक्तस्राव और श्लेष्मा भी बंद हो गया, बहता घाव भी ठीक हो गया।

२३-श्वास-रोग (अस्थमा), सित-कोशातिवृद्धि (Leucocytoses) और स्थूलान्त्रकाय (Colitis) का ४८ वर्षका एक रोगी जल्दीसे ठीक हो गया। उसकी आँतें भी दूषित हो गयी थीं।

२४-एक सात वर्षीय लड़कीको दवाओंकी प्रतिक्रिया होती थी, जिससे उसको नीले दाग हो जाते थे और रक्तकी कमी हो जाती थी। वह बिलकुल ठीक हो गयी।

२५-विटामिन 'ए' और 'बी' की कमी दूर हो जाती है और स्त्रीको रुद्धार्तव (रक्तस्राव रुद्ध हो जाय) या रक्तस्राव कम हो, वह ठीक हो जाता है।

२६-आँख आना या दुखनेमें लाभदायक है।

२७-जीर्ण अर्धशिरःपीड़ा (Chomic Migraine) दूर हो गयी।

२८-खसरा-निवारणके लिये यह बहुत अच्छी ओषधि है।

—इन उपचारोंमें खास परहेज नहीं है। लेकिन व्याधिके अनुसार आहार-विहारमें नियमितता और पथ्य-परहेज आवश्यक है। मिर्च-जैसी तेज चीज न ली जाय या बहुत कम मात्रामें ली जाय।

किसी योग्य व्यक्तिसे जानकारी प्राप्त करके योगासन, स्थूल-सूक्ष्म व्यायाम, यौगिक षट्कर्म, प्राणायाम आदि इस चिकित्सामें विशेष सहायक होते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा और होम्योपैथी भी लाभदायक होती है। तुलसी कृष्णवल्लभा है। युगोंसे उसके प्रति पूज्यभाव, आदर और श्रद्धा रहती आयी है। अतः भगवान्‌को समर्पण करके उनका स्मरण करते हुए उनके प्रसाद-रूपमें इसका सेवन किया जाय तो इसका लाभ शीघ्र और अनेक गुना अधिक होता है।

भगवत्स्मरणपूर्वक सेवनकी बातसे किसीको वहम हो सकता है। जिसे ऐसा वहम हो, उसे 'पेनग्वीन बुक्स' (Penguin Books) मेंसे पीटर टाम्पकीन्स (Peter Tompkins) और क्रिस्टोफर बर्ड (Christopher Bird) रचित पुस्तक 'दि सिक्रेट लाइफ आफ प्लांट्स' (The Secret life of Plants) पढ़नी चाहिये। उससे सामान्य तौरपर पता चलेगा कि वनस्पति-सृष्टि एक प्रकारसे 'देव-सृष्टि' है। वह चित्रगुप्त-जैसे सच-झूठके व्यवहारकी टिप्पणियाँ रखती है, हर्ष-शोक दर्शाती है और शुभेच्छा भी जताती है।

एलोपैथी चिकित्सा-पद्धतिमें भी 'Rx.' लिखनेके बाद ही दवाइयों आदिका विवरण लिखनेकी परम्परा है। राजा ज्युपीटरका यह प्रार्थना-चिह्न है।

इस प्रकार भगवान्‌के स्मरणसे तो सदा मङ्गल एवं सर्वविध कल्याण होता ही है, फिर ऐसे रोगादिके कष्टपूर्ण समयोंमें ओषधिके सेवनसे पूर्व भगवान्‌के स्मरणमें संकोच क्यों? भारतीय सभी आयुर्वेद-ग्रन्थोंमें औषधसेवनके साथ भगवान्‌के स्मरण करनेका विधान निर्दिष्ट है, जैसे **'औषधे चिन्तयेद्विष्णुम्'** तथा **'विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं हरिम्। स्तुवन्नामसहस्रेण रोगान् सर्वान् व्यपोहति॥'** और **'अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्। नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥'** भाव यह है कि भगवान् विष्णु तथा उनके अच्युत, अनन्त, गोविन्द आदि नामोंके उच्चारण करने अथवा नामग्रहणके साथ औषध ग्रहण करनेसे रोग समूल नष्ट हो जाते हैं। यह सत्य बात है, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं। [प्रेषक—श्रीजयदयालजी डालमिया]

* * *

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें परमात्मा और जीवात्माका स्वरूप

जीवात्मा परमात्मा च तत्त्वतोऽभिन्न एव च।
लक्षणेषु द्वयोः साम्यं कृष्णेन कथितं स्वयम्॥

उपासनाकी दृष्टिसे परमात्माके तीन स्वरूप माने गये हैं—सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार। सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि दिव्य गुणोंसे युक्त और प्रकृति तथा उसके कार्य संसारमें परिपूर्णरूपसे व्यापक परमात्मा 'सगुण-निराकार' कहलाते हैं। जब साधक परमात्माको दिव्य गुणोंसे रहित मानता है अर्थात् उसकी दृष्टि केवल निर्गुण परमात्माकी तरफ रहती है, तब परमात्माका वह स्वरूप 'निर्गुण-निराकार' कहलाता है। सगुण-निराकार परमात्मा जब अपनी दिव्य प्रकृतिको अधिष्ठित करके अपनी योगमायासे लोगोंके सामने प्रकट हो जाते हैं, तब वे 'सगुण-साकार' कहलाते हैं। इन तीनों स्वरूपोंका वर्णन गीतामें इस प्रकार हुआ है—

(१) सगुण-निराकार—अभ्यासयोगसे युक्त एकाग्र-मनसे परम पुरुषका चिन्तन करते हुए शरीर छोड़नेवाला मनुष्य उसीको प्राप्त होता है (८।८)। जो सर्वज्ञ, पुराण, सबका शासक, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, सबको धारण करनेवाला, अचिन्त्यरूप, अज्ञानसे अत्यन्त परे और सूर्यकी तरह प्रकाशस्वरूप है, उसका चिन्तन करते हुए अचल मन एवं योगबलके द्वारा प्राणोंको भृकुटीके मध्यमें लगाकर शरीर छोड़नेवाला मनुष्य उसी परम दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है (८।९—१०)। जिसके अन्तर्गत सब प्राणी हैं और जो सबमें व्याप्त है, उस परम पुरुषको अनन्यभक्तिसे प्राप्त करना चाहिये (८।२२)। जिससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मोंके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है (१८।४६); आदि-आदि।

(२) निर्गुण-निराकार—जिसको वेदवेत्ता-लोग अक्षर कहते हैं, वीतराग यतिलोग जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसको प्राप्त करनेकी इच्छासे ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं कहूँगा (१८।११)। जो अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव तत्त्वकी उपासना करते हैं (१२।३); आदि-आदि।

(३) सगुण-साकार—अनन्यचित्तवाले जो भक्त नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करते हैं, उनके लिये मैं सुलभ हूँ (८।१४)। महात्मालोग मेरेको प्राप्त होकर फिर दुःखालय और अशाश्वत पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते (८।१५)। दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्मालोग मेरेको सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अव्यय मानकर अनन्यचित्तसे मेरा भजन करते हैं (९।१३)। जो भक्त भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मुझे अर्पण करता है, प्रेमपूर्वक दिये हुए उस उपहारको मैं खा लेता हूँ (९।२६)। अनन्यभक्तिसे ही मैं जाना जा सकता हूँ, देखा जा सकता हूँ और प्राप्त किया जा सकता हूँ (११।५४); आदि-आदि।

सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकारकी एकता—तेरहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने इन तीनों रूपोंकी एकता की है; जैसे—**'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्'** अर्थात् वह तत्त्व सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाला होनेसे सगुण-निराकार है; **'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्, निर्गुणम्'** अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे और सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंसे रहित होनेसे निर्गुण निराकार है; **'सर्वभृत्, गुणभोक्तृ'** अर्थात् सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाला तथा गुणोंका भोक्ता होनेसे सगुण-साकार है। इसके सिवा और जगह भी तीनों रूपोंकी एकता बतायी गयी है; जैसे—उसीको अव्यक्त और अक्षर कहा गया है तथा उसीको परमगति कहा गया है और जिसको प्राप्त होनेपर जीव फिर लौटकर नहीं आते, वह मेरा परमधाम है (८।२१)। ब्रह्म, अविनाशी, अमृत, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं ही हूँ (१४।२७)।

अर्जुनने भी विराट्रूप भगवान्‌की स्तुति करते हुए ग्यारहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें तीनों रूपोंकी एकता की है; जैसे—**'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्'** अर्थात् आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर (अक्षरब्रह्म) होनेसे निर्गुण-निराकार

हैं; **'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्'** अर्थात् आप ही इस विश्वके परम आश्रय होनेसे सगुण-निराकार हैं; **'त्वं शाश्वतधर्मगोप्ता'** अर्थात् आप ही सनातनधर्मके रक्षक होनेसे सगुण-साकार हैं।

जीवात्माका स्वरूप—गीतामें जीवात्माके स्वरूपके विषयमें भगवान् कहते हैं कि यह जीव मेरा ही सनातन अंश है; परंतु मेरा अंश होकर भी यह इस जीवलोकमें जीव बना हुआ है और प्रकृतिमें स्थित इन्द्रियाँ, मन आदिको अपना मानता है (१५।७)। प्रकृतिमें स्थित होकर अर्थात् शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानकर यह सुख-दुःखका भोक्ता बन जाता है। प्रकृतिजन्य गुणोंका, विषयोंका सङ्ग ही इसे ऊँच-नीच योनियोंमें ले जानेका कारण बनता है (१३।२१)। यह जीवात्मा मेरी 'परा प्रकृति' है, पर इसने 'अपरा प्रकृति' (शरीर-संसार)के साथ अहंता-ममता करके इस जगत्को धारण कर रखा है (७।५)। अपरा प्रकृतिके साथ इस परा प्रकृतिका सम्बन्ध होनेसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है (७।६; १३।२६)।

इस जीवात्माका वर्णन दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक देही, शरीरी, नित्य, अविनाशी, अप्रमेय आदि शब्दोंसे किया गया है। तेरहवें अध्यायके पहले-दूसरे श्लोकोंमें इसको 'क्षेत्रज्ञ' और उन्नीसवें श्लोकमें 'पुरुष' कहा गया है। इसीको पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'अक्षर' कहा गया है। तात्पर्य यह है कि वास्तवमें यह परमात्माका अंश होनेसे परमात्मस्वरूप ही है। रागके कारण प्रकृतिके कार्य शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही यह जीव बना है। वास्तवमें यह शरीरमें स्थित रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है (१३।३१)।

सगुण-निराकारके साथ जीवात्माकी एकता—जीवात्माके लिये कहा गया है कि उसको तुम अविनाशी समझो, जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है (२।१७); और सगुण-निराकार परमात्माके लिये कहा गया है कि जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणी हैं और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष अनन्यभक्तिसे प्राप्त होता है (८।२२)। मुझ अव्यक्तमूर्तिसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है (९।४); जिस परमात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उसका अपने कर्मोंके द्वारा पूजन करना चाहिये (१८।४६)।

जीवात्माको भी 'ईश्वर' कहा गया है (१५।८) और सगुण-निराकार परमात्माको भी 'ईश्वर' कहा गया है (१८।६१)।

निर्गुण-निराकारके साथ जीवात्माकी एकता—जीवात्माको भी सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त बताया गया है (२।१७) और निर्गुण-निराकार परमात्माको भी सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंमें व्याप्त बताया गया है (१३।१५)।

जीवात्माको नित्य, सर्वव्यापी, स्थाणु, अचल, अव्यक्त और अचिन्त्य (२।२४-२५), अप्रमेय (२।१८) तथा कूटस्थ (१५।१६) कहा गया है और निर्गुण-निराकार परमात्माको अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव कहा गया है (१२।३)।

जीवात्माको भी 'परमात्मा' कहा गया है (१३।२२) और निर्गुण-निराकार परमात्माको भी 'परमात्मा' कहा गया है (६।७)।

जीवात्माको भी 'निर्गुण' कहा गया है (१३।३१) और निर्गुण-निराकार परमात्माको भी 'निर्गुण' कहा गया है (१३।१४)।

सगुण-साकारके साथ जीवात्माकी एकता—जीवात्माको भी 'महेश्वर' कहा गया है (१३।२२) और सगुण-साकार परमात्माको भी 'महेश्वर' कहा गया है (५।२९; ९।११; १०।३)।

तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्ने 'तू सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मेरेको ही जान'—ऐसा कहकर जीवात्माकी अपने (सगुण-साकारके) साथ एकता बतायी है।

सब स्वरूपोंके साथ जीवात्माकी एकता बतानेका तात्पर्य यह है कि इस जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता स्वतः है; परंतु शरीरके साथ एकता माननेसे परमात्माके साथ एकताका अनुभव नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि वह शरीरके साथ अपनी एकता न माने, प्रत्युत परमात्माके साथ दृढ़तासे एकता मानकर साधन-परायण हो जाय, तो फिर उस एकताका अनुभव हो जायगा।

परमात्माके सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार—इन तीनों रूपोंके साथ जीवात्माकी तात्त्विक एकता और मानी हुई भिन्नता है। मानी हुई भिन्नता मिटनेपर

तात्त्विक एकताका स्वतः अनुभव हो जाता है। कई आचार्य जीवात्मा और परमात्मामें अभेद मानते हैं और कई आचार्य भेद मानते हैं। भेद माननेवाले आचार्य भी तात्त्विक भेद नहीं मान सकते। हाँ, वे 'जीव अनेक हैं'—इस दृष्टिसे जीवात्मा और परमात्मामें जातीय एकता कह देते हैं, पर वास्तवमें यह तात्त्विक एकता ही है। कारण कि जाति वह होती है, जो एक होते हुए भी सबमें अलग-अलग रहे। चेतन-तत्त्व एक ही है और उसमें कोई भेद (अनेकता) नहीं है, फिर उसमें जाति कैसे हो सकती है ? अतः जीवात्मा और परमात्मामें तात्त्विक एकता है अर्थात् दोनों तत्त्वरूपसे एक हैं।

जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ है। जीवात्माकी अल्पज्ञता अविद्याके कारण है और परमात्माकी सर्वज्ञता उनकी शक्ति प्रकृतिके कारण है। अगर जीवात्मा अविद्याको मिटा दे तो उसकी अल्पज्ञता नहीं रहेगी और अगर परमात्मा अपनी शक्तिकी उपेक्षा कर दे, अपनी शक्तिकी तरफ दृष्टि न डाले तो परमात्माकी सर्वज्ञता नहीं रहेगी।

गीता शब्दमय ग्रन्थ है; अतः इस लेखमें गीताके शब्दोंको लेकर ही जीवात्मा और परमात्माकी एकता की गयी है। वास्तवमें जीवात्मा और परमात्माकी तात्त्विक एकता किसी ग्रन्थ आदिको लेकर नहीं है, प्रत्युत स्वतःसिद्ध है। अगर साधक किसी ग्रन्थको महत्त्व देता है तो वह उस ग्रन्थमें वर्णित तत्त्वके साथ अभिन्न होनेके लिये, उसमें अपनेको लीन करनेके लिये ही देता है। जब साधकमें सांसारिक वस्तु, व्यक्ति आदिका महत्त्व नहीं रहता, तब तत्त्वसे मानी हुई भिन्नता मिट जाती है अर्थात् परमात्मासे अपनी तात्त्विक एकताका अनुभव हो जाता है। तात्त्विक एकताका अनुभव होनेपर व्यक्तित्वका अभिमान नहीं रहता; क्योंकि वास्तविक तत्त्वमें व्यक्तित्वका अभिमान नहीं है। लोगोंकी दृष्टिमें तो वह योगी, ज्ञानी अथवा प्रेमी कहा जाता है, पर वास्तवमें वह योगी, ज्ञानी और प्रेमी नहीं रहता, प्रत्युत वह योग-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप और प्रेम-स्वरूप हो जाता है। तत्त्वसे एक होनेके बाद अर्थात् व्यक्तित्वका अभिमान मिटनेके बाद योग और योगी, ज्ञान और ज्ञानी, प्रेम और प्रेमी—ये दो भेद नहीं रहते। जबतक दो भेद अर्थात् व्यक्तित्वका अभिमान है, तबतक तत्त्वके साथ एकता नहीं हुई।

धर्म-पथ

१-ईश्वरसे सदा भय करो। वह सर्वदा हमारी देख-रेख करता है।

२-सत्यको ग्रहण करने और असत्यको त्याग करनेके लिये निरन्तर तैयार रहो।

३-जिस कर्मसे मनुष्यमात्रको आराम और सुख मिले, वही नेकी और सत्कर्म है।

४-अपनी सब शक्तियोंसे उचित काम लेना और कोई अनुचित काम न करना ही सबसे बड़ा तप है।

५-न्यायके मार्गपर स्वयं चलना और दूसरोंको चलानेका प्रयत्न करना ही परम धर्म है।

६-स्वार्थरहित दशा प्राप्त करना ही वास्तविक साधनकी सबसे ऊँची सीढ़ी है।

७-जीवमात्रकी सेवा करना ही सर्वोपरि भजन है।

८-अपनेपनको दूसरोंके लिये मिटा देना ही त्याग है।

९-सुख और दुःखकी दशामें मनको एक समान रखना ही ज्ञान है।

१०-जिसके कथन और कार्यमें अन्तर नहीं, ईश्वरके निकट वही सच्चा है।

११-अपनेसे सबको बड़ा समझो।

१२-भगवद्भक्तोंका सत्कार दिल खोलकर करो।

१३-साधन और श्रद्धामें कभी कमी मत होने दो।

१४-संतोष ही आनन्दका जन्मदाता है।

१५-प्रबल धारणाके सामने कुछ भी असाध्य नहीं है।

श्रीतुलसीदासजीका शकुन-विचार

(गोस्वामी श्रीरामबालकजी, साहित्यरत्न, शिक्षाविशारद, साहित्यालंकार)

संत-कवि गोस्वामी तुलसीदासका 'श्रीरामचरितमानस' निगमागमसम्मत है। अतः तुलसीदासजीके साहित्यपर ज्योतिष-शास्त्रका भी पर्याप्त प्रभाव है। तुलसी-साहित्यमें इसका स्थान-स्थानपर समावेश हुआ है।

पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने ज्योतिषशास्त्रके प्रति अपनी रुचिका संकेत नारदके द्वारा पार्वतीजीके हस्तरेखावलोकनमें किया है।

पर्वतराज हिमालयने नारदजीके पधारनेपर प्रसंगवश अपनी कन्याके भावी गुण-दोषोंपर प्रकाश डालनेकी प्रार्थना की। इसपर नारदजीने हँसकर गूढ़ वाणीमें कहा—

कह मुनि बिहसि गूढ़ मृदु बानी। सुता तुम्हारि सकल गुन खानी॥
सुंदर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अंबिका भवानी॥
(रा० च० मा० १। ६७। १-२)

आपकी कन्या सब गुणोंकी खान है। यह स्वभावतः सुन्दर सुशील और बुद्धिमती होगी। उन्होंने एक सिद्धहस्त ज्योतिषीकी तरह भविष्यमें होनेवाले नामोंका भी उल्लेख करते हुए बताया कि इस कन्याके नाम उमा, अम्बिका और भवानी आदि होंगे।

और अधिक जिज्ञासा प्रकट करनेपर नारदजीने उनकी कन्याका भविष्य बताते हुए कहा—

सब लच्छन संपन्न कुमारी। होइहि संतत पियहि पिआरी॥
सदा अचल एहि कर अहिबाता। एहि तें जसु पैहहिं पितु माता॥
(रा० च० मा० १६७। ३-४)

'हे पर्वतराज! आपकी कन्या सभी श्रेष्ठ लक्षणोंसे सम्पन्न है। यह अपने पतिकी सदा अत्यन्त प्रिय होगी। इसका सौभाग्य निरन्तर अचल रहेगा और इसके चारित्रिक गुणसे इसके माता-पिता यश प्राप्त करेंगे।'

इतना ही नहीं नारदजीने पुनः कहा—

होइहि पूज्य सकल जग माहीं। एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं॥
एहि कर नामु सुमिरि संसारा। त्रिय चढ़िहहिं पतिब्रत असिधारा॥
(रा० च० मा० १। ६७। ५-६)

यह कन्या सारे संसारमें पूज्य होगी। इसकी सेवासे कुछ भी दुर्लभ न होगा। संसारकी स्त्रियाँ इसके नामका स्मरण करके पातिव्रतरूपी तलवारकी धारापर चढ़ जायँगी।

इन सारे गुणोंका वर्णन करनेके बाद नारद मुनिने पार्वतीजीके द्वितीय पक्षका भी वर्णन किया—

सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी। सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी॥
अगुन अमान मातु पितु हीना। उदासीन सब संसय छीना॥
(रा० च० मा० १। ६७। ७-८)

'हे पर्वतराज! आपकी यह कन्या बड़ी सुलक्षणा है; पर अब इसके दो-चार अन्य कुछ अपलक्षणोंको भी सुनिये। इसका पति गुणहीन, मान-प्रतिष्ठासे दूर रहनेवाला, माता-पितासे रहित, उदासीन और समस्त संशयोंसे मुक्त होगा।' साथ ही इसे—

जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥
(रा० च० मा० १। ६७)

—'योगी, जटाधारी, कामरहित, नग्न और अमङ्गल-वेषधारी पति प्राप्त होगा।'

इससे स्पष्ट होता है कि श्रीतुलसीदासजी एक सिद्धहस्त ज्योतिषी और सामुद्रिक शास्त्रके विद्वान् पण्डित थे।

बालकाण्डमें मुनिवर नारदजीने हिमवान्‌से मस्तक-रेखाका वर्णन भी स्पष्टरूपसे किया है—

कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥
(रा०च०मा० १। ६८)

यहाँ अङ्ग-विज्ञानके अन्तर्गत हस्त-सामुद्रिकके बाद मुद्रा-सामुद्रिकके सिद्धान्तके अनुसार ललाट-रेखाका वर्णन है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके ज्योतिष-शास्त्रविषयक ज्ञानकी स्पष्ट झलक भगवान् श्रीरामके जन्मकालीन समय और परिस्थितिके वर्णनमें प्राप्त है। श्रीतुलसीदासजी इस पुनीत कालके तिथि, लग्न, ग्रह, योग तथा वार आदि अङ्गोंका वर्णन करते हैं, उनका ज्योतिष-ज्ञान उन्हींकें शब्दोंमें इस प्रकार दर्शनीय है—

जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल।

चर अरु अचर हरषजुत राम जनम सुखमूल॥

(रा० च० मा० १। १९०)

इतना ही नहीं इन्होंने माह, तिथि, पक्ष, मुहूर्त आदि ज्योतिषके सूक्ष्म विधि-विधानका भी वर्णन किया है। यथा—

नौमी तिथि मधु मास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरि प्रीता॥
मध्य दिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक बिश्रामा॥

(रा० च० मा० १। १९१। १-२)

परम पवित्र चैत्रका महीना था। नवमी तिथि थी। शुक्ल पक्ष था। भगवत्प्रिय सर्व-सुन्दर अभिजित* मुहूर्त था। दिनमें दोपहरका समय था। उस समय न बहुत सर्दी थी न गर्मी। वह परम पावन काल सब लोकोंको शान्ति-सुख देनेवाला था।

ज्योतिष-विज्ञानके दोनों पक्षोंका सम्यक्-ज्ञान गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीको था। जन्म-पत्रिका और जन्म-कुण्डलीके निर्माण-कलामें वे सिद्धहस्त विद्वान् थे। वे लिखते हैं—

जनम पत्रिका बरति कै देखहु मनहिं बिचारि।
दारुन बैरी मीचु के बीच बिराजति नारि॥

(दोहावली २६८)

तात्पर्य यह कि जन्म-कुण्डलीको व्यवहारमें लाकर और मनमें सोचकर देखें कि जन्मकुण्डलीमें स्त्रीका स्थान शत्रुस्थान और मृत्युके बीचके स्थानसे थोड़ा-सा ऊपर विराजमान रहता है। इसका मतलब यह है कि जन्मकुण्डलीमें छठा स्थान शत्रुका और अष्टम स्थान मृत्युका तथा सप्तम स्थान भार्याका है।

श्रीतुलसीदासजीके कुण्डली-ज्ञानपरक कुछ और दोहे दर्शनीय हैं—चन्द्रमा कौन-सी राशिके साथ, कौन-से स्थानमें घातक होता है। तत्सम्बन्धी एक दोहा इस प्रकार है—

ससि सर नव दुइ छ दस गुन मुनि फल बसु हर भानु।
मेषादिक क्रम तें गनहि घात चंद्र जियँ जानु॥

(दोहावली ४५९)

मेषके प्रथम, वृषके पाँचवें, मिथुनके नौवें, कर्कके दूसरे, सिंहके छठे, कन्याके दसवें, तुलाके तीसरे, वृश्चिकके सातवें, धनुके चौथे, मकरके आठवें, कुम्भके ग्यारहवें और मीनके बारहवें चन्द्रमा हो तो उसे अशुभ और घातक समझो। ज्योतिषमें इसे चन्द्रघात कहा जाता है।

इसी प्रकार शुभाशुभ तिथि और वारोंका योग-कुयोग भी श्रीतुलसीदास गोस्वामीजीके ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य है—

रबि हर दिसि गुन रस नयन मुनि प्रथमादिक बार।
तिथि सब काज नसावनी होइ कुजोग बिचार॥

(दोहावली ४५८)

अर्थात् रविवारको द्वादशी, सोमवारको एकादशी, मंगलवारको दशमी, बुधवारको तृतीया, गुरुवारको षष्ठी, शुक्रवारको द्वितीया और शनिवारको सप्तमी तिथि आती है तो वह सब तरहके कामोंको बिगाड़ती है। इस तरहकी मान्यता आज भी है।

शुभ शकुन

शुभाशुभ वस्तुओंका दर्शन और उनके परिणामोंकी अवधारणाएँ भारतवर्षमें प्राचीन कालसे चली आ रही हैं। इनके फलाफलकी परिपुष्टिके विषयमें आस्तिक जनोंमें तर्क-वितर्क नहीं किया जाता। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें देखिये—

नकुल सुदरसन दरसनी छेमकरी चक चाष।
दस दिसि देखत सगुन सुभ पूजहिं मन अभिलाष॥

(दोहावली ४६०)

नेवला, मछली, दर्पण, श्वेत गलेवाली चील, चक्रवाक और नीलकंठ पक्षी इनका दसों दिशाओंमें किसी भी दिशामें दर्शन होना शुभ शकुन है और कल्याणकारी भी माना गया है। इनके दर्शनसे मनःकामनाएँ पूर्ण होती हैं।

मङ्गलदायक और भी सात वस्तुओंका उल्लेख गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने इस प्रकार किया है—

---

* वेदाङ्गज्योतिषके अनुसार नक्षत्र-मण्डलमें अभिजित नामका एक तारा स्थित रहता है। मुहूर्त-ग्रन्थोंमें इस अभिजित नक्षत्रके तीन तारे होते हैं—ऐसा लिखा है। पाश्चात्त्य ज्योतिषमें इसे 'लायरा' नामक ज्योतिःपुञ्ज माना जाता है। इस नक्षत्रके देवता 'ब्रह्मदेव' हैं। मध्याह्न-पूर्व एक घटी और मध्याह्नोत्तर एक घटीके कालको भी ज्योतिष-ग्रन्थोंमें 'अभिजित' मुहूर्त कहा जाता है। यह मुहूर्त अति पावन काल होता है। श्रीरामका जन्म जिस 'अभिजित' मुहूर्तमें हुआ, भगवान्‌का वामनावतार भी श्रावण द्वादशीके इसी मुहूर्तपर हुआ था। इसी नक्षत्रपर भगवान् महादेव शङ्करने 'त्रिपुर-भेदन' भी किया था। दानके लिये भी यह काल उत्तम माना जाता है।

सुधा साधु सुरतरु सुमन सुफल सुहावनि बात।
तुलसी सीतापति भगति सगुन सुमंगल सात॥
(दोहावली ४६१)

१-अमृत, २-सज्जन, ३-कल्पवृक्ष, ४-पुष्प, ५-सुन्दर फल, ६-सुहावनी बात और ७-जानकीनाथ श्रीरामकी भक्ति—ये सात शुभ, सुन्दर और मङ्गलकारी शकुन हैं।

इसी प्रकार सियारामके मङ्गल-विवाहकी बारातमें विविध सगुन होते हैं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके ही शब्दोंमें देखिये—

बनइ न बरनत बनी बराता। होहिं सगुन सुंदर सुभदाता॥
चारा चाषु बाम दिसि लेई। मनहुँ सकल मंगल कहि देई॥
दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल दरसु सब काहूँ पावा॥
सानुकूल बह त्रिबिध बयारी। सघट सबाल आव बर नारी॥
लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पिआवा॥
मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगल गन जनु दीन्हि देखाई॥
छेमकरी कह छेम बिसेषी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी॥
सनमुख आयउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना॥
मंगलमय कल्यानमय अभिमत फल दातार।
जनु सब साचे होन हित भए सगुन एक बार॥
(रा० च० मा० १। ३०३। १-८)

—'श्रीरामकी बारात ऐसी सुन्दर बनी है कि उसका वर्णन करते नहीं बनता। उस समय सुन्दर शुभदायक शकुन होने लगे। शुभ शकुनसूचक नीलकण्ठ (पक्षी) उनकी बायीं ओर चारा ले रहा है, मानो सम्पूर्ण मङ्गलोंकी सूचना दे रहा हो। दाहिनी ओर कौआ सुन्दर (हरे-भरे) खेतमें शोभा पा रहा है। नेवलेका दर्शन भी सबको हुआ। तीनों प्रकारकी शीतल, मन्द और सुगन्धित हवा अनुकूल दिशामें चलने लगी। सुन्दर (सुहागिन) स्त्रियाँ सजल-घट और गोदभरे शिशुके साथ आती हैं। उस यात्राकालमें लोमड़ीका बार-बार दर्शन होता है। सवत्सा गौ अपने बछड़ेको दूध पिलाती हुई दीखती है। हरिनोंका झुंड बायीं ओरसे घूमकर दाहिनी ओर आया है। मानो मङ्गलोंका समूह एक साथ दिखा दिया। श्वेत मस्तकवाली चील (क्षेमकरी) विशेषरूपसे क्षेम (कल्याण) कर रही है। बायीं ओरके हरे-भरे वृक्षपर श्यामा (पक्षी) दिखलायी पड़ी। दही और मत्स्यका भी दर्शन हुआ। अपने हाथोंमें पुस्तकोंके साथ दो विद्वान् (ब्राह्मण) भी सामने आ उपस्थित हुए। इस प्रकार मङ्गलमय, कल्याणकारी और मनोवाञ्छित फल देनेवाले सभी शुभ शकुन एक साथ उपस्थित हो गये।'

जनकपुरकी पुष्पवाटिकामें ***'करत प्रकासु', 'फिरइ जनक तनया'*** को देखनेपर श्रीरामचन्द्रजीने अपने पावन मनसे लक्ष्मणजीको बताया कि ***'फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता'*** (बा० का० २३१। ४) हे भाई! सुनो, इस समय मेरे शुभ-सूचक अङ्ग स्फुरित हो रहे हैं।

मानसके उत्तरकाण्डमें भी शकुनके प्रसंग आये हैं। अयोध्यामें श्रीरामके आगमनपर भरतजीको भी शुभ शकुन हुए थे। यथा—

भरत नयन भुज दच्छिन फरकत बारहिं बार।
जानि सगुन मन हरष अति लागे करन बिचार॥
(उ० का० प्रारम्भमें दो० ४)

सगुन होहिं सुंदर सकल मन प्रसन्न सब केर।
प्रभु आगमन जनाव जनु नगर रम्य चहुँ फेर॥
(उ० का० प्रारम्भमें दो० २)

इसी प्रकार गीतावलीके अरण्यकाण्डमें भी ***'सबरी सोइ उठी, फरकत बाम बिलोचन-बाहु'*** का स्पष्ट उल्लेख है।

जिस समय श्रीसीताजीको शुभ शकुन हुआ, उस समय उन्हें पुष्पवाटिकामें श्रीरामका दर्शन हुआ था।

जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हरषु न जाइ कहि।
मंजुल मंगल मूल बाम अंग फरकन लगे॥
(रा० च० मा० १। २३६)

इसके अतिरिक्त गोस्वामीजीके 'रामलला नहछू' में संस्कारके समय भी कई शुभ शकुनोंके वर्णन हैं। — (क्रमशः)

संसारमें न तो कोई किसीका मित्र है, न शत्रु है। जो मनुष्य किसीको अपना शत्रु मानकर उसपर क्रोध करते हैं, वे वास्तवमें अपनी ही हानि करते हैं, संसार विष्णुमय है। शरीरका एक अङ्ग दूसरे अङ्गका शत्रु कैसे हो सकता है?—भक्तवर प्रह्लाद

* * *

कहानी—

प्रेममें प्रसन्नता

गङ्गाके किनारे एक गाँव था। गाँव बहुत बड़ा नहीं था, परंतु आवश्यकताकी सब वस्तुएँ वहाँ मिल जाती थीं। उस गाँवमें एक ब्राह्मण रहता था। वह यद्यपि नितान्त निरक्षर नहीं था, पर विद्वान् भी नहीं था। पढ़ा-लिखा न होनेसे वह पैतृक वृत्ति—पुरोहिताई तो कर नहीं सकता था, परंतु बैठे-बैठे पेट-पूरन होना भी कठिन था। अतः कुछ मेहनत-मजूरी करके वह अपना काम चलाता था। गर्मीके दिनोंमें वह नजदीकके स्टेशनपर पानी पिलानेका काम करता और जाड़ेमें बैलगाड़ी हाँकता था। घरपर उसकी माता, स्त्री और दो बच्चे थे। दिनभर कड़ा परिश्रम करके वह जो कुछ लाता, उससे उसके इस छोटे कुटुम्बका भरण-पोषण किसी तरह हो जाता था। लड़कोंके स्वर्गीय निर्मल सौन्दर्य, निर्दोष मुख, बाल्य सहज चाञ्चल्य और प्रेमभरी तोतली बोलीपर वह मुग्ध रहता था। दिनभरके कठिन परिश्रमके बाद जब वह थका-हारा घर लौटता तो बालकोंकी निर्दोष क्रीडाओंसे, माताके दुलारभरे पुचकारोंसे और प्रेमभरी पत्नीके स्नेहमय सत्कारोंसे उसकी सब थकान और विकलता दूर हो जाती थी।

इस तरह उसके दिन मजेमें कट रहे थे, पर उसको यह सुख भी नहीं बदा था। नदीके किनारेपर ग्राम होनेसे बाढ़ हर साल गाँवके कुछ हिस्सेको बहा ले जाती थी। अबकी साल बाढ़ ऐसी आयी कि उधर वह स्टेशनपर पानी पिलाने गया था, इधर समूचा गाँव बह गया। वह लौटकर आया तब न तो उसको अपना घर मिला न घरके रहनेवाले मिले। बहुत ढूँढ़ा-ढाँढ़ा पर कहीं पता न चला। गाँवके और लोग जो तैर-तैरकर या पेड़ आदिपर चढ़कर बच गये थे, फिर घर बनाकर रहने लगे, पर उसका हृदय तो शून्य हो गया था, उसको अब कोई चीज अच्छी नहीं लगती थी। वह विचारता कि अभी-अभी आज प्रातःकाल तो जब मैं स्टेशन गया हूँ, घर भरा हुआ था, गाँव भरा हुआ था, लड़कोंको नीमके पेड़के नीचे खेलता छोड़कर और प्रेयसीके प्रेम-वचनोंसे मुदित होकर गया हूँ और इस बारह घंटेके बाद देखता हूँ कि कुछ भी नहीं है, अरे, वह नीमका पेड़ भी नहीं है। यही न कि रोज मैं सात बजे आता था और आज नौ बजे आया हूँ, इतनी ही देरमें यह काण्ड।

यदि केवल शोक ही होता तो वह गला फाड़-फाड़कर रोता, पछाड़ें खाता, पर यहाँ तो आश्चर्य और शोक दोनोंका सम्मिश्रण था, उसका हृदय भरा हुआ था, शरीर शून्य हो गया था काटो तो बदनमें लोहू नहीं, पर वह रोता नहीं था।

बाढ़की प्रचण्डता, उसकी विकरालता और अपने गृहजनोंकी असमर्थताका ध्यान आते ही वह पागल-सा हो गया। 'आह! कालके ग्रासके समान जब नदीकी भयंकर तरंगें उन लोगोंके सन्मुख पहुँची होंगी तो उन लोगोंने किस तरह भयभीत होकर मेरा स्मरण किया होगा, हाय! माँ और स्त्री तो कुछ देर धीरज भी रख सकी होंगी, पर वे छोटे लड़के, वह दुधमुँहा बच्चा····!' इस तरह विचार करते उसको बहुत ही दुःख हुआ, उसने सोचा कि चलो इसी नदीमें मैं भी प्राण विसर्जन कर दूँ, पर आत्मघातके पापके डरने और इस एक आशा—एक अनिर्वचनीय आशाने कि शायद कहीं बहते-बिलाते उन लोगोंमेंसे किसीका पता लगे, उसको इस कार्यसे रोका। यदि वे सब-के-सब उसके सामने ही बह गये होते तो वह भी अवश्य प्राण दे देता, पर अब एक अव्यक्त अनिर्वचनीय आशा उसे रोकती थी। अन्ततः नौकरीको ही सब अनर्थोंकी जड़ समझ उसने उसे त्याग दिया। वह दिनभर उदास रहता, न भूख लगती न प्यास। पागलोंकी भाँति इधर-उधर घूमा करता। कभी किसीने कुछ खिला दिया तो खा लिया, अन्यथा भूखा ही रह जाता। इस तरह कुछ दिन बीत गये, पर उसको कुछ भी शान्ति नहीं मिली। विस्मृति जो दुःखको कम करनेमें बड़ी सहायता पहुँचाती है उसकी सहायताको न आयी।

जब घरकी यादने—स्नेहमयी माताके प्रेम-भरे दुलारोंकी, प्रेयसी पत्नीके प्रेमभरे चितवन और मधुर मन्द मुसकानकी, सुन्दर बालकोंके निर्दोष मुख, निर्मल हास्य और ललित क्रीडाओंकी स्मृतिने उसे अत्यन्त विकल किया तो वह कहीं चले जानेका विचार करने लगा।

पासके गाँवमें ही संन्यासियोंका एक मठ था। उसीमें वह भी सम्मिलित हो गया। वहाँ प्रातः-सायं भजनभावमें तथा दिनभर आश्रमकी विविध क्रियाओंमें लगे रहनेसे उसका चित्त कुछ जरूर बहला। वहाँ उसके आनन्दकी सब सामग्री प्रस्तुत थी। अच्छा भोजन मिलता था। दस आदमियोंका साथ था।

भजन-संगीत और वाद्य भी होता था। पर अब भी उसके हृदयकी तन्त्री फूटे ही स्वरमें बजती थी। उसके हृदयकी कली खिली नहीं। चेहरेपर उदासीका आधिपत्य अभी जमा ही था। उसको हृदयमें एक कमी मालूम होती थी। एक अभाव था जिसकी पूर्ति वहाँ नहीं हो रही थी।

उसने सोचा कि मेरा समय पहलेसे बहुत अच्छी तरह कट रहा है। भोजनके लिये उतना परिश्रम नहीं करना पड़ता है। बढ़िया भोजन मिलता है। दस आदमियोंमें उसकी पूछ है, हृदयको प्रसन्न करनेवाले संगीत-वाद्य प्रायः नित्य ही हुआ करते हैं, पर तब भी हृदय प्रसन्न नहीं है। कारण क्या है? बहुत सोचने-विचारनेपर यह परिणाम निकला कि यहाँ हार्दिक प्रेम—प्रगाढ़ प्रेमका अभाव है। दिखावटी प्रेम तो सब करते हैं, पर हृदय छूँछा है। सब अपना-अपना काम करते हैं। प्रयोजनवश अथवा आश्रमके आचारका पालन करनेके लिये मुझसे बोल लेते हैं, आश्रमके नियमके अनुसार ही भोजन भी मिलता है, पर यह सब प्रेमके कारण नहीं, प्रेमका तो ढकोसला मात्र है।

निश्छल प्रेम और प्रेमियोंके अभावसे दुःखित होकर वह वहाँसे भी चल निकला।

वह उद्देश्यहीन होकर इधर-उधर भ्रमण करता रहा। अन्तमें फिर जाकर एक संत-समाजमें सम्मिलित हुआ। यहाँ केवल आलसियों और मूर्खोंका जमाव नहीं था बल्कि कुछ पढ़े-लिखे साधु भी थे और मठके अध्यक्ष गीता तथा उपनिषद्का पुनीत उपदेश भी प्रातः-सायं सबको श्रवण कराते थे। साधुमहाराज ईश्वरको सृष्टिकर्ता, सबको पालनेवाला और परमदयालु तथा भक्तवत्सल बतलाते थे, इसके सबूतमें वह कई कथानक और दृष्टान्त भी देते थे। साधुमहाराज जब कृष्ण और सुदामाकी मैत्रीकी कथा कहने लगते तो श्रोता लोगोंके रोम खड़े हो जाते थे। प्रेम तथा भक्तिसे हृदय गद्गद हो जाता था। द्रौपदी तथा अर्जुनकी कृष्णमें भक्ति, शबरीका राममें प्रेम, गृद्धराज और केवटकी कथाएँ बड़ी रोचकताके साथ कहते थे।

प्रेमके भिखारी, प्रेम-मन्दिरके पुजारी उस शोकातुर ब्राह्मणपर इसका यथेष्ट प्रभाव भी पड़ा। ईश्वरपर—भक्तवत्सल ईश्वरपर, एक दयालु तथा प्रेमी ईश्वरपर उसका दृढ़ विश्वास हो गया, पर अब भी उसका चेहरा प्रसन्न नहीं हुआ। हृदय उत्साहसे उमड़ा नहीं। उसको अपने विश्वासको क्रियारूपमें परिणत करनेका मौका नहीं आया। अतः वह वहाँसे भी चल निकला।

चलते-चलते वह एक प्राचीन कुटीरके खँडहरोंमें पहुँचा। कुटिया यद्यपि जीर्ण-शीर्ण हो गयी थी। पर उसकी रमणीयता नहीं नष्ट हुई थी। वह वहीं जाकर रहने लगा। दिनभर भीख माँगकर लाता, बनाकर खाता और रातको वहीं सो रहता। उसके हृदयकी कमी उसको संतप्त किये हुई थी। उसने सोचा—हृदयमें प्रेमकी जो ज्वाला है, जिसकी लपटसे शरीर जल रहा है उसको दूसरेतक पहुँचाना चाहिये, किसी औरके साथ उसको बँटाना चाहिये। यहाँ किसीसे प्रेम करूँ, सोचा, चलूँ गाँवमें और गाँवके बच्चोंसे किसीको तोता देकर, किसीको तितली पकड़कर, किसीको भजन तथा गाना सुनाकर प्रेम करूँ। फिर सोचा—मुझ गरीबके प्रेमको लड़कोंके माता-पिता कहीं अन्यथा न समझ लें, यह न सोचें कि उनके गहनोंको चुरानेके लिये उनको फुसला रहा है अथवा उनको बहकाकर साधु करनेके लिये लालच दे रहा है।

इन सब विचारोंसे गाँवमें जाकर यकायक किसीसे प्रेम करना उसने अनुचित समझा और उस विचारको त्याग दिया। वह अब क्या करे? मठमें साधु बाबासे उसने जो उपदेश सुन रखा था, उसीकी परीक्षा करनेका उसने निश्चय किया। भक्तवत्सल ईश्वरपर उसका विश्वास तो हो ही गया था। यह भी सुना था कि वह सर्वव्यापी है अतः उन्हीं देवाधिदेवकी अभ्यर्थना, उन्हींसे प्रेम करनेका उसने संकल्प किया, पर ईश्वर कोई प्रत्यक्ष वस्तु तो है ही नहीं जिससे वह गले लिपटता, अपना दुःख कहता, प्रेमका भिक्षुक बनता, उनकी सेवा करता और प्रेम करनेके बाहरी इंगितोंका दिग्दर्शन करता। कैसे प्रेम करे? यहाँ भी साधु बाबाका गीताका वह उपदेश, कि 'भगवान् सर्वत्र समरूपसे हैं' काम कर गया। उसने अपनी कल्पनासे मिट्टीकी एक मूर्ति बनायी, उसको फूलोंसे अलङ्कृत किया और कुटीमें लीप-पोतकर एक जगह एक उत्तम वेदी बनायी, वहीं उस मूर्तिको रखा, नित्य सबेरे उठकर वह वन-बगीचोंसे सुन्दर-सुन्दर गन्धवान् पुष्प लाता, उनकी माला बनाता और मूर्तिपर चढ़ाता, दूर-दूरसे बढ़िया फल लाता और मूर्तिके भोजनके लिये वेदीपर रख देता। गङ्गाका निर्मल जल

उसे पीनेको देता, जब वह कहीं भीख माँगने चला जाता तो गौ, बकरियाँ आतीं और सब खा जातीं। आनेपर वह समझता कि सर्वव्यापी ईश्वर प्रत्यक्ष होकर उसे खा गया है। किसी दिन यदि कोई गाय-बकरी उस तरफ नहीं आयी और फूल-पत्ती, फल-जल वैसे ही पड़ा रह गया तो वह समझता कि हो-न-हो फलों या फूलोंमें कोई दोष है। तब वह अपनेको कोसने लगता और दूसरे दिन बहुत परिश्रम तथा खोजके साथ बहुत बढ़िया-बढ़िया सुस्वादु फल तथा सुगन्धित, कीटहीन मनोहर पुष्प लाता।

वह अब सदा प्रसन्न रहने लगा। उसके समयका अधिक भाग उसी मूर्तिकी सेवामें बीतने लगा। उसको हृदयकी कमी पूरी हुई-सी जान पड़ने लगी। वह समझ गया कि हमसे कोई प्रेम करनेवाला है और हमारी प्रेम-भेंटको स्वीकार कर रहा है। प्रेम करनेके लिये उसे विषय भी अनोखा मिला जो स्वयं अक्षय था और प्रेमका अक्षय भण्डार लिये हुए था। उसको ईश्वरकी सर्वव्यापकतामें अब पूर्ण विश्वास हो गया। वह उषा और गोधूलिके समय मीठे स्वरमें सुन्दर सरस गीत गाता और भगवान्‌को रिझानेकी कोशिश करता। उसको यह भान होता था मानो वह साक्षात् ईश्वरके सम्मुख बैठा हुआ है और साथ ही यह भी कि वह ईश्वर उसकी ओर स्नेहभरी दृष्टिसे देख रहा है।

अहा! इस भावके आते ही उसका हृदय आनन्दसे उछलने लगता। उसके हृदयकी एक बड़ी भारी कमी पूरी हुई। उसकी ज्वाला शान्त हुई। राह चलता कोई पथिक यदि थककर विश्राम करने वहाँ आता तो उसको यह समझता कि ईश्वरका ही प्रेमी है जो हमारी कुटीमें हमारे ईश्वरके पास आया है, उसकी खूब सेवा-सत्कार करता। उसके इस भावको देखकर लोग आश्चर्य करने लगे और उसकी इस प्रसन्नताको अलौकिक मानने लगे। किसीने यह न जाना कि प्रेममें प्रसन्नता है। उसके मुखपर जो इधर दो वर्षोंसे किसीने कभी हँसीकी रेखा भी नहीं देखी थी। अब एक विचित्र मुसकुराहट सदा झलकती थी। वह स्वयं तो सदा प्रसन्न रहता ही था, दूसरोंको भी प्रसन्न रखनेकी सदा चेष्टा करता था। प्रेम करनेके लिये अक्षय भण्डार पा जानेसे उसके हृदयकी तन्त्री अब सुस्वर और सदा बजने लगी। उसको स्वयं भी अपने इस परिवर्तनपर आश्चर्य होने लगा। उसने विचारा कि कारण क्या है? जिन प्राणियोंके लिये वह व्याकुल था, जिनके अभावसे वह दुःखित था, वह जब जीवित थे तब भी वह उतना निरन्तर प्रसन्न नहीं रहता था।

पहले जब वह काम करके लौटता और घरपर लड़के झगड़ते, मार-पीट करते मिलते थे तो उसका चित्त क्रुद्ध हो जाता था और कभी-कभी वह भी उनको मार बैठता था, जिससे गृहमें एक महान् उत्पात मच जाता था, स्त्री अलग फूल जाती, माता अलग झिड़कती, लड़के रोने लगते, तब वह सोनेका स्वर्ग मिट्टी हो जाता, या कभी-कभी घर लौटनेपर उसे भोजन तैयार नहीं मिलता था तो वह स्त्रीपर क्रुद्ध हो जाता, मातासे जवाब तलब करता, इस तरह उस दिन उस छोटेसे घरमें निरानन्दका साम्राज्य छा जाता।

उन घटनाओंका स्मरण आते ही उसे मालूम हुआ कि उस प्रेममें मोह था, झिझक थी, संकोच था, स्वार्थ था और उसके टूट जानेका डर था। उसके इस समयके प्रेममें न झिझक है, न संकोच है, न उसके टूट जानेका डर है, वह तो आशाकी तरह मीठा और आकाशकी तरह अनन्त है। उसके प्रेमका विषय अक्षय, सदा प्रसन्न रहनेवाला, हर एक त्रुटियोंको क्षमा करनेवाला, कभी शिकायत न करनेवाला और सब प्रार्थनाओंको सुन लेनेवाला है, वह अनन्त है, अक्षय है और एकरस है, ऐसे अनन्तको पाकर वह अनन्तत्वका अनुभव करने लगा।

◆

जीवित अवस्थामें शरीरको लोग देव (नरदेव, भूदेव) शब्दोंसे पुकारते हैं, परंतु मर जानेपर उस शरीरके या तो (सड़ जानेपर) कीड़े हो जाते हैं, या (जला देनेपर) राख हो जाती है, अथवा (पशु आदिके खानेपर उसकी) विष्ठा बन जाती है, ऐसे शरीरके लिये जो मनुष्य दूसरे प्राणियोंसे द्रोह करता है जिससे नरककी प्राप्ति होती है, वह क्या अपने स्वार्थको जानता है?—देवर्षि नारद

◆

साधनोपयोगी पत्र

(१)

आपका पत्र मिला। प्रश्नोंका उत्तर पढ़कर आपको प्रसन्नता एवं संतोषकी प्राप्ति हुई, सो यह आपकी दयाकी बात है।

आपने मिलनेकी इच्छा लिखी, सो आपके प्रेमकी बात है।

मेरे लिये श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, महान् पुरुष तथा और भी मेरी बड़ाईके शब्द आपने लिखे, सो नहीं लिखने चाहिये।

बिम्ब और प्रतिबिम्बके विषयमें आपने अपना जो अनुभव जनाया, सो युक्तियुक्त है।

गुरुकृपासे आपको अनुभव हुआ लिखा, सो अच्छी बात है, किंतु यह विचारणीय विषय है। जिसको अनुभव हो जाता है, वह इस प्रकारसे न तो किसीसे कहता है और न वह स्वयं यह समझता ही है कि मुझको अनुभव हो गया। वहाँ संशय, भ्रम और कर्मोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। श्रुतिमें कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

आपके पत्रसे आपका जिज्ञासुपन सिद्ध होता है, इसलिये भी आपको अपने विषयमें विचार करना चाहिये, अपने-आपको ज्ञानी मान लेना भी भूल है, क्योंकि ज्ञान होनेके बाद उसमें माननेवाला कोई नहीं रहता। अतएव आपका जिज्ञासुभाव ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है। आपके कुछ प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

प्र०-अज्ञानसे उत्पन्न हुई स्वार्थ-बुद्धिका नाश होनेके लिये क्या उपाय है?

उ०-निष्कामभावसे किये जानेवाले भगवन्नामके जप और भगवत्स्वरूपके ध्यानरूपी उपासनासे मल-विक्षेपका नाश होकर भगवान् एवं भगवान्‌के भक्तोंकी परम दयासे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है और उस तत्त्वज्ञानसे अविद्यासहित राग-द्वेषादि सम्पूर्ण क्लेशोंका एवं सम्पूर्ण कर्मोंमें स्वार्थ-बुद्धिका अत्यन्त अभाव हो जाता है और परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति भी हो जाती है। योगदर्शनके सूत्र हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः।
तज्जपस्तदर्थभावनम्।
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

प्र०-क्या जीवात्मा और प्रकृति—ये दोनों परमेश्वरके सकाशसे बने हैं?

उ०-ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि जीवात्मा और प्रकृति दोनों अनादि माने गये हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
(गीता १३। १९)

अर्थात् प्रकृति और पुरुष—दोनोंको ही अनादि जानो।

ये ईश्वरके सकाशसे भी बने नहीं, इसीलिये ईश्वर इनसे बिलकुल निरपेक्ष है। ईश्वर फल भोगनेके लिये गुण और कर्मोंके अनुसार अच्छी और बुरी योनियोंके साथ जीवात्माका सम्बन्ध जोड़ देता है, किंतु निरपेक्ष होने एवं कर्तापनके दोषसे रहित होनेके कारण ईश्वर करता हुआ भी अकर्ता समझा गया है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
(गीता ४। १३)

'गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं, परंतु उनके कर्ता मुझ अविनाशी परमेश्वरको तुम अकर्ता ही जानो।'

प्र०-जीवात्माके साथ अनादिकालसे अज्ञानका जो यह सम्बन्ध है, इसको विज्ञानानन्दघन परमात्मा जानते हैं, ऐसा मेरा अनुभव है। अद्वैतसिद्धान्तसे क्या यह बात ठीक है?

उ०-नहीं। अद्वैत-सिद्धान्तसे विज्ञानानन्दघन परमात्माकी दृष्टिमें तो अज्ञान है ही नहीं। जिनको अज्ञानका सम्बन्ध भासता है, उन्हींकी दृष्टिमें अज्ञान है और उन्हींके लिये वह अनादि-सान्त है। अद्वैत-सिद्धान्तसे तो जीवात्माके साथ अज्ञानका सम्बन्ध वास्तवमें है ही नहीं। अध्यारोप माना गया है।

प्र०-जीवात्मा और परमात्मा जब विजातीय वस्तु हैं तो फिर एक कैसे हो जाते हैं?

उ०-जीवात्मा, परमात्मा विजातीय नहीं हैं। इसीलिये जीवात्मा परमात्माको प्राप्त होनेके बाद यानी परमात्मामें विलीन

होनेके बाद पुनः वापस नहीं आता। जीवात्मामें जबतक अज्ञान है, तबतक वह परमात्मामें विलीन नहीं हो सकता। किंतु ईश्वरकी भक्ति करनेसे आत्मा पवित्र होकर ईश्वरकी दयासे जब उसे परमात्मतत्त्वका साक्षात् ज्ञान हो जाता है, तब उस ज्ञानके प्रतापसे अज्ञानका नाश होकर वह पवित्रात्मा बन जाता है और परमेश्वरमें तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है यानी परमात्मामें मिल जाता है। फिर इस जीवात्माकी परमात्मासे अलग सत्ता ही नहीं रहती।

अज्ञानके कारण अनादिकालसे जीवात्मा उस परमात्मासे पृथक्-सा हो रहा है। इसीलिये इसकी जीव संज्ञा है। कारणरूप अविद्याके नाश होनेपर इसकी जीव-संज्ञाका भी नाश हो जाता है, इसलिये अविद्या यानी मायाको अनादि-सान्त बतलाया गया है। जैसे सिन्दूरसे निकाला हुआ पारा पारेमें मिलकर तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है फिर वह सिन्दूर नहीं बनता, वैसे ही मायासे छूटकर पवित्र हुआ जीव, शुद्ध-विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त होकर पुनः जीवभावको नहीं प्राप्त होता।

(२)

आपके दो पत्र मिले। जवाब देनेमें मेरे प्रायः ही देरी हो जाया करती है। आपके प्रश्नोंका उत्तर नीचे लिखा जा रहा है—

प्र०-काम-क्रोधके कारण साधन प्रायः बहुत कम होता है, इस काम-क्रोधका नाश कैसे हो ?

उ०-विश्वासपूर्वक कटिबद्ध होकर साधन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। फिर काम-क्रोधका आप ही नाश हो सकता है।

प्र०-घरू-संकल्प अधिक बाधक हो रहे हैं ?

उ०-अभ्यासके द्वारा उन संकल्पोंके त्याग करनेकी कोशिश करनी चाहिये।

प्र०-धर्म-प्रचार, समाज-सुधार, धनोपार्जन—इन तीन कारणोंसे विद्याका अभ्यास करनेकी रुचि प्रबल हो रही है।

उ०-यह उचित ही है। विद्याके योग्य न बनूँ ऐसी निषेधात्मक प्रार्थना नहीं करनी चाहिये। तीनों हेतुओंसे विद्या सीखनेकी वृत्ति नीतिकी दृष्टिसे अनुचित नहीं है।

प्र०-प्रभुसे क्या माँगना चाहिये ?

उ०-प्रभुका प्रेमसहित अनन्यचिन्तन तो अवश्य ही माँगना चाहिये।

प्र०-साधनके विषयमें बराबर पूछ-ताछ करनी चाहिये !

उ०-समय कम मिलनेके कारण एवं स्वभावकी ढिलाईसे पत्र देनेमें विलम्ब हो जाता है, नहीं तो पूछनेमें तो कोई संकोच नहीं है।

प्र०-साधनके लिये कड़ाई करनी चाहिये !

उ०-स्वभावकी नरमी एवं अनधिकार समझकर आपपर कड़ाई नहीं की जा सकती, अतएव आपको ही अपने ऊपर कड़ाई करनी चाहिये।

प्र०-जीवकी इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह प्रमाद छोड़कर बिना किसी प्रकारकी उत्तेजना पाये ही अपने लक्ष्य-पथपर अग्रसर होता जाय।

उ०-इसके लिये सत्य-कबीरकी साखीमें वर्णित कबीरदासजीकी चेतावनीकी तरफ ख्याल करनेसे बहुत मदद मिल सकती है।

प्र०-अध्यात्म-जगत्में इसीलिये एक मार्ग-प्रदर्शकके संकेत और तत्त्वावधानकी आवश्यकता तथा उपयोगिता एक विशेष स्थान रखती है।

उ०-मार्गदर्शक बहुत पुरुष हो चुके हैं, और हैं भी। जिनमें जिनकी श्रद्धा है उनके लिये वही मार्गप्रदर्शक बन सकता है। मार्गदर्शकोंकी कमी नहीं है, किंतु श्रद्धा और प्रेमकी आवश्यकता है।

प्र०-भगवान्‌की विस्मृति और भोगोंकी अनवरत उपासनाने इस अभिमानी ब्राह्मणको बहुत दूर ला गिराया है।

उ०-इसके लिये विचारपूर्वक या हठसे परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान या उनके नामका जप करनेके लिये कोशिश करनी चाहिये। हठसे ही कोशिश करनी चाहिये, ऐसा करनेसे सब कुछ हो सकता है।

प्र०-शिश्नोदरपरायण प्रमादीका उद्धार अपने बलपर होना परम कठिन है।

उ०-इसके लिये ईश्वरकी शरण लेनी चाहिये। ईश्वरके नामका जप, स्वरूपका ध्यान और उनकी आज्ञाका पालन करना ही ईश्वरकी शरण है।

प्र०-विषयोंके संग और सेवनसे अन्तःकरण मलिन होता

जा रहा है।

उ०-यदि यह बात आपकी समझमें आ गयी हो तो विचारपूर्वक विषयसंग और सेवनका त्याग करना चाहिये। विचारसे त्याग न हो तो हठसे त्याग करना भी उत्तम है।

प्र०-सत्संगकी अभिरुचि पूर्वापेक्षा न्यून प्रतीत हो रही है।

उ०-इसके लिये श्रद्धालु पुरुषोंका संग एवं महापुरुषोंके प्रेम, रहस्य, गुण और प्रभावकी बातोंका श्रवण और विवेचन करना उत्तम है।

प्र०-देहाध्यास अधिक बढ़ा हुआ है।

उ०-इसके लिये दो ही उत्तम उपाय हैं—

(१) अभिमानको छोड़कर निष्काम प्रेमभावसे ईश्वरकी अनन्य शरण होना और (२) गीता (१४। १९) के अनुसार द्रष्टा (साक्षी) होकर इस शरीर और शरीरके कर्मको आत्मासे पृथक् देखनेका अभ्यास करना।

प्र०-मान-बड़ाईके प्रदीप्त दीपकमें मन पतंग होकर उत्साहसे जलना चाहता है ऐसी परिस्थितिमें आपको और सुहृद् भगवान्‌को छोड़कर किसके सामने पुकार करूँ?

उ०-मान-बड़ाईको प्रदीप्त दीपक समझनेमें ही अभी कमी है, अतएव इसको प्रदीप्त दीपकके सदृश अच्छी तरह समझनेकी कोशिश करनी चाहिये। समझनेपर मन जलकर मरना नहीं चाहेगा। इसको समझनेके लिये एकान्तमें करुणभावसे रोकर ईश्वरसे प्रार्थना करनी चाहिये।

प्र०-महापुरुषोंमें आरम्भमें जो श्रद्धा दीखती थी, वह इस समय उस रूपमें नहीं दीखती, इसका कारण भी शायद साधनकी कमी और विषय-सेवनकी अधिकता ही होगी।

उ०-सबसे बढ़कर महापुरुष तो परमेश्वर ही हैं। उनमें निष्कामभावसे प्राप्त हुई सच्ची श्रद्धाका क्षय नहीं होना चाहिये। यदि कमी नजर आती हो तो उसके मूलमें कोई कामनाका होना सम्भव है। भगवान्‌के भक्तोंमें श्रद्धाकी कमी होनेमें कारण भगवान्‌के भक्तोंमें गुणोंकी तारतम्यताका देखना एवं विषयासक्त और नास्तिक पुरुषोंका संग तथा पूर्वकृत पापकी वासनाएँ इत्यादि अनेक हेतु हो सकते हैं।

प्र०-दूसरोंके दोष पहाड़ बनकर मेरी वाणीके आलोच्य विषय हो रहे हैं, निन्दामें रस मालूम देता है।

उ०-दूसरोंके दोष और अपने गुणोंकी आलोचनासे जो आनन्द होता है उसको मृत्युके समान समझकर उसका विषके तुल्य त्याग करना चाहिये, नहीं तो भारी पतन होना सम्भव है।

प्रेम

शाखामें लगे हुए सुन्दर पुष्पको देखकर राजकुमारने कहा—'तुम मेरे निकट क्यों नहीं आते?' पुष्पने पूछा—'क्यों?' राजकुमारने उत्तर दिया—'मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।' पुष्पने पूछा—'प्रेम किसे कहते हैं?' राजकुमारने उत्तर दिया—'जिसमें प्रमाद नहीं रहता।' पुष्पने कहा—'तुम इन पक्षियोंका कलरव सुन रहे हो?' राजकुमारने उत्तर दिया—'अवश्य ही।' पुष्पने पूछा—'इनका प्रेम कैसा है?' राजकुमारने उत्तर दिया—'मूर्ख पक्षी प्रेमके महत्त्वको क्या जानें?' पुष्पने गर्जकर कहा—'न जानते तो आत्मविजयका यह सच्चा आनन्द कहाँसे आता?' राजकुमारने उत्तर दिया—'वे भगवान् भास्करका स्वागत कर रहे हैं।' पुष्पने पूछा—'वे उनसे कितनी दूर हैं?' राजकुमारने उत्तर दिया—'नौ करोड़ मील।' पुष्पने पूछा—'और तुम मुझसे?' राजकुमारने उत्तर दिया—'पंद्रह-बीस हाथ।' पुष्पने हँसकर कहा—'तब तुम मेरे पानेके लिये इतने व्यग्र क्यों हो रहे हो?' राजकुमारने लज्जित होकर कहा—'मैं तुम्हें हृदयसे लगाना चाहता हूँ।' पुष्पने पूछा—'तुम मुझसे प्रेम करते हो न?' राजकुमारने उत्तर दिया—'मैं पहले ही कह चुका हूँ।' पुष्पने कड़ककर कहा—'प्रेममें व्यवधान कहाँ रहता है?' राजकुमारने खीझकर कहा—'मैं समझ गया। तुम्हारा कलेवर मात्र कोमल है। हृदय वज्रसे भी अधिक कठोर है।' पुष्पने स्नेहपूर्ण दृष्टिसे राजकुमारकी ओर देखकर कहा—'तुम भूल करते हो। तुममें भोगलिप्सा निहित है और वही तुम्हारे अधःपतनका कारण है।' राजकुमारने ठंडी साँस लेकर वहाँसे प्रस्थान किया।

* * *

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Narayan Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पढ़ो, समझो और करो

(१)

श्रीरामरक्षा-स्तोत्रका प्रत्यक्ष चमत्कार

रामरक्षा-स्तोत्रका नियमित-रूपसे पाठ करना मेरा बहुत पुराना नियम रहा है, परंतु इसका प्रत्यक्ष रूपमें चमत्कार देखनेको तब मिला जब २६ अक्टूबर, १९९० की शामको चार बजे मेरी नौ वर्षीया लड़की सिरके बल करीब पंद्रह फुट ऊपरसे सीमेंटके पक्के फर्शपर नीचे आ गिरी। उस समय दुर्भाग्यवश घरपर न मैं था और न मेरा मुनीम ही। केवल अकेली मेरी पत्नी एवं कुछ पड़ोसी जब तुरंत उसे पड़ोसके डॉक्टरके पास ले गये तो बच्ची उस समय बेहोश थी और उसकी नाकसे काफी खून बह रहा था। उसे एक खूनकी उलटी भी आ चुकी थी। पड़ोसके डॉक्टरके कहनेपर बच्चीको तुरंत जब बड़े सर्जनके पास ले जाया गया, जो मेरा स्वयंका सहपाठी भी है तो उसने भी जवाब दे दिया और कहा कि इसे तुरंत दिल्ली या अन्य किसी दूसरी जगह ले जाओ। शायद इसके दिमागका ऑपरेशन भी करना पड़े। इतनेमें उसे पुनः एक उलटी खूनकी और आ गयी, जिससे सभी अत्यन्त चिन्तित और परेशान हो गये। यह स्थिति देख डॉक्टरने कुछ विचारकर कहा—यदि लड़की छः घंटेमें होशमें आ जायगी तो इसकी स्थितिमें धीरे-धीरे सुधार आना शुरू हो जायगा। अन्यथा इसके बचनेका कोई आसार नहीं दिखायी देता और तब डॉक्टर उसके उपचारमें लग गये। इस समयतक मैं भी वहाँ पहुँच चुका था और वहाँपर मैंने देखा कि सभीकी आँखें गीली थीं। मैं असहाय-सा होकर बच्चीके सिरहाने खड़ा-खड़ा रामरक्षा-स्तोत्रके नीचे लिखे मन्त्रका जप करने लगा—

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥

कुछ ही देरमें देखते-देखते सभी अचम्भेमें आ गये जब कि लड़कीने छः घंटेके बजाय चार घंटेमें ही आँखें खोल दी और उसकी स्थितिमें निरन्तर सुधार होना शुरू हो गया। इस प्रकारका चमत्कार देख मेरी आँखें भी उस प्रभुकी दयालुताके लिये नम हो गयीं और डॉक्टर भी अचम्भेमें रह गया कि जिस मरीजकी बचनेकी कोई भी आशा न देख उसने बड़े सर्जनके पास ले जानेकी सलाह दी थी, अचानक वह इस प्रकार एकदम कैसे ठीक हो गया। यह प्रभुकी आराधना करनेका चमत्कार नहीं तो और क्या है?

—भुवनभास्कर खेमका

(२)

टैक्सी-चालककी ईमानदारी

मेरे पिताजी ७ जुलाई १९८९ को दिल्लीसे ऋषिकेश लौट रहे थे। उनको दिल्लीसे हरिद्वारकी बस मिली। जिससे वे रातको आठ बजे हरिद्वार पहुँच गये। उस दिन हरिद्वार-डिपोपर बसें बहुत कम थीं और बारिश हो रही थी, तभी एक टैक्सी-ड्राइवर पिताजीके पास आया और उसने पूछा—'ऋषिकेश चलना है?' उनके 'हाँ' कहते ही वह बोला—जल्दी कीजिये। केवल एक सवारीकी ही टैक्सीमें जगह है। पिताजीके पास चार अदद सामान थे। ड्राइवरने शीघ्रतासे सारा सामान डिक्कीमें रखवाया। फिर उन्हें टैक्सीमें बैठनेके लिये जगह करवायी और जल्दीसे दरवाजा बंद करके अपनी सीटकी ओर लपका। उसके बाद उसने तेजीसे अपनी टैक्सी आगे बढ़ा ली।

टैक्सीमें बैठी बाकी सवारियोंको नौ बजे ऋषिकेशसे देहरादूनके लिये बस पकड़नी थी। अतः वे ड्राइवरसे जल्दी चलनेको कह रहे थे। वे सारे रास्तेभर अपनी घड़ी देखते और ड्राइवरसे और तेज चलनेका आग्रह करते रहे। वर्षाके कारण सड़क पूरी गीली थी। इसके बावजूद भी ड्राइवर टैक्सी काफी तेज लाया। जब टैक्सीने ऋषिकेशमें प्रवेश किया, उस समय भी वर्षा हो रही थी। रात्रिके नौ बजनेमें पाँच-सात मिनट बाकी थे। पिताजीको बस-स्टैंडसे लगभग डेढ़ किलोमीटर पहले घरपर उतरना था। उन्होंने टैक्सी रुकवायी। ड्राइवरने उतरकर डिक्की खोली। इधर टैक्सीमें बैठे बाकी यात्री शोर मचाने लगे, जल्दी चलो, हमारी बस निकल जायगी। पिताजी अकेले ही बारिशमें भीगते हुए चारों सामान लेकर घर आ गये।

उन्होंने घर पहुँचकर हाथ-मुँह धोकर भोजन किया। भोजनके बाद वे अपने साथ लाये सामान देखने लगे। उन्हें लगा कि उनका कुछ सामान बैग खुल जानेके कारण टैक्सीकी

डिक्कीमें ही गिर गया। चूँकि सामान कीमती और आवश्यक था, अतः मानसिक रूपसे पिताजीका उद्विग्न होना स्वाभाविक था। साथ ही सामान मिलनेकी आशा भी नहीं थी। उन्होंने यह बात हमें बतायी, तो मैंने कहा कि चलकर एक बार बस-स्टैंडपर देख लेते हैं। यदि टैक्सीवाला ऋषिकेशका हुआ तो शायद सामान मिल जाय। बारिश लगभग बंद-सी हो चली थी। मैं और पिताजी, दोनों मोपेडपर बैठकर बस-स्टैंडकी ओर चल पड़े। उस समय रातके लगभग पौने दस बज रहे थे।

बस-स्टैंड जाते समय मैंने पिताजीसे पूछा कि क्या आपने टैक्सीका नंबर देखा था। उन्होंने बताया कि रात होने और बारिश होनेके कारण वे टैक्सीका नंबर नहीं देख पाये।

खैर, बस-स्टैंड पहुँचकर हमने इधर-उधर देखा कि शायद वह टैक्सी-ड्राइवर दिखायी दे जाय। पर पिताजीको वह टैक्सी-ड्राइवर कहीं भी न दीखा। तब हमने वहाँ खड़े कुछ ड्राइवरोंको अपना सारा हाल बताया। हमने उन्हें जानकारी देते हुए यह भी बताया कि लगभग नौ बजे एक काले रंगकी टैक्सी हरिद्वारसे आयी थी। उसके ड्राइवर साहब हट्टे-कट्टे थे और कुर्ता-पाजामा पहने थे। उस टैक्सीमें हमारा कुछ सामान रह गया है। टैक्सीका नंबर हमें नहीं पता। उन ड्राइवरोंने हमें सलाह दी कि अब रातको दस बजे तो पता नहीं लग पायेगा। आप सुबह आकर पता कर लीजियेगा, फिर हम दोनों घर लौट आये।

अगले दिन सुबह मैं लगभग साढ़े आठ बजे सामान मिल जानेकी एक नगण्य आशा-सी लेकर बस-स्टैंड पहुँचा। संयोगकी बात कि जिस समय मैं बस-स्टैंडके मुख्य द्वारसे प्रवेश कर रहा था, ठीक उसी समय एक काली टैक्सी भी मेरे आगे-आगे बस-स्टैंडपर प्रविष्ट हुई। मैं ठीक उसी टैक्सीके पास पहुँच गया। उस टैक्सीके ड्राइवरने भी कुर्ता-पाजामा पहन रखा था। मैंने थोड़ेसे शब्दोंमें उससे रातकी घटनाका जिक्र किया।

मेरी बातें सुनकर वह तत्काल बोल पड़ा—वे तो रातको मेरी गाड़ीमें ही आये थे। फिर उसने अपनी बगलमें रखा सामान, मेरा परिचय और सामानकी पूरी चीजें मेरे सही-सही बतानेपर मुझे सौंप दिया। सारा सामान पूरा था।

मैंने पारितोषिकरूपमें उसे कुछ देना चाहा, किंतु उसने कुछ भी लेना स्वीकार नहीं किया तथा बोला कि यह तो मेरा कर्तव्य था कि आपका सामान आपको सौंप दूँ। सामान पहुँचानेके लिये मैं भी चिन्तित था, इसीलिये यहाँ लौटा हूँ। पर मुझे आपके मिलनेकी उम्मीद नहीं थी।

आजके युगमें जहाँ थोड़ेसे रुपयोंके लिये लोगोंकी बुद्धि लोभसे भ्रमित हो जाती है, वहाँ इस प्रकारके ईमानदार, निःस्पृह तथा सात्त्विक प्रवृत्तिके लोग विरले ही दीखते हैं।

—अनुपम भाटिया

(३)

प्रार्थनासे मजदूर जीवित हो उठा

यह घटना २० मई १९८९ की है। मैंने कुछ मजदूरोंको एक स्थानपर नींवमें दबी हुई ईंटोंको निकालनेका ठेका दिया। इस कार्यमें पाँच मजदूर लगे हुए थे। काम शुरू हो गया। अकस्मात् शामको चार बजे मेरे मनमें आया कि मैं उस स्थानपर जाकर देखूँ कि कितना काम हो चुका है और कितना काम शेष है। मौकेपर जाकर जब मैंने देखा तो तीन मजदूर तो ईंटें उठाकर दूसरी जगह चट्टा लगा रहे थे और दो मजदूर नींवमें खड़े हुए ईंटें निकाल रहे थे। नींव लगभग छः-सात फुट गहरी थी। ज्यों ही मैं उस स्थानपर पहुँचा, उसी समय मेरे देखते-देखते नींवकी कच्ची दीवार ढह गयी और दोनों मजदूर मलवेके नीचे दब गये। जैसे ही वे दोनों मजदूर मलवेमें दबे तभी सैकड़ों आदमी इकट्ठे हो गये। वे उन्हें बचानेका प्रयास करने लगे। पर नींवमें मलवा इतना अधिक गिर चुका था कि उन मजदूरोंको तत्काल निकाल पाना कठिन हो गया। चारों तरफ हाहाकार मचने लगा। इस असम्भाव्य दुर्घटनाके परिणामकी कल्पना करके मैं तो पूर्णतया हताश और व्याकुल हो गया। मेरे सामने अब रामको पुकारनेके अतिरिक्त कोई चारा नहीं था।

जब मैं सब तरफसे निराश हो गया तो मैंने कुछ क्षणोंके लिये अपनी अन्तरात्मासे भगवान्‌को स्मरण करते हुए अपने दुःखित एवं द्रवित हृदयसे प्रार्थना की कि 'हे प्रभो ! आपने जैसे द्रौपदीकी लाज रखी, वैसे ही मेरी भी रखें। मेरी लज्जा अब आपके ही हाथमें है। हे नाथ ! इनकी रक्षा अब आप ही कर सकते हैं।' इस प्रकार मैं तो निराश होकर भगवत्स्मरण और ध्यानमें निमग्न था। इधर दूसरी ओर जनता मिट्टी हटाकर

उन मजदूरोंको निकालनेका प्रयास कर रही थी। देखते-ही-देखते पंद्रह मिनट बाद उन दोनों मजदूरोंमेंसे एकको मिट्टीसे निकाल लिया गया। अभी उसमें श्वास बाकी थे। उसका उपचार प्रारम्भ कर दिया गया तथा दूसरे मजदूरको निकालनेका प्रयास भी जारी रहा।

परमपिता प्रभुकी लीलाको कोई नहीं जानता। आधे घंटेतक प्रयास करनेपर भी उसे निकाला नहीं जा सका। फिर भी भगवत्कृपासे लोगोंने अपना प्रयत्न जारी रखा। पैंतालिस मिनट बाद उस मजदूरका शरीर दिखायी दिया तथा वह बाहर निकाला गया। इतनी देर बाद उसके जीवित होनेकी आशा तो प्रायः क्षीण ही हो चुकी थी। मृतप्राय उस मजदूरको मेरी गाड़ीमें डाल दिया गया। मैं उसे जिला-अस्पताल ले जा रहा था। रास्तेभर मैं अपने दुःखी हृदयसे रोता हुआ भगवन्नामका उच्चारण कर रहा था तथा असहाय होकर भगवान्‌को पुकार रहा था। साथ ही यह प्रार्थना भी करता था कि 'हे नाथ! इसे जीवनदान दे दो। नहीं तो, जीवनभरका यह कलंक मेरे सिरपर आ जायगा।' उस मजदूरका भाई भी कारमें ही बैठा हुआ था।

इसी समय एक चमत्कारपूर्ण ढंगसे भगवत्कृपाका अपूर्व दर्शन हुआ। उस मृतप्राय मजदूरने अस्पतालसे लगभग सौ गज पहले धीरे-धीरे आँखें खोल दीं और अपने भाईसे कहने लगा—'भाई! मुझे बचा लो।' यह सुनते ही निराशा आशामें बदल गयी। मैंने आर्द्र-हृदयसे अकारणकरुणावरुणालय परमात्म-प्रभुको मन-ही-मन धन्यवाद दिया और उनके चरणोंमें नतमस्तक हो गया। मैंने कहा—'प्रभो! इस संकटकी घड़ीमें आपने मेरी प्रार्थना सुन ली।' इसके बाद मैं उसे अस्पतालमें ले गया तथा लगभग एक घंटे बाद वह मजदूर पूर्णतः ठीक होकर अपने घर चला गया। मैंने इस घटनामें अपने ऊपर भगवान्‌की असीम कृपाका अनुभव किया तथा सर्वशक्तिमान् परमात्माकी अद्भुत शक्तिमें मेरा विश्वास और सुदृढ़ हो गया।

—डॉ॰ दयानन्द गुप्त

मनन करने योग्य

[दो मन]

(पृथ्वीके अधिपति राजा और प्रवृत्तियोंसे मुक्त महात्माके मनकी बातचीत)

राजाके मनने महात्माके मनसे अभिमानभरे शब्दोंमें कहा—'तुम्हें सदा दुःखमें ही दिन बिताने पड़े, देखो, मैं कैसा सुखी हूँ। राजाकी धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, दास-दासियाँ सभी मेरे अधीन हैं। यहाँतक कि राजाका शरीर भी मेरे अधिकारमें है, जिसे जिस प्रकार चाहता हूँ, नचाता हूँ। तुम मेरी जातिके हो, इसलिये मैं तुम्हारा आवाहन करता हूँ कि तुम भी मेरे राज्यमें आकर वास करो और मेरे ही सदृश सुखी होओ।'

महात्माका मन—'मैं तुम्हारे देखनेमें दुःखी हूँ, पर मेरी दृष्टिमें तुम दुःखी हो।'

राजाके मनने व्यङ्ग्यसे हँसते हुए कहा—'तुम अपने दुःखको छिपानेके लिये व्यर्थ क्यों चेष्टा करते हो? राजाके महलोंमें रहनेवाला, सारे संसारके पार्थिव पदार्थोंको स्वतन्त्रतापूर्वक भोग करनेवाला मैं दुःखी हूँ और घोर जंगलमें टूटी-फूटी झोपड़ीमें दिन काटनेवाले तुम सुखी हो?' यह सुनकर महात्माका मन जोरसे हँस पड़ा।

राजाके मनको साधुके मनका हँसना बहुत बुरा लगा और उसने उत्तेजित होते हुए कहा—

'क्या तुम्हें मेरी बातोंपर विश्वास नहीं होता? तुम हँसे क्यों?'

'तुम्हारी मूर्खतापर! तुम्हारे अधिकारमें सारा बाह्य जगत् है और मेरे अधीन सारा अन्तर्जगत् है।'

'कहाँ? मैं तो देख नहीं पाता।'

'तुम्हें वह दिखायी नहीं पड़ सकता! वहाँके दरवाजे तुम्हारे लिये बंद हैं।'

'समझ गया, वहाँ तुम्हें भी बंद ही रहना पड़ता होगा, इसीलिये तुम्हें शायद बाहरी दुनियाके ऐश्वर्योंका अनुभव नहीं है और जो पराधीन है, जिसपर दूसरेका कड़ा शासन है, उसे स्वतन्त्रताके सुखका अनुभव कहाँ?'

'तुम जानते ही नहीं स्वतन्त्रता किसे कहते हैं? वासना और अहंकारके जटिल बन्धनोंमें जकड़े हुए, निम्न प्रकृतिके

प्रवाहमें असहायकी तरह बहते हुए—तुम अपनेको स्वाधीन मानते हो ? सबसे बढ़कर आश्चर्य तो इस बातका है कि तुम परवश हो, पराधीन हो, पर तुम्हें अपनी इस हीन दशाका ही पता नहीं है ! जिस दयनीय अवस्थामें पड़े हो उसीमें अपनेको सुखी समझ रहे हो और इसीसे उससे निकलनेकी चेष्टातक नहीं करते। यदि मुझे देखकर तुम्हें तरस आता है तो तुम्हारी अवस्थाको देखकर मुझे सौ गुना तरस आता है।'

राजाके मनके अभिमानको कुछ ठेस-सी लगी, कुछ देर चुप रहकर वह फिर बोला—

'संसारमें जितने प्रकारके पदार्थ हैं, उन सबका मैं भोक्ता हूँ—उनका उपभोग कर मैं सुखी होता हूँ। जिसे आँखें न हों, वही मुझे दुःखी कह सकता है।'

'तुम एक क्षणके लिये भी स्थिर नहीं रह सकते। जो अशान्त है, उसे सुख कहाँ ? तुम एक क्षण इस चीजपर तो दूसरे क्षण दूसरी चीजपर सुखकी खोजमें दौड़ा करते हो, पर तुम्हें ऐसी कोई चीज प्राप्त ही नहीं होती, जो तुम्हारे सुखकी तृष्णाको सदाके लिये मिटा सके। जो स्वयं अपूर्ण है, उसके द्वारा पूर्णताकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसके सिवा, दुःख तो सदा छायाकी भाँति तुम्हारे पीछे लगा रहता है, पर मैं इस महात्माके हृदयमें सब अभावोंसे शून्य होकर, सदा एकरस आनन्दमें निवास करता हूँ। संसारके सुख-दुःख, शोक-ताप, मान-अपमान मुझे छू नहीं सकते। जबसे मैंने अध्यात्म-रसका आस्वादन किया है और मैं अपनेको स्वाधीन बना सका हूँ, तबसे मेरी प्रवृत्ति सदा आत्माके अनुकूल रहती है और मैं अपने-आपमें मस्त रहता हूँ। आज मैं संसारमें निर्भय—निर्द्वन्द्व हूँ। मृत्यु भी मेरी निर्भयताको डिगा नहीं सकती।'

'मृत्यु ! मृत्युसे भी नहीं डरते ?' राजाके मनने आश्चर्यभरे शब्दोंमें कहा।

'हाँ-हाँ, मैं मृत्युसे भी नहीं डरता। मृत्यु मेरा स्पर्श नहीं कर सकती। मैं अमृतका पुत्र हूँ।'

'मेरा तो मृत्युके नामसे ही भयके मारे सारा शरीर काँप उठता है, मित्र ! मैं तुम्हारी स्वजातिका हूँ, क्या मुझे भी बता सकते हो—मृत्युसे किस प्रकार त्राण पाया जा सकता है ?'—नम्रतापूर्वक राजाके मनने कहा।

'मित्र ! मैं भी तुम्हारी ही तरह सुखरहित संसारमें सुख-भोग खोजता फिरता था, पर जबसे इस महात्माने मुझे बच्चेकी भाँति शनैः-शनैः समझा-बुझाकर बाहरसे मुँह मोड़कर भीतरकी ओर घुसनेका चसका लगाया, तबसे मुझे अपनी शक्तिका अनुभव होने लगा और आज मैं पहलेकी अपेक्षा अपनेको हजारों गुना अधिक शान्त, प्रसन्न और शक्तिशाली पा रहा हूँ।'

'तुम्हारी बातें मुझे असम्भव-सी जान पड़ती हैं। एक जगह रुकनेसे तो मेरा दम घुटने लगता है। फिर हृद्‌गुहामें पैठना किस तरह सम्भव है ?'

'मित्र ! मैं भी पहले तुम्हारी ही तरह निराश और बड़ा हठी था और महात्माके चेष्टा करनेपर भी अपनी पुरानी चाल छोड़ना नहीं चाहता था, पर जबसे मैंने अपने हृद्-रत्नाकरमें गोता लगाना सीखा है, मैं निहाल हो गया हूँ।'

राजाका मन सोचने लगा—'साधुका मन कैसे जीवन और उत्साहसे भरा है और मैं····'

महात्माके मनने कहा—'क्यों ? क्या सोच रहे हो ?'

'तुम जो कुछ कह रहे हो, इसपर विश्वास नहीं होता।'

'देखो भाई ! हममें प्रत्येकको भगवान्‌ने बड़ी अद्भुत शक्ति दी है, पर हम अपनी चञ्चलताके कारण अपनी शक्ति व्यर्थमें खो देते हैं। जिस प्रकार जलकी भाप खुली छोड़ देनेसे वह कोई कार्य नहीं कर सकती, उसी प्रकार चञ्चल मन कोई कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, परंतु जैसे वही भाप यदि किसी यन्त्रमें बंद कर रख दी जाय तो अति आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाती है। उसी प्रकार यदि हम एकाग्र होना सीख लें तो हमारी शक्तिको देखकर दूसरे चकित हो जायँगे।'

'तुम्हारी बातें सुननेमें बहुत अच्छी लगती हैं, पर मुझसे यह सब नहीं हो सकेगा। मुझमें इतनी शक्ति नहीं है। अच्छा, अब मैं जाता हूँ। मेरा दम घुट रहा है।'

'शक्ति नहीं है'—ऐसा मत कहो, कहो—'इच्छा नहीं है।'

'शक्तिशाली बननेकी इच्छा किसे नहीं होती, पर नित्य नवीन पुष्पोंका पराग छोड़कर संयमका साँकल पहनने जाय कौन ?'

* * *

सदाचार

धर्मराज युधिष्ठिरके पूछनेपर पितामह भीष्मने सदाचारका वर्णन इस प्रकार किया—

दुराचारी, दुष्ट चेष्टावाला, दुष्ट बुद्धि और घोर दुष्ट कामोंके करनेमें साहसी मनुष्य असत्पुरुष कहलाता है। इसके विपरीत सदाचारमें लगे हुए पुरुषको सत्पुरुष कहते हैं। जो पुरुष राजमार्गमें (आम रास्तोंपर), गोशालामें और अन्नके ढेरके पास या अन्नसे भरे खेतमें मल-मूत्रका त्याग नहीं करते, नित्य प्रातःकाल शौचादि क्रियाके बाद मिट्टी-जलसे भलीभाँति हाथ-पैर आदि धोकर नदीमें स्नान-आचमन कर शुद्ध जलसे पितरोंका तर्पण करते हैं, वही सत्पुरुष कहलाते हैं। जहाँ नदी न हो, वहाँ सरोवर, बावड़ी या कुएँपर स्नान करके तर्पण आदि नित्य-कर्म करने चाहिये। नित्य सूर्यका उपस्थान करना, सूर्योदय होनेपर न सोना, प्रातःकाल पूर्वाभिमुख होकर और सायंकाल पश्चिमकी ओर मुख करके दोनों समय नियमसे संध्या-वन्दन करना, भोजनके समय दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख धोकर पूर्वकी ओर मुख करके मौन धारणकर भोजनकी निन्दा न करते हुए सात्त्विक और रुचिकर पदार्थ खाना, भोजनके बाद हाथ धोकर उठना, रात्रिमें भीगे पैर न सोना, ये सभी सदाचार हैं।

कल्याण चाहनेवाले पुरुषको मार्गमें आये हुए यज्ञशालादि पवित्र स्थान, बैल, देवता और गायोंके बैठनेके स्थान, चौरास्ते, ब्राह्मण, धर्मनिष्ठ मनुष्य और पवित्र वृक्षादिकी प्रदक्षिणा करनी चाहिये और अतिथि, अपने नौकर और पोष्य वर्गके लिये भोजनमें कदापि पंक्तिभेद न करना चाहिये। (अर्थात् अपने लिये अच्छा और इन सबको उससे हीन भोजन न देना चाहिये।)

मनुष्यको उचित है कि प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय संधिकालमें भोजन न करे। हवनके समय अग्निमें हवन करनेवाला और केवल ऋतुकालमें ही स्त्री-समागम करनेवाला पुरुष ब्रह्मचारी ही मानने योग्य होता है। ब्राह्मणोंके भोजनके बाद अवशिष्ट—बचा भोजन माताके दूधके समान हितकारी होता है, इसलिये कल्याणकामी पुरुषोंको ऐसा ही भोजन करना चाहिये। मिट्टीको वृथा खुरचनेवाले, दाँतोंसे नख काटनेवाले, तिनका तोड़नेवाले और सर्वदा जूँठे हाथ रखनेवालेकी आयु कम हो जाती है। मांस-त्यागी पुरुष यजुर्वेदको जाननेवाले अध्वर्युके संस्कारयुक्त यज्ञका, मनुष्योंके लिये वध किया हुआ आदि कोई-सा भी मांस न खाये और ऐसे हिंसायुक्त कोई भी कर्म न करे। अपने देशमें या परदेशमें कहीं भी अपने स्थानपर आये हुए अतिथिको भूखा नहीं रहने देना चाहिये। जीविकाके लिये उपार्जन किया हुआ हर एक प्रकारका द्रव्य पिता आदि बड़ोंको समर्पण कर देना चाहिये। गुरुजन जब अपने पास आवें, तब उन्हें उत्तम आसन देकर प्रणाम-पूजा आदिद्वारा उनका यथायोग्य सत्कार करना चाहिये। ऐसा आचरण करनेवाले मनुष्य दीर्घायु, यशस्वी और लक्ष्मीवान् होते हैं।

गुरु ही सब तीर्थोंका सार है और अग्नि सब पवित्र पदार्थोंका निचोड़ है। शिष्ट पुरुषोंके आचरण पवित्र हैं और गायकी पूँछके बालोंका स्पर्श किये हुए पदार्थ पवित्र माने जाते हैं। अपने परिचितोंसे मिलनेपर उनसे कुशल-समाचार पूछना और प्रातः-सायं ब्राह्मणोंको प्रणाम करना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। देव-मन्दिरमें, गायोंके बीचमें, ब्राह्मणोंके कर्मोंमें, वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें और भोजन करते समय द्विजोंको दाहिना हाथ ऊपर रखना चाहिये। सबेरे-शाम नित्य ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन करनेसे व्यापारियोंकी व्यापारमें उन्नति होती है, किसानोंकी खेती उत्तम होती है, धन-धान्यकी वृद्धि होती है और इन्द्रिय-तृप्तिकारक उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं।

ब्राह्मणको भोजन कराते समय यजमान अन्न परोसकर पूछे कि 'ठीक है न ?' तब भोजन करनेवाला उत्तर दे कि 'बहुत ठीक है', जल देकर कहे 'तृप्तिकारक है न ?' तब पीनेवाला कहे कि 'सुतर्पणम्' (बड़ा तृप्तिकारक है), पायस आदि देकर कहे कि 'अच्छी बनी है ?', तब ब्राह्मण कहे कि 'सुशृतम्' (अच्छी बनी है)।

हर एक रोगी मनुष्य हजामत बनवानेपर, छींक आनेपर, स्नान और भोजन करनेपर (सब पुरुष) ब्राह्मणोंको प्रणाम करें, यह प्रणाम आयु देनेवाला होता है। सूर्यके सामने बैठकर लघुशंका नहीं करनी चाहिये और अपने मलको नहीं देखना चाहिये। अपनेसे बड़ोंको न तो 'तू' कहना चाहिये और न उनका नाम लेकर ही पुकारना चाहिये। अपनेसे छोटे या समान अवस्था-वालोंका नाम लेनेमें अथवा उन्हें 'तू' कहनेमें दोष नहीं है।

पापी मनुष्योंका हृदय ही उनके पाप-कर्मोंको बता देता है। जो अपने किये हुए पापोंको जान-बूझकर महापुरुषोंके सामने छिपाते हैं, वे निःसंदेह पतित हो जाते हैं। अपने किये हुए पापोंको मनुष्य नहीं बतलाते तो क्या है, (अन्तरिक्षचारी) देवता तो उन्हें देखते ही हैं। अपने पापोंको गुप्त रखनेसे किया हुआ पाप-कर्म उलटा पापमें और प्रवृत्त करके मनुष्यके पापोंको बढ़ाता है और धर्मको गुप्त रखनेसे धर्मकी वृद्धि होती है, इसलिये धर्मको सदा गुप्त रखनेका प्रयत्न करना चाहिये और पापको कभी नहीं छिपाना चाहिये। किये हुए पापोंको मनुष्य भूल जाता है, परंतु वह धर्मविरुद्ध पाप करनेवाला यह नहीं जानता कि उसका वह पाप उसे वैसे ही ग्रस लेगा, जैसे चन्द्रमाको राहु ग्रसे बिना नहीं छोड़ता।

आशासे एकत्र किया हुआ धन बड़े ही दुःखसे भोगनेमें आता है। विद्वान् ऐसे धनसंग्रहके कार्यकी प्रशंसा नहीं करते और मृत्यु भी उसकी यह राह नहीं देखती कि उसने आशापूर्वक एकत्रित किये हुए धनका उपभोग किया है या नहीं। धर्मका आचरण शुद्ध मनसे होता है, इसलिये मनसे सदा सबका भला मनाना चाहिये। धर्माचरण करनेमें दूसरेकी सहायता या साथकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये। धर्म ही मनुष्योंकी जड़ है, धर्म ही स्वर्गमें देवताओंको अमर बनाता है। जो धर्माचरण करते हैं, वे मृत्युके अनन्तर भी नित्य सुख भोगते हैं।

माँका उपदेश

'माँ ! उस दिन तुमने कहा था कि ध्रुव पाँच वर्षका था तभी उसको भगवान्‌के दर्शन हो गये थे। मैं तो सात वर्षका हो गया। क्या मुझे भी भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं और यदि हो सकते हैं तो उसका कौन-सा उपाय है ?' बच्चेकी मीठी वाणी सुनकर माँने उसे गोदमें लेकर कहा—'बेटा ! तेरा बड़ा अच्छा स्वभाव है जो तूने ऐसी अच्छी बात पूछी है। बच्चे तो दूर रहे, बड़े भी भगवान्‌के दर्शनकी इच्छा नहीं करते। मैं बड़ी ही बड़भागिन हूँ जो तू मेरा बेटा होकर भगवान्‌के दर्शनकी चाह करता और उपाय पूछता है। बेटा ! भगवान् बड़े ही दयालु हैं, उनके दर्शन जो चाहता है, उसीको हो सकते हैं। बस, चाह सच्ची होनी चाहिये। ध्रुवको तो वनमें रहकर बहुत कड़ी तपस्या करनी पड़ी थी, परंतु वह सत्ययुग था, अब तो कलियुग है। उतनी कड़ी तपस्या करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। ध्रुवका निश्चय बड़ा पक्का था और ध्रुव सदा शुद्ध रहकर भगवान्‌का नाम जपा करता था। तुम भी ध्रुवकी तरह पक्का निश्चय करके भगवान्‌का नाम जपो। तुम्हें भगवान्‌के दर्शन होंगे।

पक्का निश्चय दो बातका—

१-भगवान् सदा मेरे पास ही रहते हैं। २-भगवान् अवश्य दर्शन देंगे।

शुद्ध भाव पाँच तरहसे—

१-कभी झूठ नहीं बोलना। २-कभी किसीसे झगड़ा नहीं करना। ३-कभी किसीको दुःख नहीं देना। ४-दूसरेकी चीज कभी नहीं लेना। ५-किसीकी चुगली या बुराई नहीं करना।

नाम-जप—

पढ़ने और खाने-पीनेसे जब फुरसत मिले, तब जीभसे सदा भगवान्‌का नाम रटा करना। बस, इसी तपसे तुम्हें भगवान् मिल जायँगे। परंतु लल्ला ! जब तुम्हें भगवान्‌के दर्शन हों, तब मुझको भी करवा देना। भगवान्‌से कहना, 'मेरी माँको भी दर्शन देने पड़ेंगे।'

बच्चेने कहा—'माँ ! जब तुम्हारे बताये हुए उपायसे मुझे भगवान्‌के दर्शन हो जायँगे, तब तुमको क्यों न होंगे, मैं भी अड़ जाऊँगा। एक बार उन्हें मेरे सामने आने तो दो।'

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका-कृत

जीवनोपयोगी, दुर्लभ और सस्ता सत्साहित्य पढ़ें

मनुष्यका परम कर्तव्य

इस पुस्तकमें मनीषी लेखकने मानवमात्रके कल्याणके लिये उपयोगी गीतोक्त निष्काम-कर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, संयम, सदाचार, सत्य, श्रद्धा, समता, भगवत्प्रेम और भगवान्की दया आदि साधनोंपर विस्तृत प्रकाश डाला है। इस प्रकार यह लेख-संग्रह कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तियोगी—तीनों प्रकारके साधकोंके लिये परमोपयोगी है। पृष्ठ-संख्या ४१०, सचित्र, मूल्य ३.५० (तीन रुपये पचास पैसे) मात्र, डाकखर्च ८.०० (आठ रुपये) अतिरिक्त।

आत्मोद्धारके सरल उपाय

मानव-जीवनके सर्वोपरि और एकमात्र प्राप्तव्य आत्मोद्धारके लिये करणीय सुगम उपायों तथा सरल साधनोंका इसमें उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ—समताका महत्त्व, निष्काम-सेवासे शीघ्र कल्याण, सबसे भगवद्बुद्धिपूर्वक समान और निष्काम प्रेम, आत्मोद्धारके सरल उपाय एवं हेतुरहित प्रेमी और दयालु भगवान्का सौहार्द आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंपर विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। पृष्ठ-संख्या २१४, बहुरंगे आकर्षक चित्रावरणयुक्त, मूल्य ३.५० (तीन रुपये पचास पैसे) मात्र, डाकखर्च ७.५० (सात रुपये पचास पैसे) अतिरिक्त।

परमशान्तिका मार्ग

प्रस्तुत पुस्तकमें भगवत्प्राप्ति अथवा परमशान्तिके अनुसरणके लिये विविध कल्याणकारी साधनोंका उल्लेख किया गया है। इनमें आस्तिकता, उत्तम भाव, श्रद्धा-भक्ति, सद्गुण-सदाचार, ज्ञान-वैराग्य, भगवत्प्रेम एवं परम सेवासे कल्याण आदि साधनोपयोगी विषयोंके अतिरिक्त तमोगुणके त्यागसहित आत्महत्या तथा ऋण लेनेके दुष्परिणामोंको भी चेतावनी-रूपमें समझाया गया है। पृष्ठ-संख्या ४१६, रंगीन चित्र १, सुन्दर बहुरंगे आवरणसहित, मूल्य २.५० (दो रुपये पचास पैसे) मात्र, डाकखर्च ७.५० (सात रुपये पचास पैसे) अतिरिक्त।

आत्मोद्धारके साधन

महाभारत आदि शास्त्रोंके आधारपर मानवमात्रकी सर्वविध उन्नतिके लिये आवश्यक गुरु-भक्ति, मातृ-भक्ति, पितृ-भक्ति, ईश्वर-भक्ति, पातिव्रत्य, तप, सत्य, न्याय, वर्णाश्रम-धर्म, तीर्थ-महिमा, अतिथियों और गौओंकी सेवा आदि महत्त्वपूर्ण विषयोंका प्रतिपादन इस पुस्तकमें किया गया है। साधकों तथा जिज्ञासुओंके लिये इसका अनुशीलन उपयोगी है। पृष्ठ-संख्या ६४६, रंगीन चित्र १, आकर्षक बहुरंगे आवरणयुक्त, मूल्य ३.५० (तीन रुपये पचास पैसे) मात्र, डाकखर्च ८.०० (आठ रुपये) अतिरिक्त।

कल्याण-प्राप्तिके उपाय (तत्त्व-चिन्तामणि भाग—१)

आजके इस भौतिकवादी नितान्त अशान्त युगमें सच्चे जिज्ञासुओं और साधकोंके लिये भगवद्भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, निष्काम-कर्मयोग, सदाचार और सद्विचार-सम्बन्धी प्रेरणादायी लेखोंका यह संकलन सर्वथा पठनीय तथा स्वाध्यायोपयोगी है। पृष्ठ-संख्या ३५२, रंगीन चित्र १, आकर्षक बहुरंगे सचित्र, आवरणसहित, मूल्य ३.५० (तीन रुपये, पचास पैसे) मात्र, डाकखर्च ७.५० (सात रुपये पचास पैसे) अतिरिक्त।

भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय (तत्त्व-चिन्तामणि भाग—२)

मनीषी लेखकके अनुभवगम्य अध्यात्म-भावोंसे युक्त, स्वकर्तव्य-बोध करानेवाले ४८ निबन्धोंका यह अनूठा संग्रह है। इसमें कुछ ऐसे लेख भी हैं, जिनमें भ्रातृ-धर्म और पातिव्रत्य-धर्मपर विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। पृष्ठ-संख्या ६२५, रंगीन चित्र १, आकर्षक बहुरंगे सचित्र, आवरणयुक्त, मूल्य ६.०० (छः रुपये) मात्र, डाकखर्च ७.५० (सात रुपये पचास पैसे) अतिरिक्त।

अमूल्य-वचन (तत्त्व-चिन्तामणि भाग—४)

आधुनिक पाश्चात्त्य शिक्षाके कुप्रभावसे स्त्री, बालक और शास्त्रानभिज्ञ लोगोंमें बढ़ती हुई उच्छृङ्खलता तथा नास्तिकतासे बचनेके लिये पुस्तकमें दिये गये संत-महात्मा और धार्मिक पुरुषोंके लक्षणोंसहित सदाचार एवं ईश्वर-भक्ति-विषयक सामग्री है। पृष्ठ-संख्या ५६५, सुन्दर आकर्षक सचित्र-आवरण, मूल्य ५.०० (पाँच रुपये) मात्र, डाकखर्च ८.०० (आठ रुपये) अतिरिक्त।

हमारा लक्ष्य और कर्तव्य (तत्त्व-चिन्तामणि भाग—५)

इसमें लेखक महानुभावके अध्यात्म-चिन्तनका सार अनुभव-सिद्ध तत्त्वोंके आधारपर प्रस्तुत हुआ है। आसुरी दुर्गुणोंको त्यागकर आदर्श सद्गुणोंको धारण करनेकी सत्प्रेरणा ही इसके लेखकका मूल उद्देश्य है। अपनी ऐहिक और पारलौकिक उन्नति चाहनेवाले और मनुष्य-जीवनके परम ध्येयकी प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले नर-नारियोंके लिये इस पुस्तकका अध्ययन और मनन लाभप्रद है। पृष्ठ-संख्या ४९६, आकर्षक सचित्र आवरण-पृष्ठ, मूल्य ३.५० (तीन रुपये पचास पैसे) मात्र, डाकखर्च ८.०० (आठ रुपये) अतिरिक्त।

ईश्वर और धर्म क्यों ? (तत्त्व-चिन्तामणि भाग—६)

इस पुस्तकके विभिन्न लेखोंमें अधिकारी लेखकने हमारे देश और संस्कृतिके अग्रणी कुछ आदर्श पूर्व महापुरुषों एवं श्रेष्ठ आदर्श देवियोंके चरित्र-चित्रणके साथ भगवान्‌के स्वरूप-तत्त्व और साधन-भजन-सम्बन्धी प्रेरक सामग्रीका समायोजन किया है। साथ ही मानव-जीवनके सुधारके अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंपर भी विस्तृत प्रकाश डाला है। पृष्ठ-संख्या ४५६, रेखा-चित्र १, सुन्दर आकर्षक सचित्र पृष्ठावरण-युक्त, मूल्य ३.०० (तीन रुपये) मात्र, डाकखर्च ८.०० (आठ रुपये) अतिरिक्त।

व्यवहारमें परमार्थकी कला

संसारके प्रत्येक कार्य और व्यवहारसे अप्रभावित रहकर प्रत्येक प्राणीको भगवान्‌का स्वरूप और प्रत्येक घटना तथा कार्यमें भगवान्‌की लीलाका दर्शन ही 'व्यवहारमें परमार्थकी कला' है। इस उद्देश्यसे लेखक महोदयने इस पुस्तकके सतरह लेखोंमें—हमारा लक्ष्य और कर्तव्य, त्रिविध तप, ब्रह्मचर्य, धर्मतत्त्व, प्राचीन तथा आधुनिक संस्कृति एवं शोक-नाशके उपाय आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंपर प्रकाश डाला है। पृष्ठ-संख्या २०८, आकर्षक बहुरंगे चित्रावरण-सहित, मूल्य ३.५० (तीन रुपये पचास पैसे) मात्र, डाकखर्च ७.५० (सात रुपये पचास पैसे) अतिरिक्त।

श्रद्धा-विश्वास और प्रेम

पारमार्थिक अभ्युदय और ईश्वरोपासनाके लिये श्रद्धा, विश्वास और प्रेमकी महत्ता एवं आवश्यकता निर्विवाद है। प्रस्तुत पुस्तकमें ऐसे ही विशेष साधनों और उपक्रमोंपर प्रकाश डाला गया है, जो साधक-जीवनके लिये उपयोगी और उत्तम दिशा-निर्देश है। उदाहरणार्थ साधन-सम्बन्धी कुछ बातें, काम क्ररते हुए भगवत्प्राप्तिकी साधना, भगवान्‌की दया, श्रद्धा-विश्वास और प्रेम, भगवन्नामकी अनन्त महिमा और अनन्य प्रेम आदि इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय विषय हैं। पृष्ठ-संख्या २१९, आकर्षक बहुरंगे चित्रावरण-सहित, मूल्य ३.५० (तीन रुपये पचास पैसे) मात्र, डाकखर्च ७.५० (सात रुपये पचास पैसे) अतिरिक्त।

व्यवस्थापक—'गीताप्रेस', पो०—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

चिरप्रतीक्षित 'शक्ति-अङ्क'का पुनर्मुद्रण

लगभग ५६ वर्षपूर्व विक्रम-संवत् १९९१में 'कल्याण' के ९वें वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें 'शक्ति-अङ्क' प्रकाशित हुआ था। उस समय बहुत सीमित संख्यामें छपने और शीघ्र समाप्त हो जानेके कारण बहुसंख्यक जिज्ञासु-जन इससे समुचित लाभ न उठा सके। इसकी उत्तरोत्तर बढ़ती लोकप्रियता, माँग और अनेक प्रेमी सज्जनों तथा 'कल्याण'के पाठकोंद्वारा इसके पुनर्मुद्रण-हेतु निरन्तर प्रेमाग्रहको दृष्टिगत रखकर अब वही 'शक्ति-अङ्क' ग्रन्थाकारमें पुनर्मुद्रित किया गया है। इसकी ७०३ पृष्ठोंकी पाठ्य-सामग्रीमें परब्रह्म परमात्माके शक्तिरूपके तात्त्विक विवेचनसहित महिमा, तत्त्व-रहस्य, लीला, धाम तथा उपासना आदिका विशद वर्णन है। इसमें भारतके सुप्रसिद्ध शक्तिपीठोंका सचित्र दिग्दर्शन और देवी-भगवती-सम्बन्धी रोचक आख्यान तथा कथा-प्रसङ्ग भी हैं। रंगीन चित्र १६, सादे चित्र २१० तथा अनेक रेखा-चित्रों और यन्त्रोंसे सुसज्जित इस ग्रन्थका मूल्य ४५.०० (पैंतालीस रुपये) मात्र तथा डाकखर्च ८.०० (आठ रुपये) अतिरिक्त है। इस प्रकार कुल ५३.०० (तिरपन रुपये) मात्र भेजकर इसे प्राप्त कर सकते हैं।

इसकी अधिक प्रतियाँ (थोक-रूपमें) 'गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभाग'से पुस्तकोंके आर्डरके साथमें मँगानेपर नियमानुसार १५% प्रतिशत कमीशन दिया जायगा। इच्छुक सज्जनोंको मँगानेमें शीघ्रता करनी चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

वर्ष ६४

संख्या १२

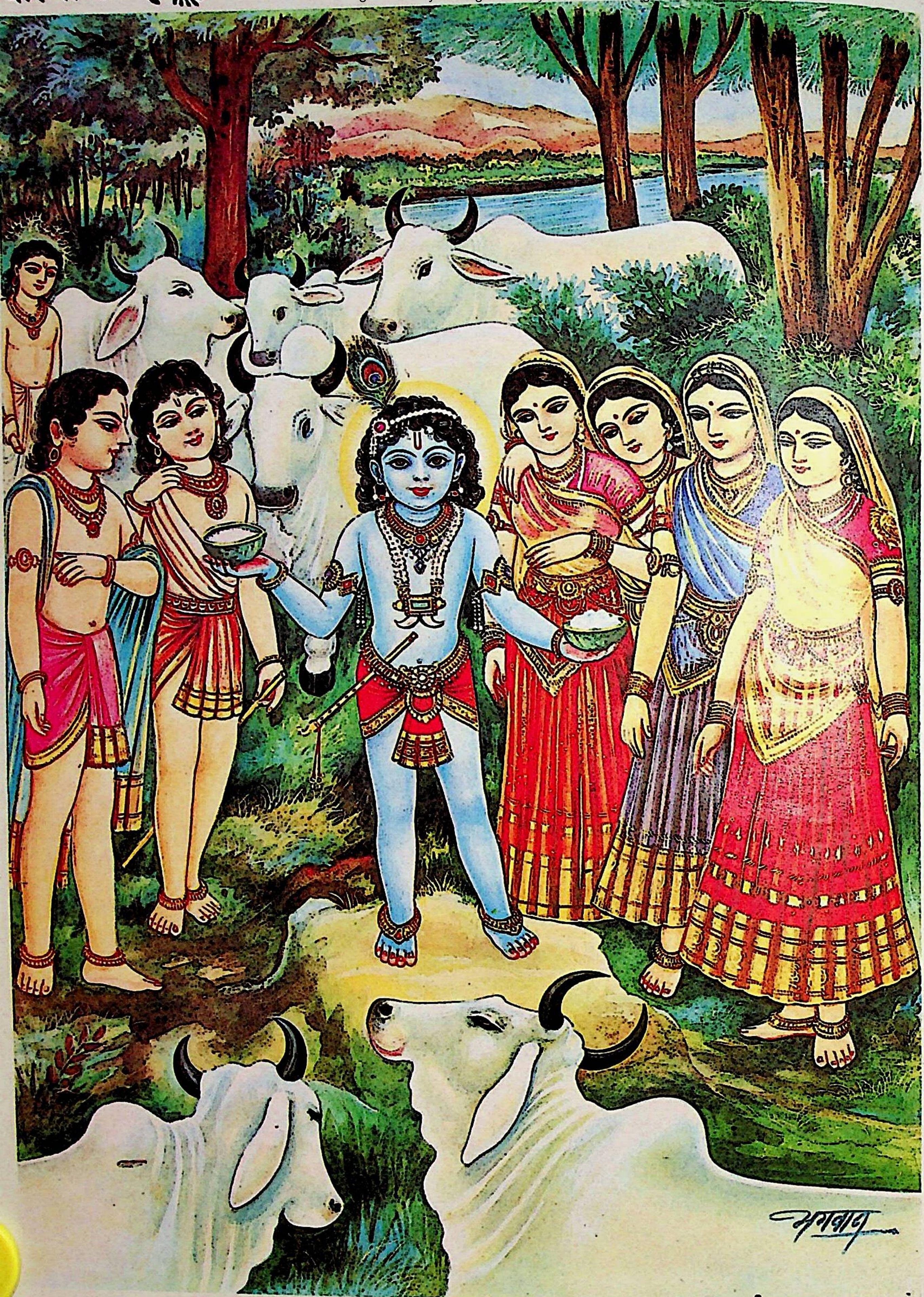

बालगोपालकी अनूठी छबि

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

वर्ष ६४ गोरखपुर, सौर फाल्गुन, वि॰सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, मार्च १९९१ ई॰
संख्या १२
पूर्ण संख्या ७६९

बालगोपालकी अनूठी छबि

वृन्दा-विपिन तपन-तनया-तट शोभित पादप-लता तमाम।
कटि मुरली, घिर रहे मुग्ध गौ-गोपी-गोपोंसे अभिराम ॥
अलंकार-भूषित तन सुन्दर कंठ हार बघनखा ललाम।
मोर-मुकुटधर, खीर-पात्र कर लिये खड़े मनमोहन श्याम ॥

कल्याण

अपनेको उत्तम समझकर न तो कभी अभिमान करो और दूसरेको बुरा समझकर न कभी उससे घृणा करो। जीवनमें न मालूम कितनी बार उत्थान-पतनकी घड़ियाँ आती हैं। जिसका जीवन अन्तिम श्वासतक उत्तम निभ जाय वही उत्तम है और जो जीवनमें कभी न सुधरे वही बुरा है।

अपने जीवनकी ओर सदा चौकन्नी नजरसे देखते रहो, एक-एक कदम बड़ी सावधानीसे सँभलकर रखो, गिरनेके लिये जगत्में चारों ओर इतने गहरे गड़हे हैं कि जिनकी गिनती ही नहीं हो सकती। जरा-सी असावधानी तुम्हें न मालूम कितनी गहरी खाईंमें गिरा देगी। मनकी प्रत्येक क्रिया और इन्द्रियकी हर एक चेष्टाको प्रभुकी ओर लगी रहनेवाली अव्यभिचारिणी बुद्धिके अधीन रखो। सावधान, एक क्रिया भी ऐसी न होने पावे जो प्रभुसे विमुख ले जानेवाली और दुष्कर्मके गड़हेमें गिरानेवाली हो।

बुरी वासना और पापबुद्धिपर कभी दया न करो, जरा-सी बुरी वासना और पापबुद्धिको भी कभी हृदयमें आश्रय मत दो। आश्रय पाकर इनके बढ़ते देर नहीं लगती। बढ़ जानेपर फिर ये बे-काबू हो जाती हैं और सारी इन्द्रियोंपर अपना प्रभुत्व फैलाकर मनमानी करती-कराती हैं।

अपनेको भगवान्के बलसे बलवान् समझकर कुवासना, कुचिन्ता और कुबुद्धिको नजदीक भी न आने दो, जोर करें तो लड़कर इनपर विजय प्राप्त करो। स्मरण रखो—तुम बड़े बलवान् हो। आत्माके समान शक्तिशाली कोई नहीं है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सभी आत्माके गुलाम हैं। तुम आत्मा हो, परमात्माके सनातन अंश हो। मन, बुद्धि और उनमें निवास करनेवाले कामकी ताकत तुम्हारी ताकतके सामने तुच्छ है, बल्कि तुम्हारी ही शक्तिसे उनमें शक्ति आती है। अपनेको परमात्माके सामने दीन समझो, परंतु विषयबुद्धिके नाश करनेके लिये कभी दुर्बल मत समझो। वास्तवमें ही तुम दुर्बल नहीं हो। तुम्हारे दुर्बलताके निश्चयने ही तुम्हें दुर्बल बना रखा है। अपने स्वरूपको सँभालो और निर्भय हो जाओ।

अपनी निन्दा सुनकर न घबराओ, न उत्तेजित होओ, न शोक करो और न धैर्य ही छोड़ो। अहंकारको अलग करके अपनेको देखोगे तो निन्दाका तुमपर कोई असर नहीं दीखेगा। आत्माकी कोई निन्दा कर नहीं सकता, नाम-रूपकी निन्दा-स्तुतिमें कुछ हानि-लाभ नहीं है। जगत्में न सबकी सब समय सब निन्दा करते हैं और न स्तुति ही करते हैं। जगत्की निन्दा-स्तुतिकी कुछ भी परवा न करके सदा निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक निरन्तर ईश्वरकी आज्ञा-पालन करनेमें लगे रहो।

तुम परमेश्वरकी आज्ञा समझकर किसी सत्कार्यको करते हो और वर्तमान जगत्के अधिकांश विद्वान् कहानेवाले लोग भी यदि तुम्हारे उस सत्कार्यके विरुद्ध मत रखते हैं तो कोई चिन्ता नहीं। अपना सत्कार्य कभी मत छोड़ो, परमेश्वरपर भरोसा रखकर अपने कर्तव्यपर डटे रहो। सच्ची बात आखिर सच्ची ही रहेगी। एक दिन दुनिया सत्यको मान लेगी और यदि न माने तब भी तुम्हारी कोई हानि नहीं है।

दुनियाकी प्रशंसा पानेके लिये, नेतृत्वके लिये, मान या धनके लिये अपना धर्म कभी मत छोड़ो। दुनियाकी प्रशंसासे कुछ भी नहीं बनता। धर्मत्यागका फल बहुत बुरा होगा। आज धर्मत्याग करनेवालोंकी प्रशंसा सुनकर भविष्यके फलसे बेखबर मत होओ।

त्याग करो, परंतु त्यागका अभिमान न करो। त्यागकी स्मृतिको भी भूल जाओ। दान करो, परंतु अहसान न करो, बदला न चाहो, उसे भूल जाओ। सेवा करो, परंतु सेवक मत कहलाओ। जो सेवा करता है और सेवक नहीं कहलाता, वही असली सेवा करता है।

सफलतापर कभी गर्व न करो, यह न समझो कि हमारी बुद्धि और शक्तिसे सफलता मिली है। ईश्वरका धन्यवाद करो और उसीकी शक्तिका प्रभाव समझो एवं दीन होकर ईश्वरसे प्रार्थना करो—'प्रभो ! तुम्हारी इच्छासे होनेवाली सफलताका अभिमान मेरे हृदयमें कभी न उत्पन्न हो, मैं तुम्हारी शक्तिके प्रभावको कभी न भूलूँ।'

मनमें सदा पवित्र भाव रखो, सबका हित चाहो, सबको उत्तम परामर्श दो, कभी न वाणीसे बुरी सम्मति दो, न अपनी करनीसे बुरी बात सिखाओ और न मनमें बुरी बात रखकर उसे वायुमण्डलमें जाने दो। जो दूसरोंमें बुरे भाव फैलानेमें सहायक होता है, वह बहुत बड़ा पाप करता है। उसका कभी हित नहीं हो सकता।

—'शिव'

मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है ?

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्रत्येक मनुष्यको विचार करना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ' और 'मेरा क्या कर्तव्य है ?' मैं नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन या बुद्धि हूँ या इनसे कोई भिन्न वस्तु हूँ ? विचारपूर्वक निर्णय करनेसे यही बात ठहरती है कि मैं नाम नहीं हूँ, मुझे आज जयदयाल कहते हैं परंतु जब प्रसव हुआ था उस समय इसका नाम जयदयाल नहीं था। यद्यपि मैं मौजूद था। घरवालोंने कुछ दिन बाद नामकरण किया। उन्होंने उस समय जयदयाल नाम न रखकर महादयाल रखा होता तो आज मैं महादयाल कहलाता और अपनेको महादयाल ही समझता, मैं न पूर्व जन्ममें जयदयाल था, न गर्भमें जयदयाल था और न शरीरनाशके बाद जयदयाल रहूँगा। यह तो केवल घरवालोंका निर्देश किया हुआ साङ्केतिक नाम है। यह नाम एक ऐसा कल्पित है कि जो चाहे जब बदला जा सकता है और उसीमें उसका अभिमान हो जाता है। जो विवेकवान् पुरुष इस रहस्यको समझ लेता है कि मैं नाम नहीं हूँ, वह नामकी निन्दा-स्तुतिसे कदापि सुखी-दुःखी नहीं होता। जब वह मनुष्य 'नाम' की निन्दा-स्तुतिमें सम नहीं है, निन्दा-स्तुतिमें सुखी-दुःखी होता है, तब वह नाम न होनेपर भी 'नाम' बना बैठा है, जो सर्वथा भ्रमपूर्ण है। जो इस रहस्यको जान लेता है उसमें इस भ्रमकी गन्धमात्र भी नहीं रहती। इसीलिये श्रीभगवान्ने तत्त्ववेत्ता पुरुषोंके लक्षणोंको बतलाते हुए उन्हें निन्दा और स्तुतिमें सम बतलाया है—

'तुल्यनिन्दास्तुतिः ....' (गीता १२। १९)

'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' (गीता १४। २४)

फिर यह प्रसिद्ध भी है कि जयदयाल 'मेरा' नाम है 'मैं' जयदयाल नहीं हूँ। इससे यह सिद्ध हुआ नाम 'मैं' नहीं हूँ।

इसी प्रकार रूप—देह भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि देह जड है और मैं चेतन हूँ, देह क्षय, वृद्धि, उत्पत्ति और विनाशधर्मवाला है, मैं इनसे सर्वथा रहित हूँ। बालकपनमें देहका और ही स्वरूप था, युवापनमें दूसरा था और अब कुछ और ही है, किंतु मैं तीनों अवस्थाओंको जाननेवाला तीनोंमें एक ही हूँ। किसी पुरुषने मुझको बाल्यावस्थामें देखा था, अब वह मुझसे मिलता है तो मुझे पहचान नहीं सकता। देहका रूप बदल गया। शरीर बढ़ गया, दाढ़ी-मूँछें आ गयीं। इससे वह नहीं पहचानता। किंतु मैं पहचानता हूँ, मैं उससे कहता हूँ, आपका शरीर युवावस्थासे वृद्ध होनेके कारण उसमें कम अन्तर पड़ा है, इससे मैं आपको पहचानता हूँ। मैंने आपको अमुक जगह देखा था। उस समय मैं बालक था, अब मेरे शरीरमें बहुत परिवर्तन हो गया, अतः आप मुझे नहीं पहचान सके। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर 'मैं' नहीं हूँ। 'शरीर मैं हूँ' ऐसा अभिमान भी पूर्वोक्त नामके समान ही सर्वथा भ्रमपूर्ण है। जो पुरुष इस रहस्यको जानते हैं वे शरीरके मानापमान और सुख-दुःखमें सर्वथा सम रहते हैं। क्योंकि वे इस बातको समझ जाते हैं कि मैं शरीरसे सर्वथा पृथक् हूँ। इसीलिये तत्त्ववेत्ताओंके लक्षणोंमें भगवान् कहते हैं—

'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।'
(गीता १२। १८)

'मानापमानयोस्तुल्यः' (गीता १४। २५)

'समदुःखसुखः' (गीता १४। २४)

अतएव विचार करनेसे यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि यह जड शरीर मैं नहीं हूँ, मैं इस शरीरका ज्ञाता हूँ और प्रसिद्धि भी यही है कि शरीर 'मेरा' है। मनुष्य भ्रमसे ही शरीरमें आत्माभिमान करके इसके मानापमान और सुख-दुःखसे सुखी-दुःखी होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मैं शरीर नहीं हूँ।

इसी तरह इन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ। हाथ-पैरोंके कट जाने, आँखें नष्ट हो जाने और कानोंके बहरे हो जानेपर भी मैं ज्यों-का-त्यों पूर्ववत् रहता हूँ, मरता नहीं। यदि मैं इन्द्रिय होता तो उनके विनाशमें मेरा विनाश होना सम्भव था। अतएव थोड़ा-सा भी विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि मैं जड इन्द्रिय नहीं हूँ, वरं इन्द्रियोंका द्रष्टा या ज्ञाता हूँ।

इसी प्रकार मैं मन भी नहीं हूँ। सुषुप्तिकालमें मन नहीं रहता, परंतु मैं रहता हूँ। इसीलिये जागनेके बाद मुझको इस बातका ज्ञान है कि मैं सुखसे सोया था। मैं मनका ज्ञाता हूँ। दूसरोंकी दृष्टिमें भी मनके अनुपस्थितिकालमें (सुषुप्ति या मूर्च्छित-अवस्थामें) मेरी जीवित सत्ता प्रसिद्ध है। मन विकारी है, इसमें भाँति-भाँतिके संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। मनमें

होनेवाले इन सभी संकल्प-विकल्पोंका मैं ज्ञाता हूँ। खान, पान, स्नान आदि करते समय यदि मन दूसरी ओर चला जाता है तो उन कामोंमें कुछ भूल हो जाती है, फिर सचेत होनेपर मैं कहता हूँ, मेरा मन दूसरी जगह चला गया था, इस कारण मुझसे भूल हो गयी। क्योंकि मनके बिना केवल शरीर और इन्द्रियोंसे सावधानीपर्वूक काम नहीं हो सकता। अतएव मन चञ्चल और चल है, परंतु मैं स्थिर और अचल हूँ। मन कहीं भी रहे, कुछ भी संकल्प-विकल्प करता रहे, मैं उसको जानता रहता हूँ, अतएव मैं मनका ज्ञाता हूँ, मन नहीं हूँ।

इसी तरह मैं बुद्धि भी नहीं हूँ, क्योंकि बुद्धि भी क्षय और वृद्धि-स्वभाववाली है। मैं क्षय-वृद्धिसे सर्वथा रहित हूँ। बुद्धिमें मन्दता, तीव्रता, पवित्रता, मलिनता, विकार, व्यभिचारादि होते हैं, परंतु मैं उसकी इन सब स्थितियोंको जाननेवाला हूँ। मैं कहता हूँ उस समय मेरी बुद्धि ठीक नहीं थी, अब ठीक है। बुद्धि कब क्या विचार रही है और क्या निर्णय कर रही है इसको मैं जानता हूँ। बुद्धि दृश्य है, मैं उसका द्रष्टा हूँ। अतएव बुद्धिका मुझसे पृथक्त्व सिद्ध है, मैं बुद्धि नहीं हूँ।

इस प्रकार मैं नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रभृति नहीं हूँ। मैं इन सबसे सर्वथा अतीत, इनसे सर्वथा पृथक्, चेतन, साक्षी, सबका ज्ञाता, सत्, नित्य, अविनाशी, अविकारी, अक्रिय, सनातन, अचल और समस्त सुख-दुःखोंसे रहित केवल शुद्ध आनन्दमय आत्मा हूँ। यही मैं हूँ। यही मेरा सच्चा स्वरूप है।

क्लेश, कर्म और सम्पूर्ण पापोंसे विमुक्त होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति हुई है। इस परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त करना ही मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य है। मनुष्य-शरीरके बिना अन्य किसी भी देहमें इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस स्थितिकी प्राप्ति तत्त्वज्ञानसे होती है और वह तत्त्वज्ञान विवेक, वैराग्य, विचार, सदाचार और सद्गुण आदिके सेवनसे होता है। और इन सबका होना इस घोर कलिकालमें ईश्वरकी दयाके बिना सम्भव नहीं। यद्यपि ईश्वरकी दया सम्पूर्ण जीवोंपर पूर्णरूपसे सदा-सर्वदा है, किंतु बिना उनकी शरण हुए उस दयाके रहस्यको मनुष्य समझ नहीं सकता। एवं दयाके तत्त्वको समझे बिना उस दयाके द्वारा होनेवाले लाभको वह प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे ईश्वरके शरण होकर उनकी दयाके रहस्यको समझकर उससे पूर्ण लाभ उठाना चाहिये। ईश्वरकी शरणसे ही हमें परम शान्ति मिल सकती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्ति और सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

जब यह मनुष्य परमेश्वरके शरण होकर परमेश्वरके तत्त्वको जान जाता है, तब उस परमेश्वरकी कृपासे अज्ञान-नाश होकर वह परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है। जैसे निद्राके नाशसे मनुष्य जाग्रत्‌को, दर्पणके नाशसे प्रतिबिम्ब बिम्बको तथा घटके फूटनेसे घटाकाश महाकाशको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानके नाशसे यह जीवात्मा विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जब यह साधक नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे अपनेको सर्वथा पृथक् समझ लेता है, तब यह ईश्वरके शरण होकर ईश्वरकी कृपासे, देहादि-सम्बन्धसे होनेवाले समस्त क्लेशों और पापोंसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाता है एवं विज्ञानानन्दघन परमात्माका सनातन अंश होनेके कारण सदाके लिये उस विज्ञानानन्दघन प्रभुको प्राप्त हो जाता है। प्रभुको प्राप्त करनेके लिये अनन्यभावसे इस प्रकार प्रयत्न करना और प्रभुको प्राप्त हो जाना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है।

◆

रे मनुष्य! तू दीन होकर घर-घर क्यों भटकता है! तेरा पेट तो सेरभर आटेसे ही भर जाता है। सुना है, भगवान् तो उस समुद्रको भी भोजन पहुँचाते हैं जिसका शरीर चार सौ कोस लम्बा-चौड़ा है। संसारमें कोई भूखा नहीं रहता। चींटी और हाथी सभीका पेट भगवान् भरते हैं। अरे मूर्ख! तू विश्वास क्यों नहीं करता? —सुन्दरदासजी

◆

श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्ति—श्रीराधा

(डॉ॰ श्रीकौशलनन्दनजी गोस्वामी, एम्॰ ए॰ (हिन्दी-संस्कृत), पी-एच्॰ डी॰, संगीत-प्रभाकर)

विभिन्न सम्प्रदायोंमें राधाके स्वरूप और शक्तिका वर्णन अपनी-अपनी मान्यताके अनुरूप किया गया है। राधाको कृष्णके समान ही अनादि और अनन्त माना गया है। रासमण्डलके 'रा' और 'धा' धातुके धाको ग्रहण करके राधा नामकी व्युत्पत्ति मानी गयी है। राधाका अर्थ है—आराधना करनेवाली। 'राधोपनिषद्'में 'राधा' शब्दकी प्रतीकात्मक व्युत्पत्ति बतायी गयी है। **'कृष्णेन आराध्यत इति राधा, कृष्णं समाराधयति सदेति वा राधिका।'** अर्थात् कृष्णद्वारा जिनकी आराधना की जाती है, अतः ये राधा हैं तथा जो सदैव कृष्णकी आराधना करती हैं, इसलिये राधिका कही जाती हैं। राधा-कृष्ण परस्पर एक-दूसरेकी आराधना करते हैं। श्रीकृष्ण दिव्य-चिन्मय आनन्दस्वरूप हैं तो राधा दिव्य-चिन्मय प्रेम-स्वरूपा हैं। राधा प्रेमकी कल्पलता हैं, जो प्रियतम श्रीकृष्णके चरणोंमें पूर्णतया समर्पित हैं। वह कृष्णमयी नव-किशोरी हैं, जो दिव्य एवं लोकोत्तर रूप-गुणों और विलास-वैदग्ध्य आदिसे गोविन्दको विमोहित और आनन्दित करती हैं। वस्तुतः राधा कृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं। चैतन्य-चरितामृतमें भी लिखा है—

कृष्णके आह्लादे ताते नाम आह्लादिनी।
सेइ शक्ति द्वारे सुख आस्वादे आपनी॥
सुख रूप कृष्ण करे सुख आस्वादन।
भक्तगणे सुख दिते ह्लादिनी कारन॥

राधा भक्तोंको भी आनन्द प्रदान करती हैं, इसलिये भी वे आह्लादिनी कही जाती हैं।

पुष्टिमार्ग (ईश्वरानुग्रह) के प्रवर्तक तथा शुद्धाद्वैत सिद्धान्तके समर्थक गोस्वामी वल्लभाचार्यजीने युगल-स्वरूपकी लीलाओंका वर्णन करते हुए राधाको श्रीकृष्णकी ह्लादिनीशक्ति या रसशक्ति माना है। इनकी दृष्टिमें राधा श्रीकृष्णका ही रूपान्तर है। चिनगारी और अग्निके समान इनमें भी अभेद सम्बन्ध है। **'एकोऽहं बहु स्याम्'** के अनुरूप ही भगवान्की इच्छाशक्तिरूप भेद भासित होता है। राधा और कृष्ण निःसंदेह एक ही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आनन्द-निधान हैं, किंतु आनन्दानुभूति और स्मरण कराना शक्तिका कार्य है, अतः राधा श्रीकृष्णकी सुखानुभूतिमें सहयोगिनी रहती हैं।

इस सम्प्रदायके अनुयायी अष्टछापीय कवि सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी और छीतस्वामीने भी इस पद्धतिको अपनाकर श्रीकृष्णके साथ-साथ राधाके स्वरूपका भी प्रतिपादन किया है। राधा सदैव कृष्णकी सहचरी हैं तथा उनके आनन्दमें ही सुखानुभूति करती हैं। सूरकी राधा कृष्णके रंगमें रँगी हैं तथा वे श्रीकृष्णकी प्रियतमा हैं। सूरदासने कहा भी है—

राधा स्याम स्याम राधा रंग।
पिय प्यारी कौं हिरदै राखत, प्यारी रहति सदा हरि कै संग॥

राधाको देखे बिना श्रीकृष्ण व्याकुल हो जाते हैं। उनका सामीप्य श्रीकृष्णको अत्यन्त सुखद लगता है—

कबहुँ स्याम जमुना-तट जात।
कबहुँ कदम चढ़त मग देखत, राधा बिनु अतिहीं अकुलात॥
कबहुँ जात बन कुंज धाम कौ, देखि रहत नहिं कछू सुहात।
तब आवत वृषभानु पुरी कौं, अति अनुराग भरे नँदतात॥
प्यारी हृदय प्रगटहीं जानति, तब वह मनहीं माँझ सिहात।
सूरदास नागरि के उर मैं, निवसे नागर स्यामल गात॥

निःसंदेह राधा श्रीकृष्णके आनन्द और जीवनका आधार हैं। व्रजमें श्रीकृष्णकी संयोग-क्रीडामें राधा पूर्णतया सहभागिनी हैं। प्रतिदिनकी लीलाओंके साथ-साथ विभिन्न त्योहारोंमें भी आह्लादिनी राधा विद्यमान रहती हैं। राधा श्रीकृष्णके समान ही गान-कला और रास-नृत्यमें भी प्रवीण हैं। *'गावत राग मलार भामिनी, पहिरै झूमक सारी'*, *'गावति गिरिधरन संग परम मुदित रास रंग, उरप तिप लेत तान नागर नागरी'*, *'रास में गोपाल लाल नाचत, मिलि भामिनी'* आदि पदोंमें राधाकी संगीत-सिद्धिताका परिचय मिलता है, जिससे वह श्रीकृष्णका मोदन करती हैं। राधा श्रीकृष्णकी अनन्य उपासिका हैं। श्रीकृष्णके मथुरा जानेके पश्चात् वृषभानुनन्दिनीकी दशा सूरके पदमें दर्शनीय है—

अति मलीन वृषभानु-कुमारी।
हरि स्रम-जल भीज्यो उर अंचल तिहिं लालच न धुवावति सारी॥

गौडीय सम्प्रदायके प्रचारक श्रीचैतन्य महाप्रभुने राधा-कृष्णके युगल रूपके चरणोंकी उपासनाको मान्यता दी है। 'चैतन्य-चरितामृत' में अनन्त शक्तियोंके आगार श्रीकृष्णकी तीन प्रमुख शक्तियाँ हैं—चित्-शक्ति (अन्तरङ्गा), माया-शक्ति (बहिरंगा) तथा जीव-शक्ति (तटस्था-शक्ति)। राधा श्रीकृष्णकी अन्तरङ्गा शक्ति हैं, जिसमें श्रीकृष्णका स्वरूप और प्रभाव विद्यमान है। अन्तरङ्गा शक्तिके भी तीन भेद हैं—सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी। ह्लादिनी शक्तिका सार प्रेम है तथा प्रेमका भी परम सार मादन नामक महाभाव है। मादनाख्य महाभावकी साक्षात् मूर्ति राधा श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं जो अहर्निश उन्हें आनन्दास्वादन कराती रहती हैं। कस्तूरी और उसकी गंधकी भाँति राधा और कृष्ण अभिन्न हैं। इसमें राधाको परकीयाके रूपमें ग्रहण किया गया है। चैतन्य-सम्प्रदायके अनुयायी भक्त कवियोंमें रामराय, गदाधर भट्ट, सूरदास, मदनमोहन, नन्दगोपाल, भगवानदास, माधवदास माधुरी, भगवतमुदित तथा प्रबोधानन्द सरस्वती इत्यादि प्रमुख हैं। इन कवियोंने संगीतके साहचर्यसे राधा-कृष्णके झूला झूलने, कुंजोंमें विचरण करने, रास-नृत्य करने, होली खेलने आदिकी ललित लीलाओंका ललाम वर्णन किया है। इन वर्णनोंमें राधाकी महत्त्वपूर्ण भूमिका देखी जाती है। होलीके प्रसंगमें राधा गोकुलचन्द्र कृष्णके आनन्दकी अभिवृद्धि करती हैं। जैसे—

खेलि खेलि हो लड़ैती राधे ताको फब्यौ है बसंत।
सुनि हो भामिनी दामिनी-सी तें पायौ स्याम घन कंत॥

सूरदास मदनमोहनने *'मोहनलालके संग ललना ज्यौं सोहै, जैसे तरुण तमालके ढिंग फल सोनो जरद कौ।'* पदमें राधाकी अभिन्नताको ही दर्शाया है। ह्लादिनी शक्तिरूपा राधा श्रीकृष्णके हृदयमें स्थित प्रेम-रस-निधिसे प्रकट हुई हैं। जैसा कि 'आदिवाणी' में रामरायने लिखा है—*'कृष्ण हृदय-रस निधि सों प्रगटीं आनन्द की आह्लादिनी गाई।'* इसीलिये इस सम्प्रदायके कवियोंने *'जयति श्रीराधिके सकल सुख साधिके'*—जैसे स्तुतिपरक पदोंकी रचना की है। *'झूलत अलबेलो अलबेली'*, *'जुगल वर क्रीडत जमुना-तीर'*, *'प्रीतम प्यारी राजत रंग महल'* आदिमें राधाकी अवस्थितिका बोध होता है।

राधावल्लभीय सम्प्रदायके प्रवर्तक स्वामी हितहरिवंश राधा और कृष्णकी युगल उपासनाके समर्थक हैं, किंतु इस सम्प्रदायमें राधाकी भक्तिका प्राधान्य रहा। इसमें राधा-कृष्णकी शृङ्गारिक क्रीडाओंमें भी क्रीडाको अद्भुत ढंगसे प्रस्तुत किया गया है। राधा शृङ्गारिक चेष्टाओंकी सहयोगिनी ही नहीं, अपितु आनन्ददायिनी बन गयी हैं। राधा आनन्दकन्द श्रीकृष्णकी रुचिके अनुरूप क्रियाएँ करती हैं।

हितहरिवंश और हरिराम व्यास इस सम्प्रदायके प्रमुख कवि माने जाते हैं, जिन्होंने राधिकाको अनन्यसुन्दरी तथा नृत्य-गान-विशारद दर्शाया है। जैसे—

लागि कटुर उरप सप्त सुर सौं सुलप लोरी,
सुन्दरि सुघर राधिका नामिनी।

व्यासजीके *'नागरी नटनारायण गायौ'*, *'सारंग नैनी चली अलि संग, सुनी सारंग की तान'*—जैसी रचनाओंमें राधा संगीतशास्त्रकी मर्मज्ञा और रूपवती सिद्ध होती हैं।

दुलहिन बननेका सौभाग्य राधाको ही प्राप्त हुआ है। *'सहज दुलहिनी श्रीराधा सहज साँवरो दूलह'*—इस पदको पढ़कर राधा-कृष्णकी अद्भुत छबिका आभास हो जाता है। राधा भक्तकवियोंके आनन्दानुभूतिकी माध्यम हैं। अतः उन्होंने राधाकी आराधना भी की है। जैसे—

व्यास स्वामिनी की छबि निरखति, विमल विमल जस गाईं।

हरिदासी सम्प्रदायमें राधा-कृष्णकी युगल उपासना सखी-भावसे की गयी है। हरिदास, विट्ठल विपुल और बिहारिनदास इस सम्प्रदायके प्रमुख कवि हैं। इनकी राधा रासेश्वरी किशोरीजी हैं, जो रसिकशिरोमणि श्रीकृष्णकी सेवामें तत्पर रहती हैं। किशोरीजी प्रियतमके साथ रस-विलास करती हुई उन्हें आनन्दित करती हैं।

किशोरीजी श्रीकृष्णकी स्वामिनी, अनिन्द्यसुन्दरी और श्रीकृष्णके आकर्षणका केन्द्र हैं, जैसा कि *'सब ठाकुर कौ ठाकुर हरि ता ठाकुर की ठाकुर ठकुराइन'*, *'मोकों इतौ साज कहाँ री प्यारी, हों अति दीन, तुव बस'*, *'जोन्ह में जोन्ह सी'*—इन पंक्तियोंमें द्रष्टव्य है।

हरिदासजीके पदोंमें हँसना, रूठना, मनाना, ताम्बूल खिलाना, झूला झूलना आदिके वर्णन अद्भुत सुखानुभूतिप्रद

हैं। श्रीकृष्णको आह्लादित करनेके लिये वह नृत्यमें *'मुसकनि मुखमोरि, परिरम्भव रस रोरी'* आदिकी अभिव्यक्ति करती है।

निम्बार्क-सम्प्रदायमें मधुर भावको उत्कृष्ट माना गया है। युगल उपासनामें भी राधाकी उपासनापर बल दिया गया है। राधा प्रेम और माधुर्यकी अधिष्ठात्री और ह्लादिनी शक्ति हैं। इस सम्प्रदायके अनुकर्ता कवि श्रीभट्ट और परशुराम प्रमुख हैं।

परशुरामजीके पद *'हरिरास रच्यो केलि करण कौं'* में रासका वर्णन है। राधा रासरसेश्वरी हैं तथा नृत्य-भंगिमाओंसे रसिकशिरोमणि श्रीकृष्णको रिझाती हैं।

निष्कर्ष यह है कि विभिन्न सम्प्रदायोंके आचार्यों तथा उनके अनुकर्ता कवियोंने राधाको श्रीकृष्णकी रसशक्ति—आह्लादिनी शक्तिके रूपमें ग्रहण किया है। श्रीकृष्ण इस शक्तिके साहचर्यसे विभिन्न लीलाएँ करते हैं। राधा श्रीकृष्णका ही दूसरा रूप है। श्रीराधा-कृष्णका युगल स्वरूप परमानन्द रसात्मक-रूप है, जो लीला-हेतु दो रूपोंमें उद्भासित होता है। आनन्दकन्द श्रीकृष्णने आनन्दकी सृष्टिके लिये ही आनन्ददायिनी शक्ति राधाका रूप धारण किया। श्रीकृष्ण और राधाका किशोर-किशोरी-रूप, माधुर्य-भाव तथा नृत्य-संगीतकी सर्जना भी भक्तिके चरमोत्कर्षमें सहायक रही है। अस्तु, श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति राधा जीवनकी सार्थकता और आनन्द-सृष्टिके लिये वरदान हैं। श्रीराधा अपने तरुणिम रसोल्लासमें प्रतिष्ठित होकर श्रीकृष्ण-भक्तिका आनन्दमय मार्ग प्रशस्त करती हैं। भक्त लोग उनके पावन चरित्रों एवं लीलाओंका स्मरण-मननकर भगवान् राधा-कृष्णकी विशुद्ध भक्ति प्राप्तकर कृतार्थ होते हैं। यह दिव्य चरित्र इतना सरस एवं आनन्ददायक है कि जितना ही पान किया जाय उतनी ही पिपासा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और कभी परितृप्ति नहीं होती, यही राधा-माधवके दिव्य चरित्रकी अद्भुत विशेषता है।

* * *

अनबूझ पहेली

(श्रीबालकृष्णजी गर्ग)

जीवन है अनबूझ पहेली !
जितनी इसको सुलझाते हैं, उतनी और उलझती जाती,
चाहे जितने गहरे जायें, इस सागरकी थाह न आती।
जब-जब इसे पकड़ना चाहा, हाथ नहीं आयी अलबेली॥ जीवन है० ॥

एक समय जीवन-गुलशनमें लेती थीं चटखारे कलियाँ,
पत्ते-पत्ते रंग बरसता, फूलोंकी वादी थीं गलियाँ।
बिखर गयीं जब आज पाँखुरी, पवन नहीं करता अठखेली॥ जीवन है० ॥

जाने जीव कहाँसे आया, और कहाँ प्रस्थान कर गया,
किसने घर आबाद किया था, खाली कौन मकान कर गया ?
छोड़-छाड़कर गहने-कपड़े, कहाँ छिप गयी नार-नवेली॥ जीवन है० ॥

यह मेरा है, वह मेरा है, जीवन हाय-हायमें बीता,
हमने समझा घड़ा भर रहा, किंतु रहा रीते-का-रीता।
कौड़ी-कौड़ी जोड़ी, लेकिन भागे खाली हाथ-हथेली॥ जीवन है० ॥

जाने कब उड़ जाये पंछी, कोई जान न पाया अबतक,
धन-यौवन-पद-मदमें पगले ! क्यों फिर तू भरमाया अबतक।
घड़ी-दो-घड़ी राम सुमिर ले, चार दिनोंकी है रँगरेली॥ जीवन है० ॥

* * *

भगवान्‌के आश्वासनपर विश्वास करो

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृ० सं० ७७५ से आगे)

वास्तवमें मनुष्य-जीवनका परम उद्देश्य भगवान्‌के चरणारविन्दोंका अनुराग प्राप्त करना ही है। परंतु यह तभी हो सकता है जब जीव परमात्माको अपना एकमात्र आश्रय बनाकर सब प्रकारसे आत्मसमर्पण कर दे। और यह वस्तुतः बहुत कठिन बात नहीं, बल्कि भगवत्कृपाके बलसे बहुत ही सहज है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि हमारे भाग्यमें भगवत्प्राप्ति लिखी ही नहीं, हमारे वैसे संस्कार ही नहीं, वे वास्तवमें बड़ी भूल करते हैं। भगवान्‌के दरबारका दरवाजा सबके लिये सदा खुला रहता है, वह कभी बंद होता ही नहीं। चाहे कोई आधीरातको अपने प्रियतम परमात्माका द्वार खटखटावे, वे तत्काल उसकी पुकारका उत्तर देकर उसे अपने हृदयसे लगानेको तैयार मिलेंगे। बच्चा जब कभी भी रोककर माँको पुकारता है तो माँ समय-असमयका विचार न कर झटसे अपनी स्नेहभरी गोदमें उठाकर उसे स्तन-पान कराने लगती है। पुकार सुननेपर न तो वह बच्चेका पाप-पुण्य देखती है और न क्षणभर रुकती ही है। उस समय वह स्नेहकातरा जननी केवल दोनों हाथ बढ़ाकर बच्चेको ऊपर उठाना और पुचकारना ही जानती है। फिर भला, भगवान् तो सारी माताओंकी माता—स्नेहके सागर हैं। माँ तो किसी समय शायद दूर रहनेके कारण न भी सुने अथवा किसी दूसरे काममें लगी हो तो उसे पूरा करके भी आवे, पर भगवान्‌में ये दोनों बातें नहीं। वे कहीं दूर नहीं हैं—सर्वदा सर्वत्र पूर्ण हो रहे हैं। वे तो मन्दिरमें, मूर्तिमें, बाहर-भीतर सर्वत्र समभावसे सदा-सर्वदा रम रहे हैं, पूर्ण हो रहे हैं। वे सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं। एक कामको करते हुए दूसरेको न कर सकें—ऐसी कठिनाईका उनके लिये कोई प्रश्न ही नहीं। वे एक ही समय असंख्य स्थानोंमें प्रकट होकर असंख्य काम कर सकते हैं। और ऐसा करते हुए भी वे सर्वत्र पूर्ण ही रहते हैं। अतः कोई किसी भी कारणसे कभी भी उन्हें पुकारे, वे सुनते हैं और उत्तर देते हैं। उन्हें पुकारनेमें ही कसर है—यह जीवकी ओरसे ही देरी हो रही है।

उन्हें पुकारनेमें किसी काल, स्थान, पात्र आदिका कोई भेद नहीं है। पापी न पुकारे पुण्यात्मा ही पुकारे, नरकमें न पुकारे स्वर्गमें पहुँचकर पुकारे, आधीरातको न पुकारे उषाकालमें पुकारे, मूर्ख न पुकारे विद्वान् पुकारे, गरीब न पुकारे धनी ही पुकारे, स्त्री या बालक न पुकारे पुरुष ही पुकारे, चाण्डाल न पुकारे ब्राह्मण ही पुकारे, गृहस्थ न पुकारे संन्यासी ही पुकारे, इस प्रकार उनकी पुकारके सम्बन्धमें ऐसी कोई बात नहीं। देवर्षि नारद कहते हैं—

'नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।'

भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है।

पुकार सच्ची होनी चाहिये, पुकारनेवाला कौन है—वे इस बातको नहीं देखते, अवश्य ही पुकारनेवालेकी चाहकी परख करते हैं। ऊपरकी दिखाऊ पुकार उनकी स्नेह-धाराको उमड़ानेमें समर्थ नहीं हो सकती। वे हमारे अंदरकी बात जानते हैं—हमारे भीतरका कोई भेद उनसे छिपा नहीं है। ऊपरकी पुकार होगी तो वे समझ लेंगे कि यह कोरी ठगई है। मनमें चाह नहीं है। कोई ऐसा हो जिसके मनमें पुकार मची हो, परंतु किसी कारणवश बाहरसे न पुकार सके तो उस पुकारको भी वे सुन लेते हैं। उनको हृदयके कपटहीन शब्दोंकी आवश्यकता है, बाह्य शब्दोंकी नहीं। श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌के वचन हैं—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

भक्तिमती शबरीको उन्होंने अपने विरदका भेद स्पष्ट शब्दोंमें यही बतलाया—

'मानउँ एक भगति कर नाता॥'

वास्तवमें यही है भी यथार्थ। भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न कोई प्रिय, परंतु जो भक्त मुझे प्रेमसे भजते हैं वे मेरेमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।' जैसे सूर्य

किसीको अपना प्रकाश या गर्मी देनेसे इनकार नहीं करता, पर जो उसके सामने आकर बैठता है उसीको प्रकाश और गर्मीकी अधिक प्राप्ति होती है। जो अपने घरके किंवाड़ ही बंद करके बैठ जाय उसके लिये सूर्य क्या करे ? इसी प्रकार भगवान्‌के सम्मुख होनेवाले ही पापमुक्त होकर भगवत्प्रेम प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं—उनसे विमुख रहनेवाले नहीं। अमुक मनुष्य ही भगवत्प्रेम प्राप्त कर सकता है और अमुक नहीं कर सकता, यह भेद उनमें नहीं है। ध्रुव बालक था। उसके समयमें अनेक राजा थे, ऋषि थे, मुनि थे, पर उन सभीको भगवत्प्राप्ति हुई हो सो बात नहीं है। जिसे यह पता भी नहीं कि 'भगवान् क्या वस्तु हैं, जिसने कभी किसी पाठशालामें जाकर गुरुमुखसे उनके स्वरूपका वर्णन ही नहीं सुना—उनका प्रभाव ही नहीं जाना, वही नन्हा-सा बालक ध्रुव 'कमलनेत्र—पद्मपलाशलोचन' प्रभुकी खोजमें निर्भय होकर निकल पड़ा। विद्या-बुद्धि-बल-हीन बालक जब अनन्यभावसे दृढ़संकल्प होकर पुकार मचाने लगा तो वहाँ भगवान्‌को प्रकट होना पड़ा। उस भोले किंतु अटल निश्चयी ध्रुवको अलौकिक ज्ञान और अचल पद देकर सदाके लिये कृतकृत्य बना दिया। प्रह्लाद भी बालक ही थे, वयोवृद्ध अथवा ज्ञानवृद्ध नहीं थे। इसी प्रकारके बहुतसे उदाहरणोंसे यह बात सिद्ध होती है कि भगवद्भक्तिमें विद्या, बुद्धि, बल, आयु आदिका कोई विचार नहीं है। अमुक स्थान और अमुक समयमें ही अमुक व्यक्ति भजन कर सकता है—यह बात भी नहीं है। कालका निर्देश भी नहीं है। यदि ऐसा हो तो मरता हुआ आदमी—काल अच्छा न होनेपर सद्गतिको प्राप्त ही न हो सके। देशका बन्धन हो तो बिना किसी तीर्थ-स्थानमें गये मुक्ति ही न हो सके ! पर यह बात नहीं है। बुरे-से-बुरे देश, काल और वर्णमें जब कभी जीव निष्कपट-भावसे परमात्माको पुकारता है तभी उनकी ओरसे उसे आशापूर्ण आश्वासन मिलता है।

चक्रिक नामक एक भील जंगलमें रहा करता था। वहीं भगवान्‌की एक मूर्ति थी। उसे वह जड-पत्थर न मानकर प्रत्यक्ष भगवान् मानता था। घूमते-घूमते उसे वनमें जो फलादि मिल जाते, प्रभुको उनका भोग लगाकर फिर स्वयं प्रसाद पाता। एक बार उसे पियालका एक फल मिला। उसने भूलसे उसको मुँहमें डाल लिया। डालते ही उसे अपनी भूल सूझ पड़ी, पर वह गलेमें उतर चुका था। अपना कोई वश न चलता देख वह फलको नीचे न उतरने देनेके लिये गलेको जोरसे पकड़ दौड़ता हुआ मूर्तिके पास जा पहुँचा। वमनद्वारा बाहर निकालनेकी चेष्टा करनेमें कोई कसर न रखी, पर जिस प्रकार वह उसे पेटमें न गिरने देनेका हठ किये हुए था उसी प्रकार फल भी बाहर न आनेमें मचल गया। भोग लगाना जरूरी था। अन्तमें कुल्हाड़ीसे गला काटनेकी तैयारी होते ही भक्तवत्सल भगवान् अपनेको रोक न सके। प्रकट होकर हाथ पकड़ लिया ! वह जातिका भील था—बुद्धिसे हीन था, पर था सच्चे हृदयसे पुकार मचानेवाला ! कोई हो, होना चाहिये केवल सच्चा प्रेमी—अन्तस्तलसे पुकारनेवाला भक्त !

यह निर्विवाद सिद्ध है कि भगवत्प्राप्तिमें केवल निष्कपट पुकारकी ही अपेक्षा है—अन्य किसी बातकी नहीं। जिस क्षण सच्ची पुकार होगी, उसी क्षण परमात्माका आश्रय मिल सकेगा, इसमें कोई निश्चित कालकी अपेक्षा नहीं है। भोगोंकी प्राप्तिमें काल आदि निश्चित होता है। उचित अवसरपर ही उनकी प्राप्ति हो सकती है। परंतु भगवत्प्राप्तिके लिये कोई बन्धन नहीं है। इसमें प्रारब्ध कुछ भी बाधा नहीं दे सकता। जब जीव व्याकुल हो जाय, विरह-तापसे जल उठे, प्रियतम श्रीकृष्णके बिना रह न सके, प्यारे रामके बिना उसे तनिक भी आराम न मिले, तभी भगवान् भी उसके बिना नहीं रह सकते। उनकी तो यह घोषणा ही है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

'जो मुझको जैसे भजता है उसे मैं वैसे ही भजता हूँ।'*

भगवान्‌का कहना बहुत ठीक है। पर वे भजते हैं अपने स्वरूप और अपनी शक्तिके अनुसार तथा जीव भजता है अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार ! इसलिये यदि जीव इच्छा करे तो

---

*-इस सिद्धान्तमें देखनेपर कुछ भ्रम होता है। यदि भगवान् भक्तके अनुरूप ही उसको भजते हैं तो एक रोटीका प्रसाद चढ़ानेपर बदलेमें एक रोटी ही मिलनी चाहिये। एक घण्टा ध्यान करनेपर भगवान् भी एक घण्टा ध्यान ही कर लें। गजराजने पुकारा, आधा नाम लिया, तो वे भी आधा नाम ले लेते ! कोई पत्र-पुष्प-फल भेंट करता है तो वे अनन्तगुणा फल क्यों देते हैं ? इसलिये शंका होती है कि 'यह कथन ठीक नहीं।' पर भगवद्वाक्य कभी झूठे हो नहीं सकते ! तो फिर बात क्या है ? सोचनेपर पता लगता है कि भगवान् भजते हैं अपनी शक्ति और स्वरूपके

उनसे मिलनेमें देर नहीं हो सकती। यदि यह चल पड़े तो वे इतने जल्दी मिलते हैं कि जीव उतनी जल्दीकी कल्पना ही नहीं कर सकता।

जहाँ हृदयमें विरहजनित व्याकुलता उत्पन्न हुई कि फिर उसे यह आवश्यकता नहीं कि यह वैकुण्ठ जाय। वे स्वयं उसके सामने आकर अपने सुरदुर्लभ दर्शनोंसे—अपनी अलौकिक रूपमाधुरीसे उसे मत्त और कृतार्थ कर देते हैं। छः मासके बच्चेको माँके पास जाना नहीं पड़ता। माता स्वयं ही भागती हुई उसके पास आ पहुँचती है। यदि हम वैसे ही सरल हृदयके मातृपरायण बच्चे बन जायँ तो भगवान्‌रूपी जगज्जननीके आनेमें देरी ही क्या है? परायणता अवश्य ऐसी होनी चाहिये, जो सब अवस्थाओंमें रहे। जैसे माँकी मारसे बचनेके लिये भी बच्चा माँकी ही गोदमें घुसता है। माँकी गोद वास्तवमें बच्चेके लिये सदा ही खाली रहती है, बच्चा क्या करके आया है—इस बातको माता नहीं देखती। इसी प्रकार भगवान् भी यह नहीं कहते कि पापी मेरे सामने नहीं आ सकता। पापियोंके लिये स्वर्गका द्वार बंद है सही, पर भगवान्‌का द्वार तो नरकके कीड़ोंके लिये भी खुला है। वहाँ यह नहीं होता कि पहले पापोंका दुःख भोगो और फिर मेरे यहाँ आओ। जो चाहता है उसीकी वैकुण्ठ मिल जाता है। तुर्रा यह कि उसके पापोंका नाश भी वे ही स्वयं कर देते हैं। बस, केवल तीव्र इच्छाकी आवश्यकता है। उन्होंने घोषणा की है—

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'

'अरे, तू मेरी शरण हो जा, तुझे सारे पापोंसे मैं छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।' हम कैसे अभागे हैं कि इस घोषणाको सुनकर भी सुख-शान्ति पानेके लिये उनके मुक्तद्वारकी ओर नहीं जाते और मदमाते धनियों तथा झूठे अधिकारियोंके बंद दरवाजे खटखटाते हैं और जगह-जगह ठोकरें खाते फिरते हैं।

यदि एक बार भी उस सर्वलोकमहेश्वर, जीवोंके स्वाभाविक सुहृद्, परम प्यारे प्रभुके विरदपर विश्वासकर उसकी शरण पानेके लिये उत्कण्ठित हो उठें तो तुरंत निहाल हो जायँ। स्वयं धनियोंके धनी बन जायँ, फिर कुछ भी पाना शेष न रह जाय।

'न मे भक्तः प्रणश्यति।'

भगवान्‌की इस दिव्य वाणीको याद करो—विश्वास करो और सच्चे हृदयसे अपने शेष जीवनको उनके भजनमें लगाकर अनायास संसार-सागरसे ही तर जाओ।

* * *

कोई कुछ भी कहे

मुग्धं मां निगदन्तु नीतिनिपुणा भ्रान्तं मुहुर्वैदिका
मन्दं बान्धवसंचया जडधियं मुक्तादराः सोदराः।
उन्मत्तं धनिनो विवेकचतुराः कामं महादाम्भिकं
मोक्तुं न क्षमते मनागपि मनो गोविन्दपादस्पृहाम्॥

'नीतिनिपुण पुरुष मुझको चाहे 'मुग्ध' कहें अथवा वैदिक विद्वान् बार-बार 'भ्रान्त', बन्धु-बान्धवगण 'मन्द' कहें या सहोदर भाई आदर त्यागकर 'जडबुद्धि', धनिक-समुदाय मुझे 'उन्मत्त' कहे अथवा विवेक-चतुर पुरुष 'महान् दाम्भिक'—यों कोई कुछ भी कहे, मेरा मन श्रीगोविन्द-पदारविन्दकी सेवन-स्पृहाको त्यागनेमें समर्थ नहीं है।'

* * *

अनुसार एवं हम भजते हैं अपनी शक्ति और स्वरूपके अनुसार। मान लीजिये गरुड और एक चींटीमें मैत्री हो गयी। गरुडसे मिलनेके लिये चींटी आगे बढ़ी, पर वह बढ़ी अपनी चालसे। गरुड भी प्रेमवश आगे बढ़ा। चींटी तो थोड़ी ही दूर चली, पर गरुड तुरंत आ पहुँचा। भजते दोनों ही हैं, पर भजते हैं अपनी-अपनी हैसियतसे। राजा और कङ्गालमें मैत्री होनेपर राजा अपने मित्रको हलुआ और मोहनभोग ही खिलायेगा और कङ्गाल अपने घरपर आये हुए मित्र राजाको साग-रोटी ही खिलायेगा।। कङ्गाल मिलनेको जायगा अपनी बैलगाड़ीपर, पर राजा मिलनेको जायगा अपने वायुयानपर। इसी प्रकार जीव और भगवान्‌के प्रेममें अन्तर है। इसके पास प्रेमकी एक नन्हीं-सी बूँद है और वह है अनन्त प्रेम-सागर! इधरसे जब यह जीव अपनी उस बूँदको लेकर उसीके सहारे प्रभुके लिये बढ़ता है, तब उधरसे प्रेम-सागर उमड़ पड़ता है। यह तो थोड़ी दूर पहुँच पाता है, पर वह उधरसे आकर इसे अपनेमें समा लेता है। फिर दोनों एक हो जाते हैं। यही रसाद्वैत है—

'जब मैं था तब हरि नहीं, जब हरि हैं मैं नाहिं। प्रेम-गली अति साँकरी तामें दो न समाहिं॥'

प्रेम-दिवाने

(श्रीप्रेम-पथ-पथिक)

प्रेम-दिवाने जे भये, कहैं बहकते बैन।
कबहूँ मुँह हाँसी छुटै, कबहूँ टपकै नैन॥

सचमुच जिन्हें प्रेमकी मस्ती चढ़ गयी है, जिन्हें प्रेमप्यालेके मतवाले मदकी एक बूँदका भी रसास्वादन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है और जो प्रेम-पथमें दिवाने हो गये हैं, वास्तवमें वे ही उस प्रेमीके दीदारको पानेके हकदार हैं और ऐसे ही दिवाने प्रायः—

'मैं मोर बनके मोहन, नाचा करूँगा बन-बन।
तू श्याम घटा बनकर आँखोंमें समा जाना॥'

—की तान छेड़ते पाये जाते हैं। उन्हें राहगीरोंसे लज्जा नहीं, देखनेवालोंसे भय नहीं, पुलिसकी परवा नहीं और जानकारोंकी चिन्ता नहीं। वे तो अपनी ही मस्तीमें मस्त रहते हैं, अपनी ही धुनके घोड़ेपर सवार रहते हैं और अपनी अनोखी डफली बजानेमें ही लगे रहते हैं।

इन प्रेम-दिवानोंकी दुनिया ही न्यारी होती है, इनका रोना-हँसना विचित्र होता है, उठना-बैठना अनोखा होता है और खाना-पीना भी निराला होता है। इनको रोने-हँसने, जागने-सोने और रहने-सहनेका कोई पता ही नहीं रहता। देखनेवालेको मालूम होता है मानो इनकी कोई अत्यन्त प्यारी चीज खो गयी है, जिसकी तलाशमें ये रातों गलियोंकी खाक छानते फिरते हैं। यदि कहीं इन्हें ***'संतन सँग बैठ-बैठ लोक-लाज खोई'*** वाली मीरा देख ले तो वह इनके सुरमें सुर मिलाकर अवश्य गाने लगे—

हे री मैं तो प्रेम-दिवानी मेरो दरद न जाणै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस बिध सोणो होय॥
गगन-मंडलपर सेज पियाकी, किस बिध मिलणो होय।
घायलकी गति घायल जाने, जो कोइ घायल होय॥

वास्तवमें मीराने बात तो बड़े पतेकी कही है। भला, जिसे कभी प्रेम-बाण नहीं लगा हो वह इस दर्दका हाल क्या जाने। जो सूलीपर चढ़ गया है वह कैसे सोये? सचमुच इस प्रेम-प्यालेमें एक अजीब नशा है। जिसने एक बार पी लिया, वह बेदामका गुलाम बन गया। उसे सोते-बैठते, हँसते-रोते और चलते-फिरते कभी चैन नहीं। इस मर्जकी दवा भी मिलनी मुश्किल ही है। तारीफ तो यह है कि 'ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता ही गया।' कहीं घटनेका नाम नहीं। आँखें क्या हो गयीं मानो सावन-भादोंकी उमड़ी हुई गङ्गा। इसीलिये तो महात्मा कबीरने कहा है—

प्रेम-पियाला जो पिये, सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दे सके, नाम प्रेमका लेय॥

ओह! इस दिव्य प्रेमकी आग भी बड़ी गजबकी है, जहाँ एक बार लग गयी फिर कभी बुझती ही नहीं। नींद और खाना-पीना सब हराम हो जाता है। इसका इलाज करनेवाले वैद्य-डॉक्टर भी जल्दी नहीं मिलते। कहीं एकाध नीम-हकीम मिल भी गये तो फीस इतनी माँगते हैं और ओषधिका मूल्य इतना अधिक चाहते हैं कि मरीजके मूल्यसे भी मर्जकी कीमत बढ़ जाती है। जब मीराको प्रेम-जहर सताने लगा तो मीराने अपने इस नये मर्जकी दवाके लिये न मालूम कितनी गलियोंकी खाक छान डाली, पर कोई चतुर वैद्य न मिला। अन्तमें खोजते-ढूँढ़ते उसने बिलख-बिलखकर कहा—

दरदकी मारी बन-बन डोलूँ, बैद मिल्यो नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटै जब बैद साँवलियो होय॥

वास्तवमें 'साँवलिया' वैद्य मिल जाय तो फिर बेड़ा पार हो जाय।

इतना होनेपर भी यह प्रेमकी आग है बड़ी शीतल, जो इसमें कूद पड़ता है, वही स्वर्गीय शीतलताका अनुभव करता है। परंतु देखनेमें यह बड़ी भयानक है। इसीसे पूरे त्यागी-विरागी भगवद्रस-रसीले ही इस सुलगती हुई आगमें कूदनेका साहस करते हैं। इसके अधिकारी उँगलियोंपर गिने जाने लायक हैं, क्योंकि—

सीस उतारै भुइँ धरै, तापर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहे, ऐसा हो तो आव॥

बात भी ठीक ही है। प्रेम-पथपर चलना क्या है मानो दुधारी तलवारकी धारपर चलना है। पर इससे क्या? प्रेम-पथ-पथिक इन अड़चनोंसे डरनेवाले थोड़े ही हैं। वे तो हर समय लोहेके चने चबानेको तैयार रहते हैं और उनका एक पैर सदैव सूलीहीपर रहता है। वे तो इस बातके लिये तैयार

ही रहते हैं कि उनके सिरका गेंद बनाकर बीच बाजारमें खेला जाय। उनके शरीरकी बोटियाँ पशु और पक्षियोंको खिला दी जायँ। उन्हें कड़ी-से-कड़ी यातनाएँ दी जायँ और उन्हें नुकीले काँटोंपर इसलिये सुलाया जाय कि जिससे वे प्रेम-प्यारे मीतको एक पलके लिये भी भूल न जायँ।

प्रेम-दिवानोंकी दुनिया और हमारी दुनियामें बड़ा अन्तर है, आसमान-जमीनका फर्क है। हमारी दुनियामें प्रेमका रूप इतना बदल गया है कि हम प्रेमको समझ ही नहीं सकते। हम कामका ही प्रेमके नामपर प्रयोग करते हैं और पवित्र प्रेमको कलङ्कित तथा कलुषित करनेकी चेष्टामें अपना ही मुँह काला करते हैं। सच पूछो तो प्रेमके सच्चे अधिकारी प्रेम-दिवाने ही हो सकते हैं, जो प्रेमकी वेदीपर हँसते-हँसते बलिदान हो जानेमें अपना अहोभाग्य समझते हैं।

प्रेमके दिवाने थे भक्त हरिदासजी। यवनोंने उनके साथ कैसे-कैसे अमानुषिक अत्याचार किये, पर वाह रे प्रेम-दिवाने! तूने उफतक नहीं किया। कोड़ोंकी मारसे शरीरकी चमड़ी छिल जाने और रक्तकी धारा बहनेपर भी तूने एक वीर और सच्चे प्रेमीकी भाँति उन काजी नामधारी अत्याचारियोंके लिये भगवान्से क्या ही उत्तम प्रार्थना की। भक्त हरिदासने अपने प्रभुसे कहा—'हे प्रभु! ये भूले हुए हैं। इन भूले हुए मनुष्योंको तू क्षमा प्रदान कर। यदि इन्हें समझ ही रहती तो मेरे साथ ऐसा क्रूर व्यवहार क्यों करते। हे पतितपावन! इन पतितोंका उद्धार कर, इनके अपराधोंको क्षमा कर। हे दयासिन्धु! कहीं ऐसा न हो कि मेरे कारण इन्हें कष्ट भोगना पड़े। मुझे चाहे जितना कठोर दण्ड दे, सहर्ष स्वीकार है, पर हे नाथ! इन कुमार्गगामियोंको क्षमा प्रदान कर इन्हें सन्मार्गपर ले आ।'

प्रेमकी दिवानी थी भक्तिमती मीरा। उसे अनेक कष्ट दिये गये। उसपर अनेक लाञ्छन लगाये गये। उसके मारनेके लिये अनेकों उपाय किये गये, पर वाह री मीरा! तू तो उस प्रेमीका दीदार पा चुकी थी, तुझे तो उस प्रेम-प्यालेका चसका लग चुका था। भला, तू उसे कैसे छोड़ सकती थी। लोग हजार अत्याचार तुझपर करें। तेरे सम्बन्धी तुझे मारनेके लिये लाख उपाय करें, पर तू तो उस प्रेमीके हाथ बिक चुकी थी, जिसके राज्यमें दुःखका नाम भी नहीं और जिसके दामनकी छाँहमें दुनियाकी परवा नहीं।

बात भी ठीक है। जिसपर उस प्रभुकी दया हो जाती है, फिर वह किसीके हाथ कैसे लग सकता है। वह प्रेम-दिवाना संसारका व्यवहार जानता ही नहीं। मान-अपमानका उसे बोध ही नहीं रहता। हानि-लाभका उसे ज्ञान ही नहीं। वह तो बस, अपने प्रेमीके लिये ही बेहाल रहता है।

'प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं।'

◆

मानवके वर्तमान कर्म, उनका बुरा फल और मानवका कर्तव्य

मानव आज बन गया दानव राक्षस निर्दय प्रेत पिशाच।
बन हत्यारा क्रूर, कर रहा नृशंसताका नंगा नाच॥
मानव, पशु, पक्षी, तिर्यक् सब कीट, पतंग हो रहे भीत।
घातक बन, निर्लज्ज गा रहा वह दुर्वृत्त शान्तिके गीत॥
नित नव नाशक शस्त्र बनाता, नित नव रचता नाश-विधान।
इसी जघन्य कर्ममें उसका व्यय हो रहा ज्ञान-विज्ञान॥
इसी आसुरीवृत्तिजनित तमसे आच्छादित उसके काम—
होते सभी वैर-हिंसाके वर्धक, दुःख-शोकके धाम॥
जीवनभर अनन्त चिन्ता-अशान्ति दुःखोंमें वह रह चूर।
मरकर भीषण नरक-यन्त्रणा भोग करेगा वह भरपूर॥
प्राणी सकल उसे नोचेंगे, खायेंगे, देंगे अति कष्ट।
हो जायेगी दुःख-यातना मिटनेकी सब आशा नष्ट॥
दुःखमयी आसुरी योनियाँ उसे मिलेंगी बारंबार।
कोई वश न चलेगा, कोई नहीं सुनेगा आर्त-पुकार॥
मानव बन होगा दरिद्र, रोगी, अपमानित अङ्ग-विहीन।
दुःख-ताप-संतप्त रहेगा नित कराहता होकर दीन॥
इन सब बातोंपर विचार कर, हिंसा छोड़, बढ़ाओ प्रेम।
किसी जीवको दुःख न देकर, करो सभीका योगक्षेम॥
सबमें देख नित्य ईश्वरको, सबका सदा करो सम्मान।
यथाशक्ति हित करो सभीका विनययुक्त दो सुखका दान॥

◆

साधकोंके प्रति—

[दुःख-नाशका उपाय]

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजका प्रवचन)

सन्तोंसे, शास्त्रोंसे मेरेको ऐसी बातें मिली हैं, जिनसे इस वर्तमान जीवनमें मनुष्यमात्र महान् आनन्दको प्राप्त कर सकते हैं। इसमें केश जितना भी सन्देह नहीं है। पुण्यात्मा हो, पापात्मा हो, बुद्धिमान् हो, बुद्धि कम हो, पढ़ा-लिखा हो, अपढ़ हो, भाई हो, बहन हो, सनातनी हो, बौद्ध हो, मुसलमान हो, अँग्रेज हो, कोई क्यों न हो, वह इसी जीवनमें महान् आनन्दको प्राप्त कर सकता है। उन बातोंमेंसे एक बात आज विशेषतासे कहता हूँ।

हम जो सुखी-दुःखी होते हैं, यह हमारी गलती है। इसमें गलती क्या है? लक्ष्मणजीने अध्यात्मरामायणमें निषादराज गुहसे कहा है—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः॥
(२।६।६)

'सुख-दुःखको देनेवाला दूसरा कोई नहीं है। दूसरा सुख-दुःख देता है—यह समझना कुबुद्धि है। मैं करता हूँ—यह वृथा अभिमान है। सब लोग अपने-अपने कर्मोंकी डोरीसे बँधे हुए हैं।'

यही बात तुलसीकृत रामायणमें भी आयी है—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
(२।९२।२)

सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई है ही नहीं—यह खास सूत्र है! दूसरा दुःख देता है—यह कुबुद्धि है, कुत्सित बुद्धि है, खोटी बुद्धि है। अमुक आदमीने मेरेको दुःख दे दिया—यह सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी गलत है। इस विषयमें एक बात तो यह है कि परमात्मा परम दयालु हैं, परम हितैषी हैं, अन्तर्यामी हैं और सर्वसमर्थ हैं। ऐसे परमात्माके रहते हुए, उनकी जानकारीमें कोई भी किसीको दुःख दे सकता है क्या? दूसरी बात यह है कि अगर दूसरा दुःख देता है तो दुःख कभी मिटनेका है ही नहीं; क्योंकि दूसरा तो कोई-न-कोई रहेगा ही। कहीं जाओ, किसी भी योनिमें जाओ, देवता बन जाओ, राक्षस बन जाओ, असुर बन जाओ, भूत-प्रेत-पिशाच बन जाओ, मनुष्य बन जाओ, दूसरा तो रहेगा ही। फिर दुःख कैसे मिटेगा? ये दोनों बातें बड़ी प्रबल हैं।

हमारे सामने सुख और दुःख दोनों आते हैं। सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है, प्रत्युत सब अपने किये हुए कर्मोंके फलको भोगते हैं। पातञ्जलयोगदर्शनमें लिखा है—**'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'** (२।१३) अर्थात् पहले किये हुए कर्मोंके फलसे जन्म, आयु और भोग होता है। भोग नाम किसका है? **'अनुकूलवेदनीयं सुखम्,'** **'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'** और **'सुखदुःख अन्यतरं साक्षात्कारो भोगः'** अर्थात् सुखदायी और दुःखदायी परिस्थिति सामने आ जाय और उस परिस्थितिका अनुभव हो जाय, उसमें अनुकूल-प्रतिकूलकी मान्यता हो जाय, इसका नाम 'भोग' है। अब एक बात बड़े रहस्यकी, बहुत मार्मिक और कामकी है। आप ध्यान दें। आपने अच्छा काम किया है तो सुखदायी परिस्थिति आपके सामने आयेगी और बुरा काम किया है तो दुःखदायी परिस्थिति आपके सामने आयेगी। यह तो है कर्मोंकी बात। अब परिस्थितिको लेकर सुखी-दुःखी होना केवल मूर्खता है। वह परमात्माका विधान है, जो हमारे कर्मोंका नाश करके हमें शुद्ध करनेके लिये हुआ है। वह परमात्मा कैसे किसीको दुःख देगा? मैं तो यहाँतक कहता हूँ कि सुख-दुःख देनेके लिये परिस्थितिके पास समय भी नहीं है! वह बेचारी तो अपनी धुनमें जा रही है, आपको छूती ही नहीं, फिर वह आपको सुख-दुःख कैसे दे सकती है? आप सुख-दुःख मान लेते हो, जो केवल मूर्खता है। इसीलिये सत्संगसे, सद्विचारोंसे, सद्भावोंसे आदमी सदा मस्त, मौजमें रह सकता है; क्योंकि परिस्थिति दुःख देती ही नहीं। दुःख तो उसको पकड़ करके आप कर रहे हो। अनुकूल परिस्थिति मिले तो उसमें आप सुख मान लेते हो और प्रतिकूल परिस्थिति मिले तो उसमें आप दुःख मान लेते हो, यह गलती होती है आपकी। वास्तवमें परिस्थिति तो जा रही है बेचारी! दिन-

रातकी तरह यह सुखदायी-दुःखदायी परिस्थिति आती रहेगी। जैसे दिनके बाद रात और रातके बाद दिन आता रहता है, ऐसे ही सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता रहेगा।

मनुष्यके लिये कल्याणकी बात खुली है। मनुष्य-शरीर केवल अपना कल्याण करनेके लिये है, भोग भोगनेके लिये नहीं—*'एहि तन कर फल बिषय न भाई।'* (मानस ७।४४।१)। सुख-दुःख दो तरहके होते हैं। हमारे पास धन, सम्पत्ति, वैभव, बेटा, पोता, मकान आदि अनुकूल सामग्री है तो इसको देखकर लोग कहते हैं कि यह बहुत सुखी है। हमारे पास सामग्री नहीं है; खानेको अन्न नहीं, पहननेको वस्त्र नहीं, रहनेको मकान नहीं—ऐसी दशा है तो इसको देखकर लोग कहते हैं कि यह बहुत दुःखी है। एक तो सुख-दुःखकी यह परिभाषा है। दूसरी, जो मनमें हरदम प्रसन्न रहता है, कभी दुःखी नहीं होता, उसको सुखी कहते हैं और जो मनमें दुःखी रहता है, उसको दुःखी कहते हैं। इस प्रकार एक तो सुख-सामग्रीका नाम सुख है और दुःख-सामग्रीका नाम दुःख है तथा एक हृदयमें प्रसन्नताका नाम सुख है और हृदयमें जलनका नाम दुःख है। इनमें सामग्रीवाला सुख-दुःख तो परिस्थितिका है और हृदयका सुख-दुःख मूर्खताका है। इस मूर्खताको मिटानेकी खास जिम्मेवारी मनुष्यके ऊपर है। जैसे किसी भाषाका ज्ञान न हो तो उस अज्ञानको दूर करनेके लिये हम वह भाषा सीख सकते हैं, ऐसे ही सुख-दुःख हमारेमें है ही नहीं—इस विद्याको मनुष्यमात्र सीख सकता है। इस ज्ञानके लिये ही मानव-शरीर मिला है। अतः मानव-शरीरमें आकर सुखी-दुःखी नहीं होना है, प्रत्युत सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचा उठना है। ऊँचा उठना क्या होता है? कि न सुख ही पहुँचता है और न दुःख ही पहुँचता है। पातञ्जलयोगदर्शनके व्यासभाष्यमें एक श्लोक आया है—

प्रज्ञाप्रासादमारुह्याऽशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

(१।४७ का व्यासभाष्य)

अर्थात् जैसे पर्वतपर खड़ा हुआ मनुष्य नीचे पृथ्वीपर खड़े लोगोंको देखता है, ऐसे ही प्रज्ञारूपी प्रासादपर खड़ा हुआ अशोच्य पुरुष शोक करनेवाले लोगोंको देखता है।

समाधि-अवस्थामें योगीकी बुद्धि ऋतम्भरा अर्थात् सत्यको धारण करनेवाली हो जाती है—**'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।'** (योगदर्शन १।४८)। विवेक-विचारसे भी ऐसी बुद्धि प्राप्त हो जाती है। जैसे पृथ्वीपर कभी बाढ़ आती है, कभी आग लगती है, कभी सुखदायी परिस्थिति आती है, कभी दुःखदायी परिस्थिति आती है, तरह-तरहकी परिस्थितियाँ आती हैं, पर पर्वतपर खड़े हुए मनुष्यके पास उनमेंसे कोई भी परिस्थिति नहीं पहुँचती। वह केवल देखता है, सुखी-दुःखी नहीं होता। इसको सुख-दुःखसे ऊँचा उठना कहते हैं और ऐसी स्थिति आपकी हमारी सबकी हो सकती है।

कर्म तीन तरहके होते हैं—शुक्ल (पुण्यकर्म), कृष्ण (पापकर्म) और मिश्रित। साधारण मनुष्योंके तो ये तीन तरहके कर्म होते हैं, पर कर्मफलका त्याग करनेवाले योगीको किसी भी कर्मका भोग नहीं होता—**'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।'** (योगदर्शन ४।७), **'न तु संन्यासिनां क्वचित्'**, (गीता १८।१२)। उसके पास सांसारिक सुख-दुःख पहुँचते ही नहीं। जब ये पहुँचते ही नहीं तो फिर वह सुखी-दुःखी कैसे होगा? परिस्थिति कर्मनिर्मित है। जैसे कर्म किये, वैसी परिस्थिति सामने आ जाती है, पर वह सुखी-दुःखी नहीं करती। भागवतमें एक कथा आती है। बाल्यावस्थामें नारदजी महाराजकी माँ मर गयी। बालककी माँ मर जाय तो वह बड़ा दुःखी हो जाता है, पर नारदजी दुःखी नहीं हुए, प्रत्युत उन्होंने इसको भगवान्‌का मंगलमय विधान ही माना। नारदजीकी भजनमें रुचि थी। भजनमें माँ बाधक थी; अतः वह मर गयी तो भजनकी बाधा मिट गयी। इसलिये नारदजी राजी हो गये। तात्पर्य है कि परिस्थिति आदमीको दुःखी नहीं करती। वह मूर्खतासे ही दुःख पाता है। सुख-दुःखसे सब-के-सब ऊँचे उठ सकते हैं, इसमें सन्देहकी बात नहीं है।

दो बातें मूर्खतासे होती हैं कि दुःख तो दूसरेने दे दिया—**'परो ददातीति'** और सुख मैं अपने उद्योगसे कर लेता हूँ—**'अहं करोमीति।'** अगर अपने उद्योगसे सुख होता तो आज कोई दुःखी नहीं होता। दूसरेको दुःख देनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता—यह सिद्धान्त है।

श्रोता—कोई आदमी किसीके पीछे ही पड़ जाय दुःख देनेके लिये तो वह दुःखमें निमित्त हुआ कि नहीं?

स्वामीजी—वह तो मूर्खतामें निमित्त हुआ, दुःख तो उसको मिलनेवाला ही मिलेगा। जो दुःख देनेके लिये पीछे पड़ा है, उसको भयंकर पाप लगेगा और भयंकर दुःख भोगना पड़ेगा। परंतु जिसको दुःख मिलता है, उसका तो प्रारब्ध है। सर्वसमर्थ और परम सुहृद् परमात्माके रहते हुए परमात्माके जीते-जी कोई दुःख दे सकता है ? मैंने पहले भी एक बात सुनायी थी कि नगरके किनारे जंगलमें एक बाबाजी बैठे भजन कर रहे थे। वहाँसे कई आदमी धन लूट करके भाग रहे थे। पुलिस पीछे पड़ी थी। उन्होंने देखा कि मारे जायँगे तो बाबाजीके पास धन रखकर छिप गये, पुलिस वहाँ आयी और धन देखकर बाबाजीको मारने लगी। बाबाजी बोले—'*बधूं तू जाणे छे*', 'हे नाथ ! सब आप जानते हो।' इसका अर्थ यह हुआ कि मैंने अपनी जानकारीमें किसीको दुःख दिया नहीं और मार पड़ रही है तो मैं जानता नहीं कि किस कर्मका फल है। हे भगवन्! आप ही जानो, हमारेको इसका पता नहीं है। बिना कसूर मार पड़ रही है, इतनेपर भी उन्होंने किसीको दोष नहीं दिया। अतः जिसको मार पड़ती है उसमें ऐसा धैर्य चाहिये। दूसरा बेचारा दुःख दे नहीं सकता, हम अपनी मूर्खतासे दुःख पा रहे हैं। एक बात मैं और कहता हूँ। दुःख देनेवाला दुःख दे नहीं सकेगा, प्रत्युत सुख देगा ! मैंने ऐसा देखा है। दूसरा करना चाहता है अनिष्ट और हमारा होता है इष्ट। यह मेरे अनुभवकी बात है।

श्रोता—महाराजजी ! सुख-दुःख माना हुआ है, है तो नहीं !

स्वामीजी—बिलकुल माना हुआ है, तभी तो मिटता है, नहीं तो मिटे कैसे ? सत्का कभी अभाव नहीं होता। यदि सुख-दुःखकी सत्ता होती तो वह कभी मिट सकता ही नहीं। अतः सुख-दुःख है नहीं, केवल माना हुआ है। इस मान्यताको छोड़ना है।

श्रोता—यह छूटता क्यों नहीं ?

स्वामीजी—आप छोड़ते क्यों नहीं ? आंप कहते हो कि छूटता नहीं है, मैं कहता हूँ कि छोड़ते नहीं हैं ! आप पकड़ना छोड़ दो तो कैसे दे देगा दुःख ? दे नहीं सकता। परंतु दुःख देनेका भाव रखनेवाला दोषी, पापी जरूर बनेगा, इसमें सन्देह नहीं है। अब एक बहुत बड़ी भूल बताता हूँ। हम जिससे दुःख मिटे, उस उपायको न करके परिस्थिति बदलनेका उद्योग करते हैं, जो सर्वथा निष्फल है। निर्धन है तो धनवान् हो जाय, रोगी है तो नीरोग हो जाय, अपमानित है तो सम्मानित हो जाय, निन्दनीय है तो प्रशंसनीय हो जाय—यह परिस्थिति बदलनेका उद्योग है, जो बिलकुल निरर्थक होगा, क्योंकि यह वृथाभिमान है—'**अहं करोमीति वृथाभिमानः।**' आप परिस्थिति बदल सकोगे नहीं। इसलिये एक मार्मिक बात बताता हूँ कि परिस्थिति न बदल करके जो परिस्थिति मिली है, उसका सदुपयोग करो। बुखार आ गया, घाटा लग गया, अपमान हो गया, निन्दा हो गयी तो अब इसका सदुपयोग कैसे करें ? कोई काँटा निकाले तो हमें पीड़ा तो होती है, पर काँटा निकलनेसे बड़ा भारी लाभ होता है। इसी तरह अपमान होता है, घाटा लगता है तो इससे हमारे पाप नष्ट होते हैं। प्रतिकूल परिस्थितिसे पाप नष्ट होते हैं—यह बात तो बहुत जगह मिलेगी, पर इसमें एक मार्मिक बात है कि प्रतिकूल परिस्थिति कल्याणकी साधन-सामग्री है। भोगनेसे पाप तो अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। बिना चाहे, रोते-रोते भोगोगे तो भी पाप नष्ट हो जायँगे। परंतु उसका सदुपयोग करो तो कल्याण हो जायगा। सुखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—सेवा करना, दूसरेको सुख पहुँचाना। दुःखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—सुखकी आशा न रखना। सुखदायी परिस्थितिमें सुखका भोग करना गलती है और दुःखदायी परिस्थितिमें सुखकी आशा करना गलती है। गलती मिटाना सत्संगका काम है। सत्संगसे यह गलती मिट जायगी।

मेरे मनमें इस बातको लेकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि मनुष्यको ऐसा मौका मिला है, जिसमें वह अपना कल्याण करके सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचा उठ सकता है। अतः तुच्छ भोगोंमें फँसकर अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहिये। आज दिनतक किसीको मनचाहा भोग नहीं मिला, किसीकी मनचाही बात नहीं हुई। एक व्याख्यानदाताने कहा था कि मनचाही तो रामजीके बापकी भी नहीं हुई, आप कैसे कर लोगे ?

श्रोता—कोई दुःख देता है तो बदला लेनेकी मनमें आती है; अतः क्या करना चाहिये ?

स्वामीजी—बदला लेनेकी भावना हमारी गलती है, भूल है। वह तो हमारे कर्मोंका फल भुगताकर हमें पवित्र कर रहा

है। अतः यदि आपको बदला चुकाना हो तो सबसे पहले उसकी सेवा करो। जो दुःख देनेकी चेष्टा करता है, वह (पापोंका फल भुगताकर) आपको शुद्ध कर रहा है, आपका उपकार कर रहा है। उसका बदला लेना हो तो अपने तनसे, मनसे, वचनसे, धनसे, विद्यासे, बुद्धिसे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे उसकी सेवा करो, उसे सुखी बनाओ।

श्रोता—महाराजजी ! परिस्थितिका सदुपयोग करना तो ठीक है, लेकिन अगर प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय, घाटा लग जाय तो उसका प्रतीकार तो करना ही पड़ता है !

स्वामीजी—उसके लिये मैं मना करता ही नहीं ! उसका प्रतीकार करो, धन कमाओ, धनका सदुपयोग करो, कोई विपरीत परिस्थिति न आये—इसकी सावधानी रखो। परंतु आप दुःखदायी परिस्थितिको दूर कर दोगे—यह हाथकी बात नहीं है। उद्योग करनेके लिये, कर्तव्य-कर्मका पालन करनेके लिये मैं मना करता ही नहीं। परंतु आप सुखदायी परिस्थिति बना लोगे—यह आपके हाथकी बात नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**' (गीता २।४७) 'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलमें कभी नहीं।' अतः फल आपके अधिकारकी बात नहीं है, पर कर्तव्य-कर्म खूब डट करके, अच्छी तरहसे करना चाहिये। उसमें कभी नहीं चूकना चाहिये। परंतु किसीको दुःख देना, किसीको नीचा दिखाना—ऐसी जो धारणा है, यह महान् गलत है। इससे भयंकर दुःख पाना पड़ेगा, बच नहीं सकेगा कभी !

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

क्रोध पापका प्रधान कारण है। पापियोंका चिह्न क्रोध है। जिसमें क्रोध है, चाहे वह कोई भी हो, उसे पापी समझना चाहिये। राग-द्वेष-मिश्रित क्रोध मनुष्यको उत्थान-प्रगतिकी ओर जानेसे रोकता है। विशेषतया गुरुजनों और श्रेष्ठजनोंके प्रति क्रोध करना ही नहीं चाहिये।

जिस किसीने राग-द्वेषमय जीवन बिताया है, वही उन्नतिकी सुनहली पगडंडीपर चलनेसे वञ्चित रहा है। आवश्यकता है, नित्यप्रति उद्दण्ड मनपर शासन करनेकी।

× × ×

गीताका एक श्लोक मुझे बहुत ही पसंद है। यह श्लोक सबके लिये उपयोगी है। सभी सम्प्रदायके लोग इससे लाभ उठा सकते हैं। सुनो—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
(८।८)

जिसने अभ्यासमय जीवन बिताया है, उसीने परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति की है।

× × ×

भेरियाके बंगालीबाबा सुनाया करते थे। एक बार ऋषिकेशकी झाड़ीमें साधु-महात्माओंका सत्सङ्ग हो रहा था। सभी अपने-अपने अनुभव प्रकट कर रहे थे। इतनेमें झाड़ीमेंसे एक बूढ़ा साधु निकला। लोगोंके बहुत आग्रह करनेपर वृद्ध साधुने कहा—'साधन दो तरहके हैं—(क) अन्तरङ्ग और (ख) बहिरङ्ग। दोनों ही आवश्यक हैं।

(क) निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये, किसी क्षण भी चित्तमें 'तत्त्वचिन्तन' से इतर विचार न होने चाहिये। (ख) प्रतिग्रह (दूसरेसे लेना), परिग्रह (संचय करना), उपग्रह (बार-बार खाना), परचर्चा (निन्दा-स्तुति करना)—इन चारोंसे बच जाय तो भजनका फल प्राप्त हो।

× × ×

अविवेकीके लिये शास्त्र भारस्वरूप प्रतीत होता है, रागीको ज्ञान भार है, अशान्त लोगोंको मन भार है। अनात्मदर्शीको शरीर भार है। इसी आशयका एक श्लोक है—

भारोऽविवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणाम्।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः॥

शुद्धि छः प्रकारकी होती है—(१) मनकी शुद्धि, (२) वाणीकी शुद्धि, (३) अन्नशुद्धि, (४) हस्त-शुद्धि, (५) कच्छ-शुद्धि और (६) क्रिया-शुद्धि।

मनकी शुद्धि—मनको विषयभोगके पदार्थोंसे पृथक् करके सत्य-चिन्तन करनेसे होती है।

वाणीकी शुद्धि—सत्य, मधुर, सरल भाषण तथा श्रीहरिका गुणगान करनेसे होती है।

अन्न-शुद्धि—साधुके लिये भिक्षान्न पानेसे शुद्धि होती है, किंतु गृहस्थियोंको शुद्ध आजीविका ही अपेक्षित है।

हस्त-शुद्धि—प्रतिग्रह न लेनेसे तथा हाथोंद्वारा शुभ कर्म करनेसे होती है।

कच्छ-शुद्धि—वीर्यकी रक्षा करनेसे, पूर्ण ब्रह्मचर्यमय जीवन बितानेसे होती है।

क्रिया-शुद्धि—शुद्ध, निष्कपट व्यवहार करनेसे होती है। प्रत्येक कार्यमें शुद्धता होनी चाहिये।

× × ×

किसीसे 'देहि' यूँ कहना—मरणके समान है। मर जाना भला है, किंतु वाणीद्वारा अथवा अन्य किसी चेष्टाद्वारा अपनी आवश्यकताकी सूचना देना अपना पतन करना है। परोपकारके लिये भी माँगना अनुचित है। साधुको भूख लगनेपर मधुकरी माँग लेनी चाहिये। मधुकरी माँगना गृहस्थियोंको कृतार्थ करना है, किंतु 'देहि' मात्र शब्दके कहते ही शरीरमें स्थायीरूपसे रहनेवाले पाँच देवता चले जाते हैं, वे देव ये हैं—ह्री, श्री, धी, ज्ञान और गौरव। केवल माँगनेके संकल्पमात्रसे चेष्टामें मलिनता आ जाती है। माँगना बड़ा भारी पाप है।

× × ×

प्राचीन कालमें महात्मा लोग सदैव गङ्गाके किनारे-किनारे विचरण किया करते थे। स्थायीरूपसे कहीं भी नहीं रहते थे। दत्तात्रेय जहाँ कहीं भी जाते, बड़ी भीड़ हो जाती, हजारों आदमियोंसे घिर जाते थे। वे कभी-कभी अज्ञात स्थानमें भी चले जाते थे। किसीको छः-छः मासतक पता नहीं चलता था।

शुरूसे मैं जब रामघाटकी ओर आया तो बहुत-से विरक्त महात्मा गङ्गा-किनारे घूमते हुए मिलते थे।

निरन्तर भ्रमण करते रहनेसे किसी देशका प्रभाव नहीं पड़ता। बड़े-बड़े अनुभव होते हैं। विरक्तकी चेष्टा उसकी वास्तविकताको बता देती है। विरक्ति छिपी नहीं रहती।

एक बारकी बात है, मैं व्रजसे आ रहा था। एक दिन सबेरेसे तीन बजे दिनतक चलता ही रहा। तीन बजेके करीब बड़े जोरोंकी भूख लगी। एक गाँवमें गया। उसमें एक जमींदारकी हवेली थी। द्वारपर एक बूढ़ा लेटा था। मैंने 'नारायण हरि' की। इतनेमें एक जमींदारका नौकर आया। वह कहने लगा—'ना बाबा यह साधु नहीं है। यह तो बकरी चरानेवाला गड़रिया है। इसे रोटी मत दो।' बूढ़ेने कहा—'नहीं, यह तो साधु है।' ऐसा कहकर बूढ़ेने घरमेंसे चार रोटी लाकर मुझे दी।

साधुको न तो भिक्षाकी चिन्ता करनी चाहिये और न संकल्प करके किसी खास दरवाजेपर ही जाना चाहिये। स्वाभाविक जहाँ कहीं भी रोटी मिल जाय, ले लेनी चाहिये। तत्त्वदर्शी साधुको चारों वर्णोंके यहाँसे रोटी ले लेनी चाहिये, किंतु अछूत जातिवालेंके यहाँसे नहीं।

अछूते तो वे भी हैं जिनका जीवन व्यभिचारमय बीतता है। भोगरत प्राणी ही अछूते हैं। उनके स्पर्शमात्रसे अपवित्रताका संचार हो जाता है। उनसे बचकर रहना चाहिये।

× × ×

भिक्षान्न सोम-अन्न है, अमृत है। इसके बराबर शुद्ध कोई अन्न नहीं है। साधुको सदैव भिक्षा करनी चाहिये। आजकलके साधु रेलमें यात्रा करते हैं, यह मुझे पसंद नहीं। उन्हें पैदल भ्रमण करना चाहिये। पैदल भ्रमणमें बड़े-बड़े अनुभव होते हैं। स्थायी वैराग्यका पता तो पैदल भ्रमणमें ही लगता है। सुख-दुःखका पूर्ण अनुभव हो जाता है।

× × ×

आत्मनिष्ठा बिना मुक्ति नहीं हो सकती। आवश्यकता है आत्मनिष्ठ होनेकी। जबतक वासनाओंका चित्तमें निवास है, तबतक ज्ञान नहीं उदय हो सकता, वासना ही जन्मका कारण है। ज्यों ही वासना नष्ट होगी, त्यों ही वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख और दोषसे पृथक् हो जायगा।

आजकल बहुत-से ऐसे हैं, जो ज्ञानके साथ भोग भी चाहते हैं। इन्द्रियोंके साथ खेल भी करना चाहते हैं। खेल तो एकहीके साथ होगा। आत्माके साथ खेल करनेवाला इन्द्रियोंके साथ कैसे खेल कर सकता है? इन्द्रियोंके साथ खेल करनेमें महादुःख है और इससे महान् हानि उठानी पड़ती है, जिसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। इस हानिसे बचनेके लिये निग्रह करना चाहिये।

ज्ञान होनेका लाभ निवृत्त होना है।

आत्म-बोध

(श्रीसुबोधचन्द्रजी पाण्डेय)

जिसने आत्मस्वरूपको जान लिया है, उस स्वानन्दरसका पान करनेवाले पुरुषके लिये वासनारहित मौनसे बढ़कर उत्तम सुखदायक और कुछ भी नहीं है। यह आत्मा अविनाशी एवं नित्य-सिद्ध है। यह देश, काल और शुद्धि आदि किसीकी भी अपेक्षा नहीं करता। जो महापुरुष अपने स्वरूपमें चित्तको स्थिर करके अखण्ड ऐश्वर्य-सम्पन्न आत्माका साक्षात्कार कर लेता है, वह संसार-गंधसे युक्त बन्धनको स्वयं काट डालता है एवं अपने मनुष्य-जन्मको सफल बना लेता है।

कहा गया है कि 'जो स्वयं अनुभव नहीं किया जा सकता, अपनी सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा उस सबके साक्षीको ही तू अपना आत्मा जान'—

सर्वे येनानुभूयन्ते यः स्वयं नानुभूयते।
तमात्मानं वेदितारं विद्धि बुद्ध्या सुसूक्ष्मया॥
(विवेकचूडामणि)

यह आत्मा स्वयं ही अपना साक्षी है, क्योंकि यह स्वयं अपने-आपसे ही अनुभव किया जाता है, इसलिये इससे परे कोई और अपना साक्षात् अन्तरात्मा नहीं है। इस आत्मतत्त्वके अवबोधके लिये कुछ प्रश्न-उत्तर नीचे दिये जा रहे हैं, जिन्हें अपने चित्तरूपी आकाशमें एकाग्र मनसे धारण करनेपर अवश्य ही आत्मबोधका मार्ग प्रशस्त हो सकेगा एवं इस मनुष्य-शरीरका रहस्य भी समझा जा सकेगा—

प्र०—जीवोंका बन्धन क्या है?
उ०—विषयोंमें आसक्त रहना ही जीवोंका प्रबल बन्धन है।
प्र०—मुक्ति किसे कहते हैं?
उ०—विषयोंमें वैराग्य होना ही जीवोंकी मुक्ति है।
प्र०—भीषण नरक क्या है?
उ०—शरीरका अभिमान ही भीषण नरक है।
प्र०—स्वर्गका सोपान क्या है?
उ०—वासनाओंका क्षय करना ही स्वर्गका सोपान है।
प्र०—संसारकी यातनाओंका विनाश कैसे होता है?
उ०—गुरुदेवके मुखसे वेदान्तोंका श्रवण करनेसे जो आत्मबोध उत्पन्न होता है, उसीके द्वारा मनुष्य (जीव) भवसागरसे निःसंकोच पार उतर जाते हैं।
प्र०—नरकोंका द्वार क्या है?
उ०—कामिनी-प्रसक्ति ही नरकोंका द्वार है।
प्र०—स्वाभाविक स्वर्ग क्या है?
उ०—अहिंसा ही स्वाभाविक स्वर्ग है।
प्र०—इस संसारमें सुखपूर्वक निद्रामें कौन हैं?
उ०—समाधिमें लगे हुए योगिजन ही एकमात्र विघ्नोंसे रहित हैं, वे ही सदा सुखपूर्वक निद्रामें मग्न हैं।
प्र०—सदा जागरित कौन है?
उ०—जो सदा सद्बोध-युक्त है, वही सदा जागरित है।
प्र०—संसारमें जीवोंका परम शत्रु क्या है?
उ०—जीवोंका परम शत्रु इन्द्रियाँ हैं।
प्र०—संसारमें मित्र कौन है?
उ०—वशमें की हुई इन्द्रियाँ ही परम मित्र हैं।
प्र०—परम दरिद्र कौन है?
उ०—जिसका हृदय कामनाओंसे पूर्ण है, वही परम दरिद्र है।
प्र०—संसारमें महापुरुष कौन है?
उ०—जिसका हृदय संतोषसे पूर्ण है, वही इस घोर संसारमें महापुरुष है।
प्र०—मनुष्योंमें अन्धसे भी महा अन्ध कौन है?
उ०—जो दुराशय कामान्ध है, उसके समान महा अन्ध दूसरा कोई नहीं है।
प्र०—मृत्यु क्या है?
उ०—अपयश ही मृत्यु है।
प्र०—उपयुक्त शिष्य कौन है?
उ०—जिसके हृदयमें कपट नहीं है, निष्कपटभावसे गुरुदेवके चरणकमलोंमें भक्ति रखता है, वही उपयुक्त शिष्य है।
प्र०—संसारमें सर्वोत्कृष्ट बल एवं आभूषण क्या है?
उ०—संसारमें शील ही सबसे बड़ा बल एवं आभूषण है।
प्र०—विश्वमें सच्चा तीर्थ क्या है?
उ०—विशुद्ध मन ही सर्वोत्तम तीर्थ है।
प्र०—संसार-भवनमें आकर सदा क्या श्रवण करना चाहिये?
उ०—निरन्तर भक्ति रखकर गुरुदेवके उपदेशों तथा श्रेष्ठ शास्त्र-वचनोंका श्रवण करना चाहिये?

प्र०—जीवोंको ब्रह्म-लाभ कैसे होता है ?

उ०—सर्वदा साधुओंका सङ्ग, इन्द्रिय-दमन, तत्त्व-विचार तथा सदा संतुष्ट रहनेवालेको ब्रह्म-लाभ होता है।

प्र०—संसारमें जन्म लेनेके उपरान्त एकान्त हृदयमें क्या करना चाहिये ?

उ०—शिव तथा विष्णुमें कोई अन्तर न समझकर सदा एकान्त अन्तरमें शिवजीका पूजन-वन्दन आदि करना चाहिये।

प्र०—जीवन-सुखका आभास कैसे होता है ?

उ०—जो संसारमें आकर निष्पाप जीवन-यापन करता है, उसे ही जीवन-सुखका आभास होता है।

प्र०—वास्तविक लाभ क्या है ?

उ०—आत्मतत्त्वसे अवगत होना ही वास्तविक लाभ है।

प्र०—संसारमें विजयी कौन है ?

उ०—जो अपने मनको वशमें करता है, वही विश्व-विजयी है।

प्र०—वास्तविक वीर किसे कहते हैं ?

उ०—जिसका मन काम-शरसे पीड़ित नहीं है, वही वास्तविक वीर है।

प्र०—संसारमें महा विष क्या है ?

उ०—संसार-भवनमें विषय ही महा विष है।

प्र०—संसारमें धन्य कौन है ?

उ०—वह साधु मनुष्य धन्य है, जो परोपकारी है, क्योंकि परोपकारीके समान कोई धन्य नहीं है।

प्र०—भू-मण्डलमें पूजनीय कौन है ?

उ०—जो पुरुष तत्त्वज्ञ है, वही विश्वमें अति पूजनीय है।

प्र०—संसारका मूल क्या है ?

उ०—अविद्या ही संसारका मूल है।

प्र०—संसारमें पशुके सदृश कौन है ?

उ०—संसारमें विद्याहीन मनुष्य ही पशु है।

प्र०—साधु पुरुषको किसके संगका त्याग करना चाहिये ?

उ०—संसारमें जो विद्याहीन, अति नीच, जिसका हृदय अत्यन्त खलसे परिपूर्ण है, ऐसे सङ्गको त्याग देना चाहिये।

प्र०—किस कामको करनेसे मनुष्य लघु समझा जाता है ?

उ०—माँगना ही अति लघु है। माँगनेवालेको संसारमें कोई सम्मान नहीं देता। उसे सभी लोग तृणके समान तुच्छ समझते हैं।

प्र०—जगत्‌में अद्वितीय, सर्वोत्तम क्या है एवं किन कर्मोंको करनेसे जीवोंको शोक प्राप्त नहीं होता ?

उ०—संसारमें शिवतत्त्व अद्वितीय है। सुशीलता सर्वोत्तम है। शिव एवं विष्णुमें जो भेद न रखता हो तथा अभेद-मनसे उनका पूजन-अर्चन करता है, वह शोकको कभी प्राप्त नहीं होता।

प्र०—संसारमें सर्वश्रेष्ठ दान क्या है ?

उ०—जीवोंको अभय प्रदान करना श्रेष्ठ दान है।

प्र०—मनका आत्यन्तिक नाश क्या है ?

उ०—मनका आत्यन्तिक नाश मोक्ष है।

प्र०—किस स्थानको प्राप्त होनेपर भय नहीं रहता ?

उ०—स्वरूप-मुक्ति-लाभ करनेपर जीवको किसी प्रकारका भय नहीं रहता।

प्र०—मृत्युके समय क्या करना चाहिये ?

उ०—मृत्युके समय एकान्त हृदयमें मुरारीके पाद-पद्मका चिन्तन करना चाहिये।

प्र०—किस वस्तुसे जीवके अवगत होनेपर उसका कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता ?

उ०—जो ब्रह्म, नित्य-निरञ्जन, शुद्ध-सनातनको जानता है, वह साधु पुरुष सर्वज्ञ है। उन्हें जाननेमें कुछ भी शेष नहीं रहता।

प्र०—संसारमें दुर्लभ क्या है ?

उ०—संसारमें सद्‌गुरुका मिलना अति दुर्लभ है।

प्र०—संसारमें दुर्जय क्या है ?

उ०—संसारमें मनोभव अति दुर्जय है।

प्र०—पशुसे भी पशु कौन है ?

उ०—जो धर्म-पथपर नहीं चलता, जो वेदादिका अध्ययन नहीं करता, तत्त्व-बोध जिसके अंदर नहीं है, वही पशुसे भी पशु है।

प्र०—विद्युत्‌के सामन चञ्चल कौन है।

उ०—धन, आशा और जीवन—ये तीन परम चञ्चल हैं।

प्र०—निरन्तर चिन्तनीय वस्तु क्या है ?

उ०—भगवन्नाम ही निरन्तर चिन्तनीय तथा ध्येय है। इसीसे सर्वविध सुख-शान्ति एवं परम कल्याण प्राप्त होता है।

भागवतीय प्रवचन—४०

संतोंके दर्शनके लिये सद्भाव आवश्यक है

(श्रीकृष्णपादलीन संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

देवहूतिने भगवान् कपिलदेवजीसे कहा—'आप सत्संग करनेकी आज्ञा देते हैं, किंतु मुझे तो इस संसारमें कहीं भी कोई संत दिखायी नहीं पड़ता।'

कपिलभगवान्ने कहा—'माता ! तब मानो कि तुम्हीं श्रद्धारहित हो। अश्रद्धा होनेपर तो संतका मिलन होनेपर भी सद्भावना नहीं होती। संतको ढूँढ़ने तुम कहाँ जाओगी। तुम ही संत बनोगी तो तुम्हें संत मिलेंगे।'

एकनाथ, तुकाराम, नरसिंह आदि गृहस्थाश्रमी थे। वे घरमें रहकर ही संत बने थे। संतोंके लक्षण जीवनमें उतारोगे तो संत बन सकोगे।

बिना सत्संगके सुख नहीं मिलता। स्वयं संत बने बिना सच्चा संत नहीं मिलेगा। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। क्रोधके कारण हनुमान्जीको श्वेत फूल भी लाल दिखायी दिये थे।

एकनाथ महाराज रामायणके सुन्दरकाण्डकी कथा कह रहे थे।

इस सुन्दरकाण्डमें सभी कुछ सुन्दर है। यह सुन्दरकाण्ड नाम इसलिये रखा गया है कि इसमें हनुमान्जीको माता सीताजीकी पराभक्तिके दर्शन हुए हैं।

ब्रह्मचर्य और रामनाम हो तो इस संसारसागरको पार किया जा सकता है। हनुमान्जी-जैसे ही इस दुर्गम संसारसागरको पार कर सकते हैं। सागर पार करके हनुमान्जी अशोकवनमें आये। एकनाथ महाराज कथामें कहते हैं कि जब हनुमान्जी अशोकवनमें आये, तब वहाँ वाटिकामें सफेद फूल खिल रहे थे। जहाँ सीताजी वहाँ अशोकवन। जहाँ भक्ति वहाँ अशोक (शोकका अभाव)।

हनुमान्जी वहाँ कथा सुननेके लिये आये थे। उन्होंने प्रकट होकर विरोध करते हुए कहा कि 'महाराज ! आप गलत कह रहे हैं। अशोकवनमें उस समय लाल फूल खिले हुए थे, सफेद नहीं। मैंने अपनी आँखोंसे प्रत्यक्ष देखा था।' एकनाथ महाराजने कहा कि 'मैं तो अपने सीतारामको मानकर कथा कह रहा हूँ और मुझे जैसा दिखायी दे रहा है, वैसा ही कह रहा हूँ।' अन्तमें इस झगड़ेको लेकर वे दोनों श्रीरामके पास गये। रामचन्द्रजीने कहा कि 'आप दोनोंकी बात सही है। क्रोधावेशसे आँखें लाल होनेके कारण हनुमान्जीने फूल लाल देखे थे, अन्यथा फूल तो सफेद ही थे।'

जिसकी दृष्टि जैसी होगी उसे वैसी ही सृष्टि दिखायी देगी। दुर्योधनको जगत्में कोई संत न मिला, उसने सभीको दुर्जन ही पाया। युधिष्ठिरको कोई दुर्जन नहीं मिला, उसने सभीको सज्जन ही पाया।

संतोंके धर्म (लक्षण) में तितिक्षाको प्राधान्य दिया गया है। सहन करोगे तो सुखी होओगे। संतोंका चरित्र पढ़ो। संतोंको कई दुःख सहने पड़े हैं। किंतु उन दुःखोंका संतोंपर कुछ असर नहीं होता। जो अतिशय सहन करे वही संत है।

एकनाथ महाराज पैठणमें रहते थे। गोदावरी नदीकी ओर जानेवाले मार्गपर एक पठान रहता था। एकनाथजी महाराज उसी रास्तेसे स्नान करनेके लिये जाते थे। वह पठान महाराजको बहुत सताता था। किंतु महाराज सभी कुछ सहते रहते थे।

एक दिन उस पठानने सोचा कि यह ब्राह्मण क्रोधित नहीं होता है। आज मैं इसे क्रोधित करके ही रहूँगा। महाराज स्नान करके वापस आ रहे थे, तो उस पठानने महाराजपर थूका। महाराज दूसरी बार स्नान करने गये। फिर उस पठानने महाराजपर थूका। कई बार ऐसा होता रहा, किंतु महाराज क्रोधित न हुए। गोदावरीसे वे कहने लगे कि तेरी कृपा है कि 'तू मुझे स्नान करनेके लिये बार-बार बुला रही है। वह पठान अपने दुर्जन स्वभावका परित्याग नहीं करता तो मैं अपनी सज्जनताका परित्याग कैसे कर सकता हूँ।' पठानने एक सौ आठ बार महाराजपर थूका और उतनी ही बार महाराजने गोदावरी-स्नान किया। अन्तमें वह पठान अत्यन्त लज्जित हुआ। उसने महाराजके पाँव छुए और क्षमा माँगी, कहा—'महाराज ! आप संत हैं, ईश्वर हैं। मैं आपको पहचान न सका।' महाराजने उत्तर दिया कि 'क्षमाका कोई प्रश्न ही नहीं है। तुम्हारे कारण तो आज मुझे एक सौ आठ बार गोदावरी-स्नानका पुण्य मिला।'

शान्ति उसीकी बनी रहती है जो अंदरसे ईश्वरके साथ सम्बद्ध रहे। जो ईश्वरसे दूर है उसे शान्ति कहाँसे मिलेगी।

कपिलजी कहते हैं—'माता ! जो बहुत सहन करता है, वही संत बन सकता है। अतिशय विपत्तिको भी जो ईश्वरका अनुग्रह समझे, वही महान् वैष्णव है।'

दुष्ट लोग किसीका भी अच्छा नहीं देख सकते। दुष्टोंने तुकारामको गधेपर बैठाया तो तुकारामकी पत्नीको दुःख हुआ। किंतु तुकाराम उससे बोले कि 'मेरे विट्ठलनाथजीने मेरे लिये जो गरुड़ भेजा है उसीपर तो मैं बैठा हूँ।' सभीने गधा देखा, किंतु तुकारामकी पत्नीने गरुड़ देखा।

जगत्में सब कुछ सहते रहो।

जगत्में अन्धकारका अस्तित्व है अतः प्रकाशका मूल्य है।

संतोंका पहला लक्षण तितिक्षा है, तो दूसरा है करुणा। तीसरा लक्षण है सभी देहधारियोंके प्रति सुहृद्भाव। अजातशत्रुता, शान्त, सरल स्वभाव आदि भी संतोंके लक्षण हैं। शान्तिकी परीक्षा प्रतिकूलतामें होती है। अर्थ-धन-सम्पत्तिसे तो प्रतिदिन सम्बन्ध रखते हो, किंतु उसके साथ-साथ परमात्मासे भी सम्बन्ध रखोगे तो सम्पत्ति भी मिलेगी और शान्ति भी। भागवतकार कहते हैं कि ईश्वरके लिये कुछ-न-कुछ त्यागो।

संत पुरुष प्रभुके हितार्थ सर्वस्वका त्याग करते हैं—'**मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः।**' संत मेरे अर्थात् परमात्माके लिये सम्पूर्ण कर्म तथा अपने सगे-सम्बन्धियोंका त्याग करते हैं। संत परमात्माके लिये संसारके विषयोंका बुद्धिपूर्वक त्याग करते हैं और भगवत्परायण रहकर भगवान्की पवित्र कथाओंका श्रवण, कीर्तन करते हैं तथा उनमें ही चित्त लगाये रहते हैं—उन भक्तोंको संसारके तरह-तरहके ताप कोई कष्ट नहीं पहुँचाते हैं। ऐसे सर्वसङ्गपरित्यागी महापुरुष ही साधु होते हैं, उनका सङ्ग करना चाहिये, क्योंकि वे आसक्तिसे उत्पन्न सभी दोषोंको हर लेनेवाले हैं।

भगवान् परीक्षा करके ही अपनाते हैं।

भूखे मारुँ, भूखे सुवाडुं,
तननी पाडुं छाल, पछी करीश न्याल।

'मैं भूखसे व्याकुल करूँगा, भूखा ही सुलाऊँगा, तनको गला दूँगा और तब उसे मालामाल करूँगा।'

भगवान्ने नरसिंह मेहताकी कई बार परीक्षा की थी।

भगवत्परायण रहकर भगवान्की कथाओंका श्रवण-कीर्तन करे, संतोंका संग करे, भगवान्में ही चित्त रमाता रहे तो भक्तिका विकास होता है। भगवान्की कथा सुननेसे श्रद्धा दृढ़ होती है। उसके बाद भगवान्के लिये आसक्ति बढ़ती है। आसक्ति बढ़नेसे व्यसनात्मिका भक्ति प्राप्त होती है और जिसकी भक्ति व्यसनात्मिका बने उसकी मुक्ति सुलभ होती है। भक्ति जब व्यसन-सी उत्कट बनती है तब ईश्वरके पास ले जाती है।

हे माता ! तीव्र भक्तिके बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। तीव्र भक्तिका अर्थ है व्यसनात्मिका भक्ति।

तुकारामने भक्तकी बड़ी अच्छी व्याख्या दी है। एक क्षण भी जो भगवान्से विभक्त न हो पाये वह भक्त है, व्यवहारका कामकाज निभाते हुए भी जो भगवान्से विभक्त न हो पाये वही भक्त है। और तीव्र भक्तिका अर्थ है एक भी क्षण ईश्वरसे विभक्त न होना। इस सुदृढ़ भक्तिसे मनुष्य अपनी इसी देहमें, अपनी अन्तरात्माके समान भगवान्को प्राप्त कर लेता है।

* * *

परमात्माका वाचक प्रणव है, उसका जप और उसके अर्थकी भावना करनी चाहिये। इससे आत्माकी प्राप्ति और विघ्नोंका अभाव होता है।
—देवर्षि नारद

जिन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इन छः शत्रुओंको जीत लिया है, वह पुरुष ईश्वरकी ऐसी भक्ति करते हैं जिसके द्वारा भगवान्में परम प्रेम उत्पन्न हो जाता है।
—महाभारत

भगवान्की मायाके दोष-गुण बिना हरिभजनके नहीं जाते, अतएव सब कामनाओंको छोड़कर श्रीरामको भजो।
—तुलसीदासजी

* * *

विश्वहितके लिये हमारी सनातन प्रार्थना

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
(पु० सू० १)

परम पुरुष परमात्माका अनुपम स्वरूप दर्शन पावन।
ध्यान धरें ऋषि-मुनिजन धन्य बनें, पावें नित नवजीवन॥
सहस्र-शीर्ष पुरुषके मस्तक अनन्त, अमित हजार।
अनन्त नेत्र, चरण हैं उनके अगणित अपरम्पार॥
अखिल विश्वमें व्याप्त धराधिपति हैं विश्वविधाता।
दस अङ्गुल अनन्त योजन ऊपर तटस्थ उद्गाता॥
परम परात्पर परमेश्वरका चिन्तन-मनन करें हम।
ध्यान धरें मन-ही-मनमें गुण-गौरव-गान करें हम॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥
(पु० सू०२)

परम पुरुष है व्याप्त सकल जगमें उसका है राज।
शासक है वह अखिल विश्वका उसका ही साम्राज्य॥
वर्तमान है वही स्वयं, है बीता हुआ जमाना।
आगे आनेवाले युगका मालिक वही समाना॥
योग-क्षेम निभानेवाला ईश्वर वही अधीश्वर।
अन्न-वस्त्रका दाता है स्वयमेव स्वयं जगदीश्वर॥
जीवन, जगत्, जमानेका शासक भी है परमेश्वर।
अमृततत्त्व-स्वरूप मोक्षपद वरदाता वरदेश्वर॥

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
(पु० सू० ३)

परम पुरुष है वैभवशाली त्रिकाल दर्शनमान।
भूत, भविष्य अरु वर्तमानसे सम्बन्धित सम्मान॥
महान् है उनका ही सारा विभूतिमय विस्तार।
चार चरणके चतुष्पादमें चतुर्थांश विस्तार॥
केवल एक चरणमें सारा पञ्चभूतात्मक विश्व।
परम पुरुषके एक पादमें शामिल सारा विश्व॥
मानवका अधिकार इसीमें मर्यादाकी रेखा।
परम पुरुषके त्रिपादका कर देखें लेखा-जोखा॥
त्रिपाद-वैभवमें है शाश्वत दिव्यलोक संधान।
वैकुण्ठ, गो-लोकादि अनेकों शिवलोकादि विधान॥
कर लेना अनुमान इसीमें भक्तोंकी है शान।
भक्तोंके हैं भक्त स्वयं सद्भाग्यवान् भगवान्॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(श्वेताश्व० ६। १८)

सबसे पहले रचा जिन्होंने ब्रह्माको प्रगटाया।
उनके चार मुखोंसे चारों वेदोंको कहलाया॥
आत्मभावसे स्वयं प्रकाशी परम देवता श्रेष्ठ।
शरणागत हूँ मैं मुमुक्षु आराध्य वही हैं इष्ट॥

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय॥

नमस्कार सत्स्वरूप जगके कारण-रूप महान्।
परमात्मा चित्स्वरूप सर्वाश्रयात्म-सत्त्वसमान॥
नमस्कार अद्वैत तत्त्व हे मुक्ति-प्रदाता देव।
शाश्वत सर्वव्यापी ब्रह्म स्वरूपरूपिता देव॥

(अनु०—श्रीमदालसा नारायण)

[प्रेषक—श्रीजयदयालजी डालमिया]

* * *

जो पुत्र बूढ़े माता-पिताकी, पति अपनी साध्वी स्त्रीकी, पिता अपने छोटे बच्चोंकी, शिष्य गुरुकी, समर्थ मनुष्य ब्राह्मणोंकी और शरणागतकी रक्षा नहीं करता, वह जीता हुआ ही मुर्देके समान है। —भगवान् श्रीकृष्ण

* * *

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें सत्, चित् और आनन्द

द्वावेव सच्चिदानन्दौ प्रोक्तौ जगज्जनार्दनौ।
द्वयोरन्तरमेतत्तु सदाऽस्थिरं सदा स्थिरः॥

गीतामें सत्, चित् और आनन्द—इन तीनोंका वर्णन आता है। परंतु वेदान्त-ग्रन्थोंमें इन तीनोंका जैसा क्रमसे वर्णन आता है, वैसा क्रमसे वर्णन गीतामें नहीं आता; क्योंकि गीता एक सिद्धान्त-ग्रन्थ है, प्रक्रिया-ग्रन्थ नहीं है।

'सत्' शब्द सत्ताका वाचक, 'चित्' शब्द ज्ञानका वाचक और 'आनन्द' शब्द सर्वोपरि सुखका वाचक है।

'सत्'—

सत्ता दो प्रकारकी होती है—स्वतःसिद्ध अविकारी सत्ता और उत्पन्न होनेवाली विकारी सत्ता। अविकारी सत्ता परमात्मा एवं जीवात्माकी है और विकारी सत्ता संसार एवं शरीरकी है। अविकारी सत्ताका कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (२। १६) और विकारी सत्ताका कभी भाव नहीं होता—**'नासतो विद्यते भावः'** (२। १६)।

उत्पन्न होना, 'है'-रूपसे दीखना, बढ़ना, परिवर्तित होना, क्षीण होना और नष्ट होना—ये छः विकार अविकारी सत्तामें नहीं होते अर्थात् वह सत्ता इन छः भाव-विकारोंसे रहित है। ये छः भाव-विकार विकारी सत्तामें होते हैं; जैसे—संसार एवं शरीर उत्पन्न होता है, उत्पन्न होनेके बाद 'है'-रूपसे दीखता है, बढ़ता है, परिवर्तित होता है अर्थात् एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको प्राप्त होता है, क्षीण होता है और नष्ट हो जाता है।

गीतामें उपर्युक्त दोनों सत्ताओंका वर्णन एक साथ ही हुआ है; जैसे—गतिशील प्राणियोंमें जो गतिरहित है, विषम प्राणियोंमें जो समरूपसे स्थित है और नष्ट होनेवाले प्राणियोंमें जो विनाशरहित है (१३। २७)। सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें जो विभागरहित है (१३। १६)। जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणी हैं और जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें ओतप्रोत है (८। २२) आदि।

'चित्'—

ज्ञान दो प्रकारका होता है—करण-निरपेक्ष और करण-सापेक्ष। परमात्मा और अपने स्वरूपका ज्ञान (बोध) करण-निरपेक्ष है; क्योंकि वह ज्ञान स्वयंसे ही होता है, इन्द्रियाँ, मन आदि करणोंसे नहीं। संसार और शरीरका ज्ञान करण-सापेक्ष है; क्योंकि यह ज्ञान इन्द्रियाँ, मन आदि करणोंसे होता है। करण-निरपेक्ष ज्ञान सबका प्रकाशक है। इसी ज्ञानसे सबको प्रकाश मिलता है। इसीसे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सब प्रकाशित होते हैं। परंतु करण-सापेक्ष ज्ञान प्रकाश्य है।

गीतामें उपर्युक्त दोनों ज्ञानोंका वर्णन भी प्रायः एक साथ ही हुआ है; जैसे—वह परमात्मा सम्पूर्ण ज्योतियोंका ज्योति है अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानोंका ज्ञान है (१३। १७)। वह परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी सम्पूर्ण विषयोंको प्रकाशित करता है (१३। १४)। उस परमपदरूप परमात्माको सूर्य (नेत्र), चन्द्रमा (मन) और अग्नि (वाणी) प्रकाशित नहीं करते (१५। ६); किंतु उससे ये सूर्य (नेत्र) आदि प्रकाशित होते हैं (१५। १२), आदि।

'आनन्द'—

सुख भी दो प्रकारका होता है—पारमार्थिक और लौकिक। पारमार्थिक सुख परमात्मस्वरूप है। यह सुख तीनों गुणोंसे अतीत है। यह सुख सांसारिक सुख-दुःखसे रहित है। इसी सुखको गीतामें अक्षय सुख, आत्यन्तिक सुख और अत्यन्त सुख कहा है (५। २१; ६। २१, २८)। परंतु लौकिक सुख नाशवान् और तीनों गुणोंवाला है। राजस और तामस सुख तो लौकिक हैं ही, उत्पन्न होनेवाला होनेसे सात्त्विक सुख भी लौकिक ही है। गीतामें लौकिक सुखका वर्णन प्रायः दुःखके साथ ही हुआ है; जैसे—**'शीतोष्णसुखदुःखदाः'**, **'समदुःखसुखम्'** (२। १४-१५); **'सुखेषु विगतस्पृहः'** (२। ५६); **'शीतोष्णसुखदुःखेषु'** (६। ७); **'समदुःखसुखः'**, **'शीतोष्णसुखदुःखेषु'** (१२। १३, १८); **'समदुःखसुखः'** (१४। २४); **'सुखदुःखसंज्ञैः'** (१५। ५); आदि।

तात्पर्य है कि परमात्मतत्त्व भी सच्चिदानन्द (सत्, चित् और आनन्द) है और संसार भी सच्चिदानन्द है; परंतु इन दोनोंके सच्चिदानन्दपनेमें अन्तर है। परमात्मतत्त्वका सच्चिदानन्दपना सबके लिये अनुभूत नहीं है। मनुष्य जब

साधन करता है, सत्संग करता है, परमात्माकी तरफ चलता है, तब परमात्माका सच्चिदानन्दपना उसके अनुभवमें आने लगता है। पारमार्थिक मार्गमें वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसमें विलक्षणता आती ही रहती है। परंतु संसारका जो सच्चिदानन्दपना है, वह सबके अनुभवसिद्ध है। संसारकी जो सत्ता ('है'-पना) है, ज्ञान (समझ) है, सुख है, वे सभी उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। वे पहले भी नहीं थे और पीछे भी नहीं रहेंगे तथा जिस समय उनका भान होता है, उस समय भी वे प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं, अभावमें जा रहे हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह उत्पन्न और नष्ट होनेवाले सांसारिक सत्-चित्-आनन्दमें न फँसे।

परमात्माको 'सत्' कहनेका तात्पर्य है कि वह परमात्मा असत्से विलक्षण है; वहाँ असत् है ही नहीं। जैसे उत्पन्न होनेवाली वस्तुको अङ्गुलिनिर्देश करके बता सकते हैं; ऐसे उस परमात्माको अङ्गुलिनिर्देश करके नहीं बता सकते।

उस परमात्माको 'चित्' कहा जाता है, पर यह 'चित्' सांसारिक प्रकाश-अप्रकाश, ज्ञान-अज्ञान, चेतन-जड़की तरह नहीं है। कारण कि सांसारिक प्रकाश अप्रकाशकी अपेक्षासे है अर्थात् जहाँ नेत्र काम करते हैं, वह प्रकाश है और जहाँ नेत्र काम नहीं करते, वह अप्रकाश है। सांसारिक ज्ञान अज्ञानकी अपेक्षासे है अर्थात् जहाँ बुद्धि काम करती है, वह ज्ञान है और जहाँ बुद्धि काम नहीं करती, वह अज्ञान है। सांसारिक चेतन जडकी अपेक्षासे है। परंतु परमात्मा इस तरह अप्रकाश, अज्ञान और जड़की अपेक्षा 'चित्' नहीं है; वहाँ अप्रकाश, अज्ञान और जड़ताका अत्यन्त अभाव है। तात्पर्य है कि उस परमात्मामें अप्रकाश, अज्ञान और जड़ता है ही नहीं।

संसारमें एक सुख होता है और एक दुःख होता है। एक शान्ति होती है और एक अशान्ति होती है। ये सभी द्वन्द्व हैं। पारमार्थिक सुख-(आनन्द-)में दुःख-अशान्तिका अत्यन्त अभाव है। वह सुख सांसारिक सुख-शान्तिसे सर्वथा अतीत है। तात्पर्य है कि पारमार्थिक सत्, चित् और आनन्द—ये तीनों ही द्वन्द्वातीत हैं। ('गीतादर्पण'से)

◆

श्रीतुलसीदासजीका शकुन-विचार

(गोस्वामी श्रीरामबालकजी साहित्यरत्न, शिक्षाविशारद, साहित्यालंकार)

[गताङ्क पृ०-सं० ७९६ से आगे]

श्रीतुलसीदासजीने अपने साहित्यमें केवल शुभ शकुनोंके विषयमें ही नहीं, प्रत्युत अपशकुन-सूचक विशेषताओंका भी उल्लेख किया है, जिनमें उल्कापात, दिग्दाह, श्वान और शृगालका रोना-चिल्लाना, केतुका उदय होना, पृथ्वीका काँपना, महिलाका दाहिना नेत्र और अङ्गोंका फड़कना, कुस्वप्न देखना, गदहेका रेंकना, पूज्य प्रतिमाओंका रोना, वज्रपात, अतिवात (तूफान), भूकम्प, वलाहकोंका रक्त, कच (बाल) और रज (धूल) आदि अशुभ पदार्थ बरसाना मुख्य है।

रामचरितमानसके 'लंकाकाण्ड'में रावणकी मृत्युके समय जिन अपशकुनोंका वर्णन हुआ है, वे इस प्रकार हैं—

असुभ होन लागे तब नाना। रोवहिं खर सृकाल बहु स्वाना॥
बोलहिं खग जग-आरति हेतू। प्रगट भए नभ जहँ तहँ केतू॥
दस दिसि दाह होन अति लागा। भयउ परब बिनु रबि उपरागा॥
मंदोदरि उर कंपति भारी। प्रतिमा स्रवहिं नयन मग बारी॥
(रा० च० मा० ६। १०२। ७—१०)

इस प्रकार किसी शुभ कार्यके प्रारम्भमें जब गदहा, शृगाल और कुत्ते आदि बोलने लगें तो अशुभ होता है। पक्षिगण भयाक्रान्त होकर चीखने लगें तो अपशकुन समझना चाहिये। पुच्छलतारोंका प्रकट होना किसी भारी संकटका द्योतक होता है। रह-रहकर आँखें भर आती हों तो चिन्ताका विषय मानना चाहिये। आँखोंसे अनायास अश्रु-स्राव किसी-न-किसी सम्बन्धीके विनाशका सूचक होता है। ये सब ज्योतिषशास्त्रके विहित अपशकुन हैं।

प्रतिमा रुदहिं पबिपात नभ अति बात बह डोलति मही।
बरषहिं बलाहक रुधिर कच रज असुभ अति सक को कही॥
उतपात अमित बिलोकि नभ सुर बिकल बोलहिं जय जए।
सुर सभय जानि कृपाल रघुपति चाप सर जोरत भए॥
(रा० च० मा० ६। १०२)

इसके अतिरिक्त कृषि-सम्बन्धी बहुतसे शकुन-विचार भी श्रीतुलसीदासजीने किये हैं। किस नक्षत्रमें बीज बोना

लाभदायक होता है और किस नक्षत्रमें पेड़-पौधा लगाना शुभाशुभ होता है, इसके विषयमें भी तुलसी-साहित्यमें अनेक दोहे-पद हैं।

रुपये-पैसे, सोने-चाँदी आदि धनको धरतीमें छिपाकर गुप्त करने योग्य शुभाशुभ नक्षत्रकालोंका भी तुलसीदासजीने अपने साहित्यमें वर्णन किया है।

श्रुति गुन कर गुन पु जुग मृग हय रेवती सखाउ।
देहि लेहि धन धरनि धरु गएहुँ न जाइहि काउ॥

(दोहावली ४५६)

श्रीतुलसीदासजी बताते हैं कि श्रुतिगुन (श्रवण नक्षत्रसे क्रमशः तीन नक्षत्र—१-श्रवण, २-धनिष्ठा और ३-शतभिषा), करगुन (हस्त नक्षत्रसे क्रमशः तीन नक्षत्र—१-हस्त, २-चित्रा और ३-स्वाति), पुजुग (पुष्य और पुनर्वसु), मृग (मृगशिरा), हय (अश्विनी), रेवती और सखाउ (अनुराधा) नक्षत्रोंमें जो धन-सम्पत्ति पृथ्वीमें गुप्तरूपसे गाड़कर रखी जाती है, तो वह सम्पदा कदापि नष्ट नहीं होती, सदा सुरक्षित रहती है।

संत कवि श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके साहित्यमें गोपनीय मन्त्रोंके भी वर्णन हैं। उन महत्त्वपूर्ण मन्त्रोंसे दुःख-संकट, रोग-व्याधि और विषम वायु-विकारोंमें लाभ होता है। नजर तथा जादू-टोनाकी पीड़ामें भी तुलसीदासजीके गुप्त मन्त्रोंसे आशातीत लाभ होते हैं।

तुलसीरचित 'गीतावली'के बालकाण्डमें एक ऐसा ही प्रसंग आया है। एक दिन बालक श्रीराम खेल-खेलमें देखते-देखते रोने लगे। उनका वह रुदन रुकता ही नहीं था। सभी माताएँ प्रयत्न करके हार गयीं, पर श्रीराम चुप न हुए, उनका रुदन न रुका। उनको चुप करानेके लिये तरह-तरहके खिलौने दिये गये। बहुत सारे गीत भी सुनाये गये। चिन्तातुर घरके बूढ़े-बुजुर्गोंने देव-पितर, कुग्रह आदिकी पूजा-प्रार्थना करके श्रीरामको चुप कराना चाहा, घृतका तुलादान भी हुआ, पर श्रीरामका रोना जारी रहा, वे चुप न हुए। तब कुलगुरु वसिष्ठजीको बुलाया गया। उन्होंने अपने अमृतमय हाथोंसे श्रीरामके मस्तकका स्पर्श किया। इसके साथ-साथ उन्होंने कुशासे 'नृसिंह-मन्त्र' पढ़कर मन-ही-मन मार्जन भी किया, जिसका अद्भुत प्रभाव हुआ, वह 'नृसिंह-मन्त्र'[1] सभी तरहके भयोंको दूर करनेवाला है।

ज्योतिषशास्त्रका कोई भी अङ्ग-उपाङ्ग हो, गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके मतानुसार 'रामजीका दाहिने होना' माङ्गलिक कार्यके लिये आवश्यक है। यथा—

लगन मुहूरत जोग बल तुलसी गनत न काहि।
राम भए जेहि दाहिने सबै दाहिने ताहि॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके ग्रन्थोंके अध्ययन-मननसे स्पष्ट होता है कि वे ज्योतिष-विद्याके कितने महान् विद्वान् थे। ज्योतिषशास्त्रके समान तुलसीदासजीकी भी यह धारणा है कि सज्जन-संगम भी मङ्गलदायक होता हैं। यथा—

गङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा।
पापं तापं तथा दैन्यं सर्वसज्जनसंगमः॥

—यह श्लोक ज्योतिषशास्त्रमें प्रसिद्ध है। तुलसीदासजी भी उनको '····*जंगम तीरथ राजू'* कहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीके काव्योंमें 'रामशलाका-प्रश्नावली' प्रश्न एवं शकुनोंका सूचक है। 'रामाज्ञाप्रश्न' भी प्रश्न-ज्योतिषका ग्रन्थ है, जिसमें चक्रोंके द्वारा या कमलगट्टोंको गिनकर सप्तक और दोहोंकी संख्या ज्ञात होनेपर मनोवाञ्छित प्रश्नोंका उत्तर प्राप्त होता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी स्वप्न-ज्योतिषके भी विद्वान् थे। वे कहते हैं कि स्वप्नावस्थामें बंदर-दर्शन, अग्निदाह, नग्न होना, गदहेपर सवार होना, सिर मुँड़वाना, अपनी भुजाओंका कटना, दक्षिणकी यात्रा आदि दिखे तो यह भारी अपशकुन है, जो महाविनाशका सूचक होता है।

लंकापति रावणके विनाशका सूचक स्वप्न त्रिजटाने भी देखा था। त्रिजटाने वह स्वप्न अशोकवाटिकामें सभी राक्षसियोंके समक्ष सीताजीको सुनाया था—

सपनें बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहुँ बिभीषन पाई॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥

---

[1] १-उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥

यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गएँ दिन चारी॥

× × ×

सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना॥

(रा० च० मा० ५। ११। ३—७)

गोस्वामी तुलसीदासजीका ज्योतिष बताता है कि स्त्रियोंके लिये जहाँ बायें अङ्गका फरकना शुभ शकुन है, वहीं पुरुषोंके लिये यह अशुभ होता है। पुरुषोंके लिये तो दाहिने अङ्गका फरकना ही शुभ शकुन है।

जासु सकल मंगलमय कीती। तासु पयान सगुन यह नीती॥
प्रभु पयान जाना बैदेहीं। फरकि बाम अँग जनु कहि देहीं॥

(रा० च० मा० ५। ३५। ५-६)

जबसे दशरथजीका निधन हुआ था तबसे अपने मातामहके यहाँ भरतजीको तरह-तरहके अपशकुन होने लगे थे।

अनरथु अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब तें॥
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना॥

(रा० च० मा० २। १५७। ५-६)

भरतजी रातमें बुरे-बुरे स्वप्न देखते थे। जब वे जागते थे तो उनके मनमें अनायास तरह-तरहके कुविचार और बुरी-बुरी सम्भावनाएँ उठती थीं।

दुःस्वप्नके अपशकुनकी शान्तिके लिये तुलसीदासजीने बताया है कि ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिये। दान भी करना चाहिये। इसके साथ-साथ महादेवजीको स्मरण करके रुद्राभिषेक करना चाहिये।

इसलिये भरतजीने भी अपने दुःस्वप्न और कुविचारोंकी परिशान्तिके लिये यह सब किया—

बिप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥
मागहिं हृदयँ महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥

(रा० च० मा० २। १५७। ७-८)

इस प्रकार सभी प्रकारके अपशकुन एवं अमङ्गल-जालको सदाके लिये समाप्त कर परम कल्याण एवं मङ्गलराशिकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌की मङ्गलमय स्मृति ही परम उपाय है। भारतीय परम्परामें यह अनादिकालसे प्रसिद्ध है कि—

अशुभानि निराचष्टे तनोति शुभसंततिम्।
स्मृतिमात्रेण यत्पुंसां ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुः॥
अतिकल्याणरूपत्वान्नित्यकल्याणसंश्रयात्।
स्मर्तॄणां वरदत्वाच्च ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुः॥

—इसीका छायानुवाद करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने—

जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥
करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय राम कहेउ कामारी॥

× × ×

मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी॥

—आदि पदोंमें बार-बार पूर्वोक्त भावोंका ही संकेत किया है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यही है कि वे मङ्गलमय भगवान् ही स्मरणीय हैं, जिनके स्मरणमात्रसे महा अमङ्गलस्वरूप आपातकाल-स्मरणीय यह सारा विश्वप्रपञ्च समाप्त हो जाता है और भगवान् भक्तके सामने दृग्गोचर हो जाते हैं तथा साधक सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है।

श्रीराम-जन्मोत्सव

आजु दसरथ कें आँगन भीर।
ये भू-भार उतारन कारन, प्रगटे स्याम-सरीर॥
फूले फिरत अजोध्या-बासी, गनत न त्यागत चीर।
परिरंभन हँसि देत परसपर, आनँद नैननि नीर॥
त्रिदस-नृपति, रिषि ब्योम-बिमाननि देखत रह्यो न धीर।
त्रिभुवन-नाथ दयालु दरस दै, हरी सबनि की पीर॥
देत दान राख्यौ न भूप कछु, महा बड़े नग हीर।
भए निहाल 'सूर' सब जाचक, जे जाँचे रघुबीर॥

आर्यसाहित्यमें गौका गौरव

(देवर्षि भट्ट पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री)

प्राचीन आर्योंके साहित्यमें गौका महत्त्व असाधारण है। उसके शरीरमें यावन्मात्र देवताओंका निवास है, गो-पुच्छद्वारा मार्जन करनेसे बालकोंके सब अरिष्ट दूर होते हैं। उसके दूध-दही-घृतादिके बिना न हमारे देवकार्य ही सम्पन्न होते हैं और न पितृकार्य ही।और तो क्या श्रुति और स्मृतियोंके अनुसार उसके गोबर और गो-मूत्रका भी इतना उपयोग है कि उसके बिना हमारी क्या आन्तरिक् और क्या बाह्य—किसी भी प्रकारकी शुद्धि नहीं हो सकती। केवल धर्मकी ही बात हो सो नहीं, आयुर्वेदमें भी गो-मूत्रसे 'संजीवनी'-सदृश ओषधियाँतक बनती हैं। वेदोंसे लेकर अर्वाचीन ग्रन्थोंतकमें आर्योंने गौकी असाधारण महिमा गायी है। गौके अनन्त उपकारोंसे आप्यायित हुआ भावुक हर्षगद्गद होकर धर्मशास्त्रोंमें प्रार्थना करता है—

गावो मे पुरतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे परितः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

'गायें मेरे आगे हों, गायें मेरे पीछे हों, गायें मेरे चारों ओर हों, गायोंके बीचमें ही मैं सदा निवास करूँ।'

पुराणोंमें पद-पदपर गौकी अनन्त महिमा गायी गयी है। उसे देखते हुए प्रत्येक अन्वेषणशीलको निश्चय हो जायगा कि न केवल भारतवासी आर्योंके यहाँ ही अपितु प्राच्य जगन्मात्रमें पहले गौका बड़ा सम्मान था। जैसे हमलोग गो-पूजा करते हैं, उसी प्रकार पारसीलोग साँड़की पूजा किया करते थे। मिस्रमें सुनहले बछड़ेकी पूजा हुआ करती थी। वहाँके प्राचीन सिक्कोंपर बैलोंकी मूर्ति अङ्कित रहती थी। ईसासे कई हजार वर्ष पूर्वके बने हुए पिरामिडोंमें बैलोंकी मूर्तियाँ अङ्कित हैं। आज भी केल्टिक जातिके लोग जहाँ कहीं हैं, गो-पूजक हैं।

धन-गणनामें गो-धनपर ही पहले दृष्टि जाती थी। राजपूतानेमें गौका मालिक आज भी 'धणी' (धनी) कहलाता है। धनकी ही क्या बात, एक गौकी कीमत समूचे राज्यसे भी अधिक मानी जाती थी—यह अन्वेषणोंसे प्रमाणित होता है। महाभारतमें आख्यान है कि एक बार च्यवन ऋषि गङ्गा-गर्भमें बैठकर तपस्या कर रहे थे। मछली पकड़नेवालोंके जालमें मुनिजी भी आ गये। वे मछलियोंके साथ बिकते हुए 'नहुष'-के दरबारमें पहुँचे। राजा मुनिजीके बदले एक थैली सोना देने लगे—किंतु मुनिने कहा—'यह मछुएके साथ अन्याय होता है। मेरा मूल्य इतना-सा नहीं।' राजाने और भी बहुत-सा सोना लगा दिया, और तो क्या, अन्तमें अपना समूचा राज्यतक देना चाहा। परंतु तो भी मुनिजीने कहा—'हमारा मूल्य इतना कम नहीं होगा।' अन्तमें राजाने विनय की कि 'महाराज! आप ही बताइये, आपका मूल्य क्या होगा?' मुनिने कहा—'आप इसे एक गौ दे दीजिये, बस, यही बदला ठीक हो जायगा।' कहिये, गौकी महिमामें कुछ कमी रही?

धर्मपुस्तकोंकी दृष्टिसे गौका गौरव केवल हम ही गा रहे हों सो नहीं, गवेषणा (रिसर्च) करनेवालोंने स्वयं गवेषणा की है कि बेचारी इस 'गवेषणा' का आरम्भ ही गौसे होता है। पहले यह गौ ही प्रधान धन समझी जाती थी। इस गौकी रक्षाके लिये ही पहले-पहल 'गोत्र' (गोशाला) की सृष्टि हुई। जैसा कि ऋग्वेदमें आता है—'**त्वं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोः**' (१।५१।३) 'हे इन्द्र! तुमने अङ्गिरा ऋषिके वंशजोंके लिये 'गोत्र' खोल दिया' ऐसे ही '**गवां गोत्रमुदसृजः।**' (ऋ० २।२३।१८) 'तुमने गो-समूहके लिये 'गोत्र' खोल दिया था' इत्यादि। इन 'गोत्रों' (गोशालाओं) के रक्षक वसिष्ठ-अत्रि-कश्यप-भरद्वाज आदि आर्योंके दलपति थे। एक-एक दलका एक-एक 'गोत्र' था। गोत्रपतिके नामसे ही 'गोत्र' का नाम चलता था। इसीलिये धीरे-धीरे वसिष्ठ-भरद्वाज-कश्यप आदि गोत्रोंकी सृष्टि हुई, जो अब आर्योंके वंश-परिचयका प्रधान निशान है।

इस गौकी एषणा (प्राप्त करनेकी इच्छा, अथवा खोज) प्राचीन आर्योंको प्रधानतया होती थी। इस 'गवेषणा'से प्रेरित हुए आर्य बहुधा इन्द्रादि देवोंकी प्रार्थना करते थे। इस अर्थके लिये ऋग्वेदमें 'गवेषणा' शब्दका प्रयोग स्थान-स्थानपर मिलता है। जैसे—'**स घा विदे अन्विन्द्रो गवेषणो बन्धुक्षिद्भयो गवेषणः**' (ऋ० १।१३२।३) अर्थात् इन्द्र अपने बन्धुओं (उपासकों) के लिये गौओंका अन्वेषण करता है। कई बार गो-अन्वेषणके लिये रथपर बैठकर जाना जरूरी हो जाता था। इसीलिये रथको '**गवेषणः**' कहा जाता था।

जैसे—**'युजे रथं गवेषणं हरिभ्याम्'** (ऋ० ७।२३।३) 'गौओंको खोजनेवाले रथमें घोड़ोंको जोतता हूँ।' इन्द्रको स्पष्ट अक्षरोंमें गो-अन्वेषणकर्ता बतलाया है। जैसे—**'गवेषणः स धृष्णुः,** (७।२०।५) 'शत्रु-धर्षणकर्ता इन्द्र गौओंका अन्वेषण करते हैं।' यहाँ सायणने अपने भाष्यमें स्पष्ट अर्थ किया है—**'गवेषणः गवाम् अन्वेष्टा।'** इस गो-एषणामें कई बार युद्ध करनेका भी प्रसङ्ग आ जाता था, जिसके लिये नगारे आगे लेकर लड़ाईके मैदानमें उतरना पड़ता था। इसीलिये अथर्ववेदमें नगारेको **'गवेषणः'** कहा है (४।२०।११)।

प्राचीन साहित्यमें यह 'गो-एषणा' शब्द ही कुछ नया नहीं। इसके अनुकरणपर 'पुत्रैषणा' (पुत्रकी इच्छा), 'दारैषणा' (स्त्रीकी इच्छा), 'वित्तैषणा' (धनकी इच्छा) आदि अनेक शब्दोंकी सृष्टि हुई है। गायोंके प्रति धन ही क्या, अपने सर्वस्वकी भावना जबतक रही, तबतक यह 'गवेषणा' आर्योंके लिये नित्य-नैमित्तिक व्यापार था। 'गवेषणा' शब्दके इस मौलिक अर्थसे वर्तमान समयका यह गवेषणा (तत्त्व-निरूपण) अर्थ कैसे बन गया, यह खोज निकालना बहुत कठिन नहीं। प्राचीन कालमें गौ ही प्रधान धन था। इसलिये 'गो-अन्वेषण' का अर्थ हुआ—'धन-अन्वेषण' अथवा 'तत्त्वका अन्वेषण।' धीरे-धीरे गौके प्रति यह धनकी भावना मन्द होती गयी। धनका अर्थ अधिकाधिक व्यापक बनता गया। और भी आवश्यक वस्तुएँ धन समझी जाने लगीं। जो मूल्यवान् है वही धन है, इसलिये धीरे-धीरे 'गो-अन्वेषण'-का सामान्यतः 'मूल्यवान्‌का अन्वेषण' यह अर्थ बनता गया। जैसे-जैसे यह मानव 'जड' से 'अजड' (चेतन आत्मादि) के सम्मुख होता गया, वैसे-वैसे 'तत्त्वज्ञान' को मूल्यवान् मानता गया। अतएव गवेषणाका जो अर्थ पहले था—गोरूपी धनका अन्वेषण वह धीरे-धीरे 'तत्त्व-अन्वेषण' पर आ ठहरा। उस ही समय व्याकरणमें 'गवेष' धातुकी सृष्टि हो गयी।

गौ आदि पशुओंको धन मानना केवल हमारे ही यहाँ न था, सभी प्राचीन जातियाँ वैसा मानती थीं। अंग्रेजीका (Pecumiary) शब्द इसमें प्रमाण है। (Pecumiary) शब्द लैटिनके (Pecus) से बना है, जिसका अर्थ है पशु। इसलिये इसका वास्तविक अर्थ है पशु-सम्बन्धी, किंतु अब अर्थ हो रहा है 'अर्थसम्बन्धी।'

प्राचीन आर्योंकी सर्वस्व, भारतकी गो-माता आज किस दशामें है, इसे अधिक लिखकर समझानेकी आवश्यकता नहीं। प्रसङ्गागत 'साहित्यवैभव' का एक संस्कृत 'कवित्त' उद्धृत कर इस लेखको समाप्त किया जा रहा है—

मुञ्चन्ते स्वशत्रुमपि दन्तेष्वावहन्तं तृण-
मेवं प्रागुदन्तेषु हि रीतिरतिख्यातासौ
सैषा पुनः प्राश्य तृणं बाढमृणं धत्ते जने
येन निजवत्सैरपि सूतकृषिखातासौ।
मञ्जुनाथ नित्यं निजस्तन्यदुग्धदानादहो
अन्यमतमानिनामपीह मान्यमातासौ
त्राता मान्यमोगलमहीपैरुपयातार्चनं
गोमाताप्यखण्डखड्गधारामनुयातासौ ॥

दाँतोंमें तिनका ले लेनेपर अपने वैरीतकको छोड़ देते हैं, यह रीति (मर्यादा) प्राचीन इतिहासोंमें सुप्रसिद्ध है। यह गौ तृण खाकर जनतापर यह बड़ा भारी 'ऋण' (कर्ज) धरे हुए है कि दूध, दही आदि पैदा करनेके सिवा यह अपने बच्चोंसे खेती भी कराती है—**'सूतं (जनितं) कृषेः खननं यया'।** यदि स्तनका दुग्ध पिलानेसे माता मानी जाती हो तो न केवल हिंदू ही, अपितु और-और मत (इस्लाम, ख्रीष्ट आदि) माननेवालोंकी भी यह आदरणीय माता है। (आर्य हिन्दुओंकी क्या कथा), इतिहासप्रशंसित मुगल बादशाहोंने भी इसकी रक्षा की थी। (बादशाह अकबरने अपने राज्यमें गो-वध बिलकुल बंद करवा दिया था।) [१](इन सब विशेषताओंसे) देवताकी तरह पूजी जा रही यह गौ माता भी 'अखण्ड' (प्रार्थना करनेपर भी 'अनिवारित' अथवा अधिकताके कारण निरन्तर) खड्गधाराके नीचे आयी हुई है (इससे बढ़कर और अमङ्गल तथा अन्याय क्या होगा)। कुछ भी विवेक रखनेवाले इसपर विचार करें।

* * *

जीवोंसे द्रोह करके जो अपने शरीरको पालता है, वह अपने उस शरीरको और पापकर्मोंसे सञ्चित धनको यहीं छोड़कर अकेला पापरूपी राहखर्चको साथ लेकर घोर अन्धकारमय नरकमें प्रवेश करता है। —श्रीमद्भागवत

* * *

भक्त-गाथा—

भक्तवर विट्ठलदासजी

दक्षिणके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुलमें दो सगे भाई राजपुरोहित थे। घरमें धन-सम्पत्तिकी कमी नहीं थी। ब्राह्मण-कुलमें होनेसे विद्या भी यथेष्ट थी। परंतु संसारमें धनसे जितनी बुराई होती है, उतनी शायद दूसरी किसी भी वस्तुसे नहीं होती। विद्वान् होनेपर भी धनके कारण दोनों भाइयोंमें परस्पर मन-मुटाव रहने लगा। फलस्वरूप दोनोंने सम्पत्तिका बँटवारा कर अलग-अलग रहनेका विचार किया। लोभ-वश दोनों ही एक दूसरेसे कुछ-न-कुछ अधिक हड़पनेकी इच्छासे लड़ने लगे। यहाँतक नौबत आ गयी कि दोनों परस्पर सर्वस्व नाश करनेको तैयार हो गये। बन्धु-बान्धवोंने समझा-बुझाकर झगड़ा मिटाना चाहा, परंतु दैव-वश दोनोंकी बुद्धिने किसीकी बातपर ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि दोनों ही एक दूसरेके प्राणघातक बन इस लोकसे विदा हो गये। इस दुर्घटनाको सुनकर राजाको भी बड़ा दुःख हुआ। पर कोई उपाय न देख ब्राह्मणके घरवालोंको समझा-बुझाकर अन्तमें राजाको भी चुप बैठना पड़ा। अब इस ब्राह्मण-परिवारमें दो विधवा स्त्रियों और छोटे भाईके एक बच्चे विट्ठलदासको छोड़कर और कोई नहीं रह गया।

बालक विट्ठलदास आदर्श सद्गुणी और होनहार लड़का था। वह जब कुछ समझने लगा, तब एक दिन उसने अपनी मातासे पिताका हाल पूछा। इसपर उसकी माताने उसके पिता और ताऊके कलह और परस्पर लड़ मरनेका सारा वृत्तान्त उसे सुना दिया। बालकके मनपर धनके कारण होनेवाली इस दुर्घटनाका विलक्षण प्रभाव पड़ा और वह चिन्तामग्न हो गया। सब अनर्थोंकी जड़ धनको जानकर उसने मन-ही-मन धनके त्यागका संकल्प किया और दृढ़ताके साथ प्रपञ्चकी आशा छोड़कर पुरोहित-वृत्तिका त्याग कर दिया। उसी समयसे विट्ठलदासका मन सांसारिक बातोंसे विरक्त रहने लगा और उसका अधिकांश समय भजन, ध्यान और भगवन्नाम-कीर्तनमें बीतने लगा। उसी दिनसे उसने अपने-आपको सर्वतोभावेन भगवच्चरणोंमें अर्पण कर दिया। अपने इकलौते पुत्रकी यह स्थिति देख माताको यह चिन्ता होने लगी कि कहीं यह घर छोड़कर चला न जाय और इसी आशंकासे उसने उसका विवाह कर दिया और यों उसे सांसारिक बन्धनमें बाँधकर गृहस्थीमें जकड़कर रखना चाहा। परंतु जिसने एक बार उस अमियरसका पान कर लिया, उसको अपने लक्ष्यसे कौन डिगा सकता है? दिनों-दिन उसका ईश्वर-प्रेम बढ़ने लगा और अब तो उसका एक क्षण भी बिना भगवत्स्मरणके नहीं बीतता था। साधु-संतोंकी सेवा करना, ब्राह्मणों और भूखोंको भोजन-अन्न देना आदि उसके नित्य-कर्म थे। भगवान्‌की पूजा करनेके अनन्तर हाथोंमें करताल और वीणा लेकर 'गोविन्द गोपाल श्रीपति! अच्युतानन्त वामनमूर्ति! भक्तवत्सल विश्वपति! राधा-मन-मानस-रञ्जन! गोकुल-निवासी जनार्दन! गोपवेश! गोवर्धन-धारण! नन्दनन्दन श्रीहरि!' आदि नामोंका प्रेमपूर्वक उच्च स्वरसे कीर्तन करते-करते विट्ठलदास प्रेम-विह्वलताके कारण बेसुध हो जाते और लगातार तीन-तीन घंटोंतक वैसे ही पड़े रहते। उनकी इस प्रेम-भक्तिकी विलक्षण दशा देखकर संत और भक्तजनोंको तो बड़ा आनन्द होता। अवश्य ही इस रहस्यको न जाननेवाले दुष्ट-प्रकृतिके कुछ संसारी मनुष्य उनकी यह स्थिति देखकर उनपर संदेह करते और उन्हें दाम्भिक बतलाया करते।

एक दिन राजाको अपने पुरोहित-पुत्र विट्ठलदासका स्मरण हुआ। उसने मन्त्रीसे उसका वृत्तान्त पूछा। मन्त्रीने विट्ठलदासके पिताकी मृत्यु-घटनाके प्रभावसे उसकी बदली हुई स्थिति और भगवन्निष्ठाका सारा हाल कह सुनाया। इसे सुनकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने अपनी कुछ सम्पत्तिको पवित्र करनेकी इच्छासे विट्ठलदासको धन-धान्य देनेका विचारकर उन्हें बुलानेके लिये कुछ कर्मचारियोंको भेजा। उन्होंने भक्तवर विट्ठलदासजीके समीप जाकर उन्हें राजाकी प्रार्थना सुनायी और बड़े सम्मानपूर्वक साथ चलनेके लिये कहा। परंतु प्रतिष्ठाको 'शूकरी-विष्ठा-सदृश' और रमा-विलासको 'वमन-सदृश' समझनेवाले भक्तने राज-कर्मचारियोंको नम्रतापूर्वक समझा-बुझाकर लौटा दिया। विट्ठलदासकी इस निःस्पृहता और विरतिको देखकर उनपर राजाकी श्रद्धा और भी बढ़ गयी और उसने किसी प्रकार भी उन्हें अपने घरमें बुलाकर उनके पवित्र पद-रज और दर्शनसे

अपने घर और कुटुम्बको पवित्र करना चाहा। इसलिये अबकी बार राजाने कुछ खास-खास लोगोंको किसी प्रकार विनती कर उन्हें लिवा लानेके लिये फिर उनके पास भेजा। अबकी विट्ठलदासजी अस्वीकार नहीं कर सके और ईश्वर-प्रेरणा समझकर उन शिष्ट पुरुषोंके साथ श्रीभगवन्नाम-कीर्तन करते हुए राजासे मिलनेके लिये दरबारमें गये। भक्तवर विट्ठलदासजीको आया देखकर राजाको बड़ा ही आनन्द हुआ और उसने सिंहासनसे उठकर अत्यन्त भक्ति और सम्मानपूर्वक उनका अभिवादन कर बैठनेके लिये आसन दिया। विट्ठलदासजीके शान्त, सौम्य, तेजपूर्ण मुख-मण्डलको देखकर राजा मन्त्रमुग्ध-सा हो गया और अपनेको धन्य मानने लगा। उसने उनसे भगवद्गुणानुवाद और भजन सुनानेकी प्रार्थना की। भक्तोंको अपने भगवान्‌की गुण-चर्चामें जितना अधिक आनन्द होता है उतना और किसी बातमें नहीं होता। राजाकी बात सुनकर विट्ठलदासजीको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने आनन्द-पुलकित हो इसे स्वीकार कर लिया। हरि-कीर्तनकी तैयारी होने लगी। वीणा, करताल, मृदङ्ग आदि कीर्तनका सामान मँगवाया गया। देखते-ही-देखते सारी तैयारियाँ हो गयीं। समाजमें अच्छे-बुरे सभी प्रकारके मनुष्य थे। उनमेंसे कितने ही भक्त और संतोंके अकारण द्रोही भी थे। उन्हें भगवन्नाम आदिमें श्रद्धा नहीं थी और वे भ्रमवश विट्ठलदासजीसे भी द्वेष रखा करते थे। उनकी तन्मयताकी परीक्षा करनेके लिये मन्द-बुद्धि, कलुषित-हृदय दुष्टोंने आजके दिनको अच्छा मौका समझकर राजासे कहा कि आजका कीर्तन खुली छतपर होनेसे बड़ा आनन्द आयेगा। सरल-प्रकृति राजाने दुष्टोंके कुभावको न समझकर वैसा करनेकी अनुमति दे दी। दुष्टोंने षड्यन्त्र रचकर भक्तवर विट्ठलदासजीका आसन ऐसी जगह लगाया कि जहाँसे कीर्तन करते हुए विट्ठलदास यदि तन्मयताके कारण मूर्च्छित होकर गिरें तो सीधे छतके नीचे ही आकर ठहरें।

विट्ठलदासजी आसनपर आ विराजे। सारा समाज यथायोग्य स्थानपर बैठ गया। कीर्तन आरम्भ हुआ। सबने बड़े प्रेमसे योग दिया। प्रेमरसमें निमग्न हो सभी प्रेमी श्रोतागण कीर्तनमें अपूर्व आनन्दका अनुभव करने लगे। प्रेमियोंके मुखकी हरि-ध्वनि और करताल, वीणा, मृदङ्गादिकी तालबद्ध मधुर ध्वनिसे दसों दिशाएँ गूँज उठीं। बीच-बीचमें हरि-गुणगान भी होता था। विट्ठलदासजी प्रेममदमें छक गये और मतवाले होकर नाचने लगे। हृदयके प्रेम और उत्साह तथा पैरोंमें बँधे हुए घुँघुरुओंने तल्लीनता बढ़ानेमें और भी सहायता की। *'पतितपावन जगदोद्धारा। आदि सर्वेशा वैकुण्ठ विहारा। भक्तवत्सल इन्दिरावर।'* आदि नाम-रत्नोंकी माला गूँथते हुए वे मुक्तकण्ठसे कीर्तन करने लगे और अन्तमें प्रेमावेशमें पागल हो मूर्च्छित होकर गिरे तो एकदम छतसे नीचे आ ठहरे। कुछ दुष्ट प्रकृतिके लोगोंके सिवा सभी श्रोतागण कीर्तन-रसके पानसे मुग्ध हो रहे थे। भक्तवर विट्ठलदासजीके मूर्च्छित होकर नीचे गिरनेकी सम्भावना किसीके भी ख्यालमें पहले न आयी थी, परंतु अब उन्हें नीचे गिरते देख सब घबरा गये और इस घटनासे सभीके हृदयमें बड़ी भारी चोट पहुँची। दुष्टोंकी मनचाही हो गयी। अब तो वे अपनी सफलताके आनन्द और अभिमानमें फूले नहीं समाये। राजाने नीचे आकर देखा, भक्तके हृदयकी धड़कन और श्वासकी गति बंद हो गयी है। राजा यह दशा देखकर एकदम व्याकुल हो गये। उनके दुःखका पार नहीं रहा। किसी तरह धीरज धरकर राजाने उस मृत शरीरको उठवाया और उनकी माताके पास उनके घर ले गये। अपने जीवनाधार एकमात्र पुत्रकी यह स्थिति देखकर माताके दुःखका पार नहीं रहा। राजाने अनेक प्रकारसे उन्हें धीरज दिया और बहुत-सा धन देकर किसी प्रकार यत्किञ्चित् संतोष करा अपने घर लौट आये।

यद्यपि माताको इस जीवनमें अपने पुत्रसे मिलनेकी अब कोई भी आशा नहीं रही थी तथापि घोर निराशामें तनिक-सी भी आशा मनुष्यके हृदयमें अकथनीय उत्साह और जीवन देनेवाली होती है। अतएव उसको भी यह बात याद आयी कि विट्ठलदास कीर्तनके समय सदा ही मूर्च्छित हुआ करता है, आज भी मूर्च्छा शायद विशेष गहरी हो और उसके प्राण न निकले हों, इसलिये उसने शवका दाह-कर्म न करवा उसे एक चद्दरसे ढाँककर सुरक्षित रख दिया और उसके निस्तेज मुखको बारंबार देखकर प्राण-संचारकी प्रतीक्षा करने लगी। इसी तरह तीन दिन बीत गये। शवमें किसी प्रकारकी चेतनता नहीं आयी। भगवान्‌की अपार महिमा है। उनकी कृपासे सभी कुछ सम्भव है। चौथे दिन विट्ठलदासजी अपनी उस प्रेम-मूर्च्छा या

काल-मूर्च्छासे सबको आनन्दित करते हुए जाग उठे और अपनेको राजमहलके बदले अपने घरमें देखकर बड़े आश्चर्यान्वित हुए तथा मातासे इसका कारण पूछने लगे। माताने छतसे गिरनेकी घटनासे लेकर राजाके द्रव्यदानतककी सारी रामकहानी संक्षेपमें कह सुनायी। छतसे गिरनेपर भी शरीर-रक्षा हुई जानकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और भगवत्कृपाका बारंबार स्मरणकर वे आनन्दसे गद्गद हो गये। परंतु माताका लोभवश राजद्रव्य स्वीकार करना उन्हें बहुत ही बुरा लगा और भविष्यमें इससे एवं ऐसी आश्चर्यजनक घटनासे प्रसिद्धि फैलनेके कारण बड़ी भारी हानि होनेकी आशंकासे उन्होंने मन-ही-मन रात्रिमें चुपचाप घर छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जानेका निश्चय कर लिया।

आधी रातका समय है। चारों तरफ निस्तब्धता छायी है। दिनभरके परिश्रमसे थके-हारे संसारी लोग प्रकृतिकी आनन्दमयी गोदमें विश्राम पाकर जीवनी-शक्ति प्राप्त कर रहे हैं। ऐसे समय विट्ठलदासजी चुपचाप उठे और घरका द्वार खोल निर्भयताके साथ तेज चालसे मथुराकी ओर चल पड़े। उनके जानेका हाल किसीको मालूम नहीं हुआ। सबेरे माता और पत्नीने पुत्र और स्वामीको घरमें न पाकर विलाप करना शुरू कर दिया। राजाके पास शीघ्र ही इसकी खबर पहुँची, समाचार पाते ही उन्हें खोजनेके लिये राजाने इधर-उधर दूत दौड़ाये, परंतु सब व्यर्थ हुआ। माता अपने प्यारे पुत्रको फिर खो बैठनेके दुःखमें प्राण त्यागनेकी प्रतिज्ञाकर अनशनव्रत करने लगी। दयामय भगवान्से अपने भक्तकी माताका पुत्र-वियोग-जनित दुःख न देखा गया। विट्ठलदासकी माताको स्वप्नमें यह ज्ञात हो गया कि विट्ठलदास मथुरामें हैं। सबेरा होते ही माता भी पुत्र-वधूको साथ ले मथुराकी ओर चल दी और वहाँ अपने नयनोंके तारे प्यारे पुत्रको देख प्रसन्नताके मारे फूली न समायी। माताके आग्रहसे विट्ठलदासजीने उनको अपने पास रख लिया और सकुटुम्ब अपना सारा समय भगवद्भजनमें बिताते हुए व्रजभूमिका आनन्द लूटने लगे।

विट्ठलदासकी पत्नी भी परमभावुका और पतिव्रता थी। वह प्रत्येक काम पतिकी इच्छानुसार किया करती एवं अपना सारा समय सत्संग, भजन, कीर्तन, भगवद्दर्शन एवं सास और पतिकी सेवामें बिताया करती। एक दिन चूल्हा पोतनेके लिये वह मिट्टी लाने गयी, तो मिट्टी खोदते समय उसे भूमिमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज भगवान्की मूर्ति मिली और इस मूर्तिके पास ही बहुत-सा धन देखा। धनको सब अनर्थोंकी जड़ समझनेवाले भक्तकी पतिव्रता स्त्रीके मनमें उस धनका जरा-सा भी लोभ नहीं आया और उसे देखते ही वह पतिके पास दौड़ी आयी और सारा वृत्तान्त कह सुनायी। हाल सुनकर विट्ठलदासजीने कहा कि 'इस स्थानके स्वामीको इसकी सूचना दे दो, जिससे वह अपना धन ले जाय।' आज्ञानुसार मालिकके पास खबर भेजी गयी, वह आया और धन देखकर उसने हाथ जोड़कर कहा कि 'महाराज! यह धन तो आपका ही है, आप इसे ग्रहण कीजिये। मेरा होता तो पहले मुझे मिलता, पर जब यह आपको मिला है तो आप ही इसके मालिक हैं।' इसपर विट्ठलदासजी बोले कि 'भाई! जिसकी जमीनमें जो चीज मिलती है, उसपर उस जमीनके मालिकका ही हक होता है। हमारा तो इस स्थानमें रहनेभरका अधिकार है, बाकी इसके और इसके अंदरसे मिलनेवाली वस्तुके मालिक तुम्हीं हो।' उसने इसे स्वीकार नहीं किया और इसी तरह बात बढ़ते-बढ़ते यहाँतक बढ़ गयी कि आखिर यह मामला ग्रामके पंचोंके सामने गया। उन दिनों न तो आजकलकी तरह मुकदमेबाजीका ही युग था, न आपसमें मुकदमा लड़ानेका पेशा करनेवाले वकील-मुख्तार ही थे, न बालकी खालको खींचकर कानूनका अर्थ करनेवाले जज, मजिस्ट्रेट थे और न गवाहोंको डरा-धमकाकर या वाग्जालमें फँसाकर उनसे उलटी-सीधी कहलानेवाले पब्लिक-प्रासिक्यूटर या वकील-बैरिस्टर थे। जो कुछ भी आपसका मतभेद होता, उसका निपटारा करानेके लिये केवल मतभेदवाले व्यक्ति ग्रामके पंचोंके सामने जाकर सच्चा-सच्चा हाल बयान कर दिया करते और दोनोंकी सुनकर पंच जो कुछ फैसला कर देते वही दोनोंको शिरोधार्य होता। अब न तो वैसी ईमानदार प्रजा है और न वैसे धर्म एवं न्यायशील राजा हैं। अब तो हम लोगोंकी संस्कृतिमें ही कुछ ऐसा परिवर्तन हो गया है कि हम बिना ही कारण लोभवश एक दूसरेके स्वत्वपर अपना हक जमाना चाहते हैं और इसीलिये उपर्युक्त घटनाको प्रायः कल्पनामात्र समझ लेते हैं। अस्तु! मामलेको सुनकर पंचोंने फैसला कर दिया कि यह धन भगवान्की मूर्तिके साथ मिला

है, इसलिये इस धनसे इसी स्थानपर एक भगवदुपासनाके लिये मन्दिर बनवाकर उसमें वही मूर्ति स्थापित की जाय। इस निर्णयको दोनोंने बड़ी प्रसन्नतासे मान लिया और उसी स्थानपर उस धनसे एक बड़ा सुन्दर मन्दिर निर्माण करवाकर उसमें उसी मूर्तिकी स्थापना करवा दी गयी और भगवदुपासकोंके लिये—वहाँ रहकर उपासना करनेवालोंके लिये यथोचित प्रबन्ध कर दिया गया। भक्त विट्ठलदास सपरिवार भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए अन्तमें उन्हें प्राप्त कर सदाके लिये परम सुखी हो गये।

◆

क्या यही भारतीय संस्कृति है ?

(डॉ॰ श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

भारतीय संस्कृतिकी अपनी विशिष्ट गौरवपूर्ण परम्परा रही है, जिससे समस्त विश्व प्रभावित होता आया है, किंतु आजकी स्थिति इसके बिलकुल विपरीत है। आजकी युवा-पीढ़ी पाश्चात्त्य संस्कृतिसे अत्यधिक प्रभावित है। खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार सब कुछ बदल चुका है, भक्ष्याभक्ष्यका हमें कुछ भी विचार नहीं रह गया है। सबसे भयंकर है नशीली वस्तुओंका सेवन। भारतकी युवा-पीढ़ीपर सबसे घातक प्रहार इस पाश्चात्त्य संस्कृतिका है, जिससे असंख्य परिवार नष्ट हो गये और यह क्रम निरन्तर चल रहा है। पाश्चात्त्य संस्कृतिके इस विनाशकारी प्रभाव या परिणामसे बचना और दूसरोंको बचाना हमारा परम कर्तव्य एवं युगधर्म है।

युवा-पीढ़ीको पाश्चात्त्य संस्कृतिसे कितना खतरा है, इसका उसे तो क्या, हम अभिभावकोंको भी अहसास नहीं है। हम समय रहते चेत जायँ तो अच्छा है। सरकारको भी चाहिये कि दूरदर्शन तथा आकाशवाणी-सरीखे सशक्त प्रचार-माध्यमोंके जरिये युवा-पीढ़ीका निरन्तर मार्गदर्शन करे जिससे विदेशी संस्कृतिके विनाशकारी प्रभावसे देश बच सके। पत्र-पत्रिकाएँ भी इस दिशामें बहुत-कुछ कर सकती हैं और उन्हें वही करना चाहिये, जिससे न केवल युवा-पीढ़ीका, बल्कि समूचे राष्ट्र और विश्वका हित हो। हमें अपने खान-पान, रहन-सहन—सबपर पूर्ण नियन्त्रण रखना होगा। हिप्पीकट बाल और चुस्त पोशाक भारतीय संस्कृतिके बिलकुल विपरीत हैं तथा स्वास्थ्यपर भी इन सबका पूरा प्रभाव पड़ता है। सात्त्विक खान-पान, ढीली पोशाक भारतीय संस्कृतिके अनुरूप हैं। मांस और अंडों आदि तामसी चीजोंका उपयोग भारतीय परम्पराके सर्वथा विपरीत है। इन पदार्थोंकी बिक्री वर्तमानमें सरे बाजार साग-तरकारी और फलोंकी तरह हो रही है। इनसे निर्मित होनेवाले पदार्थोंकी दुर्गन्धसे रास्ता चलना भी कठिन हो गया है। सिगरेट और अप्राकृतिक दुष्कर्मोंके परिणामस्वरूप कैंसर और एड्स-सरीखे भयंकर रोगोंसे ग्रस्त होकर लोग अकालमें ही कालकवलित हो रहे हैं। तामसी आहार तथा अनाचारका प्रभाव शरीरपर पड़ता है, मनपर पड़ता है और उचितानुचितका विवेक नष्ट हो जाता है। इस तरहकी शिष्टता अब हमारी परम्परा बन रही है। हमें किसीकी भी बुराई ग्रहण नहीं करनी चाहिये, बल्कि जहाँतक बने, अच्छाई ही ग्रहण करनी चाहिये। असत्प्रवृत्तियोंका अन्धानुकरण बहुत घातक होता है और बादमें पश्चात्ताप ही शेष रहता है।

युवाओंकी बुद्धि अपरिपक्व होती है और बिना सही प्रशिक्षण प्राप्त किये येनकेन प्रकारेण डिग्री हासिल कर लेनेमात्रसे योग्यता नहीं आ जाती। यही कारण है कि वे सहज ही गलत मार्गकी ओर उन्मुख हो जाते हैं। अतः अभिभावकोंका कर्तव्य है कि वे बहुत बारीकीसे उनकी गतिविधिका अध्ययन करें और ऐसा कुछ न होने दें, जिससे बादमें रोना और पछताना पड़े। अच्छाईकी अपेक्षा बुराईके प्रति झुकाव जल्दी होता है और बुद्धिकी अपरिपक्वताके कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है, किंतु इसका यह मतलब नहीं कि हम अपने युवकोंको पथभ्रष्ट होने दें, बल्कि समय रहते चेत जाना ही बुद्धिमानी है।

आजकी युवा-पीढ़ीमें शिष्टाचार नामकी चीज दिखायी नहीं देती, गुरु-शिष्य-सम्बन्ध बिगड़ चुके हैं और प्राचीन गुरुकुल-परम्परा समाप्त-प्राय है। शिक्षाकेन्द्र अनाचार और दुराचारके अड्डे बन गये हैं। महान् आदर्शवादी, विश्ववन्द्य

महापुरुषोंद्वारा अपने रक्तसे सींचकर पनपायी और विकसित की गयी श्रेष्ठ शिक्षण-संस्थाओंमें आज बिना पुलिस और बलप्रयोगके काम नहीं चल पा रहा है। युवा-पीढ़ीमें अपने गुरुजनोंके प्रति श्रद्धा या आस्था नामकी कोई चीज नहीं रह गयी है। दुर्भाग्यसे सच्चे गुरु भी कम दिखायी देते हैं, फिर भी गुरु और माता-पिताका स्थान दूसरा कोई नहीं ले सकता। वे कैसे भी हों, सदैव हमारे आदर तथा श्रद्धाके पात्र हैं। उनके प्रति शिष्टता या अभद्रता अक्षम्य है। यह कुसंस्कारोंका ही परिणाम है कि युवावर्गको माँ-बाप तथा बड़ोंके सामने अश्लील गाना गाने, गंदी फिल्में देखने और गंदे घासलेटी साहित्यके पारायणमें तनिक भी लज्जा या शर्मका अनुभव नहीं होता। आखिर यह सब क्या है ? अब बाकी क्या रह गया ? आजकी युवा-पीढ़ीपर ही कलके देशका भविष्य निर्भर है और जब वह स्वयं गलत होगी—सही नहीं होगी, तब देश सही कैसे रह पायेगा ? इसीलिये कहा गया है कि चरित्र यदि नष्ट हो गया, बिगड़ गया तो सब कुछ नष्ट हो गया, ऐसा मानना चाहिये। देश इस समय नैतिक पतनकी पराकाष्ठापर है।

आजकी युवा-पीढ़ी तनावग्रस्त भी है। उत्तेजक उपन्यासों और गलत खान-पान तथा नशाखोरी आदिका ही परिणाम है कि आजका युवावर्ग चोरी, डकैती और आगजनी-सरीखे कृत्योंमें सक्रिय दिखायी देता है। आत्मदाह-सरीखे कृत्य भी बुद्धिमानीके परिचायक नहीं हैं। समस्याके समाधानका यह सही मार्ग नहीं है। रामायण और महाभारत-सरीखे धारावाहिक देखकर भी आजका युवावर्ग रावण, कंस, शकुनि और दुर्योधन-सरीखे लोगोंके आचरणसे प्रभावित होता हुआ प्रतीत होता है। उसको झूठी शान-शौकत तथा अपनी विविध इच्छाओंकी पूर्तिके लिये पैसा चाहिये और इसके लिये वह गलत रास्ता अपनानेसे भी नहीं हिचकता। अब उसे न केवल अपने, बल्कि अपने परिवारके भविष्य तथा मान-अपमान आदिका कोई ध्यान नहीं है। वह अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके निमित्त परिश्रम नहीं करना चाहता और न परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके लिये वह पढ़ना ही चाहता है। इसके स्थानपर नकलबाजीके तरह-तरहके हथकंडे अपनाकर अपना उल्लू सीधा करनेमें ही वह विश्वास रखता है। ऐसी स्थितिमें हमें उनके साथ कुछ कड़ा रुख अपनाना होगा, यदि हम चाहते हैं कि अनिष्ट न हो। कितने दुःखकी बात है कि वर्तमानमें कुछ अभिभावक अपनी संतानोंके ऐसे आचरणको ही गर्व तथा गौरवकी वस्तु समझते हैं।

छात्रोंका उपयोग राजनीतिक दल भी करते हैं और उनकी आड़में वे अपना उल्लू सीधा करते हैं। एक युग था, जब राष्ट्रपिता गाँधीजीकी प्रेरणा तथा उनके आन्दोलनके प्रभावसे असंख्य युवा एवं विद्यार्थी पढ़ाई छोड़कर स्वातन्त्र्य-आन्दोलनमें कूद पड़े थे। आज देश स्वतन्त्र है और स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। गलत या सही मार्गोंकी पूर्तिके लिये आन्दोलन, हड़ताल या संगठनका सहारा लेना अनुचित है और इससे न व्यक्तिका कल्याण हो सकता है, न देशका। इस प्रकार युवावर्गकी शक्ति तथा क्षमताका निरन्तर ह्रास हो रहा है। ऐसी विकट परिस्थिति और आत्म-निरीक्षणकी वेलामें हमें अपने देशके भविष्यपर बहुत गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये और कोई ठोस कदम उठाकर इस ज्वलन्त समस्याका समाधान करना चाहिये। समयकी यही माँग है।

* * *

भक्त-वाणी

यत्पादपङ्कजरजः श्रुतिभिर्विमृग्यं यन्नाभिपङ्कजभवः कमलासनश्च।
यन्नामसाररसिको भगवान् पुरारिस्तं रामचन्द्रमनिशं हृदि भावयामि॥

(अध्यात्मरामायण १।५।४७)

'जिनके चरण-कमलोंकी रजको श्रुतियाँ भी ढूँढ़ती रहती हैं, वह उन्हें मिल नहीं पाती, अखिल विश्वकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्माजी जिनके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए हैं और स्वयं भगवान् शङ्कर जिनके नामामृतका चावसे रसास्वादन करते हैं, उन भगवान् रामचन्द्रका मैं निरन्तर ध्यान करता हूँ।'

* * *

पढ़ो, समझो और करो

(१)

हृदयकी विशालता और उदारताका आदर्श

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'यह अपना है और यह पराया है'—यह तो संकुचित विचारके लोगोंकी बात है, परंतु जो उदारचरित हैं उनके लिये तो सम्पूर्ण पृथ्वी ही अपना परिवार है। पर जो अपने परिवारके प्रति अपने कर्तव्योंका पालन नहीं करता, वह पृथ्वीके अन्य प्राणियोंकी क्या सहायता कर सकेगा? एक दृष्टान्त यहाँ उपस्थित है—

श्रीसत्यनारायणजी और विश्वनाथजी दो सगे भाई हैं। दोनोंमें परस्पर प्रगाढ़ स्नेह है और दोनों एक-दूसरेके प्रति समर्पित हैं। बड़े भाईके छः लड़की और दो पुत्र हैं, छोटे भाईके केवल सात लड़कियाँ ही हैं। आर्थिक स्थिति दोनोंकी सामान्य होनेके कारण लड़कियोंके विवाहकी चिन्ता होनी स्वाभाविक ही थी। परंतु छोटे भाई विश्वनाथकी आर्थिक स्थिति विशेष कमजोर होनेके कारण साथ ही सात लड़कियोंका भार तथा कोई लड़का भी न होनेके कारण उसके लिये विशेष चिन्ताकी बात थी।

विजय बड़े भाईका ज्येष्ठ पुत्र है, जिसने आर्थिक स्थिति कमजोर होनेके कारण अपने किसी सम्बन्धीके सहयोगसे व्यापार करना प्रारम्भ किया। अपनी कुशाग्र-बुद्धि, मधुर व्यवहार और ईमानदारीके कारण उसने व्यापारमें सफलता प्राप्त की। पर दूसरी ओर परिवारका दायित्व भी कम नहीं था। छः बहनें तो अपनी सगी ही थीं तथा एक छोटा भाई जिसकी शिक्षा-दीक्षा होनी थी, इसके साथ ही पिताके छोटे भाई—चाचाकी सात लड़कियोंके विवाहका बोझ। विजयके सामने एक प्रश्न था कि वह अपनी आर्थिक समृद्धिका सदुपयोग पारिवारिक दायित्व-निर्वाहमें अर्थात् बहनोंके विवाह और भाईकी शिक्षा आदिके लिये करे अथवा अपनी भौतिक अनन्त आवश्यकताओंकी पूर्तिके निमित्त अपने स्वार्थपूर्ण भोग-विलास और ऐश-आरामके लिये खर्च करे। यह एक अहम सवाल था उसके लिये।

अच्छी सीख और सत्प्रेरणा भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है। विजयने अपनी छः बहनोंके विवाहका भार तो वहन किया ही साथ ही अपनी चचेरी बहनोंके विवाहका भी भार सम-भावसे वहन किया। सभी बहनोंकी शादियोंमें उसका अधिकतम योगदान था। इसके अतिरिक्त अपने अनुजको डॉक्टरीकी उच्च शिक्षासे समन्वित कर उसे अपने पैरोंपर खड़ा करनेका प्रयास किया। इस प्रकार सादा जीवन और उच्च विचारके आदर्शको अपनानेवाला युवक महान् दायित्वका निर्वाह बड़ी सरलतासे कर सका।

सत्कर्म और कर्तव्यपालन करनेवालेकी सहायता परमात्मा—प्रभु सर्वदा करते हैं। सम्पत्तिका सदुपयोग अपने सुख-भोगकी अपेक्षा सबको सुखी बनानेमें है।

—सत्यनारायण काबरा

(२)

सच्चाईमें निष्ठा

अबू-खलीफाके यहाँ वस्त्रोंका व्यापार होता था। वे इस व्यापारको अपनी पूरी ईमानदारीसे करते थे। वे कहा करते थे —'मुसलमान वह है, जिसका ईमान पक्का हो, अपना काम ईमानदारीसे करना खुदाकी सबसे बड़ी इबादत है।'

एक बार उनकी दूकानमें एक कपड़ेका थान ऐसा आ गया, जो देखनेमें तो ठीक था, किंतु बीचमेंसे कटा था। अबू-खलीफाने अपने कर्मचारियोंको हिदायत दी थी कि 'इस थानको बेचते समय इसकी खराबी खरीददारको बतला दें तथा इसे आधे मूल्यपर बेचें।'

लेकिन बेचनेके समय कर्मचारीको ध्यान न रहा और उसने उसे पूरे मूल्यमें बेच दिया। ध्यान आनेपर उसने अपनी भूल अबू-खलीफाको बतलायी और इसके लिये क्षमा माँगी। यह बात जानकर अबू-खलीफाको बहुत दुःख हुआ और वे उस आदमीकी खोजमें निकल पड़े।

बहुत खोज-बीन करनेके बाद पता चला कि वह आदमी हजाजके काफिलेमें शामिल होकर दोपहरको ही यहाँसे चला गया है।

अबू-खलीफा एक तीव्रगामी ऊँटपर सवार होकर तुरंत

हजाजकी ओर चल पड़े। उन्होंने उस आदमीको ढूँढ़ लिया, जिसने वह कटा हुआ कपड़ेका थान खरीदा था। अबू-खलीफाने थानके कटे होनेकी बात बतलाकर उसे आधा मूल्य वापस कर दिया तथा कर्मचारीद्वारा हुई भूलके लिये उससे माफी माँगी।

खरीददार व्यक्तिने अबू-खलीफासे कहा—'बिना कुछ बातके आप यहाँतक दौड़े आये, फिर भूल भी तो अनजानेमें हुई थी, माफीका तो प्रश्न ही नहीं उठता।'

'यदि मैं ऐसा न करता तो अपने धर्मसे च्युत हो जाता।' अबू-खलीफाने कहा—'भूल चाहे जानमें हुई हो या अनजानमें, उसका सुधार तो होना ही चाहिये।' खरीददार अबू-खलीफाकी ईमानदारी और सत्यताके समक्ष नतमस्तक था।

—गोपालदास नागर

(३)

गाय पशु नहीं, साक्षात् देवी है

(एक अद्भुत आँखों-देखी घटना)

सन् १९८८के सितम्बर मासकी बात है। मैं अपनी दूकानपर बैठा था। नगरके कुछ कर्मचारी कुत्ते पकड़कर एक बंद गाड़ीमें डाल देते और ऊपरसे जहरीला पाउडर छिड़ककर मार डालते थे। कर्मचारी एक दिन कुत्तोंको पकड़नेमें व्यस्त थे—एक कुत्तेके गलेमें फंदा फेंका गया, परंतु किसी दैवी कारणवश वह फंदा जल्दी खिंच नहीं सका। फंदेका एक छोर कर्मचारीके हाथमें और दूसरा छोर कुत्तेके गलेमें था। फंदा पड़ते ही कुत्ता चिल्लाते हुए भागने लगा। साथ ही एक छोर पकड़े कर्मचारी भी उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। लोग बाजारमें तमाशा देखते रहे, परंतु कुत्तेको छुड़ानेकी किसीकी भी हिम्मत नहीं हुई। पासमें ही एक गाय चर रही थी, वह कुत्तेकी स्थिति देखकर अचानक क्रुद्ध हो उठी और कुत्तेको छुड़ानेके लिये फंदा पकड़े उस कर्मचारीके पीछे वेगपूर्वक हुंकारती हुई दौड़ी। कर्मचारी यह देखकर घबरा गया और घबराहटमें उसके हाथसे फंदा छूट गया। फंदेके छूटते ही कुत्ता दूर भाग गया और उसकी जान बच गयी।

'जाको राखै साइयाँ मार सकै न कोय।'

मूक प्राणी (कुत्ते) को मूक प्राणी (गाय) ने ही मौतसे बचाया, यह देखकर हम आश्चर्यचकित हो गये। मेरे मनमें यह विचार आया कि यह गाय पशु नहीं, प्रत्युत साक्षात् देवी है; जो कार्य हम इंसान नहीं कर सके, वह इसने कर दिखाया। हम सभी गो-माताके प्रति नतमस्तक थे।

—बं० मिठालाल जोशी

मनन करने योग्य

(१)

अधिक धन, अधिक उत्पात

आधुनिक हिन्दीके जन्मदाता माने जानेवाले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रके पुरखे राजस्थानके ओसियाँ नामक स्थानमें रहते थे और कई सदियों-पूर्व वे आकर वाराणसीमें बस गये थे। उनका परिवार काफी सम्पन्न था। वे दिल खोलकर खर्च करते थे और उनकी दानवीरताकी बहुत चर्चा थी।

खाते-पीते, खर्च करते और दान देते-देते तो कुँआ भी सूख जाता है। यह बात सोचकर तत्कालीन काशीनरेशने एक बार भारतेन्दुजीसे कहा—'बबुआ! तुमने तो अपनी सम्पत्तिका सत्यानाश ही कर दिया।' भारतेन्दुजीने उत्तर दिया—'महाराज! यह दौलत बहुत बुरी चीज है। इसने मेरे दादाजीको खा लिया, यह मेरे पिताजीको खा गयी और अब मुझे भी खानेकी तैयारीमें थी। मैंने सोचा कि इस सत्यानाशी दौलतको मैं ही क्यों न खा-खिलाकर और बाँटकर यह समस्या ही समाप्त कर दूँ। ऐसी सम्पत्तिसे मोह कैसा जो स्वयं ही उत्पातकी जड़ है।'

(२)

दानी महाकवि माघ

एक बार महाकवि माघ अपना महाकाव्य 'शिशुपालवध' लिखनेके लिये बैठे हुए थे। उसका नवाँ सर्ग लिखा जा रहा था, तभी अवन्तिकापुरीका निवासी एक गरीब ब्राह्मण उनके पास आया और उसने बताया कि उसके पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं है और बेटीका विवाह करना बहुत आवश्यक है।

माघ भी उस समय तंगीकी स्थितिमें ही थे, परंतु उनके मनमें तो दयाका सागर लहराता था। उन्होंने ब्राह्मणके मर्मकी पीड़ाको समझा और घरमें कोई ऐसी चीज ढूँढ़ने लगे जिससे उस ब्राह्मणका कार्य सफल हो सके। लेकिन उन्हें कोई भी मूल्यवान् सामान् नहीं मिला। उनकी धर्मपत्नी पासमें चारपाईपर सो रही थीं। उसी समय माघकी दृष्टि पत्नीके हाथपर गयी जिसमें सोनेका कंगन था। उन्होंने वह कंगन पत्नीके हाथसे निकाल लिया और उसे ब्राह्मणको देनेहीवाले थे कि पत्नी उठ खड़ी हुई। शायद वह सोनेका बहाना कर रही थीं। उन्होंने अपने दूसरे हाथका कंगन भी उतारकर पतिदेवके हाथमें दे दिया और बोलीं—'एक कंगनसे इस ब्राह्मणका काम पूरा नहीं होगा। इन्हें दोनों कंगन दे दीजिये, जिससे ये अपनी लड़कीका विवाह आरामसे कर सकें।'

महाकवि अपनी पत्नीका यह त्याग देखकर अति प्रसन्न हुए और वह ब्राह्मण इन दोनों पति-पत्नीको आशीर्वाद देते हुए दोनों कंगन लेकर अपने घरकी ओर चल दिया।

(३)

खिचड़ीसे सीख

एक बार खेतड़ी-नरेश महाराज अजीत सिंह और स्वामी विवेकानन्द, राजा साहबके आवासपर भोजन करनेके लिये बैठे। दोनोंके सामने गर्म-गर्म खिचड़ी और उसपर कच्चा घी थालोंमें परोसा गया। स्वामीजीने पहले कभी खिचड़ी खायी नहीं थी, लेकिन खिचड़ीसे आ रही सोंधी-सोंधी गंध उन्हें बहुत प्रिय लगी। खानेके लिये उन्होंने खिचड़ीके बीचमें जैसे ही अपना हाथ डाला, खिचड़ी और घीकी गर्मीसे अँगुलियाँ जलने लगीं और उन्होंने अपना हाथ तुरंत झटका। राजा साहबने कहा—'स्वामीजी! यह खिचड़ी है। यह गर्म-गर्म ही खायी जाती है, लेकिन बीचसे आरम्भ न करके इसे किनारेसे ही खाना शुरू करना चाहिये और धीरे-धीरे उठाकर मुँहमें रखना चाहिये।' स्वामीजीने ऐसा ही किया।

भोजनके बाद स्वामीजी कहने लगे—'राजन्! आज मैंने खिचड़ीसे भी ज्ञान प्राप्त किया है। किसी भी कामको बीचसे शुरू नहीं करनी चाहिये।'

(४)

शान्तिका मार्ग—सेवा

स्वामी विवेकानन्द प्रायः अपने मित्र खेतड़ी (राजस्थान) नरेश श्रीअजीत सिंहकी चर्चा करते रहते थे। एक बार नरेशने पूछा—'शान्ति-प्राप्तिका सुगम मार्ग कौन-सा है?' स्वामीजीने उत्तर दिया—'जिज्ञासु नरेश! यही प्रश्न लेकर एक बार एक व्यक्ति मेरे पास आया था। वह कई प्रकारके साधन करते-करते थक गया, पर उसे शान्ति नहीं मिली। तब मैंने उससे कहा कि तुम अपने मनकी कोठरीका दरवाजा खोल दो और आस-पासके दीन-दुःखियों, जरूरतमंदों, लाचार लोगोंकी सेवामें लग जाओ। अशिक्षितोंको शिक्षा दो। तुम्हें जरूर शान्ति मिलेगी।' विवेकानन्दके इस मर्मभेदी कथनको राजा साहबने अपने जीवनका सूत्र समझ लिया और सेवाके माध्यमसे शान्ति-प्राप्तिमें लग गये।

(५)

संत दादूको ज्ञानबोध

दादू उस समयतक संत दादू नहीं बने थे। वे अपनी दुकानमें बैठे हिसाब-किताब करनेमें व्यस्त थे। बाहर मूसलाधार वर्षा हो रही थी और उसीमें कहींसे एक साधु आकर खड़े हो गये थे। दादूका ध्यान उधर नहीं गया। हिसाब-किताब करनेके बाद जब उन्होंने बाहरकी ओर देखा तो दरवाजेपर एक साधु खड़ा दिखायी दिया जो पानीमें भींग रहा था। वे तुरंत बाहर गये और साधुको भीतर लाकर बिठाया तथा उनके चरणोंमें अपना सिर रखकर बार-बार क्षमा-याचना करने लगे।

साधुने गम्भीर वाणीमें कहा—'मैं तो कुछ ही देरसे यहाँ आकर खड़ा था, ज्यादा देर नहीं हुई। परंतु ईश्वर तो न जाने कबसे तुम्हारे दरवाजेपर खड़ा तुम्हें पुकार रहा है और अभी भी प्रतीक्षा ही कर रहा है।' बताया जाता है कि इसी गुरु-वाणीसे उनके जीवनकी धारा बदल गयी और संसार छूट गया। वे संत दादू हो गये और फिर दादूपंथके प्रभु।

—डॉ॰ मनोहरलाल गोयल

* * *

॥ श्रीहरिः ॥

(भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र)

'कल्याण'

—के ६४वें वर्ष (वि॰ सं॰ २०४७, सन् १९९०-९१ ई॰) के दूसरे अङ्कसे बारहवें अङ्कतकके

निबन्धों, कविताओं और संकलित सामग्रियोंकी वार्षिक विषय-सूची

(विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है।)

निबन्ध-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

१-अनन्य भक्ति-साधनका स्वरूप (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ···· ४९१
२-अमृत-बिन्दु ························ ६४३, ६८२
३-अल्पमें सुख नहीं है (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ········ ६९७
४-असुरशिल्पी 'मय' ···················· ४५४
५-आत्म-बोध (श्रीसुबोधचन्द्रजी पाण्डेय) ···· ८२६
६-आधिदैविक जगत्के देवता—अष्ट लोकपाल (श्रीशिवनाथजी दुबे, एम्॰ काम्॰, एम्॰ ए॰, साहित्यरत्न, धर्मरत्न) ················ ४५९
७-आर्यसाहित्यमें गौका गौरव (देवर्षि भट्ट पं॰ श्रीमथुरानाथजी शास्त्री) ············· ८३५
८-उद्बोधन (पं॰ श्रीवृन्दावनविहारीजी मिश्र, 'बिन्दु'भागवताचार्य) ················ ७८२
९-उपवाससे स्वास्थ्य-लाभ (वैद्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, आयुर्वेदाचार्य) ··············· ७१८
१०-कल्याण (शिव) ४१०, ४५०, ४९०, ५३०, ५७०, ६१०, ६५०, ६९०, ७३०, ७७०, ८१०
११-काशीके द्वादश आदित्योंकी पौराणिक कथाएँ ४३८
१२-कुछ आध्यात्मिक अनुभव (स्वामी श्रीशान्तयोगानन्दजी) ···················· ७७२
१३-कुमाऊँके लोकदेवता और लोकोपासना ···· ४४५
  (१) गोरिया या ग्वाल्ल देवता··············· ४४६
  (२) व्यानधुरा (श्रीगौरीदत्तजी गहतोड़ी)······ ४४७
१४-(श्री)कृष्णकी आह्लादिनी शक्ति—श्रीराधा (डॉ॰ श्रीकौशलनन्दनजी गोस्वामी, एम्॰ ए॰ (हिन्दी-संस्कृत), पी-एच्॰ डी॰)·········· ८१३
१५-कृषि एवं क्षेत्रके अधिष्ठाता भगवान् क्षेत्रपाल··· ४२१
१६-कोई कुछ भी कहे ··················· ८१८
१७-क्या यही भारतीय संस्कृति है ? (डॉ॰ श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)················ ८४०
१८-क्या शुभ कर्मसे कष्टोंका नाश होता है ? (स्वामी श्रीशंकरानन्दजी महाराज) ········ ५१२
१९-खान-पानमें संयम (पं॰ श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)··· ६३०
२०-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीराम-सुखदासजी महाराज) ५१४, ५५१, ५९१, ६३७, ६७७, ७१७, ७५४, ७९१, ८३१
२१-गीतावलीमें विभीषण-शरणागति-प्रसंग (डॉ॰ श्रीविनोदकुमारजी ओझा)············ ६९९
२२-गो-पूजन ························ ६११
२३-गोवंशके वधपर रोक लगाने-हेतु संसद्में प्रस्ताव ······················· ५२७
२४-गौका महत्त्व क्यों ? ···················· ५९३
२५-ग्राम्य (ग्राम) देवता चक्रेश्वरी एवं उनकी लोक-शक्तियाँ (डॉ॰ श्रीनरेशजी झा) ······ ४४७
२६-चतुष्षष्टि योगिनी ····················· ४७६
२७-चरम और परम उपासनाका सुधा-मधुर फल—भगवत्प्रेम (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ········ ६२१
२८-जलधिनाथ भगवान् वरुण ··········· ४११, ४६२
२९-जितेन्द्रिय बनो (संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज) ······················ ५८६
३०-जीवनकी सार्थकता और आधुनिक मूल्य (आचार्य श्रीतुलसीजी) ················ ७५३
३१-जीवनके लक्ष्यकी प्राप्ति (डॉ॰ श्रीपशुपतिनाथजी उपाध्याय) ······················· ७०५
३२-जैन आगमोंमें देववादकी अवधारणा (अणुव्रत-अनुशास्ता, युगप्रधान आचार्य श्रीतुलसी) ·· ४३५

विषय पृष्ठ-संख्या

३३-तन्मयता (तत्त्वदर्शी महात्मा श्रीतैलङ्ग स्वामीजी) ४९४, ५३५

३४-(श्री) तुलसीदासजीका शकुन-विचार (गोस्वामी श्रीरामबालकजी, साहित्यरत्न, शिक्षाविशारद, साहित्यालंकार) ७९४, ८३२

३५-त्रिदेवोंका स्वरूप-रहस्य और उनकी अभिन्नता (स्वामी श्रीसदानन्दजी सरस्वती) ४३०

३६-(श्री) त्रिभुवन पाण्डेय ७१५

३७-दीपावली (विद्याधुरीण पं० श्रीजौहरीलालजी शर्मा, सांख्य-योगाचार्य) ६३८

३८-(श्री) दुर्गासप्तशतीमें देवता-तत्त्व (श्रीचतुर्भुजजी तोषणीवाल) ४७३

३९-देवत्वकी विशेषता (डॉ० श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र 'विनय') ५८७

४०-देवताओंकी माता अदिति ६४१, ६७९

४१-देवपूजामें पुष्प ५०६

४२-देवयोनियोंका उद्भव एवं स्वरूप-परिचय ४१८

४३-देववाणीकी दिव्यता (डॉ० श्रीगोकुलप्रसादजी त्रिपाठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ७०७

४४-देवशिल्पी प्रजापति विश्वकर्मा (त्वष्टा) ४५१

४५-देवहूति-कर्दम-चरित्र (संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज) ६३३

४६-देवालय-संरक्षण (श्रीजयगोपालजी सिंहल) ६२४

४७-देवोपासनामें शुचि वेषका महत्त्व ५४५

४८-दैवी सम्पदा या संतोंके गुण (श्रीशुकदेव-बिहारीजी मीणा, एम्० ए०) ७५०

४९-धर्म-पथ ७९३

५०-निर्बलका बल (पूज्यपाद अनन्तश्री ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ७३५

५१-पढ़ो, समझो और करो—५२३, ५६५, ५९८, ६४४, ६८३, ७२२, ७६२, ८०३, ८४२

५२-पतनमें उत्थानका भ्रम ६८७

५३-परमार्थ-साधनके आठ विघ्न ७२६

५४-परोपकारप्राणा पुण्यमयी गौ (सुश्री मंजुलता मिश्रा, एम्० ए०, एम्० फिल्०) ७२०

५५-पाँच प्रकारके पुत्र ७५७

विषय पृष्ठ-संख्या

५६-पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश ८२४

५७-प्रदक्षिणा (परिक्रमा) तथा स्वस्तिकका रहस्य ५८४

५८-प्रेम ८०२

५९-प्रेम-दिवाने (श्रीप्रेम-पथ-पथिक) ८१९

६०-प्रेममें प्रसन्नता ७९७

६१-बहुदेवोपासना वरदान है (श्रीरामचन्द्रजी शर्मा शास्त्री, एम्० ए०) ४२८

६२-भक्त-परिवार [भक्त-गाथा] ६७४

६३-भक्तवर विट्ठलदासजी ८३७

६४-भक्ति दुर्लभ है या सुलभ ? (श्रीभँवरलालजी परिहार) ७८०

६५-भक्तिकी महिमा (आचार्य डॉ० श्रीत्रिनाथजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ७४३

६६-भक्तिमती निर्मला ५५६

६७-भगवच्चिन्तनका प्रभाव (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ५३१

६८-भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन—षोडशाक्षर-मन्त्र-जप (श्रीबनवारीलालजी गुप्त, शास्त्री) ४९८

६९-(श्रीमद्) भगवद्गीतामें देवताओंका स्वरूप (श्रीरामकृष्णजी मिश्र, पी० सी० एस्०) ४६८

७०-भगवदनुराग (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ६५७

७१-भगवद्भक्त महात्माका स्वरूप एवं प्रभाव (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रवचनका एक अंश) ७३१, ७७१

७२-भगवान्‌के आश्वासनपर विश्वास करो (नित्य-लीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ७७४, ८१६

७३-भगवान् वृषाकपि ४५६

७४-भगवान् श्रीरामके अवतार-हेतु (मानसमराल पं० श्रीजगेशनारायणजी शर्मा) ६६०

७५-भगवान् सूर्य तथा कोणार्क-मन्दिर (श्रीप्रशान्त-कुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०) ४४३

७६-भगवान् सूर्यके विविध रूपोंके दर्शन ४३७

७७-(श्री) भगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना ६०४

विषय — पृष्ठ-संख्या

७८-(श्री) भगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना ·· ६०८

७९-भजनका अधिकारी (श्रीउड़िया बाबाजीके उपदेशसे उद्धृत) ·········· ६६९

८०-भजनमें एक बड़ी बाधा ·········· ७६७

८१-भारतके सभ्य सुशिक्षित कहे जानेवाले लोगोंकी बीमार मानसिकता (श्री आर० एस० रातिया) ७५६

८२-(श्री) भैरव एवं उनकी उपासना (पं० श्रीसुरेशचन्द्रजी ठाकुर) ·········· ४६५

८३-मनन करने योग्य—५२५, ५६७, ६००, ६४६, ६८५, ७२५, ७६५, ८०५, ८४३

८४-मन ही बन्धन और मोक्षका कारण है (श्रीकृष्णपादलीन संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज) ···· ७४८

८५-मनःशुद्धि आवश्यक है (संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज) ·········· ५११

८६-मनुष्यमें देवत्वका आधान (श्रीआनन्दबिहारीजी पाठक, एम्० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)·· ४२९

८७-माँका उपदेश ·········· ८०८

८८-मानवका दुर्भाग्य [कहानी] ·········· ५१८

८९-मानवकी दानवीय क्रूरता ·········· ५२०, ५६१

९०-मानस-निरोध (पूज्यपाद अनन्तश्री ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ·········· ६१७

९१-मोहि कपट छल छिद्र न भावा (श्रीराजेन्द्रजी राय) ७८४

९२-मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ८११

९३-रत्न-पिटारी ·········· ६४८

९४-राधा-कृष्णकी अभिन्नता तथा राधा-प्रेमकी विशुद्धता (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ········ ४९७, ५३७, ५७६

९५-(श्री) राधाकी युगलोपासना (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)····· ४२३

९६-(श्री) राम-जन्मभूमि (राधेश्याम खेमका)···· ६०२

९७-(श्री) रामजन्मभूमि हमारी महान् विरासत है (ब्रह्मलीन श्रीदेवराहाबाबाजी महाराजसे लिया गया अन्तिम साक्षात्कार) [भेंटकर्ता—श्रीशिवकुमारजी गोयल] ·········· ६६३

विषय — पृष्ठ-संख्या

९८-राम ते अधिक राम कर दासा (श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री, रामायणी, साहित्यरत्न) ·········· ५८९, ६३५

९९-राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार (डॉ० श्रीरामसनेहीलालजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ७७६

१००-रामभक्त श्रीहनुमान्जीके दर्शन ·········· ४७८

१०१-रोगनिवारक महौषधि—विष्णुप्रिया तुलसी (डॉ० श्रीउपेन्द्रराय जे० सांडेसरा) ·········· ७८८

१०२-वसुधैव कुटुम्बकम् (महन्त श्रीदीनबन्धुदासजी) ५७९

१०३-वारोंके अधिष्ठातृ-देवता ·········· ४२०

१०४-विकलाङ्गोंके लोकदेवता डिग्गीके कल्याणजी (आचार्य पं० श्रीकुलवंतराय दत्ता) ······· ४४५

१०५-विभिन्न दर्शनोंके अनुसार देवाधिदेव परमात्माका स्वरूप (राष्ट्रपति-सम्मानित डॉ० श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामी) ·········· ४३३, ४६६

१०६-विवेक-वाटिका ·········· ७४४

१०७-विश्वहितके लिये हमारी सनातन प्रार्थना (अनु०—श्रीमदालसा नारायण) [प्रेषक—श्रीजयदयालजी डालमिया] ५४९, ७१४, ८३०

१०८-विश्वेदेवगण और उनकी महिमा (डॉ० श्रीबसन्तवल्लभजी भट्ट, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ·· ४१५

१०९-व्रजके ग्राम-देवता (डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, डी० लिट्० ·········· ४८५

११०-शरणागतिका स्वरूप (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके प्रवचनका एक अंश) ·········· ७३९

१११-शीघ्र भगवत्प्राप्ति कैसे हो ? [गीताभवन-स्वर्गाश्रममें दिये गये प्रवचनके आधारपर] (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ·········· ६५१, ६९१

११२-शुद्ध ज्ञानकी प्राप्तिके उपाय (ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाईजी व्यास) [अनुवादक—प्रा० भूदेवप्रसाद हरिलालजी पंड्या] ······· ५७३

११३-शोकनाशके उपाय (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ·········· ५७१, ६१४

११४-श्राद्ध-मीमांसा (पं० श्रीजौहरीलालजी शर्मा) · ५५०

विषय पृष्ठ-संख्या
११५-श्रीश्रीनामामृतलहरी (महात्मा श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी) ६५५
११६-संत-वाणी (एक महात्माका प्रसाद) ५०९
११७-संतोंके दर्शनके लिये सद्भाव आवश्यक है (श्रीकृष्णपादलीन संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज) ८२८
११८-सत्सङ्गके अमृत-कण ७३८
११९-सदाचार ८०७
१२०-सदाचार और भगवद्भक्ति (श्रीरामकृष्ण रामानुजदासजी 'श्रीसंतजी' महाराज) ५४०
१२१-सप्तर्षि ४८८
१२२-सांसारिक भोगोंकी दुःखरूपता (श्रीकृष्णपादलीन संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज) ७१०
१२३-साग्निरेता गरीयसी (श्रीबनवारीजी गुप्त 'शास्त्री') ६९५
विषय पृष्ठ-संख्या
१२४-सात्त्विक जीवन कैसे बने ? (स्वामी श्रीशंकरानन्दजी महाराज) ७८६
१२५-साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ५०२, ५४२, ५८१, ६२६, ६६५, ७०२, ७४५, ७७८, ८२१
१२६-साधनोपयोगी पत्र ५१५, ७५९, ८००
१२७-सुख-दुःखसे अतीतके जीवनकी खोज ७६१
१२८-सुखी-दुःखी होनेमें मुख्य हेतु है तन्मयता (स्वामी श्रीशंकरानन्दजी महाराज) ७१२
१२९-सोद्देश्य मौन-धारण (श्रीशिवानन्दजी) ६५४
१३०-स्त्रीकी शिक्षा (श्रीरामनाथजी) ६७१
१३१-स्वप्नसे वैराग्य ५९५
१३२-हृदयकी बात ७०९

पद्य-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या
१-अनबूझ पहेली (श्रीबालकृष्णजी गर्ग) ८१५
२-अब तो मनमें आओ राम ! (श्रीअतुलकीर्तिजी व्यास) ७१६
३-गीता-सुधातरङ्गिणी [साधक-संजीवनीके आधारपर] (अनु०—एक जिज्ञासु) ५१०, ६६८, ७८३
४-गौमाताका अभिनन्दन (श्रीजगदीशचन्द्रजी शर्मा, एम्० ए०, बी० एड्०) ६३४
५-पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती (श्रीशीलव्रतजी शर्मा 'शील') ७३४
विषय पृष्ठ-संख्या
६-भक्तकी भावना (श्रीजगदीशप्रसादजी गुप्त, 'जगदीश') ६७३
७-(श्री) रघुनाथजीके चरण-कञ्ज (श्रीविभूतिनाथ जगदीशशरणजी विलगइयाँ 'मधुप' द्विवेदी) ४६४
८-रे मन ! चल तू प्रभुके तीर (श्रीविष्णुगुप्तजी 'विष्णु') ५७५
९-सर्वोपरि निधि (पं० श्रीवृन्दावनविहारीजी मिश्र, 'बिन्दु', भागवताचार्य) ७५२

संकलित पद्य-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या
१-कृष्ण-भक्तिमें लीन मीराका विषपान (मीरा बाई) ६४९
२-(श्री) गङ्गा-माहात्म्य ७७५
३-गोपी-प्रेम ७२९
४-जा दिन संत पाहुने आवत ५९७
५-पशुके समान व्यर्थ जीवन ५६०
६-(श्री) बदरीश-महिमा ४४९
७-बालगोपालकी अनूठी छबि ८०९
विषय पृष्ठ-संख्या
८-मानवके वर्तमान कर्म, उनका बुरा फल और मानवका कर्तव्य ८२०
९-(श्री) राम-जन्मोत्सव ८३४
१०-(श्री) रामदर्शनसे मयूरोंका आनन्द-नृत्य ७६९
११-(श्री) सिद्धिसहित गणराज प्रणाम ४०९
१२-है नीको मेरो देवता कोसलपति श्रीराम ६२०

Appeal

Through the grace of God, publication of the **Kalyana-Kalpataru** was resumed after a lapse of nearly fifteen years in May, 1989. We had brought out the **God-realization Number** as the **Annual Number** for the XXXV year and **Śiva Number** for XXXVI year.

The patronage and co-operation which is uniformly received from our patrons, friends, well-wishers, contributors and readers alike both in the country and abroad, indicate that the sky which now appears to be overcast with clouds of unbelief, hatred and jealousy etc. may again become clear and bright as the clouds are rolled away by the breeze of spiritual thought. We feel highly encouraged with the patronage of the issues of the **Kalyana-Kalpataru** throughout the year by our readers.

It has now been decided to bring out the next **Annual Number** of the **Kalyana-Kalpataru** for the year XXXVII as **Viṣṇu Number** devoted to Lord Viṣṇu. This issue will contain articles on any aspect of Lord Viṣṇu mainly on the following topics—

1. Viṣṇu or Mahāviṣṇu (The supreme being).
2. Viṣṇu or Sūrya.
3. Viṣṇu as depicted in Vaidika Sūktas.
4. Viṣṇu or Puruṣa and His three forms;
   (1) Creator of Mahat.
   (2) Stayed in Macrocosm.
   (3) Seated in the heart of all the beings.
5. Vaiṣṇavopaniṣads.
6. Vaiṣṇavāgamas.
7. Tradition of Vaiṣṇava Philosophy—
   (1) Dvaita.
   (2) Dvaitādvaita and Acintya-Bhedābheda.
   (3) Viśiṣṭādvaita.
   (4) Śuddhādvaita.
8. Vaiṣṇava Purāṇas and the form of Viṣṇu
9. Vaiṣṇava Saṁhitās: Jayākhya, Pauṣkara etc.
10. Vaiṣṇava Sect prevailing in Bengal or Gauḍa Deśa.
11. Gauḍīya Vaiṣṇava darśana and its literature.
12. Viṣṇu Kāñcī.
13. Different Tīrthas pertaining to Viṣṇu.
14. Vaiṣṇava incarnations.
15. Viṣṇu in Archaeology.
16. Kings of Pāla dynasty and their devotion to Viṣṇu Bhagavān.
17. Viṣṇu in the Bhāratīya Sculpture.
18. Viṣṇu in India and abroad.
19. Viṣṇu and His Śakti Lakṣmī.
20. The Trees relating to Viṣṇu.
21. Viṣṇu in classical Saṁskṛta literature.
22. Worship of Viṣṇu—Pañcopacāra, Ṣoḍaśopacāra etc.
23. Viṣṇu-Sahasranāma and its excellence.
24. Stotra literature belonging to Viṣṇu.
25. Śrī Vidyā and Viṣṇu.
26. The cult of Viṣṇu prevalent in different places of Bhāratavarṣa.
27. The preeminent devotees of Viṣṇu.
28. The significance of 'यज्ञो वै विष्णुः'.
29. Viṣṇu in Hindi and other languages.
30. The greatness of the names of Viṣṇu like Acyuta, Ananta, Govinda etc.
31. Some important Stotras of Viṣṇu.
32. Oneness of Lakṣmī and Viṣṇu.
33. Bhāgavata or Sātvata System of Vaiṣṇavism.
34. Viṣṇu in the Trinity of deities.

It has been decided to bring out the next Annual Number (Viṣṇu Number) in October 1991. Patrons, readers and persons with religious and spiritual leaning are requested to contribute articles on any aspect of these topics. They are, however, free to choose any other aspect of Lord Viṣṇu. Articles neatly written/typed in double space of foolscape/quarto size with sufficient margins on sides may please be forwarded to us latest by June 30, 1991.

All correspondence in this regard may be addressed to—

Editor,
The Kalyana-Kalpataru,
Gita Press,
P.O. Gita Press—273005
Gorakhpur (U.P.) India.

गीताभवन, स्वर्गाश्रमके सत्सङ्गकी सूचना

प्रतिवर्षकी भाँति इस वर्ष भी गीताभवन, स्वर्गाश्रममें सत्सङ्गके आयोजनकी व्यवस्था है। वहाँ *परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजका* शुद्ध वैशाख बदी सप्तमी तिथि (६ अप्रैल) को पहुँचनेका विचार है। अन्य साधु एवं विद्वान् भी पधारनेवाले हैं।

अतः नम्र निवदेन है कि सत्सङ्गी भाई लोग तथा माताएँ-बहनें अधिकाधिक संख्यामें सत्सङ्ग तथा भजनके पवित्र उद्देश्यसे गीताभवन पधारें, आमोद-प्रमोद (मनोरञ्जन) अथवा जलवायु-परिवर्तनकी दृष्टिसे न जाकर सभीको केवल सत्सङ्ग-लाभके उद्देश्यसे ही वहाँ जाना चाहिये एवं यथासाध्य नियमित तथा संयमित साधक-जीवन बिताते हुए सत्सङ्ग-कथा-श्रवण तथा कीर्तन आदिके आयोजनोंमें अनिवार्यरूपसे सम्मिलित होना चाहिये।

जिन्हें नौकर, रसोइयाकी आवश्यकता हो, उन्हें यथासम्भव उनको अपने साथमें ही ले जाना चाहिये। स्वर्गाश्रममें नौकर, रसोइयोंका मिलना कठिन है। माताएँ और बहनें पीहर या ससुरालवालोंके (अथवा अन्य किसी निकटके सम्बन्धीके) साथ ही वहाँ जायँ। अकेली कदापि न जायँ। अकेली जानेकी दशामें उन्हें स्थान मिलनेमें कठिनाई हो सकती है। गहने आदि जोखिमकी वस्तुएँ साथमें बिलकुल नहीं ले जानी चाहिये। सत्सङ्गी भाइयोंको बहुत आवश्यक सामान ही अपने साथमें ले जाना चाहिये तथा अपने सामानकी पूरी सँभाल भी स्वयं ही रखनी चाहिये। जहाँतक बन पड़े छोटे बच्चोंको साथमें न ले जायँ। खान-पानकी वस्तुओंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जा रहा है, परंतु दूधके प्रबन्धमें बहुत कठिनाई है।

—व्यवस्थापक

* * *

'कल्याण'का आगामी (वि० सं० २०४८) का विशेषाङ्क

'योगतत्त्वाङ्क'

'योग' स्वयंमें एक परम शक्ति और विशिष्ट साधना है। अध्यात्म तथा साधनाके क्षेत्रमें इसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भारतीय सनातन संस्कृति तथा शास्त्रोंने 'योग'को भगवत्साक्षात्कार और मोक्षका प्रमुख साधन माना है। इसीलिये शास्त्रोंमें सर्वत्र ही न्यूनाधिकरूपसे इसकी उपलब्धियों तथा विशिष्टताओंका प्रतिपादन हुआ है। योग-साधनासे लौकिक तथा पारलौकिक सभी प्रकारकी सिद्धियाँ, पराशान्ति और कैवल्यकी प्राप्तितक सम्भव और सुगम हैं। तभी तो योगाचार्योंने योगके प्रति अपार श्रद्धा और आस्था व्यक्त करते हुए इसे भगवान्का अन्यतम स्वरूप भी बतलाया है। योग-साधना और योगाभ्यास लौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदय एवं परमात्म-प्राप्तिकी दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी साधन है। योगकी इस सर्वमान्य महत्ता एवं वर्तमानमें इसके प्रति विशिष्ट और सर्वसाधारणजनों—सभीकी आस्था और आकर्षणको दृष्टिगत रखकर इस साधनोपयोगी विषयका 'कल्याण'के आगामी ६५वें वर्ष, सं० २०४८ (अप्रैल, १९९१) के विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशनार्थ निर्णय लिया गया।

इस अङ्कमें योगकी परिभाषा, महत्त्व, स्वरूप-तत्त्व एवं योग-साधनाके सभी अङ्ग-उपाङ्गोंके विवेचनके साथ उपनिषदों, आगमों, पुराणों और दर्शन आदि शास्त्रों तथा विभिन्न धर्मोंकी दृष्टिसे इसका सुन्दर दिग्दर्शन भी प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त योगके विविध भेदों, योगशास्त्रों, योगासनों और प्राचीन कालसे अर्वाचीन समयतकके प्रायः सभी सुप्रसिद्ध योग-सिद्ध महात्माओं और योग-साधकोंकी योगमय चर्याओं एवं उनकी साधना-पद्धतियोंका वर्णन भी उपादेय सामग्रीके रूपमें रोचक भाषा-शैलीमें प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रसङ्गानुसार इसमें अनेक सुन्दर बहुरंगे, सादे तथा रेखाचित्र भी रहेंगे। इस प्रकार 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंकी पूर्व-परम्परामें यह अपने प्रतिपाद्य विषयका एक अन्यतम संग्रह सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

भगवत्कृपासे विशेषाङ्कका मुद्रण-कार्य तेजीसे हो रहा है। यह समयपर प्रकाशित हो, इसके लिये यथासम्भव पूरा प्रयास किया जा रहा है। शुल्क-राशि ५५.०० (पचपन रुपये) मात्र अग्रिम भेजनेवालोंको उपर्युक्त विशेषाङ्कके (रजिस्टर्ड-डाकद्वारा) प्रेषणमें प्राथमिकता दी जायगी। अतः सभी इच्छुक सज्जनोंको तदर्थ शुल्क-राशि शीघ्रातिशीघ्र अग्रिम भेजकर अपनी प्रति पूर्व सुरक्षित करा लेनी चाहिये।

विशेषाङ्क— योगतत्त्वाङ्क' (सौर चैत्र, संख्या—१) और इसके दो परिशिष्टाङ्कों (क्रमशः सौर वैशाख और सौर ज्येष्ठ, संख्या—२-३) के सहित कुल तीन अङ्क एक साथ भेजे जायँगे।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. [illegible]